

















# **SĀṂKHYĀ KARIKĀ** **of** **ĪŚVARA KRISHṆA**

With the Commentaries of  
Swami Narayana and Gaudapadacharya  
and Tattwakaumudi of Vachaspati Mishra  
with  
Kiranavali of Krishnavallabhacharya  
Swaminarayana

1989

**VYASA PRAKASHAN**

VARANASI - 221001



*Published by*  
Vyasa Prakashan  
D16/13, Manmandir  
Varanasi - 221001

© Second Edition 1989

Price Rs. 100/-

*Printed at*  
Kay Kay Printers  
150-D Kamla Nagar  
Delhi - 7 (Phone : 2520118)



श्रीमदीश्वरकृष्णमुनिविरचिता—

# —ॐ साङ्ख्यकारिका ॐ—

---

श्रीमद्दार्शनिकपञ्चानन-पण्डित-सांख्ययोगवेदान्तमीमांसातीर्थ-नव्यन्या-  
याचार्यपण्डित-श्रीकृष्णवल्लभाचार्य-विरचितेन ।

---

तर्क-वेदान्त-मीमांसातीर्थ-श्री 'नारायणचरण'शास्त्रिस्वामिनारायण-  
संशोधितेन-भाष्येण सहिता—

तथा

श्रीमद्-गौडपादाचार्यकृतभाष्येण सहिता—

तथा

वेदान्ततीर्थ-पण्डित-श्री 'श्वेतवैकुण्ठ'शास्त्रिस्वामिनारायणसंशोधितया

पण्डित-श्रीकृष्णवल्लभाचार्य-स्वामिनारायणविरचितया-

श्रीमद्वाचस्पतिमिश्रविरचित-तत्त्वकौमुद्याः

किरणावल्या-समेता ।

---



प्रकाशक

व्यासप्रकाशन

डी १६/१३ मानमन्दिर

वाराणसी

© द्वितीय आवृत्ति

मूल्य : १००.००

मुद्रक

के.के. प्रिंटर्स

१५०-डी कमलानगर

दिल्ली - ७

# अतिसंक्षिप्ता श्रीकृष्णवल्लभाचार्यस्वामिनारायणभाष्यविषयसूची—

| विषयः                             | पृष्ठम् | पंक्तिः | विषयः                                 | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|-----------------------------------|---------|---------|---------------------------------------|---------|---------|
| मंगलम्                            | १       | १       | पूर्णप्रज्ञादिमतेनाऽऽत्मा             | ३७      | १३      |
| अवैदिकत्वादिशंकासमाधाने           | २       | ४       | चतुर्थकारिकावतरणिका                   | ३८      | ५       |
| अन्यशास्त्रैर्गतार्थताशंकासमाधाने | ५       | १४      | प्रमालक्षणम्                          | ३८      | १६      |
| शास्त्रस्य चतुर्थ्युद्घातमकत्वम्  | ६       | २२      | प्रमाविभागः                           | ३९      | २४      |
| कारिकायां मंगलविचारः              | ७       | १       | स्मृतिः                               | ४१      | १०      |
| दुःस्वप्नयन्याख्या                | ७       | १०      | निद्रा                                | ४१      | २३      |
| दुःस्वप्नयनिवृत्तिव्याख्या        | ८       | १४      | पथमकारिकाऽवतरणिका                     | ४२      | १४      |
| पुरुषस्य पुरुषार्थवत्त्वाऽऽक्षेपः | १०      | १       | प्रत्यक्षलक्षणोदीनि                   | ४२      | १६      |
| जिज्ञासाऽवतारणादिकम्              | ११      | ५       | अनुमानलक्षणादीनि                      | ४४      | ४       |
| दृष्टोपायजिज्ञासाशंकासमाधाने      | ११      | १७      | अनुमानत्रैविध्यादीनि                  | ४६      | ७       |
| द्वितीयकारिकाऽवतरणिका             | १३      | १७      | असद्वैतवः                             | ४७      | ७       |
| वेदस्य पैरुषेयत्वशंकादि           | १४      | ६       | शब्दप्रमाणलक्षणादीनि                  | ४८      | २८      |
| अविशुद्धिक्षयातिशयनिरूपणम्        | १४      | २७      | शक्तिलक्षणाः                          | ४९      | २८      |
| बन्धविचारः                        | १७      | २४      | पदचातुर्विध्यम्                       | ५०      | १४      |
| तत्र बौद्धमतानि                   | १८      | ६       | आसत्त्याकांक्षादयः                    | ५०      | २०      |
| तत्र न्यायमतम्                    | २०      | ५       | शब्दप्रमाणमनुमानमेवेति—               |         |         |
| तत्र मीमांसकमतम्                  | २०      | २०      | बौद्धवैशेषिकमतम्                      | ५१      | १       |
| तत्र चार्वाकमतम्                  | २१      | १२      | उपमानस्य प्रमाणान्तरतानिरासः          | ५२      | ३       |
| तत्र पौराणिकमतम्                  | २१      | २७      | अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरतानिरासः       | ५२      | २०      |
| तत्र आर्हतमतम्                    | २२      | १०      | अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरतानिरासः        | ५३      | १२      |
| तत्राऽद्वैतवेदान्तिमतम्           | २२      | २५      | संभवैतिक्षेत्रेणानां प्रमाणान्तर-     |         |         |
| तत्र शुद्धाद्वैतिमतम्             | २४      | १७      | तानिरासः                              | ५४      | ८       |
| तत्र माध्वमतम्                    | २५      | १       | पष्ठकारिकाया अवतरणिका                 |         |         |
| तत्र विशिष्टाद्वैतवादिमतम्        | २५      | ६       | व्याख्या च                            | ५४      | २२      |
| तत्र निम्बार्कमतम्                | २५      | २६      | प्रत्यक्षेणानुमानेन शब्देन च          |         |         |
| तत्र शैवमतम्                      | २५      | २६      | प्रमेयसिद्धिप्रदर्शनम्                | ५४      | २६      |
| बन्धकारणम्                        | २६      | ५       | अप्रयोजकत्वशंकासमाधाने                | ५५      | २८      |
| पदार्थनिरूपणम्                    | २७      | १       | प्रकृतेः सकारणकत्वशंकासमाधाने         | ५७      | १८      |
| तृतीयकारिकाव्याख्या               | २८      | २६      | अतिदूरत्वादिदोषाणां निरूपणम्          | ५८      | २१      |
| आभविचारे चार्वाकमतम्              | ३०      | २५      | अष्टमकारिकावतारपूर्वकं प्रधाना-       |         |         |
| इन्द्रियात्मवादः                  | ३२      | २४      | दीनामप्रत्यक्षे सौक्ष्म्यदोषप्रदर्शनं | ६१      | १६      |
| मनआत्मवादः                        | ३३      | ५       | 'सतोऽसज्जायते'-इत्यत्र न्यायमतम्      | ६२      | ४       |
| प्राणात्मवादः                     | ३३      | १८      | तत्र चार्वाकमतम्                      | ४४      | २७      |
| क्षणिकविज्ञानात्मवादः             | ३३      | २७      | तत्राऽद्वैतवेदान्तिमतम्               | ६६      | १७      |
| नित्यविज्ञानात्मवादः              | ३५      | २७      | तत्र विज्ञानभिक्षुमतम्                | ६८      | २०      |
| शुद्धाद्वैतमतेनाऽऽत्मा            | ३७      | १       | तत्र वैयाकरणमतम्                      | ६९      | ५       |
| आर्हतमतेनाऽऽत्मा                  | ३७      | २३      | तत्र द्वैतिनां मतम्                   | ७०      | १४      |



| विषयाः                              | पृष्ठम् | पंक्तिः | विषयाः                                    | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|-------------------------------------|---------|---------|---|---------|---------|
| तत्र निम्बार्कमतम्                  | ७०      | २०      | अन्तःकरणविभागः                            | ११७     | २३      |
| तत्राऽन्यमतानि                      | ७०      | २७      | बाह्यकरणानां विषयविभागः                   | ११६     | २६      |
| असतः सञ्जायते' इत्यत्र बौद्धमतम्    | ७१      | १२      | त्रयोदशकरणानां द्वारद्वारिभावः            | १२०     | २८      |
| तत्र माध्यमिकमतम्                   | ७४      | १०      | बुद्धेः प्रधानकरणतासिद्धिः                | १२१     | २१      |
| तत्र योगाचारमतम्                    | ७५      | ६       | विशेषाऽविशेषयोर्विभागः                    | १२३     | १४      |
| तत्र जैनमतम्                        | ७६      | ३       | विशेषाणामवान्तरभेदः                       | १२४     | ४       |
| 'सतः सञ्जायते' इत्यत्र बालभमतम्     | ७६      | २८      | सूक्ष्मशरीरस्वरूपादिकम्                   | १२५     | २५      |
| नवमकारिकाऽवतरणिका                   | ७८      | ४       | सूक्ष्मशरीरसिद्धिः                        | १२७     | ११      |
| असदकरणादित्यादिहेतूनां स्पष्टीकरणम् | ७८      | २१      | सूक्ष्मशरीरनैयत्यम्                       | १२८     | ३       |
| सत्कार्येऽवीतान्यनुमानानि           | ८०      | २७      | भावानां विभागः                            | १२६     | ६       |
| दशमकारिकया व्यक्तस्य साधन्यं        |         |         | धर्मादीनां फलानि                          | १२६     | ३१      |
| अव्यक्तस्य वैधर्म्यं चेति           | ८३      | ३       | द्रोहस्वरूपम्                             | १३१     | ६       |
| व्यक्ताऽव्यक्तयोः साधर्म्यम्        | ८६      | २६      | वैराग्यादीनां फलानि                       | १३१     | २६      |
| बौद्धशंकासमाधाने                    | ८७      | २४      | धर्मादिभावानां संक्षेपः                   | १३२     | १०      |
| त्रिगुणानां साधर्म्यादि             | ८६      | १       | विपर्ययादीनां विस्तारः                    | १३२     | २७      |
| सत्त्वादिप्रत्येकसाधर्म्यम्         | ८१      | ६       | तमःप्रभृतीनां भेदाः                       | १३३     | २४      |
| अविवेकित्वादिसिद्धिः                | ८३      | ६       | अशक्तिभेदाः                               | १३५     | ३१      |
| मूलप्रकृतेः कारणतानिर्णयः           | ८४      | ३       | तुष्टिभेदाः                               | १३८     | २६      |
| पुरुषसिद्धिः                        | ८६      | २१      | सिद्धिभेदाः                               | १४२     | २५      |
| सप्रकाशत्वे वैशेषिकमतम्             | ८८      | ६       | लिङ्ग-भावभेदेन सर्गद्वैविध्यम्            | १४४     | ४       |
| परिमाणे आर्हतमतम्                   | ८९      | ३२      | भौतिकसर्गव्यवस्था                         | १४४     | २४      |
| तत्र वेदान्तिमतम्                   | १००     | २७      | गुणभेदेन सर्गव्यवस्था                     | १४५     | २७      |
| आत्मनो बहुत्वसिद्धिः                | १०१     | २८      | दुःखबहुलसर्गस्य हेयता                     | १४६     | १४      |
| तत्र श्रुतिसमन्वयः                  | १०२     | २८      | सर्गस्य प्रकृतिकृतत्वम्                   | १४६     | ३१      |
| पुरुषस्य धर्माः                     | १०४     | ८       | सर्गस्य चेतनकर्तृत्वाक्षेपसमाधाने         | १४७     | १४      |
| पुरुषे कर्तृत्वादिभ्रमः             | १०५     | ६       | पुरुषस्य विमोक्षाय प्रकृतेः प्रवृत्तिः    | १४६     | २       |
| सर्गकारणसंयोगप्रदर्शनम्             | १०५     | २५      | प्रकृतेः सर्गाविवृत्तिः                   | १४६     | १६      |
| सृष्टिक्रमकथनम्                     | १०६     | १४      | प्रकृतेः निस्स्वार्थप्रवृत्तिः            | १५०     | ३       |
| बुद्धिलक्षणधर्मादिकथनम्             | १०७     | २१      | प्रकृतेः पुनः सर्गान्तराऽप्रवृत्तिः       | १५०     | २७      |
| अहंकारलक्षणम्                       | १०८     | १६      | प्रकृतेरेव संसारवन्धमोक्षवत्त्वम्         | १५१     | १६      |
| इन्द्रियतन्मात्रोत्पत्तिः           | १०८     | २६      | धर्मादीनां बन्धादौ निमित्तता              | १५१     | २८      |
| बुद्धोन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि        | ११०     | २२      | विवेकख्यात्युत्पत्तिः                     | १५२     | १२      |
| मनसो लक्षणम्                        | १११     | ८       | प्रेक्षकपुरुषस्य जीवन्मुक्तता             | १५३     | ७       |
| इन्द्रियाणां व्यापाराः              | ११२     | २२      | संयोगे सत्यपि सर्गाऽभावः                  | १५३     | २६      |
| अन्तःकरणव्यापाराः                   | ११३     | १       | संस्कारेण चक्रभ्रमिवत् स्थितिः            | १५४     | २७      |
| वृत्तीनां योगपद्यक्रमो              | ११३     | २५      | कैवल्याऽवाप्तिः                           | १५५     | १३      |
| पुरुषार्थस्य वृत्तिप्रयोजकत्वम्     | ११५     | ७       | सांख्यज्ञानस्य कपिलपूर्वकत्वम्            | १५५     | २५      |
| करणानां विभागः                      | ११६     | ७       | सांख्यज्ञानस्य शिष्यपरम्पराऽऽ-<br>गतत्वम् | १५६     | १६      |
|                                     |         |         | एतदुग्रन्थस्य शास्त्रत्वम्                | १५६     | ३०      |
|                                     |         |         | भाष्यकारपरिचयः                            | १५७     | २६      |

॥ ॐ ॥

→॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतराम् ॥←

श्रीकृष्णवल्लभाचार्यस्वामिनारायणभाष्यसहिताः—

श्रीमदीश्वरकृष्णाचार्यविरचिताः—

## →॥ सांख्यकारिकाः ॥←

( भाष्यम् )

यत्पादपद्मरजसा श्रुतयः सुरभीकृताः । यस्यैश्वर्यैकदेशेन जगदिदं व्यवस्थितम् ॥१॥

साऽऽकृतिं सच्चिदानन्दं परंब्रह्म सनातनम् । 'स्वामिनारायणं' वन्दे वेदवेदाङ्गवन्दितम् २

ये सम्भोगाऽपवर्गाऽऽत्मकफलसहितां लोहितश्चेतकृष्णाम् ।

कोशान्द्रह्माण्डसंज्ञानगणितविभवानात्मगर्भान्सृजन्तीम् ॥

नित्यामेकाञ्च भोग्यां प्रकृतिमनिशमास्वाद्य मुक्तिं गताः स्युः ।

स्वच्छान्मुक्तान्विरक्ताननवरतमजांश्चेतनान्तात्त्रमासः ॥ ३ ॥

इह किल संसृतिसमुद्भाक्सारसमन्वितैः संसारपयोधिपरिघट्टनप्रभावोन्म-  
त्तैर्देव-मन्द्राचल-दैत्यैरिव सत्त्वरजस्तमोभिस्त्रिगुणैः प्रतायमानेऽमुष्मिन्मायाप्रपञ्चे  
प्रलयकालीनभास्वद्वैश्वानरशिखाज्वालाकलापैरिव लोहितशुक्लकृष्णैर्देदह्यमानानां  
मोहमयकटाहगतोत्तसविविधाऽऽशाऽऽत्मकतैलान्तरे भृज्यमानानां भवपाशाङ्कुशि-  
तानां—प्राणिनां जिज्ञासितनिःश्रेयसाऽऽत्मकपरमपुमर्थाऽवगमसाधनस्य प्रदर्शनमेव  
प्रयोजनमभिसन्धाय महामुनिर्भगवान् 'कपिलाऽऽचार्य'स्तत्त्वज्ञानाऽधिकारिणे  
स्वशिष्याय श्रीमदासुरिमुनये परमपुरुषार्थप्रदस्य सत्त्वपुरुषाऽन्यताज्ञानस्य प्रयो-  
जकीभूतं पञ्चविंशतितत्त्वविषयकं ज्ञानं प्रददौ । आसुरिश्च पञ्चशिखर्पये, स  
चेश्वरकृष्णायोपदिदेशेति । महापुरुषश्चाऽयमीश्वरकृष्णः सात्त्विकाऽऽचार्यतो विशुद्ध-  
श्रुतिसरण्यवगतं तद्विज्ञानं निःश्रेयसाऽभिलाषुकाणां भवति जिज्ञासितमित्यवधार्य  
पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानविषयकजिज्ञासावतां सुसुश्रूणामाध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽ-



धिदैविकभेदेनाऽवस्थितस्य त्रिविधस्य दुःखस्य निवर्तकं तत्त्वज्ञानं साङ्ख्यशास्त्ररूपे-  
णाऽवतारितवान्-इति । अत एव श्रद्धेयतत्त्वमिदं साङ्ख्यशास्त्रम्, तत्प्रतिपाद्य-  
यावत्तत्त्वविषयकनिर्णयश्च सर्वजिज्ञास्य इति ।

ननु तथाप्येतत्साङ्ख्यशास्त्रीयविषयस्य कथमास्तिकमुमुक्षुजनजिज्ञासाविषयत्वं  
सम्भवेत् ? यतो हि 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'  
'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' 'अक्षरात्परतः परः'  
'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'  
इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्निरूप्यमाणं दिव्याऽसङ्ख्यकल्याणकरगुणविभवैश्वर्यगणव-  
त्सच्चिदानन्दविग्रहं परमाऽक्षरधामनिलयं साकारं परब्रह्माऽक्षराऽतीतपुरुषोत्तमपर-  
मात्मतत्त्वं कयाचिदपि कारिकया निरूपितं नाऽवलोक्यते, कारिकाभिस्तु केवलत-  
त्त्वज्ञानमेवोपदिश्यते, तथा चाऽऽस्तिकमुमुक्षुजनजिज्ञासितपरमेश्वरतत्त्वाऽनिरू-  
पकस्याऽस्य साङ्ख्यशास्त्रस्य यावद्वैदिकसिद्धान्तार्थाऽप्रतिपादकत्वेनाऽवैदिकत्वात्,  
परमेश्वराऽनिरूपकत्वेन परमेश्वराऽनभ्युपगन्तृपुरुषप्रणीतत्वात्, नास्तिकभावाऽन्वित-  
त्वाच्च,—आस्तिकमुमुक्षुजनानां तदध्ययने प्रवृत्तिरेव न स्यात्, तथा च निरुक्तस्य  
शास्त्रस्याऽसङ्गततया चावांकाऽभिहितशास्त्रमिव शास्त्रमिदमास्तिकप्रेक्षावद्भिरु-  
न्मत्तवाक्यवदुपेक्षिततामापद्येतेति चेत् ! न,—

न ह्यवैदिकत्वे यावद्वैदिकसिद्धान्तार्थाऽप्रतिपादकत्वं साधकं भवितुमर्हति,  
वेदविरुद्धार्थाऽप्रतिपादक-वेदान्तर्गत-यत्किञ्चिदर्थप्रतिपादक-वेदाङ्गात्मक-वेदान्ता-  
दिदर्शनेषु व्यभिचाराऽपत्तेः । अतो नैतच्छास्त्रस्याऽवैदिकत्वं येन तदध्ययनं मुमुक्षु-  
जनप्रवृत्त्यविषयभावमापद्येत ।

अथाऽत्र किम् अवैदिकत्वम् ? तच्च यदि वेदप्रतिपाद्यार्थप्रतिपादकभिन्नत्वम्,-  
तदाऽहिंसादिपुण्यादिप्रतिपादकबौद्धाऽऽर्हतादिशास्त्राणामवैदिकत्वाऽनुपपत्तिः । किन्तु  
'वेदाऽभिमतार्थविरुद्धार्थाऽप्रतिपादकभिन्नत्वम्'—वेदप्रामाण्याऽनभ्युपगन्तृपुरुष-  
प्रणीतत्वं वा, तच्च बौद्धाऽऽर्हतादिदर्शनानामव्याहतम् । वेदाङ्गाऽऽत्मकसाङ्ख्या-  
दिदर्शनानां तन्न विद्यत एवेति वैदिकतया तद्विषयाणामास्तिकजनजिज्ञासाविषयत्वात्  
तदध्ययने मुमुक्षुप्रवृत्तेर्बाधकाभावादिति तत्त्वम् ॥

१. तथा चानुमानप्रकारः—'इदं शास्त्रम्-अवैदिकम्', यावद्वैदिकसिद्धान्तार्थाऽप्रतिपादकत्वात्,  
२. इदं शास्त्रम्, ईश्वराऽनभ्युपगन्तृपुरुषप्रणीतम्, ईश्वराऽनिरूपकत्वात् । ३. एतच्छास्त्राध्ययनम्-  
आस्तिकमुमुक्षुजनप्रवृत्तिविषयत्वाऽभाववत्—अवैदिकविषयकत्वात् । एतच्छास्त्राध्ययनम् - आस्ति-  
कमुमुक्षुजनप्रवृत्तिविषयकभाववत्—, ईश्वराऽनभ्युपगन्तृपुरुषप्रणीतविषयकत्वात् ।

एवं नेदं शास्त्रम् परमेश्वराऽनिरूपकम्, यतो हि कपिलाऽऽचार्येण साङ्ख्य-  
दर्शने प्रथमाऽध्याये 'ईश्वराऽसिद्धेः' ( ९२ ), 'मुक्तबद्धयोरन्यतराऽभावात् तत्सि-  
द्धिः' ( ९३ ), 'उभयथाऽप्यसत्करत्वम्' ( ९४ ), 'मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा  
सिद्धस्य वा' ( ९५ ), तथा तृतीयाध्याये 'स हि सर्ववित्सर्वकर्ता' ( ५६ ),  
'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा' ( ५७ ) इति सूत्रेषु परमेश्वरसिद्धेरेव सूचितत्वात् । अत  
एव विज्ञानभिक्षुणापि—'ईश्वराऽसिद्धे'रित्यादिसूत्रभाष्ये—'अयञ्चेश्वरप्रतिषेध एक-  
देशिनां प्रौढवादेनेति,—अन्यथा ही'श्वराऽभावादि'त्येवोच्येत, अत ईश्वराऽभ्युपगमेन  
सन्निकर्षजन्यप्रत्यक्षजातीयत्वं प्रत्यक्षलक्षणं विवक्षितम्' इति व्याख्यातम् । तस्मात्  
सिद्धमीश्वरतत्त्वमिति, ईश्वराऽभ्युपगान्तृपुरुषप्रणीतं साङ्ख्यशास्त्रमिति च सिद्धम् ।

केपाञ्चितु 'ईश्वराऽसिद्धे'रित्यादिसूत्राणामीश्वरे प्रमाणाऽभावादित्येवं सिद्धा-  
न्तमुद्रया भ्रमप्रयुक्तं व्याख्यानं, तत्सर्वथा निरस्तमेवेति बोध्यम् ।

१. परमेश्वरसिद्धयनुकूलः सूत्राणामाशयः—'प्रथमाध्याये "यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोऽहेखि विज्ञानं  
तत्प्रत्यक्ष"' ( = ६ ) इति सूत्रेण प्रदर्शितस्य प्रत्यक्षज्ञानलक्षणस्येश्वरप्रत्यक्षेऽव्याप्तिर्भवतीत्याशंकायाम्,  
अत्र कस्यचिन्नास्तिकस्य पूर्वपक्षः—"'ईश्वराऽसिद्धे'" ( ९२ ) इति, ईश्वरस्याऽसिद्धत्वेन तत्प्रत्य-  
क्षस्याऽप्यसिद्धयेस्तत्राऽव्याप्तिरिति न नास्तीति भावः । तत्र सांख्यसिद्धान्तेनोत्तरमाह—"'मुक्तबद्ध-  
योरन्यतराऽभावात् तत्सिद्धिः"' इति ( ९३ ), मुक्तत्वं=दुःखत्रयाऽभाववन्तित्यैश्वर्याद्यनधिकरण-  
चेतनत्वम्, बद्धत्वं च दुःखत्रयविशिष्टचेतनत्वम्, ईश्वरत्वं तु—नित्यैश्वर्यादिमन्चेतनत्वम्, एवञ्च-  
एतादृशेश्वरे तादृशमुक्तत्वाऽभावात् मुक्तचेतनेऽन्तर्भावः, तादृशबद्धत्वाभावात् बद्धचेतनेऽप्यन्तर्भावः,  
अतो द्वाभ्यां भिन्नमीश्वरतत्त्वं सिद्धयति, तथा च ' न तत्सिद्धिः ' = न तस्या ईश्वराऽसिद्धेः सिद्धिः,  
एवञ्च=ईश्वराऽसिद्धेरेवाऽसिद्धत्वादीश्वरतत्त्वं सिद्धमिति, अत एव भवतीश्वरप्रत्यक्षेऽव्याप्तिः प्रत्यक्षल-  
क्षणस्येति । तादृशाऽऽशंका निराकरणायाऽऽह—"'उभयथाऽप्यसत्करत्व"' ( ९४ ) इति ।  
प्रत्यक्षलक्षणं हि—सन्निकर्षजन्यत्ववर्तितमभिहितं तत्र, सन्निकर्षश्चाऽनित्यः, स च मुक्तचेतनानां स्वा-  
त्मस्वरूपस्य प्रत्यक्षोपपत्त्यर्थं प्रादुर्भूतो भवति, बद्धचेतनानान्तु बाह्यविषयप्रत्यक्षार्थं प्रादुर्भूतो भवति,  
अत एव मुक्तबद्धचेतनानां प्रत्यक्षस्यैवैतल्लक्षणं भवति, ईश्वरस्य तु बद्धत्वमुक्तबद्धयोरभावेन तादृशो-  
भयविधेः स्वात्मस्वरूप-बाह्यविषय-प्रत्यक्षार्थं तादृशाऽनित्यसन्निकर्षाऽपेक्षारहितत्वात्, नित्यज्ञानात्म-  
कस्य प्रत्यक्षस्य च सन्निकर्षानपेक्षणात् तत्प्रत्यक्षस्य 'असत्करत्वम्' = अलक्ष्यत्वमिति । तथा च  
तादृशलक्षणाय लक्ष्यत्वात्तत्रातिव्याप्तिरिति नोदेतीति भावः ॥ तादृशेश्वरतत्त्वस्य जीवतत्त्वस्य च भेदः  
श्रुतिभिर्निरूपितः—इति दर्शयति—"'मुक्तात्मनः प्रशंसा, उपासा सिद्धस्य वा"' ( ९५ )  
'अयमात्मा ब्रह्मे'—त्यादिश्रुतिषु मुक्तस्वभावस्याऽऽत्मनः प्रशंसा कृता, 'नित्यं विज्ञानमा-  
नन्दं ब्रह्म' 'तद्ब्रह्म विजिज्ञासस्वे'त्यादिषु तु सर्वदा सिद्धस्य नित्येश्वरस्य उपासा=मोक्षार्थमु-  
पासनाऽपि प्रदर्शिता, अतः परमात्मा सिद्ध एवेति हृदयम् ॥



अत्र च कारिकासु सदपि परमात्मतत्त्वमीश्वरकृष्णाऽऽचार्येण तावदात्मतत्त्वाऽ-  
तिरिक्ततया नोपवर्णितम्, अतो न्यायशास्त्रसिद्धान्ते यथा द्रव्यात्मकाऽऽत्मतत्त्वे  
परमात्मसमावेशस्तथाऽत्रापि शास्त्रे पञ्चविंशतितमे चेतनतत्त्वे परमेश्वरतत्त्वसमा-  
वेश इति । तेन चेतनतत्त्वतः पृथक्तया न कृतं निरूपणमीश्वरतत्त्वस्येति । नित्यै-  
श्वर्यादिमदीश्वरतत्त्वस्य विवेचने तु तदीयनित्यैश्वर्यादिप्रतिपिपादयिषया चेतनानां  
नित्यनिर्दोषैश्वर्यादिष्वन्तःकरणाऽऽवेशतः सत्त्वपुरुषाऽन्यताज्ञानप्रयोजकतत्त्वविवेक-  
ज्ञानाऽभ्यासः सार्गलः स्यादिति । यो हि यस्य मुख्यो विषय उपक्रमोपसंहारान्त-  
र्गतस्तदंशात्परिभ्रष्टस्य शास्त्रस्याऽप्रामाण्यं स्यादिति, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'  
इति न्यायात् । अस्य साङ्ख्यशास्त्रस्य तु सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानद्वारा मोक्षदं तत्त्वज्ञानं  
मुख्यो विषयः, तेन च प्रामाण्यम्, ईश्वरांशस्य चाऽमुख्यत्वेन तद्विवेचने सति नाऽ-  
त्रेश्वराऽनभ्युपगन्तुपुरुषप्रणीतत्वं सध्रीचीनं भवति । 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जग-  
दाहुरनीश्वरम्'—इत्यादिवचनैर्निरीश्वरवादस्य निन्दितत्वात्, किञ्च यस्य यो विषयो  
मुख्यप्रयोजनवान् वर्तते तत्र तत्प्रयोजनमभिलक्ष्यीकृत्यैव प्रवर्तते तदादाय च निवर्तते  
सः । एवमेव वेदान्तर्गतास्तावदनेके विषयाः, यथा कचिद् यागादिकम्, कचिद्  
ब्रह्मचर्यम्, कचिद्धर्मविषयः, भक्तिविषयः, तत्त्वज्ञानं, ब्रह्मतत्त्वञ्चेत्यादयः । तन्मध्य-  
तस्तावद् यदा हि यो यं विषयमभिलपति तं लक्ष्यीकृत्यैव प्रवर्तते सः, न त्वन्यं विषय-  
मिति, यथा व्यासमुनिर्ब्रह्मतत्त्वं, जैमिनिर्यागविषयं, नारदो भक्तिविषयं, साङ्ख्या-  
चार्यस्तत्त्वज्ञानं, मनुर्धर्मविषयमिति । तत्र व्यासमुनिर्ब्रह्माऽतिरिक्तान् यावद्विषयान्  
ब्रह्ममीमांसायामनिरूपयन्नहि तादृशविषयाणामनभ्युपगन्ता भवितुमर्हति । तथा  
सर्वत्र बोध्यम् । 'स्वेनाऽनिरूपितं स्वेन न निरस्तञ्चेत् स्वाऽभिप्रेतं तत्' इति  
न्यायात् । एवमेव मोक्षसाधनानि धर्म-भक्ति-तत्त्वज्ञान-योगाभ्यास-ब्रह्मध्यानादीन्य-  
विशेषाणि, तन्मध्यतस्तावदेकैकं साधनमादाय तत्तदाचार्येण रचितानि दर्शनानि,  
यथा वेदान्तदर्शनं ब्रह्मज्ञानमादाय, कर्ममीमांसादर्शनं कर्मकलापमादाय, योग-  
दर्शनं योगधर्ममादाय परमात्मभक्त्यादिकमादाय चेति, एवं साङ्ख्याचार्येण सत्त्व-  
पुरुषाऽन्यताज्ञानद्वारकं तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिसाधनमित्यभिप्रेत्य रचितमिदं शास्त्र-  
मिति, नैतावता परमेश्वरतत्त्वाऽनभ्युपगन्तृत्वं भवति तस्येश्वरकृष्णाचार्यस्येति ।  
तस्मादणिमादिनित्यैश्वर्यवदीश्वरतत्त्वाऽनभ्युपगन्तृत्वमेव तस्य सध्रीचीनम्, तथा  
चायं साङ्ख्यविषयः—आस्तिकमुमुक्षुर्जनैर्जिज्ञास्य इति सम्यक् चिन्तनीयम् ॥

अपरञ्च—नास्तिकभावाऽन्वितत्वमप्यप्रयोजकं भवत्यस्मिन् शास्त्रे, यतो—वेद-  
प्रामाण्याऽनभ्युपगन्तृत्वविशिष्टेश्वराऽनभ्युपगन्तृत्वं नास्तिकत्वम्, तच्च नेश्वरकृष्णा-  
दिसाङ्ख्याचार्याणामिति तत्प्रणीतैतच्छास्त्रविषयस्य भवत्यास्तिकजनजिज्ञासाविषय-  
त्वमिति सिद्धान्तः ।

अस्य च साङ्ख्यसंज्ञाऽप्यन्वर्था—सङ्ख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिञ्च प्रचक्षते ।

चतुर्विंशतितत्त्वानि तेन साङ्ख्याः प्रकीर्तिताः ॥

सङ्ख्या नाम—सम्यग्विवेकेन तत्त्वकथनमिति । ‘एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु’—इत्यादिस्मृत्युक्तसाङ्ख्यपदस्य योगरूढत्वात् साङ्ख्यशास्त्रमेव साङ्ख्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं, न त्वन्यविषय इति । अन्यानि दर्शनानि तु मुक्तिं प्रति-ब्रह्मज्ञान-भक्ति-योगधर्मादिविभिन्नसाधनानां कारणत्वप्रदर्शनपरायणानि, साङ्ख्यन्तु तत्त्वज्ञानमेव निःश्रेयसप्रयोजकमित्यावेदयति । निःश्रेयसञ्च-दुःखत्रयाऽत्यन्ताऽभावः, स च दुःखत्रयनिवृत्तिरूपः, स एव परमपुरुषार्थः, तम् प्रति सत्त्वपुरुषाऽन्यताज्ञानद्वारा तत्त्वज्ञानं प्रयोजकमिति । तत्त्वज्ञानजन्यत्वे सति तत्त्वज्ञानप्रयोज्यपरमपुमर्थप्रयोजक-त्वात् सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानस्य व्यापारत्वमक्षतमेव । न च परमात्मभक्तिप्रयोज्यनिःश्रे-यसे तत्त्वज्ञानस्याऽप्रयोजकत्वाद् व्यभिचार इति साम्प्रतम् । तत्त्वज्ञानाऽव्यवहितोत्तरो-द्भाव्यमानमुक्तिवाचच्छ्रं प्रति तत्त्वज्ञानस्यैव प्रयोजकत्वमिति न व्यभिचारः । स्वप्रतियोगिचरमदुःखभोगाऽनुकूलव्यापाराऽऽश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन आत्म-वृत्तिमुक्तिं प्रति स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन तत्त्वज्ञानं कारणम्—इति विवेकः ।

ननु योगशास्त्रस्य षड्विंशतिपदार्थतत्त्वनिरूपकत्वेन सांख्यस्याऽपि तदन्तर्गत-त्वात् पुनस्तदतिरिक्तत्वेन विविच्यमानस्याऽस्य पुनरुक्तत्वेन निरर्थकत्वमिति चेत् ! नैतद्युज्यते, विषयैक्येऽपि भिन्नसाधनसंवेदकत्वात्, योगे तु योगजधर्मस्यैव मुक्तिप्रयो-जकत्वमावेदितम्, अत्र तु तत्त्वज्ञानस्येति, अनतिगहनेन तत्त्वज्ञानेन मुक्तिं सिपाध-यिष्यमाणानाम् अत्युपकारकत्वेनाऽस्याऽवधेयविषयत्वान्न पुनरुक्तत्वमतो न निरर्थक-त्वमिति । सत्कार्यवादिवाचाऽस्य स्वतन्त्रदर्शनत्वमपि सिद्धं भवति ।

ननु यावत्पदार्थतत्त्वविवेककत्वात् परमात्माऽभ्युपगन्तुपुरुषप्रणीतत्वाच्च न्याय-वैशेषिकेति-दर्शनद्वयमेव मुमुक्षुणा जिज्ञास्यं कथं पुनरिदमपेक्ष्यते ? ताभ्यामस्य गतार्थत्वादिति चेत् !, नैतद्युक्तम् । यतो हि ताभ्यां सगुणत्वेनाऽऽत्मतत्त्वं निरूपितम्, नहि द्रागेव परमार्थतत्त्वे तयोः प्रवेशः, शरीरेन्द्रियाद्यतिरिक्तात्मनः सगुणत्वेन विवेचनं व्यावहारिकं, न तु पारमार्थिकम्, कर्तृत्वावच्छिन्नाऽऽत्मवादे ‘प्रकृतेर्गुण-सम्भूदाः सज्जन्ते गुणकर्मसु । तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्’—इति गीतावाक्येन तस्य तार्किकस्य कर्तृत्वाऽभिमानिनोऽकृत्स्नवित्त्वमुक्तमत एव तत्र लौकिकत्वं सिद्धम् । सांख्यन्तु न तथा, आत्मन्यकर्तृत्वनिरूपकत्वात् । कृत्स्न-वित्त्वञ्च—‘तीर्णो हि तदा भवति हृदयस्य शोकान् कामादिकं मन एव मन्यमानः लोकावनुचरति ध्यायतीव लेलायतीव स यदत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति,—इत्यादि श्रुतिसिद्धम् ॥



‘प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ।’ ‘निर्वाणमय एवाऽयमात्मा ज्ञानमयोऽमलः । दुःखाऽज्ञानमया धर्माः प्रकृतेस्ते तु नाऽऽत्मनः’—इत्यादि—स्मृतिभिः सांख्यज्ञानस्य पारमार्थिकत्वोक्तत्वात्, न न्यायवैशेषिकाभ्यां गतार्थत्वमस्य । तथा च मुमुक्षुणा जिज्ञास्यमेतत्तत्त्वमिति । न्यायवैशेषिकोभयं व्यावहारिकं, सांख्यन्तु व्यावहारिकं पारमार्थिकं चेति तु तत्त्वम् ।

अत एव—‘नाऽस्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् । अत्र वः संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम्—’ इत्यादिवाक्यैः सांख्यदर्शनस्य विवेकांशे सम्यगुत्कृष्टत्वं निवेदितं भवति । ब्रह्मसीमांसाया ईश्वरांशे बलवत्त्वम्, कर्मसीमांसाया यज्ञाद्यंशे, योगशास्त्रस्य योगजधर्मांशे, न्यायवैशेषिकयोः पदार्थनिरूपणांशे, सांख्यस्य च तत्त्वज्ञानांशे, प्राधान्यमिति नैकदर्शनस्याऽपरदर्शनशास्त्रेण निर्वाहः । तथा च प्रत्येक-तत्त्वमपि मुमुक्षुभिर्जिज्ञास्यमिति । तेषु चाऽस्ति कदर्शनेषु यावद्देदार्थाविवेचकत्वेन विपरीतार्था आभासेत चेत्तदवैदिकनास्तिकानां विमोहनाथं—मित्यपि पक्षान्तरम् ।

वैदिकसात्त्विकाऽऽस्तिकानान्तु सत्त्वेन सदर्थप्रत्ययाद् विपरीतार्थाऽवभासो न भवत्येवेति, अर्थस्याऽऽभासत्वञ्चाऽन्यथाप्रदर्शनम्, तच्च नास्तिकदर्शने, न त्वत्र, तस्मात्प्रामाणिकमिदमिति ।

प्रमाणतस्तावदर्थाऽवगमे प्रवृत्तिप्रादुर्भावात्, प्रवर्तकत्वे प्रमाणस्याऽर्थवत्त्वम्, प्रमाणमन्तरेण नाऽर्थाऽवगमः, नाऽर्थाऽवगममन्तरेण प्रवृत्तिप्रादुर्भावः । प्रमाणे-नैव प्रमाता सदर्थमुपलभ्य तमभीप्सति जिहासति वा, ईप्साजिहासाप्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते, प्रादुर्भावत्वञ्चास्य फलाऽश्नातिः । सम्प्रेक्ष्यमाणस्तमर्थम-भीप्सन् जिहासन्वा तमर्थमाकलयति विजहाति वा, सोऽयं प्रमाणाऽर्थास्तावदसुबृद्धेद-स्याऽपरिसंख्येयत्वादपरिसंख्येयः । सामान्यतस्तु चतुर्विधः हेयम्, हेयसाधनम्, हानम्, हानसाधनञ्चेति । चतुर्व्यूहात्मकं चेदं मोक्षशास्त्रम् । तत्र हेयम्—सर्वेषां प्रतिकूलवेदनीयतया दुःखत्रयम् । हेयहेतुः—प्रकृतिपुरुषयोः संयोगोऽविवेकाऽऽत्मकः । हानम्—दुःखस्याऽऽत्यन्तिकनिवृत्तिः परमपुरुषार्थः । हानहेतुश्च—सत्त्वपुरुषाऽन्य-ताज्ञानद्वारा तत्त्वज्ञानात्मकमिदं शास्त्रम् ।

तत्त्वञ्चात्र सतः सदृभावः, इदं सत् सदित्युपलभ्यमानं यथासत्त्वमविपरीतं तत्त्वं भवति । तत्त्वञ्चाऽसत् स्यान् न व्यज्ञास्यत, विज्ञायते च व्यूहचतुष्टयम्, तथा च परमपुरुषस्य सर्वैरीष्यमाणत्वेन तदुपाये तत्त्वज्ञाने प्रेक्षावतां मुमुक्षूणां जिज्ञासा भवति । कस्मात्पुनः सा भवति ?—

दुःखत्रयाऽभिघाताज्जिज्ञासा तदपधातके हेतौ ।

दृष्टे साऽपार्था चेत् ! नैकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

ननु 'नाऽमंगलं प्रयुज्जीत' 'विघ्नध्वंसकामो मंगलमाचरे'दिति वेदवाक्याऽनु-  
रोधात् शिष्टाचारत्वाच्चाऽमांगलिकविषयमनास्कन्ध मंगलविषयकभानमुपगतमास्ति-  
कैः तत्कथं पुनरत्राऽमांगलिकं दुःखं स्मृतमिति चेत् ! नैतद्युज्यते, यतो 'तदपघातके'-  
इति पदप्रतिपाद्यदुःखत्रयापघातात्मकनिःश्रेयसाभिधानरूपस्यैव मंगलस्याऽवधेय-  
त्वात् । स्मृतिविषयैकदेशस्याऽमंगलत्वे निःश्रद्धेयत्वात् । नहि मङ्गलमूर्तिद्विज-  
दर्शने तदेकदेशमङ्गलीनखादिकममाङ्गलिकत्वेनाऽभ्युपैति कश्चित्, तथा सति  
नारायणपदस्यैकदेशस्य नकारस्याऽप्यमाङ्गलिकत्वं स्यात्तदुच्चारयितुः । तथा च  
'दुःखत्रयाऽपघाता'ऽभिधानमेवात्र मङ्गलं, तेन च विघ्नप्रशमनम्, तच्च विघ्नाना-  
मतीताऽवस्थाऽऽत्मकत्वमिति, साङ्ख्यमते ध्वंसाऽनङ्गीकारात् ।

दुःखानां त्रयं दुःखत्रयं तस्याऽभिघातात् = प्रतिकूलवेदनीयतात्मकसम्बन्धात्,  
चेतनस्येति शेषः,—सर्वेषां प्राणभृतां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्, तच्च त्रिविधम्,  
आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकञ्चेति, तत्राऽऽत्मानं = शरीराऽन्तःकरणात्मकं  
समाधिकृत्य प्रवर्तमानमाध्यात्मिकम्, तत्-शरीरं मानसञ्चेति द्विविधम् । तत्र  
वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तजं ज्वरादिकं व्याधिः शारीरम् । करणेन मनसा  
जायमानं—काम-क्रोध-लोभ-मोह-भयेर्ष्या-विषाद-मद-मत्सर-नृणा-विषयाऽ-  
लाभप्रभृतिनिमित्तोद्भाव्यम् मानसं दुःखम् ।

तत्र कामाद्यथा—प्रमदाऽभिलाषया तदग्राप्तौ शोकात्मकं पीडनम्, तद्भागे वा  
तदुपभोगाऽनृसिप्रेरिताऽऽयासरूपम् । क्रोधाद्यथा—कमपि ताडयन् स्वयमपि ताडितो  
भवति तज्जन्यवेदनात्मकं दुःखम् । लोभाद्यथा—द्रव्योपार्जनाऽभिलाषयाऽनवरतं  
तद्व्यवसायाऽनुधावनवेद्यमनुपरमात्मकं दुःखम् । मोहाद्यथा—दिव्याऽदिव्योपभोग-  
वस्तुसमीहने सति तदवाप्त्यै भ्रमतोऽपि तदलाभवेद्यं विमोहनात्मकं दुःखम् ।  
भयाद्यथा—तिर्यक्-पशु-नृप-बलवच्छत्रु-चौरादीनां यावतां प्राणभृतां स्वशत्रुभ्यः  
स्वापघातकेभ्यश्च भयस्याऽनुवर्तनेन भयजन्यं चिन्तनात्मकं दुःखमनुवर्तते येन  
ज्ञान्ततया स्वापमपि ते नाऽनुभवन्तीति । ईर्ष्या यथा—स्वसहवासिनं विद्यया  
लक्ष्म्या वा स्वाऽपेक्षयोत्कृष्टतरमभिमत्याऽसहिष्णुतया स्वस्य चेतसि दहनात्मकं  
दुःखं भवति । विषादाद्यथा—विविधसांसारिकपराभूत्यवनत्यादिकम्, पाटञ्चरैः  
स्वद्रव्यस्मृद्यपहरणम्, शत्रुभिः स्ववान्धवविदारणम्,—इत्यादिना विषादाऽऽत्मकं  
दुःखं भवति । मदाद्यथा—मद्यमांसादिसेवनकर्तुः प्रमत्तोन्मत्ततया कैश्चित्सह कल-  
हात्तन्निमित्तकाराग्रहवासनिगडबन्धनादि-प्रभवं दुःखं भवतीति । मत्सराद्यथा—  
केनचिन्नृपतिना द्विजाय समर्पितान्याभूषणान्यवलोक्य मात्सर्यवानपरद्विजो दहति  
तावदसह्यमान इवेति तद्दहनात्मकं दुःखम् । नृणातो यथा—एकलाभे शतेच्छा  
भवति तदवाप्तौ च लक्षेच्छा कोटीच्छा शेत्येवमधिकनृणयाऽशान्तिरिति । विष-



याऽलाभाद्यथा—विषयाऽनुधावने विफलश्रमात्मकं दुःखम् । इत्येवमादीन्यनेकानि मनोगताऽनेकदोषोद्भाष्यानि दुःखानि भवन्तीति ।

एवम् भूतानि = प्राणिनोऽधिकृत्योद्भवति तत्-आधिभौतिकम्, यथा-नृप-शत्रु-पाटञ्जर-क्रूरपशु-वनमृग-शुकादिपतत्रि-सरिसृष-वृश्चिक शलभ-सूषकादिजङ्गमजन्यं सर्वमेव दुःखं बोध्यम् । विशालतरुस्तम्बस्याऽऽकस्मिकभङ्गे सति तदधस्तनप्राण-भृतः प्रायणमपि भवत्याघातेनेत्यादिकं स्थावरनिमित्तञ्चेति दुःखमाधिभौतिकं बोध्यम् ।

तृतीयञ्च देवानधिकृत्य जायमानमाधिदैविकम्—यथाऽग्निप्रकोप-वातचलन-जलप्रलयेन्द्रवज्रप्रहार--भूकम्प-हिमवृष्टि-यक्ष-राक्षस-विनायक-ग्रह-डाकिनी-भूत-भैरव-मलिनदेवमन्त्रतन्त्रादिजन्यं सर्वं दैवाज्जातमिति बोध्यम् ।

तच्च सर्वमेव दुःखं मनोधर्मत्वान्मानसम्, तथापि—आध्यात्मिकन्तु मनोदोष-भात्रजन्यम् । आधिभौतिकन्तु भूतप्राणिसहकृतमनोजन्यम् । आधिदैविकञ्च देवादि-सहकृत-मनोजन्यमिति विवेकः ।

तेषां दुःखानां निवृत्तिर्नाम-स्थूलसूक्ष्मभावसाधारण्येन निवर्तनम्, स एव परमपुरुषार्थः । तच्च त्रिविधमपि पुनः कालत्रयाऽवच्छिन्नं भवति, तत्राऽतीतकाली-नन्तु लुप्तमेवेति न तन्नाशाय साधनानामनुसन्धानाऽवश्यकता । वर्तमानिकञ्च स्वद्वितीयक्षणाद्यात्मकोत्तरसमये स्वयमेवाऽपसरिष्यति तेन तन्निवर्तनायाऽपि न भवति साधनाऽवलम्बनाऽपेक्षा । परन्तु भविष्यत्कालीनस्याऽनागतावस्थस्य दुःखस्य निवर्तनं प्रकृतेऽपेक्षितम् । 'हेयं दुःखमनागत'मितिसूत्रेण योगीन्द्रपतञ्ज-लिरपि भविष्यत्कालीनस्याऽनागताऽवस्थस्य सूक्ष्मदुःखस्य हानमुपदिदेशेति । तद्धा-नाय तत्त्वज्ञानमपेक्षितं भवतीति ।

दुःखं नित्यं सत् सर्वदास्थायि, तच्च स्थूलसूक्ष्मेत्यवस्थाद्वयमुपस्नौति । यदा च भोग्यत्वेनाऽऽपतितं भवति तदा स्थूलाऽऽवस्थं वर्तमानिकं तदिति । विशीर्य-माणञ्च विलुप्तं सत् सूक्ष्मावस्थं भूतकालीनं तदिति । अनागतावस्थञ्च सूक्ष्मं भविष्यत्कालीनं तदिति तु तत्त्वम् ।

निवृत्तिश्च न ध्वंसः, सत्कार्यवादिमते ध्वंसप्रागभावयोरनङ्गीकारात् । ननु तन्नष्टं तद्भविष्यतीति-प्रतीत्या क्रमेण तद्ब्रह्मस्य तत्प्रागभावस्य च बोधनात् तदन-ङ्गीकारे कथमर्थबोधनिर्वाह इति चेन्न । 'तन्नष्टमि'तिप्रत्ययवत् 'तत्तिरोभूतं तदतीत'-मित्यादिप्रत्ययस्याऽपि सम्भवेन तत्र 'तत्'-पदग्राह्यघटपटादिपदार्थस्याऽतीतावस्थाया एव बोधनम् । 'तद्भविष्यती'त्यत्राऽपि 'तत्प्राविर्भविष्यति तदनागत'मितिप्रयोगेण 'तत्'-पदग्राह्यघटपटादिपदार्थस्याऽनागतावस्थाया एव बोधनं भवतीति । तथा च ध्वंसस्याऽतीतावस्थे प्रतियोगिनि पदार्थेऽन्तर्भावः, प्रागभावस्य चाऽनागताऽवस्थे

प्रतियोगिनि पदार्थेऽन्तर्भाव इति न तयोस्तत्त्वाऽन्तरत्वमिति । दुःखनिवृत्तिर्नाम दुःखस्याऽतीतावस्थात्मकत्वम् । दुःखस्य प्रागभावो नाम दुःखस्याऽनागतावस्था-  
त्मकत्वम्—इति सांख्यराद्धान्तः ॥

नन्वनागतस्य सूक्ष्माऽवस्थात्मकस्य दुःखस्य हानमेव परमपुरुषार्थश्चेत् ! कथं तत्सम्भवति ? यतो हि भविष्यत्कालीनमनागतं सन्दिग्धत्वादप्रामाणिकम्, आती-  
तवार्तमानिकवत् तत्सत्त्वस्याऽननुभवात्, न हि कश्चिन्मे राज्यं भविष्यतीत्यभिप्रेत्य  
स्वं चक्रवर्तिनं निश्चिनोति, सत्त्वं च 'इदं सदिति-प्रतीतिविषयत्वम्, अनागतस्य  
च तादृशप्रतीतेरभावाच्च तत्सत्त्वम्, इत्यसतः-काल्पनिकस्य हानं गगनकुसुमहान-  
वदमूलम्, तथा च कथं तन्निवृत्तेः परमपुरुषार्थत्वमिति चेत् ! मैवम्—

सत्कार्यवादिमते यावतां कार्याणां कारणेन सहाऽभेदात्, कारणं च कार्यमा-  
विर्भवति तिरोभवति चेति, तेन यावत्कारणद्रव्यस्थायि कार्यम्, स्वस्वकार्यजनन-  
शक्तिश्च कारणगता, अनागताऽवस्थतत्तत्कार्याऽस्मिका नियतैव, दाहादिकार्याऽस्मिका  
शक्तिर्वह्निगतेव । सा च कारणतावच्छेदिका-उपादानकारणस्वरूपयोग्यता वेत्यन्यदेतत् ।

चित्तसंयोगश्च परमपुरुषार्थाऽवगमपर्यन्तस्थायी, तावच्चाऽनागताऽवस्थस्य  
दुःखस्य सत्त्वनिश्चयात्, तथा च-दुःखसत्त्वं-यावच्चित्तसत्त्वाऽवस्थायि,—चित्तसत्ता-  
ऽधोनत्वात्,—बह्विसत्त्वाऽवस्थायिदाहसत्त्ववदि'-त्यनुमानेन यावच्चित्तसत्ता तावद्  
दुःखसत्तेतिसिद्धम् । तथा च अनियताऽवस्थतादृशसद्दुःखनिवृत्तेः परमपुरुषा-  
र्थत्वं युक्तमिति

दुःखबहुलोऽयं संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, तादृशसंयोग-  
स्याऽऽस्त्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्, हानोपायः सत्त्वपुरुषाऽन्यताज्ञानम्, इति-ब्रूहचतुष्टयम्

चित्तम्—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशात्मकपञ्चक्लेशाऽवनद्धं भवति ।  
तत्र च चतुर्णां मूलमविद्या । सा च शुक्ल-कृष्णा-ऽशुक्लकृष्णभेदेन त्रिविधं कर्म कार-  
यति, तेन जात्यायुर्भोगात्मकसंसारो भवति । अत एवाऽविद्या बीजभावात्मिका  
ख्यायते, यदा च तत्त्वज्ञानाग्निनाऽविद्याया बीजभावस्य दग्धत्वं भवति, तत आ-  
रभ्य शुक्लादिकर्मणां प्रवाहस्य बन्धो भवति, तेन नूतनकर्मणामनुत्पत्तिरेव । परन्तु  
पूर्वकृतसञ्चितानां भोगाय प्रारब्धानुसारेणाऽऽप्रायणं शरीरस्थितिर्विद्यते । दग्धबी-  
जभावादारभ्याऽऽप्रायणं स जीवनमुक्त इति ख्यायते । ततश्च शनैः प्रारब्धकर्मफ-  
लाऽतिरिक्तानामनागतावस्थानां दुःखानामपि दहनं भवति । दग्धबीजभावो नाम—  
अज्ञानादिपञ्चक्लेशानामुच्छेदः, ज्ञानस्याऽविद्यामात्रोच्छेदकत्वात् ।

विदेहकैवल्ये त्वात्मना सह चित्तस्य क्लेशादिकारणीभूतस्य वियोगस्तेन च  
दुःखात्मककार्याऽभिन्नस्य चित्तात्मककारणस्य वियोगादात्यन्तिकी दुःखनिवृ-  
त्तिरिति स एव परमपुरुषार्थः ।



ननु दुःखनिवृत्तेः परमपुरुषार्थत्वं न सम्भवति, दुःखनिवृत्तित्वञ्च दुःख-  
स्याऽतीताऽवस्थात्मकत्वम्, तच्च चेतस्येव, दुःखस्य च चित्तधर्मत्वेन शुद्धबुद्ध-  
मुक्तस्वभावेपु चेतनेषु दुःखलेशस्याऽप्यसंभवात् कथं पुरुषे दुःखनिवृत्त्यात्मक-  
पुरुषार्थवत्त्वमिति ?

अत्र केचित्—‘अहं करोमि’ ‘अहं भुञ्जे’—इत्यादिप्रत्ययात् कर्तृत्वस्य भोक्तृ-  
त्वस्य पुण्यस्य चाऽत्मधर्मत्वभानात्, कृतिः स्वसमानाधिकरणमेवाऽदृष्टं जन-  
यति । अदृष्टञ्च स्वसमानाधिकरणमेव भोगं जनयति, ‘अहं’—पदवाच्यश्चाऽऽत्मा,  
‘अहं जाने सुखी दुःखी’—त्यादि-प्रतीतावपि ज्ञानसुखदुःखानां कृतिसामानाधि-  
करण्येनाऽऽत्मधर्मत्वम् । तथा च दुःखनिवृत्तेरात्मनि सत्त्वान्न परमपुरुषार्थवत्त्व-  
हानिरिति वदन्ति ।

तत्र युक्तम्—यतः ‘प्रकृतेर्महान्, ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः’—इति  
कारिकावचनेन ‘प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा  
कर्ताऽहमिति मन्यते’—इतिस्मृतिवचनेन चाऽहङ्कारस्य कर्तृत्वस्य ज्ञानसुखदुःखा-  
नाञ्च सामानाधिकरण्येनाऽन्तःकरणधर्मत्वं सिद्ध्यति ।

अत्र चाऽन्तःकरणं महत्तत्त्वं बुद्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरं बोध्यम् । बुद्धेः स्वच्छ-  
तया तत्राऽऽत्मनः प्रतिबिम्बं भवति, स्वस्य शुद्धत्वेऽपि बुद्धिगताऽहङ्कार-कर्तृत्वज्ञान-  
सुखदुःखादयः स्वप्रतिबिम्बे समुपसंक्रममाणा दृश्यन्ते, आत्मा च तान्स्वधर्मान-  
भिमानुते, बुद्धिश्च स्वगतस्याऽऽत्मप्रतिबिम्बस्य चेतनत्वादिधर्मान्स्वकीयान् सम्म-  
नुते । तथा च परस्परं धर्मसंक्रमेण द्वयोः स्वरूपमेकमिव द्वयोर्धर्मान्भिन्नानिव  
तौ गृह्णीतः । तथा च पुरुषे दुःखसंक्रमसत्त्वं सिद्धमिति । अन्यथा दुःखस्य भोग्य-  
त्वाऽनुपपत्तेः । सुखदुःखादिग्रहणमेव भोगः, ग्रहणञ्च तदाकारता, सा च न  
परिणामरूपा, नित्यस्य पुरुषस्य परिणामाऽसंभवात्, किन्तु संक्रमणरूपा, तथा च  
पुरुषप्रतिबिम्बे दुःखादिकमुपसङ्क्रान्तमिति पर्यवसितम् ।

योगशास्त्रे ‘वृत्तिसारूप्यमितरत्रे’त्यादिसूत्रैरपीदमेवोक्तम्,—यत्—जपाकुसु-  
मस्फटिकयोरिव बुद्धिपुरुषयोः सन्निधानादभेदग्रहे बुद्धिवृत्तीः स्वस्मिन्समारोप्याऽऽ-  
त्मा ‘शान्तोऽस्मि दुःखितोऽस्मि मूढोऽस्मी’त्याद्यध्यवस्यति । यथा मलिने दर्पण-  
तले प्रतिबिम्बितमाननं मलिनमवगत्य शोचत्यात्मानं ‘मलिनोऽस्मी’ति । चित्तमय-  
स्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमत्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः ।  
सुखदुःखादिभोक्तृत्वञ्च पुरुषस्यैवेति—तन्निवृत्तिरपि पुरुषे स्वतःसिद्धधेति नास्ति  
पुरुषे परमपुमर्थवत्त्वे विरोध इति साङ्ख्यसिद्धान्तः । अधिकमवसरान्तरे वक्ष्यामः ।  
यद्यपि पुरुषे दुःखस्य साक्षाद्बृत्तित्वं नास्ति किन्तु भोगाऽऽख्यसम्बन्धो विद्यत एव,  
अतः सुखदुःखादिभोगवत्त्वं पुरुषे संसारः, सुखदुःखभोगनिवृत्तिश्च पुरुषे मोक्षः ।

दुःखनिवृत्तिस्तु न स्वतः पुरुषाऽर्थः, दुःखभोगनिवृत्तेरेव स्वतः पुरुषार्थत्वात् ।  
दुःखभोगे निवृत्ते सति पुनरयमात्मा तापत्रयं न भुङ्क्ते । अतः 'तरति शोकमा-  
त्मवित्' 'विद्वान्दर्पशोकौ विहाये'त्यादिश्रुतिवाक्येऽपि हर्षशोकयोर्भोगं तरति  
जहाति वेत्यर्थः—इति तु तत्त्वम् ।

तथा च दुःखत्रयनिवृत्तिरूपप्रयोजनवत्त्वात् मुमुक्षुजनस्य जिज्ञासा भवति ।  
कुत्र च पुनः सा भवति ? अत उक्तम्—

'तदुपघातके हेता'विति । सर्वत्र 'तत्'—पदस्य बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वो-  
पलक्षितधर्मावच्छिन्नबोधकत्वमिति-नियमेन स्वोच्चारणाऽनुकूलबुद्धिप्रकाराऽवच्छि-  
न्ने शक्तिरस्ति । प्रकृते च 'तत्' पदस्य तत्पदोच्चारणानुकूलदुःखत्रयविषयक-  
बुद्धिप्रकारदुःखत्रयत्वावच्छिन्नदुःखत्रयरूपाऽर्थे शक्तिस्तेन 'दुःखत्रयाऽभिघातादि'ति-  
समस्तपदस्यैकदलेऽभिघाते गुणोभूतस्य दुःखत्रयस्य बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य तत्पदेन  
परामर्शस्तेन 'दुःखत्रयाऽपघातके=दुःखत्रयोपभोगनिवृत्तिजनके, हेतो=दृष्टे-आनुश्र-  
विके-पारमार्थिके वा, सा जिज्ञासा भवतीत्यन्वयः ।

तथा च 'एतच्छास्त्रविषयो, मुमुक्षुणा जिज्ञास्यः,—परमपुरुषार्थप्रयोजकत्वा'-  
दित्यनुमितम् । तेन च 'परमपुरुषार्थत्वावच्छिन्नं प्रति सत्त्वपुरुषाऽन्यताज्ञानद्वारा  
सांख्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञानस्य कारणत्वमिति—सांख्यमतसिद्धान्तितकार्यकारणभावः ।

यस्य खल्वसत्त्वं गगनकुसुमवत् तन्न जिज्ञास्यते, विषयसत्त्वाऽधीनत्वाद्विषयि-  
ण्या जिज्ञासायाः, सच्चेदं दुःखं, कथं तदिदं जिहासितं स्यात्, सतो हानाऽसंभवात्,  
हानं नाम समुच्छेदः, स च न ध्वंसाऽभिधेयः, सत्कार्यनये ध्वंसाऽनङ्गीकारात् ।  
नित्यस्य च दुःखस्य ध्वंसाऽप्रतियोगित्वात्, किन्तु वियोगात्मक एव समुच्छेदः,  
स च शक्यसम्भवो यदि तदुपायस्तावदुपगतः स्यात्, उपायानाञ्च गहनत्वान्न  
विज्ञापयितारमन्तरेण तत्स्वरूपप्रसक्तिः, विज्ञापयितुं च शास्त्रमिदं तत्त्वज्ञाननिर्भ-  
रम् । तच्च दृष्टाऽनुश्रविकविषयमिन्नं तत्त्वज्ञानं मुक्तिसाधनमिति निरूपयति ।  
नियतञ्च लोके सरलमनुष्ठेयमिति । यतो ह्यविशेषफलकमुपायबाहुल्यं यद्युपलभ्यते  
तदा लाघवादुपस्थितत्वाच्चाऽन्यान्विहाय सरलमेवाऽनुष्ठीयते । सरलश्च दृष्टोपायः,  
असरलञ्च पुनरिदम् पारमार्थिकं तत्त्वज्ञानम् । अत एवोक्तम्—

—'दृष्टे साऽपार्था चे' दिति ।

दृष्टे लौकिके सदुपाये प्राप्ते सति तत्रैव मुमुक्षूणां जिज्ञासा भवति, तेन  
'सा'=शास्त्रविषयजिज्ञासा,—'अपार्था' अपगतोऽर्थः प्रयोजनं यस्याः सेति । निष्फ-  
लाऽन्यथासिद्धेति भावः ।

एतदुक्तम् भवति—अस्तु दुःखं सत्, स्याच्च जिहासितम्, भवतु च चित्तवियो-  
गात्मकं हानम्, सहताञ्च शास्त्रविषयकतत्त्वज्ञानात्मकोपायस्तदुन्मूलयितुम्,



तथाप्यनेकजन्माऽभ्यसनसन्ततिव्यवसायसाध्यमतिदुष्करं तत्त्वज्ञानम् भवत्यत एव 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं' पर्वतं व्रजेत् । दृष्टस्याऽर्थस्य संसिद्धौ को विद्वान्यत्नमाचरे'दिति-जनश्रुतेः गहनतरे शास्त्रविषये सुसुक्ष्मां जिज्ञासा न युक्ता ।

किन्तु शारीरदुःखनिरसनायाऽनेके तावदुपायाः समुपलभ्यन्ते, तथाहि-वात-पित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तेन प्रादुर्भूतज्वरादिदुःखनिवर्तनायाऽऽयुर्वेदोपदक्षितौ-षध्यादिसेवनमलं भवति । मनोजन्यवेदनाया निवर्तनाय च वस्त्राऽलङ्कार-मनोऽभिलषितस्त्री-द्रव्य-दिध्याऽदिव्यवस्तु-स्मृद्धि-राज्य-भोजन-पान-सेवक-सरस्वती-बाहनोद्यान-सिंहासनाद्यनेकानां स्वाऽनुकूलविषयाणां संहतिः स्वसत्ताधीना सती सम्यगलं भवति । एवमाधिभौतिकस्याऽपि दुःखस्य निवर्तनाय नीतिविद्याऽध्ययनं नृपमैत्रीमत्तभट्टाऽनुरक्ष्यताप्रवीणतानिरत्ययक्षितिवसतिश्चेत्यादिकं साधनकूलं सुसाध्यं विद्यते । एवमाधिदैविकस्य च दुःखस्य प्रतिकाराय यज्ञहोमवाय्विन्द्र-वरुण-पृथिवी-प्रभृतिदेवपुरश्चरणम्, हनुमत्पूजनम्, विनायकस्तवनं ग्रहशान्तिर्मणिमन्त्रौषध्यादिकञ्चेत्युपायसमूहः सुकरो भवति ।—तथा च—

'दृष्टोपायाः, सुसुक्ष्मा जिज्ञास्याः, दुःखनिवर्तकत्वा'दित्यनुमितम् । तन्न युक्तम्, यतो हि प्रत्यक्षाऽतिरिक्तप्रमाणप्रमेयाऽनभ्युपगन्तुणामियं रीतिस्तस्माच्चा-र्वाकाऽभिलषितमिवैतन्न प्रत्ययपथमधिरोहति । ते हि प्रत्यक्षाऽतिरिक्तं प्रमाणं प्रमेयं वा नाऽभ्युपगच्छन्ति, शरीरस्योच्छेदमेव मोक्षम्, शरीरावच्छेदेन चेन्द्रियाऽन्तःकरणादिजन्यं विपूलतरं सुखमेव पुरुषार्थमभ्युपगच्छन्ति । तथा च दृष्टविषयकजिज्ञासया दृष्टस्यैव पुरुषार्थस्याऽवगम इति वदन्ति । प्रकृते त्वैकान्तिकऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरेव मोक्षोऽभिप्रेतः, तमेव निवेदयति—

—नैकाऽन्तात्यन्तोऽभावादिति ।

एकान्तो-दुःखनिवृत्तेरवश्यम्भावः, अत्यन्तो-निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः, तयोरभावः-एकान्ताऽत्यन्ततोऽभावस्तस्मात्, पृथोस्थाने सार्वविभक्तिकस्तसिप्रत्ययः।

एतदुपपद्यते—यतो बहुवारमपि कामिनीसमुपभोग-रसायनादिसेवन-नीति-शास्त्राद्यभ्यास-मणिमन्त्राद्यनुष्ठान—यज्ञहोम-देवाराधनाकरण-लक्ष्मीभोग-भोजन-पान-विलेपन-वस्त्राद्यऽलङ्कारादीनां सम्यगुपभोगे कृते सत्यपि शारीरस्य मानसस्य च दुःखस्य प्रशमनाऽदर्शनात्-अनैकान्तिकत्वम् । अथवा तूपायैर्निवृत्ते सत्यपि पुनरुत्पत्तिर्दर्शनात्—अनात्यन्तिकत्वम् । अत एव दृष्टस्तावदुपायो नैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्तेर्हेतुस्तथा च—'दृष्टोपायेषु—सुसुक्ष्मां जिज्ञासा न भवति, ऐकाऽन्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाऽभावात्'—इत्यनुमानेन दृष्टोपाये सुसुक्ष्म-कर्तृकजिज्ञास्यत्वप्रकारकमनुमानं खण्डितम् । यतो मुक्त्यभिलाषु कामैकान्तिकाऽऽ-

त्यन्तिकदुःखाऽनिवर्तके साधने जिज्ञासाऽनुदयात्, दृष्टोपायस्य च तथात्वेन तत्र तादृशजिज्ञासाऽनुदयसिद्धिरिति भावस्तथा च श्रुतिरपि 'अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेने'ति, धनाद्युपार्जनेऽपि पुनर्धननाशे दुःखानुवर्तनसत्त्वात् न परमपुरुषार्थः । यस्मिन्नंशे यावत्सुखमात्रा तावदस्ति तत्र पुरुषार्थः सुखस्याऽपि परमपुरुषार्थत्वात् । तच्च नित्यमिति, न त्वनित्यम्, यदि निवृत्तिमत्सुखं स्यात्—लौकिकोऽयं पुरुषार्थः, नतु परमपुरुषार्थः, सुखस्य निवृत्तिसत्त्वात्, यथा प्रत्यहं जठराऽनलशान्ति-प्रसन्नकस्याऽन्नाहारस्य क्षुधाजन्यदुःखनिवर्तकतया तज्जन्यशान्तेः कथञ्चित्पुरुषार्थ-त्वम् । तत्र च यावदंशोऽनुकूलवेदनीयतयाऽनुभूयते तावदादाय निवर्तते पुरुषः, स च सुखांशः पुरुषार्थः, सर्वत्राऽपि तथा । प्रतिकूलवेदनीयञ्चांशं परित्यजति, तत्र यत्परित्यागवीजम्, तद्दुःखम्—न पुरुषार्थः । तद्विपरीतस्तावत्प्रवृत्तिजनक-तयाऽवगम्यते स एव पुरुषार्थांश इति ।

तत्र च नान्तरीयकदुःखसम्पर्काऽवश्यम्भावेन परमत्वं विशेषणं नास्ति । एवं 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतञ्च—तत्सुखम् स्वःपदास्पदम्' इति वचनेन दृष्टोपायसाध्यं स्वर्गात्मकमिन्द्रपदमपि दुःखसम्भिन्न-मिति ज्ञायते । अत्रार्थे श्रुतिः—“न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रिययोरपहति-रस्ति”—इति ॥ १ ॥

नन्वत्यन्तदुःखनिवृत्तेरुपायो दृष्टसाधनं मा स्यात् । किन्तु 'स्वर्गकामो यजेते'-त्यादिश्रुत्या ज्योतिष्टोमादियागात्मकस्य सहस्रदिवसात्मककालेन निवर्तनीयाऽनुष्ठान-स्य कर्मकलापस्यैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखत्रयनिवर्तकत्वमवगम्यते । 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं 'स्वः'-पदास्पदम्' इति तन्त्रवार्तिकोक्तया भविष्यत्कालीनदुःखाऽनधिकरण-ध्वंसाऽप्रतियोगियथेष्टाऽनुचार-यितृ-सुखमात्राऽवगाहि-स्वर्गस्थानं प्रतीयते । तथा च दुःखविरोधिसुखमेव स्वर्गं इति । तच्चाऽऽनुश्रविकोपायसाध्यमित्यतस्तादृशोपायः समूलमुन्मूलयिष्यति दुःखम्, न चेदं स्वर्गमनित्यमिति शङ्क्यम् । 'अपाम सोमममृता अभूम' इति श्रुत्या सोमपानमास्वाद्याऽमृतत्वाऽवगाहनस्य बोधनात् । अमृतत्वञ्च मृतत्वाऽऽभावः, मृतत्वञ्च प्रकृते विनाशित्वम्, तथा च नाशाऽप्रतियोगित्वं तत्र, अत एव सत्, तस्य क्षये वा कुतोऽमृतत्वसम्भवः, तस्मात्स्वर्गप्रदस्य तापत्रयनिवर्तनहेतोर्मुहूर्त-घटिका-यासा-ऽहोरात्र-पक्ष-मास-संवत्सराद्यल्पकालेन निष्पादनीयस्याऽनुश्रविकोपा-यस्य जन्मजन्मान्तराऽभ्याससाध्यविवेकज्ञानाऽपेक्षया सुकरत्वमिति । तथा च,

—वैदिकोपायो,—मुमुक्षुणा जिज्ञास्यः—दुःखनिवर्तकत्वात्, अत एवाऽनुश्रविको-पायविषयिणी जिज्ञासा युक्ता भवति । तेन पुनः शास्त्रविषयकजिज्ञासा व्यर्था—इति चेत् !, न भवति व्यर्था, यतः—



दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयाऽतिशययुक्तः ।

तद्विपरीतः श्रेयान्, व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

उभयोरेव दृष्टाऽऽनुश्रविकोपाययोरैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्त्यप्रयोजक-  
त्वेऽविशेष एवाऽवगन्तव्यः । दृष्टवद्-दृष्ट इवेत्यर्थः । आनुश्रविकः गुरुपाठादनु-  
श्रूयते-इत्यनुश्रवो वेदः, न तु कृत इत्यर्थः ।

न च सर्वज्ञपुरुषकर्तृकत्वमेव पौरुषेयत्वमभ्युपेत्य भ्रान्त्यादिदोषाऽसम्भवेन  
वेदस्य पुरुषजन्यत्वे विरोधाऽभाव इति साम्प्रतम् । वेदस्य सर्वज्ञपुरुषकर्तृकत्वाऽ-  
नङ्गीकारात्, -सेश्वरसाङ्ख्यमते योगमते च परमेश्वरोच्चरितशब्दात्मको वेदः सत्त्वदार्थः ।  
अथ च निरीश्वरसाङ्ख्यमते शब्दात्मकः सत्स्वरूपो वेदः । न्यायवैशेषिकमते परमा-  
त्मोच्चरितशब्दात्मको वेदः । वेदान्तिमते च ब्रह्मोच्चरितशब्दात्मक एव वेदः ।  
मीमांसकमते नित्यशब्दाऽत्मको वेदः इति । अत एव पुरुषोच्चार्यमाणत्वं वेदेऽभ्यु-  
पेयम्, न तु पुरुषकर्तृकत्वमिति । तत्र भवः-आनुश्रविकस्तत्र प्राप्त ज्ञात इति यावत् ।  
वेदविहितयागादिरानुश्रविकः, स च लौकिकोपायवदजिज्ञास्यः, ऐकान्तिकाऽऽत्यन्ति-  
कदुःखनिवर्तकत्वाऽभावात् । साद्रश्यमत्र तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्,  
धर्माश्च धर्मिस्वरूपा एव, तेनैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाऽभावो वैदिके  
लौकिके चोपाये तुल्य इति भावः । एतदनुमाने पक्षस्तावदानुश्रविकोपायः,—  
स च वैदिककर्मकलाप-तत्त्वज्ञानादिसाधारणः, सर्वेषामानुश्रविकत्वात् । तथा च  
तत्त्वज्ञानमपि मुमुक्षुभिरनभिलषितं स्यात् । तथापि—आनुश्रविकपदेनाऽत्र  
तत्त्वज्ञानाऽतिरिक्तः कर्मकलाप एवाऽभिप्रेत इति बोध्यम् ।

‘आत्मा वाऽरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः’ तमेव विदित्वाऽ-  
तिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाये’त्यादिश्रुतिसिद्ध मुक्तिप्रयोजकस्य शास्त्र-  
विषयस्य जिज्ञासाविषयत्वखण्डनमत्राऽभिप्रेतं नास्तीति भावः ।

ननु कानुमाने पक्षे हेतोरभावादसिद्धिरिति चेन्न, ‘स ह्यविशुद्धिक्षयाऽतिशययुक्तः’-  
‘हि’-यस्मात्, ‘सः—आनुश्रविककर्मकलापः, ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखत्रयनि-  
वर्तको न भवति, अविशुद्धियुक्तत्वात्, क्षययुक्तत्वात्, अतिशययुक्तत्वाच्चेत्याद्यनु-  
मानेन हेतोः साधितत्वात् ।

अविशुद्धिर्नाम-हिंसा, सा च प्राणवियोगात्मिका-प्राह्या । ज्योतिष्टोमे च  
देवतायै हवनकर्मणि सुखजनकाऽपूर्वजनकत्वं विद्यते, तथाऽजादिप्राणिहननकर्मणि  
दुःखजनकपापाऽपूर्वजनकत्वमपि भवति । अत एव ‘वैदिककर्मकलापः, ऐकान्ति-  
काऽऽत्यन्तिकदुःखत्रयनिवर्तको न भवति, दुःखमिश्रितसुखजनकत्वात्, इति प्रथ-  
मानुमानं फलितम् । एतेन ज्योतिष्टोमादिकर्मणः पापस्याऽपि जनकत्वेन कस्यचि-

द्वादिन ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखाऽभावसाधको-‘दुःखाऽसम्भिन्नसुखजनकत्व’-  
रूपो हेतुर्निरस्त इति, तत्र दुःखाऽसम्भिन्नत्वरूपविशेषणस्याऽसिद्धत्वात् ।

एतदुक्तं भवति-पशुहननात्मकहिंसामिश्रितत्वेन ज्योतिष्टोमादिवैदिककर्मणः  
पापजनकत्वमपीति । तथा चाऽत्रार्थे पञ्चशिखर्षिवचनम्-‘स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः  
सप्रत्यवमर्षः’ इति, ‘स्वल्पः सङ्करः-ज्योतिष्टोमादिजन्यप्रधानाऽपूर्वस्य पशुहिंसा-  
जन्यपापाऽपूर्वेण सह सङ्करो दोषः, स च ‘सपरिहारः-प्रायश्चित्तेन परिहर्तुं शक्यः,  
यदि च यजमानेन प्रमादतः प्रायश्चित्तं नाऽनुष्ठितञ्चेत्, तदा स्वर्गभोगसमये ‘सप्र-  
त्यवमर्षः’-प्रत्यवमर्षणम्-भोगस्तेन सह वर्तत इति-भोक्तव्यो भवति-इत्यर्थः ।

‘भुञ्जन्ते खलु सुकृतसम्पदासादितस्वरमृतमहासमुद्रशायिनः पुण्यात्मानो  
दुष्कृतलेशावगमितं वेदनावह्निस्फुलिङ्गम्’ इति ।

ननु वैधर्हिंसा न सा हिंसा न च पापजनिका वेदोक्तत्वादिति चेन्न । हिंसा-  
त्वञ्च शरीरेणाऽऽत्मना वा सह प्राणवियोगत्वम्, हिंसाकर्तृत्वं हिंसकत्वम्, वैधेऽपि  
तत्सत्त्वात् सा हिंसा । पापत्वञ्चाऽत्राऽधर्मत्वम्, तच्च न वेदतन्मूलकशास्त्रादिविहि-  
ताऽर्थाऽविरुद्धान्यानुकूलकर्माऽऽचरणातिरिक्तकर्माऽऽचरणजन्याऽदृष्टत्वम्’ तथा सति  
वैधर्हिंसाजन्याऽदृष्टस्य पापत्वाऽनुपपत्तिः स्यात्, किन्तु ‘चेतनाऽननुकूलवेदनोत्पा-  
दककर्मानुसञ्चिताऽपूर्वत्वम्’ प्राणिनां वधश्चाऽननुकूला वेदना, तदुत्पादककर्माऽनु-  
सञ्चिताऽपूर्वं यजमाने भवति, अतो वैधर्हिंसायाः पापजनकत्वमिति ।

अत एव वैधर्हिंसाऽतिरिक्ताया एव हिंसायाः पापजनकत्वमिति तु सर्वथैवाऽ-  
समञ्जसम्, तादृशाऽतिरिक्तान्तप्रवेशे प्रमाणाऽभावात् । अत एव क्षत्रियाणां स्वध-  
र्मेऽपि सङ्ग्रामे स्वजनपरजनानां हननजन्यपापप्रध्वंसनाय प्रायश्चित्तं ‘पापध्वंसकामः  
प्रायश्चित्तमाचरे’दित्यादिना श्रूयते । अतः-‘अग्निपोमीय पशुमालभेते’ति श्रुतिरपि  
पशुहिंसा यागसाधनमिति वक्ति, न तु तस्या ‘नाऽनर्थकारित्व’मिति च वक्ति,  
तथा सति तु ‘न हिंस्यात्सर्वाभूतानि’ इत्यस्याः ‘पशुहिंसा पुरुषस्याऽनर्थकरी’ इति  
बोधकत्वेन परस्परं वेदवाक्यविरुद्धत्वमापद्यते । अत एव ‘अग्निपोमीयं पशुमालभेते’-  
त्यस्याः-‘पशुहिंसाया यागसाधनत्वम् ‘मा हिंस्यात्सर्वाभूतानि’ इत्यस्याश्च प्राणि-  
हिंसाया पुरुषस्याऽनर्थकारित्वमिति बोधकत्वेन विरोधपरिहारात् । तथा च वैधर्हिं-  
सायास्तु पापजनकत्वमिति सुस्थिरम् ।

क्षयाऽतिशयौ, च फलनिष्ठौ, तेन क्षययुक्तत्वादिति हेतोः क्षयिष्णुफलजनक-  
त्वादित्यर्थः, तेन ‘न च प्रस्तमनन्तर’मिति निरस्तम् । ‘यतः सर्वाणि भूतानि  
भवन्त्यादियुगागमे । यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये’-इत्यादिविष्णुसहस्र-  
नामस्मृतेः,-‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रत्यभि-  
संविशन्ति’ इत्यादिश्रुतेश्च, -नित्यनैमित्तिकप्राकृताऽऽत्यन्तिकभेदाच्चतुर्विधप्रलयेषु



ब्रह्माण्डलयनिश्चयात् स्वर्गस्य तदन्तर्गतलोकत्वेन नाऽमृतत्वमिति । प्रत्यहं ताराणामधःपतनाऽवलोकनेन स्वर्गस्य क्षयित्वमप्यनुभूयते सर्वैरिति । तथा च 'ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिस्वर्गादिलोकानां क्षयित्वम्, भावत्वे सति कार्यत्वाद्, घटवत् । क्षयित्वञ्चाऽत्र तिरोभावित्वं कारणाऽवस्थात्मकत्वमिति । यावतां विकृतिमयपदार्थानां तिरोभावित्वमिति नियमः । 'अपामसोमममृता अभूम' इत्याद्याऽमृतत्वपदेन चिरकालस्थायत्वं बोध्यम् । यथा 'आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते'—आभूतसम्प्लवम्—ब्रह्माहःपर्यन्तस्थायिस्थानममृतमिति कथ्यते इति भावः । 'अमृतपदवाच्यं यन्नित्यं परब्रह्मस्थानं तत्तु 'न कर्मणा न प्रजया न धनेन' 'त्यागेनैवैकैऽमृतत्वमानशुः' 'कर्मणा—ज्योतिष्टोमादिना, 'प्रजया-पुत्रादेः ऋणनिवर्तनेन, धनेन, वा तत्परब्रह्मपदं न प्राप्नुवन्ति ।

किन्तु एके—मुनयस्त्यागेन तत्त्वज्ञानसहकृतेन 'अमृतत्वम्-सच्चिदानन्देत्यंशत्रयाऽवच्छिन्नं परब्रह्मधाम, आनशुः,—इत्यर्थः ।

'परेण नाकं निहितं गुहायां विभाजते यद्यतथो विशन्ति'—'नाकं—स्वर्गात्, 'परेण'—परं भिन्नं श्रेष्ठम्, निहितम्—सर्वत्र व्यापकत्वात् सन्निहितम् भगवद्भाम 'गुहायाम्—तत्त्वज्ञानजन्यसत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातौ सत्याम्, 'विभाजते—प्रकाशितं सद् भासमानं भवति, 'यत्—भगवद्भाम, 'यतयः—तत्त्वज्ञानिभगवद्भक्तिमद्योगिनः, 'विशन्ति'—प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

तथा 'कर्मणा मृत्युमृपयो निपेदुःप्रजावन्तो द्रवीणमीहमानाः' 'कर्मणा—ज्योतिष्टोमादिना 'प्रजावन्तः—प्रजोत्पत्त्या पितृसम्बन्धिनः—ऋणाश्रित्वा अपि, 'द्रवीणमीहमानाः द्रव्यादिना मुक्तिमीहमाना अपि 'ऋपयो - 'मृत्युम्—विनाशि स्थानं स्वर्गादिकं निपेदुरिति । तथा 'परे ऋपयो ये मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः'—'ये मनीषिणः—भगवद्भक्तिसहकृततत्त्वज्ञानिनस्ते 'परं कर्मभ्यः—ज्योतिष्टोमादिकर्मजन्यस्वर्गादिभिन्नं श्रेष्ठं परब्रह्मधामाऽभिधेयं 'अमृतत्वम्—अविनाशिस्थलमानशुरिति । तथा च परब्रह्मपरमात्मनः सच्चिदानन्दधामाऽतिरिक्तानां ब्रह्माण्डलोकानामनित्यत्वमिति बोध्यम् ।

ब्रह्मपदं च कीदृशं तत्सविस्तरं योगदर्शनस्य 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमा'दिति सूत्रस्याऽस्मद्विरचित 'स्वामिनारायणभाष्ये' विस्तारितमिति ततोऽवगन्तव्यम् ।

अतिशययुक्तत्वादित्यस्याऽपि हेतोरतिशययुक्तफलजनकत्वादित्यर्थः । 'अतिशयत्वम्—न्यूनाधिकत्वम् श्रेष्ठकनिष्ठभावः । दृष्टं हि लोके स्वं निर्धनममृद्धिमवलोकयन् स्वेतरञ्च विपुलतरद्रव्यवाहनमन्दिरादिभोग्यविभवमवलोकयन् खिन्नो भवति । 'अहो मे नास्ति स्मृद्धिरिति' निःश्वस्याऽऽत्मानं भर्त्सयते । तथा स्वर्गोऽपि ज्योतिष्टोमकारिणः साधारणा देवा भवन्ति, वाजपेयादियागकारिणस्तु स्वर्गाधिप-

त्यमिन्द्रस्थानमासादयन्ति,—इति श्रेष्ठकनिष्ठभावव्यवस्थानात्, विशेषस्पृद्धसि-  
म्भाभ्ययोगी न्यूनसम्पदं पुरुषं दुःखाकरोति, संसृतेस्तादृशस्वभावात् । तथा च  
'वैदिकोपाया दोषत्रयविशिष्टत्वेन कामक्रोधादियावदान्तरिकदोषव्यासफलजनक-  
त्वेन चैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखत्रयाऽनिवर्तकत्वान्न मुमुक्षुणा जिज्ञास्या इति  
सिद्धम् । अत एव 'तद्विपरीतः श्रेयान्'—तस्माद् = दुःखापघातकोपायाज्योतिष्टो-  
मादे 'विपरीतः'—हिंसारहितः क्षयाऽतिशयफलरहितो नित्यनिरतिशयफलः,—'यद्ग-  
त्वा न निवर्तन्ते' इति स्मृतेः, 'न पुनरावर्तन्ते' इति श्रुतेश्च, तादृशः सत्त्वपुरुषा-  
न्यताप्रत्ययः 'श्रेयान्' स एव दुःखापघातको हेतुरिति ।

आनुश्रविकोपायस्तु दुःखसङ्कीर्णसुखजनकोऽपि वेदविहितत्वाल्लौकिकोपाया-  
स्पेक्षया श्रेष्ठः, तदपेक्षया च सत्त्वपुरुषाऽन्यताप्रत्ययस्तु श्रेष्ठतरइति श्रेयानिति  
च । स च सत्त्वपुरुषाऽन्यताप्रत्ययः कस्माद् भवति ? 'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानादिति  
'व्यक्तम्—महत्तत्त्वमहद्भार एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि पञ्चभूतानि  
चेति । अव्यक्तम्—मूलप्रकृतिः । 'ज्ञः--जानातीति ज्ञः--आत्मा, तेषां तत्त्वानां विवे-  
केन ज्ञानात् स प्रत्ययो भवति । प्रथमं व्यक्तपदार्थानां ज्ञानम्, ततोऽव्यक्तस्य  
कारणस्य ज्ञानम्, तदनन्तरं द्वयोः पारार्थ्येनाऽऽत्मा ज्ञायत इति । तथा च  
दुःखोपभोगाऽत्यन्तनिवृत्तिव्यावच्छिन्नं प्रति तत्त्वज्ञानस्य कारणत्वम्, सत्त्वपुरुषा-  
ऽन्यताज्ञानन्तु द्वारमिति दर्शितम् ।

युक्तञ्चेतत्—लोकेहि प्रत्यक्षयोग्यं यावत्पदार्थजातं प्रत्यक्षीकृत्य साक्षादवि-  
पयञ्च श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिसच्छास्त्रेभ्यः सम्यक् श्रुत्वा ज्ञात्वा च तन्मनन-  
व्यवस्थापनेन च तत्कारणमव्यक्तं निश्चेयम्, द्वयोर्भिन्नश्चाऽऽत्मा, इति दीर्घका-  
लाऽऽद्वयनैरन्तर्यसत्कारसेवितान्नावनामयात्तत्त्वज्ञानात्सत्त्वपुरुषाऽन्यताज्ञानं भव-  
तीति वक्ष्यति—'एवं तत्त्वाऽभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् । अवि-  
पर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्, ( ६४ ) कारिकायामिति । अत्रेदमुपपद्यते—  
दुःखोपभोगाऽत्यन्तनिवृत्तिर्मोक्षः, दुःखोपभोगात्यन्तयोगश्च बन्धः । स च पुरुषे न  
सांसिद्धिको भवति, सांसिद्धिकत्वे तादृशबन्धविमुक्त्यर्थं वैदिकाऽनुष्ठानस्योपदेश-  
विधेश्चाऽऽनर्थक्यं स्यात् । नहि जलस्य सांसिद्धिकद्रवत्वं केनाऽप्युपायेन प्रत्याख्येयं  
भवति, न वा बह्वेरुणत्वं केनाऽप्यपह्नुवं भवति । सांसिद्धिकस्य स्वकारणयाव-  
द्द्रव्यभावित्वनियमात् । तस्मात् "यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभवा-  
तः । नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि" ॥ इति स्मृतेरात्मनो निर्मुक्तित्वमापद्येत ।  
अतो वारिण्युष्णस्य शंखेव दुःखबन्धस्यौपाधिकत्वमात्मनि विज्ञेयम् । सांसिद्धिकत्वं-  
स्वकारणसत्ताऽतिरिक्तसत्ताऽन्यस्य स्वकारणसत्तावत्त्वम्, स्वभावसिद्धत्वमिति  
यावत् । जलगतं द्रवत्वं भवति तथा, दुःखन्तु बुद्धौ सांसिद्धिकम् । औपाधिक-



त्वन्तु-स्वसत्तातिरिक्तसत्ताकधर्मस्य स्वकीयधर्मत्वेन भासमानत्वम्, यथा जपाकु-  
सुमरक्तिमा स्फटिके भवत्यौपाधिकी, स्फटिकसत्तातिरिक्तजपाकुसुमसत्ताकधर्मरू-  
पायां तत्र स्फटिकधर्मत्वेन भासमानत्वस्यसत्त्वात् । एवं चित्तसत्ताकस्य दुःखभोगाऽ-  
त्यन्तयोगस्य दुःखभोगाऽत्यन्तनिवृत्तेऽश्चात्मनि सिद्धमौपाधिकत्वमिति । दुःखं चेत्  
स्वाभाविकं स्यादात्मनि, तदा सर्वदोषलब्धं स्यात्, तेन निर्मोक्षत्वापत्तिः । अथ  
चित्तस्य धर्मत्वे तु त्रिगुणात्मकेन चेतसा दुःखादिकं जन्यते, यदा च सत्त्वबहुलं  
चित्तं भवति तदा चेतसि दुःखानुपलब्धेरात्मन्यपि दुःखाऽनुपलम्भ इति । चित्त-  
नाशे च दुःखभोगाऽत्यन्तनिवृत्तिरप्यात्मनीति ।

अथात्र विषये क्षणिकविज्ञानात्मवादिबौद्धप्रभेदाः-क्षणिकविज्ञानमात्रमद्वितीयं  
तत्त्वम्, क्षणिकविज्ञानस्यैवात्मत्वात् विज्ञानात्मके चित्ते दुःखं स्वाभाविकम्,  
चित्तं, क्षणिकम्, यत्सत् तत्क्षणिकमिति ध्यासेः । चित्तमेवाऽनादिवासनावशादनेक-  
विषयाकारमवभासते, विषयेष्विन्द्रियद्वारा चित्तात्मनो वृत्तिभेदाः संक्रान्ता भवन्ति,  
तेन विषयोपभोगविषयकाऽनेकाकारा वासनातरङ्गाश्चित्तात्मनि संभवन्ति । चि-  
त्तात्मवादमते क्षणिकमपि चित्तं धारावाहिकतया यावत्कालं शरीरे प्राणस्थितिस्ता-  
वद्धारवाहिकतयाऽनुवर्तते, प्राणविगमे च सति चित्तप्रवाहविच्छेदो मरणम्, तथा  
च प्रवृत्तिविज्ञानात्मकचित्तप्रवाहस्य विच्छेदो मुक्तिरिति । मुक्तिं प्रति चित्तगतसां-  
वृत्तिकवासनाविच्छेदः प्रयोजकः । संवृत्तिश्चाऽविद्या मिथ्याज्ञानाख्या, तज्जन्यवास-  
नात् एव स्वाभाविकश्चेतसि बन्ध इति समभ्युपगच्छन्ति । तन्न युक्तम् । यतः-क्षणि-  
कविज्ञानमेवाऽद्वितीयं तत्त्वमिति वादिनां तेषामविद्याया अप्यवस्तुत्वेन तत्प्रयोज्य-  
वासनया बन्धाऽनौचित्यात्, न हि स्वाप्नरज्जा बन्धप्रयोजकत्वं दृष्टमिति । यदि  
च अविद्याया वस्तुत्वं स्वीक्रियते तदा स्वाभ्युपगतस्याऽविद्याऽनृतत्वस्य हानिः,

२-बौद्धाश्चत्वारः-माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकाः । तेभ्यो वासनात्मकबन्धनि-  
रासाय-‘सर्वं क्षणिकं क्षणिकं’-‘दुःखं दुःखं’-‘स्वलक्षणं स्वलक्षणं’-‘शून्यं शून्यं गिति भावना च-  
तुष्टयमुपदिष्टं गुरुणा बुद्धेनेति । तत्र माध्यमिकाः सर्वशून्यत्ववादिनः-तदेवं भावनाचतुष्टयबला-  
न्निखिलवासनानिवृत्तं परनिर्वाणरूपं शून्यं सेत्स्यन्ति । योगाचाराः-बाह्यशून्यत्ववादिनस्तु-‘तादृ-  
शभावनानुचतुष्टयप्रचयबलान्निखिलवासनोच्छेद-विगलितविधिविषयकारोपप्लवविशुद्धविज्ञानोदयो  
मोक्ष इति वदन्ति । सौत्रान्तिकाः बाह्यार्थानुमेयत्ववादिनः-‘तादृशचतुर्विधभावनामध्यतः ‘सर्वं  
दुःखं दुःखायतनं दुःखसाधनं’ चेति विशेषतो भावयित्वा तन्निरोधोपायेन तत्त्वज्ञानेन निखिलवास-  
नोच्छेदो विमलज्ञानोदयो वा मोक्ष इति वदन्ति । वैभाषिकाः-बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादिनोऽपि तादृ-  
शचतुर्विधभावनामध्यतः ‘सर्वं दुःखं दुःखं’मिति भावनया निखिलवासनोच्छेद एव मोक्ष इति  
सिद्धान्तयन्ति । तदत्र श्लोकः-‘रागादिज्ञानसन्तानवासनोच्छेदसंभवा । चतुर्णामपि बौद्धानां  
मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता’ ॥ इति ।

क्षणिकविज्ञानसन्तानाद्विजातीयं द्वैतं प्रसज्येत, तच्च भवतामनिष्टम् । नन्वविद्यायां ज्ञानविशेषत्वात् क्षणिकविज्ञानसन्तानसजातीयं द्वैतमिष्टमेवेति चेन्न । वासनारूपाऽविद्याया बन्धहेतुत्वेन वासनाया ज्ञानाद्विजातीयत्वमेवेति । किञ्च—वासनानां स्वाभाविकत्वे चित्तधर्मत्वे तन्निवर्तनमपि निराशमेव । ननु कृष्णं रूपं घटे स्वाभाविकमपि वह्निना निवार्यते, बीजे स्वाभाविकी अङ्कुरोत्पादिका शक्तिरपि वह्निना नाशयते, तथा वासनाविनाशोऽपि संभवेदिति चेन्न । घटे रूपस्य तिरोभावो भवति न तु नाशः, बीजे चाङ्कुरोत्पादकशक्तेस्तिरोभावो भवति न पुनर्नाशः । कदाचित् घटे कृष्णरूपस्य प्रादुर्भावंसंभवात्, बीजे च योगिजनसंकल्पेन पुनरङ्कुरोत्पादनशक्तेः प्रादुर्भावंसंभवात् । अत एव न दुःखतिरोभावो मुक्तिः, कदाचित् योगिसंकल्पादिना दृष्टाऽदृष्टोपायेन वा दुःखसन्ततेः प्रादुर्भावंसंभवात् । किन्तु दुःखात्यन्तनिवृत्तिरेव मुक्तिः । अत एव च वासनातिरोभावो भवता (बौद्धेन) नाङ्गीकर्तुं शक्यः, किन्तु वासनात्यन्तनिवृत्तिरेव, सा च त्वन्मते न संभवति, वासनायाः स्वाभाविकत्वात् । अतो वासनात्यन्तनिवृत्तिर्दुःखात्यन्तनिवृत्तिश्च यत्र शक्यसंभवा, स एव चित्ताऽतिरिक्तश्चेतनो नित्य आत्मा सिद्धः, तत्रौपाधिक एव दुःखब्रन्ध इति ।

किञ्च तादृश्यो वासनाश्चित्तात्मनो धर्मविशेषाः क्षणिकाश्च, बन्धा अपि क्षणिकाः, तत्र परस्परव्यभिचारवारणाय तद्वासनोत्तरतद्वन्धं प्रति तद्वासनायाः प्रयोजकत्वे आप्रायणं तादृशवासनाकोटिभिर्बन्धस्याऽननुगमः, अनन्तकार्यकारणभावाश्च स्युरिति । वासनात्वावच्छिन्नस्य बन्धत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वे चित्तान्तरव्यक्तिगत-वासनायाः चित्तान्तरगतबन्धं प्रति कारणत्वापत्तिर्द्वारा । न चैकात्मनिष्ठत्वं वासनायां बन्धे च निवेशनीयमिति वाच्यम् । प्रतिक्षणभिन्नात्मवादिनाम् असङ्ख्य-कार्यकारणभावप्रयुक्तगौरवभयेन तन्निवेशाऽयोगात् । ननु भवन्मतेऽपि दुःखानामनेकत्वेनाऽनेकबन्धापत्तिरिति चेन्न । नित्यस्य सतो दुःखस्य स्थूलसूक्ष्मभेदेनाऽवस्था-द्वयस्वीकारात्, तदेव दुःखं तावदनेकैर्निमित्तैः स्थूलावस्थामासाद्यमानं सत् भिन्नं भिन्नमिव भाति न तु वस्तुतो भिन्नम्, निमित्तभेदाद्भिन्नत्वप्रत्ययस्त्वौपाधिक इति ।

नन्वेवम्—आध्यात्मिकादित्रिविधं दुःखमिति सिद्धान्तहानिरिति चेन्न । तत्राऽप्युपाधिभेदेन त्रिविधस्य परिगणनात्, अन्यथा तदन्तर्गतान्यपि निमित्तान्यनेकानीति तत्प्रयुक्तदुःखानामानन्त्येन त्रिविधत्वमपि खण्डितं स्यादिति साङ्ख्यसिद्धान्तः ।

किञ्च—वासनानां बन्धहेतुत्वे सुषुप्त्यवस्थागतानां तथाविधविषयविषयक-वासनाऽभावेऽपि बन्धदर्शनेन व्यभिचाराच्च । ननु जाग्रति स्वप्ने च यथा प्रवृत्ति-विज्ञानप्रवाहस्तथा सुषुप्तावप्यालयविज्ञानप्रवाहस्यापि वासनावत्त्वसत्त्वेन बन्धसत्त्वं युक्तमिति न व्यभिचार इति चेन्न । अननुभवात्, । तस्य विषयाऽग्राहकत्वात् ।



न च विषयाऽभावेऽपि तदा निर्विषयचित्तसन्ततौ तद्वासनास्तु भवन्त्येवेति वाच्यम् । निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्, निर्युक्तिकत्वाच्च “वासनाकृतबन्ध” इति रिक्तं वचः । बन्धो, न क्षणिकः, चिरकालस्थायिकार्यत्वात्, घटवत्, । बन्धः, सन्, चित्तधर्मत्वात्, चेतसि वास्तविकः सः, आत्मनि त्वौपाधिक इति तत्त्वम् ।

ननु ज्ञास्तु स्वाभाविको बन्धः । कालस्य तु व्यापकत्वात् कालनिरूपितस्वरूपसम्बन्धेन दुःखबन्धो भवत्वात्मनि, स च कालिकसंसर्गात्मकोपाधिकृतः, नित्यस्यापि कालोपाधिस्वीकारात्, इतिन्यायवैशेषिकैकदेशिनो वदन्ति । अत्र केचित् ( विशानभिक्षवः ) व्यापिनो नित्यस्य कालस्य सर्वपदार्थत्वावच्छेदेन संयुक्तत्वात्, सर्वदा मुक्ताऽमुक्तसकलपुरुषसम्बद्धत्वात्, सर्वेषां सर्वदा बन्धनापत्तेरिति । अतो न कालिकसंसर्गोपाधिकृतबन्ध इति समादधिरे ।

वयन्तु—साङ्ख्यमते नित्यकालस्य तच्चाऽन्तराऽस्वीकारात्, यतो वर्षमासदिनादिव्यवहारस्तावत् यदुपाधिभिः सूर्यगमनादिभिर्वा भवेत्, सन्तु त एवोपाधयः, तत्रैव कालस्यान्तर्भूतत्वात्, क्षणानां चोपाधिभेदेन भिन्नत्वात्, क्षणनिरूपितकालिकसम्बन्धस्य क्षणमात्रस्थायित्वेन चिरकालस्थायित्वाऽनभ्युपगमात्, कालिकविशेषणतया दुःखबन्धस्याऽश्रद्धेत्यादिति—तन्निरसनप्रकारमभ्युपगच्छामः ।

एवं—दिङ्निरूपितविशेषणतयाऽपि बन्धो न सम्भवति, दिशां सूर्योदयास्तसन्निहितप्रदेशात्मकत्वात् न तत्त्वान्तरं दिशा, तन्निरूपितस्वरूपसम्बन्धोऽप्यप्रसिद्धः, तत्तत्प्रदेशात्मकस्वरूपसम्बन्धस्य प्रसिद्धौ वा तस्य व्यधिकरणसंसर्गतया चेतनेषु तत्प्रयुक्तबन्धस्याऽसम्भवादिति ।

मीमांसकास्तु—कर्मणां विहितनिषिद्धानां शुभाऽशुभानां सुखदुःखहेतुत्वात् शुक्लकृष्णाऽशुक्लकृष्णात्मकत्रिविधकर्मनिमित्तको बन्ध इति सङ्गमयन्ति । तदपि न संभवति यतः कर्मणां चित्तधर्मत्वेनाऽऽत्मधर्मत्वाऽभावात्, अन्यस्य धर्मेणाऽपरस्य धर्मित्वं कथं स्यात् । तथात्वसम्भवे तु पुरुषादपि पुत्रप्रसवः स्याद्, बह्वेरेपि शैत्यमुत्पद्येत, न चैतत्तद्गृहमिति । एवं कर्मणामस्थिरतया तत्तत्कर्माऽनधिकरणकालेऽपि बन्धदर्शनेन व्यभिचारात् । ननु समानकालिककर्मणामेव समानकालिकबन्धप्रयोजकत्वम्, तथा च न स्यादसमानकालिकबन्धमादाय व्यभिचारकल्पनाऽऽपत्तिरिति चेन्न । तथा सति बन्धानामानन्त्यापत्तिः, एवं तादृशव्यभिचारभयेन स्वातन्त्र्येण कर्मणां बन्धप्रयोजकत्वविरहात् । तत्र समानकालीनत्वं निवेश्यते—तथा च कालस्याऽपि तत्र सहकारित्वं समापतति तेन तत्र कालनिमित्तकत्वं कर्मनिमित्तकत्वमित्युभयमपि भवताऽङ्गीकार्यम्, एवञ्च भवदभिमतकर्ममात्रनिमित्तकत्ववादहानिः । कालनिमित्तकत्वन्तु पूर्वमेव निराकृतम् । यतो नाऽऽत्मनि तादृशकर्मयोगात्मको बन्धस्तादृश-

कर्मनिमित्तजन्यस्तत्र निमित्तजन्यबन्धाऽनङ्गीकारात्, किन्तु तादृशकर्मजन्यदुःखोपाधिक एव, तस्मान्न तन्नैमित्तिकत्वमिति ।

ननु तर्हि दुःखसंयोगात्मको बन्धः कथमात्मनि समानीयते इति न शङ्क्यम् । दुःखयोगं विना दुःखसाक्षात्काराऽऽख्यभोगो न स्यात्, स्याच्चेदसमानकालिकानामपि चेतनानां दुःखभोगाऽऽपत्तिः स्यात् । यावत्प्रत्येकव्यक्तिगतदुःखानां सर्वचेतनभोग्यता स्यादित्यव्यवस्थया 'अयं दुःखभोक्ताऽयं सुखभोक्ते'त्यादिव्यवस्था न स्यात् । सा भवतु चेत् ? विशृङ्खलवाक्यमिदं नाऽवधेयतत्त्वं भवति । तस्माद्भोगवैचित्र्यव्यवस्थापकदुःखयोगः पुरुषप्रतिबिम्बे एव, तस्य च स्वस्वचित्तवृत्तधीनत्वान्नाऽव्यवस्था, चित्ते हि पुरुषस्याऽनादिः सम्बन्धः, स च स्वभोग्ययावद्बुद्धिप्रयोज्याऽविद्यावासनावत्त्वरूपः, तेन 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणानि'तिस्मृतिवाक्यमपि युक्तं भवति; इति ।

चार्वाकास्तु देशयोगतस्तावदात्मनि बन्धः, स च देशात्मकोपाधिजन्यः, देशस्य पृथिव्यादेरेव बन्धनस्थलत्वात् । अथवा शरीराऽऽत्मकदेशोपाधिजन्यो बन्धः, शरीरस्यैव बन्धस्थलत्वादिति वदन्ति । तदपि न, एकस्य व्यक्तेर्नैकदेशोपाधिः सम्भवति, देशानामनेकत्वेन विभिन्नत्वात्, अत एव यावद्देशोपाधिर्वक्तव्या, सा च नैकाऽऽत्मनि सम्भवति । यद्यद्देशस्थायित्वं तत्तद्देशोपाधिश्चेत् ? उपाधिभेदेन बन्धानामननुगतत्वं स्यात् । तस्मात्तदपेक्षया लाघवात् अनुगतत्वाच्चोपाधिकं चित्तधर्मदुःखकृतबन्धमभ्युपगम्यताम्-इति ।

एवमेव शरीरोपाधिकोऽपि बन्धो नाऽभ्युपगन्तव्यो भवति, यतो हि पाट्कौशिकस्य शरीरस्य त्रियोगेऽपि सूक्ष्मशरीरेण सहाऽऽत्मनः संसारभ्रमणश्रवणात् ।

न च सूक्ष्मशरीरोपाधिको बन्ध एव भवत्वितिवाच्यम्, अष्टादशतत्त्वानां बन्धहेतुत्वापेक्षया बुद्धेरेव तद्देतुत्वं लाघवात् स्वीकार्यं, बुद्धेश्च धर्माऽधर्मराहित्ये न बन्धहेतुता, अतः धर्माधर्मादिसहिता सा वक्तव्या, तथा च तत्तेऽपि लाघवात् धर्माधर्माणां बन्धहेतुत्वेन धर्माधर्मोपाधिको बन्धस्तथा स्वातन्त्र्येणाङ्गीकार्यः, एवं च तयोरपि सुखदुःखभोगद्वारा बन्धप्रयोजकत्वात् धर्माधर्मोपाधिकबन्धाऽपेक्षया धर्माधर्मजन्यसुखदुःखोपाधिकबन्धस्यैव स्वीकार्यत्वं लाघवात् संभाव्यमिति ।

पौराणिकास्तु 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो'—रिति स्मृतेः 'सर्वं मन एवेति' श्रुतेश्च मनोजन्योपाधिको बन्ध इति चिन्तयन्ति । तदपि न युक्तम् । मनसोऽन्तःकरणत्वादिन्द्रियत्वाच्च, इन्द्रियत्वाऽन्तःकरणत्वोभयधर्मावच्छिन्नप्रयोज्यत्वाऽपेक्षया बन्धे चित्तत्वावच्छिन्नप्रयोज्यत्वस्यैव लाघवेनाऽभिमतत्वात्, तत्राऽपि च चित्तधर्मदुःखोपाधिकस्यैव बन्धस्य लाघवेन सुवचत्वमिति ।



एवं संघातविशेषरूपताऽऽख्या या 'देहरूपाऽवस्था, तत्प्रयुक्तोऽपि बन्धः पुरुषे भवितुं नाऽर्हति । अवस्थानां देहधर्मत्वात्, चेतनधर्मत्वाऽभावात् ।

ननु पुरुषस्याऽप्यवस्था भवन्वित्तिचेन्न 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' 'स यदत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवती' त्यादिस्मृतिवाक्यात् 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मासुतः' । 'अच्छेद्योऽयमदाहयोऽयमक्लेद्योऽशोच्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इत्यादिस्मृतिवचनाच्चाऽसङ्गस्याऽविकृतस्य पुरुषस्याऽवस्थात्मकविकृतिलेपनन्तु सूर्यमरीचावन्धकारलेपवदस्थानमिति बोध्यम् । पद्मपत्रस्य जलस्पर्शनाऽसङ्घित्वमिव पुरुषस्याऽसङ्घित्वं ज्ञेयमिति ।

बोधाऽऽत्मवादिन आर्हतास्तु 'सकपायत्वाऽजीवः कर्मभावभोग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः' यथा वाचकाचार्यः 'स्थितिरनुभावः प्रकृतिः प्रदेशश्चेति चत्वारो बन्धाः, 'मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकपाया बन्धहेतवः, बोधात्मको जीवः, अबोधात्मकोऽजीवः, बोधात्मकस्य जीवस्य मिथ्यादर्शननिमित्तो बन्धः प्रथमः इति वदन्ति । ननु मिथ्यादर्शनम्—विपरीतज्ञानं—तन्निमित्तो बन्धश्चेत् ? तद् यदि नित्यं तर्हि निर्मोक्षत्वाऽऽपत्तिः ! अनित्यं चेत् ? क्षणिकं तत्, तत्प्रयुक्तस्य चिरस्थायिबन्धस्यैकस्याऽऽसम्भवात् । तच्च यावद्वस्तुविषयकं सत् बन्धप्रयोजकं स्यात्, तथा च बन्धानामानन्त्यापत्तिः, तदपेक्षया सतो दुःखस्यैवौपाधिको बन्धोऽभ्युपेय इति । अविरतिः—इन्द्रियाऽसंयमनं, तच्च इन्द्रियविषययोगः, स च न बन्धहेतुर्भवितुमर्हति, सुषुप्तौ तदभावेन निर्बन्धत्वाऽऽपत्तिः स्यात्, तदानीमिन्द्रियविषयसंयोगाऽऽसम्भवादिति । प्रमादश्चाऽनवधानता, स च चित्तधर्मो निर्यापारात्मकः, तदभाववतोऽपि सव्यापारस्य दुःखितस्य निर्बन्धत्वाऽऽपत्तिरिति विपरीतं स्यात्, दुःखञ्चेत् प्रमादस्तदा त्वस्मत्सिद्धान्तसिद्धिरिति । कपायाश्च क्रोधादयश्चित्तधर्मास्तेऽपि न स्युर्बन्धहेतवः, यतः क्रोधादिचित्तकपायरहितानामपि बन्धदर्शनेन व्यभिचारात्, अनेकेषां हेतुत्वाऽपेक्षया लाघवाद् दुःखोपाधिकबन्धस्यैव युक्तत्वमिति चतुरस्रम् ।

अथाऽद्वैतवेदान्तिनस्तावत्प्रत्यवतिष्ठन्ते—माया प्रकृतिः, सा च घटजलमध्ये चन्द्रबिम्बमिव स्वस्यां ब्रह्मबिम्बमादधाति, तथा च नित्यज्ञानात्मकं ब्रह्मप्रतिबिम्बितं सत् जीवपदवाच्यम्, अन्तःकरणात्मकोपाधिकत्वेन तथा व्यवहारः, अन्तःकरणानि तु मायायाः कार्याणि, तदन्तर्गतान्यपरिमितानि ब्रह्म प्रतिबिम्बानि भिन्नभिन्नविषयानवलम्ब्याऽन्तःकरणैर्नियमानानि पुण्याऽपुण्येऽर्जयन्ति, तेन संसृतिर्भवति, अन्तःकरणात्मिकाऽविद्या माया संसारस्वरूपेण परिणममाना स्वकीयैर्जडत्वदुःखत्वादिधर्मैर्ब्रह्म आवृणोति, तेन सर्वं धस्तुजातं 'एकोऽहं बहु स्या'मिति श्रुतिसिद्धं ब्रह्म विवर्तमानं सत् अनेकात्मकत्वेनाऽवलोक्यते । एवमपि स्थिते 'अहं ब्रह्माऽस्मि—इदं

सर्वं ब्रह्मे' त्यभेदज्ञानं यदा भवति तदाऽविद्यावरणं निर्धूय नित्यज्ञानात्मकेन ब्रह्मणा सहाऽभेदतामनुभवति, तथा च स्वरूपाऽवस्थितिरिव मोक्ष इति । मोक्षावधिक एवाऽविद्याकृतो बन्ध आत्मनि सम्भवतीति तेषां सिद्धान्तः ।

सचायमसङ्गतः, यतोहि—अविद्यास्वरूपाऽनुपपत्तेः । तथाहि केयमविद्या नाम ? पारमार्थिकी ! उत मिथ्या !, नाद्या, अपसिद्धान्तात् । न द्वितीया, मिथ्या-भूतस्य दोषकल्पितत्वनियमात् दोषान्तरापेक्षया तस्यापि मिथ्यात्वेन दोषान्तरापेक्षयाऽनवस्थापातात् । यद्यविद्यास्वरूपसम्पत्तौ नापेक्ष्यते दोषः, तर्हि जगदध्यासेऽपि नापेक्ष्येत । ननु जगतः काल्पनिकत्वात् मूलदोषापेक्षा न त्वविद्यायामिति चेन्न । अविद्याया अपि काल्पनिकत्वाऽविशेषेण दोषान्तरापेक्षाऽवर्जनीयैव । ननु सादैर्भू-लपेक्षा न त्वनादेः, तथा चाऽविद्याया मिथ्यात्वेऽप्यनादित्वान्न निमित्तान्तरापेक्षाऽतो नाऽनवस्थेति चेन्न ।

तथा सति तव माध्यमिकमतानुमतिप्रसङ्गः, यतो हि मिथ्याभूतेनाऽप्यधिष्ठानेन भ्रमोपपत्तेः, सर्वकल्पनास्पदीभूतस्याऽधिष्ठानस्यैकस्य परमार्थसतो ब्रह्मणो माध्यमिकादधिकतया स्वीकाराऽनावश्यकत्वात् । नन्वधिष्ठानं परमार्थसदपेक्षितम्, अन्यथा तस्यापि पुनस्तदध्यासाधिष्ठानान्तरापेक्षा एवं तस्यापि पुनरित्यनवस्थापातात् । स्यादिति चेन्न । मिथ्याभूतस्यापि दोषस्य स्वरूपाऽनादित्वसङ्गीकारवत् मिथ्याभूतस्याप्यधिष्ठानस्य स्वरूपाऽनादित्वाभ्युपगमेनाऽनवस्थापरिहारस्य वक्तुं शक्यत्वादिति

किञ्च जीवभावस्याऽनादित्वेऽपि मिथ्यात्वादविद्याकल्पितत्वमिवाऽविद्यास्वरूपस्याऽनादित्वेऽपि मिथ्यात्वादविद्यान्तरपरिकल्पितत्वमवश्यमभ्युपेयमित्यनवस्थाऽनिवार्यैव । नन्वविद्यायाः स्वेतरसमस्तकल्पनानिर्वाहकत्वं स्वकल्पनायां त्वितराऽनपेक्षनिर्वाहकत्वमिति स्वीकारेण मिथ्याभूतस्वरूपसिद्धौ कल्पकदोषान्तरं नाऽपेक्षते, अतो नानवस्थेति चेन्न । तथा सति माध्यमिकपक्षप्रवेशः, यतस्तत्राऽपि मिथ्याभूताऽधिष्ठानस्य स्वेतरसमस्तकल्पनानिर्वाहकत्वेन स्वकल्पनायां त्वितराऽनपेक्षनिर्वाहकत्वेन चाऽनवस्थाविरहात् । तथा च—परमार्थसतो ब्रह्मणः स्वीकारोऽन्यथासिद्ध इति ।

एवम्—सदसद्विलक्षणत्वरूपाऽनिर्वचनीयत्वमप्यनिर्वचनीयमेव, नहि किमपि सदसद्विलक्षणम्, प्रतीयमानं हि सर्वमस्तित्वेन नास्तित्वेन च प्रतीयते, न ततोऽन्यरूपेण, तथा च प्रतीतावनुलिल्यमानो नास्तिकश्चिदाकारः सदसद्विलक्षणत्वमिति, तस्मात् सदसद्वैलक्षण्यं नैव सिध्येदिति । किञ्च—अस्याः निवृत्तिः केन ? ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानेनेति चेत् !, किमिदं सत्यम् ! उत मिथ्या ! प्रथमे द्वैतापत्तिः, द्वितीये तु निवर्तकस्य निवर्तकान्तरापेक्षेति—अनवस्था । यदि च निवर्तकमन्तरेण नश्यति स्वयमेवेत्युच्येत, तथापि नाशस्य काल्पनिकत्वेन तत्कल्पकाऽविद्या स्थास्यत्येवेति ।



ननु—'नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं तम आसीत्' इति श्रुत्या सृष्टेः पूर्वं सदसती निषिध्य तमोमात्रसद्भावनिरूपणात् सदसद्विलक्षणमज्ञानमविद्याख्यं सिध्यतीति चेन्न । तथा—'सृष्टेः पूर्वं त्रिगुणात्मिका माया सद्वरूपं यन्महत्तत्त्वादि कार्यं तद्वरूपेण नासीत्, न च असत्-अलीकाऽपि न आसीत्, किन्तु तमः—प्रकृतिः त्रिगुणसाम्यावस्थात्मिकैवाऽऽङ्गीदिति बोधनात् । तथा च अविद्यायां प्रमाणाभावाभिर्युक्तिकत्वाच्च तदसिद्धौ तज्जन्यो बन्ध इत्यपि गगनकुसुमितमिति ।

यद्युच्येत - 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपमीयते' इति श्रुतेः मायोपाधिकबन्धस्वीकार इति । तदपि न । यतः पारमार्थिकस्य कूटस्थनित्यस्य व्योमवत्सर्वव्यापिनः सर्वविक्रियारहितस्य नित्यतृप्तस्य निरवयवस्य स्वयंज्योतिःस्वभावस्य कालत्रयाऽवच्छन्दरहितस्य नास्त्यविद्यापराभवलेशोऽपि, अतस्तत्र न बन्धनं कल्पनीयं, कल्पने सति तस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वं व्याहन्येतेति । तस्माद् बन्धस्तु चेतनेषु जीवेषु युक्तः, तत्रापि च मायायाः सर्वांश्चेतनान् प्रति समानभावत्वात् सर्वेषां समानबन्धवत्त्वापत्तिः, तद्वरिणाय दुःखं सहकारि स्वीकार्यं यत्सत्त्वे बन्धो यदभावे मोक्ष इति, माया तु परम्परया प्रयोजिका, दुःखं च लाघवान्मुख्यं तद्वेतुरिति । उक्तश्रुतस्तु- इन्द्रस्य आत्मनः मायाभिः—सत्त्वरजस्तमोभिः, शरीरप्राप्तिद्वारा बहुरूपवच्चेतोर्यमिति कृतं विस्तरेण ।

शुद्धाद्वैतास्तु- सर्वे ब्रह्म एव, ब्रह्म स्वयम् असंख्याकारैर्भवितुमभिलषति, सा चाऽभिलाषा भगवच्छक्तिर्मायापदवाच्या, तदा च ब्रह्मण्येव सद्भावेनाऽवस्थितानि तिरोभूतकार्याणि प्रादुर्भवन्ति स्थूलरूपेण । जीवाश्चाणवः प्राधिर्भवन्ति, तत्सर्वं जडचेतनात्मकं कार्यं सांख्यमतवत् सत् ब्रह्माऽत्मकं च, जगतोऽविद्याया जीवानां च सत्वरूपत्वेन ब्रह्मणा सहाऽभेदः, अत एव प्रलये सति ब्रह्मणि तिरोभवन्ति, तेन सत्कार्यन्नाद इति । 'विद्याऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्भव ! शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते' इति भगवद्ब्रह्मचनेन भगवद्विच्छात्मकमायया विद्याऽविद्या चेति शक्तिद्वयं समुद्भाव्यते, तत्राऽविद्यायाऽऽत्मानो बद्धाः सन्तः सुकृतदुष्कृतकर्मावनद्धा भवन्ति, तेन संसारः । विद्याया चेश्वरशरणमासाद्य ब्रह्मणि तिरोभवन्ति, सोऽयं मोक्ष इति । मोक्षावधिकस्तावदविद्याजन्यो बन्ध इति विवेचयन्ति । तदपि न साम्प्रतम् । यतोहि भगवान् शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः साकारदिव्याकृतिर्नाविद्यावान् भवितुमर्हति, अविद्या-अज्ञानं विपरीतज्ञानम्, तच्च नेश्वरवृत्ति भवति, सत्पदार्थस्यैव तत्र सत्त्वात्, न वा परमात्माऽभिन्नं भवितुमर्हति, परमात्मनोऽप्यज्ञानवत्त्वापत्तेः, तथा सति परमात्मत्वं सर्वज्ञत्वं च व्याहन्येत, अविद्यावत्त्वं च प्रसज्येत । तस्मान्माया त्रिगुणात्मिका भगवच्छक्तयतिरिक्ताऽङ्गीकार्या, तज्जन्यदुःखाद्योपाधिकबन्धस्य सुवचत्वं लाघवादिति सघ्नीचीनम् ।

केचिद् यथार्थभेदपञ्चकवादिनः- 'विष्णुतत्त्वं परंब्रह्म, तदिच्छैव माया, सा च नित्या, तस्या विषयाः पञ्च भेदाः,--यथा जीवभेद ईश्वरभेदो मायाभेदो जीवपरस्परभेदो जडपरस्परभेदः इति । जीवानान्वेश्वरेच्छया स्वकर्मानुगुणं बन्धो मोक्षश्चेति । तत्सर्वमुक्तं स्कान्दे--'उत्पत्तिस्थितिसंहारा नियतिज्ञानमावृन्निः । बन्धमोक्षौ च पुरुषाद् यस्मात् स हरिरेकराडि'ति ॥ बन्धं समुच्छेतुं विष्णुभक्तिर्विधेया, तया च प्रसन्नो भगवान् स्वेच्छया स्वसेवायां रक्षन् पार्यदादिपदमर्पयति, स एव मोक्षः, न तु भगवदधीनया कयाचिन्मायया कृतो बन्धस्तादृशमायाया विद्योगे वा मुक्तिरिति-सिद्धान्तयन्ति ।

'विशिष्टाद्वैताः--'स्थूलसूक्ष्मचिद्विशिष्टं परं ब्रह्मैकमेव तत्त्वम्, चिदचिदुभयमीश्वरशरीरम्, चेतना जीवाः, अचेतना माया, तत्र माया- 'त्रिगुणात्मा' तमः कृष्णशक्तिर्देहतदीययोः । जीवेभ्यः चाहंभमताहेतुर्मायाऽवगम्यताम्' ( शिक्षापत्री १०६ ) इत्यनेनोक्ता, सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका परमेश्वरस्य शक्तिः शरीर-तत्सम्बन्धिष्वहंभमत्वकारिणी । सा च जीवानां शुभाऽशुभकर्मकारयित्री, अत्रार्थे श्रुतिः- 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते, ततो भूय इव ते तमोः, य उ विद्यायां रताः । विद्याञ्चाऽविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति । मायया नीयमाना जीवात्मानः शुभाऽशुभकर्मरताः सुखदुःखे भोःयत्वेनाऽनुबध्नन्ति । भगवद्भक्त्या च कर्मसंघातरूपामविद्यां जहति, ततः सर्वज्ञत्वादयो गुणा उत्पद्यन्ते । तदुक्तं पाञ्चरात्रे--'प्रसन्नात्मा हरिर्भक्त्या निदिध्यासनरूपया । अविद्यां कर्मसंघातरूपां सद्यो निवर्तयेत्' 'एवम्-गुणाः सप्रानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च । सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते' इति । "यत्प्रसादात्परमायत्स्वरूपात् तस्मात्तस्मात्संसारान्मुच्यते नावरे सुरानाराधयन्तोऽसौ परमाऽविचिन्त्यो मुमुक्षुभिः कर्मपाशादमुष्मात्" इति नारायणश्रुतेश्च-मायया आत्मनि कर्मसंघातरूपाऽविद्याद्वाराबन्धः क्रियते, स च ज्ञानभक्त्यादियोगेन निर्मलात्मना पुरुषोत्तमाऽक्षरातीतपरब्रह्मवासुदेवश्रीस्वामिनारायणभक्त्या नश्यति । इति सिद्धान्तयन्ति ।

भेदभेदवादिनो द्वैताऽद्वैतास्तु-जीवा ब्रह्म माया चेति नित्याः, माया त्वीश्वरशक्तिः, जीवब्रह्मणोश्चित्तवसाधर्म्यादभिन्नत्वम् जीवत्वब्रह्मत्वादिवैधर्म्याद्भिन्नत्वम्, अतएव भेदाऽभेदवादः । मायाकृतकर्मबन्ध आत्मनीति कल्पयन्ति ।

अन्येऽपि शैवाः--'परिपक्वमलानेतानुत्सादनशक्तिपातेन । योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः परमेश्वरः, 'यात्यस्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्वं जगत् सृष्टौ व्यक्तं याति सा माया' 'मायाप्रेरितकर्मवशादपक्वकलुषान् बद्धान्पून् कर्मणां



भोगभुक्तये भ्रामयति' ईश्वरश्च विनियुक्ते, शिवभक्त्या च मुक्तिरिति निश्चिन्वन्ति ।  
तेषां तात्पर्यं मायाप्रेरितकर्मजन्यबन्ध इति ।

एवमन्येऽपि-दुःखभोगाऽतिरिक्तकारणप्रयोज्यबन्धवादा द्वैतपाशुपतादीनां सा-  
ङ्ख्यमतविलक्षणाः तेऽपि च सर्वे चिन्तनीया एवेति ॥ २ ॥

स च दुःखसंयोगात्मको बन्धो महत्त्वसंयोगजन्यः, यतो हि महत्तत्त्वसंयोग-  
सत्त्वे दुःखसंयोगसत्त्वं संसारावच्छेदेन, महत्तत्त्वसंयोगाऽभावे दुःखसंयोगाऽभावे  
मोक्षावच्छेदेन, इत्यन्यव्यतिरेकाभ्यां तत्प्रतीतेः । महत्तत्त्वन्तु प्रकृत्यभिन्नमिति  
प्रकृतिसंयोगजन्यो दुःखयोग इति विज्ञानभिक्षवः । 'यथा ज्वलद्गृहाश्लिष्टं गृहं  
विच्छिद्य रक्ष्यते । तथा सदोपप्रकृतिविच्छिन्नोऽयं न शोचति' इति स्मृतिवचनात्  
प्रकृतिसंयोगरहितो दुःखयोगरहित इति सिद्धम्,—

यथा वा स्वभावनिरमलस्य स्फटिकस्य रक्तरूपादियोगो न जपाकुसुमयोगं विना  
भवति, एवं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य दुःखयोगो न प्रकृतियोगं विना भवि-  
तुमर्हति । 'दृष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतु' रिति योगसूत्रेऽपि तथोक्तत्वात्, 'पुरुषः  
प्रकृतिस्यो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणानि' ति—गीतावचनाच्च । आत्मा सदा  
पापपुण्याऽनधिकरणत्वात्—नित्यशुद्धः, अलुप्तचिद्रूपत्वान्नित्यबुद्धः, पारमाधिक-  
दुःखयोगाऽभाववत्त्वान्नित्यमुक्त इति, अत्रार्थे श्रुतिर्यथा 'अयमात्मा सन्मात्रो  
नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभु' रिति । 'नित्यत्वञ्च—तिरोभाव-  
प्रादुर्भावरहितत्वम्, । 'सत्यत्वञ्च—सर्वदा स्वरूपेण विद्यमानत्वम्, । तादृशात्म-  
नि स्वाभाविकबन्धाऽसम्भवेनौपाधिक एव बन्धः । प्रकृतिसंयोगस्य सर्वान्प्रत्यविशे-  
षत्वात्, महत्तत्त्वसंयोगस्यैव प्रकृतिसंयोगपदेन गृहीतत्वात्, तथा च व्यासभाष्यम्—  
'दृष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः, दृश्या बुद्धिः, बुद्धिसत्त्वोपाकूटाः सर्वे धर्माश्च,  
तयोर्दृग्दर्शनशक्तयोरनादिरर्थकृतः संयोगो 'हेयहेतुः—दुःखयोगस्य कारणमिति ।  
'स्वस्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः' 'तस्य हेतुरविद्येति' सूत्रैरविद्यायाः  
संयोगकारणत्वमावेद्यते 'अविद्या-नाम- सत्त्वपुरुषयोरविवेकः, तेन बुद्धिपुरुष-  
संयोगः प्राविर्भवति, तस्मिन्सति च दुःखयोगो भवति, स एव बन्ध इति, ।

दुःखयोगात्मकबन्धनाशार्थं बुद्धिपुरुषसंयोगनाशोऽपेक्षणीयः, बुद्धिपुरुषसंयोग-  
नाशार्थञ्च बुद्धिपुरुषाऽविवेकनाशोऽपेक्षितः, बुद्धिपुरुषाविवेकनाशकं बुद्धिपुरुष-  
विवेकज्ञानं सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानाऽपराभिधानं समपेक्षितम् । सत्त्वपुरुषाऽन्यताज्ञानं  
प्रति च 'शास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वविषयकज्ञानं कारणम्, ज्ञानं प्रति च विषयाणां कारण-  
त्वात्, कानि तानि तत्त्वानि कति चेति जिज्ञासा भवति, तन्निवृत्त्यर्थं पदार्थतत्त्व-  
निरूपणं क्रियते—तथाहि —

'चेतन-प्रकृति-महत्तत्त्वा-ऽहंकार-मनः-श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपा-  
यूपस्थ-शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध-पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशानि पञ्चविंशतिपदार्थाः,' ते  
च सर्वे द्रव्यपदवाच्याः, एतेष्वेव पदार्थेषु केषाञ्चिदभिमतानां द्रव्यगुणकर्मसामा-  
न्यविशेषसमवायाऽभावाऽभिधानां पदार्थानामन्तर्भूतत्वात्,—यथा-पृथिव्यन्तेजो-  
वाय्वाकाशात्ममनांसि तु सन्त्येव, कालस्य क्षणोपाधावन्तर्भावः, दिशां प्रदेशोऽन्त-  
र्भाव इति नोभयं तत्त्वान्तरम् । गुणाश्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तन्मात्रात्मकद्रव्याण्येव  
सूक्ष्माणि, स्थूलानि तु तन्मात्राणि पृथिव्यादिपञ्चभूतकार्याणि पञ्चभूतान्तर्भूतानि,  
कार्यकारणयोस्तादात्म्यात् । सङ्ख्यायाश्चतुर्विंशतिपदार्थवृत्तित्वेन स्वस्वाधिकरणा-  
न्तर्भूतत्वम् । परिमाणं—अणु महच्चेत्युभयं भवति, ताभ्यामेव ह्रस्वदीर्घयोर्निर्वाहात्,  
अणु—सूक्ष्मपरिमाणं सूक्ष्मतत्त्वेषु तिरोभूतपदार्थेषु च विद्यते, तेन तत्तदधिकर-  
णाऽन्तर्भूतम्, महत्परिमाणन्तु पञ्चभूतेषु सत्त्वेन तत्रैवाऽन्तर्भूतम् । पृथक्त्वम्—  
'इदमस्मात्पृथगितिप्रतीतिविषयम्, तादृशस्थले—'इदमेतद्भिन्नमितिप्रतीत्यैव निर्वाह-  
सम्भवेन भेदान्तर्गतं स्वीक्रियते, भेदश्चाऽन्योऽन्याभावः, स चाऽधिकरणात्मक  
इति न तत्त्वान्तरम् । संयोगः—संसर्गः, स च चतुर्विंशतिपदार्थधर्मत्वेन तत्तदधि-  
करणेऽन्तर्भूतः । विभागः—संयोगाऽभावरूपः, न त्वतिरिक्तः, संयोगाऽभावस्य  
चाऽधिकरणात्मकत्वाच्चतुर्विंशतिपदार्थान्तर्भूतः सः । परत्वाऽपरत्वे—श्रेष्ठत्वकिञ्चि-  
त्त्वात्मके, अधिकत्वन्यूनत्वात्मके वा, ते च स्वस्वाधिकरणेऽन्तर्भूते । गुरुत्वम्—  
पृथिवीजलान्तर्भूतम् । द्रवत्वम्—पृथिवीजलतेजोऽन्तर्भूतम् । स्नेहो जलान्तर्भूतः ।  
बुद्धिस्तु तत्त्वान्तरम् । सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माऽधर्मसंस्कारा बुद्धिधर्मा बुद्ध्यन्त-  
र्भूता इति । सर्वेषामपि—कार्यकारणयोस्तदात्म्येन स्वस्वकारणाऽन्तर्भूतत्वं वेद-  
नीयमिति । कर्माणि—प्रादुर्भूतानि तिरोभूतानि वाऽनेकविधानि स्वस्वाऽधिकरणेषु  
चतुर्विंशतिपदार्थेष्वन्तर्भवन्ति । सामान्यम्—व्यावर्तको धर्मः, यथा पृथिवीत्वम-  
नस्त्वादिः, सोऽपि कार्यात्मकः, अत एव स्वस्वाधिकरणान्तर्भूत इति ।

विशेषास्तु नाङ्गीक्रियन्ते, यतो हि चेतनेभ्यः प्रकृत्यादयः स्वस्वधर्मैर्व्यावृता  
भवन्तीति सूक्ष्माणां व्यावर्तकत्वेन विशेषाणामपेक्षैव नास्तीति ।

समवायोऽपि नाऽभ्युपगम्यते, संयोगेन तादात्म्येन च निर्वाहात्, यथा कार्य-  
कारणभावाऽनापन्नयोः पदार्थयोः संयोगः, कार्यकारणभावाऽपन्नयोश्च तादात्म्यमिति ।  
अभावः क्वचित् प्रागभावप्रध्वंसाऽभावाऽन्योन्याभावात्यन्ताऽभावभेदेन चतुर्विधोऽपि  
साङ्ख्ये ध्वंसप्रागभावयोरनङ्गीकारः, अथ चाऽत्यन्ताभावाऽन्योन्याभावयोरङ्गीका-  
रेऽपि तौ स्वाधिकरणाऽन्तर्गतौ स्वाधिकरणात्मकावेवेति न तत्त्वान्तरौ । चेतनश्च  
द्विविधो जीवेश्वरभेदात्, तत्र पुरुषश्च जीवः—निर्गुणो निष्क्रियो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्व-  
भावः, तत्र यदि धर्मा भासन्ते चेत्ते सर्वे प्रकृतिधर्माऽभावरूपाः, अतएवाऽ-



धिकरणस्वरूपाश्चेतनात्मकाः । परमेश्वरस्तु साकारः सर्वज्ञः सर्वविन्नित्यज्ञानैश्वर्या-  
दिमान् बोध्यः-इति पञ्चविंशतिपदार्थाः, ते च व्यवहारदशायां कथिता विद्यन्ते  
इति सिद्धान्तः ।

केचन साङ्ख्यास्त्वेतेषां साङ्ख्याऽभिमतपदार्थानाम् प्रस्थानान्तरं स्वीकुर्वन्ति,-  
यथा-‘द्रव्यं गुण कर्म-धर्म-संसर्गाः’ पञ्च पदार्थाः तत्र द्रव्यं द्विविधम्-प्रकृतिः पुरु-  
श्चेति । तत्र प्रकृतिश्चतुर्विंशतितत्त्वरूपा-प्रकृतिमहत्तत्त्वाऽहङ्कारमनःश्रोत्रत्वक्चक्षुरस-  
नाघ्राणवाक्पाणिपादपादपृष्ठशब्दस्पर्शरूपरसगन्धपृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशभेदात् ।  
पुरुषास्त्वनेकाः-नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाः, तत्रैकः सर्वज्ञ ईश्वराऽभिधेयः, अन्ये  
त्वसर्वज्ञा जीवाऽभिधेया इति । गुणाः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माऽधर्मसंस्कारविपर्य-  
याऽशक्तितुष्टिसिद्धिसङ्ख्यापरिमाणपरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहा अष्टादश । तत्र सिद्ध्यन्ता  
द्वादश बुद्धिमात्रवृत्तयः । सङ्ख्या-एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता यावद्द्रव्येषु वर्तमानाऽ-  
स्ति । परिमाणम्-अणुमहद्द्विविधम्, तत्राणु सूक्ष्मतत्त्ववृत्तिः, महत् स्थूलतत्त्ववृत्तिः  
आत्मवृत्तिः च । परत्वम्-यथायोगं सर्वद्रव्यवृत्तिः । गुरुत्वम्-पृथिवीजलमात्रवृत्तिः ।  
द्रवत्वम्-पृथिवीजलतेजोवृत्तिः । स्नेहः-जलमात्रवृत्तिः । कर्माणि त्वनेकविधानि  
चतुर्विंशतितत्त्ववृत्तौ नि ।

‘धर्मः-व्यावर्तकम् सामान्यम्, तच्च द्रव्यगुणकर्मधर्मसंसर्गवृत्तिः अनेकवि-  
धम् । संसर्गः-संयोगतादात्म्यभेदेन द्विविधः-तत्र कार्यकारणभावाऽनापन्नयोर्द्रव्य-  
योः संयोगः, कार्यकारणभावाऽऽपन्नान्तु तादात्म्यसंसर्गः । पञ्च पदार्थाः नित्याः  
सन्तो भावा इति व्यवह्रियन्ते इति ।

एवं बहुविधानि प्रस्थानान्तराणि साङ्ख्यपदार्थानां सन्ति, तानि तु ग्रन्थान्तरेषु  
साङ्ख्यप्रकरणेषु विवेचितानि महर्षिभिः, अत्र त्वनत्यावश्यकत्वेन न निरूपितानीति  
बोध्यं । वस्तुतस्तु-ते पदार्थाद्रव्यान्तर्भूताः, द्रव्यधर्मत्वादिति बोध्यम् । तत्र प्रकृति-  
पुरुषाऽतिरिक्तानां यावतां तिरोभावित्वं प्राविर्भावित्वञ्च साधर्म्यम् । तच्च प्रकृति-  
पुरुषयोर्वैधर्म्यमिति । स चाऽयं प्रपञ्चः कार्यकारणयोस्तादात्म्याच्चतुर्विंशत्यन्तर्भूतो  
न त्वतिरिक्त इति । चेतनश्चाऽऽत्मा जीवेश्वरेत्युभयविधोऽपि पञ्चविंशतितम इति ।  
तेषां संक्षेपतस्तावच्चतुर्विधत्वं शास्त्रप्रतिपाद्यविषयस्याऽनुगतत्वञ्च निर्दिशति-

‘मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

पोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

अत्र कश्चिदर्थः प्रकृतिः, कश्चिदर्थो विकृतिः, कश्चिदर्थः प्रकृतिविकृतिः, कश्चि-  
दर्थः-प्रकृतिविकृत्यनुभयरूपः, इति चतस्रो विधाः । तत्र प्रकृतिः-प्रकरोतीति  
प्रकृतिः प्रधानम्, तदेव सत्त्वरजस्तमसां त्रिगुणानां साम्यावस्था, मूलज्ञासौ प्रकृतिः

मूलप्रकृतिः, जगतः कार्यसङ्घातस्य मूलम्—प्रादुर्भावकारणम् साऽस्त्यत एव 'अविकृतिः—न पुनरस्याः कारणान्तरमुपलभ्यते, इति सैव कारणम्, तथा च 'अजन्यत्वे सति जनकत्वम्' मूलप्रकृतेर्लक्षणमुपपन्नम् । प्रकृत्यात्मकानि सत्त्वर-जस्तमांसि'द्रव्याण्येव न तु गुणाः, संयोगवत्त्वात्, लघुत्वगुरुत्वचलत्वादिधर्मवत्त्वाच्च ।

गुणशब्दस्तु पुरुषोपकरणत्वात् तत्र प्रयुज्यते, तथा चाऽकार्याऽवस्थात्मकं सत्त्वादिगुणसामान्यं प्रकृतिरिति, तदुक्तम्—'सत्त्वं रजस्तम इति—एषैव प्रकृतिः सदा एषैव संसृतिर्जन्तोरेस्याः पारे परं पद' मिति, सा च त्रिगुणात्मिका प्रकृतिर्मायाऽ-जा त्रिवर्णेत्युच्यते इति ।

'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' इति, प्रकृतयश्च विकृतयश्च ताः प्रकृतिविकृतयः महदाद्याः सप्त भवन्ति,—तथा हि महत्तत्त्वमहङ्कारस्य जनकत्वेन प्रकृतिः—मूल-प्रकृतिजन्यत्वेन च विकृतिरिति । एवं—अहङ्कारतत्त्वं तन्मात्राणामिन्द्रियाणाञ्च जनकत्वेन प्रकृतिः—महत्तत्त्वजन्यत्वेन च विकृतिरिति । एवं शब्दस्पर्शरूपसगन्ध-तन्मात्राणि तत्त्वानि गगनपवनतेजोजलभूमीनां जनकत्वेन प्रकृतयः—अहङ्कारजन्यत्वेन च विकृतयः । इति महत्तत्त्वाऽहङ्कारपञ्चतन्मात्राणि प्रकृतिविकृतय इति बोध्यम् 'तत्त्वविभाजकधर्मावच्छिन्नजनकत्वे सति जन्यत्वम् प्रकृतिविकृतित्वमितिलक्षणम् ।

'षोडशकस्तु विकार इति' विकृतिर्विकारः, स च षोडशकः—षोडशसङ्ख्यापरि-मितो गणः षोडशकः । तु शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्चेति । पञ्चभूतानि पृथिव्यसे-जोवाय्वाकाशात्मकानि, मनःश्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थान्येका-दशेन्द्रियाणि चेति षोडशकः सङ्घातो विकार एव, अहङ्कारजन्यत्वेनेन्द्रियाणां विका-रत्वम्—तन्मात्रपञ्चकजन्यत्वेन च भूतानां पृथिव्यादीनां विकारत्वमिति ।

ननु घटपटादीनां विकाराणां जनकत्वात् पृथिव्यादयोऽपि प्रकृतयः स्युरिति चेन्न घटपटादयो न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्, तत्त्वान्तरोपादानत्वमेवाऽत्र प्रकृतित्व-मभिप्रेतम्, तेन घटपटादयः पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तराणि न भवन्ति, स्थूलत्वेन्द्रि-यग्राह्यत्वयोस्तारतम्याऽभावात्, यत्र हि तत्त्वान्तरत्वम्, तत्र च स्थूलत्वेन्द्रियग्रा-ह्यत्वयोस्तारतम्यं दृश्यते, यथा साहचर्यनये गुण-गुणवतोस्तादात्म्यात्—शब्दैकगुणक-माकाशमत्यन्तं सूक्ष्मम्, ततः शब्दस्पर्शगुणो वायुः स्थूलः, ततः शब्दस्पर्शरूप-गुणं तेजः स्थूलम्, ततः शब्दस्पर्शरूपसगुणा आपः स्थूलतमाः, ततोऽपि शब्द-स्पर्शरूपसगन्धगुणा पृथिवी अत्यन्तं स्थूलतमा इति । विपर्यये च पृथिवीत एकांशसूक्ष्मं जलं, जलत एकांशसूक्ष्मं तेजः, तेजस्त एकांशसूक्ष्मो वायुः, वायुत एकांशसूक्ष्ममाकाशमिति तारतम्यमुपलभ्यते, तादृशं तारतम्यं घटपटादीनां नाऽनु-भूयते किन्तु पृथिवी-तद्विकारघटादिषु स्थूलत्वं समानमनुभूयते ।



एवं पृथिव्याः पञ्चगुणात्मकत्वात् पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वम्, जलस्य चतुर्गुणात्मक-  
त्वाच्चतुरिन्द्रियग्राह्यत्वम्, तेजसस्त्रिगुणात्मकत्वादिन्द्रियत्रयग्राह्यत्वम्, वायोद्विगुणा-  
त्मकत्वाद् द्वीन्द्रियग्राह्यत्वम्, आकाशस्य शब्दैकगुणात्मकत्वादेकेन्द्रियग्राह्यत्वम्,  
इत्येवं यत्र यत्र तत्त्वान्तरत्वं तत्र तत्रेन्द्रियग्राह्यत्वस्याऽपि तारतम्यं विद्यते, न पुन-  
र्घटपटपृथिवीनां तथा दृश्यते, किन्तु यादृशं स्थूलत्वमिन्द्रियग्राह्यत्वञ्च पृथिव्यां  
तादृशमेव घटपटादविति न घटपटादीनां तत्त्वान्तरत्वम्, पञ्चभूतेषु निदर्शनमिदं,  
तथा च पृथिव्यादयो विकारा एव । विकारत्वञ्च-तत्त्वविभाजकधर्मावच्छिन्नाऽजन-  
कत्वे सति जन्यत्वमिति लक्षणं पर्यवसितम् ।

चतुर्थीं विधा 'अनुभयरूपमिति-तदाह-'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इति ।  
तथा च 'पुरुषो न प्रकृतिः, तत्त्वान्तरोपादानकत्वाऽभावात्, न वा विकृतिः, तत्त्वा-  
न्तरनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यत्वाऽभावात् । स च सर्वभोक्ता, न जनको न वा जन्य  
इति । पुरुषो हि बुद्धधेः प्रतिसम्बेदी, न बुद्धधेः सरूपः, बुद्धिर्हि ज्ञाताऽज्ञातविषय-  
त्वात् परिणामिनी, यदा खल्वियं घटाद्याकारा भवति तदाऽस्या घटतादात्म्यशब्दा-  
दिलक्षणो विषयो विज्ञातो भवति, घटाद्यनाकारत्वे त्वज्ञात इति । भवति च प्रयो-  
गः—'बुद्धिः परिणामिनी, सदा ज्ञाताऽज्ञातविषयत्वात् । पुरुषस्तु न तथा, सदा  
ज्ञातविषयत्वात्, ज्ञातविषयत्वमेवाऽपरिणामित्वं परिदीपयति । बुद्धिश्च परार्था  
क्लेशकर्मवासनादिभिर्विषयेन्द्रियादिभिश्च संहत्य पुरुषार्थमभिनिर्वर्तयन्ती सती  
पुरुषार्था इति । तथा सर्वाऽर्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणात्मिका बुद्धिस्त्रिगुणत्वाद-  
चेतना इति च । पुरुषस्तु स्वार्थः, यतः सर्वं पुरुषाय कल्प्यते, पुरुषस्तु न कस्मैचि-  
दिति स्वार्थः गुणानाञ्चोपद्रष्टा, इति न विकृतिः पुरुषः । न वा प्रकृतिः-महदादीनां  
प्रादुर्भावत्वं जडत्वं सक्रियत्व चाऽनुभूयते, तत्कारणञ्च त्रिगुणात्मकं जडं प्रकृतिः  
सम्भवति, त्रिगुणाऽसङ्गिनस्तु प्रकृतित्वं नास्तीति न प्रकृतिर्न वा विकृतिरात्मा,  
किन्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावश्चेतनो व्यापको महानात्मा—अकारणमविकृतिश्च  
शाश्वत इति । ईश्वरात्मा तु प्रकृतिविकृतिभिन्नो नित्यज्ञानैश्वर्यादिमान् बोध्य इति ।

सन्ति चाऽऽत्राऽऽत्मतत्त्वे खलु वादीनां विप्रतिपत्तयः तथाहि-चार्वाकास्तावत्  
'पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि, तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वा-  
दिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते देहमनुविनश्यति च तदिह चैतन्यात्मकवि-  
ज्ञानघनविशिष्ट देह एवाऽऽत्मा, देहातिरिक्तात्मनि प्रमाणाऽभावात् । अनुमानादेर-  
नङ्गीकारात् । यथा बृहस्पतिवचनम् 'अत्र चत्वारि भूतानि भूमिदार्यनलाऽनिलाः ।  
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।' 'किण्वादिभ्यः समेतंभ्यो द्रव्येभ्यो मदश-  
क्तिवत् । अहं कृशः स्थूलोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः' । 'देहः स्थौल्यादियोगाच्च  
स एवाऽऽत्मा न चाऽपरः । मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी' इति । तथा

च शरीरमेवाऽऽत्मानं प्रत्यक्षप्रमाणतः प्रतिपद्यामहे, 'अहं जानामी'त्यादिप्रतीता-  
वात्मा ज्ञाताऽहमिति चकास्ति, स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति प्रतीतिसत्त्वात् । अहङ्कार-  
गोचरं शरीरमेव, तच्च स्थूलमिति, स्थौल्यादिसामानाधिकरण्येनाहङ्कारः शरीराव-  
लम्बो, अत एवाऽहं स्थूल इत्यादिव्यवहारः ।

न चाऽत्र स्थूलपदस्य स्थूलसम्बन्धिनि चेतने लाक्षणिकत्वात् आत्मनि तद्व्य-  
वहारो न तु शरीरे इति साम्प्रतम्, शक्त्यात्मकमुख्यवृत्तेर्भक्तितः पृथक्तयाऽनङ्गी-  
कारात्, मुख्य एव 'अहं स्थूल' इति शरीरे प्रयोग इति ।

ननु यत्र यत्र तदोयाऽवयवगुणाद्यवभासान्वयित्वं तत्रैवाऽवयवव्यवभासान्वयित्व-  
मिति व्याप्तेः—'अहं स्थूल' इति ज्ञात्रवभासस्य शरीरात्मकाऽवयवव्यवभासाऽन्व-  
यित्वाऽभावेन हस्तादिशरीराऽवयवगुणाद्यवभासाऽन्वयस्याऽप्यभावान्न शरीरे जाना-  
मीति प्रतीतिः, किन्तु शरीराऽतिरिक्ते चेतने—इति चेन्न ।

बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षे—एव घटाद्यवयवाऽवभासे सति घटाद्यवभास इति व्याप्ति-  
नियमाङ्गीकारात्, न तु 'अहं जानामी'तिस्वान्तःप्रतीताविति । भवन्मतेऽवयव-  
स्य द्व्यणुकस्याऽप्रत्यक्षेऽपि अवयविनस्य्यणुकस्य प्रत्यक्षाऽवगमात्, तथानियमे  
व्यभिचाराच्च । इन्द्रियाणि च घटादिजडभावमवगम्य व्यावर्तमानानि शरीरमेव  
चेतनमित्यवगमयन्ति । शुक्लतन्त्वादिषु प्रत्येकेऽवर्तमानमपि चित्रं रूपं पटेऽङ्गीक्रि-  
यते, तथा पृथिव्यादित्रसरेणुष्वनुत्पद्यमानमपि चैतन्यं शरीरेऽप्यध्यवस्येत् ।

तथा च ज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति प्राणविशिष्टशरीरस्य कारणत्वमितिसिद्धम् ।  
सुषुप्त्यवस्थाऽनङ्गीकारान्न तत्र व्यभिचारः । अतो 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि  
तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवदिति' सूत्रमुपपद्यते । तेन देह एवाऽऽत्मेति  
बार्हस्पत्या वदन्ति ।

तत्र समीचीनम्—यतः 'अहं जानामी'तिप्रत्ययः—'अहमिति चैतन्यम्—  
इदङ्कारगोचराद्देहात्परं भिन्नं विषयमवगाहयति, यथा 'घटं जानामी'त्यत्रेदङ्कार-  
विषयग्रदान्निष्कृष्टमात्मानं विषयमिति, एवम् 'इदमिति शरीरविषयिणी प्रतीतिः'  
स्वविषयं शरीरं—अहङ्कारगोचराच्चेतनाद्विवेचयति, अन्यथा ग्राह्यग्राहकभावस्वर-  
विभागाऽनुपपत्तेः । न चैकस्मिन्नेवोभयविधप्रतीतिर्भवति, न च श्रीकृष्णः—  
स्वात्मानं श्रीसहितं श्रीमानयमिति प्रत्येति, अतएव चाऽन्तःकरणमहङ्कारः कि-  
मप्यान्तरिकं वस्तु गोचरयति, न तु स्थौल्यादियोगिशरीरमात्रम्, अतः 'ममेदं निके-  
तन' मितिवत् 'ममेदं शरीर'मितिभेदाऽवभासो व्यवहारश्च । न चाऽयमौपचारिकः,  
तथैवाऽनुभवविषयत्वात्, अतो देहादिव्यतिरेकिणश्चेतनस्य प्रमाणसिद्धत्वेन चेतन-  
सम्बन्धिशरीरे लाक्षणिकोऽहंशब्दप्रयोग इति ।



शक्त्यात्मकमुख्यवृत्तेः पृथगनङ्गीकार इत्यपि न युक्तम्, तथासति 'गङ्गायांघोष' इत्यत्र शक्त्यैव गङ्गापदस्य तीरबोधकत्वाऽऽपत्तिः स्यात्, न स्याच्च प्रवाहबोधः, मुख्यवृत्तेर्लक्षणायां पर्यवसानात्, अतः शक्तेर्लक्षणायाश्च पृथग्वृत्तित्वेन देहव्यतिरेकिणश्चेतनस्य तत्सम्बन्धिनि देहेऽहंशब्दस्य लाक्षणिकः प्रयोगः । अतः स आत्मनि चौपाधिकोऽपि मुख्यः । यत्तु यत्र यत्र तदीयाऽवयवगुणाद्यवभासान्वयित्वं तत्रैवाऽवयवव्यवभासान्वयित्वमिति व्याप्तिः, सा च 'अहं जानामी' तिस्राऽन्तःप्रतीतेर्भवन्मते शरीरविषयत्वाद् बाह्यप्रत्यक्षावगाहित्वाच्च शरीरविषयिणी, तथा च शरीरात्मकाऽवयवव्यवभासान्वयित्वमस्ति, शरीरस्य परमाणुद्वयगुणाद्यवयव-तद्गतगुणाऽवभासान्वयित्वं नास्तीति सा व्यभिचरिता, यदि च द्वयणुकपरमाणवो नाङ्गीक्रियन्ते, तदा द्वयणुकाऽप्रत्यक्षेऽपि त्रसरेणुप्रत्यक्षमिति व्यभिचारोक्तिर्निर्मूला स्यात् । 'इन्द्रियाणि व्यावर्तमानानि शरीरं चेतनमित्यवगमयन्ति' तदपि न युक्तम्, तुल्ययुक्त्या-इन्द्रियम् मनोऽपि शरीरादिभ्यो व्यावर्तमानमात्मानमेव चेतनं कथयति-इत्यपि विनिगमनाविरहेणोच्यताम्, अतएव शरीरसत्त्वेऽपि यत्र विषयाऽवभासाऽभावः सा सुषुप्तिर्जाग्रत्स्वप्नभिन्नेति सर्ववादिसिद्धम्, तथा च सुषुप्त्यवस्थे शरीरे ज्ञानाऽसत्त्वाद्व्यभिचारान्न ज्ञानं शरीरधर्मः । शरीरस्य चाऽनित्यत्वात्पुण्याऽपुण्योपभोगार्थं देहान्तरस्य भवतानङ्गीकारात्, अन्यकृतस्याऽन्यफलभागित्वाऽसम्भवात्—जीर्यमाणत्वात्—कथं चेतनत्वं तत्र संभवेत्, सम्भवेच्चेत् प्रत्येकाऽवयवेऽव्युत्पन्नं चैतन्यमिति तेन यावन्तोऽवयवास्तावन्तश्चेतना इत्यापत्तिः स्यादिति-तस्मान्न चैतन्यं धर्माऽधर्मादयः शरीरगुणाः, किन्तु बुद्धेरेव, चेतनात्मनि त्वध्यस्ता इति ।

एवं मातृवचनेन स्वजनकस्य ज्ञानं यत्र, तत्र नास्तिकैर्मातृवचनं शब्दप्रमाणमङ्गीकार्यं, तद्वच्छ्रुतेरप्यासीक्तत्वेन प्रमाणत्वम्, तथा च 'योऽयमात्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विजिघत्सः' इति श्रुत्या जन्ममरणादिधर्मवच्छरीरभिन्नश्चेतनाऽऽत्मा सिद्धो भवेति ।

केचन देहेऽविश्वस्ता अपि श्रोत्रादीन्द्रियेषु चेतनत्वमङ्गीकुर्वन्ति, इन्द्रियाण्येव विषयानादाय तद्विषयकं ज्ञानमुत्पादयन्ति, धर्माऽधर्मादयोऽपीन्द्रियेषु भवन्ति, 'अहं पश्याम्यहं शृणोमि स्पृशामी' त्यादिप्रत्ययैरहङ्कारविषयेष्विन्द्रियेष्वेव श्रवणदर्शनादिफलं विज्ञायते इति । तथा च ज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रतीन्द्रियाणां कारणत्वमिति तन्मतम् । तदपि न युक्तम्-किन्तावदिन्द्रियाणि प्रत्येकं चेतनानि ? सम्भूय वा ? यदि प्रत्येकं-तदेन्द्रियान्तरेणाऽवगतस्य तद्विन्नेन्द्रियेण स्मरणं न स्यात्, भवति च व्यवहारः 'यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामी'ति, अनेकाऽऽत्मापत्तिः ।

एवं मिलित्वाऽपि तेषां न चेतनत्वम्, नहि पञ्चभिरीन्द्रियैः सम्भूयैकः पदार्थः गृह्यते स्मरते वा, ग्रुणे स्मरणे चैकेनैव कार्यनिर्वाहे तदन्यानां विफलत्वमिति ।

इन्द्रियनाशे वा मरणप्रसङ्गः स्यात्, इन्द्रियेण भुक्तानां तन्नाशे स्मरणं न स्यात् । पूर्वदृष्टस्याऽपि चक्षुर्विगमे भवति स्मरणमिति सर्वसिद्धम् । तस्मादिन्द्रियेभ्यश्चेतनोऽतिरिक्त इति सिद्धम् । 'अहं पश्यामी'त्यादौ चेन्द्रियाणां करणत्वमवसेयम्; स्मरणाऽहंप्रत्यय-सुखादयो बुद्धिगुणाश्चेतने त्वौपाधिका इति तत्त्वम् ।

अस्तु तर्हि मन एवाऽऽत्मेति केचिदाहुः, तच्च नित्यम्, सर्वेन्द्रियाऽधिष्ठातृ चेति प्रज्ञायते, तेन च स्मरणमिन्द्रियनाशेऽपि स्यात्, तस्य नित्यत्वात्, एवम् 'अहमात्मे'त्यादिप्रतीतिविषयमपि तदेव मनः' इति तन्मतम् । तदपि न युक्तम्-यतः-नित्यत्वेऽपि मनसः सर्वेन्द्रियाऽधिष्ठातृत्वेन करणत्वं ज्ञायते, न पुनश्चेतनत्वमपि, चेतनस्त्वतिरिक्त एव, स्वस्वविषयसम्बन्धिषु बाह्येन्द्रियेषु सर्वेषां विषयाणां युगपत्प्रत्ययाऽभावात्, किमप्येकं नियामकं प्रतीयते यत्सहायाऽभावे न सर्वे विषयाः सर्वेन्द्रियेषु प्रकाशन्ते, यत्सहाये सति च विषयस्तत्तदिन्द्रिये प्रकाशते, इति स एव सहायभूतो मनोऽतिरिक्तश्चेतनो जीवात्मा सिद्धयति । कामिनीं स्मरतः पुरुषस्य शरीरं विहाय कामिनीप्रदेशगतायामपि मनोवृत्तौ यस्य निवासेन शरीरं न म्रियते, स आत्मा चेतन इति । मनस्त्वहङ्कारकार्यम्, अहङ्कारश्च बुद्धिकार्यम् 'अतएव बुद्धिमान्मनस्वी'ति व्यपदिश्यते 'अभीतं मे मनः प्रसन्नं मे मनः' इत्यादिवाक्येभ्यः प्रकृतिगतधर्मा मनसि प्रतीयन्ते, तद्विरुद्धाश्चेतनधर्माः, अत एव न चेतनं मनः, क्षोभादिधर्मरहितश्चेतन इति तत्त्वम् ।

अस्तु तर्हि प्राण एवाऽऽत्मा, प्राणनाशे मरणदर्शनात् प्राणसत्त्वे च जीवनदर्शनात्, प्राणाश्च गत्वरस्वभावाः, अतएव लोकान्तरगमनमपि युज्यते, प्राणेनैव शरीरादौ क्रियादर्शनादिति केचन वदन्ति । तदपि न युक्तम् । यतो—बाह्यवायुरेवाऽन्तर्गमननिर्गमनाभ्यां प्राण इति ख्यायते, स च पञ्चभूतात्मकः, तस्य च जडत्वेनाऽनित्यत्वाच्चाऽऽत्मत्वं भवितुमर्हति, प्राणाश्च पराधोनास्तेन यस्य सत्त्वे प्राणसत्ता यदभावे च प्राणसत्त्वाऽभावो भवति स चेतनः प्राणातिरिक्तः सिद्धयति । क्रिया तु न चेतनाऽवबोधनलिङ्गम्, क्रियावत्यपि जले भ्रममाणे यन्त्रचक्रे वा चेतनत्वाऽभावेन व्यभिचारात्, प्राणाऽभाववतोऽपि चेतनस्य सूक्ष्मशरीरेण सह परलोकगमनश्रवणात् प्राणाऽतिरिक्तः कश्चिच्चेतनो जीवात्मा सम्भवति, इति सिद्धम् ।

केचित्क्षणिकविज्ञानाऽऽत्मगादिनो बौद्धाः प्रत्यगतिष्ठन्ते—'अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञानमेव संवित्पदवाच्यमात्मा, तस्या अजडत्वात्, जडत्वसमनियतं हि घटादिष्वनात्म्यं दृष्टम्, जडत्वञ्च संविदो व्यावर्तमानं सत्-अनात्म्यमपि व्यावर्तयति, तथाचाऽनुमानं 'संवित्, अजडा, स्वतःप्रकाशमानत्वात्, स्वतःप्रकाशमानत्वं हि जडत्वाऽभावसमनीयतं भवति, यत्र घटादौ जडत्वं तत्र च स्वतःप्रकाशमानत्वं नास्ति । विज्ञानञ्च सर्ववत्त्वात्मकम्, यावत्पदार्थाश्च विज्ञानाकारा एवेति घटादिषु



संवित्सम्बन्धात् तेषां ग्रहणम्, संविदश्च स्वयंप्रकाशत्वादात्मत्वमिति, घटादयश्च न स्वतः प्रकाशन्त इति नाऽऽत्मत्वं तत्र, किन्तु तत्र संविदभिन्नविज्ञानाऽऽकार-  
त्वमिति । असत्याञ्च संविदि संवेत्तीति नोपपद्यते, इति संविदेव परं वेत्ती,  
'अहं जानामीत्यत्र च प्रकाशात्मनः संवेदनत्वम्—अहमित्यंशत्वञ्च । 'अहं सुखी'  
इत्यादौ च सुखदुःखादयोऽपि संविदाकाराः स्वाधिकरणे संविदि—अहमंशस्य वृत्ति-  
त्वमावदेयन्ति, प्रवृत्तिविज्ञानात्मिकायाः संविदः सत्तायामेव पदार्थग्रहणम्, तद-  
भावे तु सुषुप्त्यवस्थायामालयविज्ञानाऽऽत्मिकायाः संविदः सत्त्वेन नाऽऽर्थग्रहणम्  
इतिविवेकः संविद्वेदात्कल्प्यते । संविदतिरिक्तात्मवादमिते सर्वदात्मनो विद्यमान-  
त्वात् सुषुप्तावपि विषयाऽवभासप्रसङ्गः स्यात्, संविदधीनश्चेदात्मा पदार्थान्प्रका-  
शते तदा पराधीनत्वम्, अतः स्वाधीनसत्ताकसंविदात्मा, तदतिरिक्तात्मकल्पनाया  
अनावश्यकत्वात् । संविदि च यावद्धर्मा गुणाश्च सन्ति, तदतिरिक्तात्मनि प्रमा-  
णाऽभावात् । सा च क्षणिका प्रतिक्षणं भिन्नेति । पूर्वपूर्वविज्ञानधाराया उत्तरो-  
त्तरसन्तानोत्पादकत्वेन यावज्जीवनं विज्ञानधारा निरावाधा, सा च जाग्रत्स्वप्नेत्यु-  
भयाऽवस्थायां सविषया, सुषुप्तौ च निर्विषयेति न धाराविच्छेदप्रसङ्गः, पूर्वपूर्व-  
विज्ञानसन्ताने च यादृशाऽनुभवस्तत्संस्काराश्च विद्यन्ते ते तूत्तरोत्तरविज्ञानसन्ताने  
संक्रममाणा भवन्ति, तेन बाल्येऽवलोकितस्य वार्धक्ये स्मरणमप्युपपन्नं भवतीति  
सैवाऽऽत्मेति-बौद्धाः समुपदिशन्ति ।

तत्कथञ्चिदपि नोपयुज्यते,—यतः क्षणभङ्गवादमिते क्षणभेदेन विषयभेदात्  
संविदपि क्षणिकाऽन्याऽन्या चकास्ति, सैव चेदात्मा, पूर्वैद्युद्गृहमपरेद्युरहमिदमप-  
श्यमिति कथं प्रत्यभीजानीयात् । प्रकृतिश्च त्रिगुणात्मिका जडा, तत्कार्यस्याऽपि  
जडत्वमावश्यकमिति, तथा च संविदि अजडत्वं स्वरूपाऽसिद्धम्, तेन घटादिव-  
जडत्वादानात्म्यमिति, नहि च स्वतः प्रकाशमानत्वमजडत्वनियामकम्-प्रदीपे मणि-  
किरणे वा व्यभिचारात् । यद्यपि यावतां पदार्थानां विज्ञानाऽऽकारत्वं विज्ञानवे-  
द्यत्वञ्च भवतु, भवतु च संविदेव परं वेत्ती, तथाप्यात्मत्वं तत्र न युक्तम्,  
वेत्तृत्वम् हि चेतनधर्मः, चेतनश्च दृष्टा, संविच्च दृश्येति,—संविदि वेत्तृत्वम् प्रतिबि-  
म्बतयौपाधिकमिति । 'अहं जानामि सुखी' त्यादिप्रतीत्या संविदि—एव भास-  
न्तां ते धर्माः सुखादयः । किन्तु 'अहं चेतने'ति प्रतीतिरपि चेतनात्मानं विना न  
भवितुमर्हति, तेन स्वप्रतिबिम्बिताऽऽत्मधर्मेण चेतनत्वेन स्वस्यामारोप इति  
सिद्धम्; अतः आत्मा तदतिरिक्तो नित्योऽभ्युपगन्तव्यः, यस्मिन्नाऽऽत्मनि शाश्वते-  
स्थिते सति क्षणिकासु संवित्सु नियतं चेतनाऽभिमानं निर्वहेदिति ।

सुषुप्तौ च निराकारा निर्विषया संविदभ्युपेयते, तत्तु न युक्तम्—विषयं  
विना विषयिणो ज्ञानस्याऽनुत्पादात्, निर्विषयस्य ज्ञानस्य स्वीकारे च तस्य ज्ञान-

त्वमेव व्याहृत्यैत, प्रत्युत घटादीनामपि निर्विषयाणां ज्ञानत्वाऽऽपत्तिः स्यात् । घटादयस्तु पृथिवीत्वेन दृश्यमाना न विज्ञानात्मका इति, न चैवं साङ्ख्यसिद्धान्त-  
हानिः—प्रकृतिजन्यत्वे सत्यहङ्कारजनकत्वमेव ज्ञानत्वमिति महत्तत्त्वात्मकस्य  
ज्ञानस्य लक्षणात् । संविदतिरिक्तात्मस्वीकारेऽपि सुषुप्तौ बुद्धिवृत्त्यनभ्युपगमेन न  
तत्र विषयावभासः । संविदधीनश्चाऽऽत्मा पदार्थान्सुखादिभोग्यांश्चाऽनुभवति,  
यावच्च प्रकृतिसंयोगस्तावत्पराधीन इव भवति न तु तात्त्विकतया, अतः स्वाधीन-  
सत्ताक एवाऽऽत्मा, न तु संविदिति । आत्मा हि यदाऽभिलपति तदा बुद्धिं वधू-  
मिवोपशुङ्कते तस्मात्स्वतन्त्रः । सुषुप्तौ च विज्ञानधाराया निर्विषयिण्या गगनकु-  
सुमवदसत्त्वम्, तेन सुषुप्तिस्थस्य प्रायणाऽऽपत्तिः स्यात्, न पुनरुत्तिष्ठेत् ।

उत्तरोत्तरविज्ञाने वासनासंक्रमइत्यपि न युक्तम्, संस्कारस्य निष्क्रियत्वेनोत्त-  
रोत्तरमनुगमनं न सम्भवतीति । उत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेव संक्रम इत्यपि न,—संस्कारो-  
त्पादकस्याऽभावात्, उत्पादकञ्चेत् क्षणिकविज्ञानम्,—तदा तत्राऽङ्कारजनकत्वमभ्युपे-  
यम्, तच्च न सम्भवति, यतोहि स्ववृत्तिगुणं प्रति स्वस्य जनकत्वमिति नियमो भवति  
न त्वन्यगुणं प्रति स्वस्य जनकत्वमिति, तथा चोत्तरकालीनसंविदि यः संस्कारस्तस्य  
कारणं पूर्वकालीना संविज्ञा भवति, यदिच घटरूपं प्रति कपालरूपं कारणं भवतीति  
चेदभ्युपगम्यते—तदा तुल्ययुक्त्या ‘उत्तरसंविद्वृत्तिसंस्कारं प्रति पूर्वसंविद्वृत्ति-  
संस्कार एव कारणं भवतु न तु संविदः कारणत्वम्, तथा च संस्कारस्यैवाऽऽत्मत्वं  
स्वीकुर्वन्तु कृतं संविदात्मनेति । एवं प्रायणकालीनपापाऽधिकरणसंविदो नाशा-  
ऽनन्तरं पापफलाऽभोक्तृत्वं तस्याः स्यात्, संविदः पुनरुत्पत्त्यभावात्, देहान्तरे च  
बालकस्य स्तन्यपानप्रवृत्तिः पूर्वसंस्काराऽऽधीना भवति, साऽपि न स्यात् संस्कारवत्याः  
संविदः पूर्वजन्मन्येव नाशादिति, अतो यन्नियोजनेन प्रवृत्तिर्भवति स चेतनोऽति-  
रिक्तो नित्यश्चेति । बुद्धेश्च प्रतिक्षणभिन्नत्वेन संस्काराऽवगमाऽननुगमः स्यात्,  
अतो बुद्धिः स्थिरा चिरस्थायिनी कल्पनीया, तथा च सति संस्कारसंक्रमादिकल्प-  
नाविरहप्रयुक्तं लाघवमपि भवति । बुद्धिश्च सती कारणात्प्रादुर्भवति, न पुनर्ज्ञा-  
नात् ज्ञानमिति कल्पनीयम्, अनवस्थापातात्, अन्येन दृष्टस्याऽन्येन स्मरणाऽस-  
म्भवात् प्रत्यभिज्ञायाश्चाऽनुत्पादः स्यात्, इति सर्वं चतुरन्त्रम् ।

अद्वैतवेदान्तिनश्च ‘अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा’ ‘नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ ‘सत्यं  
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इत्यादिश्रुतिभिर्नित्या संविदेवाऽऽत्मा, तथा च न पूर्वोक्ता दोषाः ।  
सा च स्वतःसिद्धा नित्या, ज्ञानसुखदुःखादयो विकारास्तु अन्तःकरणधर्माः क्षणिका  
अल्पकालस्थायिनः, ते चैकात्मना उपाधिवशाद् भोग्या भवन्ति, तेषां तत्र विरहात्  
व्यतिरेकेणात्मत्वसाधका इति, अतो निर्धूतनिखिलभेदकूटस्थनित्या संविदेवाऽऽत्मा



परमात्मा चेति, याऽनुभूतिरजाऽमेयाऽनन्ताऽऽस्मेति सैव वेदान्तवाक्यतात्पर्यभूमिः, 'परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता । संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः' । इति कथयन्ति । तदिदमनुपपन्नतरम्, यतोहि—आत्मनो नित्यविज्ञानस्वरूपत्वे तस्य जगद्विषयकत्वे सर्वज्ञत्वाऽपत्तिः, यदि च नियतैकविषयकत्वम्, तदा विशेष्य-ज्ञानकाले विशेषणज्ञानस्याऽपि सत्त्वेन घटबोधकाले घटत्वकपालादीनामपि प्रकारतया भानान्नियतघटविषयकमेवेति नोपपन्नं विनिगमनाविरहात् । यदि च द्विविषयकत्वं यत्राऽनुभवसिद्धं तद्विषयकत्वमेवेति मन्यते—तदा चाऽनुभवानुसारित्वेन कल्पनाया न विनिगमनाविरहोऽपीत्युच्यते, तदपि न—यतो न घटविषयकः पटविषयको वाऽनुभवः 'अहमिति' भवति, किन्तु घटविषयकाऽनुभववानहमिति, स चाऽयं यस्य प्रतिविम्बे भवति सः कश्चिद्विज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेतिसिद्धम् । विज्ञानं यद्यपि भवतु नित्यम्, अन्तःकरणस्यैव ज्ञानसुखादयो धर्मा अपि भवन्तु उत्पत्तिध्वंसस्वभावाः, चेतनभोग्याश्च, तथापि ते—विज्ञाने व्यतिरेकेण आत्मत्वसाधका न भवन्ति, विज्ञानस्याऽन्तःकरणधर्मत्वाऽधिकरणत्वादिति । तथा च स्वरूपाऽसिद्धिः । सा श्रुतिश्च 'ब्रह्मचेतनमवलम्ब्य वक्ति न तु जीवचेतनमिति ॥

एवं उक्तवार्तिवेंऽपि संविद्यदि जीवात्माभिप्रायेण प्रयुज्यते ! तथा सति व्याहृतिर्भवति, तथाहि—संविदिति, - स्वाश्रयं प्रति सत्तयैव प्रकाशनशीलो ज्ञानाऽनुभूत्याद्यपरपर्यायः सकर्मको धर्मः प्रसिद्धः, तथैव हि सर्वप्राणभृत्प्रत्यात्मसिद्धोऽयमनुभवः,—'अहमिदं संवेद्यि-जानामी'ति', तेनाऽस्यानुभवस्य प्रादुर्भावस्थितितिरोभावाः सुखदुःखादेरिव प्रत्यक्षाः प्रकाशन्ते, अतोऽनित्यत्वं तस्याः, तथा चाऽनित्ये विज्ञाने नित्यत्वानुसन्धाने सति व्याघात इति, तस्मान्न जीवात्माभिप्रायेण सा । किञ्च विज्ञानात्मनो नित्यत्वे सर्वदा विषयावभासप्रसंगो भवेदिति । साङ्ख्ये तु न तथाऽवभासप्रसङ्गः, यावतीनां बुद्धिवृत्तीनां भेदाङ्गीकारात् । ननु वेदान्तमतेऽपि अन्तःकरणवृत्तिभेदाङ्गीकाराच्चोक्तदोष इति चेन्न । तथापि ईश्वरस्य जीवात्मत्वे सर्वात्मनामैक्ये तत्र बन्धमोक्षव्यवहाराऽनुपपत्तेः ।

अथ तत्तदन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्यैकत्वेऽपि तदन्तःकरणस्य नाशे तदन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्ये बद्धमुक्तव्यवस्थाया नाऽनुपपत्तिरिति चेत् ! एवमपि मोक्षार्थं प्रयत्नानुष्ठानवैफल्यापत्तेरवारणात्, अन्तःकरणनाशेऽपि अन्तःकरणान्तरावच्छिन्ने स्वात्मनि दुःखोत्पत्तेरावश्यकतया प्रवृत्तिफलस्य निर्दुःखत्वस्याऽसंभवात् । यदि चाऽन्तःकरणस्यैव सुखदुःखादि न चैतन्यस्य भोग्यमपि कदापीत्युच्यते ! तदा विमुक्त्यर्थं प्रयत्नो व्यर्थ एव, स्वस्य नित्यमुक्तत्वात् । यदि च भ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं तदप्युच्यते ! तदाऽप्यन्तःकरणान्तरावच्छिन्ने स्वस्मिन्नेव भ्रान्तेरावश्यकत्वेन प्रयत्नस्य निष्फलत्वापत्तेरावश्यकत्वादिति । अतो न नित्यविज्ञानमात्मा परमात्माचेति ।

शुद्धाद्वैताः—परमात्माऽनादिपुरुषोत्तमः स्वेच्छात्मकस्वाभिन्नमायया विद्याऽविद्यचेत्युभयशक्तिं प्रादुर्भाव्य तां गृहित्वा चाऽपरिमीतजीवात्मस्वरूपो भवति, जीवस्वरूपश्च सोऽयमविद्यया शुभाऽशुभकर्मफलान्यश्नाति, विद्यया च परमात्मना सहाऽभिन्नो भवति, अभेदस्तु वास्तविक एव, सर्वं चेदं जगज्जीवात्मानश्च परमात्मैव, उक्तं च शुद्धाद्वैतमार्तण्डे—

‘जडजीवान्तःस्थितानां यथाक्रमश उद्गमः । अग्नयेथा विस्फुलिगास्तथा जीवोद्गमः स्फुटः ॥ ९ ॥ “आविर्भावे तु सर्वं हि ब्रह्मैवेति न संशयः । रमणार्थमिदं सर्वं ब्रह्मैव स्वेच्छयाऽभवदिति” । भगवदिच्छयैवाऽनन्दांशो जीवानां तिरोभवतीति वदन्ति । तत्तु-न युक्तम् । परमात्माऽपि जीवादिरूपेण पापपुण्यभोक्ता स्यात् तर्हि बन्धमोक्षौ न स्याताम्, स्वर्गनरके न स्याताम्, दुःखादिकमपि न स्यात्, परमात्मनस्तदयोगात् । किं च स्वेच्छात्मकमायया सृष्टं सर्वं जगदिति सुखमयमेव सृजेत् स्वर्गमेव सृजेत् मोक्षानुरूपमेव वा सृजेत् न तु बन्धदुःखमयमिति । किञ्च सर्ववस्तूनां स्वात्मकत्वे चैतन्यब्रह्मानन्दात्मकत्वेनैव भाव्यम्’ न तु षडुर्मिव्याप्ततया । किञ्च स्वस्य दुःखादिभोक्तृत्वे परब्रह्मत्वमेव व्याह्रन्येत, जीवानां परमात्माऽभिन्नत्वे सर्वेऽपि परमात्मानः स्युः । आनन्दतिरोभावे च स्वस्याऽप्रतिहतनित्यनिरतिशयानन्दवत्त्वेन यो ब्रह्मभावः सोऽपि तिरोभूतः स्यात् । तदत्र किमयं जीवभावो यावत्त्वेन ! यत्किञ्चित्त्वेन वा ? न प्रथमः, सर्वथा जीवभावे सति तेषामुपासनाविषयं नित्यानन्दवत्तया प्रसिद्धं ब्रह्मस्वरूपं नाऽवशिष्येत, तेन कः कमुपासेत ! कश्च मुक्तिं दद्यात् । न द्वितीयः, कस्यचिदेवांशस्य जीवभावेऽन्ये पुनः परमात्मान एव स्युः ? तेन अनेकपरमात्मत्वापत्तिः’ ब्रह्मणः सावयवत्वापत्तिश्च । तस्मात् परंब्रह्म न जीवरूपं दुःखादिभोक्तृ च, किन्तु परमार्थतः परमेश्वराद्विज्ञानेके जीवा एव तद्भोक्तार इति ।

आर्हताश्च—बोधोत्तम एवाऽऽत्मा संकोचविकासस्वभावः, क्षणिकवादिवन्नास्य क्षणिकत्वम्, किन्तु यावच्छरीरस्थितिस्तावच्छरीरसमपरिमाणवत्तया स्थायित्वम्, मोक्षावस्थायां तु शरीरात् तृतीयांशन्यूनपरिमाणवान् वर्तते इति । स चायं चेतनो जीवः, तदतिरिक्ते प्रमाणाऽभावादिति वदन्ति ।

तदप्यसमंजसम् । यतो हि बोधो नाम विज्ञानम्, तच्च विषयभेदाद्विज्ञम्, तथा च कथमस्य यावच्छरीरस्थितिस्तावत्समपरिमाणतया स्थायित्वं संभवेत् ? । सुषुप्तौ विषयमन्तरेण विज्ञानाऽयोगान्मरणापत्तिश्च । पूर्वोक्तबुद्ध्यात्मवादमतद्रूपकदोषदूषितत्वाच्च न बुद्धिरात्मा, किन्तु तद्विज्ञ एव नित्यश्चेतनः ।

पूर्णप्रज्ञाः—जीवतत्त्वं चेतनत्वेन विज्ञानाद्यतिरिक्तमवगमयन्ति । विशिष्टाद्वैतिनः—आत्मतत्त्वं परमेश्वरशरीररूपं चेतनत्वेन प्रकृत्यादिभिन्नमवगमयन्ति ।



निम्शर्काः— जीवतत्त्वं चेतनत्वेन प्रकृत्यादिभिन्नं स्वीकुर्वन्ति । शैवा अपि तथा प्रकृत्यादिभिन्नत्वं चेतनात्मनामिति वदन्ति । एवं नकुलीशपाशुपता अपि । अत एतेषां मतानि जीवात्मविषये प्रायशो न सांख्यसिद्धान्ताद् विरुद्धानि, इति तु विभावनीयम् ॥ ३ ॥

भवति चाऽस्य शास्त्रस्य त्रिविधा प्रवृत्तिः, उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति, तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्य सङ्कीर्तनमुद्देशः, उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो हि लक्षणम्, लक्षितस्य लक्षणं दोषादिरहितं सत्संभवति न वेतिविचारः परीक्षा, तत्रोद्देशस्त्वभिहितः 'मूलप्रकृतिरविकृति'रिति (३) कारिकया, लक्षणानि परीक्षणञ्च यथायोगं वक्ष्यन्ते, प्रकृतन्तुद्दिष्टमर्थं प्रामाणिकं कर्तुमभिमताः प्रमाणभेदा लक्षणीयाः, सामान्यलक्षणं विना च विशेषलक्षणं कर्तुं न शक्यते, अतः प्रथमस्तावत्प्रमाणसामान्यं लक्षयति—

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

अत्रेदं तत्त्वम्,— बुद्धिर्हि—अनुभूति-विपर्यय-संशय-निद्रा-स्मृति-भेदेन पञ्चविधा, तत्रानुभूतिस्त्रिविधा-प्रत्यक्षानुमितिशाब्दभेदात्, सा च 'प्रमा'पदवाच्या, तथाहि-बहिस्त्विन्द्रियप्रणालिकया अन्तस्तु तद्व्यतिरेकेण बुद्धिवृत्तयो विषयाकारा भवन्ति, तादृश्यस्तास्ततः परावृत्त्य च बुद्ध्यात्मिका अपि बुद्धिगतं यच्चेतन-प्रतिबिम्बं तत्राऽऽरूढा भवन्ति, तदा चेतनस्तदाकाराऽऽपन्न इव भवति, तदानीं-असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषया बुद्धिवृत्तिः प्रमा, साधारणधर्मदर्शन-दुष्टेन्द्रिय-संस्कारजन्यानां क्रमशः संशयविपर्ययस्मरणानां न प्रमात्वमिति । मुख्या तु प्रमा-पौरुषे यो बोधः फलं । अत्रार्थे योगभाष्यम्— पा-१-सू०-६ 'फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिर्बोधः'-इति । चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टबुद्धिवृत्तिः, बुद्धिवृत्तौ प्रतिबिम्बितं चैतन्यं वा बोधः—फलपदार्थः—इति तदर्थः । एवञ्च प्रमा द्विविधा—बुद्धिवृत्तिः, पौरुषेयो बोधश्च । प्रमाणमपि द्विविधम्—इन्द्रियादयः, बुद्धिवृत्तिश्चेति । यदा पौरुषेयबोधस्य प्रमात्वं तदा बुद्धिवृत्तेः प्रमाणत्वम्, यदा च बुद्धिवृत्तेः प्रमात्वम्-तदेन्द्रियादीनां प्रमाणत्वमिति । प्रमारूपं फलं पुरुषनिष्ठमात्रमुच्यते । पुरुषस्तु प्रमायाः साक्षी न तु प्रमातेति । अथ कदाचिद् बुद्धिवृत्तिः पौरुषेयबोधश्चेत्युभयमपि प्रमा, तदा क्रमेणेन्द्रियतत्त्वजिकर्षाः—बुद्धिवृत्तिश्चेत्युभयमपि प्रमाणमिति ।

एतेन च 'अयं घटः' इत्याकारिकाऽन्तःकरणवृत्तिः प्रमाणम्, 'घटमहं जानामी'-त्याद्यनुव्यवसायः पुरुषे बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बरूपो बोधः पौरुषेयः, तथाहि—प्रथम-मिन्द्रियप्रणालिकया—पदार्थसन्निकर्षेण—लिङ्गज्ञानादिना वा बुद्धिवृत्तिः पदार्थाकारा

जायते, तत्रेन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्ना प्रत्यक्षवृत्तिरिन्द्रियविशिष्टबुद्ध्याश्रिता पदार्थो-  
परक्ता च प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषेऽवनद्धा सती भासते, अतो 'बुद्धेः प्रतिसंवेदी  
पुरुषः' । बुद्धेः प्रतिसंवेदनं प्रतिबिम्बस्तद्वान्पुरुष इति । पुरुषे स्वस्वबुद्धिवृत्तीनां  
प्रतिबिम्बार्पणसामर्थ्यं फलबलेन कल्प्यते, वृत्तिचैतन्ययोः परस्परं विषयताख्यसम्ब-  
न्धेनाऽन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यप्रतिबिम्बसिद्धिरिति । तथा च वचनम् "प्रमाता  
चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव नः । प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्" ॥१॥  
"प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते । साक्षाद्दर्शनरूपञ्च साक्षित्वं वक्ष्यति  
स्वयम्" ॥ २ ॥ इति मतं निरस्तम् । तथाहि - जले भवति चन्द्रस्य प्रतिबिम्बम्,  
न तु चन्द्रे जलस्य प्रतिबिम्बम्, एवञ्च जलगते चन्द्रस्य प्रतिबिम्बे एव जलवर्तिन-  
श्चलनत्वमलिनत्वादिधर्माः समारोप्यन्ते, आकाशवर्तिचन्द्रबिम्बे तु नाऽऽरोप्यन्ते,  
किन्तु 'चन्द्रः कम्पते चन्द्रो मलिन' इत्यादिकाऽऽरोपस्तु शब्दप्रयोगमात्रम् । तथैव  
बुद्धौ चैतन्यस्य प्रतिबिम्बे सति बुद्धिगताः सुखज्ञानादयो धर्माः प्रतिबिम्बे समा-  
रोप्यन्ते एव, नतु मुख्ये चेतने पुरुषे, एवम् पुरुषगताश्चेतनत्वादिधर्मा अपि बुद्धि-  
गतप्रतिबिम्बवर्तिनो बुद्धौ प्रतिभासन्ते, अतश्च बुद्धिचेतनयोर्भेदाऽग्रहणेन-अचेत-  
नापि बुद्धिश्चेतनेव सुखदुःखादिरहितोऽपि पुरुषः सुखदुःखादिमानिव प्रतीयते ।  
एवञ्च पुरुषे बुद्धिप्रतिबिम्बाऽनङ्गीकारेऽपि प्रमाव्यवहारस्य सम्यगुपपत्तौ पुरुषे बुद्धेः  
प्रतिबिम्बकल्पना निष्फलेति तत्त्वम् । 'बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः' इत्यस्य तु बुद्धे-  
र्द्रष्टा पुरुष इत्यर्थः । 'घटमहं जानामी'त्यादौ चाऽनुव्यवसायात्मकबुद्धिवृत्तौ  
चैतन्यप्रतिबिम्बं भवति, तेन चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टत्वाच्चैतन्यधर्मवती बुद्धिवृत्ति-  
रिति । न तु पुरुषे बुद्धिवृत्तिः प्रतिबिम्बिता भवति, तथा च बुद्धिवृत्तौ प्रतिबि-  
म्बितं चैतन्यमेव पौरुषेयो बोध इति । एवञ्च "तस्मिंश्चिदर्पणे स्फारे समस्ता वस्तु-  
द्रष्टव्यः । इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः" इति पुरुषे बुद्धिप्रतिबिम्बबोधकं  
वचनन्तु चेतनप्रतिबिम्बरूपे दर्पणे-इति व्याख्येयम्, न तु चेतनात्मके दर्पणे इति ।

सा च प्रमा कचित्प्रत्यक्षात्मिका--अनुमित्यात्मिका-शाब्दबोधात्मिका वा  
बुद्धिवृत्तिः, तस्याः करणत्वम् प्रमाणत्वमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्, प्रमीयतेऽनेने-  
ति निर्वचनात्प्रमां प्रति करणत्वं सम्पद्यते । तथा च 'असंदिग्धाऽविपरीताऽनधिगत-  
विषया चित्तवृत्तिः--इन्द्रियतत्सन्निकर्षादयश्च-प्रमाणमिति । ननु-धाराबाहिकबुद्धे-  
रधिगतविषयकत्वेनाऽनधिगतविषयकत्वाऽभावेन तत्र प्रमाणत्वं न स्यादिति चेन्न ।  
तत्र तत्तत्क्षणविशिष्टविषयकत्वेनाऽनधिगतविषयकत्वसत्त्वादिति । सांख्यमते  
नित्यकालाऽनङ्गीकारेऽपि क्षणादिप्रयोजकोपाधीनामेव कालत्वेन स्वीकारात्,  
तादृशोपाधिविशिष्टविषयकत्वमादायैवाऽनधिगतविषयकत्वस्य तत्र संभवात् ।  
यदि च क्षणोपाध्यात्मककालस्य प्रत्यक्षविषयत्वं नाऽभ्युपगम्यते तदा धाराबाहिक-



बुद्धिस्थले ज्ञानभेदस्याऽनङ्गीकारात्, यावत्समयं घटपटादिवस्तुस्फुरणं समनुवर्तमानं भवति तावत् घटपटाद्याकारपरिणताऽन्तःकरणवृत्तिरेकैवाऽभ्युपेयते, न तु भिन्ना भिन्ना, वृत्तेः स्वविरोधिबुद्ध्युत्पत्तिपर्यन्तस्थायित्वस्वीकारात्, तथा च न तत्राऽव्यासिरिति । ननु तथाप्यधिगतस्य घटस्य कालभेदेनेन्द्रियजन्यज्ञाने समुत्पन्ने सत्यन-धिगतविषयकत्वाऽभावेन तत्राऽव्यासिरिति चेन्न । यज्जातीयविशिष्टज्ञानत्वाऽवच्छेदेन स्वसमानाकारकनिश्चयोत्तरत्वं तज्जातीयाऽन्यत्वमेवाऽनधिगतविषयकत्वं विवक्षितम्, तथा च घटविषयकप्रत्यक्षजातीय-विशिष्टज्ञानत्वावच्छेदेन प्रत्यक्षसमानाकारकनि-श्चयोत्तरत्वस्याऽभावेन तज्जातीयाऽन्यत्वात् तत्र ज्ञाने नाऽव्यासिः । स्मृतिजातीय-विशिष्टज्ञानत्वावच्छेदेन च स्मृतिसमानाकारकाऽनुभवात्मकनिश्चयोत्तरत्वस्यैव सत्त्वेन स्मृतिजातीयाऽन्यत्वाऽभावात् स्मृतौ नाऽस्ति प्रसङ्गश्चेति । अथ—इन्द्रियार्थसन्नि-कर्ष-तज्जन्प्रचित्तवृत्त्यन्यतरजन्यानुभवत्वम् प्रत्यक्षानुभूतेर्लक्षणं । न च मनसोऽपि बहिर्देशस्थविषयं प्रति गमनेन मनोऽर्थसन्निकर्षजन्यं सर्वमेवाऽनुभवात्मकं ज्ञानं भवतीति मतेन प्रत्यक्षभिन्नाऽनुभवेऽतिव्यासिरिति वाच्यम् । प्रत्यक्षज्ञानकरणता-वच्छेदकेनेन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियाणां प्रवेशात्, मनसस्तु मनस्त्वेन रूपेण सर्वत्र कर-णत्वान्न तदादाय प्रत्यक्षभिन्नानुभवेऽतिव्यासिरिति ।

तच्च प्रत्यक्षं-सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदेन द्विविधम्, तत्र सप्रकारकं प्रत्यक्षं सविकल्पकम्-यथा-‘घटोऽयम्’-‘नीलोऽयम्’मित्यादि । निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विक-ल्पकं-यथा किञ्चिदिति, यथा वा घटघटत्वोभयविषयकं समूहालम्बनं ‘घटघटत्वे’ इति ज्ञानम् । व्यासिज्ञानपक्षधर्मताज्ञानप्रयोज्यज्ञान(परामर्श)जन्याऽनुभवत्वमनु-मितित्वम्, तथाहि प्रथमतः पर्वतसमीपं गतः कश्चिद्विच्छिन्नमूलां धूमरेखां पश्यन् ‘यत्र धूमस्तत्र वह्नि’रिति व्यासिं स्मरति, तदिदं स्मरणात्मकं ज्ञानं, तथा पक्षनि-रूपितवृत्तितावान् धूम’ इति—पक्षधर्मताज्ञानमपि भवति । तदनन्तरं ‘वह्निव्याप्यधूमवानय’मिति ज्ञानं तस्य जायते स एव परामर्शः, तेन च ‘पर्वतो वह्निमानि’त्यनुमितिर्जन्यतइति । परामर्शस्य लक्षणन्तु ‘व्याप्यव्यापकभावज्ञान-पक्ष-धर्मताज्ञानजन्यज्ञानत्वम्’ यथा वह्निव्याप्यधूमवानपर्वत’ इति ज्ञानम् । व्यासिश्च-‘यत्र हेतुस्तत्र साध्यमि’तिसाहचर्यनियमात्मिका, तदर्थश्च साध्याऽभाववदवृत्तित्वम्,—व्यापकसामानाधिकरण्यं वेति,—इयमन्वयव्याप्तिः, कदाचिद् व्यतिरेकिण्यपि भवति-यथा—‘साध्याभावव्यापकीभूताऽभावप्रतियोगित्वरूपा । पक्षधर्मत्वं = पक्षनिरूपित-हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वम् ।

शब्दज्ञानजन्यानुभवत्वं-शब्दबोधत्वम्, शब्दश्चास्य वाक्यात्मको बोध्यः, भासत्वञ्च यथार्थवक्तृत्वमिति । ‘विपर्ययो-‘मिथ्याज्ञानं तद्वरूपाऽप्रतिष्ठम्’—यथा-श्रुक्तिकायां रजतज्ञानम्, गगने द्विचन्द्रज्ञानं वेति, तच्च सद्विपर्ययैकचन्द्रदर्शनेन

बाध्यते, अतो विपर्यये ज्ञानाऽरूढाऽप्रतिष्ठिता । संशये तु विषयनिष्ठाऽप्रतिष्ठित-  
तेतिविवेकः । संशयोऽप्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वान्मिथ्याज्ञानम्-यथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ।  
विपर्यये तिमिरादिदोषः कारणम्, संशये साधारणादिधर्मदर्शनादिकं कारणम्, 'विक-  
ल्पः- 'शब्दजनितज्ञानाऽनुपपन्नशीलो वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणोऽध्यवसायः' यथा पु-  
रुषस्य चैतन्यमिति । अत्र वास्तविकं पुरुष एव चैतन्यमिति सिद्धान्तः, तत्र पुरुष-  
स्येति पष्ठ्युपादानेन तादृशशब्दजनिते ज्ञाने पष्ठ्या योऽध्यवसितो भेदः, तमविद्य-  
मानमपि समारोप्याध्यासो भवतीति, विकल्पे वस्तुसत्ताऽनपेक्षशब्दः कारणम्, ।  
'निद्रा तु-तमोगुणस्योद्विक्तत्वेन समस्तविषयपरित्यागात् सन्ततं प्रवर्तमाना वृत्तिः,  
सैव सुषुप्तिरित्यर्थः । स्वप्ने तु विषयाऽवभाससत्त्वेन न प्रायशो निद्रावृत्तियोगइति ।

'स्मृतिः—संस्कारद्वाराऽनुभवजन्यं ज्ञानम्, यथाहि पदार्थानुभवः समाना-  
कारकः सन्नेव तत्तज्जातीयकं संस्कारमारभते, संस्कारश्च स्वकारणसमानाकारः सन्नेवा-  
ऽनुभवसमानाकारां स्मृतिं जनयति । सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतो  
विशेषतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिस्तु पूर्वानुभवसमानाकारा, न्यूनविषया वा भवति  
नत्वधिकविषया, अयमेव वृत्त्यन्तराद्विशेषः । अत एव स्वसमानविषयकपूर्वानुभ-  
वेन संस्कारद्वारा स्मृतिरुत्पद्यते इति सिद्धम् । 'अनधिगतविषयबोधो बुद्धिरनु-  
भवः, वृत्त्यन्तराऽधिगतविषयगोचरा स्मृतिरिति तु तत्त्वम् । सा तु कदाचित्कल्पि-  
तस्मर्तव्या-यथा स्वापे पित्रादेरतीतस्य देशकालान्तराऽनुभूतस्याऽनुभूतचरदेशकाल-  
सम्बन्धो भाति । कदाचिच्च यथार्थस्मर्तव्या-यथा जाग्रत्समये पितरं गुरुञ्च स्मरा-  
मीति । इत्युपदर्शिता बुद्धिभेदाः । तत्र विपर्ययः प्रमाणेन बाध्यते 'यथा द्विचन्द्र-  
ज्ञानं चन्द्रदर्शनेन बाध्यते' तन्न प्रमाणं न वा प्रमा, इति । विकल्पस्तु क्वचिदभेदे-  
भेदमारोपयति, क्वचिच्च भिन्नानामभेदमारोपयति-तत्र भेदस्याऽभेदस्य च वस्तुनोऽ-  
भावात् तदाभासो विकल्पो न प्रमाणं न वा प्रमेति ।

निद्रा च वृत्तिर्भवितुमर्हति-यतो हि जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामसत्त्वे बुद्धिसत्त्वाच्छा-  
दकं तम आविर्भवति तदा बुद्धेर्विषयाकारपरिणामविरहात् तमोमयीं बुद्धिमबुद्धय-  
मानः पुरुषः सुषुप्त इति कथ्यते, तदा निद्रावृत्त्यनङ्गीकारे जाग्रदवस्थायां 'सुखम-  
हमस्वाप्सम्—दुःखमहमस्वाप्सम्-प्रसन्नं मे मनः स्त्यानं मे मनः' इत्यादिस्मृतयो  
न स्युः, किन्तु भवन्त्येवेति निद्राया वृत्तित्वं सिद्धम् । सा च तमोमयी न प्रमाणपदं  
प्रमाप्रदं वा समारोहति । स्मृतिरपि न प्रमाणं प्रमा वा, यतो हि पूर्वानुभवेन  
'अयं घट' इति वर्तमानो घटो विषयीक्रियते, स्मृत्या तु पूर्वावस्थाविशिष्टः स  
घट इदानीं विषयीक्रियते, तथा च पूर्वावस्थाधारत्वविशिष्टस्य घटस्य पूर्वावस्थाधा-  
रत्वविशिष्टतया विषयीकरणात्स्मृतिरप्रमा । —अनुभवस्तु प्रमा, यथार्थबोधत्वात्,  
तत्करणञ्च 'प्रमाणम्' तच्च 'त्रिविधं दृष्टम्' तिस्रो विधाऽस्य प्रमाणसामान्यस्य त-



त्रिविधम्, तेन संख्याविप्रतिपत्तिनिराकृता भवतीति, तत्र प्रत्यक्षमेवेति-चात्रांकाः, प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति-वैशेषिका बौद्धाश्च, प्रत्यक्षमनुमानमागम इति सांख्ययोगाः, उपमानेन सह चत्वारोति नैयायिकाः, अर्थापत्त्यनुपलब्धिभ्यां सह षट्प्रमाणानीति-भाट्टवेदान्तिनौ, संभवैतिह्याभ्यां सहाष्टाविति-पौराणिकाः, चेष्टया सह नवेत्यालङ्कारिकाः । तेषां निराकरणाय 'त्रिविध'मित्युक्तम्—अतो न न्यूनं नाऽप्यधिकमिति । तच्च 'दृष्टमनुमानमाप्तवचनं' चेति 'दृष्टम्' = प्रत्यक्षम्, अनुमानम्—परामर्शः, आप्तवचनं शब्दप्रमाणमिति । इमानि च लौकिकप्रमाणानीति । आप्तं तु योगिनामूर्ध्वलोतसां विज्ञानं सदपि लोकव्युत्पादनाय नाऽलं भवतीति नाऽभिहितम्' अधिकानां प्रमाणानां 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' त्रिविधप्रमाणेभ्योऽन्तर्भावान् त्रिविधमेवेष्टमिति । प्रमाणानामन्तर्भावञ्च विशेषलक्षणानन्तरमुपपादयिष्यामः ( ५ ) कारिकाव्याख्यानावसरे । तेभ्यस्त्रिभ्यः प्रमाणेभ्य एव प्रमेयाऽवगमो भवति, यतः 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि', तथा च प्रमेयव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्य सामान्यतो विशेषतश्च प्रमाणनिरूपणेऽपि नाऽसंगतिरिति ॥ ४ ॥

अभिहितं प्रमाणसामान्यस्वरूपम्, सम्प्रति तत् विशेषरूपेण विवेचनीयम्, तत्र च सर्वप्रमाणेषु ज्येष्ठत्वात्तदुपजीवकत्वाच्चाऽनुमानादीनां, यावतां वादिनामविप्रतिपत्तेश्च प्रथमं प्रत्यक्षमेव लक्षयन्ननुमानं शब्दञ्च लक्षयति—

प्रतिविषयाऽध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।

तलिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्, आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु ॥ ५ ॥

दृष्टम्—प्रत्यक्षम्, तस्य लक्षणम्—प्रतिविषयाध्यवसायत्वमिति, विसिन्वन्ति विषयिणं ज्ञानमनुबध्नन्ति-स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति विषयाः, त्रिगुणानां साम्याऽवस्थात्मकप्रकृतिभिन्नाश्चेतनबुद्ध्यादयः सूक्ष्माः पृथिव्यादयश्च स्थूला यावन्तो विषया भवन्ति, तत्र स्थूलास्त्वस्मदादीनां विषयाः, सूक्ष्माश्च योगिनामूर्ध्वलोतसाञ्च विषया इति । विषयं विषयं प्रति वर्तते—तत्प्रतिविषयम्—इन्द्रियम्, 'वर्तते' इति पदघटकवृत्तुधात्वर्थरूपा वृत्तिः सन्निकर्ष एव, तथा चाऽर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थः । तस्मिन्नध्यवसायस्तदाश्रितः, अध्यवसायो नाम-तमसः पराभवे सति बुद्धौ सत्त्वस्वभावाज्जिर्मला ज्ञानरूपा बुद्धिवृत्तिर्जायते, सा प्रमाणरूपा । तथा च विषयसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यबुद्धिवृत्तिः' प्रत्यक्षम् प्रमाणमिति फलितम् । अनेन च विषयसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यबुद्धिवृत्तिरूपव्यापारेण चेतनाशक्तेर्बुद्धिवृत्तौ प्रतिविम्बो भवति, स एव फलम्, अतो बुद्धिवृत्तिप्रतिविम्बितं चैतन्यं प्रमा पौरुषेयो बोध इति । अथवा प्रतिविषयो-नियतविषयः,—अध्यवसायते-निश्चीयतेऽनेनेन्द्रियेण तत्सन्निकर्षेण वा--सःप्रतिविषयाध्यवसायः—चक्षुरादीनीन्द्रियाणि तत्सन्निकर्षाश्चेत्यर्थः ।

तेनेन्द्रियाणां तत्सन्निकर्षाणाञ्च प्रत्यक्षप्रमाणत्वम्, तेषां फलन्तु चैतन्यप्रतिबिम्ब-  
विशिष्टा बुद्धिवृत्तिः, सैव प्रमेति । तथा च विषयसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यबुद्धिवृत्त्यभि-  
व्यक्तं चैतन्यम्, अथवा चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टा बुद्धिवृत्तिः प्रत्यक्षप्रमा, तत्करणं  
यथाक्रमम् बुद्धिवृत्तिः, इन्द्रिय-तदर्थसन्निकर्षो वा प्रमाणमिति । योगिनामूर्ध्वस्रो-  
तसाञ्चाऽलौकिकप्रत्यक्षत्वेन तेषां कृते तु तत्र बुद्धिवृत्तियोगजधर्मान्विता सती प्रत्यक्षम्  
प्रमाणम् भवति, न त्विन्द्रियतदर्थसन्निकर्षजन्या सतीति । यत्र च योगिनः चक्षुषा  
घटं पश्यन्ति तत्र त्विन्द्रियमिन्द्रियार्थसन्निकर्षो वा प्रत्यक्षप्रमाणमिति यथायोग-  
मुन्नेयम् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्रमाणत्वे तु 'विषयतासंशर्गेण प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं  
प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन विषयस्य कारणत्व'मिति नियम एव बीजमिति । बुद्धिस्तु  
प्रकृतिजन्यत्वादचेतना, तज्जन्यज्ञानवृत्तिरप्यचेतना, तद्धर्माः सुखज्ञानादयोऽप्यचे-  
तनाः सुखाद्यननुषङ्गी पुरुषस्तु चेतनः, स च बुद्धौ प्रतिबिम्बितः सन् बुद्धिगत-  
ज्ञानसुखादिच्छायामान् भूत्वा स्वयमपि ज्ञानसुखादिमानिव भवति, बुद्धिश्च चेतन-  
च्छायया चेतनेव भवति, तेन बुद्धेरध्यवसायोऽपि चेतन इव भवति, तदुक्तम्-  
'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तृव भवत्यु-  
दासीन' इति २१ कारिकायाम् । तस्माच्चेतनाशक्तेरनुग्रहो बोधः पौरुषेय इति  
ध्येयम् । लक्षणे चाऽध्यवसायग्रहणम्-अनिश्चितविषयकस्य संशयस्य वारणाय, अ-  
ध्यवसायो निश्चयइति । विषयग्रहणञ्चाऽसद्विषयकविपर्ययस्य निराकरणाय, इन्द्रि-  
यार्थसन्निकर्षकथनेनाऽनुमानशाब्दबोधनिद्रास्मृतीनां वारणमिति । समानाऽसमान-  
जातीयपदार्थव्यावर्तकत्वं लक्षणस्य लक्षणम्, तच्चाच्च 'प्रतिविषयाध्यवसाय'इति  
प्रत्यक्षलक्षणमुपपन्नम् 'स चेन्द्रियार्थसन्निकर्षः-संयोगः, संयुक्ततादात्म्यः, संयु-  
क्ततादात्म्यतादात्म्यः, तादात्म्यः, तादात्म्यतादात्म्यश्चेति पञ्चविधः । तत्र पृथि-  
व्यप्तेजोवाय्वाकाशानां स्थूलानां प्रत्यक्षे इन्द्रियसंयोगः सन्निकर्षः । पृथिव्यादिगत-  
गन्धादिगुणानां प्रत्यक्षे-इन्द्रियसंयुक्ततादात्म्यसन्निकर्षः, इन्द्रियसंयुक्ते पृथिव्यादौ  
गन्धादीनां तादात्म्यात्, सांख्यनये कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति।गन्धत्वादीनां धर्माणां  
प्रत्यक्षे संयुक्ततादात्म्यतादात्म्यसन्निकर्षः- इन्द्रियसंयुक्तपृथिव्यादौ गन्धादेस्तादा-  
त्म्यात् तत्र च गन्धत्वादेस्तादात्म्यात् । बुद्धिवृत्त्या सुखादिप्रत्यक्षे तादात्म्यसन्नि-  
कर्षः । सुखत्वादिप्रत्यक्षे च तादात्म्यतादात्म्यसन्निकर्षः । बुद्धिवृत्तिजन्यचेतनप्र-  
त्यक्षे तु संयोग एव सन्निकर्षः । सूक्ष्माणाञ्चेन्द्रियतन्मात्राऽहंकारान्तु बाह्येन्द्रियैः  
प्रत्यक्षं न भवति, अन्तःकरणस्थया बुद्धिवृत्त्या ग्रहणं भवति चेत् ! तदा-तादात्म्य-  
तादात्म्यतादात्म्य-सन्निकर्षो ग्राह्यौ । केचित्तु-इन्द्रियसन्निकर्षानधीना या  
सत्त्वात्मिका बुद्धिवृत्तिः साऽपि भिन्नकालीनदेशान्तरीयविषयं गृह्णाति, तस्मात्सै-  
वाऽलौकिकसन्निकर्षाऽत्मिका वाच्या, तथा च ज्ञानलक्षणो योगजश्चेति द्विविधोऽ-



लौकिकसन्निकर्षो बोध्यः । कदाचिदिन्द्रियसन्निकर्षानपेक्षमाणं सत्त्वसमुद्भवं ज्ञानं-  
योगजधर्मो वा कालान्तरीणदेशान्तरीणविषयं बुद्धिवृत्तौ समवभासयति । इति  
निरूपितं प्रत्यक्षम् ॥

‘चार्वाकेण हि प्रत्यक्षमेव प्रमाणमित्युद्घोषितम्, किन्तु तत्त्वाऽभिलषितपदार्थ-  
प्रतिपत्तिं विधापयितुं नाऽलं स्यात्, यतः सदसि वादिना सह कस्यांचित्कथायां-  
‘इदं भवता साधनीय’मिति विज्ञापितश्चार्वाकस्तावत्परकीयमज्ञानं संशयं विपर्य-  
येण वा नाऽवधारयेच्चेत् कथंकारं तन्निरसनाय वाक्यमुच्चारयेत् । परकीयसंशया-  
दीनां प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुमशक्यत्वादिति । यदि चाऽज्ञानादिकमपरिज्ञायैव वाक्यमुच्चा-  
रयेत् तदा प्रेक्षावद्गिरुन्मत्तवाक्यवदुपेक्ष्येत, अतश्चार्वाकेणाऽवश्यम् ‘अयं वादी-  
एतस्मिन्नर्थेऽज्ञानी संशयवान् विपर्यस्तो वा, ततो विरुद्धार्थप्रतिपादकवचनप्रयोक्तृ-  
त्वात्, विलक्षणचेष्टादिमत्त्वाद्वा, ‘नाहं जाने सन्दिहानोऽहं विपर्यस्तोऽहम्’ इति-  
वाक्यप्रयोक्तृत्वाच्चे’त्यादिलिङ्गद्वारा परकीयमज्ञानादिकमनुमातव्यम्, अनुमानप्रमा-  
णमन्तरेण तदज्ञानादीनां प्रतिपत्तुमशक्यत्वात् इति । एवं ‘अनुमानं न भवति’इ-  
त्येतावन्मात्रं वदता तेन किं तत्र साधनं नोपन्यस्यते ? अथवा केवलं तथा प्रतिज्ञा-  
यते ? किंवा साधनमुपन्यस्यते ? । प्रथमे ‘अनुमानं प्रमाणं न भवती’तिवदता  
लोकायतिकेनाऽशिरस्कवचनस्योपन्यासेन ‘मम माता वन्द्ये’तिवद् व्याघातापातः  
स्यात् । न द्वितीयः, प्रमापकं विनैकाकिनी प्रतिज्ञा प्रतिज्ञातं साधयितुं न समर्था  
भवतीति । तृतीये तु ‘अनुमाने प्रमाणत्वाऽभावसाधकं किमपि लिङ्गं प्रदर्शयता  
तेन स्वीकृतमनुमानम् । एवम् ‘परव्यक्तिगता विप्रतिपत्तिसंशयादयस्तु वचनेनाऽ-  
भिप्रायेणैव वा विज्ञेया’ इति ब्रूवता तेन वचनरूपकार्यलिङ्गकाऽनुमानमभ्युपेतम् ।  
एवमनुपलब्ध्या कञ्चिदर्थं प्रतिपेक्षयता तेनाऽनुपलब्धिलिङ्गकमनुमानमभ्युपेतम्,  
तस्मात्प्रत्यक्षकार्यत्वाद् बहुवादिसम्मतत्वात् अनुमानप्रमाणम् प्रत्यक्षानन्तरं  
लक्षणीयं भवति । सामान्यलक्षणं विना विशेषलक्षणस्य कर्तुमशक्यत्वात्, सामा-  
न्यलक्षणं तावल्लक्षयति । —‘तल्लिङ्गलिङ्गपूर्वकमिति, लिङ्गयति गमयति  
लीनमर्थमिति-लिङ्गम्, — व्याप्यं हेतुरिति यावत् । हेत्वाऽभासाऽनाश्रयं व्याप्ते-  
श्चाश्रयं भवति व्याप्यमिति । व्याप्तिर्नाम-साध्येन सह हेतोः सम्बन्धः, यश्च-  
सामानाधिकरण्यरूपः—अविनाभाव-इत्यादिशब्दैर्व्यवहृतो भवति । स च सोपा-  
धिको निरुपाधिकश्चेति द्विविधः, तत्र निरुपाधिक एव व्याप्तिरिति स एवाऽनुमा-  
नांगम्, न तु सोपाधिक इति । यथा स्वसमीपवर्तिनि स्वच्छवस्तुनि स्फटिके  
जपाकुसुमं स्वधर्मं लौहित्यं सङ्क्रामयति तत्र स्फटिके भासमानं लौहित्यम्  
औपाधिकं समारोपितञ्च भवति, जपाकुसुमे तु वास्तविकत्वेन स्वाभाविकमिति ।  
तथा धूमसाध्यकवह्निहेतुकस्थले धूमनिरूपिता व्याप्तिः—वास्तविकी नास्ति वह्नी,

किन्तुप्राधिकी—आर्द्रेन्धनसंयोगरूपोपाधिनिहिता विद्यते । आर्द्रेन्धनसंयोगे तु धूमनिरूपिता व्याप्तिः स्वाभाविकी भवतीति, अतः स्वभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिरिति । सा च साध्याऽभाववदवृत्तित्वरूपा, व्यापकसामानाधिकरण्यरूपा, साध्याभावव्यापकीभूताऽभावप्रतियोगित्वरूपा चेति, 'लिङ्गीति'—लिङ्गं व्याप्यत्वेनाऽस्यास्तीति लिङ्गि—व्यापकं साध्यमिति यावत् । तच्च हेतुवृत्तिव्याप्ति-निरूपकमिति । विषयवाचक'लिङ्गलिङ्गि'कथनेन तद्विषयिज्ञानमुपलक्षितं भवति, तथा च लिङ्गलिङ्गिज्ञानपूर्वकम् - व्याप्यव्यापकज्ञानपूर्वकमिति बोध्यम् । एकञ्च 'लिङ्गि' ग्रहणमावर्त्तनीयम्-तदर्थश्च-लिङ्गं धर्मित्वेनाऽस्याऽस्तीति-'लिङ्गि'-पक्षधर्मताज्ञानमित्यर्थः । तथा च 'व्याप्यव्यापकभावज्ञान-पक्षधर्मताज्ञानपूर्वक-मनुमानम्,—स एव परामर्शः—अनुमितौ जनकः, अनुमितिस्तु पर्वतो वह्निमानिति बुद्धिवृत्तिः, वह्निमनुमिनोमीति वा पोरुपेयो बोधः, तत्करणं परामर्शोऽनुमानम्, असाधारणं कारणं-करणम्, असाधारणत्वञ्च कार्यत्वाऽतिरिक्तविशेषधर्मावच्छिन्नकार्य-तानिरूपितकारणताशालित्वम् । कार्यं प्रति नियतत्वे सति पूर्ववृत्तित्वं-कारणत्वम् । प्रादुर्भावाऽवस्थायोगित्वं कार्यत्वम् । कारणं द्विविधम्-उपादानं निमित्तञ्चेति । यत्र तादात्म्येन कार्यं भवति तदुपादानकारणं यथा गन्धं प्रति पृथिवी, पृथ्वीं प्रति तन्मात्राणि, तानि प्रत्यहङ्कारः, तम् प्रति महत्तत्त्वम्, तत्प्रति च प्रकृतिरिति । 'उपादान-कारणभिन्नं कारणं निमित्तकारणं—यथा घटोद्भावेन सहकारी दण्डो निमित्तकारणमिति । न्यायमते समवाय्यसमवायिकारणे स्तः, न ते त्वेतन्मते, समवायाऽनङ्गीकारात् । घटरूपं प्रति कपालरूपादेशं कारणत्वाऽनङ्गीकारात्, घटात्मकपृथिव्या एव कारणत्वाङ्गीकारान्नाऽसमवायिकारणस्वीकारोऽपि । अनुमितिं प्रति व्याप्तिज्ञानं परामर्शश्च निमित्तकारणं भवति, व्याप्तिज्ञानपरामर्शयोर्बुद्धेर्वृत्त्यात्मकत्वात्, बुद्धेर्वृत्तीनां सर्वत्र निमित्तकारणत्वम्, स्वयं बुद्धिस्तुपादानकारणमिति विवेकः । तच्चाऽनुमानं केवाञ्चिन्मते द्विविधम्-स्वार्थं परार्थञ्चेति, तत्र स्वाऽनुमितिहेतुः स्वार्थानुमानम्—यथा स्वयमेव महानसादौ धूमदर्शनेन 'यत्र धूमस्तत्राग्नि'रितिव्याप्तिनिश्चयवान्-पर्वतसमीपं गतस्तत्र च पर्वतेऽत्रिच्छिन्नमूलां धूमरेखां पश्यन् पर्वतान्तर्वर्तिन्यग्नौ सन्दिहानः सन् 'यत्र धूमस्तत्राग्नि'रितिव्याप्तिं स्मरति, धूमे च पक्षधर्मतां गृह्णाति, तदनन्तरमग्निव्याप्यधूमवान्पर्वतइति परामर्शः स्वस्य भवति, तदनन्तरञ्च—'पर्वतोऽग्निमा'निति स्वस्याऽनुमितिरुत्पद्यते इति । सोऽयं परामर्शः स्वार्थानुमानम् । परार्थानुमानन्तु-स्वयं धूमेनाऽग्निमनुमाय व्यक्त्यन्तरं बोधयितुं व्यवयववाक्यं प्रयुङ्क्ते—यथा 'पर्वतो वह्निमान्' 'धूमवत्त्वात्', यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्' इति, तच्छ्रवणेन मध्यस्थस्य वाक्यजन्यसमूहालम्बनशाब्दबोधानन्तरं लिङ्गपरामर्शं सति अनुमितिरुत्पद्यते, तत्परार्थानुमितिहेतुः परामर्शः परार्था-



नुमानम् ॥ अवयवास्तु प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रय एव—‘पर्वतो वह्निमानिति—  
प्रतिज्ञा’ ‘धूमवत्त्वादिति-हेतुः’ ‘यो यो धूमवान्स स वह्निमान् यथा महानस-  
मित्युदाहरणम्, अथवा तु व्यवयववाक्यम्—उदाहरणोपनयनिगमनात्मकं ग्राह्यम्,  
तत्रोदाहरणान्तकम्, उपनयः—‘वह्निव्याप्यधूमवांश्चाऽयमिति वाक्यम् । निगमनम्—  
‘वह्निव्याप्यधूमवत्त्वात्पर्वतो वह्निमान्’ इति वाक्यं, । तादृशवाक्यत्रयेणैव वाऽनु-  
मितिसत्त्वाऽनुभवात् ॥

तन्त्रान्तरेषु लक्षितानुमानविशेषान् स्मारयति ‘त्रिविधमनुमानमाख्यातमिति  
पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोद्गृह्यतेति त्रिविधम् । तत्र ‘पूर्ववदित्यस्य—‘पूर्व-कारणं  
तद्वदिति व्याख्यया ‘कारणलिङ्गक’मित्यर्थः’ तथा च कारणेन कार्यं यत्राऽनुमीयते  
यथा—‘गगनं, भविष्यत्कालीनवृष्टिमत्—, गंभीरध्वानबलाकादिमन्मेघवत्त्वादि’ति  
अत्र कारणेन मेघेन कार्यस्य वृष्टेरनुमानम् । ‘शेषवदित्यस्य—‘शेषः—कार्यम्, तद्व-  
दिति व्याख्यया कार्यलिङ्गकमिति लभ्यते, तथा च यत्र कार्येण कारणमनुमीयते—  
यथा सरित्त्रोतसो मालिन्यं पूर्णत्वं शीघ्रत्वञ्चाऽवलोक्य ‘उपरिदेशसम्बन्धिनी  
नदी, वृष्टिमती,—वेगवन्मलिन-कचरादिवहनशीलप्रवाहत्वादि’ति । अत्र कार्येण प्रवा-  
हेण कारणस्य वृष्टेरनुमानमिति ॥ ‘सामान्यतोद्गृह्यते— कार्यकारणभिन्नलिङ्गकम्—  
यथा प्रगतिपूर्वकमन्यत्राऽवलोकितस्याऽन्यत्राऽवलोकनं सम्यग्विज्ञाय - अप्रत्यक्षा-  
ऽपि सूर्यगतिः कार्यकारणभावभिन्नेन दर्शनेनाऽनुमेया भवति,—‘देशान्तरप्राप्ति-  
मानादित्यः, गमनवान्, प्रातः प्राङ्मुखाऽवस्थितस्य व्यक्तेर्दर्शनविषयस्य तस्या-  
ऽधुना परावृत्त्य दर्शनविषयत्वादिति । अथवा ‘पूर्ववत्—पूर्व—अन्वयव्याप्तिस्तद्वत्—  
केवलान्वयीत्यर्थः, यथा ‘घटोऽभिधेयः—प्रमेयत्वात्, तत्राऽभिधेयत्व, प्रमेयत्वयो-  
र्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति यावत्पदार्थानां प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च । ‘शेषवदित्यस्य-  
शेषो व्यतिरेकव्याप्तिस्तद्वत्, केवलव्यतिरेकीत्यर्थः, यथा ‘आत्मा-अपरिणामी,—  
निर्धर्मकत्वात्, अत्र-यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति यथा-प्रकृतरिति व्यतिरेकव्या-  
प्तिमत्त्वात् केवलव्यतिरेकीति । ‘सामान्यतोद्गृह्यते—अन्वयव्यतिरेकि, अन्वयेन  
व्यतिरेकेण व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि, यथा ‘पर्वतो वह्निमान् धूमात्, अत्र यत्र  
धूमस्तत्र वह्निरित्यन्वयव्याप्तिः, यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा  
जलहृदे—इति व्यतिरेकव्याप्तिः, तदुभयवत्त्वादन्वयव्यतिरेकीति ।

केचित्तु-वीतमवीतञ्चेति द्विविधमनुमानविशेषं त्रिवेचयन्ति, यथाहि ‘वीतम्—  
अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम्—अन्वयव्याप्तिकमित्यर्थः । तच्च पुनर्द्वेधा-  
द्वृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्, अद्वृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयञ्चेति । तत्र प्रथमन्तु  
‘द्वृष्टं—सहचाराज्ञानदशायां प्रत्यक्षीकृतं स्वलक्षणं—स्वरूपं यस्य विषयस्य बहुधादे-  
रिति, धूमेन बहुयनुमानमित्यर्थः, तदेव पूर्ववदिति । द्वितीयन्तु—अद्वृष्टं—पूर्वं न

प्रत्यक्षीकृतं स्वलक्षणं-स्वरूपं यस्य विषयस्य तत्, यथा 'पृथिव्यादिवृत्तिगन्धादयः—, सूक्ष्मकारणोद्भूताः, सत्त्वे सति प्रत्यक्षविषयत्वा'दित्यनेन सूक्ष्मतन्मात्राणामपि सिद्धिर्भवतीति, सामान्यतोद्भूतमपि तदेव । 'अवीतं—व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकं—व्यतिरेकव्याप्तिकमित्यर्थः, यथा 'पटः, तन्तुभ्यो न भिद्यते, तन्तुधर्मत्वात्, यद् यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति यथा घटत्वं पटस्येति, तदिदं शेषवदपि भवति । तच्चानुमानं सद्बोधेतुकं सद् अनुमितिं जनयति न त्वसद्बोधेतुकम् । ते चाऽद्बोधेतवः पञ्चविधा भवन्ति, पञ्चविधदोषविशिष्टत्वात्, दोषाश्च-व्यभिचार-विरोध-सत्प्रतिपक्षा-ऽसिद्धि-बाधाः पञ्च । तत्र व्यभिचारस्त्रिविधः-साधारणाऽसाधारणाऽनुपसंहारिभेदात्, तत्र च 'साध्याऽभाववद्वृत्तित्वं' साधारणो दोषः यथा-पर्वतो धूमवान्त्रहेरित्यत्र धूमाऽभाववति तसाऽयोगोलके वन्हिसत्त्वम्, तज्ज्ञानेन 'साध्याऽभाववद्वृत्तिर्हेतुरिति परामर्शप्रतिबन्धः क्रियते । असाधारणः-साध्याऽसामानाधिकरण्यं हेतौ, यथा-‘गगनं,—स्पर्शवत्,—शब्दादि’त्यत्र ‘स्पर्शाऽसमानाधिकरणः शब्द इति, तज्ज्ञानेन 'साध्यसमानाधिकरणहेतु'विषयकपरामर्शप्रतिबन्धः क्रियते । अथवा सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिसाधारणः, यथा 'शब्दः,—नित्यः,—शब्दत्वादि'त्यत्र शब्दत्वं सर्वनित्येभ्यः सर्वाऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्तीति, तथा चाऽन्वयव्यतिरेकव्याप्तिशून्यत्वे सति पक्षमात्रवृत्तित्वमसाधारणत्वमिति, तज्ज्ञानेन चाऽन्वयव्याप्तिज्ञानस्य व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्य च प्रतिबन्धः क्रियते । निश्चितसाध्यवान्सपक्षः । निश्चितसाध्याऽभाववान्विपक्षः । सन्दिग्धसाध्यवान् सिषाधयिपादिरह-विशिष्टसिद्धयभाववान् वा पक्ष इति । अनुपसंहारी—अत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगि-साध्यकादिः, यथा-घटोऽभिधेयः, गन्धादित्यत्र—अभिधेयत्वाऽभावाऽप्रसिद्ध्याऽभिधेयत्वाऽभावव्यापकीभूताऽभावप्रतियोगिगन्धवान्सपक्ष'इति व्यतिरेकपरामर्शज्ञान-प्रतिबन्धो भवति । 'विरोधः—साध्याऽभावव्याप्तो हेतुरिति,—यथा 'पृथिवी,—गन्धवती,—जलत्वादि'त्यत्र गन्धाऽभावस्य व्याप्तिर्जलत्वं भवतीति, तथा च पक्ष-विशेष्यकसाध्याऽभावव्याप्यहेतुप्रकारकज्ञानेन पक्षविशेष्यकसाध्यव्याप्यहेतुप्रकार-कपरामर्शप्रतिबन्धः क्रियते । सत्प्रतिपक्षः—साध्याऽभावव्याप्यवान्पक्षः, यथा पर्वतो वह्निमान् धूमात्, वह्नयभाववान्त्रा पाषाणमयत्वादि'ति, अत्र साध्याऽभाव-व्याप्यवत्ताज्ञानात्साध्यवानित्यनुमितिः प्रतिबध्यते । 'असिद्धिस्त्वनेकधा—यथा—आश्रयाऽसिद्धिः—पक्षे पक्षतावच्छेदकस्याऽभावः, 'काञ्चनमयपर्वतो,—वह्निमान्-धूमादि'त्यत्र 'काञ्चनमयत्वाऽभाववान्पर्वत'इति, तज्ज्ञानेन वह्निव्याप्यधूमवान् काञ्चनमयपर्वतइति परामर्शः प्रतिबध्यते । एवम्—साध्ये साध्यतावच्छेदकस्याऽभावः—साध्याऽसिद्धिः, यथा पर्वतः—काञ्चनमयवह्निमान्-धूमादित्यत्र काञ्चनमय-त्वाऽभाववान् वह्निरिति ज्ञानात् काञ्चनमयवह्निव्याप्यधूमवान्पर्वत इति परामर्श-



प्रतिबन्धो भवति । हेतौ हेतुतावच्छेदकाऽभावो हेत्वसिद्धिः-यथा पर्वतो-वह्निमान्-काञ्चनमयधूमादिति, अत्र काञ्चनमयत्वाऽभाववान्धूम इति ज्ञानात्-वह्निव्याप्यकाञ्चनमयधूमवान्पर्वत-इति परामर्शप्रतिबन्धो भवति । 'स्वरूपाऽसिद्धिः-पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्याऽभावः-यथा शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्, इति, अत्र चाक्षुषत्वाऽभाववान्-शब्द इति ज्ञानाद् गुणत्वव्याप्यचाक्षुषत्ववान्-शब्द इति परामर्शप्रतिबन्धो भवति । एवम्--'सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वाऽसिद्धः, साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वं उपाधिः, साध्याऽधिकरणवृत्त्यत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्, साधनवद्वृत्त्यभावप्रतियोगित्वं साधनाऽव्यापकत्वम् । पर्वतो धूमवान्बहेरित्यत्र धूमस्य व्यापक आर्द्रेन्धनसंयोगः, वह्नेश्चाऽव्यापकः-अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाऽभावात्, इत्येवमार्द्रेन्धनसंयोगरूपोपाधिमत्त्वाद्बहिर्हेतुर्व्याप्यत्वाऽसिद्ध इति । पक्षे साध्याभावो बाधः-यथा 'बहिरनुष्णः-तेजस्त्वादि'ति, अत्र प्रत्यक्षेण बह्नुष्णत्वगृहणेन 'बहिरनुष्ण'इत्यनुमितिप्रतिबन्धः फलम् । तेषां पञ्चदोषाणां लक्षणन्तु 'अनुमिति-तत्करणाऽन्यतरविरोधियथार्थज्ञानविषयत्वं दोषत्वमिति । स्वविषयकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकवत्त्वसम्बन्धेन दोषवत्त्वं हेतुषु, ते च हेतवो दुष्टा इति । पक्षधर्मत्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षाऽसत्त्वाऽसत्प्रतिपक्षितत्वाऽबाधितविषयत्वानि पञ्चरूपाणि, तैर्युक्तं लिङ्गम्-अन्वयव्यतिरेकि सद्धेतुरिति, विपक्षाऽसत्त्वं विहाय चतुर्भिर्धर्मैर्युतं लिङ्गं केवलान्वयि सद्धेतुरिति । सपक्षसत्त्वं विहाय चतुर्भिर्धर्मैर्युतं लिङ्गं केवलव्यतिरेकि सद्धेतुरिति । यच्च यत्किञ्चिद्रूपद्वयं विहाय-रूपत्रयोपेतं लिङ्गं तदसद्धेतुरिति विवेकः । रूपत्रययुक्तत्वेन हेतुवदाभासमानत्वाद्बुधत्वाभासा दोषाः । अद्रष्टमनुमानं चाऽनुमितिजनकमिति, । तत्र सामान्यतोद्गृह्यात्प्रकृतिपुरुषयोः सिद्धिः, तत्र प्रकृतिसाधकं यथा- 'महत्तत्त्वं सुखदुःखमोहधर्मकद्रव्योपादानकम्, कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहधर्मकत्वात्, सुवर्णादिजन्यकुण्डलादिवत् । पुरुषे तु-यद्यप्यनुमानाऽपेक्षा नास्ति, सर्ववादितन्त्रसिद्धत्वात्पुरुषस्य, तथापि प्रकृत्यादिविवेके सामान्यतोद्गृह्यमेवाऽपेक्ष्यते-यथा 'प्रधानं-परार्थं, संहत्यकारित्वात्, गृहादिवत् । गृहादिषु देहाद्यर्थकत्वं प्रत्यक्षसिद्धम्, तथा प्रकृतिमपि ज्ञात्वा तद्विजातीयः पुरुषः प्रधानादिभिन्नोऽनुमीयते । एवं प्रत्यक्षाऽविषयाणां तत्त्वानामहङ्कारादीनामपि सामान्यतोद्गृह्यानुमानेन सिद्धिर्बोध्यते ॥

सविस्तरमुपपादितमनुमानम् । इदानीं शब्दप्रमाणं निरूपणीयम् । अगृहीतशक्तिकेन शब्देन शब्दबोधो न भवतीति गृहीतशक्तिकशब्द एव शब्दबोधजनकः । तत्र शक्तिग्रहश्चानुमानाधीन इति, तथाहि केनचित्प्रयोक्त्रा 'घटमानये'त्यभिहिते सति तदाकर्ण्यान्यप्रयोज्यवृद्धो घटाऽनयनाय प्रवर्तते, प्रवर्तमानञ्च तमव-लोक्य बालः- 'प्रयोज्यवृद्धस्य चेष्टा, घटाऽनयनप्रवृत्तिजन्या, चेष्टात्वात्, मदीय-

चेष्टावदि'त्यनुमानेन चेष्टोत्पादिकां घटाऽऽनयनविपरिणीं प्रवृत्तिमनुमाय- 'इयं प्रवृत्तिः, घटाऽनयनधर्मिककार्यताज्ञानजन्या, तथाविधप्रवृत्तित्वात्, मदीयप्रवृत्तिवदि'त्यनुमानेन च प्रवृत्तिकारणीभूतं घटाऽऽनयनकर्तव्यताज्ञानमनुमिमीते । तदनन्तरञ्च घटाऽऽनयनकार्यताज्ञानं, प्रयोजकवृद्धोच्चरितशब्दश्रवणजन्यम्, तादृशश्रवणाऽन्वयव्यतिरेकवत्त्वात्, यथा दण्डान्वयव्यतिरेकाऽनुविधायी घटः, इत्यनेन प्रयोज्यवृद्धज्ञानं शब्दश्रवणजन्यमिति निश्चित्य शब्दस्याऽर्थेन सह कश्चित्सम्बन्धविशेषो भवतीत्यवधारयति । येन सम्बन्धेन घटपदाद् घटरूपाऽर्थस्य बोधो भवति न तु पदादेरिति तत्तच्छब्दस्य तत्तदर्थे यः सम्बन्धः स एव शक्तिः, सा चेश्वरेच्छारूपैव । पदार्थान्तरं शाब्दबोधजनिका शक्तिरिति वा । तथा च तादृशशक्त्यात्मकसम्बन्धपूर्वक एव शाब्दबोधव्यवहार इति । तस्माच्छक्तिज्ञानं भवत्यनुमानाऽधीनं शाब्दबोधोपजीव्यमिति—उपजीव्याऽनुमाननिरूपणाऽनन्तरमुपजीवकस्य निरूपणस्याऽवश्यकत्वात्—शब्दं लक्षयति—'आसश्रुतिरासवचनन्तु' इति ।

आसवचनमिति-लक्ष्यनिर्देशः, लक्षणन्वासाश्रुतिरिति, वेदप्रतिपादिताश्चाऽर्थाः केनाऽपि प्रमाणेन न प्रामाण्योपलब्धिविषयाः, किन्तु स्वतःप्रमाणा इति । 'आस'—शब्दस्य युक्तो यथार्थ इत्यर्थः । तथा च—आसा चाऽसौ श्रुतिः,—आसश्रुतिः, श्रुतिर्नाम वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्, आप्तं—यथार्थम्—वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्—शब्दप्रमाणम्, तेन—वेदतन्मूलकश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिवाक्यजन्यं ज्ञानं युक्तमुपपद्यते । अथवा श्रुतिरित्यस्य श्रूयते सा श्रुतिः—श्रवणविषयीभूतः शब्द इत्यर्थः, आसा—यथार्था, तथा च 'यथार्थशब्दत्वं लक्षणमुपपन्नम्, तेन वेद-तन्मूलकवाक्यानां यथार्थशब्दत्वात्प्रमाणत्वम् । एवञ्च प्रमाणमात्रस्य परतःप्रामाण्याऽनभ्युपगमात्—वेदानां च स्वतः प्रामाण्याऽभ्युपगमात्—स्वर्गाऽपूर्वदेवताविषयो वैदिकोपदेशो निर्दोषतया युक्तो भवति । लौकिकश्च शब्दः प्रमाणान्तरमूलो युक्तः, मानान्तराऽभावे त्वनास—अयुक्त इति । अत्र च यदा शब्दस्य प्रमाणत्वं तदा शाब्दबोधात्मिकाया बुद्धिबृत्तेः प्रमात्वम्, यदि च शाब्दबोधात्मकवृत्तेः प्रमाणत्वं तदा वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य प्रमात्वमिति, तत्संग्रहाय श्रुतिपदं 'वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञान'मिति व्याख्यातं ॥ तथा च 'पदज्ञानं करणम्, पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः, वाक्यार्थसंसर्गविषयकबोधः फलमिति । पदपदार्थयोः सम्बन्धः—शक्तिलक्षणाऽन्यतररूपः । शक्तिश्च परमेश्वरेच्छा, पदार्थान्तरं वेत्युक्तम्, इच्छाया आकारस्तु 'इदं पदममुमर्थं बोधयतु—अथवा अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य' इति च । सा च शक्तिः—व्यक्त्यभिन्नजातौ तिष्ठति—यथा गोपदस्य गवाऽभिन्नगोत्वे—इति । शक्य-सम्बन्धो लक्षणा—सा चाऽनेकविधा भवति, यथा 'जहल्लक्षणा—'गङ्गायां घोष'इत्यत्र गङ्गापदे शक्यसम्बन्धितीरबोधजनिका । 'अजहल्लक्षणा—शक्यलक्ष्यो-



भयबोधजनिका यथा—‘छत्रिणो यान्ती’त्यत्र छत्रिपदस्यैकसार्थवाहित्वे लक्षणा । ‘जहदजहल्लक्षणा—शक्यतावच्छेदकपरित्यागेन व्यक्तिमात्रबोधिका, यथा—‘सोऽयं पुरुष’ इत्यत्र तत्कालावच्छिन्नत्वादिपरित्यागेन पुरुषमात्रबोधिका । ‘निरुद्धा लक्षणा—अनादितात्पर्यवती,—यथा शुक्लादिगुणविशिष्टबोधकस्य शुक्लादिपदस्य । ‘आधुनिकी लक्षणा—सादितात्पर्यमूला,—यथा नवीनकाव्यादौ, अथवा ‘वक्तुर्निर्ग्राहिका—यथा घटत्वेन बोधकस्य पटपदस्य । ‘गौणी द्विविधा,— यथा ‘इदमादिपदभिन्नविशेष्यवाचकपदसमानविभक्तिकपदनिरूपिता — ‘सिंहो माणवक’ इत्यत्र सिंहसादृश्यबोधिका, द्वितीया तु ‘इदमादिपदविशेष्यवाचकपदसमानविभक्तिकपदनिरूपिता—साध्यवसानिका—यथा‘सिंहोऽग्रमित्यत्र सिंहसदृशबोधिका, एतल्लक्षणाद्वयं ‘गौणी’-त्युच्यते । सादृश्यातिरिक्तसम्बन्धतः तादृशलक्षणाद्वयी शुद्धाऽप्युच्यते—यथा—‘आयुर्वै घृत’मित्यत्राऽऽयुर्जनकबोधिका । काचिल्लक्षणा उपादानान्मा—यथा‘कुन्ताः प्रविशन्ती’त्यत्र कुन्तधरबोधिका । तात्पर्याऽनुपपत्तिरन्वयाऽनुपपत्तिश्च लक्षणाबीजं भवति ॥

पदं चतुर्विधम्—यौगिकं, रूढं, योगरूढम्, यौगिकरूढञ्चेति । तत्राऽवयवार्थबोधजनकं यौगिकं—यथा पात्रकादिपदम् । यत्राऽवयवशक्तिरिरेक्षया समुदायशक्त्यैव बोधो भवति तद् रूढम्—यथा गोमण्डपादिपदम् । यत्राऽवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद् योगरूढं यथा पङ्कजादिपदम्—अवयवशक्त्या पङ्कजनिककर्तृत्वरूपमर्थं बोधयति, समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयतीति । यत्र यौगिकाऽर्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद् यौगिकरूढम्—यथा—उद्भिदादिपदम्—तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिः, यागविशेषोऽपि च बुद्ध्यते । शाब्दबोधे तु—‘आसत्तिज्ञानमाकाङ्क्षाज्ञानं योग्यताज्ञानं तात्पर्यज्ञानञ्च कारणम् । अन्वयप्रतियोग्यनुयोगिपदयोरव्यवधानेनोपस्थितिरासत्तिः, तज्ज्ञानं कारणम्, तेन प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि ‘गामानये’-त्यादिवाक्यानि न प्रमाणं, आसत्त्यभावात् । यत्पदस्य यत्पदाऽभावप्रयुक्तमन्वयबोधाऽजनकत्वं तत्पदसमभिव्याहृततत्पदत्वम् आकाङ्क्षा, कारकपदस्य क्रियापदं विनाऽन्वयबोधकत्वाऽभावात् कारकपदसमभिव्याहृतक्रियापदत्वमाकाङ्क्षा तज्ज्ञानविरहाच्च ‘गौरश्चः पुरुषो हस्ती’तिवाक्यं न प्रमाणम् । एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो—योग्यता—तज्ज्ञानविरहाद् ‘वह्निना सिञ्चती’ति वाक्यं न प्रमाणम् । वाक्योच्चारयितुर्यादृशा-र्थबोधेच्छया वाक्योच्चारणं भवति—तादृशीच्छा तात्पर्यम्, तज्ज्ञानाऽभावाच्च ‘सैन्धवमानये’त्यत्र कचिदश्वस्य कचिल्लवणस्य वा बोधो न स्यात्—इत्यभिहितः शब्दप्रमाणग्रपञ्चः । कपिलमुनिनोच्चरितशब्दजन्यज्ञानस्यापि प्रमाणत्वम् आदिविदुषस्तस्य कल्पान्तराऽधीतश्रुतिसृतिस्मरणसम्भवात् । नास्तिकादीनान्वागमाऽऽभासाः पूर्वाऽपरविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वात् विच्छिन्नमूलत्वाच्च न प्रमाणमिति बोध्यम् ।

शब्दप्रमाणजन्यस्य शाब्दबोधस्याऽनुमितित्वेनैव निर्वाह इति वैशेषिका बौद्धा-  
श्च वदन्ति । 'गौरस्ती'—त्यादिवाक्यजन्यबोधस्य 'गौरस्तितावती'त्याकारकानुमि-  
तिरूपत्वम्,—यथाहि 'गौः,—अस्तितावती,—स्वधर्मिकाऽस्तित्वाऽन्वयबोधाऽद्भुतकूलाऽ-  
ऽकाङ्क्षाश्रयपदस्मारितत्वात्, घटवत् । अथवा 'गौः,—अस्तितावती, अस्तिपदसमभि-  
व्याहृत, 'गो'पदस्मारितत्वात्, चक्षुर्वत् । पदानामेकवाक्यताऽऽपन्नत्वरूपसमभिव्याह-  
तत्वनिश्रयं विनाऽन्वयबोधस्याऽनुत्पत्त्या पूर्वं तादृशनिश्चयस्याऽऽवश्यकत्वात्, आका-  
ङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वं पदार्थानां मिथः संसर्गवत्त्वव्याप्यं गृहीत्वा संसर्गवत्त्वम-  
नुमीयते इति । तत्र युक्तम्, यतः, गवादेः पदस्मारितत्वाऽभावसमयेऽपि 'गौरस्ति-  
तावती'तिबोधस्य दर्शनात्, प्रकृतहेतौ पक्षधर्मत्वाऽभावनिश्रयदशायां परामर्शानु-  
पादेन तदानीमुत्पन्नस्याऽन्वयबोधस्याऽनुमितित्वं दुर्घटमिति । पदजन्यपदार्थस्मृ-  
तिश्चाऽज्ञायमाना (स्वरूप)सत्येवाऽन्वयबुद्धौ कारणं भवति, तत्सत्त्वाच्च प्रकृते  
शाब्दबोध एवेति । शाब्दबोधस्य च लिङ्गजन्यत्वसाधनार्थं 'अयं बोधः, किञ्चिलिङ्ग-  
जन्यः, अनुमितित्वादि'त्यनुमानमपेक्षितम्, तथा चाऽत्र पक्षेऽनुमितित्वरूपहेतोरसि-  
द्धत्वात् तेन हेतुना 'गौरस्तितावती'तिशाब्दबोधे पदस्मारितत्वादिलिङ्गजन्यत्वस्य  
साधयितुमशक्यत्वात् । एवं—'अस्तित्वेन गामनुमिनोमी'ति नानुव्यवसायः, किन्त्व-  
स्तित्वेन गौः श्रुतो न त्वनुमित इत्यनुभवात् । 'गौरस्ती'ति वाक्यश्रवणाऽनन्तरं  
द्रागेव 'गौरस्तितावती'ति बोधस्य — अस्तित्वव्याप्यं स्वधर्मिकाऽस्तित्वाऽन्वयबो-  
धाऽनुकूलाऽऽकाङ्क्षाश्रयपदस्मारितत्वमिति व्याप्तिं विना परामर्शं विना च संभ-  
वात् । किञ्च—'गौः—अस्तितावान्,—अस्तिपदसमभिव्याहृतगोपदस्मारितत्वादि'त्यत्र  
पदैः स्वार्थस्मरणद्वारा शाब्दबोधो जन्यते—इति तदभिप्रायात् 'अस्तिपदसमभिव्या-  
हृतगोपदवत्त्व'स्यैव लिङ्गविधया कारणत्वमङ्गीकृत्यैवानुमानेऽन्तर्भावो व्यवस्थाप-  
नीयः, स च न संगच्छते, कुतः ? शब्दस्य गोरूपपक्षेऽवर्तमानत्वात्, यदि च शक्ति-  
रूपसम्बन्धेन शब्दस्तत्र वर्तते, तदपि न, वाक्यार्थस्याऽशक्यतया शक्तिसम्बन्धेन  
शब्दस्य वाक्यार्थवृत्तित्वाऽसंभवात् । किञ्च—लिङ्गं साध्येन सह सम्बद्धत्वेन ज्ञाय-  
मानं सत्—अनुमितिजनकं भवति, सम्बन्धज्ञानं व्याप्तिज्ञानम्, तदत्र वाक्यस्य  
वाक्यार्थस्य च न कश्चन सम्बन्धो विद्यते, पदार्थानामेव पदेन सह क्षातिरूपसम्बन्ध-  
स्वीकारात् । अगृहीतसम्बन्धेन वाक्येन चाऽर्थबोधजननात्, सम्बन्धज्ञानाऽनपेक्षमाणस्य  
हेतोरनुमापकत्वाऽदर्शनात् शब्दस्याऽनुमापकत्वं न सम्भवतीति । एवं 'गो'पदम्,  
अस्तित्ववद्गोगोचरज्ञानपूर्वकम्, अस्तिपदसाकाङ्क्षगोपदत्वात्, इति कणादमुनि-  
मतेनाऽनुमानम् । तदपि न । गवादिपदानां ज्ञानपूर्वकत्वाऽभावनिश्रयदशावामुत्प-  
न्नस्य गवादिमुख्यधर्मिकाऽस्तित्वाऽन्वयबोधस्य सार्वजनीनस्य तादृशलिङ्गादनि-  
ष्पत्तेः, वाक्यार्थस्य चाऽपूर्वत्वेन तद्गर्भसाध्यस्य प्रागनुपस्थित्या तदनुमानाऽसम्भ-



वात् । किञ्च नवीनसूरिरचितस्य वाक्यस्याननुभूतायां ऽवबोधकत्वात्, नाऽनुमात्वेन गतार्थता शाब्दबुद्धेरिति ।

एवम्—‘उपमानादीन्यपि प्रमाणान्तराणि प्रतिवादिभिरभ्युपेयन्ते, तानि त्रिषु प्रमाणेष्वेवाऽन्तर्भवन्ति । यथाहि ‘उपमानं प्रमाणं—गवयः क्रीदृशः ? इत्येवं नागरिकेण पृष्टो बनेचरः—‘गौरिव गवय’ इति वाक्यमुच्चारयति, तद्वाक्यञ्च प्रसिद्धगोसाधर्म्यात्—उपमेयगवयप्रत्यायकं—अत एवोपमानमिति, तन्न—, तादृशवाक्यजन्यधीरागम एवेति नोपमानान्तरं प्रमाणं तदर्थमास्थेयम् । अथवा—‘पदपदार्थयोः सम्बन्धः शक्तिः, तज्ज्ञानं ‘गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक’ इत्याकारकमुपमिति, तत्करणं ‘गोसदृशो गवयपदवाच्य’ इत्युपदेशवाक्यार्थस्मरणद्वारा तादृशवाक्यजन्यं ‘गोसदृशो-गवय’ इतिसादृश्यज्ञानं तदेवोपमानम् । तदध्युपमानमनुमानमेव—तथाहि ‘गवयशब्दः, गोसदृशपिण्डवाचकः, असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्, इत्यनुमानाऽऽत्मकमेवोपमानमिति, तज्ज्ञान्या ‘गवयशब्दो गवयवाचकः—गवयो गवयपदवाच्य’ इति वाऽनुमितिर्भवति । अथवा मीमांसकाः—‘गोसदृशो गवयपदवाच्य’ इति शब्दश्रवणाऽनन्तरं सादृश्यविशिष्टगवयदर्शनं गवि स्मरणमुत्पादयति, तेन गवयसादृश्यविशिष्टगोज्ञानमुपमितिरिति वर्णयन्ति । अत्र सादृश्यविशिष्टगवयदर्शनेन गोस्मरणं भवति यत् तत् स्मरणत्वाच्च प्रमाणं प्रमेयं वाऽस्तीति, केवलं सादृश्यविशिष्टगोस्वरूपं गोवृत्तिसादृश्यं वा प्रमेयं वक्तव्यम्, सादृश्यञ्च तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्, तच्च गोगवयोभयवृत्तिधर्मः—गवये प्रत्यक्षो भवति गव्यपि प्रत्यक्षीभूत एवेति नोपमानं प्रमाणान्तरम् ।

एवं—‘अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम्, जीवतश्चैत्रस्य गृहेऽभावदर्शनेनाऽदृष्टार्थस्य बहिर्भावस्य कल्पनं—अर्थापत्तिः, अर्थस्याऽऽपत्तिर्यस्मात्तदार्थापत्तिप्रमाणमिति मीमांसकमतम् । तन्न युक्तम् । जीवश्चैत्रो, बहिरस्ति,—विद्यमानत्वे सति गृहेऽसत्त्वात्, मद्भवत्, यो हि विद्यमानोऽपि गृहे नास्ति सः अन्यत्राऽस्ति यश्चाऽन्यत्र नास्ति स गृहेऽस्तीति व्याप्तिग्रहस्य सत्त्वात्, विद्यमानस्य गृहाऽभावदर्शनेन बहिःप्रदेशसत्त्वज्ञानमनुमानमेव । ननु विद्यमानत्वविशिष्टगृहाऽविद्यमानत्वहेतुश्चैत्रेऽसिद्धिः, विद्यमानत्वाऽविद्यमानत्वयोः परस्परं विरोधात्, एवमविद्यमानत्वविशिष्टे विद्यमान(जीवि)त्वस्याऽसम्भवेन आश्रयाऽसिद्धिः, अविद्यमानत्वविशिष्टस्य च सत्त्वस्यैवाऽभावेन तद्विशेषबहिःसत्त्वरूपसाध्याऽभावेन बाधश्चेति चेन्न, चैत्रस्य देशान्तरे विद्यमानत्वेन गृहाऽविद्यमानत्वं नाऽपह्नोतुं शक्यम्, तयोर्विरोधाऽभावाच्चाऽसिद्धो हेतुरिति । एवं गृहाऽविद्यमानत्वेन न देशान्तरविद्यमान(जीवि)त्वमपह्नोतुं शक्यमिति तयोर्विरोधाऽभावाच्चाऽश्रयाऽसिद्धिः, न वा गृहाऽविद्यमानत्वं बहिःसत्त्वविरुद्धं येन बाधोऽपि स्यात् । यच्च गृहाऽसत्त्वमित्यत्र गृहं—देशः, तथा च देशाऽ-

सत्त्वं सामान्यतः सत्त्वविरोधीति । तन्न । गृहपदेन न देशसामान्याऽऽक्षेपो भवति किन्तु गृहात्मकदेशस्यैव, तथा च गृहावच्छिन्नेन चैत्राऽभावेन गृहसत्त्वं विरुद्ध्यते न तु सत्त्वमात्रमिति । न च यत्र कचन सत्त्वस्य गृहाऽसत्त्वेन सह विरोध इति । एतेन—‘विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थयाऽविरोधापादनमर्थापत्तेर्विषयः’—तत्राऽसत्त्वं प्रत्यक्षप्रमाणस्य विषयः, सत्त्वञ्च ज्योतिःशास्त्रस्य विषयः, इत्येवं तुल्यबलवत्प्रमाणयोर्विरोधे समुपस्थिते प्रत्यक्षस्य गृहाऽसत्त्वविषयकत्वेन, ज्योतिषस्य बहिःसत्त्वविषयकत्वेन अविरोधाऽऽपादनमर्थापत्तेर्विषयः’ इति-खण्डितम्,—गृहानवच्छिन्नसत्त्व-गृहावच्छिन्नाऽसत्त्वयोर्विरोधाभावेन तद्वोधकप्रमाणयोरपि विरोधाऽप्रसक्त्या तत्प्रशमनार्थमर्थापत्तिरूपप्रमाणान्तरस्वीकारस्य व्यर्थत्वात् । एवं ‘पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते’ इत्यादिपि ‘देवदत्तः,—रात्रिभोजी, दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्, इत्यनुमानेनैव गतार्थत्वान्नाऽर्थाऽऽपत्तिः प्रमाणान्तरमिति ।

अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वमिति भाट्टवेदान्तिमतम्,—यथा भूतले घटाऽभावप्रत्यक्षे घटानुपलब्धिः कारणम्, तदेव प्रमाणम्, तन्न,—‘न हि साङ्ख्यैर्भूतलाद्यात्मकाऽधिकरणाऽतिरिक्तोऽभावो नाम कश्चित्पदार्थोऽभ्युपगम्यते, तथा च यत्राधिकरणे यस्याऽभावस्तस्याऽधिकरणस्य प्रत्यक्षेऽभावोऽपि प्रत्यक्ष एव, साङ्ख्यमते चेतनशक्तिमन्तरेण यावत्पदार्थानां परिणामित्वात्—भूतले घटसत्त्वेऽपि क्षणान्तरे घटस्य परिणामे सति घटाऽभावस्य भूतलात्मकस्य प्रत्यक्षविषयत्वयोग्यत्वात्, तदर्थं नाऽनुपलब्धिः प्रमाणान्तरमिति ॥ नन्वधिकरणस्वरूपो नाऽभावः, अनन्ताऽधिकरणस्वरूपकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तपदार्थस्य स्वीकारे लाघवादिति चेन्न, धर्मकल्पनापेक्षया धर्मिकल्पनाया लघीयस्त्वात्, तथा च धर्मस्याऽभावस्य भूतलादिधर्मिस्वरूपत्वमिति । नन्वेवं घटाऽभाववद्भूतलमिति प्रयोगो न स्यात् तेन घटाऽभाव एव भूतलमिति—ज्ञानाद् आधारऽऽधेयभावोऽपि न स्यादिति चेन्न, आधारतावच्छेदकाऽऽधेयतावच्छेदकयोर्भेदस्याऽऽधाराऽऽधेयभावनियामकत्वात्, भूतलत्व-घटविरहत्वेत्युभयधर्मभेदस्य सत्त्वेनाऽऽधाराधेयभावहानिर्नास्तीति । अथैकस्मिन्नपि ‘इह वने तिलकाः’ ‘घटाऽभावो घटाऽभाववान्’ इत्यादौ कथञ्चिदाधाराऽऽधेयभावस्वीकाराच्च । तेन न तत्र भेदोऽपि साधयितुं शक्यः । ननु तर्हि शब्दरसगन्धाद्यभावानामधिकरणात्मकतया तत्तदधिकरणस्य च शब्दादिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वाभावेन प्रत्यक्षमेव न स्यात् ‘यो गुणो येनेन्द्रियेण गृह्यते तदभावस्तद्गता जातिश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते’ इतिनियमादिति चेन्न, ‘भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया । स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके’—इति वचनानुसारेण सर्वपदार्थानां स्वरूपेण भावत्वं पररूपेण चाऽभावत्वमिति साङ्ख्यमते गुणगुण्यादीनामभेदात्, घटाऽभिन्नगन्धप्रतीतिः—घ्राणसापेक्षा, घटाऽभिन्नरसप्रतीतिः—रस-



नासापेक्षा, घटाऽभिन्नरूपप्रतीतिः—चक्षुःसापेक्षा, घटाऽभिन्नस्पर्शप्रतीतिः त्वक्-सापेक्षा । एवं वायौ रूपाऽभावस्य वाय्वभिन्नत्वेऽपि रूपाऽभावत्वेन धर्मेण रूपाऽभावप्रतीतिः चक्षुःसापेक्षा, जलाऽऽत्मकगन्धाभावस्याऽपि प्रतीतिर्गन्धाऽभाव-त्वेन रूपेण घ्राणसापेक्षा, वह्न्यात्मकरसाऽभावस्य प्रतीतिः रसाऽभावत्वेन धर्मेण रसनासापेक्षेति । अधिकरणत्वेन धर्मेण चाऽधिकरणप्रतीतिस्तु—अधिकरणग्राह-केन्द्रियसापेक्षेति, तत्तादिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वं नियमतः प्रतियोगिसापेक्ष-प्रतिपत्तिविषयकत्वाच्च सम्भवतीति नाऽप्रत्यक्षत्वाऽऽपत्तिरिति ।

सम्भवः—यथा ‘खार्या’ द्रोणाऽऽडकप्रस्थाद्यवगमः’ तत्र ‘खारी’कथनेन द्रोणादीनां संभवादेव खारीपदेन द्रोणादीनां बोधजनकं सम्भव-प्रमाणमिति । तन्न । ‘खारी-द्रोणादिघटिता, खारीत्वात्-इत्यनुमानेन द्रोणादिघटितत्वव्याप्य-खारीत्ववच्च’बोधात् ‘खारी द्रौणाद्यविनाभूतेति-अनुमितिर्भवति, तेन सम्भव-स्याऽनुमानेऽन्तर्भावइति ॥

ऐतिह्यम्—अनिर्दिष्टप्रवक्तृकम्प्रवादपारम्पर्यमात्रम् यथा—‘इह वटे यक्षस्तिष्ठतीति होचुर्वृद्धाः’ इतिवाक्यम्, तज्जन्यबोधस्योपपत्त्यर्थमेतिह्यं प्रमाणं केचिद्वदन्ति । तन्न युक्तम् । तादृशवाक्यस्य सांशयिकत्वेऽप्रमाणत्वम् । यदि चाऽऽप्तवाक्यं तदा शब्देऽन्तर्भाव इति ।

एवम्—चेष्टा-विलक्षणव्यङ्ग्यबोधजनिका, सापि न प्रमाणान्तरं, अनुमानेनैव गतार्थत्वात्, तथाहि—नेत्रभङ्गमिषेणाऽऽहूयमानां काञ्चिदवलोक्य दर्शकस्तावदनु-मिनोति ‘इयं-मामाह्वयन्ती, ममाऽऽह्वानानुकूलचेष्टावत्त्वात्, ‘अनयाऽहम्—आकाङ्क्षमाणः, नेत्रचेष्टयाऽऽह्वानात्, इति तज्जन्यबोधोऽनुमितिरेवेति । सर्वेषाम् प्रमाणानां प्रमाणत्रयान्यतमाऽन्तर्भूतत्वात् ‘त्रिविधं प्रमाणमिष्ट’मित्युपपन्नम् ॥५॥

एवं हि शब्दप्रमेयसिद्धयर्थं लक्षितानि प्रमाणानि, तेषु च प्रमेयेषु यस्य यत्प्रमाणग्राह्यत्वं तद्वर्शयति—

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।

तस्मादपि चाऽसिद्धम् परोक्षमात्रागमात्सिद्धम् ॥ ६ ॥

सामान्यतस्तु=सर्वसाधारणतया तु, पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशानां स्थूलभूतानां तद्गतानां गुणानां शब्दस्पर्शादीनां क्रियाणां सामान्यानां पञ्चभूतविकाराणां घटादितुषारादिसुवर्णादिप्राणादीनाञ्च प्रतीतिः—सिद्धिः—चिच्छायाऽऽपत्तिर्बुद्धे-रध्यवसायः ‘दृष्टात् प्रत्यक्षप्रमाणाद् एव भवति । क्वचित् प्रत्यक्षेणाऽग्राह्याणां पदार्थानामनुमानेन प्रतीतिर्भवति, यथा पूर्ववत्ताऽनुमानेन धूमादिलिङ्गदर्शनेन पर्वतनिर्गुज्जगतवह्निज्ञानं भवति, । अन्वयव्याप्तिर्हि प्रायशः प्रत्यक्षीभूतलिङ्गाऽ-

धीना, यथा-गर्जनाशब्देन मेघानुमितिः, वृणसमूहे विद्युत्पातेन वह्नयनुमितिः, अग्राणां समूहेन भाविवृष्यनुमितिः, चन्द्रसूर्यादिदर्शनेन स्वर्गलोकाऽनुमितिः, दिवसे तारागणदर्शनेन-विकृतपुरुषदर्शनेन वा भाविस्वमरणाऽनुमितिः, प्रवासाथं प्रस्थानसमये भुजङ्गमार्जारादिभिः कृतमार्गक्रमविलङ्घनेन भाविदुःखादीनामनुमितिः, तथाऽन्यत्राऽपि निदर्शनम् बोध्यम् । शेषवताऽनुमानेन-यत्र कार्येण कारणाऽनुमितिः, व्यतिरेकव्याप्त्या वाऽनुमितिः, यथा-गन्धेन पृथिव्यामितरभेदानुमितिः । पृथिव्यादिस्थूलभूतैश्च कार्यैः स्वकारणानां तन्मात्राणामनुमानं-यथाहि 'अपकर्षकाष्टाप-  
 न्नाभि स्थूलभूतानि, स्वस्वविशेषगुणवद्द्रव्यकारणकानि, स्थूलभूतत्वात्, घटादिवत् । स्थूलत्वञ्चाऽत्र-‘लौकिकसन्निकर्षप्रयोज्या या बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षीयविषयता तादृशविषयतावच्छेदकधर्मवद्विशेषगुणवत्त्वम्’ अथवा ‘शान्तघोरमूढान्यतमविशेष-  
 वत्त्वम्-स्थूलत्वम्, तादृशानि भूतान्येव, न तन्मात्राणि तथा । शान्तादिविशेषर-  
 हितानां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां स्वरूपभूतानि तन्मात्राणि सूक्ष्मद्रव्याणि स्थूल-  
 भूतगतशब्दादिविशेषैः छान्यत्वात् अविशेषादिति । एवं दर्शनस्पर्शनवचनादिभि-  
 लिङ्गैरिन्द्रियानुमानान्यपि बोध्यानि-यथा ‘रूपादिप्रत्यक्षं,-सकरणकम्, प्रत्यक्ष-  
 त्वे सति कार्यत्वादि’त्यनेन सामान्यतः सकरणकत्वसिद्धौ, ‘रूपप्रत्यक्षम्, चक्षु-  
 र्जन्यम्, चक्षुर्भिन्नेन्द्रियाऽग्राह्यचक्षुर्ग्राह्यविषयकत्वादिति चक्षुरेव तत्करणम् । एवं  
 ‘रसप्रत्यक्षं,-रसनाकरणजन्यं,-रसनामात्रग्राह्यविषयकत्वात् । ‘गन्धप्रत्यक्षं,-  
 घ्राणजन्यम्,-घ्राणमात्रग्राह्यविषयकत्वात् । स्पर्शप्रत्यक्षं,-त्वगिन्द्रियजन्यं,-त्वङ्मा-  
 त्रग्राह्यविषयकत्वात् । शब्दप्रत्यक्षं,-श्रोत्रजन्यं,-श्रोत्रमात्रग्राह्यविषयक-  
 त्वात्,-इत्येवं ज्ञानेन्द्रियाणां सिद्धयर्थमनुमानप्रपञ्चः । ‘हस्तादिकर्मेन्द्रिया-  
 णामपि ‘वचनाऽऽदानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्दात्मका व्यापाराः-सकरणकाः-  
 कार्यत्वे सति व्यापारत्वात्,-इत्यनेन करणत्वसामान्यं प्रसाध्य ‘वचनं-वागि-  
 न्द्रियजन्यं, वाङ्मात्रव्यापारत्वात् । ‘आदानं-हस्तजन्यं, हस्तमात्रव्यापार-  
 त्वात् । ‘विहरणं,- पादजन्यं,-पादमात्रव्यापारत्वात् । ‘उत्सर्गः,-पायुज-  
 न्यः,-पायुमात्रव्यापारत्वात् । ‘आनन्दो,-लिङ्गजन्यः-लिङ्गमात्रव्यापारत्वात् ।  
 ‘सङ्कल्पो,- मनोजन्यः,-मनोमात्रव्यापारत्वात् । ‘दशेन्द्रियाणि,- मनोऽधिष्ठिता-  
 न्येव विषयग्राहकाणि,- करणत्वात्-कुठारवत्’-इत्यनेन मनसः सिद्धिरिति ।  
 इत्येवं तत्तदिन्द्रियाणां सत्त्वसिद्धिरिति व्यवस्थाप्यते । न चाऽप्रयोजकान्येतानि,  
 ‘कारणगुणक्रमेण कार्योत्पत्तेः-रूपरसादिविशिष्टस्थूलपृथिव्यादिकं यदि रूपरसादि-  
 सूक्ष्मकारणजन्यं न स्यात् तदा रूपरसादिमदेव न स्यात्, इत्यनुकूलतर्कसत्त्वात्,  
 एवम्-‘रूपादिज्ञानानि यदीन्द्रियात्मककरणकानि न स्युस्तदा प्रत्यक्षाण्येव न  
 स्यु’ रिति-अनुकूलतर्कसत्त्वात् । ‘इन्द्रियाणि यदि मनसाऽधिष्ठितानि न स्युस्तदा



विषयग्राहकाण्येव न स्युः, पुरुषाऽनधिष्ठितकुठारवदिति तर्कसत्त्वाच्च । नैतैष्यनु-  
मानेषु बाधकमुपलभ्यते किञ्चित् । प्रकृतेस्तु न शब्दस्पर्शादिमत्त्वं यथा 'शब्द-  
स्पर्शविहीनं तद्गुणादिभिरसंयुतम् । त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाऽप्ययमि-  
तिविष्णुपुराणे, । ननु बाह्येन्द्रियग्राह्यजातीयविशेषगुणवत्त्वरूपभूतत्वलक्षणस्य  
यत्र शब्दादिगुणवत्त्वं स्यात् तत्र गमनात्तेषामपि भूतत्वं स्यात्—एवञ्च कार्यस्य  
कारणगुणात्मकत्वेन प्रकृतिपर्यन्तानां कारणानामपि कार्यवृत्तिगुणोत्पादकगुणवत्त्व-  
कल्पनेन स्थूलशब्दादिमत्त्वं प्रकृतावप्युपपन्नं स्यात्, तथा च प्रकृते भूतत्वाऽऽपत्तिः,  
बुद्ध्यहंकारयोरपि शब्दादिमत्त्वेन भूतत्वापत्तिः, एवं शब्दस्पर्शादितन्मात्राणामपी-  
ति चेन्न । नहि यावतां कार्याणां कारणगुणपूर्वकत्वेन कार्यवृत्तिगुणोत्पादकगुणवत्त्वं  
साक्षात्कारणस्य परम्परया कारणस्य च संभवति, अग्निजन्यरक्तरूपवद्द्रव्यस्य पूर्वा-  
वस्थायां कृष्णरूपवत्त्वदर्शनेन साक्षात्कारणेऽपि तादृशनियमस्य व्यभिचारात् ।  
एवं पञ्चतादशार्था निम्बफलं मधुररसयुतं यदा, तद्वरसस्य कारणं पूर्वावस्थापन्नं  
तदेव कटुफलं, तत्कारणीभूतायाः शाखायाः कारणं स्तम्बस्तत्राऽपि कटुरसदर्शनेन  
परम्परया कारणेऽपि व्यभिचारात् । तेन साङ्ख्यमते यावतां प्रकृत्यादिपदार्थानां  
कार्यकारणभावाऽपन्नानां स्वस्वकारणाऽऽत्मकत्वेऽपि समानगुणवत्त्वाऽऽपत्तिर्न  
भवति । यथाहि शान्तघोरमूढजडत्वरजस्तमःसत्त्वादिसामान्यगुणवत्त्वं भवति या-  
वत्कार्याणां समानम्, न तु तत्तत्त्वस्थनियतगुणवत्त्वं समानम्, तत्तत्त्वस्थनियत-  
गुणास्तु तत्तत्त्वेष्वेव, यथा स्थूलशब्दादिकं स्थूलभूतेष्वेव, सूक्ष्मशब्दादिकं तन्मात्रे-  
ष्वेव, तेषां तत्र स्वाभाविकत्वात्, न तु तेऽहंकारादिषु, अनवस्थापातात्, एवमहङ्कारस्य  
विशेषगुणाऽभिमानं न बुद्धावस्ति । तथैव स्थूलशब्दादयो गुणाः स्थूलभूतेष्वेव न तु  
तन्मात्रादिषु, तस्मान्नास्ति तेषां तथा भूतत्वापत्तिरिति । एवम्-बाह्यान्तरेन्द्रियैः  
पञ्चतन्मात्रैश्च कार्यैर्लिङ्गैस्तत्कारणतयाऽहङ्कारस्य सिद्धिः, प्रत्यक्षलिङ्गेन यत्र नाऽनुमि-  
तिरुपलभ्यते तत्र प्रत्यक्षलिङ्गैः साधितानां पदार्थानां हेतुत्वमुपपाद्य सामान्यतोद्बुद्धि-  
ऽनुमानेन सिद्धिः कर्तव्या, यथा--'तन्मात्रेन्द्रियाणि, अभिमानवद्द्रव्योपादानकानि,  
अभिमानकार्यत्वे सति द्रव्यत्वात्, यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति यथा पुरुषे,  
अहङ्कारश्चाऽभिमानवृत्तिकमन्तःकरणद्रव्यम्, 'अहं गौर' इत्यादिवृत्त्युपादानतया-  
ऽभिमानवत्त्वं तस्य । सुषुप्त्यादावभिमानवृत्तिनाशेऽपि 'अहङ्काराख्यद्रव्यसत्तास्वी-  
कारात् । 'बहु स्यां प्रजायेये'त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च यावद्भूतादिसृष्टेरभिमानपूर्वक-  
त्वाद् बुद्धिवृत्तिपूर्वकसृष्टौ कारणतयाभिमानवृत्तिमदहङ्कारः सिद्धः । घटादिसृष्टौ  
हि—हिरण्यगर्भाऽहङ्कार एव कारणम्, अस्मदादीनामहङ्कारस्तु—अस्मदभिमानवृ-  
त्तावुपादानकारणम् । अस्मन्निर्मितघटपटादौ तु निमित्तकारणमिति । चतुर्दशभुव-  
नान्यावृत्त्य-अष्टावरणानि संस्थितानि पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशाऽहंकारमहत्त्वप्र-

कृतिसमाख्यानि, तदन्तर्गतोऽहंकारोऽत्र सृष्टिकारणीभूतोऽनुमितइति । तेनाऽहङ्कारेण कार्येण तत्कारणतया मुख्यान्तःकरणस्य महत्तत्त्वस्य बुद्धयभिधानकस्य सामान्यतो-  
 दृष्टाऽनुमानेन सिद्धिः—यथा ‘अहङ्कारद्रव्यम्, निश्चयवृत्तिमद्द्रव्योपादानकम्,—  
 निश्चयकार्यत्वे सति द्रव्यत्वात्,—यत्र साध्याऽभावस्तत्र हेत्वभावो यथा पुरूपे ।  
 तथा च सर्वजीवजातं प्रथमतः पदार्थं स्वरूपतो निश्चित्य तदनन्तरमभिमन्यते—  
 ‘अयमहं ममेदं कर्तव्यमिति, । तथैव हिरण्यगर्भस्यापि । अत एव तस्याऽन्तः-  
 करणं महत्तत्त्वं तादृशाष्टाऽऽवरणाऽन्तर्गतं सृष्टिकारणमिति । तथा चेदमन्तःकर-  
 णं वृत्तिभेदेन सामान्यतस्तावत्त्रिविधमुक्तं लिङ्गपुराणे—‘गुणक्षोभे जायमाने महा-  
 न्पादुर्बभूव ह । मनो महान्श्च विज्ञेयः एकं तद्बृत्तिभेदतः’ इति । तत्-महत्तत्त्वाऽ-  
 हङ्कारमनोरूपं त्रिधा वृत्तिभेदाद्भवति, कस्यचिदभिमतस्य चित्तस्य चतुर्थान्तः-  
 करणस्य तु साहचर्यमते बुद्धावेवाऽन्तर्भाव इति । महत्तत्त्वात्मककार्यात् तत्कारणतया  
 प्रकृतेः सामान्यतोदृष्टानुमानेन सिद्धिः—यथा ‘सुखदुःखमोहधर्मिणी बुद्धिः—  
 सुखदुःखमोहधर्मिकद्रव्यजन्या; कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहात्मकत्वात्,—अस्मदा-  
 दिबुद्धिवत् । नचाऽप्रयोजकमिदम्—‘बुद्धिकारणं यदि सुखदुःखमोहात्मकं न स्यात्  
 तदा बुद्धिरपि सुखदुःखमोहादिरहिता स्यात्, न च तथाऽनुभूयते तस्मात्सुखदुःख-  
 मोहात्मकत्वं’ मित्यनुकूलतर्कसत्त्वात् । प्रकृतेः सुखदुःखमोहात्मकत्वेन तज्जन्या-  
 यावन्तः पदार्थाः स्थूलसूक्ष्माः साक्षात्परम्परया वा सुखदुःखमोहविशिष्टास्तस्मात्प्र-  
 कृतिस्तादृशी सिद्धा । न चैवं ‘प्रकृतिः—सुखदुःखमोहात्मककारणजन्या,—सुखा-  
 दिभोगमायात्वात्, इत्यनुमानेन तत्कारणमपि सिद्धयेदिति वाच्यम् । अनवस्थाभयेन  
 तत्रैव विश्रामस्वीकारात् । शब्दप्रमाणेन च प्रकृतेर्नित्यत्वाऽवगमात् तस्याः  
 कारणाऽनङ्गीकारात् । यथा “अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां  
 सरूपाः” “गौरनाद्यन्तवती सा जनयित्री भूतभाविनी सिताऽसिता च रक्ता  
 चे”त्यथर्वणःश्रुतिः । तथैव सामान्यतोदृष्टानुमानेन पुरुषसिद्धिः भोग्यस्य संह-  
 तस्य प्रकृत्यादेः परार्थत्वात्, ‘विवादास्पदं भोग्यं प्रकृत्यादिकम्, स्वेतरभोक्त्र-  
 र्थभोगाऽपवर्गफलकम्, संहतत्वात्, शय्यासनादिवत्, इतिप्रकृतेर्भोक्ता परोऽसंहतः  
 पुरुषः सिद्धयति । न चेदमप्रयोजकम्, सुखादिमत्प्रधानादिकं यदि स्वस्मै सुखा-  
 दिभोगसम्पादकं स्यात्तदा तस्य साक्षात्त्वस्मिन्कर्मकर्तृविरोधः स्यात्, नहि धर्मि-  
 भानं विना सुखादिधर्मभानं भवति, ‘अहं सुखी’ ‘अहं दुःखी’त्यनुभवविरोधात् ।  
 एवं सुखदुःखादिभोग्यस्य भोक्तृत्वाऽसंभवेन तस्य भोक्ता परोऽलाघवात् चिद्गुरुपः  
 पुरुषः कल्प्यते, श्रुतिश्च—‘न वाऽरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु  
 कामाय सर्वं प्रियं भवतीति’ सर्वं प्रकृत्यादिकं न प्रकृत्यादिप्रयोजनाय प्रियं  
 भवति किन्वात्मनः पुरुषस्य कामाय प्रयोजनाय प्रियं भोग्यं भवतीति ।



तत्र सृष्टयारम्भकमे 'प्रकृतेर्महान्ततोऽहंकार' इत्यादिकं शब्दप्रमाणम्, स्वर्गादौ च "ब्राह्मस्मिभूमिको लोकः प्राजापत्यततो महान् । माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः" इत्यादिकं प्रमाणम्, ईश्वरेषु—“सहस्रशीर्षा पुरुषः” । “हिरण्यगर्भः समवर्तताम्रे” “देहत्रये विराडादौ व्याप्योत्पत्तिस्थितिक्षयान् । करोति जगतां यस्तु सर्वज्ञो ज्ञेय ईश्वरः” ( सत्संगिजीवनम् ) इत्यादिकं प्रमाणम् ब्रह्मलोकेषु-परब्रह्मणि च—“यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः” । “यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम” ( गीता ) ॥ “प्रभो ! भागवता अन्ते पिण्डं हित्वाऽत्र भौतिकम् । यान्त्याप्य कीदृशं देहं कथं तव परं पदम् ? ॥ १४ ॥ तमुवाच हरिः साक्षात् चिन्मयं दिव्यविग्रहम् । मदिच्छयैव संप्राप्याऽक्षरधाम प्रयान्ति ते ॥ १५ ॥ तत्र कश्चित्समाख्या तादृश्यं कश्चिन्महारथम् । याति कश्चिद्विमानं च तान्समाधिस्थ ईक्षते ॥ १६ ॥ ( सुधासिन्धुतरङ्गः—१ ) । “द्येतदेवाऽक्षरं ब्रह्म द्येतदेवाऽक्षरं परम् । द्येतदेवाऽक्षरं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते” ( कठवल्ली० अ० १ वल्ली-२-१६ ) । ‘एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्’ ( छा० ) । ‘योऽस्याऽध्यक्षः परमे व्योमन् ते देव तदु ध्वम्या इदं तदक्षरं परमे व्योमन्’ ( ऋग्वे० अ० ७ वर्ग० १७।७ ) इत्यादिकं प्रमाणमवधातव्यमिति ॥ ६ ॥

ननु यस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिस्तत् गगनकुसुम-कूमरोम-शशविषाण-काकदन्त-वदस्त, एवं प्रधानादीनामीश्वरलोकादीनां प्रत्यक्षतोऽनुपलम्भादेव असत्त्वमिति चेत् ! न, सतोऽपि वस्तुनो दोषविशेषैरेनुपलब्धिर्भवति—

‘अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।

सौक्ष्म्याद्वचवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

अतिदूरत्वं च-इन्द्रियसन्निकर्षाऽयोग्यत्वम्, तच्च भूत-तद्गुण-तद्धर्मसाधारणम्, यथेन्द्रियसन्निकर्षाऽयोग्या गगनोत्पतत्पतत्रिंशत्तारकाश्रितदेवता-गिरिशिखरप-दार्थादयः तद्गतगन्धरसरूपस्पर्शशब्दादिगुणाः-तद्गतपतत्रित्वगन्धत्वादिधर्माश्च न केनाऽपीन्द्रियेण प्रत्यक्षा भवन्ति, अतिदूरस्थितत्वात् । अयं विषयगतो दोषः । ‘सामीप्यञ्चेन्द्रियसन्निकर्षयोग्यत्वम्, तच्च घटादावस्तीति घटादिप्रत्यक्षं भवति, तत्तु न बाधकम् । अतिपदस्यानुवर्तनेन—अतिसामीप्यादिति लाभः ‘अतिसामीप्यञ्च-इन्द्रियसन्निकर्षयोग्यत्वे सत्यपीन्द्रियवृत्त्यविषयत्वम्’ यथा-सन्निकर्षयोग्यमपि चक्षुर्गालकं नेत्राऽञ्जनं नेत्रजलं नेत्ररूपञ्च चक्षुर्वृत्त्यविषयत्वेन प्रत्यक्षं न भवति, तथा जिह्वात्मकपिण्डगतोऽपि रसः-रसनासन्निकर्षयोग्योऽपि रसनावृत्त्यविषयत्वाद् रसनया न गृह्यते, घ्राणसन्निकर्षयोग्योऽपि नासिकागोलकगतो गन्धो घ्राणवृत्त्यविषयत्वाच्च गृह्यते, त्वचः स्पर्शस्त्वक्सन्निकर्षयोग्योऽपि त्वग्वृत्त्यविषय-

त्वाञ्च गृह्यते, एवं कर्णेन्द्रियसन्निकर्षयोग्यः कर्णप्रदेशप्रसारी हृदयान्तर्घोषः कर्णवृ-  
त्त्यविषयत्वाच्च गृह्यते—तमेव घोषम् पिहीतकर्णः संस्तु शृणोति । अयमपि विष-  
यगतो दोषः । ‘इन्द्रियघातादिति’—घातो नाम—स्थूलावस्थातिरोभावः, तथा च  
यदिन्द्रियं स्वस्वेन्द्रियत्वं रूपं विहाय स्वकारणाऽहङ्कारात्मकं भवति तत्प्रत्यक्षकार-  
णत्वमेव जहाति—यथा चक्षुर्गोलकसत्त्वेऽपि चक्षुषोरभावे रूपादिप्रत्यक्षं कर्तुं न  
शक्नोत्यत एव भवति प्रयोगः ‘अन्धो न पश्यतीति । त्वगिन्द्रियगोलकसत्त्वेऽपि  
त्वचः स्पर्शकारणे तिरोभावे सति न स्पर्शप्रत्यक्षम्, अत एव भवति प्रयोगः ‘कुष्ठो न  
स्पृशतीति । कर्णशङ्कुलीसत्त्वेऽपि कर्णेन्द्रियस्य घातान्न शब्दप्रत्यक्षम्—अत एव—  
बधिरौ न शृणोतीति । जिह्वासत्त्वेऽपि रसनाया घातान्न रसप्रत्यक्षम्—अत एव  
‘जडो नाऽऽस्वादतीति प्रयोगः । तथा वागभावे मूको न वक्तीति । हस्तौ विद्य-  
मानावपि तद्गतपाणीन्द्रियविघातान्नाऽऽदानादिक्रिया भवति अत एव ‘कुणो  
नाऽऽदत्ते’ इति । चरणे विसमानेऽपि पादेन्द्रियविघाते ‘पङ्क्तुर्न गच्छतीति ।  
शिशूनसत्त्वेऽपि नपुंसकस्योपस्थेन्द्रियस्याऽभावेन कामभोगो न भवति, अत एव  
‘विलब्धो न रतिसमुभवति’ । एवं पाण्डिन्द्रियाऽभावे तद्गोलकसत्त्वेऽपि ‘उदावर्तो  
मलोत्सर्जनसमयेऽपि न तत्क्रियां विजानाति’ । इत्वेवमिन्द्रियाणां स्वकारणे ति-  
रोभावे प्रत्यक्षकरणत्वाऽभावाच्च प्रत्यक्षत्वमिति । अथञ्च प्रतियोगीन्द्रियादिगतो  
दोषः ॥ यच्च नातिदूरं नातिसमीपं घटादि, तेन सहैन्द्रियसन्निकर्षसत्त्वेऽपि ‘मनो-  
ऽनवस्थानाच्च प्रत्यक्षं, ‘मनोऽनवस्थानत्वञ्च—‘तत्तदिन्द्रियेण सह मनःसन्निकर्षाऽ-  
भावः, येनैन्द्रियेण सह मनोयोगस्तदिन्द्रियं विषयं गृह्णाति नान्यत्, यथा कामोप-  
भोगसमये ‘उपस्थेन्द्रियेण सह मनोयोगादानन्दमेवाऽनुभवति, तदा प्रकाशमध्य-  
वर्तिनमिन्द्रियसन्निकृष्टमपि घटादिविषयं न पश्यति, कामोपहतमनोवत्त्वात्, यथा  
वा मधुरवाद्यस्वरं शृण्वतः कर्णेन सह मनोयोगाच्छृणोत्येव, तदा त्वक्संयोगेऽपि न  
स्पर्शं विन्दते त्वचा सह मनोयोगाभावात् । एवमन्येन्द्रियेष्वपि बोध्यम् । ‘तथा  
चेन्द्रियमनोयोगोऽपि प्रत्यक्षज्ञानसामान्यकारणमित्युक्तं भवति । यत्र च शङ्कु-  
लीभक्षणादौ रस-स्पर्श-गन्ध-रूपादिप्रत्यक्षाणि भवन्ति तानि नैककालिकानि, किन्तु  
सगसो वेगवक्त्या त्वरितमिन्द्रियं विहायेन्द्रियान्तरेण संयुक्तं भवति, तस्मात्  
क्रमश एव रसस्पर्शादिप्रत्यक्षाणि, कमलशतपत्रपलाशेषु शुचिक्षतवदिति ज्ञेयम् ।  
अयन्तु मनोयोगाऽभावरूपो दोष इन्द्रियगतः । ‘सौक्ष्म्यादिति—तथा च यन्नातिदूरं  
नाऽतिसमीपम् मनोयुक्तेन्द्रियसन्निकृष्टमपि परमाण्वादिकं सौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षम्,  
‘सूक्ष्मत्वञ्च निरवयवद्रव्यत्वं’ तच्च त्रिगुणसाम्यावस्थात्मकप्रकृतावपि विद्यते इति  
तस्या न प्रत्यक्षम् । अथ विषयगतो दोषः ॥ यच्च नातिदूरं नाऽतिसमीपम् मनोयु-  
क्तेन्द्रियसन्निकृष्टमपि—असूक्ष्मं ‘राजदारादिकं’ न दृश्यते, ‘व्यवधानादिति—व्यव-



धानत्वञ्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षविघटकत्वम्, यथा चक्षुषा सह राजदाराणां सन्निकर्षवि-  
घटकं सौधकुण्ड्यादि, यथा वा चक्षुश्चन्द्रसन्निकर्षविघटकं मेघमण्डलमिति, एवं  
तत्तद्व्यवधायकेन व्यवहितं वस्तु प्रत्यक्षं न भवतीति । अयं सन्निकर्षगतो दोषः॥  
एवं यच्च नातिदूरं नातिसमीपं प्रणिहीतमनसेन्द्रियसन्निकृष्टमसूक्ष्ममव्यवहि-  
तमपि दिवसे सूर्यकिरणप्रभाभिः पराभूतं दीपप्रभाग्रहनक्षत्रतरादिकं 'अभिभ-  
वाज्ञाऽवलोक्यते,—'अभिभवत्वञ्च स्वसजातीयोत्कटवस्त्वन्तर्गतत्वम्, यथा दीप-  
प्रभा सूर्यप्रभाऽन्तर्गता भवति, अयं विषयगतो दोषः ॥ यच्च नाऽतिदूरं नाऽतिस-  
मीपम् मनोयुक्तेन्द्रियेण सन्निकृष्टमसूक्ष्ममव्यवहितमनभिभूतमपि — समुद्रजले मि-  
लितं नदीजलं न पृथक्तया गृह्यते—'समानाभिहारात्—'समानाऽभिहारत्वञ्च-  
स्वसजातीयवस्त्वन्तरिमिश्रणत्वम्, यथा जले जलं दुग्धे दुग्धमिति । अयं विषय-  
गतो दोषः ॥ 'चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः—तेन—आलोकसंयोगाऽभावाऽनुद्भावौ  
प्राप्तौ, तथा च पूर्वोक्त्यावदोपरहितमपि घटादि वस्तु—आलोकसंयोगाऽभावेनाऽ-  
न्धकारे न प्रत्यक्षम्, 'न चाऽन्धकारस्य व्यवधायकत्वेन तेनैव निर्वाहात् न तस्य  
पृथक्तया समुच्चय इति वाच्यम्, तेजोऽभावरूपस्याऽन्धकारस्याऽधिकरणस्वरूप-  
त्वेन तदानीमधिकणात्मकभूतलादेर्यवधायकत्वाऽभावात्, न च तथाऽत्राऽप्या-  
लोकसंयोगाऽभावस्याऽप्यधिकरणघटस्वरूपत्वेन घटस्यैव स्वप्रत्यक्षे व्यवधायकत्वं—  
कल्पनीयमिति वाच्यम् । आलोकसंयोगस्याऽपि प्रत्यक्षं प्रति कारणत्वमिति प्रदर्शनार्थं  
मेव 'च'कारेण तदभावः सङ्गृहितइति । अभावस्याऽधिकरणात्मकत्वात् आलोक-  
संयोगाऽभावो विषयगतो दोषः॥ एवमनुद्भवान्न प्रत्यक्षम्, यथा दुग्धादौ दध्यादि  
'अनुद्भूतत्वञ्च अनागतस्थूलावस्थत्वमिति । अयमपि विषयगतो दोषः ॥ केचित्तु  
साङ्ख्यैकदेशिनो गुणरहितानामपि न प्रत्यक्षम्, यथा शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य चेत-  
नस्य न प्रत्यक्षमिति । ननु रूपादीनां गुणरहितत्वात् कथं प्रत्यक्षमिति चेन्न, तेषान्तु  
गुणतादात्म्येन प्रत्यक्षविषयत्वाऽङ्गीकारात् । गुणरहितत्वं नाम गुणत्वावच्छिन्नप्रति-  
योगिकतादात्म्यरहितत्वम्, तथा चाऽऽत्मनि तत्सत्त्वान्न प्रत्यक्षमिति वदन्ति॥ तन्न  
युक्तम् । साङ्ख्यस्य मुक्त्यवस्थायामात्मनः स्वरूपेणाऽवस्थाने स्वस्य दर्शनवत्त्वाऽ-  
ङ्गीकारात्, अन्यथा चेतनानां स्वस्य स्वरूपज्ञानाऽभावे 'शुद्धोऽहं'मित्यादिदर्शना-  
ऽभावेन मुक्तिरेव न स्यादिति ध्येयम् ॥ एवम्—मन्त्रौपध्याच्छादितत्वाच्च प्रत्यक्षम्,  
यथा मन्त्राच्छादिता रज्जुर्न दृश्यते प्रत्युत सर्पस्वरूपेण भासते, यथा वा नटेन मन्त्रा-  
च्छादितो बालः सन्नपि दर्शकैर्नाऽऽवलोक्यते, एवमादिस्थले नटविद्यादोषः । कदाचि-  
च्छुक्तौ रजतं दृश्यते तत्र विषयगतश्चाकचक्यदोषः । कदाचित् पित्तादिदोषात्—  
शुक्लस्याऽपि पिशङ्गरूपेण दर्शनम्, कदाचिन्मण्डुकवसाञ्जनदोषेण वक्रकाष्ठे रज्जौ  
वा भुजङ्गदर्शनम्, तावमौ दोषाविन्द्रियगताविति । एवं वक्ष्यपटले विद्युत्प्रभावेण

पर्वताऽऽरण्ययुद्धादिकमसन्नपि सदिब आसते तत्र विद्युदेव दोषः पर्वतादिप्रति-  
कृतिनिष्ठ इति यथायथमूहनीयम् । एवंविधदोषराहित्ये एव 'विषयतासंसर्गेण  
प्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन विषयस्य कारणतया'—यत्र विषये विषयतासंश्लेषेनेन्द्रिय-  
वृत्तिस्तस्य प्रत्यक्षम् । योगिनां तु योगजधर्मसाहाय्यकं दिव्यं प्रत्यक्षं भवतीति  
न तत्रैतेषां दोषाणां संभवः । तादृशकपिलव्यासादिभिर्दिव्यलोचनैः साक्षा-  
त्कृतानां प्रकृतिपुरुषाऽक्षरब्रह्मधामादीनां स्वशास्त्रेषु कृतनिरूपणात्, तन्मूलकाऽऽस-  
शब्देन अनुमानेन च सिद्धानां सूक्ष्माणां तन्मात्राणामहंकारेन्द्रियमहत्तत्त्वप्रकृतीनां  
चेतनानां च न प्रत्यक्षतोऽनुपलम्भमात्राद्भावो विनिश्चयः । नहि कश्चिद्गृहाद्विनि-  
र्गतो गृहजनमपश्यन् तन्नावं विनिश्चिनोति, किन्तु सतोऽपि वस्तुनः इन्द्रियसंनि-  
कर्षाभावात् प्रत्यक्षनिवृत्तिमेव । तथा च प्रधानादीनां लौकिकप्रत्यक्षनिवृत्तिमा-  
त्रात् असत्त्वं न निश्चेतव्यम्, अनुमानेनाऽऽसशब्देन च तत्सत्त्वव्यवस्थापनादिति  
प्रघट्टकार्यः ॥ ७ ॥

ननु प्रधानादीनामप्रत्यक्षं कस्मादोषान्नवतीति चेत् !—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः ।

महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपञ्च ॥ ८ ॥

'तस्य-प्रधानादेः, 'अनुपलब्धिः—अप्रत्यक्षम्, सौक्ष्म्याद्भवति, सूक्ष्मत्वञ्च-  
निरवयवद्रव्यत्वमेव । त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः विभुनिरवयवद्रव्यमिति । ननु निरव-  
यवायाः प्रकृतेः कथं महदादिकार्यरूपेण परिणाम इति चेन्न, तस्या नित्यत्वेऽपि तत्र  
धर्म-लक्षणा-ऽवस्था-परिणामस्वीकारादिति । आत्मा तु व्यापकः सन्नपरिणामी लौकि-  
कसन्निकर्षेण न गृह्यते । न त्वभावादेव तदनुपलब्धिरिति । आत्मनश्चोपलब्धौ  
'संधातपरार्थत्वा'दि(१७)त्यादिना प्रमाणं वक्ष्यति । सप्तमरसवदभावादेव  
तेषामनुपलब्धिर्न भवतीत्युक्तम् 'नाऽभावात्'इति, सप्तमस्तु रसो न प्रमाणैरवधारित  
इत्यसत्त्वादेव न प्रत्यक्षयोग्यता, प्रकृत्यादेस्तु न तथा, 'कार्यतस्तदुपलब्धेः'तस्य  
प्रधानादेरुपलब्धिः-सत्त्वम्, कार्यतो भवति, तथाहि 'सुखदुःखमोहाद्यात्मकं जगत्,-  
सुखदुःखमोहात्मककारणकम्,—कारणतादात्म्यकार्यत्वात्'इति । भवति च भूततन्मा-  
त्रेन्द्रियाऽहङ्कारमहतां स्वस्वकारणेन सह तादात्म्यम्, तेषाञ्च सुखदुःखमोहात्मक-  
त्वमिति महत्कारणतया प्रकृतिरपि सती सुखदुःखमोहात्मिका सिद्ध्यति, प्रकृति-  
पुरुषयोस्तु नित्यत्वेन न तत्कारणाऽन्तरकल्पनेति । लिङ्गरूपेण प्रकृतिसाधक-  
'महदादि तच्च कार्यम्'—महदहङ्कारेन्द्रिय-तन्मात्रा-भूततद्गुणतद्द्वर्मात्मकमिति,  
तच्च—'प्रकृतिसरूपम्',—प्रकृतिगतसुखदुःखमोहादिगुणवत्त्वात् । 'प्रकृतिविरूपञ्च'-  
प्रकृतावनुपलम्भमानाऽध्यवसायाऽभिमानसङ्कल्पशब्दादिस्वस्वनियतगुणवत्त्वात् ।  
तच्च 'हेतुमदनित्यमव्यापी'ति (१०) कारिकया वक्ष्यते ॥ ८ ॥



अथाऽत्र प्रकृतिकार्यत्वं कथमुपगम्यते ? यतो हि 'सतः-असज्जायते' । सतो विवर्तः कार्यजातं जायते । 'सतः परिणामः कार्यजातं जायते' । 'असतः सज्जायते' । 'सतः सज्जायते' । इत्येवं विधाः सन्ति वादिनां विप्रतिपत्त्यः—

तत्र 'सतोऽसज्जायते' इति--वादिनां नेयायिकवैशेषिकाणां मते परमाणुतः कार्यद्रव्यस्य द्रव्यतश्च कार्यगुणादीनामुपत्तिस्वीकारात् नाऽपेक्षितम् भवति प्रधानम्, स च वाद इत्थं समुत्तिष्ठते-घटपटादीनि द्रव्याणि सावयवानि स्वसमवायिकारणैरसमवायिकारणात्मकसंयोगसचिवैः कपालतन्त्रादिभिर्द्रव्यैरारभ्यमाणानि समनुभूतानि, तथा च 'यत्सावयवं तदसमवायिकारणसंयोगसहभूत-समवायिकारणद्रव्यारब्धम्' इति सामान्यतस्तावद्वाचासिरवगम्यते एवमारभ्यमाणानामवयविनां विनाशो-न्मुखतायामवयवप्रवाहस्य विश्रान्त्याश्रयं द्रव्यं यत्संभवेत् तत्कारणविशेषः, तच्चाणुपरिमाणाश्रयः परमाणुरिति तज्जन्यद्वयणुकादि-पृथिवीजलतेजोवाय्वात्मकभूतचतुष्टयविनाशकाले परमाण्वन्तो विभागो भवति, सोऽयं परमाणुसमयः प्रलयकाल इति । पुनश्च सर्गादौ वायवीयेषु परमाणुष्वदृष्टाऽपेक्षं कर्म प्रादुर्भवति, कर्मणा च स्वाश्रयीभूताऽणुः परमाण्वन्तरेण संयुक्तो भवति, ततो द्वयणुकत्रयणुकादिक्रमेण सहावायुस्तपद्यते तथैव तेजो जलं पृथिवी चेति, तेभ्यश्च भुवनानि वस्तुजातं शरीरमिन्द्रियादिकञ्चेति । परमाणुगतेभ्यस्तु गुणेश्चो गन्धरूपरसादिभ्यो द्वयणुकादिकार्यद्रव्यगतानि गन्धरूपरसादीनि सम्भवन्ति । अतः केषाञ्चित्पदार्थानां नित्यत्वम्, केषाञ्चिच्चाऽनित्यत्वम्, तत्र नित्यानां सर्वदा स्थायित्वात् अनित्यानाञ्च नित्यपरमाण्वादिभ्य एवोत्पत्तिस्वीकारान्नास्ति प्रकृत्यपेक्षा इति काणादानां सिद्धान्तः । 'अत्रेदमभिधीयते—भवता विभक्तानां परमाणूनां संयोगे कर्माऽपेक्षाऽभ्युपगम्यते, कर्मणस्तु कार्यत्वात् तदुत्पादकं किमपि पूर्वमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा कर्मोत्पत्तिविलयप्रसङ्गात् तच्चोत्पादकं यदि अदृष्टमभ्युपगम्येत । तन्न युक्तम् । अदृष्टस्य परमाणावभावात्, कार्यकारणभावस्य तु सामानाधिकरण्येन नियमात् । यच्चाऽऽत्मगतमदृष्टं तदुत्पादकमिति भवन्मतं, तच्चाऽदृष्टमनित्यम्—, सृष्ट्यादौ तस्याऽभावात्कथं तत्कारणं स्यात्, महाप्रलये मानाऽभावात् यद्यात्मसमवेतं तदभ्युपगम्येत, तथापि न तस्य कारणत्वं संभवति, यतोऽदृष्टवतात्मना सहाऽऽसङ्ख्यपरमाणूनां सम्बन्धाऽभावात्, असम्बद्धयोश्च कार्यकारणभावविरहात् । यदि चाऽऽत्मा व्यापकः सर्वत्र परमाणुभिः सम्बद्ध इत्यभ्युपगम्येत, तदा सम्बन्धसातत्यात् यावत्परमाणुकर्मणां सातत्येन परमाणुद्वयं द्वयणुकं भूत्वा तत्तत्र त्रयणुकं भूत्वाऽपि च क्रियाऽनधिकरणं सत् स्थिरीभूतं न स्यात्, तथा सति जगत्स्थितिरनुपपद्येत । परमाणुकर्मणा च स्वाश्रयस्य परमाण्वन्तरेण संयोगस्तं विहाय पुनरन्येन सह संयोग इत्येवं यावतां परमाणूनां विभिन्नसंयोगवत्त्वेनाऽनुत्कलसंयोगो न स्यात्,

तेन क्षणिकद्वयणुकस्यैवोत्पत्तोः त्रसरेण्वादीनामुत्पत्त्यवसराऽलाभादेव घटादिकं नोत्पद्येत, अतःसर्गपर्यन्तं नियमितसंयोगसंस्थापकं विनिगमकं किञ्चित्कल्पनीयम्, तच्च नाऽदृष्टम्—तथाविधनियतैकाऽदृष्टे प्रमाणाऽभावात् । अतः तादृशी प्रकृतिरेवेत्यङ्गीकार्येति । अथ परमाणोः परमाण्वन्तरेण यः संयोगो भवति, तत्राऽपीदं विचार्यते,—स चैकदेशेन स्यात् ? सर्वावच्छेदेन वा ? सर्वावच्छेदेन चेत् ? परमाणुना सह परमाण्वन्तरस्य समानाभिहारात् परमाण्वपेक्षया तदधिकपरिमाणयुतं द्वयणुकं न स्यात्, तथा च संयोगे सत्यपि सर्वे परमाणव एव स्थुर्न तु द्वयणुकादिक्रमेण घटादिकं महद्द्रव्यम्, तथा सति जगदेव न जायेत । यदि चैकदेशेन भवति संयोगः, तदा एकदेशस्याऽवयवस्वरूपत्वात् साऽवयवत्वप्रसङ्गः,—प्रदेशवद्द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्येण सह संयोगस्य दृष्टत्वात् परमाणवः प्रदेशवन्त इति स्युः । यदि च प्रदेशाः कल्पिता न तु वास्तविकास्तदा प्रदेशाऽभावेन संयोगाऽभावात्, संयोगस्याऽसमवायिकारणस्य चाऽसत्त्वेन कार्यद्रव्यस्य नोत्पत्तिः स्यादिति । एवम् परमाणवश्चेत्प्रदेशवन्तस्तदा तत्कारणमपि स्वीकार्यम्, तच्च शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो—हि आत्मा भवितुं नाऽर्हति, विरुद्धधर्मवच्चात्, तादात्म्याऽभावाच्च, तस्मात्सदृशं समानधर्मकं कारणं कल्पनीयम्—तच्च तन्मात्रादिक्रमाऽऽगतं नित्यं स्थिरं प्रकृतिसंज्ञकं कल्प्यते इति । एवं परमाणुद्वयसमवेतं द्वयणुकं भवतीति भवन्मतम्, तदपि न युक्तम्, परमाणुद्वयं द्वयणुकञ्चेति वस्तुत्रयं स्यात् तच्च नोपलभ्यते, उपलभ्यते चेत् ! घटेऽपि इमे परमाणवः, इमे द्वयणुकाः, पिण्डाः, कपाले च, अथं घटश्चेति—अनेकानि द्रव्याणि स्युः, न पुनरयं घट इत्येकं वस्तु । नहि घटे गृह्णाते तदवयवत्वेनाऽभिमतताः कपालादयस्तदतिरिक्ताः स्थास्यन्ति, अनुभवविरोधात् । तथा च घटपटादियावत्पदार्थाः कारणाऽभिन्नाः कारणतादात्म्या इति मन्तव्यम् ॥ एवं परमाणुद्वयं समवायसंसर्गेण द्वयणुकेन सह सम्बद्धं भवति । तदपि न युक्तम् । सम्बन्धो हि सत्त्वततोर्द्रव्ययोर्दृष्टः, यथा घटपटयोरेकक्षणावच्छेदेन संयोग इति । अत्र तु परमाणुकाले द्वयणुकमसत्, द्वयणुककाले च द्वयणुकाऽतिरिक्तं परमाणुर्न, इति कथं परमाणुद्वयणुकयोरेकक्षणावच्छिन्नः समवायः संसर्गतयाऽवगतः स्यात् । एवं समवायस्य सम्बन्धत्वे समवायस्य तत्सम्बन्धिनोश्च सम्बन्धान्तरः कल्पनीयः सम्बन्धान्तरस्याऽपि सत्त्वात् सम्बन्धिभिन्नत्वाच्च तस्यापि पुनः सम्बन्धान्तरः कल्पनीयः इत्येवमनवस्थापातात्, तस्मात्सम्बन्धाऽसिद्धौ नाऽवयवाऽवयविनोः समवायः, तदभावाच्च न द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्वयणुकमिति । द्वयणुकभिन्नत्वेन च परमाणुर्नाऽवशिष्यतेऽतस्तत्संसर्गस्तु तादाम्यम् एव, द्वयणुकादीनाञ्च परमाण्वभिन्नत्वेन कार्यात्मकान्येव परमाणुद्रव्याणि स्वकारणान्यनुमापयन्ति तन्मात्रात्मकानीति । एवञ्च परम्परया



तत्कारणं प्रधानमेवेति । एवम्—द्वयणुकपरमाणूनां समवायस्य सर्वावच्छेदेन कल्पने द्वयणुकादीनामपि परमाणुस्वरूपत्वमेव स्यान्न तु स्थूलात्मकत्वम्, प्रदेशावच्छेदेन कल्पने तु प्रदेशवद्द्रव्यस्य कार्यस्य कारणान्तरं कल्पनीयम्—तच्च तन्मात्राक्रमेण प्रकृतिरेव कारणमिति । एवम्—सावयवानां द्रव्याणामवयवज्ञो विभज्यमानानां यतः परो विभागो न स्यात् ते परमाणवो रूपादिमन्तश्चतुर्विधाः पृथिवीजलतेजोवाय्वात्मका इति वैशेषिकाः स्वीकुर्वन्ति । किन्तु—यश्च रूपादिमान्यदार्थः सः स्वकारणापेक्षया स्थूलोऽनित्यश्चेति भवति, दृष्टञ्च पटादौ तत्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च पट इति, एवमंशूनपेक्ष्य तन्तवः स्थूला इति । तथैव रूपादिभूतपरमाणवः स्वकारणापेक्षया स्थूला अनित्याश्चेत्यभ्युपगन्तव्याः, तत्कारणञ्च पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्माणि स्युरिति, एवम्— तत्कारणतया परम्परया प्रधानस्य सर्वकारणतया त्रिद्विरिति । एवम्— वैशेषिकाः—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यान् पदपदार्थानभ्युपगच्छन्ति, ते च परस्परं भिन्ना इति निरपेक्षं निरूपणं कुर्वन्ति, रथा गवयाऽधमातङ्गाः । तद्विरुद्धञ्च गुणादीनां द्रव्याधीननिरूपणं कुर्वन्तीति गुणादयो न द्रव्याद्यनधीननिरूपणाः, अपि तु यदा यदा निरूप्यन्ते तदा तदा द्रव्याधीनतयैव निरूप्यन्ते, तस्माद्द्रव्याऽधीनत्वाद् द्रव्यात्मकत्वमेव गुणानाम्, नाऽतिरिक्तत्वम्, तेन द्रव्यमेव तत्र तत्र सामान्यतया ख्यायते, अत एव 'शुद्धो घटः' 'रक्तं वस्त्रम्' इति प्रतीतिरभेदतया बोधं जनयति, तस्माद्द्रव्यात्मकतया गुणानां द्रव्येण सह भवति तादात्म्यसंसारः, तथा च परमाणुतादात्म्यतया परम्परया प्रधानसिद्धिः, प्रधानगुणाः सत्त्वादयः संज्ञादयश्च स्वकार्ये प्रादुर्भवन्ति, ते च तादात्म्येन प्रकृतिकार्ये समष्टिरूपेऽन्तर्भूताः सन्तो मनस्युपलभमाना बुद्ध्या निश्चीयमाना बुद्धावेव विश्रान्ताः, नत्वात्मनि, तथा च बुद्धिः सुखदुःखादिगुणात्मिका स्वकारणतया प्रकृतिमनुमापयति—तस्माद्दुपपन्नं प्रकृतेः कारणत्वम् । एवं यद् 'सतोऽसज्जायते'—सतः परमाणुतः, असदनित्यं पृथिव्याद्यात्मकं कार्यं भवति, तयोः सदसतोस्तादात्म्यानुपपत्तेः परमाणुत्वादाऽनुधावनं समवायादिना कार्यकारणभावेन स्थिरीकृतम्, तच्च समवायाऽसिद्धयैव दुरोत्सारितमिति, तथा च सम्बन्धाऽभावाद् उत्पत्तेः प्राक् कार्यस्याऽसत्त्वेन सदरूपेण कारणेन सहैक्याऽसम्भवात्, न तन्मते कार्येण कारणस्य सिद्धिर्भवति, अतः प्रधानसिद्धौ कर्तव्यायां कार्यकारणयोरभेदसाधनाय—'सतः सज्जायते' इति सत्त्वातिवाद्ः समञ्जसः ।

बृहस्पतिमतानुयायिनश्चार्वाकाः 'पृथिव्यप्तेजोवाय्वभिधानानि चत्वारि भूतद्रव्याणि परिणामित्वादनित्यानि, तेषां कारणानि तु त्रसरेणवः स्थायिनस्ते च प्रत्यक्षाः, अप्रत्यक्षेषु द्वयणुकपरमाणुव्यविश्वासात् । अदृष्टं तु कल्पितमसदिति न वस्तुतत्त्वम् । तथा च प्रत्यक्षाणां घटादिस्वरूपपृथिव्यादिद्रव्याणामवयवविभक्तौ त्रसरेण्वेव विश्रामः, यदा च विशकलितास्त्रसरेणवस्तदा प्रलयः । सृष्टिसमुत्पत्तौ

च त्रसरेणुगता शक्तिस्त्रसरेणुन्प्रेरयति, तेन चतुरेणवादिक्मेण महावयव्यारम्भ इति ।  
 द्रव्यनिष्ठाश्च यावन्तो रूपरसादयो गुणाः स्वाभाविका एवाऽनित्याः, यथा— पृथि-  
 व्यां रूपादय उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च । नित्या वा यथा— ब्रह्माबुष्णस्पशौ जले  
 शीतस्पर्श इति यथाप्रत्यक्षं कल्प्यते । पृथिव्यादिभ्यो देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वा-  
 दिभ्यो मदशक्तिवत्—चैतन्यमुपजायते, भूतेषु विनष्टेषु च स्वयं विनश्यति, सुखवि-  
 ज्ञानादयः शरीरगुणाः, शरीरञ्चाऽऽत्मेति— यथा च—‘अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवा-  
 र्यनलानिलाः । चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते’ । ‘किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो  
 द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्’ । ‘अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः । केनेदं  
 चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्रव्यवस्थितिः’ इति । तथा च प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धं वस्तु  
 सत्, अन्यदलीकमिति नास्ति प्रधानादीनां सत्त्वम्, अलीकत्वात्, अतो जगत्कार-  
 णतया तु त्रसरेणुकारणवाद एवाऽभ्युपगन्तव्यः तथा च ‘सतो-भावपदार्थात्मक-  
 त्रसरेणवादितः असद्-विनाशि जगजायते इतिवदन्ति । तेऽपि समालोचनीयाः  
 खलु त्रसरेणूनां त्रित्वसंख्याविशिष्टवप्रकारकप्रत्ययविषये, यथाहि त्रित्वसङ्ख्या-  
 विशिष्टस्य वस्तुनः ‘इमे त्रय’ इतिप्रतीतिर्भवति, यथा घटपटमठा इति । तेषां समूह-  
 तथा बोधस्त्विदं त्रिकमिति, तथा त्रसरेणुरपि त्रयाणां वस्तुविशेषाणां समूह इति,  
 समूहस्य प्रत्येकविभक्तवस्तुसापेक्षत्वात्, प्राक्त्रसरेणुविशेषसमुदायदशायाः ‘इमे  
 त्रय’ इतिप्रतीतिविषयास्त्रयः पदार्थास्तावदवश्यंभाव्याः, ते च द्व्यणुका अवश्यं  
 स्वीकार्याः, अन्यथा समुदायाऽनुपपत्तेः । एवं द्व्यणुकानामपि समुदायतया तत्का-  
 रणमसमुदिता परमाणवः, तेषां संयोगो यत्किञ्चित्प्रदेशाऽवच्छेदेनाऽवश्यं स्वीकार्यः,  
 सर्वावच्छेदेन संयोगस्वीकारे परमाणौ परमाण्वन्तरस्य समानाभिहारात् तदपेक्षया  
 स्थूलं द्व्यणुकादिकं नोत्पन्नं स्यादिति, परमाणूनां सावयवत्वे तत्कारणं तन्मात्रादय  
 इति क्रमेण प्रकृतिकारणवाद एव सिद्धयति । एवं रूपरसादयो विज्ञानसुखादयश्च  
 शरीरादिगुणाः स्वाभाविका भवदभिप्रेताः । ते पुनर्नित्या अनित्या वा ? यदि नित्या-  
 स्तदा तेषां सर्वदोषलभ्यात् सर्वदा सुखी सर्वदा दुःखी वा स्यात्, एवं घटादयः  
 सर्वदा शुक्लाः कृष्णा वा स्युः, आम्रफलादयश्च सर्वदाऽम्बला एव स्युर्न पुनर्मधुरा  
 इति । न चैवमनुभूयते । अनित्यत्वे तु तदुत्पादकमभ्युपेयम्, यदि च चतुर्भूतनिष्ठा  
 शक्तिस्तदुत्पादिका स्वोक्रियते, सा प्रत्यक्षप्रमाणविरुद्धाऽलीका, तस्मादुत्पादकान्तरं  
 स्वीकार्यं, तच्च यदि द्रव्यमेवाऽधिकरणत्मकं, तदा नखादौ मृतशरीरेऽपि वा क्व-  
 चित् ज्ञानाद्यवभासः स्यात्, यदि प्राणसंयोगात्मकः स्वभाव एव नियामकस्तत्र,  
 तदा प्राणेऽपि चैतन्यमुत्पादयेत्, यदि च अवयविसमनियतो धर्मविशेषः सः ?  
 स स्वाधिकरणेऽवयवादावेव गुणानुत्पादयेत्, अन्यत्रोत्पादने तु स्वभावत्वं व्याह-  
 न्येतेति । ननु स्वभावो नाम स्ववृत्तिगुणानां सत्त्वाऽसत्त्वनियामकस्तादात्म्यमिति



चेन्न, अभेदस्वभावं तादात्म्यं कथं भेदमुत्पादयेत् । अतो न किञ्चिन्नियामकं तव सिद्धयति, तथा च सति जलादुष्णस्पर्शः, तेजसो गन्धः, वायुतो वा रसः, इत्येवमुत्पद्यमानमव्यवस्थितं सर्वं स्यादतः सुव्यवस्थार्थं भूतानां कारणीभूतं सूक्ष्मं नियामकं स्वभावव्यवस्थापकं तन्मात्रात्मकं द्रव्यसवश्यं कल्पनीयम्, यदन्वयात् स्वगुणोपलब्धिः यदनन्वये च स्वगुणव्यतिरेक इति । तद्वद्वलाच्च सर्वत्र सुव्यवस्था स्यात् । तथा च शब्दतन्मात्रतो गगनं शब्दगुणमुत्पद्यते, शब्दस्पर्शतन्मात्रतो वायुः शब्दस्पर्शगुणः, इत्येवं क्रमेण सुव्यवस्थासम्पादकानि तन्मात्राणि च सूक्ष्माणि स्वकारणक्रमेण प्रकृतिमनुमापयन्ति, अत एव भवत्यस्माकं कार्यकारणयोस्तादात्म्यात्प्रधानसिद्धिरिति । त्रसरेणुकारणवादोऽपि परमाणुकारणवादवदुपेक्षणीय इति । यच्चोक्तम् 'शरीररूपेण परिणतेभ्यः पृथिव्यादिभ्यश्चैतन्यमुपजायते' इति, तदपि न, यतो मृतशरीरावस्थायां तत्र चैतन्याऽनुपलम्बेन व्यभिचारदर्शनात् । किन्तु येन सहाऽन्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तदेव कारणं भवितुमर्हति, यथा सूक्ष्मशरीरसत्त्वे चैतन्यसत्त्वम् सूक्ष्मशरीराऽभावे चैतन्याऽभाव इति सामान्यतया चैतन्यकारणं सूक्ष्मशरीरं भवति, सूक्ष्मेषु च तत्त्वेषु बुद्धिं विना चैतन्यं (विज्ञानं) वृत्तेरनुत्पादाद् बुद्धिरेव तस्य चैतन्यस्य कारणमिति बुद्धेस्तु प्रकृतिकारणकत्वात्, सुस्थितः प्रकृतिकारणवादः—'सतो सजायते'—इति ।

अद्वैतवेदान्तिनः 'सतो ब्रह्मणः—असन्मिथ्यात्मकमिदं जगद्विवृतं जायते' इति, तेषाञ्चेत्यमभिप्रायः—'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, 'नित्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'—त्यादिश्रुतिप्रमाणकं संसारप्राक्समये परं ब्रह्म एव व्यापकं नित्यविज्ञानात्मकमासीत्, तच्च सदासीत् । सृष्टिसमये—'स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' 'स ईक्षाञ्जके' इति भगवता ब्रह्मणा बहुरूपेण भवितुमभिलषितम् । ततो मायायां ब्रह्मणः प्रतिबिम्बमवतरितम् । तच्च ब्रह्म निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं निराकारमकर्तृ च 'यच्च कर्तृ तत्सधर्मकम्'—यत्सधर्मकं तन्नश्वर'मिति च व्याप्त्या 'ब्रह्मभिन्नं सधर्मकं जगत्कारणं गम्यते, घटपटाद्यात्मकं जगन्मायिकं नश्वरं तस्य कारणेनाऽपि तथैव भवितव्यम्, अत एव जगत्कारणमज्ञानं सिद्धम्, तच्चाऽहमज्ञ इत्यनुभवसिद्धम् । तदेव मायाऽविद्या चेत्युच्यते, सा च विचित्रपरिणामस्वभावा, अतो जगदपि विचित्रं समवलोक्यते, अज्ञानान्तु शुद्धसत्त्वप्रधानं माया, मलीनसत्त्वप्रधानमविद्या,—इति ख्यायते । यथा जलादौ सूर्यप्रतिबिम्बानि भवन्ति तथा मायायां गतानि ब्रह्मप्रतिबिम्बानि ईश्वरा इति प्रथन्ते । अविद्यागतानि ब्रह्मप्रतिबिम्बानि तु जीवा इति । प्रथन्ते । ब्रह्मणो मायाऽविद्यासम्बन्धेन ईश्वरजीवेतिव्यवहारः । यथा रज्जौ सर्पाभासस्तथा ब्रह्मणि जीवाद्यवभास इति । अत एव 'वाचारम्भणं विकारो नामधेय'—मित्यादिश्रुतिष्वपि विकारो घटादिर्वाचा आरभ्यते, न वस्तु सदित्युक्तं, आधिकत्वेन

जगन्मिथ्याभूतं ब्रह्मणि भासते । अविद्यायाश्च विचित्रप्रभावभावानां शक्त्यात्मकानां सर्वदा सत्त्वात् तैर्भावैर्भावितं ब्रह्म विवृत्तं सत् निखिलजगदुपादानं भवति । उपादानन्तु 'जगदप्यासाधिष्ठानमिति । सृष्टिक्रमेण मनोबुद्धयहंकारचित्तात्मकान्तःकरणस्वरूपमिन्द्रियात्मकं तन्मात्रात्मकं पृथिव्याद्यात्मकं च भवति । तथा च जगतो मिथ्यात्वमवगच्छन् ब्रह्मोपासनया सर्वत्राऽभेदेन ब्रह्मदृष्टया च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चने'त्यादिश्रुतिभिः केवलया ब्रह्मभावनया चित्तशुद्धौ सत्यामद्वैतस्फुरणयाऽविद्यानिवृत्त्या ब्रह्मैव भवतीति मोक्षः । स चाऽयमद्वैतानां ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वसिद्धान्तः ।

सोऽपि न भवति युक्तः । अविद्यायाः स्वरूपानुपपत्तेः बन्धवादसमये प्रसाधितत्वात्, अनिर्वचनीयतायाश्च कथंचिदप्यनुपपन्नत्वस्याप्युक्तत्वात् । जीवब्रह्मणोः विम्बप्रतिविम्बभावस्याऽप्यसंभवाच्च, तथाहि — कथमचाक्षुषस्य ब्रह्मणः प्रतिविम्बनम् ? चाक्षुषस्यैव प्रतिविम्बनमिति नियमात् । न चाऽऽकाशे व्यभिचारः, तत्राऽऽकाशं न प्रतिफलति किन्त्वभ्रनक्षत्रप्रभृत्येव ! भवतु वा साभ्रनक्षत्रमाकाशं प्रतिफलतीति, किं तत्रोर्ध्वं प्रसारितदृष्टिभिः केवलमभ्रनक्षत्रादि दृश्यते इति मन्यते भवान् ? उत साभ्रनक्षत्रमाकाशम् ?, अभ्रनक्षत्राद्येवेति चेत् ! तदेव प्रतिफलति नाऽऽकाशमित्यभ्युपगन्तव्यम् । नहि कथमूर्ध्वं न दृश्यते सरस्यन्तस्तु प्रतिफलतीति घटेत । साभ्रनक्षत्रमाकाशं चेद् दृश्यते इतीष्यते तदेव प्रतिफलति चाक्षुषमिति गम्यते, तथा चाकाशस्य निरूपस्यापि चाक्षुषता स्वीकार्या नाम, आकाशे वा रूपं स्वीकार्यं, स्वीक्रियतां नाम कश्चन पक्षः, 'अचाक्षुषं न प्रतिफलतीति तु अव्यभिचरितमिति । तथा च चाक्षुषरयैव प्रतिविम्बनम्, तच्चाऽचाक्षुषस्य ब्रह्मणो न घटेत । किञ्च—सर्वतो व्याप्तस्य प्रतिफलनमनुपपन्नम् । यतः प्रतिफलता ह्यन्यदेशस्थेन भाव्यम्, नहि जलगतस्य कदाचिदपि प्रतिविम्बनम् । ननु सर्वतो व्याप्तस्याऽऽकाशस्य जले तत्र प्रतिफलनं दृष्टिमिति चेन्न । तत्र प्रदेशभेदस्यैवोपरितनस्याऽभ्रनक्षत्राद्याश्रयस्य प्रतिफलनं न तु जलान्तःस्थाऽऽकाशस्य । न चेह ब्रह्मणि प्रदेशभेदेन तथा निर्वाहः, निरवयवे प्रदेशाऽसंभवात् । न चाऽविद्यातदभावाभ्यामौपाधिकः प्रदेशभेदो ब्रह्मणि वक्तुं युक्तः, भावाऽभावयोरिकत्र विरोधात् । न चाऽवच्छेदकभेदेन तत्संभवः, ब्रह्मणि तदवच्छेदकाऽसंभवात्, अवच्छेदकान्तरकल्पनेऽनवस्थापाताच्च । किञ्च—अविद्याऽधीनत्वेन प्रतिविम्बरूपस्य जीवस्य सादित्वं स्यात्, प्रतिविम्बं सर्वमेव ह्युपाध्यधीनं जन्यं दृष्टम् । ननु भवतु लोके तथा न त्वविद्याधीनस्य जीवस्य तथेति चेत् ! तदा तुल्ययुक्त्या लोके ह्युपाध्यधीनप्रतिविम्बदर्शनेऽपि ब्रह्मप्रतिविम्बे नोपाध्यपेक्षा इति अविद्योपाध्याश्रयणं व्यर्थमिति । लोकदृष्ट्या चेदुपाध्यपेक्षा, तदोपाध्यधीनस्य जन्यत्वनियमोऽपि लोकसिद्ध इति जीवानां



जन्यत्वमनिवार्यमिति । किञ्च—अविद्यायामावरणशक्तिर्विक्षेपशक्तिश्चेतिशक्तिद्वयम्, अतोऽविद्ययैव ब्रह्मस्वरूपतिरोधानमित्यपि न घटते । यतः अविद्याया चेद्ब्रह्मणः तिरोधानं ? तदा निर्विशेषप्रकाशैकरसतः न घटेत, निर्विशेषप्रकाशैकरसं चेद्ब्रह्म ? तदा तस्याऽविद्याया तिरोधानं न घटेत । ननु न ब्रह्मस्वरूपतिरोभावः किन्तु तत्प्रकाशतिरोभाव इति चेत् ! किमयं प्रकाशः तदभिन्नो भिन्नो वा ? प्रथमे ब्रह्मस्वरूपनाशः प्रसज्येत, यतः प्रकाशप्रतिरोधो द्वेधा-उत्पत्त्यमानप्रकाशस्योत्पत्तौ प्रतिरोधः, सतः प्रकाशस्य विनिवर्तनं वा, सतो ब्रह्मणोऽनतिरिक्तप्रकाशप्रतिरोधेन निवृत्तिरूपेण भाव्यम्, तथा च ब्रह्मणो नाशे एव पर्यवसानमिति । न द्वितीयः, सविशेषत्वापत्तेरिति । जगदध्यासाऽधिष्ठानस्याऽपेक्षाया अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । अतः कल्पनामात्रं ब्रह्म जगत्कारणमिति, कारणन्तु—‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः’—इत्यादिश्रुतिसिद्धा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरिति । तत्र च यावतां कार्याणां कारणेन सहाऽभेदात् भवति तत्सिद्धिः, अद्वैतमते तु ‘एकस्य सद्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानेन परिकल्पितमिदं जगत् ‘सत्’ न भवति ‘असद’पि न भवति, सःवासत्त्वयोर्विरोधात् ‘सदसद्’रूपमपि न भवति, किन्तु चतुर्थः प्रकारो मिथ्यात्वमिति विवर्त इति च, ‘उपादानत्वाभिमतवस्तुविषमसत्ताकत्वे सति तदवस्थाविशेषरूपत्वं तद्विवर्तत्वमिति’लक्षणात्, तथा चैतन्मते उपादानोपादेययोस्तादात्म्यं न वास्तविकम्, किन्तु कल्पितमिति, कल्पिततादात्म्येन तु कार्यकारणयोर्भेदसिद्धिर्न भवति । तस्मात्प्रधानसिद्धयर्थं ‘सतःसजायते’ इति सत्कार्यवादाः समञ्जसः ।

विज्ञानमिक्षवस्तु-‘एकस्य सतो ब्रह्मणः परिणामः-असत् कार्यजातं जायते’इति । तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः । ब्रह्म न समवायि, नाऽसमवायि, न वा निमित्तम्, किन्तु संसारस्याऽधिष्ठानम् । ‘यत्राऽविभक्तं येनोपष्टब्धं च सत् उपादानकारणं कार्याकारेण परिणमते तदधिष्ठानकारणमिति । ब्रह्मणः कर्तृत्वं क्षोपाधिकमायोपाधिकमिति । परिणामित्वरूपोपादानत्वं च प्रकृतितत्कार्याद्यौपाधिकमिति, जगद्गुरूपेण विपरिणतमायाऽधिष्ठानं ब्रह्मेति । जगद्ब्रह्मणोस्तु तादात्म्यव्यपदेशो भवतीति विवेचयन्ति । तदपि न भवति युक्तम् । यतः—ब्रह्मणः साक्षितामात्रेणाङ्गीकरणमन्तरेणाऽपि मायायाः कार्योन्मुखप्रवृत्तौ पुरुषार्थस्य हेतुतासम्भवेन तत्र साक्षिताया निष्प्रयोजनत्वात् । अधिष्ठानं विनाऽपि तात्त्विकान्यथाभावरूपपरिणामस्य स्वातन्त्र्येण मायायां सम्भवेन ब्रह्मणस्तत्कल्पनस्याऽन्यथासिद्धत्वात् । तस्मान्न ब्रह्म परि-

१. ‘यत्र—ब्रह्मणि, ‘अविभक्तम्—विभागरहितम्, ‘येन—ब्रह्मणा, ‘उपष्टब्धं—साक्षितामात्रेणाऽङ्गीकृतम्, ‘सत्-सर्वदारथायि, ‘उपादानकारणम्—प्रकृत्यात्मकं कारणम्, ‘कार्याकारेण—जगदाकारेण, परिणमते’ तद्ब्रह्म भवत्यधिष्ठानकारणमिति लक्षणसमन्वयः ।

णतमायाधिष्ठानम्, अत एव तन्मते परिणतस्य कार्यस्याऽसत्तः - ब्रह्मणः सतश्च—  
तादात्म्याऽभावाच्च कार्यतः कारणस्य प्रधानस्य सिद्धिः, प्रत्युत ब्रह्मणो जगद्गुण-  
त्वाऽऽपत्तिः स्यादिति । तस्मात्प्रधानसिद्धयर्थं 'सतः सञ्जायते' इति सत्कार्यवा-  
दिसाङ्ख्यसिद्धान्तः समञ्जस इति ॥

शब्दब्रह्मवादिनो वैयाकरणास्तु 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।  
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः' । 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे  
शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्याः आविवेश'  
इति, तदर्थञ्च व्याचकार भाष्यकारः—'चत्वारि शृङ्गाणि—पदजातानि नामाऽऽख्या-  
तोपसर्गनिपाताः । 'त्रयो अस्य पादाः—लडादिविषयास्त्रिधा भूतभविष्यद्वर्तमान-  
कालाः । 'द्वे शीर्षे—द्वौ नित्याऽनित्यात्मनौ—नित्यः कार्यश्च-व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदात् । 'सप्त-  
हस्तासो अस्य—तिङा सह सप्तसुव्विभक्तयः । 'त्रिधा बद्धः—त्रिषु स्थानेषु—उरसि कण्ठे  
शिरसि बद्धः । 'वृषभो रोरवीति—ज्ञानपूर्वकाऽनुष्ठानेन फलप्रदः—शब्दप्रपञ्चः । महादेवो-  
महादेवः शब्दः । 'मर्त्याः आविवेश-मर्त्यानां विवेश इति । अतो जगन्निदानं स्फोटाख्यो  
निरवयवो नित्यः शब्दो ब्रह्मैव । तदित्यं कूटस्थे परस्मिन् शब्दब्रह्मणि सच्चिदा-  
नन्दरूपे प्रत्यगभिन्नेऽवगतेऽनाद्यविद्याऽज्ञानस्य निवृत्तौ तादृशब्रह्मात्मनाऽवस्थानल-  
क्षणं निःश्रेयसं सेत्स्यति-शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति । अत एव  
'सतः—स्फोटाख्यशब्दब्रह्मणो विमर्शबिन्दुमहत्तत्त्वाऽहंकारादिक्रमशोऽसिद्धवृत्तं जग-  
जायते' इति, अतस्त्विदं न्यथाभावो विवर्त इति सिद्धान्तयन्ति ॥—स चाऽय-  
मपि सिद्धान्तः कल्पित एव ।—यतः—एवं हि वर्णातिरिक्तः स्फोटोऽभ्यु-  
पेयेत यदि वर्णानां वाचकत्वं न सम्भवेत्, वर्णभ्योऽर्थप्रतीतेः सम्भवात् स्फोटक-  
ल्पनाऽनर्थिका, क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्तीति । स्फोटस्याऽप्रामा-  
णिकत्वेन तदभिन्नतया नित्यशब्दात्मकब्रह्माऽप्यप्रामाणिकमिति, सर्वानुभवविषयस्य  
अनित्यशब्दस्य भूतात्मकस्य तु ब्रह्मत्वमसम्भवि । यद्युच्यते—परा वाणो नित्यैव  
ब्रह्म न तु पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीरूपा ब्रह्म, तास्तु ब्रह्मकार्यात्मिका—इति, तदा-  
ऽपि पश्यन्त्यादिवाणीनामुपादानकारणं ब्रह्माऽभ्युपगन्तव्यं भवता, तथा च पश्य-  
न्त्यादीनां जडवाणीनां कारणतया जडमेव ब्रह्म स्यात्, यदि वा ब्रह्म-विमर्श-बिन्दु-  
नाद-ध्वनिक्रमेण शब्दसत्ता भवति । तदपि ध्वन्यादीनां जडरूपाणां कारणतया  
जडमेव ब्रह्म स्यात्, अतः शब्दानां ब्रह्मभिन्नत्वं भवति । एवं "उत्पादविनाशस्व-  
भावमिदं जगच्छब्दव्यासमित्यतः शब्दब्रह्मणो व्यापकत्व"मिति केपाञ्चिन्मतमपि  
निरस्तं, यतः शब्दस्याऽव्याप्यवृत्तितया व्यापकत्वाऽयोगात्, ननु वाच्यत्वसम्बन्धेन  
सर्वत्र शब्दवत्त्वं स्यादिति चेन्न,—सर्वत्र पदार्थेषु यावच्छब्दवाच्यत्वाऽभावेन तद-  
संभवात् । ननु शब्दाऽऽकारा एव सर्वे पदार्था इति तादात्म्येन व्यापकत्वे न हानि-



रिति चेन्न, ते त्वतिरिक्ताश्चेत् ? तदा जातमस्मदभिमतम् । नाऽतिरिक्ताश्चेत्-विरुद्ध-धर्माणामेकत्राऽसमावेशाद्वस्त्वन्तराणि ते- आकाराः कल्पनीयाः स्युः, तथा सति च भवदभिमतहानिरिति । एवं ब्रह्मबिन्दूपनिषदि- 'द्वे विधे वेदितव्ये तु शब्द-ब्रह्म-परे च यत् । 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माऽधिगच्छति' । 'योगदर्शनेऽपि 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इत्यादीश्वरवाचकप्रणवादिशब्द-जप-तदर्थभावननादिकं प्रदर्शितम्, न तु शब्द एव ब्रह्म इति । एवं 'चत्वारि शृङ्गा'-इत्यादिश्रुतिरपि ब्रह्माण्डब्रह्मणोरन्वयमादाय व्याप्यव्यापकभावं वक्ति न तु केवलं शब्दविषयमादाय तत्र युज्यते । एवं जगतः शब्दब्रह्मजन्यत्वे नहिमानमुपलभ्यते-किञ्चिदपि । उक्ता श्रुतिस्तु तन्मात्रात्मकशब्दादाकाशादिप्रादुर्भावस्य प्रक्रियापरा, अत एव 'ब्रह्मबिन्दूपनिषदि- 'शब्दमायावृतो यावत्तावत्तिष्ठति पुष्करे' । 'शब्दाक्षरञ्च यद्ब्रह्म तस्मिन्क्षीणे यदक्षरम्'-इत्यादौ शब्दस्य मायात्मकत्वं क्षीणत्वञ्च प्रतिपादितम्, तेन क्षीणस्य तिरोभावस्थानमवश्यं कल्पनीयं तच्चाऽहङ्कारात्मकमित्येवंक्रमेण प्रकृतिसिद्धिरतएव 'सतः सजायते' इतिसत्कार्यवादएव प्रकृतिसाधनायसमञ्जसइति॥

द्वैतवादिनस्तु 'सतः परमाण्वादिभ्योऽसदनित्यं जगद्ब्रह्माण्डात्मकं भवति' पञ्चभेदाश्च नित्या भवन्ति यथा 'जीवभेदः, ईश्वरभेदः, जडभेदः, जीवपरस्परभेदः, जडपरस्परभेद इति । तत्र जडानां परमाणूनां नित्यत्वात् परस्परभेदेन सृष्टिसमारम्भ-समये ईश्वरेच्छात्मकमायया प्रेरिताः सन्तः सक्रियाः- द्वघणुकादिक्रमेण प्रादुर्भवन्ति, तेन च पृथिव्याद्यात्मकं जगदिति ख्यायते, अतो जगत्कारणं परमाणव इति कथयन्ति । तन्मतन्तु न्यायमतखण्डनसमये परमाणुवादखण्डितत्वेन खण्डितमिति ।

श्रीनिम्बार्कास्तु जीवमायाब्रह्मेतिपदार्थत्रयमङ्गीकुर्वन्ति, ते तु त्रयो नित्याः, माया त्वीश्वरशक्तिः, मायया चोत्पन्नं ब्रह्माण्डमिदम् 'सतः-नित्यमायातः-असदनित्यं जगज्जायते' इति । तदेतस्मिन्मतेऽपि प्रधानसिद्धिर्न स्यात्, सदसतो-स्तादात्म्याऽभावात् । माया चेश्वरशक्तिरिति शक्तिमत्त्वात्परमात्मनोऽपि माया-वित्त्वं तन्मते स्यादिति, तस्मात् प्रधान-प्रकृतिपदवाच्या माया परमात्मशक्तित्व-विरहिणी काचिदभ्युपेया, यत्र सर्वकार्यजातमपि सत्तया तिरोहितं भवेत्, भवेच्च तथा सति साङ्ख्यसिद्धान्तः-'सतः सजायते' इति तेन च प्रधानसिद्धिरिति ।

विशिष्टाद्वैतवादादावपि सतः-परमेश्वरशरीरात्मकजडभूतप्रकृतितः-समुत्पन्नं ब्रह्माण्डमसद्विकृतमयं जगज्जायते इति । तन्मतेऽपि सदसतोस्तादात्म्याऽनुपपत्तेः, कार्यलिङ्गेन कारणस्य प्रकृतेः सिद्धिर्न स्यादिति । तस्मात् 'सतः सजायते' इति मते एव प्रधानसिद्धिरिति ।

केचित्तु माहेश्वराः, शैवा-पाशुपताः-कारुणिकसिद्धान्तिवः-कापालिकाश्चेति,

चत्वारोऽप्यमी महेश्वरप्रणीतसिद्धान्ताऽनुयायितया माहेश्वरा इति प्रथन्ते । तन्मते कार्य-कारण-योग-विधि-दुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशूनां जीवानां पाशविमोक्षायोपदिष्टा इति । तत्र कार्यं प्रधानजन्यमहदादि, कारणमीश्वरः स च जगत्कारणानां प्रधानपरमाण्वादीनामधिष्ठाता-निमित्तकारणं न तूपादानमिति । योगः-ओंकारध्यानादिः । विधिस्त्रिपवणस्नानादिः । दुःखान्तो-मोक्षइति-सिद्धान्तः । तन्मते माया महेश्वरशक्तिरेव, अतः सतः प्रधानतः महदादिकार्यात्मकमसदनित्यं जगज्जायते इति-ते-सिद्धान्तयन्ति । तदपि न समीचीनम् । यतस्तन्मते यावत्कार्यजा-तस्याऽसत्यत्वमनित्यत्वमङ्गीकृतं, तस्य कारणं सन्नित्यं कथं स्यात्, कार्यकारणयो-स्तादात्म्यानुपपत्तोः, सदसतोस्तादाम्याऽभावात् । अतो माहेश्वराणां 'सतः प्रधा-नतः-असदनित्यं कार्यं जायते' इति सिद्धान्तपक्षेऽपि प्रकृतिसिद्धिर्न स्यादतः 'सतः सज्जायते' इति सिद्धान्तस्यैव सामञ्जस्यात् इति ।

इदानीं 'मसतः सज्जायते' इति वादः समाख्येयः, तत्र हि बौद्धाश्चत्वारो माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिका भवन्ति । तत्र च माध्यमिकाः सर्वशून्यत्वरद्धान्तं प्रतिपद्यन्ते, योगाचारास्तु विज्ञानमात्रास्तित्वम्, सौत्रान्ति-काश्च विज्ञानाकारानुमेयबाह्यास्तित्वम् । वैभाषिकाः प्रत्यक्षबाह्यास्तित्वमिति । तत्र वैभाषिकसौत्रान्तिकयोरवान्तरमतभेदेऽपि सर्वास्तितयायां द्वयोर्मतैक्यमिति, सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमान्तरञ्च वस्त्वभ्युपगच्छन्ति, तत्र बाह्यं-भूतं भौतिकञ्चेति । भान्तरं-चित्तं चैतञ्चेति । तत्र भूतानि पृथिव्यादयः, पृथिवी खर(गन्ध)स्वभावा, आपः स्नेहस्वभावः, अग्निरूपस्वभावः, वायुः प्रेरणस्वभावः, ते तु पृथिव्यादि-भावेन संहन्यन्ते इति । भौतिकन्तु रूपादयश्चक्षुरादयश्चेति-रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्काराः पञ्चस्कन्धाः । तत्र रूप्यन्ते एभिरिति,-रूप्यन्ते इति च, व्युत्पत्त्या सवि-पयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः, रूपस्कन्धोऽयं भवत्याध्यात्मिकः, पृथिव्यादयो बाह्या अपि कायस्थत्वादिन्द्रियसम्बन्धाद्वा भवन्त्याध्यात्मिका इति । अहमित्याकारो रूपादिविषयो विज्ञानस्कन्धः । प्रियाऽप्रियादिविषयलाभे सुखदुःखादिसमाहिता चित्तावस्था वेदनास्कन्धः । सविकल्पप्रत्ययः संज्ञाभासो यथा हित्यः कुण्डली ब्राह्मण इति संज्ञास्कन्धः, रागादिक्लेशाः धर्माधर्मौ चेति संस्कारस्कन्धः । एतेषां समुदायः पञ्चस्कन्धी, स चाऽयं समुदाय उभयहेतुकः, तत्र पृथिव्याद्यणहेतुको भूतभौतिक-समुदायो बाह्यः, रूपविज्ञानादिस्कन्धहेतुकश्च पञ्चस्कन्धी समुदायः-आध्यात्मिकः' इति तेषामभिप्रेतम् । तत्रेदमभिधीयते-पृथिव्यादिपरमाणुजन्योऽयं समुदायस्ता-वद्भवितुमेव नाऽर्हति, यतोहि लोके कुलालादिः कर्ता मृदण्डादिकारणसमवाय-मुपसंगृह्य समुदायात्मकं घटं रचयति, नहि मृदण्डादिव्यापारिणि ज्ञातरि कुलालेऽ-विद्यमाने स्वयं दण्डादयो व्यापृत्य घटमारचयन्ति, नचाऽसति कुविन्दे तन्तुवे-



मादयः पटं वयन्ते, तस्मात्कार्योद्भवनं तदनुगुणकारणसमवधानाऽधीनम्, कार्योद्भावनानुगुणञ्च कारणसमवधानं कर्त्रधिष्ठितमिति, कर्त्रधिष्ठानमन्तरेण कारणेभ्यो व्यावर्तमानं कार्योद्भावनत्वं तपस्विबद्धिरमिति । यदि च चित्तचेतनाऽधीनं कार्योद्भवनमित्युच्यते, तदपि न,—चित्तं हि विज्ञानविशेषः, विज्ञानस्य च सविषयत्वात्, उत्पत्त्यमानकार्यस्याऽव्यवहितपूर्वं चित्तस्याऽसत्त्वात्, कारणाऽभावात् कार्यं भवितुं शक्यं भवति, प्रत्युत कार्यस्य चित्तसत्त्वाऽपेक्षा,—चित्तसत्त्वस्य च कार्यात्मकविषयाऽपेक्षा-इत्यन्योन्याश्रयः प्रसज्येत । प्राग्भवीयश्च चित्तसन्तानो न तदुद्भावनप्रयोजकः, तस्य चिरविलयत्वेनाऽतीतकालीनत्वात्, अन्यस्य कस्यचिच्चेतनस्य कर्तृत्वाऽनभ्युपगमात्, यद्युच्येत—असमवहितान्येव कारणानि कार्यं करिष्यन्ति परम्पराऽनपेक्षाणि कृतमन्येन कर्त्रेति, तदा प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्, प्रत्येकेनैव दण्डेन चक्रेण वा कार्योद्भवनमापद्येत । युज्येत—आलयविज्ञानमहङ्कारास्पदं पूर्वाऽपरानुसन्धात्—तदेव कारणानां प्रतिसन्धात् कर्तुं भविष्यति, तदपि न, तस्य क्षणिकत्वात्—यावदर्थोत्पत्तिस्तावन्न स्थिरं, स्थिरं चेदास्थीयेत,—तदा स्वाभिमतविपर्याससिद्धिः, प्रत्युत नित्यं विज्ञानं प्रकृत्यात्मकमिति सिद्धान्तस्थित्यापत्तिः । न तु क्षणिकं विज्ञानं व्यापारयितुं, व्यापारो हि व्यापारवदाश्रितः, व्यापारवता च व्यापारात्पूर्वं व्यापारसमये च भवितव्यम्, प्रतिक्षणमिन्नं विज्ञानन्तु न तथेति, न प्रत्येकक्षणमिन्नयोः समसमययोरस्ति कार्यकारणभावः, न वा भिन्नकालीनयोराधाराधेयभावः, अत एव तत्कर्तृतया तादृशं प्रधानमुपपन्नं भवतीति । यदि च पुनरयं प्रतीत्यसमुत्पादः—द्वाभ्यां कारणाम्यां भवति 'हेतूपनिबन्धतः प्रत्ययोपनिबन्धतश्चेति, तत्र हेतूपनिबन्धो यथा—यदिदं बीजादङ्कुरोऽङ्कुरात्पत्रं पत्रात्काण्डं काण्डान्नालो नालाद्गर्भः गर्भाच्छूकः शूकात्पूष्पम् पूष्पात्फलमिति । असति बीजेऽङ्कुरो न भवति सति तु बीजे भवत्यङ्कुर इति तस्माद्वीजादीनामसत्यधिष्ठातरि कर्तरि कार्यकारणभावनियमो दृश्यते । एवम् 'प्रत्ययोपनिबन्धः—प्रत्ययो-हेतूनां समुदायः, हेतुं हेतुं प्रति अयन्ते हेत्वन्तराणीति—अयमानानां भावः—प्रत्ययः—समवाय इति यावत् । यथा पण्णां धातूनां समुदायाद् बीजहेतुकोऽङ्कुरो भवति—तत्र पृथिवीधातुबीजस्य संग्रहकृत्यं करोति, येनाऽङ्कुरः कठिनो भवति, अब्धातुबीजं स्नेहयति, तेजोधातुबीजं परिपाचयति, वायुधातुबीजमभिनिर्हरति यतो बीजादङ्कुरो निर्गच्छति, आकाशधातुबीजस्याऽनावरणं करोति, क्रतवो बीजस्य परिणामं कुर्वन्ति, इत्येवं धातूनां समवाये सति बीजादङ्कुरोत्पत्तिर्भवति नाऽन्यथेति, बाह्यौ प्रत्ययोपनिबन्ध-हेतूपनिबन्धौ प्रदर्शितौ । तथैवाऽऽध्यात्मिकौ—यथा हेतूपनिबन्धः—संसारस्य मूलकारणमविद्या, तथा च रागद्वेषमोहाः संस्काराः प्रवर्तन्ते, संस्कारेभ्यो विषयविज्ञानं, विषयविज्ञानात्—नामरूपस्कन्धाः—

शरीरे कललबुद्बुदादयः । नामरूपमिश्रितानीन्द्रियाणि षडायतनम्, ततो नाम-  
रूपेन्द्रियाणां सन्निपातः, सन्निपाताद्देहना, वेदनातः तृष्णा, तृष्णातो वाक्कायचेष्टा,  
ततो धर्माऽधर्मौ, ततो—जात्यायुर्भौगाः—जरामरणञ्चेति । प्रत्ययोपनिबन्धस्तु यथा  
पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशविज्ञानधातूनां समवायात्कार्यस्योत्पत्तिः, तत्र पृथिवी-  
धातुः कार्यस्य काठिन्यं निर्वर्तयति, अन्धातुः कार्यं स्नेहयति, तेजोधातुः पाचयति,  
वायुधातुः श्वासादि करोति, आकाशधातुः कार्यस्यान्तः सुषिरभावं करोति, वि-  
ज्ञानधातुर्नामरूपाङ्कुरमभिनिर्वर्तयति, पञ्चविज्ञानकार्यं मनोविज्ञानं जनयति ।  
इत्येवं प्रत्ययोपनिबन्धो हेतूपनिबन्धश्चेति । तेऽमी परस्परहेतूकः—जन्मादिहेतुका  
अविद्यादयोऽविद्याहेतुकाश्च जन्मादयो घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानाः सन्ति । तैरेतै-  
रविद्याभिराक्षिप्तः संघात इति सर्वेषामविद्यादिकलापोऽप्रत्याख्येय इत्युच्य-  
न्ते ॥ तन्न भवेदुपपन्नम् । यतः भवेदुपपन्नो संघातो यदि संघातस्य किञ्चि-  
न्निमित्तमवगम्येत, न त्ववगम्यते, स्वतन्त्रं परम्परया साक्षाद्वा कारणं किमपि न  
निरपेक्षं सद्भवति जनकम्, निरपेक्षस्य जनकत्वे कार्यमेव स्वजनकं स्यात्, कुसू-  
लस्थबीजादपि निरपेक्षादङ्कुरोत्पत्तिः स्यात् । अविद्या च स्वयं निरपेक्षा सर्वहेतु-  
प्रत्ययानां परम्परया साक्षाद्वा कारणमित्यभ्युपगम्यते तदेव नोपपन्नम्—यतो हि  
निरपेक्षाऽविद्या कारणम्, तर्हि—अविद्यामारभ्य मरणपर्यन्तं यावद्धेतूपनिबन्धोऽ-  
भिहितः—सर्वेषामेषां स्वात्तन्त्र्यं श्वात्कार्योत्पादने, तथा सति क्रमेणोपनिबन्धक-  
ल्पनमाभासमात्रं स्यात्, अविद्यायाः—तज्जन्यानां क्रमोपनिबद्धानां कारणानामपि  
च क्षणिकत्वात् केन कदा किमुत्पन्नं क्रियते—इत्यत्र नियन्त्रणारूपं स्यात्  
क्षणिकानां स्थायित्वाभावात्, कथमिदं क्षणिकं सर्वं परम्परया कारणरूपं क्षणिक-  
विज्ञानेनाऽवगतं स्यादिति, न स्यादेवेति, क्षणिकेन विज्ञानेन क्षणिकानामनेकेषां  
कार्यकारणधारानिर्धारणकर्तृत्वे सति कार्यकारणधारानिर्धारणमपि क्षणिकं स्यात्,  
तथा च दूषितस्य स्वस्य किं दूषणान्तराऽपेक्षया—इति ।

अविद्यादितो यदि संघातात्संघातान्तरमुत्पद्यते, तदा तदुत्पद्यमानं नियमेन  
सद्रूपमेवोत्पद्येत, अनियमे तु न सद्रूपं न वा विसद्रूपमुत्पद्येत, नियमाऽभ्युपगमे  
वा मनुष्यः प्रायणानन्तरमपि मनुष्य एव स्यान्न तु देवतिर्यगादिः, घटश्च ध्वंसा-  
नन्तरं घट एव स्यान्न तु पृथिवी इति । अनियमे तु मनुष्यः क्षणिकः कदाचित्—  
हस्ती भूत्वा देवो वा मनुष्यो वा भवेदित्यस्मिन्नेव शरीरे सति रूपान्तरमाप्नुयात्,  
एवं क्षणिकेन भोक्त्रा कथं क्षणिकं भोग्यं स्यात्, स्थिरस्यैव भोक्तृभोग्यत्वनियमात् ।  
एवमुत्तरस्मिन्क्षणे चोत्पद्यमाने पूर्वं क्षणो निरुद्धयत एव तेन पूर्वोत्तरक्षणयोर्हेतु-  
फलभावो न शक्यते सम्पादयितुम्, निरुद्धयमानस्य पूर्वक्षणस्याऽभावग्रस्तत्वात्—  
उत्तरक्षणहेतुत्वाऽनुपपत्तेः, पूर्वक्षणो निरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवति ।



हेतुमन्तरेण फलोत्पत्तिं यदि ब्रूयात्तदा भवत्प्रतिज्ञोपरोधः स्यात् । भवतामियं प्रतिज्ञा—“नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलाद्यालम्बनप्रत्ययाग्रीलाकरता, पूर्वविज्ञानात्समनन्तरप्रत्ययाद् बोधरूपता, नेत्रस्याऽधिपतिप्रत्ययाद् रूपग्रहणनियमः, सहकारिहेतोरालोकात्स्पष्टार्थता, एवं सुखादीनामपि चित्ताऽभिन्नहेतुजानां चत्वार्येवैतानि कारणानि,” सैवेयं प्रतिज्ञा चतुर्विधान्हेतून्प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते इति, साऽभावकारणत्वे तु समुपारुद्धयेत । निर्हेतुकायाञ्चोत्पत्तौ सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत, यदि चोत्तरक्षणोत्पत्तिपर्यन्तं स्थिरो भवति पूर्वक्षणः इति ब्रूयात्, तदा हेतुफलयोर्योगपथं स्यात् । क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इति प्रतिज्ञोपरोधश्च स्यादिति, इत्येवं बाह्यास्तित्ववादोऽनादरणीयः ।

अथ माध्यमिकबौद्धाः सर्वशून्यत्ववादमवलम्बन्ते; तत्र हि बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकञ्चेति तत्त्वम् । त्रयन्तु प्रतिसंख्यानिरोधः—अप्रतिसंख्यानिरोधः—आकाशञ्चेति । त्रयमप्यवस्त्वभावमात्रम्—निरूपाऽऽख्यमिति । बुद्धिपूर्वको भावानां विनाशः प्रतिसंख्यानिरोधः, अबुद्धिपूर्वको भावानां विनाशोऽप्रतिसंख्यानिरोधः, आवरणोऽभावमात्रमाकाशमिति, वैनाशिकमतम् । तत्तु न युक्तम्—यतो हि—उत्पन्नस्य सतोऽप्रवृत्तस्य भावस्य न प्रतिसंख्यानिरोधः सम्भवति, प्रवृत्तं सत् पदार्थं स्वोत्पत्तिप्रयोजनमभिविन्देदयति, नत्वप्रवृत्तम्, निष्प्रयोजनस्य तूत्पत्तिर्नाऽभिमतता भवति । विनाशस्तु साऽन्वयः सम्भवति न तु निरन्वयः, अन्वयश्च सप्रयोजनाऽन्वयविसत्त्वसम्बन्धः, तस्मादुत्पन्नस्य वस्तुनः सर्वास्ववस्थानु प्रत्यभिज्ञानविषयत्वात्—अन्वयविच्छेददर्शनाच्च न प्रतिसङ्ख्यानिरोधो भवति । अप्रतिसङ्ख्यानिरोधस्तु निर्निमित्तक इति । सम्यग्ज्ञानादेवोभयोर्निरोधः स्वोक्रियते, तदा निर्हेतुकविनाशाऽभ्युपगमहानिप्रसङ्गः । एवमाकाशनिरोधोऽपि न सम्भवति, आकाशस्य निरूपाऽऽख्यस्याऽसतोऽभावरूपस्य भवदभिप्रेतस्य कथं पुनरभावः स्यात्, वस्तुसत्त्वस्याऽभावदर्शनाऽनुभविक्त्वात् । तस्मान्नाऽऽकाशनिरोधोऽपि सुस्थितो भवति । यच्च स्थिरमनुगतकारणमनभ्युपगच्छतां बौद्धानां अभावान्नावोत्पत्तिर्भवति—यथा ‘नाऽनुपमृद्य प्रादुर्भावा’दिति—विनष्टाद्वीजादङ्कुर उत्पद्यते तथा विनष्टान्मृत्पिण्डाद् घटः इति । कृटस्थाच्चेत्कारणात्कार्यमुत्पद्येत तदा सर्वं सर्वस्माज्जायेत । अतोऽभावादेव भावकार्योत्पत्तिरिति—वैनाशिकमतम् । तदपि न युक्तम्—यतो ह्यभावात्कार्योत्पत्तिः स्याद्यदि, तदा शशविषाणादङ्कुरादीनां कार्याणामुत्पत्तिरपि स्यात्, तत्तु न दृश्यते, एवमभावस्य कारणत्वे बीजादेरन्यथासिद्धत्वं स्यात् । न चैतद्दृश्यते, सर्ववस्तूनां भावत्वेनैवोपलम्भात्, विकाराश्च सर्वे भावविकारा एवाऽवलोक्यन्ते, न त्वभावविकारा इति । अभावस्य तु सर्वत्र सुलभत्वात् क्षेत्रादौ बीजानामाधानं विनाऽपि—अङ्कुरादीनामुत्पत्तिः स्यात् । यदि च बीजविशिष्टाऽ-

भावस्य जनकत्वमुच्यते, तदा बीजमेव कारणं लाघवात् समुपपन्नं, किं पुनरभाव-  
कल्पनया, अङ्कुरस्य चोद्भावनं बीजगतमिति तेनाङ्कुराऽऽरोहणे सत्यपि किञ्चि-  
त्कालं बीजत्वेनाऽवलोक्यमानं बीजमनुभूयते इति । तस्माद्भावाद्वयति भावोत्पत्ति-  
रिति । एवं 'चतुर्भिश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते परमाणुभिश्च भूतभौतिक्यमुदाय  
उत्पद्यते-इत्यभ्युपगम्य पुनरभावाद्भावोत्पत्तिं मन्यमानैर्बौद्धैः प्रकटोक्तं स्वमति-  
वैभ्रम्यमिति । इत्येवमनेकदोषदूषितत्वेन जगदुपादानं नाऽभावो न वा चित्तचैत्ताः,  
न च सर्वमिदं क्षणिकमिति, किन्तु सर्वं सत् स्थायि भावकारणकम्, भावश्च  
नित्यः स्वगुणाऽऽश्रितः प्रधानप्रकृतिस्वरूप इति सिद्धान्तः समञ्जस इति ।

अथ योगाचाराः प्रत्यवतिष्ठन्ते,—यत्—सर्वं विज्ञानमिति सुगताऽभिप्रायः,  
यथा प्रमाता-प्रमाणं-प्रमेयं-प्रमिति-रिति चतसृषु विधासु तत्त्वपरिसमाप्तिः, आसा-  
मन्यतमाऽभावे हि तत्त्वाऽव्यवस्थानाद्विज्ञानस्कन्धः चतस्रो विधाश्चाऽभ्युप-  
गता इति । सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहाराऽनवतारात्,  
अपि चात्मन्यनुभवमात्रेण जायमानस्य ज्ञानस्य प्रतिविषयं नियतः पक्षपातः—  
यद् घटज्ञानं पटज्ञानं स्तम्भज्ञानमिति, तस्माद् विषयसारूप्यं ज्ञानस्याऽवश्यं  
विवक्षणीयम् । अतो विज्ञानमात्रमनुभूयते न ते बाह्यविषयाः, तथा चोपपन्नो  
बाह्यविषयाणामभाव इति । तदप्ययुक्तम्—यतोहि नोपलभ्यते सर्वजनसिद्धस्य  
घटादेः सत्त्वदशायाम्—'अयमभाव' इतिप्रत्ययः, किन्तु घटोऽयं पटोऽयमिति  
प्रत्ययो भवति, न चोपलभ्यमानस्याऽभावो भवितुमर्हति । बाह्यविषयमुपलभमानः  
कश्चिद्घटो 'नाहं घटं पश्यामीति' तदा सः अनवधेयवचनः स्यात्, विषयाधीनस्य  
विज्ञानस्यैव सत्त्वस्वीकारात्, तथा चाऽऽन्तरं विज्ञानं बाह्याश्च विषया इत्येवं  
भिन्नतयोपलम्भान्नाऽभावात्मका भावा इति । एवं सर्वं चेज्ज्ञानात्मकं तदा 'घटमहं  
जानामी'ति न स्यात्प्रयोगः । 'घट'मित्युक्ते घटस्य ज्ञानत्वात् 'जानामी'त्यनर्थकम्,  
'जानामी'त्युक्ते वा घटमित्यनर्थकम् भवेत् । 'घटपटौ जानामी'त्यत्र च समूहा-  
लम्बनज्ञानस्यैक्येऽपि घटपटयोर्भिन्नत्वाद् विज्ञानविषयपदार्थानां नैक्यमिति ।  
आत्मनश्चापि भवन्मते विज्ञानात्मकत्वात्, यावद्दस्तूनाश्च विज्ञानात्मकत्वात् सर्वं  
सर्वदा विज्ञातं स्यात्, इति कथं कदाचिद्ज्ञानत्वं विषयस्तत्त्वं वा विज्ञानाऽऽस्मभवः  
सम्भवेत्, दृश्यते च कदाचिदज्ञानी कदाचिद्ज्ञान्तः कदाचिद्विषयस्तः । अतएव उप-  
पन्नं सर्वं वस्तुजातं विज्ञानमात्रमिति । विज्ञानस्य गन्धादिगुणवत्त्वानुभवात्कथं  
गन्धशब्दादिगुणवत्त्वञ्चभूतादयो विज्ञानात्मकाः स्युः, अत एव गन्धादिगुणवत्त्व-  
थिव्यादयस्तन्मात्रादिसमुद्भूताः, तन्मात्राणि च स्वकारणादहङ्कारात्, अहङ्कारश्च  
महत्तः, महत्तश्च प्रकृतितः, इति सर्वेषां तादात्म्यमङ्गीकरणीयम् । अभावात्तु भा-  
वोत्पत्तौ विनाशाद्वा सर्वात्पत्तौ कार्यलिङ्गेन कारणस्थाऽलुभितस्य सुवर्णस्यैवत्वे



वाऽलीकत्वं स्यादिति, अभावस्य भावस्य च तादात्म्याऽनुपपत्तेः प्रकृतिसाधनाय 'सतः सज्जायते' इति पक्षः समजसः ।

केचिच्च (जैनाः)-असतः कथञ्चित्स्थापितः पुद्गलाल्पपरमाणुतः सतो-भावस्योत्पत्तिमभ्युपगच्छन्ति । सप्त चैषां पदार्थाः 'जीवाऽजीवाऽऽस्रव-संवर-निर्जर-बन्ध-मोक्षादिति, संक्षेपतस्तु द्वावेव जीवाऽजीवाख्याविति । तत्रैवाऽन्येषामन्तर्भावात् । तमिमं प्रपञ्चमन्यथाऽपि विवृण्वन्ति-यथा 'जीवाऽस्तिकायः पुद्गलाऽस्तिकायो धर्माऽस्तिकायोऽधर्माऽस्तिकाय आकाशास्तिकायश्चेति । तत्र च सर्वत्र सप्तभङ्गीनयं न्यायमवतारयन्ति--'यथा-स्यादस्ति,--स्यान्नास्ति,--स्यादस्ति च नास्ति च,--स्यादवक्तव्यः,--स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च,--स्यान्नास्ति चाऽवक्तव्यश्च,--स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यश्चेति । तमिमं सप्तभंगीनयं 'स्याद्वाद'मित्यभिदधति । तदपि न युक्तम् । यतो हि न ह्येकस्मिन्धर्मिणि सदसत्त्वादिरुद्धधर्मसमावेशः संभवति, यद्धि वस्तु सत्यमस्ति, तत्सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मना निर्वचनीयेन रूपेणाऽस्त्येव, न तु नास्तीति । यत्कदाचित्कथञ्चित्त्वचित्केनचिदात्मनाऽस्तीत्युच्यते--तद् अस्तीति स्यात्, न पुनः 'स्यान्नास्तीति' भवति । एते च सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवं रूपाश्चेति, ते तथैव स्युः,--तथैव वा न स्युः,--इतरथा हि तथा वा स्युः,--इत्येवं विधा विकल्पा न युज्यन्ते । तत्राऽनिर्धारितार्थं प्रणयन् मत्तोन्मत्तवदनवधेयवचनः स्यादिति । तथा च पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्वसङ्ख्याऽस्ति नास्ति वा-इति पिचारणे 'पक्षेऽस्ति-पक्षान्तरे नास्ति वेति स्यात्, पक्षे च वक्तव्याः पदार्थाश्चेत्-नाऽवक्तव्या भवन्ति ते । अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्, उच्यन्ते चेदवक्तव्या इति प्रतिषिद्धम्, इत्येवं पूर्वाऽपरविरुद्धं विपरीतञ्च सप्तभङ्गीनयं प्रलपन् विभ्रान्तो वक्ता, तन्मतं न संगतं भवतीति । एवं 'पुद्गलसंज्ञकेभ्योऽणुभ्यः संघाताः सम्भवन्ति' इतितन्मतमपि-असम्भवत्कारणभावानामाणूनां जगत्कारणत्वनिराकरणात्परमाणुवादनिरसनेन निराकृतं वेदितव्यमिति । तथा चैतेषां विप्रतिपन्नानां नैयायिक-वैशेषिक लोकायतिक-शांकर-विज्ञानभिक्षु-वैयाकरण-माध्व-निम्बार्क-विशिष्टाद्वैति-माहेश्वर-शैव-कापालिक-पाशुपत-माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिक-विवसनाऽर्हतानां मतेषु न भवति प्रधानसिद्धिः-कार्यकारणयोस्तादात्म्याऽनुपपत्तेः । तस्मात् 'सतः सज्जायते' इति सांख्यसिद्धान्तः प्रकृतिसाधनायोपयुज्यते ॥

यद्यपि शुद्धाद्वैताः 'सतो ब्रह्मणः सज्जगज्जायते' इतिसिद्धान्तयन्ति । तेषां हीदं मतम्-अस्य 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम'चेत्यर्थपञ्चकात्मकस्य जगतस्तादात्म्यसम्बन्धेन कारणं ब्रह्म एव, तदेवोपादानम् । स्वसमानसत्ताकार्याकारेण यदाविर्भवति तदुपादानम् इति तल्लक्षणम् । ब्रह्म चाऽऽविर्भवति जगद्रूपेण-

यथा सृष्टिप्रारम्भे साकारः परमात्मा 'स ईक्षाञ्चक्रे 'एकोऽहं बहु स्याम्' 'एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्' इति, ततो विद्याऽविद्या चेति शक्तिद्वयं ब्रह्मणि प्रादुर्भूतम्, ते चोभे ब्रह्मशक्ती स्वेच्छात्मकमायास्वरूपे, ब्रह्मतो जीवानामग्निविस्फुलिङ्गवदाविर्भावो भवति, एवं पृथिव्यादिभूतानीन्द्रियाणि महदहंकारादयोऽपि ब्रह्मतः प्रादुर्भवन्ति, अतएव ते सर्वेऽपि सत्याः, नाऽसन्तः, न वा विकारिण इति एतादृशसंसारोद्भवानन्तरं अविद्यया भगवच्छक्त्या तिरोहिताऽऽनन्दांशा जीवा मुग्धा भवन्ति, विद्यया च निर्मला शान्ता इति । परमात्मना स्वस्य रमणार्थं स्वस्मादेवाऽऽविष्कृतमिदं सर्वं तत्तु—सदेव ब्रह्मैव, नाऽन्यदतिरिक्तं तत्त्वम्, अत एव 'शुद्धमद्वैतमिति' ख्यातिः 'सतः सज्जायते' इति सिद्धान्तो भवति—इति । भवतु नाम तादृशसिद्धान्तस्तथापि ब्रह्मकारणवादाऽयं कथं युक्तः स्यात् । यतोहि नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तस्वभावं ब्रह्म, तस्माद्बुद्ध्यमानमनित्यमशुद्धमबुद्धममुक्तं जीवजाताऽऽकुलीभूतं जगत्कथं प्रादुर्भवेत् तत्र तिरोभवेच्च, विरुद्धधर्मकयोरभेदऽसंभवात् । नहि जडाच्चेतनं चेतनाच्च जडमभेदसंसर्गेण प्रादुर्भूतं तत्र तिरोभूतं वा क्वचिद्बुद्धम् । व्यवस्थाविरोधात् । यथा कारणं तयोपादेयं भवेदिति नियमो दृश्यते लोके । नहि ब्रह्मणि दुःखमोहादिकं केनचिदपि वेदान्तवाक्येनाऽवधारितम्, मोहदुःखतत्साधनाऽऽत्मकञ्चेदं जगद् तदभिन्नतया सुखमात्राऽवलिप्तस्याऽऽनन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणो दुःखमोहतत्साधनात्मकत्वमापद्येत, तथा सति 'हेयं दुःखमनागत'मिति योगोपदेशमनुसृत्य ब्रह्म सर्वैर्मुमुक्षुभिर्दूरादेवाऽनभिलपितं सदुपेक्षितं स्यात्, तदा किं पुनर्मोक्षसाधनमवशिष्येत । एवं 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' 'स वै सर्वमिदं जगत्' 'आत्मैवेदं सर्व'मित्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मकार्यं सर्वोऽपि प्रपद्य इति सिद्धान्तितत्वेन 'अविकृतपरिणामवाद'—इत्युद्बोधोपयन्ति शुद्धाऽद्वैतवादिनस्तदपि कथं सङ्गतं स्यात् । परिणामत्वन्त्वन्यस्वरूपेण भासमानत्वे सति तदात्मकत्वमिति, तात्त्विकोऽन्यथाभाव इति यावत् । पुनः कथञ्चेदं ब्रह्मणि संभवेत् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादिना सत्यस्वरूपस्य नित्यज्ञानस्य यथार्थसतो ब्रह्मणो निर्णयात्, तस्याऽन्यस्वरूपेण भासमानत्वादिधर्मवत्त्वं व्याहतमेव । जीवानान्तु ब्रह्मभिन्नत्वेन भवतु नाम भिन्नकालावच्छेदेन ज्ञानमज्ञानं वा, नित्यज्ञानवतो ब्रह्मणस्तु कथं ज्ञानाऽभावात्मकमज्ञानमविद्या भवेत्, तथा सति त्वज्ञानित्वादब्रह्म एव न स्यात् । एवम्—अविकृतपरिणाम इत्यत्राऽपि परिणामः स्याच्चेद्विकृतिः स्यादेव, यथा दुग्धपरिणामो दधि, तद्दुग्धस्य विकृतिरिति । परिणतं सदविकृतमिति अविकृतं सत्परिणतमित्युभयथाऽपि विरुद्धं तैः कथमेकीकृत्याऽविकृतपरिणामवाद इत्यङ्गीकृतम् । विरुद्धानामेकीकृत्यैकस्मिन्नेव प्रयुज्जानो भ्रान्तोऽनवधेयवचनः स्याद् वक्ता, तस्मादसमञ्जसमिदं मतम् । किन्तु सुखदुःखादिगुणा-



न्वितं जगत् स्वकारणमविद्यामनुमापयति, सा च नित्या त्रिगुणात्मिका, तत्रैव स्वानुगुणगुणवतां सतां कार्याणां तादात्म्यतारतम्येन समावेश इति मन्तव्यम्, तथा च 'सतः प्रकृतितः सज्जगज्जायते' इति वादेन प्रकृतिसिद्धिरिति ।

एवमपि पूर्ववादिषु तेषु स्वाभिमतं प्रधानं न सिद्धयति, यतः सुखदुःखमोह-रूपेण प्ररिणतशब्दस्पर्शाद्यात्मकमिदं जगत्स्वकारणस्य सत्त्वरजस्तमःस्वभावत्वं प्रधानत्वमवगमयति, यद्गुणकं कार्यं तद्गुणकं कारणमिति, यथा 'शुक्लपटकारणानि शुक्लास्तन्तवः, कार्यकारणयोः सारूप्यनियमात् । जगद्रूपञ्चेदं कार्यं सुखदुःखमोहात्मकमुपलभ्यते, यथा ह्येकैव स्त्री स्वस्वामिनं सुखयति, सपत्नीदुःखयति पुरुषान्तरं मोहयति, तथैव सर्वे पदार्थाः सुखदुःखमोहात्मकाः सन्ति, तत्कारणेनाऽपि सुखदुःखमोहात्मकत्वेन भवितव्यम् । तथा च तादृशे कारणे या सुखात्मकता, सः सत्त्वगुणः, या दुःखात्मकता स रजोगुणः या मोहात्मकता सः तमोगुणः, तथैतद्गुणत्रयात्मकं कारणं प्रधानं सांख्याऽभिमतम्, तच्च कार्यकारणयोरेभेदे सति सिद्धयेत्, अत्रैव सत्कार्यवादाङ्गीकारे भवति, सत्कार्यसिद्धौ चाऽनुमानप्रमाणमपेक्ष्यते तदाह—

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाऽभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

'कार्यं, सत्, असदकरणात्, 'असतो नृशृङ्गतुल्यस्य प्रागविद्यमानस्य, अकरणात्—उत्पादनाऽसंभवादिति, व्यतिरेकव्याप्तिमन्तर्भाव्य प्रयुक्तमिदं वाक्यम्, व्यतिरेकव्याप्तिरत्र 'यद्यदसत् तत्तदकरणकं द्रष्टुं यथा नृशृङ्गम् । 'यच्चोत्पद्यमानं तत्सत्-यथा घटादय इति । वस्तुतस्तु 'असदकरणादि'तिव्यतिरेकव्याप्तिबोधकपदत्वात् न सत्कार्यसाधने हेतुः, किन्तु क्रियमाणत्वं हेतुस्तथा च 'कार्यं, सत्, -क्रियमाणत्वादि-तिफलितम् । यदि च सत्त्वं नाम-उपादानसमवेतत्वं-तच्च कार्यस्योत्पत्त्यनन्तरं न्यायमते त्वस्त्येवेति तदर्थमनुमानप्रयोगे सिद्धसाधनम्, यदि तु कार्यपूर्वक्षणावच्छेदेन वृत्तिमत्त्वं सत्त्वम्, तदा पूर्वक्षणस्य कार्यान्धिकरणत्वनियमात् साध्याऽभाव-वत्त्वेन बाधः, तथापि कारणव्यापाराऽभिव्यक्त्यधिकरणक्षणपूर्वक्षणावच्छेदेन कारणे तादात्म्येन वृत्तिमत्त्वात्मकस्य सत्त्वस्य साध्यत्वे न क्षतिः । अथवा 'कार्यं,—स्वोपादाननिष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभावाऽप्रतियोगि,—तादात्म्येन कारणेऽभिव्यज्यमानत्वा'दित्यत्राऽन्वयव्यतिरेकप्रसिद्धत्वात् सत्कार्यसिद्धिरिति । न च सिद्धसाधनं बाधो वा भवति । यदि च स्वरूपेण कार्यमसत्स्यात् तदा कारणव्यापारपूर्वमप्यस्य सत्त्वं कर्तुं केनाऽपि न शक्येत, नहि कृष्णं रूपं शिल्प-सहस्रेणाऽपि शुक्लं कर्तुं शक्यते । यदि च सत्स्वरूपं विकारजातं स्यात्तदा कथं

कदाचिदसदिति स्यात्, नहि विकृतमपि जलं सत् कदाचिद्वह्निरूपं भवति । यदि तु सत्पदार्थस्याऽपि स्वकारणाऽधीनजन्मतया सत्त्वमसत्त्वञ्चेति धर्मो कल्पनीयौ, तदपि न, सत्पदार्थस्य सत्त्वमेव धर्मः, असत्त्वस्याऽपि पदार्थधर्मत्वे पदार्थोऽसन्त्यात्, 'असतः—स्वरूपरहितस्य च तस्यैवाऽलीकत्वेनाऽसति धर्मिणि कथं तस्याऽसत्त्वरूपो धर्मः संभवेत् । तस्मात्सत्पदार्थस्यैव धर्मवत्त्वानुभवात् सत्त्वमुपपन्नमिति । यदि च पदार्थस्य घटादेर्नाऽसत्त्वं धर्मो न वा स्वरूपं किन्तु तदस्थं पदार्थान्तरमिति चेत्, !—किमिदं सम्बद्धं न वा ?, सम्बद्धञ्चेत् !—सतोः सम्बद्धात्सत्त्वमुपपन्नम्, असम्बद्धञ्चेत्—असम्बद्धेनाऽतदात्मनाऽसत्त्वेन धर्मेण कथं तदनधिकरणं घटादिकमसत्स्यात्, तस्मात्कारणव्यापारात्परमिव पूर्वमपि कार्यं सदिति । तथा च सतः कार्यस्याऽनभिव्यक्तस्य कारणव्यापारेणाऽभिव्यक्तिर्भवति, यथा दधिमन्थनेन नवनीतस्य घृतस्य च, पीडनेन तिलेषु तैलस्येति । स्वरूपतस्तावदसत्पदार्थस्य शशविपाणनुल्यस्य उत्पत्तिरभिव्यक्तिर्वा कदाचिदपि न दृष्टा, नहि कदाचिदसदुत्पद्यतेऽभिव्यज्यते वा । तस्मान्न सतः कारणादसत्कार्यं जायत इत्युपपन्नं भवति । एवं—कार्यार्थिना उपादानकारणस्य ग्रहणं क्रियते, यथा दध्यर्थी क्षीरमुपादत्ते नान्यत्, तैलार्थी तिलानेवोपादत्ते नान्यत्, यदि चाऽसत्कार्यं स्यात्तदा दध्यर्थी जलमेव गृह्णीयात्, न तु तथा करोति, तस्मादुपादानग्रहणादपि ज्ञायते 'कारणे कार्यमस्ती'ति उक्तं 'उपादानग्रहणा'दिति,—तथा चाऽनुमानम्—'उपादानानि, कारणव्यापारात्प्रागपि कार्यवन्ति,—कार्यसम्बन्धाऽनुयोगित्वात्, यो यत्सम्बन्धाऽनुयोगी सः तद्वान्, यथा घटसम्बन्धानुयोगिभूतलं घटवदिति । भवति च कार्येण सम्बद्धमेव कारणं कार्यजनकम्, सत्पदार्थयोरेव सम्बन्धो भवति न त्वसतीरिति कारणमिव कार्यमपि सदिति तात्पर्यम् । नन्वसम्बद्धान्येव कारणानि स्वस्वकार्यमुत्पादयिष्यन्ति, तानि चाऽसत्कार्याणि स्वस्वकारणैरसम्बद्धान्येव भविष्यन्तीति चेन्न । 'कार्यं,—कारणेन सम्बद्धम्, कारणे नियमेनाऽभिव्यज्यमानत्वादिति । एवम्—'कारणानि, कार्यसम्बद्धानि, कार्याभिव्यक्तत्वात्, इत्यनुमानाभ्यां कार्यकारणसम्बन्धस्तावदुपपादनीय इति बोधनायोक्तम्—'सर्वसम्भवाऽभावादिति' । तथा च सर्वेषां कार्याणां स्वकारणैः सहाऽसम्बद्धत्वे सर्वत्रोत्पद्यमानत्वं स्यात्, तेन वृक्षान्मांसं मांसात् फलं पुष्पात्पापाणो ब्राह्मणान्महिषः सर्वस्मात्सर्वमपि स्यात् । किन्तु सर्वत्र सर्वेषां संभवाऽभावात्कारणैः सह सम्बद्धमेव कार्यमुत्पद्यते, सम्बन्धश्चाऽसतोर्न संभवतीति सदेव कार्यमिति तात्पर्यम् । नन्वसदेव कार्यं भवतु, तथापि न सर्वत्र संभवाऽऽपत्तिः, यत्र यस्य प्रागभावस्तत्रैव तस्योत्पत्तिस्वीकारादिति चेन्न, तन्वनुत्पाददशायां पटस्य प्रागभावः कुत्र स्यात् ? न च काले स्यादिति वाच्यम्, कालवृत्तिप्रागभावस्य क्रियाविरहेण कालस्याऽपि क्रियाविरहेण तन्तावागमनविर-



हात् तन्तुवृत्तित्वं न स्यात् । अथ कालस्तन्तुरूप एवेति चेत् ! न, यतस्तन्तुवृत्तुपा-  
ददशायां कालस्याऽविद्यमानत्वेन पटप्रागभावः कुत्र स्यात् ? पृथिव्यादाविति चेत् !  
पृथिवी तु सर्वसाधारणी, तेन पटप्रागभावाधिकरणपृथिवीतो घटाद्युत्पत्तिरप्यापतिता  
भविष्यति । न च पटनिरूपितकारणताविशिष्टपृथिवीत्वं कारणतावच्छेदकं तदव-  
च्छिन्ने च पृथिव्यादौ पटप्रागभाव इति वाच्यम्, अविद्यमानस्य पटादेः स्वकारण-  
नियामकत्वाऽयुक्तत्वात्, तथा च का पृथिवी कस्य कारणोभूतेत्यपि निश्चयाऽभावात्  
सर्वत्र सर्वसंभवाऽऽपत्तिस्तदवस्थैव, तस्मात्सत्कार्यं सता कारणेन सह सम्बद्धं  
सत्प्राविर्भवतीति सिद्धान्तः । अत एव साङ्ख्यवृद्धाः—‘असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः  
कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः । असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थिति’रिति । नन्व-  
सम्बद्धमपि सत्कारणं तदेव कार्यमुत्पादयिष्यति यत्र यत्कारणं शक्तं, यथा तन्तवः  
पटशक्तिमन्तः पटोत्पादका इति, तथा चाऽसत्कार्योपगमेऽपि न क्षतिरिति, शक्ति-  
श्च स्वस्वकार्यदर्शनादवगम्यते, एवञ्च सर्वत्र सर्वसंभवरूपाऽव्यवस्था न स्यादिति  
चेन्न । ‘शक्तस्य शक्यकरणात्’ । शक्तस्य कारणस्य शक्यमेव करणं कार्यं भवति न  
त्वशक्यं । सा च शक्तिः कार्यमात्रे स्यात् ! कारणमात्रे स्यात् ? कारणसामान्ये वा ? का-  
रणसामान्ये स्यात्तदा सर्वत्र सर्वकार्योत्पाद इत्यव्यवस्थाऽऽपातः । कार्यमात्रे चेत् !—  
तत्र असत्कार्यं शक्तिः कथं कल्प्येत, यत्स्वरूपतोऽसत् तत्र शक्तिकल्पनं कूर्मरोम-  
वदस्थानमिति, तस्मात्सत्कार्यमभ्युपेयम् । कारणमात्रे चेच्छक्तिः, सा सम्बद्धा ?  
न वा सम्बद्धा ?, असम्बद्धा चेत् ! सैवाऽव्यवस्था, सम्बद्धत्वे तु नाऽसत्पदार्थस्य  
सम्बन्धः सम्भवति, अत एव सत्कार्यमेव शक्तिसम्बन्धकमनभिव्यक्त्यवस्थं  
कारणगतं कल्पनीयमिति सत्कार्यं सिद्धम्, तथा चाऽनुमानप्रयोगः—‘कारणगता  
शक्तिः,—अनागताऽवस्थकार्यसम्बद्धा, विद्यमानसत्पदार्थविषयकत्वात्,—ज्ञानव-  
दिति—सुष्ठूक्तम् ‘शक्तस्य शक्यकरणा’दिति । एवञ्च यत्कारणस्य यत्कार्यशक्तत्वं  
तत्कार्यस्य तत्कारणाऽभिन्नत्वमिति तत्त्वम् । नहि कारणाद्भिन्नं कार्यं भवति,  
असत्त्वेत्कार्यं कथं कारणाऽभिन्नं स्यात्, तेन कार्यं कारणमुभयमपि सत्,—कस्मात् ?  
‘कारणभावा’दिति, तथा च ‘कार्यं,—सत्,—कारणाऽभिन्नत्वात्, कारणस्वरूपव-  
दिति । एवं पटो, न तन्तुभिन्नः, तन्तुधर्मत्वात् । यद्यतो भिद्यते स न  
तद्धर्मो भवति यथा घटत्वं पटस्य, धर्मश्च पटस्तन्तूनामिति न तस्य कारणाऽना-  
त्मकत्वम्, । एव—‘तन्तुपटयोर्न भिन्नत्वम्—उपादानोपादेयभावात्, यो यस्य-  
भेदवान्, नास्ति तयोर्होपादानोपादेयभावो यथा तन्तुघटयोः, यस्य चोपादानोपा-  
देयभावस्तयोर्न भेदो यथा तन्तुपटयोस्तस्मान्न भेद इति । एवं—तन्तुपटयोर्न  
भिन्नत्वम्—संयोगाऽप्राप्त्यभावात्, यत्र हि भेदस्तयोः संयोगो दृष्टो यथा दण्ड-  
घटयोः, यत्र च भेदस्तयोर्प्राप्तिर्दृष्टा यथा रैवताचल-द्वारिकानगरयोः । न तु तथा

तन्तुपटयोः संयोगोऽप्राप्तिर्वा दृश्यते, तस्मान्नास्ति भेद इति । एवम्—पटो-न तन्तुभिन्नो-गुरुत्वान्तरकार्याऽग्रहणात्, यद्यस्माद्भिन्नं तस्मात्तस्य गुरुत्वान्तरकार्यं ग्राह्यं भवति, यथैकतोलकस्य सुवर्णस्य गुरुत्वकार्योऽवनतिरूपस्तस्माद् द्वितोलकस्य सुवर्णस्य गुरुत्वकार्योऽवनतिभेदोऽधिकः, न च तन्तुपटयोस्तन्तुगुरुत्वकार्याऽवनत्य-पेक्षया पटुगुरुत्वकार्याऽवनत्यधिकताऽवगम्यते, किन्तु साम्यमेवेति तन्तुभ्योऽभिन्नः पट इति । तान्येतान्यवीतान्यभेदसाधकान्यनुमानान्यवसेयानीति । एवञ्च तन्तव एव संयोगादिना समष्टाः 'पट' इति न तु तयोर्भेदः । ननु पटे ह्युत्पत्तिविनाशबुद्धेः 'पट उत्पद्यते पटो विनश्यती'त्याकारिकायास्तव भावकार्यस्य नित्यत्वे सति तत्रोत्पत्तिविनाशयोगाऽसंभवात् असंभवः, तस्मादसतः कार्यस्यैवोत्पत्तिविनाशव्यवहारो युक्त इति चेन्न । तत्रोत्पत्तिव्यवहारस्त्वभिव्यक्तिनिमित्तकः, कार्यस्याऽभिव्यक्तिः उत्पत्तिव्यवहारः, अभिव्यक्त्यभावाच्चोत्पत्तिव्यवहारोऽभावः, न पुनरसत्कार्यमभ्युपगम्य तत्सत्ताया तादृशव्यवहार इति । अभिव्यक्तिश्च पटस्य प्रादुर्भावात्मकवर्तमानाऽवस्था, कारणव्यापारोऽपि कार्यस्य वर्तमानावस्थात्मिकामभिव्यक्तिं करोतीति, यथोपलब्धताऽभिव्यक्तप्रतिमायाः शिल्पिव्यापारेणाऽभिव्यक्तिमात्रमिति । एवं विनाशो नाम स्वकारणे लयः—सूक्ष्मतया कारणेऽविभागः, अतीतावस्थात्मकत्वं कार्यस्येति यावत्, तस्माद्विनाशस्याऽत्र तिरोभाव इत्यर्थः, स च सत्कार्यस्य संभवतीति, नन्वतीतमप्यस्त्यनागतमप्यस्तीत्यत्र किं मानमुपलभ्यत इति चेत् ? योगिनां कालान्तरभाविवृत्तान्तो योगजधर्मबलात् प्रत्यक्षप्रमाविषयो भवति, तथा च सत एव पदार्थस्य प्रमाविषयत्वसंभवात्, असन् स्याच्चेद् गगनकुसुममिव विपर्ययविषयः स्यात् । तथा चोत्पत्तिविनाशयोरेकस्मिन्नाऽऽविर्भावतिरोभावाभ्यां व्यवहारसामञ्जस्यात् नोभयोः सत्कार्ये विरोधः । भवति च व्यपदेशो—यथा कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति निःसरन्ति चाऽऽविर्भवन्ति, न तु कूर्मे तदङ्गान्युत्पद्यन्ते प्रध्वंसन्ते वा । एवमेकस्या एव मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषा निःसरन्तः सन्तः आविर्भवन्ति—उत्पद्यन्ते इत्युच्यन्ते, निविशमानाश्च तिरोभवन्ति विनश्यन्तीत्युच्यन्ते, न त्वसतामुत्पादः सताञ्च निरोध इति भगवता कृष्णेनाप्युक्तम्—'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः' इति । तथा च घटमुकुटादयो न मृत्सुवर्णादिभिन्नाः कूर्मश्च न कूर्माऽवयवभिन्न इति । नन्विमे सन्तवोऽयञ्च पट इति शब्दप्रयोगभेदस्तावत्तनूनां पटस्य च विभेदमुपपादयतीति चेन्न । भेदव्यपदेशस्तु-तिलकवृक्षाणां समूह एव वनं न त्वतिरिक्तं, वृक्षा एव वनस्वरूपास्तथापि भवति व्यपदेश इह वने 'तिलका' इति तथा च नैकान्तिको भेदः सिद्धयतीति । नन्वर्थक्रियाभेदस्तावद्भेदमापादयिष्यति, भवति च नानाऽर्थक्रियादर्शनम्—यथैकस्यैव वहेदाहजनकत्वं पाकजनकत्वं प्रकाशकत्वञ्चेति, एकस्यैव पुरुषस्य



कदाचिद्वराक्षसत्वं कदाचिद्देवत्वं कदाचिद्भृत्यत्वञ्चेति चेन्न । न तावदेकस्मिन् वस्तुनि विद्यमानमर्थक्रियाविशेषसत्त्वं तद्वेदसाधकम्, यतो हि दाहपाचनप्रकाशा-  
ञ्चेति-धर्मा एकस्मिन्नेव वस्तौ कल्प्यन्ते न तु भिन्ने, समानाधिकरणयोरविरुद्धयो-  
र्धर्मयोः स्वाऽधिकरणभेदसाधनाऽसामर्थ्यात् । एवम् भृत्याः प्रत्येके न शिबिकावहनं कु-  
र्वन्ति मिलितास्तु शिबिकां वहन्ति । प्रत्येके तु स्वसम्पाद्यगमनादिक्रियां कुर्वन्ति, तत्र  
क्रियाभेदेऽपि न भृत्यभेदः, ये हि प्रत्येकं शिबिकामवहमानास्त एव मिलितास्तु  
वहमाना इति । एवं तन्तवस्तावदसमष्टा न प्रावरन्ति मिलितास्तु प्रावरिष्यन्तीति,  
क्रियाभेदेऽपि तन्तव एव पटरूपा न तु भिन्नास्तस्मादाविर्भावतिरोभावस्वभाव-  
कार्याणां कारणाऽभिन्नत्वमिति । नन्वभिव्यक्तिः पटस्य कारणव्यापारात्प्राक् सती ?  
असती वा ? आद्यं कारणव्यापारं विनाऽपि तादृशसदभिव्यक्ति एव कार्यजनन-  
त्वाऽऽपत्तिः कारणव्यापारश्च विफलः । अन्ये त्वभिव्यक्तावेव सत्कार्यसिद्धान्तहानि-  
रिति चेन्न । अभिव्यक्तिः कारणव्यापारात्पूर्वमपि सती, कारणव्यापारोऽपि स्वाऽभि-  
व्यक्तिपूर्वं सन् किन्त्वनागतावस्थइति । अभिव्यक्तिरप्यनागतावस्था, सा च  
कारणव्यापाराद् वर्तमानाऽवस्था भवति, तदा कार्यजनककारणव्यापारोऽपि वर्तमा-  
नाऽवस्थागतः, तदधीनमेव कार्यं, न त्वभिव्यक्त्यधीनमिति । तथा च न सत्कार्य-  
हानिप्रसङ्गः । ननु यदुच्यते-‘पट उत्पद्यते त्रिनश्यति वे’ति तत्र किमुत्पत्तिः सती ?  
असती ! वा, सती चेत् ! कारणव्यापारवैफल्यम्, असती चेत् ! तस्यामप्युत्पत्त्यन्तरम-  
ङ्गीकर्तव्यमित्येवमनवस्था, तस्मादुत्पत्तिरपि पटान्नाथान्तरं किन्तु पटात्मिकैवेति ।  
ननु तथापि ‘पट’ इत्युच्यमाने ‘उत्पद्यते’ इत्युक्तं भवति, एवम् ‘पट’ इत्युक्ते ‘विनश्यति  
इत्युक्तम् भवति, तेन ‘पटः’ इत्युच्चारणेनैवोत्पादविनाशयोश्चरितार्थतया ‘उत्पद्यते  
वा विनश्यति’-इति न वक्तव्यम्, पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात्, एवम् पटात्मकत्वे ‘उत्पा-  
दविनाशयोः, तदुभयमपि विरुद्धं परस्परं व्याहतं सत्—वस्तुसत्त्वं विहन्यादिति  
चेन्न । उत्पत्तिः पटात्मिका यावदनागतावस्थात्मिका तावन्न ‘पट’ इति प्रयोगे—उत्प-  
त्तेश्चरितार्थत्वम्, वर्तमानाऽवस्थायान्तु तन्तवः-पटः—उत्पत्तिरिति सर्वेभ्योऽपि  
‘तन्तवः’-‘पटः’-‘उत्पत्ति’-रिति-पदबोध्यास्ते न शब्दव्यवहारसङ्कीर्णतां यान्ति ।  
एवं विनाशोऽप्यधिकरणात्मकोऽपि न ‘पट’पदवाच्य इति । अत उत्पत्तिः प्रावि-  
र्भाववस्थायां व्यवह्रीयते विनाशश्चास्तीतावस्थायामिति द्वयोर्विरोधाऽभावाच्च त-  
द्व्याहनननिमित्ता वस्तुसत्त्वहानिरिति । तस्मात्सर्वथोपपन्नं कार्यं सदिति ॥१॥

तच्च कार्यं सदपि सामान्यरूपेण विशेषरूपेण चोभयथा वा विज्ञातं सत्सामा-  
न्यधर्मप्रकारकं विशेषधर्मप्रकारकमुभयधर्मप्रकारकं वा विवेकज्ञानमुत्पादयतीति  
विवेकज्ञानोपयोगिनी व्यक्ताऽव्यक्ताऽरूप्यवैरूप्ये तावदाह—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।

साऽवयवं परतन्त्रं व्यक्तम्, विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

‘व्यक्तम्-बुद्ध्यादिकम् । मूलप्रकृति-पुरुषमिन्नं सर्वं कार्यजातं ‘व्यक्त’पदवाच्यं लक्ष्यम्, तस्य ‘हेतुमदि’ति साधर्म्य-कारणवत्त्वमित्यर्थः, भवति हि पृथिवीघटपटादीनां भूतानां कारणं पञ्चतन्मात्राणि, तन्मात्राणामिन्द्रियाणाञ्च कारणमहङ्कारः, अहङ्कारस्य महत्तत्त्वम्, महत्तत्त्वस्य तु मूलप्रकृतिरिति । यत्कार्यं यस्मात्कारणात् प्रादुर्भवति तत्कार्यं तत्कारणवदिति । कारणपदं तूपादानकारणपरं बोध्यम्, उपादानकारणवत्त्वञ्च प्राविर्भावाऽऽख्यतादात्म्यसम्बन्धेन बोध्यम्, अन्यथा तिरोभावाऽऽख्यतादात्म्यसम्बन्धेन कारणकारणे मूलप्रकृतावतिव्याप्तिः स्यात्-तथाहि महत्तत्त्वं प्रादुर्भावाऽऽख्यतादात्म्यसम्बन्धेनाहङ्कारे तिष्ठति, तिरोभावाख्यतादात्म्यसम्बन्धेन मूलप्रकृतेति तिष्ठतीति । एवं कार्यकारणयोस्तादात्म्यात्, अहङ्कारस्य प्रादुर्भावाऽऽख्यतादात्म्यसम्बन्धेन स्वकारणमहत्तत्त्ववत्त्वं भवति । एवम्-महत्तत्त्वस्य तादृशसम्बन्धेन स्वकारणमूलप्रकृतिवत्त्वं भवति, मूलप्रकृतेस्तु कारणाऽभावादेव तादृशसाधर्म्यस्य नाऽतिव्याप्तिस्तत्र । तथा च प्रादुर्भावाऽऽख्यतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नस्वकारणवत्त्वं साधर्म्यम् । ननु तिरोभूतानामप्रादुर्भूतानां वाऽत एव कारणावस्थाऽवच्छिन्नानां घटादीनां पृथिव्यादीनां वा केवलतादात्म्यसम्बन्धेनैव कारणवत्त्वं भवति न तु प्राविर्भावाऽऽख्यतादात्म्यसम्बन्धेनेति तत्राऽव्याप्तिरिति चेन्न । ‘प्राविर्भावाऽऽख्यतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नस्वकारणवद्बुद्धिर्व्यक्तत्वव्याप्यधर्मवत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, अप्रादुर्भूतादिघटादौ च व्यक्तत्वव्याप्य-तत्त्वविभाजक-पृथिवीत्वादिधर्ममादाय लक्षणसमन्वयः । ‘अनित्यमिति’,—नित्यत्वन्तु-तिरोभावस्वभाववहितत्वे सति स्वस्वरूपेणाऽवस्थानत्वम्,—खपुष्पादिवारणाय विशेष्यदलम्, घटादीनामपि स्वस्वरूपेणाऽवस्थानत्वात् तद्वारणाय सत्यन्तदलम् । तादृशानित्यत्वाऽभाववदनित्यमिति तच्च महदादीनामस्त्येवेति । वस्तुतस्तु तादृशानित्यत्वघटिताऽनित्यत्वाऽपेक्षया लाघवात् तिरोभावस्वभाववत्त्वे सति सत्त्वमेव साधर्म्यं वक्तव्यम् । स्थूलाऽवस्थायां घटस्य तिरोभावस्वभावस्याऽवर्तमानत्वादव्याप्तिस्तत्र भवतीति चेत् ! तस्य ‘तिरोभावस्वभावविशिष्टसत्त्ववद्बुद्धि-व्यक्तत्वव्याप्य-पदार्थतत्त्वविभाजक-धर्मवत्त्वमर्थः—तथा च तिरोभूतघटपटादिमादाय लक्षणसमन्वय इति ॥ ‘अव्यापी’ ति-भवति हि कारणं व्यापकं कार्यन्तु व्याप्यमिति, कारणेन कार्यं व्यासम्, न तु कार्येण कारणमिति, न च बुद्ध्यादयः प्रकृतिं व्याप्नुवन्ति, तथा चाऽव्यापका बुद्ध्यादयः । अव्यापकत्वम्-व्याप्यत्वमिति । व्याप्यत्वञ्चाऽत्र-‘स्वकारणसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यत्वे सति स्वकारणतादात्म्यकत्वम्—भवन्ति हि घटबुद्ध्यादयः स्वकारण-



सत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्याः स्वकारणतादात्म्याश्चेति । यद्धि यत्र समाविष्टम्-यथा घटादिः पृथिव्याम्, सा पृथिवी व्यापकद्रव्यम्, घटश्चाव्यापकद्रव्यम् । नहि कार्यं स्वस्मिन्स्वकारणं समावेशयति, न च तथा बुद्ध्यादयः स्वेषु प्रधानं वेविपन्तीत्य-व्यापकास्ते कार्यात्मका व्याप्या इत्यर्थः । नन्वाकाशस्त्वत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगि-त्वात्सर्वत्र सत्त्वाद् व्यापक इति चेन्न । आकाशस्य स्वकारणे शब्दतन्मात्रे तिरो-भावदर्शनात्-शब्दतन्मात्रसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यत्वे सति शब्दतन्मात्रतादात्म्यात् तस्य व्याप्यत्वमेवेति । स्वस्वकारणाऽपेक्षया व्याप्यमित्यर्थः, असर्वगतत्वमिति तु हृदयम् ॥ 'सक्रियमिति क्रिया-तत्तत्तत्त्वानां विशेषण्यपारः, विशेषकार्यमिति यावत्, यथा बुद्धेरध्यवसायोऽहंकारस्याऽभिमानो मनसस्तु सङ्कल्पः श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणां शब्दादयः कर्मेन्द्रियाणां वचनादयः पञ्चतन्मात्राणां भूतानि भूतानान्तु घटादय इति । तथा च नियतस्वस्वव्यापारात्मकविशेषकार्यकारित्वं साधर्म्यम् । ननु घटादेरन्त्यावयविद्रव्यस्य नियतस्वव्यापारात्मकविशेषकार्यकारित्वाऽभावेन तत्राऽ-व्याप्तिरिति चेन्न । स्वस्वनियतविशेषकार्यकारित्ववद्बुद्धि-व्यक्तत्वव्याप्य-पदार्थत-त्त्वविभाजक-धर्मवत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, घटादौ निष्क्रिये पापाणादौ वा पृथिवी-त्वादिधर्ममादाय लक्षणसमन्वयात् । मूलप्रकृतितत्त्व स्वनियतविशेषकार्यस्य महत्त-त्त्वस्य जननात् तादृशकार्यकारित्वेऽपि व्यक्तत्व-व्याप्यपदार्थतत्त्वविभाजकधर्मवत्त्वा-ऽभावेन नाऽतिव्याप्तिस्तत्र । अथवा क्रिया परिस्पन्दः-संसरणमितियावत्, बुद्ध्या-दिलिङ्गशरीरम् उपात्तमुपात्तं स्थूलशरीरं त्यजति, देहान्तरञ्चोपादत्ते, एवं स्थूलभू-तशरीरादौ गमनादिक्रियाऽत्मकपरिस्पन्दः स्फुट एव, यद्यपि स्थिरघटादौ परिस्पन्दो नास्ति तथापि 'परिस्पन्दवद्बुद्धि-व्यक्तत्वव्याप्य-पदार्थतत्त्वविभाजक-धर्मवत्त्वस्य विवक्षणेन नाऽव्याप्तिः ॥ 'अनेकमिति-अनेकत्वञ्च-स्वसजातीयस्वभिन्नव्यक्तिक-त्वम्, बुद्ध्यादयो हि प्रतिपुरुषं भिन्नास्तथा घटपटादिरूपपृथिव्यादयोऽपि, साजा-त्यन्तु स्ववृत्तिविशेषधर्मेण ग्राह्यम्, तेन जडत्वादिसामान्यधर्मेण मूलप्रकृत्यात्मक-सत्त्वादीनामपि स्वसजातीयस्वभिन्नतमोव्यक्तिकत्वेऽपि मूलप्रकृतौ नाऽतिव्याप्ति-रिति । न च सत्त्वगुणानामनेकत्वात् सत्त्वत्वधर्मेण स्वसजातीयस्वभिन्नव्यक्तिक-त्वात्प्रकृतिस्वरूपसत्त्वगुणेऽतिव्याप्तिरिति वाच्यम् । स्वसजातीय-स्वभिन्नव्यक्तिक-स्ववृत्ति-व्यक्तत्वव्याप्य-पदार्थतत्त्वविभाजक-धर्मवत्त्वस्य विवक्षणीयत्वेन सत्त्वत्वस्य पदार्थतत्त्वविभाजकधर्मत्वाऽभावेन नाऽतिव्याप्तिस्तद्गुणसत्त्वगुणे, एतादृशपरिष्कारे तु साजात्यं येन केनाऽपि धर्मेण ग्राह्यम् । मूलप्रकृत्यात्मकसत्त्वादीनां जडत्वादिना सजातीयं स्वभिन्नं तमःप्रभृतिगुणमादायाऽतिव्याप्तिदानन्तु व्यक्तत्वव्याप्यपदार्थ-तत्त्वविभाजकधर्मवत्त्वाऽभावोऽत्र संभवत्येवेति । अथवा 'स्वप्रतियोगिकभेदसमाना-धिकरण-स्ववृत्ति-व्यक्तत्वव्याप्य-पदार्थतत्त्वविभाजकधर्मवत्त्वम्-अनेकत्वं परिष्क-

रणीयम्, एकमहत्तत्त्वप्रतियोगिकभेदस्याऽन्यस्मिन्महत्तत्त्वे सत्त्वात् तत्समानाधिकरणः स्ववृत्तियोगं व्यक्तत्वव्याप्यः पदार्थतत्त्वविभाजको महत्तत्त्वधर्मस्तद्वत्त्वमित्येवं सर्वत्र लक्षणसमन्वयः । व्यक्तत्वव्याप्यपदानुपादाने सत्यपि प्रकृतौ तु स्वभेदाऽभावेनैव नाऽतिव्याप्तिः, पुरुषे तु व्यक्तत्वव्याप्यधर्माऽभावादेव नाऽतिव्याप्तिः । अथवा 'अनेकव्यक्तिवृत्ति-व्यक्तत्वव्याप्य-तत्त्वविभाजक-धर्मवत्त्वं विवक्षणीयम्, तथा च न कोऽपि दोष इति ॥ 'आश्रितमिति, - आश्रितत्वन्तु- 'स्वकारणनिष्ठाऽधिकरणा-निरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाऽऽधेयतावत्त्वम्, भवन्ति च कार्यघटादयस्तादात्म्येन कारणे पृथिव्यादौ वृत्तिमन्त इति । बुद्धिनिरूपिताऽऽधेयतावति पुरुषप्रतिबिम्बे बुद्धेः कारणत्वाऽभावादेव नाऽतिव्याप्तिः, प्रकृतेस्तु स्वकारणाप्रसिद्धेरेव नाऽतिव्याप्तिः । तादात्म्यसम्बन्धस्तु प्राविर्भावाऽऽख्यस्तिरोभावाख्यो वा यथेष्टं ग्राह्यस्तेन तिरोभूतवटादौ नाऽव्याप्तिः । यद्यपि तादात्म्यसम्बन्धेन वस्तुनोराश्रयाऽश्रयिभावो भवितुं नार्हति, तथापि साङ्ख्यनये कारणावस्थातः कार्यावस्थाया भेदात्तदवलम्ब्यैव तदभ्युपगमात् ॥ 'लिङ्गम्-लिङ्गयति ज्ञापयत्वर्थानिति लिङ्गम्-ज्ञापकमुमितिजनकमिति, बुद्ध्यादयो हि पक्षीभूय स्वस्वधर्मैर्हेतुभूतैः भवन्ति स्वप्रकृतिविषयकाऽनुमितिजनकधर्मावच्छिन्ना अत एवाऽनुमितिप्रयोजका इति, यथा- 'विवादास्पदा महदादयः, - अव्यक्तकारणवन्तः, - परिमितत्वात्, - समन्वयाद्वा, घटादिवदि' - ति । ननु - 'प्रधानादयः, - परार्थाः, - संघातत्वात्' शयनाऽऽसनादिवदि' त्येवं स्वधर्मैः प्रकृतेरपि पुरुषस्यानुमितिप्रयोजकत्वात् प्रकृतावतिव्याप्तिरिति चेन्न, 'लिङ्ग'मित्यस्य स्वप्रकृत्यनुमापकत्वार्थकतया प्रकृतेश्च स्वप्रकृतेरप्रसिद्धत्वात् नातिव्याप्तिस्तत्र । एवं 'भोक्ता पुरुषः, - भोग्यापेक्षः, - पुरुषत्वात्-इत्यनुमानविधया पुरुषस्य भोग्यप्रकृत्यनुमापकत्वेऽपि स्वकारणानुमापकत्वस्य तत्र नातिव्याप्तिः । यद्यपि कदाचित् स्वप्रकृत्यनुमापके पापाणादावव्याप्तिस्तथापि- 'स्वस्वप्रकृत्यनुमापकवृत्ति-व्यक्तत्वव्याप्य-पदार्थतत्त्वविभाजकधर्मवत्त्वस्य विवक्षणान्न दोषः ॥ 'सावयवम्' - अवयवनम् अवयवः - द्वयोर्द्रव्ययोर्मिथः संयोगः, स चाऽप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः, तेन सहितत्वं सावयवत्वम्, अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगाऽनुयोगिताप्रतियोगिताऽन्यतरवत्त्वमिति यावत् । यथाहि पृथिव्यादयः परस्परं संयुज्यन्ते, एवं तन्मात्राण्यपि परस्परं संयुज्यन्ते, तथैवेन्द्रियाण्यपि, अहङ्कारश्चाहङ्कारान्तरेण सह, बुद्धिश्च बुद्धयन्तरेण सह भूताऽऽवेशादिस्थले । प्रकृतिस्त्वैकैवेति न तस्याः प्रकृत्यन्तरेण सह संयोगसंभवः, बुद्ध्यादिना सह तु तादात्म्यान्नातिव्याप्तिः, सत्त्वादिगुणानां तु न परस्परं निरुक्तसंयोगः, - अप्राप्तेरभावात् । यद्यपि पुरुषस्य पुरुषान्तरेण भवति तथाविधसंयोगस्तथापि यस्य परमाण्वादेः परस्परं तादृशसंयोगः कदापि न जातस्तत्राऽव्याप्तिवारणाय, 'तादृशसंयोगवद्बृत्तिव्यक्तत्वव्याप्य-पदार्थ-



तत्त्वविभाजक-धर्मवत्त्वस्य विवक्षितत्वात् पुरुषे नाऽतिव्याप्तिरिति ॥ 'परतन्त्रम्'—स्वकार्योत्पादने स्वकारणाऽपेक्षम्, बुद्धिर्हि स्वकार्येऽहंकारे जनयितव्ये प्रकृतिसाहाय्यमपेक्षते, अन्यथा क्षीणा सती नाऽहंकारमुत्पादयितुं समर्था भवति । एवं सर्वं स्वकार्यजनने स्वप्रकृतिमपेक्षते, अतः प्रकृत्यधीनं सर्वं व्यक्तमिति । 'स्वप्रकृत्यधीन-स्व-रूप-परिणामकत्वमिति साधर्म्यम् ॥ व्यक्तव्यावृत्तमव्यक्तेऽतिदिशति-विपरीतमव्यक्तमिति' । व्यक्ताद्विपरीतमव्यक्तं बोध्यम् । यथा—'अहेतुमत्—यस्य कारणं नास्ति, प्राविर्भावाख्यतादात्म्यसम्बन्धेन स्वोपादानकारणवत् यत् यत् स्वं तद्विज्ञत्वमिति यावत् । 'नित्यम्'—तिरोभावस्वभावरहितम्, तिरोभावस्वभावविशिष्ट-सत्त्ववत् यत् यत् तद्विज्ञत्वमिति यावत् । 'व्यापि'—सर्वगतत्वम्,—व्यापकत्वम्, स्वकारणसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यत्वविशिष्ट-स्वकारणतादात्म्यं यत् यत् स्वं तद्विज्ञत्वमितियावत् । 'निष्क्रियम्'—परिस्पन्दरहितम्, नियतत्वस्वव्यापारात्मकविशेषकार्य-कारि यत् यत् स्वं तद्विज्ञत्वम्, अथवा—अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगानुकूलक्रियावत् यत् यत् तद्विज्ञत्वमितियावत् । 'एकम्'—स्वसजातीयभेदशून्यम्, स्वसजातीयस्वभिन्नव्यक्तिकं यत् यत् स्वं तद्विज्ञत्वमिति यावत् । 'निराश्रितम्'—कारणशून्यत्वेन कारणाऽनाश्रितम्, स्वकारणनिरूपिताऽऽधेयतावत् यत् यत् तद्विज्ञत्वमित्यर्थः । 'अलिङ्गम्'—कारणाऽननुमापकम्, स्वकारणाऽनुमापकं यत् यत् स्वं तद्विज्ञत्वमिति यावत् । 'निरवयवम्'—अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगानुयोगिता-प्रतियोगितान्यतरवत् यत् यत् स्वं तद्विज्ञत्वमितियावत् । 'स्वतन्त्रम्'—सृष्ट्युत्पत्तिप्रयोजकस्वतन्त्रतावत्, स्वप्रकृत्यधीनस्व-रूपपरिणामकं यत् यत् स्वं तद्विज्ञत्वमिति यावत् ॥ यत् अहेतुमत्त्वादिकम् अव्यक्तस्य धर्मः व्यक्तस्य तत् वैधर्म्यमिति, यच्च व्यक्तस्य साधर्म्यम्, तत् अव्यक्तस्य वैधर्म्यमिति । 'विपरीतमव्यक्तमि'त्यत्र 'अव्यक्त'पदं पुरुषस्याऽप्युपलक्षकम्, "तद्विपरीतस्तथा च पुमान्" (ति. ११) कारिकायां 'तथा चे'त्यनेन पुरुषस्य व्यक्तविपरीतत्वकथनात्, पुरुषाणामनेकत्वात् 'एकत्वं' विहाय व्यक्तविपरीतत्वं तत्राऽनुसन्धेयम् । पुरुषस्य निर्धर्मकत्वात् पुरुषस्य 'हेतुमत्त्वादिकं' वैधर्म्यमित्यत्राऽभिप्राय इति ॥ १० ॥

तावदुक्ते व्यक्ताऽव्यक्तयोः परस्परं सारूप्यवैरूप्ये, सम्प्रति तयोः सारूप्यं पुरुषाच्च वैरूप्यमित्याह—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।

व्यक्तं, तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

व्यक्ताऽव्यक्तयोः साधर्म्यं 'त्रिगुण'मिति । त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि, तेषां समाहारः—त्रिगुणम्, तत्र प्रकृतेर्गुणत्रयसाम्यावस्थात्मकतया त्रिगुणात्मकत्वम्,

महदादेस्तु प्रकृतिकार्यत्वेन गुणसम्बन्धात्तथात्वम् । अथवा त्रयो गुणाः सुखदुःखमोहा  
 अस्येति त्रिगुणम्, बुद्ध्यादेस्तु सूक्ष्मसुखदुःखमोहात्मकत्वमक्षतमेव । अनेन च  
 सुखदुःखादय आत्ममात्रविशेषगुणा इति न्यायमतं निराकृतं भवति । 'दृच्छाद्वेष-  
 सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्ग'मिति न्यायसूत्रस्य 'असङ्गो ह्यङ्गं पुरुष'इत्यादि-  
 श्रुतिभिः सह समन्वयार्थं सति—इच्छासुखदुःखादिमत्त्वमौपाधिकमित्यवसेयम् ।  
 ननु कदाचित् कस्यचिद्वस्तुनः सुखात्मकत्वमेव, कदाचिच्च तस्य दुःखात्मकत्वमेव,  
 कदाचिच्च मोहात्मकत्वमेवेति, न त्वेककालावच्छेदेन सुखदुःखमोहात्मकत्वमिति,  
 तदा तादृशवस्तुनि गुणत्रयात्मकत्वमव्याप्तमिति चेन्न । तादृशवस्तुनि प्रमाणाऽ-  
 भावात् । सर्वदा यावतां वस्तूनां त्रिगुणात्मकत्वमिति संमुपलभ्यते । यथा 'एकैव  
 स्त्री स्वस्वामिनं सुखयति सपत्नीदुःखयति पुरुषान्तरञ्च मोहयतीत्येकस्मिन्नेव  
 काले भवति सुखादि ॥ यदि च शीतं जलं ग्रीष्मसमये सुखयति शिशिरसमये  
 दुःखयति कदाचिच्च मोहयतीत्येवमुपलभ्यते कालभेदेन गुणभेदस्तदा—'त्रिगुणा-  
 त्मकत्ववद्ब्रूतितत्त्वविभाजकोपाधिधर्माऽन्यतरवत्त्वरूपपरिष्करणेन न क्षतिरिति ।  
 प्रकृतित्वमुपाधिरैकव्यक्तिवृत्तित्वात्, महत्तत्त्वादिकन्तु सामान्यं—धर्मः—अनेक-  
 व्यक्तिवृत्तित्वादिति ॥ 'अविवेकि—न विविच्यते—भिद्यते स्वस्मात् स्वकारणाद्वे-  
 त्यविवेकि, यथा पृथिव्यादयः स्वकारणादभिन्नाः । एवं प्रधानमपि स्वतो न भिद्यते  
 तदात्मकत्वादिति भवति स्वस्मात् स्वकारणाद्वा अभिन्नत्वं साधर्म्यम् । यदि स्वस्मा-  
 दभिन्नत्वस्य पुरुषेऽतिप्रसक्तिस्तदाऽविवेकित्वमत्र सम्भूयैककार्यकारित्वम्, न हि किञ्चि-  
 देकं पर्याप्तं स्वकार्येऽपि तु मिलित्वैव—यथा प्रकृतिः गुणत्रयं परस्परं मिलितं सन्मह-  
 दादिकार्यमुत्पादयति, महदादयश्च प्रकृतिसाहाय्यमपेक्षमाणाः स्वकार्योद्भावनपर्यासा  
 भवन्तीति । घटादयोऽपि चक्र-दण्ड-कुलालादिकारणकूटाद्भवन्तीति ॥ 'विषयः—  
 उपभोगसाधनत्वं साधर्म्यम् बोध्यम्—व्यक्तमव्यक्तं सर्वमपि भवति पुरुषस्योपभोग-  
 साधनमिति । यदि च कदाचित्पृथिव्यन्तरालनिहितं मणिद्रव्यादिकमनुपभोगसाधनं  
 भवति, तदोपभोगसाधनत्ववद्ब्रूतित्वपदार्थतत्त्वविभाजकोपाधिधर्माऽन्यतरवत्त्वविव-  
 क्षणान्न दोष इति ॥ यस्तु 'विषयत्वं—ज्ञानग्राह्यत्वं ज्ञानान्निन्नत्वमिति । एतेन यथा  
 स्वाप्नविज्ञानं बाह्यार्थमन्तरेण ग्राह्यग्राहकाकारं यथा च जागरितविज्ञानं मरुमरीचि-  
 काज्ञानं बाह्यार्थाऽनालम्बनं तथा घटादिविज्ञानमपि बाह्यानालम्बनं, अतएव 'सहोप-  
 लम्भनियमादभेदो नीलतद्विधोः । भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्द्रव्यतन्दाविवाऽद्वये'—यद्  
 येन नियतसहोपलम्भनं तत् ततो न भिद्यते यथैकस्माच्चन्द्रमसो द्वितीयश्चन्द्रमाः,  
 नियतसहोपलम्भश्चार्थो ज्ञानेनेति—'हर्षविषादमोहधर्मकशब्दघटपटादयः, ज्ञानान्न  
 भिद्यन्ते,—ज्ञानाऽविषयकप्रतीत्यविषयत्वे सति ज्ञानविषयकप्रतीतिविषयत्वा'—  
 दिति योगाचारमतं 'खण्डितम्' । अत एव विषयः—ग्राह्यः,—विज्ञानभिन्नत्वमिति



साधर्म्यं तथा च-‘घटादयः-विज्ञानाद्भिद्यन्ते,--अनेकपुरुषग्राह्यत्वात्, न चाऽप्रयोज-  
कम्, अनुकूलतर्कसत्त्वादिति व्याख्याति ॥ तन्न विज्ञानेऽव्याप्त्यापत्तेः, विज्ञाना-  
त्मकव्यक्तस्य विज्ञानभिन्नत्वाऽभावादिति ॥ ‘सामान्यमिति-घटादिवदनेकैः पुरुषै-  
र्गृहीतम्-पण्यस्त्रीवत्सर्वैः पुरुषैर्भोग्यमिति, तथा च यावत्पुरुषनिष्ठभोक्तृतानिरूपित-  
भोग्यतावत्त्वं साधर्म्यम्, यथैकस्मिन्नर्तकीभ्रूलताभंगे बहूनां प्रेक्षकाणां दर्शनं, तथा  
प्रकृत्यादावपि भोग्यत्वम् । ननु कदाचित्कस्यचिदपि यावत्पुरुषभोग्यत्वाऽभावेनाऽ-  
संभव इति चेन्न । यावत्पुरुषभोग्यतास्वरूपयोग्यत्वम् बोध्यम् । अथवा यावत्पदं  
विहाय स्वभोक्तृनिष्ठभोक्तृतानिरूपितभोग्यतावत्त्वं वक्तव्यम्, स्वभोगकर्ता पुरुषस्त्वे-  
न्नोऽनेके वा स्युरिति नाऽसंभवः॥यत्तु सामान्यमित्यस्य त्रिगुणात्मकत्वेन समानत्वमिति;  
तन्न । ‘त्रिगुणमित्यनेन सह पौनरुक्त्याऽऽपत्तेः॥ ‘अचेतनमिति -सर्वेऽपि प्रकृत्या-  
दयोऽचेतना जडरूपाश्चेतनभिन्ना इति । तेषामचेतनत्वं, पुरुषस्तु चेतनः, तद्भि-  
न्नत्वं साधर्म्यमुक्तम्, तेन विज्ञानचेतनत्ववादिनां मतमपास्तम् ॥ ‘प्रसवधर्मि-  
प्रसवरूपो धर्मोऽस्याऽस्तीति प्रसवधर्मि-परिणामीत्यर्थः, प्रकृतेर्बुद्ध्यादिरूपतत्त्वा-  
भूतरेण परिणामो विरूपपरिणामः, सत्त्वरजस्तमोरूपेण परिणामः सरूपपरिणामः,  
तदन्यतरपरिणामात्कदाचिन्न विद्युज्यत इति । घटादयोऽपि सरूपविरूपपरिणाम-  
नियुक्ताः । महाप्रलये च विरूपपरिणामाद्विरम्य त्रिगुणानां साम्याऽवस्था भवति  
तदा सरूपपरिणामः प्रकृतेरिति नास्ति कदाचिदपि परिणामरहितत्वमिति ॥ तदेवं  
‘व्यक्तं तथा प्रधानम्,--व्यक्ताऽव्यक्तयोः साधर्म्यमुक्तमिति । ‘तद्विपरीतस्तथा  
च पुमान्’ त्रिगुणत्वादिसाधर्म्याद् विपरीतः ‘पुमानिति’ तद्वैधर्म्यवान्पुरुष इति ।  
‘अत्रिगुणः—त्रिगुणात्मकं यत् यत् तद्भिन्न इति । ‘विवेकी—असंहतः । ‘अवि-  
षयः-अभोग्यो भोक्तेतियावत् । ‘असाधारणः--भोक्तृत्वेन स्वतन्त्रः, प्रतिसंघातं  
भिन्न इति वा । चेतनः--स्वयं प्रकाश इति । ‘अप्रसवधर्मी-अकारणः, अपरिणामी-  
ति यावत् । इत्येवं व्यक्ताऽव्यक्तोभयतो वैधर्म्यं पुरुषस्य बोध्यम् । अथ ‘एकत्वं’  
विहाय ‘अहेतुमत्त्व--नित्यत्व-व्यापकत्व-निष्क्रियत्वाऽनाश्रितत्वाऽलिङ्गत्व-निरवय-  
वत्व-स्वतन्त्रत्वादिधर्मवत्त्वेन पुरुषस्य प्रधानसाधर्म्यम्, ‘अनेकत्वमिति व्यक्तसाधर्म्यम-  
पि बोध्यम्, तद्वोधनायैवोक्तं ‘तथा च पुमानिति । वस्तुतस्तु--त एते धर्माः पुरुषे  
कल्पिता एव, शुद्धस्य तथाविधधर्मवत्त्वोपाधेरनङ्गीकारादिति साङ्ख्यसिद्धान्तः॥११॥

अभिहितं तावद्व्यक्ताऽव्यक्तपुरुषाणां साधर्म्यं वैधर्म्यञ्च । तत्र ‘त्रिगुणमि’ति  
प्रदर्शितं व्यक्ताऽव्यक्तसाधर्म्यम्, इदानीं त्रिगुणानां विशिष्य साधर्म्यं तेषां स्वरू-  
पाद्यपेक्षितं,--के ते गुणाः किमात्मकाः किंप्रयोजनाः किंवृत्तिकाश्चेति ?, तदाह--

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।

अन्योऽन्याऽभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥

‘गुणा’-इति लक्ष्यम् । अग्रे(१३)कारिकायां ‘सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमि’त्यादिक्रमेण सत्त्वरजस्तमसां निर्देशात्, तदनुसन्धानेन क्रमशः प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकत्वादिकमत्राऽनुपपन्ननीयमिति । प्रत्येकं प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकत्वं च प्रत्येकं सत्त्वरजस्तमसां गुणानां साधर्म्यं लक्षणमिति वेदनीयम् । यथा-सत्त्वगुणः प्रीत्यात्मकः-प्रीतिः-सुखम्-तदेव सत्त्वस्य लक्षणमिति । उपलक्षणञ्चैतत्-सरलता-मार्दव-ह्री-श्रद्धा-क्षमा-ऽनुकम्पा-ज्ञानप्रसाद-लघुता-प्रीति-तितिक्षा-सन्तोषाद्यनेकगुणात्मकत्वं सत्त्वगुणानां साधर्म्यम्, रजस्तमसोश्च वैधर्म्यमिति । यत्र चैते सरलतादयो नोद्भूतास्तत्राऽव्यासिवारणाय तादृशसरलतादिगुणात्मकत्ववद्बृत्ति-प्रकृतित्वव्याप्य-धर्मवत्त्वं साधर्म्यं वक्तव्यमिति । एवं रजोगुणः-अप्रीत्यात्मकः,-अप्रीतिः-दुःखम्, दुःखात्मकत्वं साधर्म्यं-लक्षणमिति, उपलक्षणञ्चैतत्-प्रद्वेष-द्रोह-मत्सर-निन्दा-पराभव-शोकाद्यात्मकत्वमपि रजोगुणानां साधर्म्यम्, सत्त्वतमसोश्च वैधर्म्यमिति । यत्र च प्रद्वेषादयोऽनुद्भूतास्तत्राऽव्यासिवारणाय-प्रद्वेषाद्यात्मकत्ववद्बृत्ति-प्रकृतित्वव्याप्य-धर्मवत्त्वस्य विवक्षणीयत्वात् । एवं तमोगुणो विषादात्मकः, विषादो-मोहः, मोहात्मकत्वं साधर्म्यं लक्षणमिति, उपलक्षणञ्चैतत्-वञ्चन-भय-नास्तिक्य-कौटिल्य-कार्पण्याऽज्ञान-निद्राद्यात्मकत्वमपि तमोगुणानां साधर्म्यं सत्त्वरजसोश्च वैधर्म्यमिति । यत्र च वञ्चनादिगुणा नोद्भूतास्तत्राऽव्यासिवारणाय-वञ्चनाद्यात्मकत्ववद्बृत्ति-प्रकृतित्वव्याप्य-धर्मवत्त्वस्य विवक्षणात्, प्रकृतित्वव्याप्यधर्मास्तु सत्त्वत्व-रजस्त्व-तमस्त्वानीति बोध्याः । सत्त्वादिगुणाश्च व्यक्तिभेदेनाऽनन्ताः-अनेके सत्त्वगुणाः, अनेके रजोगुणाः, अनेके तमोगुणाश्चेति । अन्यथा त्रयाणामेव विभूनां सर्वत्राऽन्वयात्-‘गुणविमर्दवैचित्र्यात्कार्यवैचित्र्य’मिति सिद्धान्तो नोपपन्नः स्यात्, तस्मात्कार्यात्मकागुणाः प्रतिव्यक्तिभिन्नाः, प्रकृत्यात्मकञ्च त्रिगुणं कारणाऽऽत्मकं प्रत्येकमेकमेवेति-सत्त्वमेकमेव रजएकमेव तम एकमेवेति विवेकः । ये तु मन्यन्ते प्रीतिर्न दुःखाऽभावादतिरिक्ता, एवं दुःखं वा न प्रीत्यभावादतिरिक्तमिति, तेषां मतनिरसनाय-‘आत्म’ग्रहणमिति, तथा च नेतरैतराऽभावाः सुखादयोऽपि तु भावा एवेति, आत्मशब्दस्य भाववाचित्वात्, अत एव प्रीतिः-सुखम्-आत्मा-भावो येषान्ते प्रीत्यात्मानः । अप्रीतिः-दुःखम्-आत्मा-भावो येषान्तेऽप्रीत्यात्मानः । विषादो मोहः आत्मा भावो येषान्ते विषादात्मानः । भावरूपता चैषामनुभवसिद्धा, परस्परराऽभावात्मकत्वे तु-अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वेन सुखादिज्ञानस्य परस्परज्ञानसापेक्षतयाऽन्योन्याश्रयः स्यात् । एवञ्चैकस्याऽसिद्धत्वे भवेदुभयाऽसिद्धिरिति । तस्मान्नाऽभावात्मकत्वमिति ॥ लक्षणमुक्त्वा प्रयोजनमुपदिशति-‘प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः’ इति ‘यथाक्रमं सत्त्वगुणः प्रकाशप्रयोजनः, रजोगुणः प्रवृत्तिप्रयोजनः, तमोगुणो नियमनप्रयोजन इति । सत्त्वगुणेन पदार्थानां प्रकाशः क्रियते-यथा यदा हि सत्त्वगुणस्तदा तेन याव-



त्कार्याणां यथावत्तयाऽवभासो भवति, सत्त्वस्य पराभवे रजस्तमसोरुत्कटत्वे च न सात्त्विकं यथार्थं सर्वं कार्यं भवति, सत्त्वसमुद्रेके तु शान्तां वृत्तिमासाद्य यथावत्कार्यमनुभूय निष्पादयतीति सत्त्वस्य प्रकाशात्मकत्वम् । तदेव सत्त्वं रजसा चालितं सत् कार्यं जनयेद् यथावरकेन तमसा न नियम्येतेति रजसः प्रवर्तकत्वं बोध्यम् । तमसः प्राधान्ये सति तु किमपि कार्यं न भवति तस्मात् तमसो नियमनप्रयोजनकत्वं सिद्धमिति ॥ प्रयोजनमुक्त्वा क्रियामाह—‘अन्योऽन्याऽभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च’ इति, वृत्तिः—क्रिया, सा च प्रत्येकमभिसम्बद्धयते—यथा—अन्योन्याऽभिभववृत्तयः ! अन्योन्यपदमपि प्रत्येकमभिसम्बद्धयते—यथा—अन्योऽन्याश्रयवृत्तयः । इत्येवं सर्वत्र ॥ ‘अन्योन्याभिभववृत्तयः’ इति—एषां त्रिगुणानामन्यतमेनाऽर्थवशादुद्भूतेनाऽन्यदभिभूयते, यथा सत्त्वमुत्कटं भूत्वा रजस्तमसो-अभिभूय शान्तां सुखमात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते । एवं रजोगुणस्तावदुत्कटो भूत्वा सत्त्वतमसो-अभिभूय घोरान् दुःखमात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते । एवं तमोगुणोऽप्युत्कटो भूत्वा सत्त्वरजसो-अभिभूय मूढां विषण्णमात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते इति ॥ ‘अन्योन्याश्रयवृत्तयः’—इति,—न चाऽत्र गुणानां विभुत्वेनाऽऽधाराऽऽधेयभावरूपमन्योन्याश्रितत्वं सम्भवति, किन्तु यमपेक्ष्य यस्य क्रिया भवति सः तस्याश्रय इति—यथा सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोतीति । एवं रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य सत्त्वतमसोः प्रवृत्त्योपकरोतीति । एवं तमः प्रकाशप्रवृत्त्याश्रित्य सत्त्वरजसोर्नियमनेनोपकरोतीति । तथा चोपकारकत्वेनाऽऽश्रयत्वमत्र बोध्यमिति ॥ एवम्—‘अन्योन्यजननवृत्तयः’—इति, जननं—परिणामः स च त्रिगुणानां साम्यावस्थात्मकप्रधानस्वरूप इति । अन्यतमोऽन्यतमं जनयति—परिणमयतीति । यथा प्रतिसर्गसमये बुद्ध्यादिकं सर्वं प्रकृत्यन्तर्गतं भवति, तदा विपरिणममाना गुणाः परस्परं स्वस्वोत्कटत्वमाकुञ्चमाना विसद्रूपपरिणामं संकुच्य सद्रूपपरिणामा भवन्ति । यथा सत्त्वं प्रकाशपरिणामं संकुच्य रजस्तमसोः प्रवृत्तिनियमौ संकोचयति, रजः प्रवृत्तिपरिणामं संकुच्य सत्त्वतमसोः प्रकाशनियमनौ संकोचयति । तमो नियमनं संकुच्य सत्त्वरजसोः प्रकाशप्रवृत्तौ संकोचयतीति । अतएव प्रकृतिः त्रिगुणानां साम्यावस्थात्मिका नित्याऽहेतुमती चेति ॥ ‘अन्योन्यमिथुनवृत्तयः’—इति—अन्योन्यसहचराः—अविनाभाववृत्तय इति यावात्, न चैकं विहायेतरौ व्यवतिष्ठतः, अतएव सर्वदा सहयोगित्वमिति ॥ ‘च’कारः समुच्चयार्थस्तेन शब्दप्रमाणमत्र विषयेऽनुपपन्ननीयम्—यथा—‘अन्योन्याभिभवाच्चैते विरुद्ध्यन्ति परस्परम् । तथाऽन्योन्याश्रयाः सर्वे न तिष्ठन्ति निराश्रयाः’ ‘अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः । रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः’ ॥ तमसश्चाऽपि मिथुने ते सत्त्वरजसो उभे । उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ॥ नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते ।

स्वस्वकार्ये सहायाः स्युश्चैते वृत्तिप्रभावतः ॥ इति (देवीभागवते-स्क० ३। अ० ८) संक्षिप्तमिति ॥ १२ ॥

सत्त्वरजस्तमसामसाधारणधर्मनिर्दर्शनपुरःसरं साधर्म्यं निर्वक्ति—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।

गुरु वरणकमेव तमः, पदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

सत्त्वमेव लघु प्रकाशकमिष्टं सांख्याचार्यैः, तथा च यावतां सत्त्वगुणानां लघु-  
त्ववत्त्वं साधर्म्यम्, तदेव रजस्तमसां वैधर्म्यमिति । तल्लाघवं कार्योद्गमने कारणी-  
भूतधर्मो गौरवविरोधी पटुताख्यो भवति, यतोऽग्नेरूर्ध्वञ्जलनं भवति, तदेव लाघवं  
वायोस्तिर्यग्गमने हेतुर्भवति, एवं चान्तःकरणानामिन्द्रियाणाञ्च वृत्तीनां भटिति वि-  
षयग्रहणसामर्थ्यदर्शनेन तादृशसामर्थ्यविशिष्टवृत्त्यनुमेयो धर्मो लाववम्, लाघवाऽ-  
भावे तु गुरुणीन्द्रियाणि मन्दानि भटिति स्वविषयग्रहणाऽसमर्थानि स्युः यथा निद्रा  
ऽभिभूतचक्षुरिति । एवं यत्र बुद्ध्यादौ सात्त्विकांशोत्कटतया लाघवं दृश्यते तत्रैव प्र-  
प्रकाशकत्वमिति तत्त्वम् । प्रकाशकत्वञ्च-निर्मलतया यथार्थत्वेनाऽर्थवभासकत्वम्,  
बुद्ध्यादिकं सत्त्वप्रधानं सत् प्रत्यक्षानुमेयाद्यथाऽवभासकं भवति । इन्द्रियाणि  
चाऽर्थसन्निकर्षे सत्यथावभासकानि भवन्ति ॥ सत्त्वाऽभावे तु रजस्तमःप्रभावेण—  
अव्यवस्थिते प्रवृत्तिनियमने भवतः, तस्मात् सर्वत्र कार्यपटुत्वे सत्त्वानां प्रकाशक-  
त्वमावश्यकमिति, अतो लघुत्वं प्रकाशकत्वञ्च सत्त्वगुणानां साधर्म्यमिति, रजस्त-  
मसां तु वैधर्म्यमिति । ननु रजस्तमोभ्यां पराभूते सत्त्वे लघुत्वं प्रकाशकत्वञ्च नोपलभ्यते  
तत्राऽव्याप्तिरिति चेन्न । लघुत्ववद्बुद्धिप्रकृतित्वसाक्षाद्वाप्यधर्मवत्त्वस्य प्रकाशकत्वव-  
द्बुद्धिप्रकृतित्वसाक्षाद्वाप्यधर्मवत्त्वस्य च विवक्षणेन तादृशसत्त्वत्वधर्ममादाय सर्व-  
सत्त्वेषु लक्षणसमन्वय इति ॥ ‘उपष्टम्भकं चलञ्च रजः’ इति, सत्त्वतमसो स्वयं प्रवृ-  
त्तिरहिततया स्वस्वकार्यजननानुकूलां प्रवृत्तिं प्रत्यसर्थे भवतस्ते रजोगुणेन स्वप्रवृत्त्या  
उपष्टम्भेते-असामर्थ्यात् प्रच्याव्य स्वस्वकार्ये प्रकाशाख्ये नियमने वा उत्तेजनं कार्येते,  
अतः सत्त्वतमसां स्वस्वकार्याऽनुकूलोत्तेजनकारकत्वं—उपष्टम्भकत्वं रजोगुणानां  
साधर्म्यं सत्त्वतमसोश्च वैधर्म्यमिति । उत्तेजकत्वन्तु सक्रिये पदार्थे संभवति, तस्मा-  
दिदं रजः ‘चल’मिति—सक्रियमिति-प्रवृत्त्यर्थमितियावत्, प्रवृत्त्यर्थकत्वं रजसां साध-  
र्म्यम्, इतरयोश्च वैधर्म्यमिति । यदि च सत्त्वतमोभ्यां पराभूते रजसि-उपष्टम्भ-  
कत्वं प्रवृत्तिमत्त्वञ्च नोपलभ्यते तदा उपष्टम्भकत्ववद्बुद्धिप्रकृतित्वसाक्षाद्वाप्य-  
धर्मवत्त्वस्य—चलत्ववद्बुद्धिप्रकृतित्वसाक्षाद्वाप्यधर्मवत्त्वस्य विवक्षणेन लक्षणस-  
मन्वय इति ॥ ‘गुरु वरणकमेव तमः’—गुरु-गुरुत्ववत्त्वं जाड्यावच्छिन्नमितियावत् ।  
रजस्तु चलतया परितस्त्रैगुण्यं चालयन्नपि गुरुणाऽऽवृण्वता च तमसा प्रवृत्तिप्रका-  
शप्रतिबन्धकेन तत्र तत्र कचिन्निरुद्धयते तदा न भवति प्रकाशनं प्रवृत्तिर्वैति । बुद्ध्या-



दीनामिन्द्रियाणाञ्च गुरुत्वसम्पादकं तम एव । अतो भवति गुरुत्ववत्त्वं तमोगुणानां साधर्म्यं, सत्त्वरजसोस्तु वैधर्म्यमिति । गुरुत्वञ्च यत्र तत्रैवावरणकत्वं दृश्यते यथा कुड्यादि, तथा च तमस्यपि 'वरणकत्वं'मिति, वरणकत्वञ्च-विषयाऽवभास-प्रतिबन्धकत्वम्-तच्च तमोगुणानां साधर्म्यं सत्त्वरजसोवैधर्म्यमिति । यत्र तु सत्त्वरजोभ्यां पराभूते तमसि गुरुत्वं वरणकत्वं वा नोद्धृतमुपलभ्यते; तदा गुरुत्व-वद्बुद्धिप्रकृतित्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मवत्त्वस्य,—वरणकत्ववद्बुद्धिप्रकृतित्वसाक्षाद्व्याप्य-धर्मवत्त्वस्य वा विवक्षणेनाऽदोपात् ॥ अथैते गुणाः परस्परविरुद्धस्वभावा ध्वंस-कोपध्वंसकवत्परस्परं विनश्यन्तो विलुप्ता एव स्थुर्न पुनरेककार्यजननशोला इति चेत् !, तेषां 'प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः'—यथा वृत्तितैलाऽनलाः परस्परं विरोधिना-ऽपि मिलिता घटाद्यर्थप्रकाशलक्षणं कार्यं निर्वहन्ति । यथा वा—वातपित्तश्लेष्मा-णः परस्परविरोधिनाऽपि मिलिताः सन्तः शरीरधारणलक्षणकार्यकारिणो भवन्ति । एवम् परस्परविरुद्धान्यपि सत्त्वरजस्तमांसि मिलितानि स्वस्वकार्यं करिष्यन्ति, तदुक्तम् 'प्रदीपवदि'ति-निदर्शनम् । गुणास्तु 'अर्थतः—पुरुषार्थतः, मिलिताः कार्यं करिष्यन्तीति सम्बन्धः । वक्ष्यति च—'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम्' ( ३१ ) कारिकायाम् । आत्मने पुरुषार्थप्राप्त्यर्थं गुणाः प्रवर्तन्त इत्यर्थः ॥ सत्त्वरजस्तमोगुणाः परस्परं विरोधिनाऽपि मिलिताः सन्तः स्वस्वाऽनुरूपाणि सु-खदुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति, ते च सुखदुःखमोहा अभिभाव्याऽ-भिभावकभावाच्चानाविधा इत्यतो गुणानामपि नानाविधत्वं; यथा-रूपयौवनकुल-शीलशृङ्गारस्वभावसम्पन्नैकैव स्त्री स्वस्वामिनं सुखाकरोति, तं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात् । सैव च सपत्नीर्दुःखाकरोति ताः प्रति तस्या दुःख-रूपसमुद्भवात्, सैव च पुरुषान्तरं तामविन्दमानं मोहयति तं प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवात् । अत्र सर्वे भावाः समुपपन्नाः । तथा च 'यावत्कार्यम्,—सुखदुःखमोहात्मकम्,—सुखदुःखमोहजनकत्वात्' इत्यनुमानेन कार्यत्वाव-च्छेदेन सुखदुःखमोहात्मकतां साधयित्वा "ते सुखदुःखमोहाः,—परस्परं विभिन्नाः, परस्परपरिहारेण ज्ञायमानत्वात्",—इत्यनुमानेन तेषां भेदसिद्धिरिति ॥ तत्र यत् सुखहेतुस्तत्सुखात्मकं सत्त्वम्, यद् दुःखहेतुस्तद्दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्त-न्मोहात्मकं तम इति । ननु सुखदुःखमोहाः परस्परं विरुद्धा इव सुखप्रकाशला-घवादयोऽपि परस्परं विरुद्धाः सन्तो नव गुणाः कल्पनीया इति चेन्न । सुखप्रकाश-लाघवानामेकस्मिन्नेव सत्त्वगुणे समुद्भावदर्शनात् एकस्मिन्गुणदुत्पत्तावविरोधान्न गुणत्रयाऽधिक्याऽऽपत्तिरिति । विरोधिभिः सुखदुःखमोहैर्यथा विरुद्धा वृत्तिभेदाः प्रकटीक्रियन्ते तथा सुखप्रकाशलाघवैर्वृत्तिभेदा नोद्घीयन्ते, तस्मान्नाऽस्ति विरोध-स्तथा च त्रैगुण्यं सिद्धमिति ॥ १३ ॥

अनुभूयमानेषु पृथिव्यादिष्वविवेकित्वादयो धर्मास्तावदनुभवसिद्धा भवन्ति, यत्र च प्रत्यक्षानुभवविषयत्वं नास्ति तत्र रूत्वादित्रिगुणेषु चाऽविवेकित्वादयोऽनुमानेनोन्नेयाः, तद्यथावद्दर्शयति ।

‘अविवेक्यादेः सिद्धिर्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाऽभावान् ।

कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याऽव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

‘अविवेकित्वम्-अविवेकि, आदिपदेन विषयत्वमचेतनत्वं प्रसवधर्मित्वञ्च प्राह्यम्, तेषां साधकः ‘त्रैगुण्यादिति, हेतुः । तथा चाऽन्वय्यनुमानम्-यथा ‘अव्यक्तम्,—अविवेकित्वादियोगि,—सुखदुःखमोहात्मकत्वात्, यद्यत्सुखदुःखमोहात्मकं तत्तद्विवेकित्वादियोगि,—यथेदमनुभूयमानं पृथिव्यादिर्व्यक्तमिति । व्यतिरेकव्याप्तिमाह—‘तद्विपर्ययाऽभावा’दिति,—‘यत्र यत्राऽविवेकित्वाद्यभावस्तत्र तत्र सुखदुःखमोहात्मकत्वाभावो यथा पुरुषे इति । तथा चाऽर्थः—‘तद्विपर्यये-अविवेक्यादिविपर्यये पुरुषे, ‘अभावात्—त्रिगुणत्वाऽभावादिति ॥ अथवा ‘व्यक्ताऽव्यक्ते,—अविवेकित्वादियोगिनी,—सुखदुःखमोहात्मकत्वादि’त्यनुमानमुपसङ्गम्य सर्वस्यैव जडवर्गस्य पक्षतया संदिग्धसाध्यवत्त्वेन निश्चितसाध्यवद्दृष्टान्तविरहाद् व्यतिरेकिहेतुर्वक्तव्यः, तथा च यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति यथा पुरुष इति व्यतिरेकः । ननु पक्षोभूतमव्यक्तमेवाऽसिद्धम्, तस्याऽभावे च कुत्राऽविवेकित्वादिसिद्धिः स्यादतः प्रकृतिसाधकमप्यनुमानं स्मारयति-‘कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्ये’ति, तथा च ‘घटादयः-स्वगुणसमानगुणवत्कारणजन्याः, कार्यत्वात्, पटवदिति, तेन सुखदुःखमोहात्मकत्वं महदादेः प्रसाध्य “महदादि कार्यं,—स्वोपहितत्रिगुणात्मकवस्तूपादानोपादेयं,—त्रिगुणात्मककार्यत्वादि”त्यनेनाऽव्यक्तस्य सिद्धिरिति ॥ कार्यं सर्वत्र स्वकारणगुणोपहितं द्रष्टुम्, यथा-तन्तुगुणोपहितं पटादि, तथा सुखदुःखमोहात्मकमहदादिकार्यमपि सुखदुःखमोहात्मककारणजन्यमित्यवश्यंभावीति महदादीनां कारणाऽभावे त एव नित्याः स्युस्तथा चाऽऽत्मनः सर्वदा महदादियोगसत्त्वेनाऽनिर्माक्षापत्तिः स्यादिति, अतो महदादिकम् प्राविर्भावस्वभावं जन्यसृष्टिपर्यन्तं न्यूनकालं वा स्थायि स्वीकार्यं, तथा च तत्कारणं प्रकृतिरितिसिद्धम् ॥ १४ ॥

भवतु नाम प्रधानं, तथापि तत्र जगज्जनकत्वं न युक्तम्, महत्तत्त्वस्यैव जगज्जनकत्वस्य युक्तत्वात्, तथा च व्यक्तादेव महतो व्यक्तानामहङ्कारादीनामुत्पत्तिः स्वीकार्या, न तु प्रधानतः,—इति चेत् !, न युक्तं तत्, कुतः—

भेदानां परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।

कारणकार्यविभागाद्विभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥



कारणमस्त्यन्यक्तं, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।

परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

भेदानां-महदहङ्कारेन्द्रियतन्मात्रभूतानां यावत्कार्याणाम्, 'कारणम्-मूलकारणम्' 'अव्यक्तं-प्रधानमस्ति । कुतः ? 'कारणकार्यविभागात्' । कारणात् कार्यस्य विभागो भवति, अत एव विभक्तप्रत्ययविषयत्वं कार्यत्वनियतम्, तच्च महत्तत्त्वे स्थितं सत् कार्यत्वं नियमयति, नियम्यं चेदं निरूप्यस्वभावत्वात् निरूपकमाक्षिपति, नहि स्वस्य तत्त्वं युक्तम्, प्राग् उपस्थितिप्रसंगात्, तथा च सति पुरुषार्थस्याऽप्रवर्तकत्वप्रसंगाच्च, न च तथा भवति, अतोऽव्यक्तं-अव्यक्तावस्थावत् पुरुषार्थहेतुकप्रवृत्तिमत् प्रधानं निरुक्तविभक्तप्रत्ययाऽविषयं सर्वसमानविषयं च कारणं सिद्धमिति । यदि च प्रधानं कार्याऽभिन्नं सत् सर्वसमानाऽविषयं निरुक्तविभक्तप्रत्ययविषयं चेत्यनुभूयेत, तदा प्रधानमहतोरविशेषात् उपपद्येत नाम अङ्कुरे एव कथञ्चित् कारणताविश्रान्तिः, प्रभवेच्चाङ्कुरः प्रधानस्य तत्त्वमन्यथयितुम्, यथा सति युवराजे वृद्धमहाराजो विफल इति । न च प्रधानस्य तथा विभक्तप्रत्ययविषयत्वं भवति, तत्कारणाऽनुपलब्धेः, किन्तु महदन्तकार्यजातस्यैव, तद्यथा सन्त्येवाङ्गानि कूर्मपिण्डान्तिःसरन्ति विभज्यन्ते च-'अयं कूर्मपिण्डः, एतानि चाऽस्याऽङ्गानी'ति । एवं सत्य एव वह्निज्वालाः वह्नितो निस्सरन्ति विभज्यन्ते च 'इमा ज्वालाः' अयं च वह्नि'रिति । तथैव सन्त्येव पृथिव्यादिभूतानि तन्मात्रेष्वपि आविर्भवन्ति विभज्यन्ते च, सन्त्येव च तन्मात्राणि स्वकारणादहङ्कारादाविर्भवन्ति विभज्यन्ते च, सन्त्येव चाहङ्कारः स्वकारणान्महतो निःसरति विभज्यते च । सदेव च महत्तत्त्वं स्वकारणान्मूलप्रकृतेराविर्भवति विभज्यते च, इत्येवं कारणात्कार्यस्य विभागदर्शनात् विभक्तकार्याऽतिरिक्तस्य प्रसिद्धस्य कारणत्वमभ्युपेयम्, तत्त्वं च प्रधानस्येति, तस्य कस्माच्चिदप्यनाविर्भावान्नित्यकारणत्वमिति ॥ तथा चानुमानम्-'घटादिमहदन्तानां कार्याणामाविर्भावः,-अनुकूलव्यापारपूर्वकः, स्थूलाऽऽविर्भावत्वात्, कूर्माऽङ्गाविर्भाववत्,-इत्यनेन व्यापारवत्त्वे सिद्धे सति, 'प्रधाननिष्ठोऽयं व्यापारः,-कारणतावच्छेद्यः,-आविर्भावानुकूलव्यापारत्वात्, कुलालव्यापारवदिति ॥ इतश्चाऽव्यक्तमस्ति कारणम्, कुतः ? 'वैश्वरूप्यस्य अविभागात्' कारणे इति शेषः । तद्यथा-प्रतिसर्गं घटस्य तिरोभावावस्थायां पृथिवी घटरूपा न भासते किन्त्वतिरिक्ता मृदुरूपा, एवं पृथिव्यादीनां तिरोभावस्थानां पृथिव्यादिभूतानि नाऽवलोक्यन्ते, किन्तु तन्मात्राण्येव, तन्मात्राणां च तिरोभावावस्थायां तन्मात्राणि नाऽवगम्यन्ते किन्त्वहङ्कार एव, अहङ्कारस्य तिरोभावे च महत्तत्त्वमेव गम्यते, महत्तत्त्वस्य च तिरोभावे प्रकृतिरेव, न तु महान् इत्येवं 'वैश्वरू-

प्यस्य'-कार्यस्य 'अविभागात्'-कारणे तिरोभावात्, कारणताव्याप्यस्तिरोभावो व्यापकं कारणत्वं साधयति मूलप्रकृताविति, अनुमानप्रयोगस्तु- 'मूलप्रकृतिः-यावत्कार्यनिरूपितकारणतावती, महदादिकार्यजाततिरोभावक्षेत्रवादि'त्येवं कारणे कार्यस्य विभागाऽविभागाभ्यां नित्यमव्यक्तमेव कारणमस्ति ॥ इतश्च प्रधानमस्ति कारणम्, कुतः ?- 'शक्तिः प्रवृत्तेश्च', कारणशक्तिः कार्यं प्रवर्तते, अशक्तात्कारणत्कार्यस्याऽनुत्पादात्, सा च शक्तिः कारणगता कार्यस्याऽव्यक्तावस्थास्वरूपा, न तु तदतिरिक्ता, अतिरिक्ता स्याच्चेत् ! तदा तैलोत्पादिका शक्तिस्तिलाऽतिरिक्तसिकताद्रव्ये समुपलभ्येत, न तूपलभ्येत, अतो नाऽर्थान्तरम्, तथा चानुमानम् 'कारणशक्तिः, अव्यक्तत्वावस्थातो न भिद्यते, कारणव्यापारात्प्राग् सत्कार्यसम्बद्धत्वात् । अव्यक्तावस्थायाश्च कारणतानियतत्वात् अव्यक्तावस्थात्मकशक्त्या प्रधाने कारणत्वं सिद्धयति तथा चानुमानम्- 'प्रधानम्, -यावत्कार्यनिरूपितकारणतावत् महदादिकार्यजाताऽव्यक्तत्वावस्थावत्त्वादिति ॥ ननु प्रधानतादात्म्यतया महत्तत्त्वस्य यावत्कार्यजातं प्रति कारणत्वं भवेदिति चेत् ! । एवमपि न भवेत्, कुतः ? , तस्य 'परिमाणत्'-व्याप्यत्वात्, -स्वकारणसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यकार्यत्वादिति । भवति हि व्याप्यं कार्यं परार्थीनसत्ताकं, यदधीना च सत्ता यत्तत्त्वे भवति तत्तत्त्वे न विकृतित्वानवच्छिन्नप्रकृतित्वम्, अत्र च विकृतित्वानवच्छिन्नं कारणत्वमभिप्रेतम्, तदेव च यावत्कार्यनिरूपितं भवति नित्यकारणत्वम्, तच्च स्वतन्त्रसत्ताके प्रधाने एव, तथा चानुमानम्- 'महदादयः-स्वतन्त्रसत्ताकाऽव्यक्तकारणकाः, -तद्व्याप्यत्वात् इति ॥ इतश्च महदादीनां प्रधानतादात्म्यतयाऽपि न यावत्कार्यसंघातं प्रति कारणत्वम्, कुतः ? 'समन्वयात्'-समानरूपत्वादिति । भिन्नानामानेककार्याणां समानरूपा हि समन्वयः, यथा ये भावा अनेकवृत्तिभिः प्रत्येकमन्वीयन्ते ते तत्प्रकृतिका भवन्ति श्रुदाऽन्विताः शरावादय इव । समन्वीयते च नलदाराः दमयन्ती सुखदुःखमोहैः, तथा च व्याख्यातमेतज्जगदशेषं सुखदुःखमोहात्मकमिति, बुद्ध्यादयोऽपि तथा सुखदुःखमोहान्विताः, यानि च सुखदुःखमोहात्मकानि तानि सुखदुःखमोहस्वभावाऽव्यक्तकारणकानि भवन्ति, तथा चानुमानम्- 'महदादयोऽव्यक्तकारणकाः-समन्वयात्', इति सिद्धं भेदानामव्यक्तस्य प्रधानस्यैव स्वतन्त्रकारणत्वमिति ॥ तच्च कारणीभूतं प्रधानं महत्तत्त्वादेरव्यक्ततादशायामपि 'प्रवर्तते'- 'त्रिगुणतः'-प्रवृत्तिशीलत्रिगुणात्मकत्वात् सर्वदा सप्रवृत्ति भवति, तत्र प्रलयाऽवस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणाः सृष्टिसमयावच्छिन्नविपरिणामं विहाय सद्रूपपरिणामा भवन्ति, परिणामस्वभावा हि गुणाः क्षणमपि नाऽपरिणम्याऽवतिष्ठन्ते, प्रतिसर्गावस्थायां हि सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजोगुणो रजोरूपतया तमोगुणस्तमोरूपतया प्रवर्तते, इति त्रिगुणतः प्रकृतिः प्रवर्तते-साम्यावस्थात्मिका भवतीति । सृष्टिसमये परस्परं विपरिणममाना गुणा सह-



दादिकमुत्पादयन्ति, अयं च विसदृशपरिणामो द्वितीय इति । न चाऽत्र विसदृशपरिणामे सा प्रत्येकगुणेन प्रवर्तते, अपि तु 'समुदयाच्च'-समेत्य-उदयः समुदयः । प्रथमं पुरुषार्थापेक्षं गुणानां परस्परपदमर्दकोपमर्द्यभावेन वैषम्यं, वैषम्ये च सति गुणानामन्यतमस्य प्रधानभावः प्रधानभावे च सति समुदयः समुदयाच्च सृष्टिरिति । यद्यपि प्रत्येकमेकविधानां गुणानां भिन्ना विविधा प्रवृत्तिर्न युक्ता, तथापि - 'प्रतिप्रतिगुणाऽऽश्रयविशेषात्' - एकैकस्य गुणस्य, - 'आश्रयः' - प्राधान्यम्, - तस्य विशेषात्, - एकैकस्याऽऽविर्भावात्, प्रधानगुणमाश्रित्याऽप्रधानगुणाः परिणामभेदान् प्रवर्तयन्ति, तत्र निदर्शनं - 'परिणामतः सलिलवदिति, मेघमुक्तं जलं मधुररसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्यं - मधुराऽम्बललवण-कटु-कषाय-तिक्ततया विपरीणतं भवति, तथा निमित्तस्य प्रत्येकगुणस्य बहुवारं प्राधान्याद्भवत्यनेकदाऽनेकविधसुखात्मिका प्रवृत्तिः अनेकधा दुःखात्मिका प्रवृत्तिः, अनेकधा च मोहात्मिका प्रवृत्तिरिति १५।१६॥

यद्धि सामान्यतो विवादास्पदम्, तस्य सामान्यविशेषाभ्यां साधनमपेक्षितम्, न चोऽयमात्मा तथा, अहं-प्रत्ययविषयस्य तस्य सामान्यतः सर्वैरपि स्वीकृतत्वात् । स च पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मकशरीरमेवेति - केचित्, इन्द्रियाण्येव वा, प्राण एव वा, अहंकोरो वा, महत्तत्त्वं वा, अव्यक्तं वा, - इत्येवं मन्यमानास्तं तमात्मस्वरूपमुपासते, - ते तु बाह्यतौष्टिकास्तत्र तत्राऽऽत्मानमोभमत्य तुष्टिं लभन्ते, विन्दन्ते चाऽव्यक्तादिषु लयम् । तदेतेषामभिमतमात्मा न श्रद्धेयः, प्रमाणाऽऽभासविषयत्वात् । श्रद्धेयस्त्वात्मा भवति देहाद्यतिरिक्तः । कुतः -

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

अत्रेदं प्रतिज्ञातं - 'पुरुषोऽस्ती'ति, कीदृशः ?, शरीरादिप्रकृत्यन्तं यज्जडजातं ततोऽतिरिक्तः - इति । कुतः ? 'संघातपरार्थत्वात्' संघातानां परार्थत्वात्, संहन्यन्ते परस्परं सुखदुःखाद्यनेकधर्मात्मकतया ये ते संघाताः, यश्च संघातः सः परार्थः, न तु स्वार्थः, 'कर्मकर्तृविरोधात् । तथा च - 'भूतेन्द्रियप्राणतन्मात्राऽहंकारमहदव्यक्तानि, - परार्थानि, - संघातत्वात्, शय्यादिवत् । संघातत्वं सुखदुःखाद्यनेकधर्मान्वितत्वं तस्मात् । 'यदर्थं हि संघाताः सः परः असंघातो भवत्यतदात्मा, यमपेक्ष्य सर्वं भोगप्रयोजनकं प्रकृत्यादिकं भवति संहतं शय्यादिवत्, तच्च स्वस्मिन्विरोधात्परोपभोगजनकम् । इत्यतो भवति परस्तद्व्यतिरिक्तः स्वतन्त्रः पुमानिति । अथ शय्यादयः संघाताः संहतशरीरप्रयोजनका दृश्यन्ते न तु जडवर्गभिन्नो यः कश्चित्पश्यन्तेनस्तदर्थः, तस्मात्संघातत्वं संघातान्तरमेव परं विधेयमनुमापयेत् - 'अव्यक्तादयः, - संघातपरार्थाः, - संघातत्वादि'ति, - न तु परमात्रमिति चेत् !, उच्यते, -

अनवस्थानात् । शय्यादीनां संघातान्तरात्मकपरप्रयोजनकत्वे संघातत्वाऽविशेषात् तस्याऽपि तादृशपरार्थत्वं तस्यापि च तथेत्यविश्रान्त्यापत्तिरिति ॥ मूलोच्छेदाप-  
त्तेश्च । मूलकारणस्याऽव्यक्तस्यापि संघातत्वाऽविशेषात् तस्य संघातपरार्थत्वे यत्र  
परा काष्ठा संघातपरत्वस्य तस्यैव मूलकारणत्वे युक्ते प्रधानस्य तद्व्याहृत्येति ॥  
असिद्धेश्च । अर्थे निरूपिततया परस्यैवाऽवच्छेदकत्वौचित्ये तत्र संहतस्य व्यर्थतया  
तद्विशिष्टस्याऽनवच्छेदकत्वात् व्यापकत्वाऽसिद्ध्या तवानुमित्यसिद्धेश्चेति । अथ  
संघातत्वस्य शय्यादौ संघातपरार्थत्वं प्रत्यक्षत्वादबलवदिति प्रामाणिकमव्यवस्थानं,  
मूलोच्छेदश्च 'अजामेकामि'ति श्रुतिपराहतः, गुरोरप्यवच्छेदकत्वान्नाऽसिद्धेश्चेति  
चेत् !, उच्यते । शरीरस्य सात्मकत्वे एव तदर्थकत्वं शय्यादीनामित्यस्य प्रत्यक्षसि-  
द्धत्वात् संघातत्वस्य चात्मनि बाधात् पारार्थ्यमात्रेणैव तदन्वयो बलवान्, न तु संघा-  
तपारार्थत्वेनेति । यदि चैवं बाधसहकृतप्रत्यक्षतो निर्बलमपि साधर्म्यमात्रबलादनु-  
मिति विषयमभ्युपगम्येत, आपद्येत तथा सति दृष्टान्तदृष्टाऽविधेयधर्मस्यापि पक्षे सम्ब-  
न्धुर्बाधादिनाऽनुमानप्रमाणमात्रोच्छेद इति ॥ अथ भवत्वनुमानोच्छेदः,— शरीराद्या-  
त्मवादिना तदनङ्गीकारादिति चेत् ?, अत्रैव वचने तव व्याहृतिः, अव्याहृतौ च तत्स्वी-  
कृतिः । तथा च संहतत्वानवच्छिन्नः परोऽभ्युपेतव्यः स आत्मेति ॥ इतश्च संघा-  
तमिन्नः परः पुरुषोऽस्ति, कुतः ?, त्रिगुणादिविपर्ययात्, यत्र त्रिगुणत्वमविवेकित्वं  
विषयत्वं सामान्यत्वमचेतनत्वं प्रसवधर्मित्वञ्च तत्रैव संहतत्वमित्यतस्त्रिगुणत्वा-  
दयो धर्माः संहतत्वव्याप्याः । आत्मनि तु संहतत्वं निवर्तमानं त्रिगुणत्वादीनि नि-  
वर्तयति । तथा चानुमितम् 'परः-अत्रिगुणः,—असंहतत्वादिति । आत्मनि च सं-  
हतत्वाभावेन त्रिगुणत्वाद्यभावात् 'त्रिगुणादिविपर्यया'दिति सुष्ठूक्तम् ॥ इतश्च 'परः-  
पुरुषोऽस्ति, 'अधिष्ठानात्' त्रिगुणात्मकानामव्यक्तादीनां केनाऽप्यधिष्ठात्राऽधिष्ठीय-  
मानत्वात् । अधिष्ठितिर्हि संयोगः, सचं प्रकृत्यादीनां भोगहेतुपरिणामेषु कार-  
णतया भोक्तुरधिष्ठित्यात्मकः, तन्निमित्तञ्च भोगायतननिर्माणमिति । स च भिन्न-  
योरेव पदार्थयोर्भवति, यद्यत्सुखदुःखमोहात्मकं तत्सर्वं परेणाऽधिष्ठीयमानं भवति  
यथा रथादिः सारथ्यादिना, सुखदुःखमोहात्मकत्वाच्चेदमव्यक्तादि परेणाऽऽत्मनाऽ-  
धिष्ठीयमानं निश्चीयते । तथा च 'परः'—प्रकृत्यादिभिन्नः,—अधिष्ठानत्वात्,—यद्यद-  
धिष्ठात् तत्तदधिष्ठेयमिन्नं यथा रथभिन्नः सारथिरित्यनुमितम् ॥ किञ्च 'पुरुषः—प्रकृ-  
त्यादिभिन्नः,—'भोक्तृभावात्'—यत्र हि भोक्तृत्वं तत्र भोग्यत्वं नास्ति, भोग्ये हि  
सुखदुःखेऽनुकूलप्रतिकूले प्रत्यात्ममनुभूयेते, तस्मादनयोरनुकूलनीयेन प्रतिकूलनीयेन  
केनचिद्भवितव्यम्, नहि बुद्ध्यादयस्तावदनुकूलवेदितारः प्रतिकूलवेदितारो वा भ-  
वन्ति, भोक्तृषु स्वेषु सुखाद्यात्मकतया भोग्यानां स्वेषां वृत्तित्वे विरोधात् । तस्माद-  
सुखात्मकोऽनुकूलवेदिताऽदुःखात्मकः प्रतिकूलवेदिना च पुरुषो बुद्ध्याद्यतिरिक्त



इति । अथवा 'भोक्तृभावादित्यस्य द्रष्टृभावादित्यर्थः, एवञ्च भोग्या हि बुद्ध्याद्यो द्रूश्याः, न च द्रष्टारमन्तरेण तेषां द्रूश्यत्वं संभवति, तस्माद् द्रष्टाऽऽत्मा बुद्ध्याद्यति-  
रिक्तोऽस्ति । तथा चानुमानम्-‘पुरुषः, -द्रूश्यातिरिक्तः, -द्रष्टृभावदिति । इतश्च परः  
पुरुषोऽस्ति, कुतः?, ‘कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च’-शास्त्राणामाचार्याणां दिव्यलोचनानाञ्च  
मोक्षार्थं भवति प्रवृत्तिः, मोक्षश्चाऽऽत्यन्तिकदुःखत्रयनिवृत्तिः सा च स्वसमानाधिक-  
रणदुःखप्रागभावाऽसमानकालीनदुःखध्वंसरूपा । नचेयं बुद्ध्यादीनां संभवति, सुख-  
दुःखस्वभावानां तेषां स्वस्वभावाद्वियोजनाऽयुक्तत्वात्, तदतिरिक्तस्य सुखदुःखस्व-  
भावरहितस्यात्मनस्तु युक्तं दुःखवियोजनमिति, स चात्मेति ।

साधितस्तावच्चतुर्विंशतितत्त्वाऽतिरिक्ततया पुरुषः, इदानीं पुरुषगतो विशेषो  
विवेकस्फुटीकरणायाऽऽद्रीयते । तत्र हि वैशेषिकाः, -प्रथमं प्रकाशरहितस्य जडस्व-  
रूपस्याऽप्यात्मनो मनःसंयोगाद्भवति प्रकाश इति । तथा च जडस्य प्रकाशवत्त्वं  
नैमित्तिकमिति वदन्ति । तन्न । जडस्वरूपस्य प्रकाशधर्मरहितस्य कथं स्वीयप्रका-  
शधर्मवत्त्वं संभवेत्, न हि कृष्णपाषाणादिकं कदाचिदपि प्रकाशमुद्भावयति,  
तस्य स्वीयप्रकाशधर्मवत्त्वाऽभावात् । यत्र च स्वाभाविकः प्रकाशस्तस्य प्रकाशध-  
र्मवत्त्वमपङ्क्तुवं न भवति, तस्मात् प्रकाशस्वरूप एवाऽऽत्मा । अत्रार्थप्रमाणं स्मृतिः-  
“यथा दीपः प्रकाशाऽऽत्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान् । ज्ञानाऽऽत्मानं तथा विद्या-  
त्पुरुषं सर्वजन्तुषु”-इति । आत्मनि स्वतःप्रकाशत्वञ्च, -अन्यप्रकाशाऽनधीनप्रका-  
शात्मकस्व (चेतन) स्वरूपाऽवस्थानत्वं, न च प्रकृतौ तथेति । ननु पुरुषस्य  
स्वतःप्रकाशकत्वञ्चेद् अन्तःकरणस्य पुनः काऽपेक्षेति चेत् !, संसृतिभोगोपपत्त्यर्थं  
तदपेक्षेति । अन्तःकरणपुरुषयोर्धर्मधर्मिभावस्त्वौपाधिको न तु स्वाभाविक इति ।  
आत्मा हि स्वच्छद्रव्यम्, बुद्धिरपि द्रव्यं न तु गुणः, तयोः संयोगेऽप्यनाश्रितत्वाच्च  
न धर्मधर्मिभाव इति । तदुक्तम्-‘ज्ञानं नैवाऽऽत्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चने’ति ।  
अतएवाऽऽत्मा निर्गुणः, ‘इच्छाज्ञानादयस्तावद्धर्माः पुरुषस्य न संभवन्ति, तेषु  
जन्यताप्रत्यक्षेण जन्यतावद्गुणानां तत्राऽङ्गीकारे तस्य परिणामित्वाऽऽपत्तेः, तेन  
चोभयोरेव प्रकृतिपुरुषयोः परिणामहेतुत्वकल्पनागौरवं स्यात्, अत एव बुद्ध्याद्य-  
नधिकरणोऽतदात्मकः पुरुषश्चेतनः स्वयं प्रकाशोऽभ्युपगन्तव्यः । इच्छाज्ञानादिकं तु  
मनस्येताऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां मन्तव्यम् । यच्च मनसो निमित्तत्वमात्रमिच्छाज्ञाना-  
दिवृत्त्युत्पादकेन्द्रियत्वादित्युच्यते । तदपि न । मनःसंयोगस्याऽऽत्मनश्चोभयोस्ता-  
वदिच्छादिकं प्रति कारणत्वकल्पनागौरवाऽपेक्षया लाघवाद् बुद्धेरेवोपादानकारण-  
त्वमिति । तस्मादात्मा निर्गुण इति, निर्गुणत्वञ्चाऽऽत्मनो साधर्म्यमिति ॥ अपि  
च ‘तार्किकास्तावदात्मनः कर्तृत्वमिच्छन्ति, तदपि न, यतःकर्तृत्वं क्रियाजनकत्वम्,  
क्रिया जडरूपा, तत्कारणत्वस्याऽऽत्मन्यसंभवात् । भवता तत्र क्रियानङ्गीकाराच्च ।

जडस्य कारणं जडमेव, तच्च महत्तत्त्वमिति । अथ श्रुत्युक्तमोक्षाऽनुपपत्त्याऽऽत्मनः कर्तृत्वं नाऽङ्गीक्रियते, अत एवाऽकर्तृत्वेनाऽदृष्टसुखदुःखाद्यभाववानात्मा । मनो बुद्धिर्वा कर्तृत्वादिधर्मवती । आत्मा तु निर्गुणस्वरूपोऽभिहितो बाशिष्टे—“असम्भवति सर्वत्र दिग्भूयाकाशरूपिणि । प्राकाश्ये यादृशं रूपं प्रकाशस्याऽमलं भवेत् ॥ त्रिजगत्त्वमहच्चेति दृश्ये सत्तामुपागते । द्रष्टुः स्यात्केवलीभावस्तादृशो विमलात्मनः”—इति ॥ श्रुतावप्युक्तः—“साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे”ति । चिन्मात्रत्वमपि श्रुतावुक्तम्—“अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सच्चिदेकरसो ह्ययमात्मे”ति ॥ अथ प्रकाशस्वरूपश्चेदात्मा, तत्र कथं सुषुप्त्याद्यवस्थात्रयं मोहनिद्रादिपराभवश्चेति चेत् ! उच्यते । नहि पुरुषे सुषुप्त्याद्यवस्थात्रयं, किन्तु बुद्धावेव, पुरुषस्य तु साक्षित्वमात्रं, तदुक्तम्—“जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः । तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन व्यवस्थितः”—इति । तत्र जाग्रदवस्थाविषयजन्यो बुद्धेर्विषयाकारपरिणामः, स्वप्नावस्था तु संस्कारमात्रजन्यो बुद्धेर्विषयाकारपरिणामः, सुषुप्तिश्च द्विविधा—अर्धलयात्मिका समग्रलयात्मिका चेति,—तत्राऽर्धलये विषयाकारा वृत्तिर्न भवति किन्तु सुखदुःखमोहाकारैव बुद्धिवृत्तिरुद्भवति, तेनोत्थितस्य ‘सुखमहमस्वाप्सम्’ इत्यादिकं सुषुप्तिकालीनसुखादिस्मरणं जाग्रदवस्थायामुपपद्यते, तदुक्तम्—व्याससूत्रेण “मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषादि”ति ॥ समग्रलये तु मरणादाविव बुद्धिवृत्तेरत्यन्ताभावो भवति,—तदुक्तं सांख्यसूत्रेण—“समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु स्वरूपे”ति । सा च समग्रसुषुप्तिवृत्त्यत्यन्ताऽभावरूपा, तदा पुरुषस्य साक्षित्वमपि न भवति, वृत्तिसत्त्वे हि पुरुषस्य भवति साक्षित्वं नाऽन्यथेति । अर्धसुषुप्त्यादौ साक्षित्वन्तु तत्र तादृशतादृशबुद्धिवृत्तीनां सप्रतिबिम्बसंसृष्टानां प्रकाशनसंभवात्, अतो ज्ञानार्थं पुरुषस्य नास्ति परिणामाऽपेक्षेति ॥ नन्वत्यन्तसुषुप्त्यवस्थायां पुरुषस्य साक्षित्वं यदि नाऽङ्गीक्रियेत, तदा सुषुप्तिवृत्तीनां ग्रहणाऽभावाज्जाग्रति ‘सुखमहमस्वाप्स’मिति स्मरणमपि न स्यादिति चेन्न । सुषुप्तिसमये बुद्धिरेव तादृशवृत्तिग्राहिकेति । ननु जागरणेऽपि बुद्धिरेव वृत्तिग्राहिका भवतु, पुरुषस्य साक्षित्वन्वन्यथासिद्धमिति चेन्न । ‘अहं सुखी’त्यादिवृत्तिषु सुखादीनां विशेषणतया तज्ज्ञानमादौ निर्विकल्पकं स्यात्, तादृशाऽनन्तनिर्विकल्पकवृत्त्यपेक्षया लाघवेन नित्यमेकमात्मस्वरूपं तदग्राहकं स्वीक्रियते—इति ॥ स चाऽऽत्मा न चार्वाकादिवद्देहादिस्वरूपः, ‘नान्यदृष्टं स्मरत्यन्य’इतिन्यायेन पदार्थविषयकप्रतिसन्धानाऽनुपपत्तेः । नाऽपि जैनवद्व्यापको बौद्धवत्क्षणीको वा, देशकालाभ्यामनवच्छिन्नत्वात् । किन्तु व्यापको विभुर्महानिति—तदुक्तम्—“अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः । तन्नित्यं विभुञ्चेच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यते” तिसांख्यसिद्धान्तः ॥

आर्हतास्तु—आत्मा वृद्धयुपचयस्वभावः शरीरपरिमाणः, यद्यच्छरीरमुपपद्यते



तत्तत्परिमाणो भवतीति । स च नाऽणुर्न च व्यापकः, किन्तु मध्यमपरिमाण इति, हस्तिशरीरे हस्तिपरिमाणः 'पिपीलिकाविग्रहे तु पिपीलिकापरिमाण इति । अणु-  
श्चेदात्मा गजादिमहच्छरीरे हृदयावच्छेदेन स्थीयमानो हस्तपादाद्यवयवादावुत्पद्य-  
मानं दुःखादिकं शरीरप्रान्तभागावस्थितचक्षुरादीन्द्रियादौ समुद्भवत्सुखदुःखज्ञाना-  
दिकं च कथमुपभुञ्जेत, भवति च प्रत्ययो 'हस्तच्छेदे हस्तेऽहं दुःखी पादकण्टके  
पादेऽहं दुःखीत्यादिः । न तु हस्तपादादौ पीडयमाने हृदयेऽहं दुःखीति प्रत्ययोपल-  
भस्तस्माद् भवति शरीरपरिमाण इति । मनुष्यशरीरगताऽऽत्मा शरीरव्यापी  
मनुष्यशरीरपरिमाणः तद्वियोगानन्तरं पिपीलिकाशरीरप्रविष्टः सन् 'द्विहस्त-  
कर्कट्यां द्वादशहस्तबीजवत्' स्थातुं मातुञ्च न शक्नुयात् पिपीलिकाशरीरान्तरा-  
त्मनां मनुष्यशरीरलाभे हस्तपादाद्यवच्छेदेन सुखादिभोक्तृत्वं च न स्यादतः संको-  
चविकासस्वभाव इति वदन्ति । तन्न । यतो हि देहादेहान्तरगतिर्जीवस्य नित्यतां  
विना न संभवति, नित्यस्य च सङ्कोचविकासभावत्वमेव न संभवति । सङ्कोचत्वम्-  
अवयवव्यासत्वम्, विकासत्वम्-अवयववृद्धित्वम्, तौ तथाविधौ सङ्कोचविकासाव-  
यवविद्रव्यस्यैव संभवतः, यथा शरीरस्य, न तु नित्यस्य विभोरात्मनः, तस्य च  
सर्वत्र सत्त्वेऽपि यत्र शरीरे विशेषरूपेण सूक्ष्मशरीरेण सह नियतिस्तत्रैव सुखदुः-  
खादिभोक्तृत्वं भवति, नान्यशरीरे, अतएव घटावच्छेदेनाऽऽत्मनि न सुखादिभोक्तृ-  
त्वमिति । यत्र शरीरे च सूक्ष्मशरीरेण सह स नियतस्तत्र बुद्ध्यादिकमिन्द्रियद्वारा  
वृत्तिभिर्विषयग्रहणं विदधाति, भवति च वृत्तिद्वारैव सुखादिभोक्तृत्वमिति नास्त्य-  
पेक्षा शरीरसमपरिमाणवत्त्वस्य । न चाऽऽत्मनो व्यापकत्वे 'कर्कटीबीज'वत् सतुङ्ग-  
प्रान्तत्वं संसारनिरोधकं सत् दोषावहं भवति, परमात्मनो व्यापकत्वेऽपि श्रीकृ-  
ष्णकपिलादिशरीरग्रहणस्य शास्त्रेषु श्रवणात् । आकाशस्य व्यापकत्वेऽपि धटाकाशस्य  
सतुङ्गत्वाऽदर्शनात् । सङ्कोचस्वभावत्वे त्वात्मनोऽवयववत्त्वेन विनाशित्वापत्तिः  
स्यात्, तथा च चार्वाकमताऽवैगुण्येन शरीरमेवात्मा मन्तव्यः, तेन चार्वाक एव  
विजयेत, न पुनरभिमततात्मतत्त्वसिद्धिः । एवं नित्यस्यात्मनः संकोचित्वादिधर्मा-  
नुपदिशन् न भवत्यवधेयवचनः प्रत्युत भ्रान्तवदुपेक्षितः स्यादिति ॥ एतेन—  
“अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः” इत्यादिवचनेनाऽङ्गुष्ठमात्रपरिमाणवत्त्वमात्मनः कैश्चिदभिमतं ।  
तदपि शास्त्रयुक्तिसृष्ट्यादिविरुद्धत्वादनैकदोषदूषितत्वाच्च निरस्तमिति ॥

केचन-वेदान्तिनस्तु-अणुरूप एवात्मा हृदयावच्छेदेन ज्योतिःस्वरूपस्तिष्ठति,  
स च अणुस्वरूपोऽपि ज्ञानशक्त्या शरीरतदवयवेषु जायमानयावत्सुखदुःखादिकम्  
अनुभवतीति, आत्मनश्च शरीरे व्यापकत्वं-ज्ञानवृत्तिमत्तया बोध्यमिति वदन्ति ॥  
तदपि न विचारसहम् । यतोऽणुरूपश्चेदात्मा, तस्यैव प्रत्यक्षाऽभावात् तव तद्बु-  
त्तिसुखादिगुणानां कथं प्रत्यक्षं स्यात्, ब्रह्मस्य तद्गुणानां च प्रत्यक्षे महत्परिमा

णस्य कारणत्वात्, महत्परिमाणयुक्तस्यैवाऽऽत्मनो बुद्धिवृत्त्या ग्राहकत्वमनुमतमिति । किञ्च — हृदयस्थस्यात्मनो शरीरावच्छेदेन गुणव्याप्तिरपि नोपपद्यते, गुणस्य गुणि-  
देशत्वात् गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत । तच्चा च कथं ज्ञानवृत्त्या  
सुखादिभोक्तृत्वमुपपद्येत, अत एव विभुत्वमात्मनोऽवश्यमङ्गीकार्यम् । उक्तं च  
भगवद्दयासाचार्यैः “तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेश” इति, तस्याः—बुद्धधेयुणा इच्छा-  
द्वेषसुखदुःखादयस्त एव सारः प्रधानं यस्यात्मनः संसारित्वे संभवति स तद्गुण-  
सारस्तत्त्वात् । नहि बुद्धेः गुणैर्विना केवलस्य आत्मनः संसारित्वं भवति, बुद्धिधर्म-  
योगनिमित्तं हि संसारित्वं तस्य । अतो दुःखाद्यनुभवस्तद्योगादेव । तस्य महत्त्वे  
व्यापकत्वे च श्रुतिस्मृतयः—“स वा एष महानज आत्मा” “नित्यः सर्वगतः स्थाणु-  
रचलोऽयं सनातनः” । इति । महत्त्वं—महत्परिमाणवत्त्वम् सर्वगतत्वन्तु—व्यापक-  
त्वम्—अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वमिति बोध्यम् । नित्यत्वञ्च—आविर्भावतिरोभाव-  
स्वभावरहितत्वम् । अजत्वम्—कार्यत्वानधिकरणत्वम् । स्थाणुत्वम्—महत्परिमाणव-  
त्त्वेन बुद्धिवृत्तिग्राह्यस्वरूपत्वम् । अचलत्वम्—चलानादिक्रियारहितत्वम्, परिणामर-  
हितत्वं वा । सनातनत्वं—सत्स्वरूपत्वम् । इमे धर्मा नात्मनः पृथग्व्यपदेश्याः, तदा-  
त्मकत्वादिति ॥ १७ ॥

आत्मा त्वद्वैतवेदान्तिनां मते लाघवतर्कसहकारेण बलवतीभ्योऽभेदश्रुतिभ्य  
एक एव सिद्ध्यति, श्रुतयः—“एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन” “सर्वं  
खल्विदं ब्रह्म” “सर्वं ब्रह्मात्मकं जगत्”—“एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः”  
इत्याद्याः । अथ जाग्रदाद्यवस्थाः बुद्धिधर्माः, तत्तत्प्रत्येकधर्मविशिष्टबुद्धिसाक्षित्व-  
मेकशरीरे इव विभिन्नशरीरीयबुद्धिसाक्षित्वमप्येकस्याऽऽत्मनो भवति । तत्र तत्र च  
यस्या बुद्धधेयां वृत्तिः ‘घटं जानामि’ वा ‘पटं पश्यामि’ वा ‘बन्धं स्पृशामी’ति, सैव  
बुद्धिस्तद्बुद्धिवृत्तिविशिष्टतया साक्षिणं गृह्णाति, अत एवैकस्या बुद्धेः ‘अयं घट’ इति  
वृत्तौ सत्यामन्यबुद्धिव्यक्तिवृत्तिद्वारा नाऽनुभवो ‘पटमहं जानामी’ति । तथा च  
बुद्धिवृत्तीनां भेदाद् बुद्धेश्च भेदाद् भिन्नभिन्नप्रवृत्तिमदिदं जगत् सुव्यवस्थितं निर्व-  
हेत् । तस्मात्सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्मेति ॥ तन्न कुतः ?,—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

‘पुरुषबहुत्वं सिद्धमिति, प्रतिज्ञातं, पुरुषबहुत्वं—प्रतिशरीरं पुरुषभेदः, स्व-  
प्रतियोगिवृत्तित्वस्वानुयोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टधर्मावच्छिन्नत्वमिति  
यावत् । कस्मात्’, ‘जननमरणकरणानां प्रतिनियमादिति, जननं—जन्म । नित्यस्य  
परिणामाऽसंभवात् तत्तदात्मायाऽदृष्टप्रयोज्यभोगानुकूलविलक्षणसमुदायसावाप-



ज्ञाऽभिनव-देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिभिरात्मनः सम्बन्धः प्रतिबिम्बितत्वाख्यः स जन्म । तेषां देहादीनामुपात्तानां परित्यागः-तादृशसमुदिततत्त्वतीयप्रतिबिम्बाधिकारसमाप्तिः-मरणम्, नत्वात्मनो नाशः, तस्य निर्विकारित्वात् । करणानि च श्रोत्रादीनि बुद्ध्यन्तानि त्रयोदश, तेषां जननमरणकरणानां प्रतिनियमः-प्रतिशरीरं भिन्ना व्यवस्था । सर्वशरीरेष्वात्मन एकत्वे तु व्यवस्था न स्यात्, यथा-एकस्मिन् जायमाने सर्वे जायेरन्, म्रियमाणे च म्रियेरन्, एकस्मिन्नन्धे विचित्ते वा सर्वेऽन्धा विचित्ता वा स्युरित्यव्यवस्था स्यात् । न चैकस्याऽप्यात्मनः शरीरभेदेन सुव्यवस्था स्यादिति युक्तम् । तथा सति हस्तपादाद्युपाधिभेदेनाऽपि जन्ममरणाद्यापत्तिः स्यात् । नहि पाण्याद्यवयवे नष्टे जनिते वा शरीरी मृतो जनितो वा भवति, तस्मात्पुण्यवान् स्वर्गं विन्दतेऽपुण्यश्चाऽधोगतिं लभतेऽज्ञो बद्धयते ज्ञानी मुच्यते इत्यादिव्यवस्थायाः सर्वत्र सर्वाऽनुभवविषयत्वात् पुरुषा बहव इति । भोगाऽनुपपत्तेश्च, एकात्मनस्तस्यैकशरीरे विभिन्नाऽदृष्टानामेककालावच्छेदेन भोगाऽसम्पादनमिवाऽनेकशरीरेष्वप्येकस्यात्मनो युगपद्विरुद्धाऽनन्तभोगसम्पादनं नोपपद्येतेति ॥ आहार्यादमुक्तेश्च । सत्त्वबहुलशरीरावच्छेदेन 'आत्मा शरीरादिभिन्न' इति ज्ञाने जायमानेऽपि तमोबहुलशरीरावच्छेदेन 'शरीरमात्मे'ति ज्ञानस्योपलम्भेन एकात्मनः 'शरीरमात्मा शरीरादिभिन्न'-इत्याद्याहार्यज्ञानवत्त्वस्य कदाप्यवियोगात् विवेकेन अत्रिवेकस्य विरोधभावतायाः कचिदप्यलाभात् मोक्षो व्याह्रियेतेति ॥ तस्माद्भवन्त्यात्मानः प्रतिशरीरं भिन्ना इति । व्यवस्थापयन्ति च श्रुतयोऽप्यनेकत्वम्-"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको नृपमाणोऽनुशेते जहृत्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" "ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवाऽपि यन्ती"ति । केचिच्च वदन्ति-"एकस्यैवाऽऽत्मनः कार्यकारणोपाधिषु प्रतिबिम्बानि जीवेधराः, प्रतिबिम्बानाञ्चाऽन्योन्यभेदाऽजन्माद्यखिलव्यवस्थोपपत्तिरिति । तदप्यसत्, तत्र भेदाऽभेदविकल्पाऽसहत्वात्, यदि च बिम्बप्रतिबिम्बयोर्भेदस्तदा प्रतिबिम्बस्याऽचेतनत्वाद् भोक्तृत्वबन्धमोक्षाऽनुपपत्तिः स्यात्, नहि जडस्य भोक्तृत्वबन्धमोक्षाद्यपेक्षितं भवति जीवब्रह्मणोरभेद इति सिद्धान्तहानिश्च स्यात् । अभेदे तूपास्थोपासकभावो विलुप्येत । भेदाऽभेदाऽभ्युपगमे तु स्वसिद्धान्तहानिर्निम्बार्कमताऽभ्युपगमश्च, भेदस्याऽभेदस्य चैकस्मिन् विरोधान्न तस्य प्रामाणिकत्वमिति । अस्मन्मते चेतनत्वेन स्वभेदोऽविभागलक्षणो भेदस्त्वन्योन्याऽभाव इत्यात्मनां परस्परभेदान्न कश्चिदोषः । नन्वेवं पुरुषनानात्वे सति 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥ नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः । एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः ॥ २ ॥ इत्याद्या आत्मैकत्वप्रतिपादिकाः श्रुतयो नोपपद्यन्त इति चेन्न । तासां धर्मपर-

त्वेन नाऽद्वैतश्रुतीनां विरोधः, यथा जलचन्द्रप्रतिबिम्बास्त्वनेके सन्ति तत्र चन्द्र-  
त्वधर्मस्त्वैक एव तथा भिन्नात्मानो भूते भूते व्यवस्थितास्तत्र पदार्थतत्त्वविभाज-  
काऽऽत्मत्वात्मकाऽनुगतैकधर्मबोधनद्वारा प्रकृतिभिन्नमात्मतत्त्वमेकमिति तासां  
तात्पर्यात् । तादृशश्रुतिस्मृतिष्वेकादिशब्दाश्रितैकरूपतामात्रपराः, भेदादिशब्दाश्च  
वैधर्म्यलक्षणभेदपराः-यथा-‘एक एवाऽऽत्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु । स्थान-  
त्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते’ इत्यादौ सर्वात्मनां चिदेकरूपाऽर्थत्वाऽवगमात् ।  
एवमेव-एकस्वरूपत्वप्रतिपादनादेव यावदवस्थात्रयादिनिखिलोपाधिव्यतिरेकतया  
सर्वात्मनां स्वरूपबोधनोपपत्तिसंभवात् । आग्रह्यस्तम्बपर्यन्तानां यावदात्मनामेक-  
चित्स्वरूपवत्त्वे प्रतिपादिते तत्स्वरूपाणां साम्यतया बोधनेन तदतिरिक्तप्रकृतिका-  
र्याणां निःशेषाऽभिमाननिवृत्त्या पुरुषस्तावत्कृतकृत्यो भवति, स्वाऽवैधर्म्यज्ञानादेव  
सर्वाऽभिमाननिवृत्तेर्दर्शनात् ॥ ‘अतोऽद्वैतवाक्यानि नाऽखण्डतापराणि किन्त्वात्म-  
तत्त्वस्य परस्परमवैधर्म्यलक्षणाऽभेदपराण्येव । यथा साम्यविषये ‘यथोदकं शुद्धे-  
शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति’ एवं मुनेर्विज्ञानतः आत्मा भवति गौतम !’ ‘निरञ्जनः  
परमं साम्यमुपैती’त्यादीनि ॥ अवैधर्म्याऽभेदपरत्वञ्च ‘विष्णुरहं शिवोऽहं स्वामि-  
नारायणोऽहं शुद्धोऽहं बुद्धोऽहमित्यादि । अथवा प्रलयकाले पुरुषम्रिजातीयं सर्वमसत्  
अनागतावस्थम्, पुरुषाश्चाऽसंसारिणः स्वात्मस्वरूपावस्थानमगताः, तदा हि भव-  
त्यात्मनां विजातीयद्वैतराहित्यम्, सर्गकालेऽपि भवत्यविकृतपुरुषाणामविकृतविजा-  
तीयद्वैतराहित्यमित्याद्यर्थकत्वान्नाऽद्वैतश्रुतीनां विरोध इति ॥

इतश्च प्रतिक्षेत्रं पुरुषभेदः—‘अयुगपत्प्रवृत्तेश्चे’ति, प्रवृत्तिः—क्रिया, इच्छाज-  
न्यगुणः—प्रयत्नो वा, स च प्रतिशरीरं विभिन्नविषयकः समुपलभ्यते, स च जडधर्मो-  
ऽपि पुरुषे त्वोपाधिकतयोपचर्यते इति । तथा चैकस्मिन्शरीरे कम्पमाने सति नाऽ-  
न्यत्कम्पते, एकस्मिन् गते नाऽन्यानि गच्छन्ती’ति समुपलभ्यन्ते भिन्नप्रयत्नाः सर्वेषाम् ।  
सर्वभूतेष्वेकात्मवादमते तु—एकस्मिन् गम्यमाने सर्वाण्येव शरीराणि युगपद्गच्छेयुः,  
तथा चाऽव्यवस्था स्यात्, नानात्वे त्वात्मनां नाऽयं दोष इति । तथा चाऽत्रानुमानम्-  
‘पुरुषः—प्रतिशरीरं भिन्नः,—भिन्नप्रवृत्तिमत्त्वात् । ननु भिन्नप्रवृत्तिमत्त्वन्तु बुद्धिधर्म-  
त्वाद् बुद्धिभेदसाधकं न तु पुरुषस्य, तथा च तत्र स्वरूपाऽसिद्धिरिति चेन्न, स्वो-  
पादानाऽधिष्ठातृत्वसम्बन्धेन प्रवृत्तिमत्त्वस्य हेतुत्वात् ॥ एवम्—‘त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव,  
एवकारस्तु ‘सिद्धमित्यत्र योजनीयः । सत्त्वरजस्तमसां हि विपर्ययो दृश्यते सर्वत्र,  
केचित्सत्त्वबहुलाः, केचिद्भ्रजोबहुलाः, केचिच्च तमोबहुला इति । अतो नैकाऽऽत्मा ।  
यद्येक एव सर्वशरीरेष्वात्मा स्यात् तदा सर्वे शरीरिणः प्रधानसत्त्ववन्त एव, प्रधा-  
नरजोगुणवन्त एव, प्रधानतमोगुणवन्त एव वा स्युर्न तु केषाञ्चित्सत्त्वबाहुल्यं  
केषाञ्चिद्भ्रजोबाहुल्यमित्येवम् । तथा चाऽनुमानम्—‘पुरुषः—प्रतिशरीरं भिन्नः,—एकका-



लावच्छेदेन प्रधानसत्त्वरजस्तमोगुणाऽन्यतमाऽधिकरणत्वात् । नचाऽत्रापि त्रिगुणान्य-  
तमाऽधिकरणत्वं पुरुषे स्वरूपाऽसिद्धमिति वाच्यम् । स्वाश्रयाऽधिष्ठातृत्वसम्बन्धेन-  
हेतोस्तत्र सत्त्वान्नास्ति दोषः । तस्मात् पुरुषबहुत्वं सिद्धमेव न त्वसिद्धमिति ॥१८॥

तस्य पुरुषस्य विवेकज्ञानोपयोगिनो धर्मास्तावत्साधयति—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

‘तस्माच्चे’ति ‘तच्छ’ब्देन विप्रकृष्टमपि परामृष्टं भवति, उक्तं च पूर्वं ‘त्रिगुणम-  
विवेकि विषय’—इत्यादि । ‘तस्मादिति’ पृथगर्थे पञ्चमी, तेषां यो विपर्यासः—अत्रि-  
गुणत्वं विवेकित्वमविषयत्वमसामान्यत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वञ्चेति, तत्र चेतन-  
त्वेनाऽस्य द्रष्टृत्वं प्रतिपन्नम्, ‘पुरुषः—द्रष्टा—चेतनत्वादि’ति । न ह्यचेतनस्य  
द्रष्टृत्वम्, दृक्शक्त्यभावात्, दर्शनशक्तित्वात्तस्य दृश्यत्वमेव युक्तमिति ।  
दृश्येन प्रतिबिम्बे निहितानां शीलधर्मगुणादीनां ज्ञातृत्वमस्य द्रष्टृत्वमिति ।  
एवमविषयत्वादस्य साक्षित्वम्, प्रकृतिर्हि दर्शयति स्वचरितं कस्मैचित् अप्रा-  
कृताय, यस्मैचित् समर्पयत्यजडाय, स भवति पुरुषः साक्षी—बुद्ध्यवगतविष-  
याऽनुसन्धाता । बुद्ध्या सह साक्षात्सम्बन्धादपि भवत्यस्य साक्षित्वं, ‘साक्षाद्द्र-  
ष्टरि संज्ञाया’मिति व्युत्पादनात् ॥ एवं भवति पुरुषः कैवल्ययोगी, कुतः ? अत्रैगु-  
ण्यात्, त्रिगुणानां स्वाभाविकदुःखधर्मकत्वान्न भवति कैवल्यम्, परिणतानां  
नित्यमिथुनानाम् अकैवल्यात्—केवलभावाऽसंभवात्, अपरिणामस्याऽमिथुनस्य च  
त्रैक लिकी स्वरूपमात्राऽवस्थितिः—केवलता युक्ता भवति, यावद्बुद्धियोगस्तावद्बि-  
द्यमानाऽपि साऽविद्यमानेव भवति, यावदविद्यमानेव, तावन्नाऽऽस्त्यन्तिको—न स्व-  
समानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसमानकालीनासा, यत्रैतादृश्याः केवलतायाः—अधि-  
करणाऽनतिरिक्ताया दुःखनिवृत्तेर्योगः, सोऽत्रैगुण्यात् सदा केवलतायोगीति ॥  
भवति चाऽस्याऽत्रैगुण्यादेव माध्यस्थ्यमपि, सत्त्वस्य सुखगुणकत्वात् रागस्य च  
सुखानुशयित्वात् तदनुकूले पक्षपातिता भवेत्, रजसो दुःखगुणकत्वात् द्वेषस्य च  
दुःखानुशयित्वात् तदनुकूलेऽनपेक्षया पक्षपातिता भवेत्, न तु तदुभयभिन्नस्य  
पुरुषस्य, अतोऽस्य माध्यस्थ्यं—ताटस्थ्यमिति । अथ—ताटस्थ्यमपि सरागम्, समान-  
प्रेक्षणस्यापि रागाऽव्यभिचारादिति चेत् ! उच्यते,—द्वेधा हि—तटस्थता, किञ्चिद्वागा,  
अरागा च, तत्र द्वितीयेह विवक्षिता उपेक्षक्त्वरूपेति । वक्ष्यति च ‘द्रष्टा मयेत्यु-  
पेक्षक एक’ (६६) इत्यनेनेति । एवं पुरुषस्य भवत्यकर्तृत्वम्,—विवेकित्वात्—सम्भू-  
यकारित्वशून्यत्वात्, सम्भूयकारिणः कृतिमत्त्वनियमात् । अप्रसवधर्मित्वादपि  
पुरुषस्याऽकर्तृत्वं, यत्र परिणामशीलत्वं तत्रैव तदनुकूलकृतिमत्तया तत्समाना-

धिकरणतावत्त्वमिति । पुरुषे त्वौपाधिकं कर्तृत्वं 'कर्तेव भवत्युदासीन' (२०) इत्यादिना वक्ष्यते । स्वाभाविकं कर्तृत्वं बुद्धधरेव, यत्र कृतिस्तत्राऽदृष्टं, यत्राऽदृष्टं तत्र च कारणत्वमिति नियमादिति ॥ १९ ॥

अथ भवति 'चेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमी'ति प्रत्ययः, तेन कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरण्यं प्राप्तम्, । पुरुषे त्वकर्तरि तन्नोपपद्यते,—चेतनस्याऽकर्तृत्वात् कर्तृश्चाऽचैतन्यादिति । अतस्तादृशप्रतीतिश्चेतनांशे भ्रम एवेति दर्शयति—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।

गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

'तस्मादिति—'प्रवर्तते त्रिगुणतः' 'तस्माच्च विपर्यासादि'त्यादिना चैतन्य-कर्तृत्वे भिन्नाऽधिकरणके सिद्धेस्तः, अतो नास्ति बुद्धौ चेतनत्वम्, तथापि 'तत्सं-योगात्-तस्य पुरुषस्य संयोगात्, संयोगो हि सन्निधानम् बुद्धौ प्रतिबिम्बवत्त्वं-तस्मात्, अस्मितया धर्मिणोर्विवेकाऽग्रहादिति यावत् । 'अचेतनमपि लिङ्गम्'-महदादि-तन्मात्रपर्यन्तम्, 'चेतनावदिव'-पुरुषधर्मश्चेतनत्वं-तद्वानिव भवति । तथा च बुद्धौ चेतनत्वाऽभावेऽपि सा स्वां भ्रमेण चेतनागभिमन्यते इति । तथा—'गुणा-नाम्-सुखदुःखमोहात्मकानां कर्तृत्वेऽपि, तादृशकर्तृत्वधर्मस्तावदात्मनः प्रतिबिम्बे समारोपितो भवति, तेन-आत्मा स्वयमुदासीनोऽपि—कार्याऽनुकूलप्रयत्नानधि-करणोऽपि-'करोमीति-कर्तेव' भवति, तथा च कर्तृत्वाऽभावेऽप्यात्मनि स्वप्रतिबिम्बे बुद्ध्यन्तर्गते कर्तृत्वभ्रमेण स्वं कर्तारं मन्यते इति । तस्मात्-'चेतनोऽहं जानाम्यह-मिदं करोमी'त्याकारकाः प्रत्यया धर्मिणोर्भेदाऽग्रहाद् विकल्पा इति । धर्मविनिम-येन भेदेऽप्यभेदारोपो विकल्पो न प्रमाणमिति ॥ २० ॥

अथ-उक्तं 'तत्संयोगादि'ति । न चाऽयं द्वयोः रागादृते, न च सः प्रयोजनमन्त-रेण, न चेदं सर्गाऽनपेक्षम्, इत्यतः प्रयोजनं प्रदर्शयन् सर्गमुपस्थापयति—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।

पङ्गवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

'पुरुषस्य-प्रधानस्येत्युभयत्र कर्मणि पठ्यते, तथा च प्रधानेन पुरुषः दर्शनार्थम्-स्वस्य भोग्यतात्मकप्रयोजनार्थमिष्यते, पुरुषेण च प्रधानं कैवल्यार्थं-स्वस्य मोक्षा-त्मकप्रयोजनार्थमिष्यते, इत्येवं प्रयोजनार्थं द्वयोः राग इति । रागप्रयुक्ता च प्रकृतिः 'अहं केनापि पुरुषेणोपभोग्या भवानी'ति । पुरुषमिच्छति, रागप्रयुक्तश्च पुरुषः 'अहं केनाऽपि त्रिमुक्तो भवानी'ति प्रधानमिच्छति । यद्यप्यनेनाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्त्या-त्मकं कैवल्यमेवेपणीयम्, तथापि कैवल्यस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वकत्वात्, सत्त्वपुरुषान्यताख्यातेश्च तद्विषयोपादानप्रधानमन्तरेणाऽसंभवात् पुरुषेण कैवल्य-



प्रयोजकं प्रधानमपीष्यत इति । सरागयोश्चानादिनोरुभयोः—प्रधानपुरुषयोः संयोग-  
सन्तानोऽप्यनादिरेव, संयोगस्तु बहुपक्षः, क्वचित् भोगाऽपेक्षः, क्वचित् कैवल्य-  
पेक्षः, सन्तमपि भोगापेक्षं तं कैवल्यपेक्षमिति विनियुङ्क्ते । कैवल्यपेक्षकत्वं च  
संयोगेऽनादौ क्वचिदकेवलीभवनमप्याक्षिपति, अकेवलीभावश्च सर्गः, 'स च लि-  
ङ्गाख्यो भावाख्यो भौतिकश्च, सर्वोऽप्ययं 'तत्कृतः'—भोगापेक्षसंयोगकृत एवेति ।  
'सर्गोत्तरं च मुक्तिरिति । निदर्शनमत्र—'पङ्क्त्वन्धवदि'ति,—पङ्क्तुनाऽन्धोऽपि  
गमनशक्तिर्माँश्चेद् भवेत् !, इष्यते स्वेष्टदेशप्राप्त्यात्मकप्रयोजनार्थम्, अन्धेनाऽपि  
पङ्कुरपि दर्शनशक्तिर्माँश्चेत् भवेत् ! इष्यते स्वेष्टदेशप्राप्त्यात्मकप्रयोजनार्थम्, तदर्थं  
च रागः, रागाच्च संयुक्तौ भवतः, संयोगाच्च स्कन्धारोहणाख्यात् सर्गः—तत्स्थला-  
दपसरणमिति, तदिष्टदेशप्राप्तौ च द्वयोर्मुक्तिर्वियोग-इतिवदिति ॥ २१ ॥

स चायं लैङ्गिकसर्गप्रकारः—

प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ २२ ॥

प्रकृतितः किञ्चिन्न्यूनपरिमाणं महत्तत्त्वमंशांशिभावाऽपन्नं जायते, तत्रांशा  
बुद्धितत्त्वाख्याः आत्मसमसंख्याः शरीरप्रवेशयोग्यपरिमाणका आत्मने भोगदानाय  
भवन्ति, तेषामापूर्विका प्रकृतिरेव । तत्र च सृष्टौ प्रमाणम्—'सविकारात्प्रधानात्तु  
महत्तत्त्वमजायत । महानिति यतः ख्यातिस्तदहंकारकारणम्' । 'एतस्माज्जायते  
प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी' इति ।  
महत्तत्त्वाद् अल्पपरिमाणोऽंशांशिभावापन्नोऽहङ्कारो भवति, तत्रांशाः सूक्ष्मा  
आत्मसमसंख्याका आत्मने भोगदानाय भवन्ति । अहङ्काराच्च षोडशको गणः—'एका-  
दशेन्द्रियाणि शब्दादीनि पञ्च तन्मात्राणि चे'ति भवति । 'तस्मादपि षोडशकात्,—  
तं षोडशकं घटकत्वेन प्राप्याऽवस्थितेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि भवन्तीति ।  
तत्र सूक्ष्मशब्दतन्मात्रादाकाशं भवति तस्य शब्द एव गुणः, शब्दतन्मात्रसहितात्  
स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणवान् भवति । शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद्वरूपतन्मा-  
त्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणकं भवति, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्राजलं  
शब्दस्पर्शरूपरसगुणकं भवति, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात्  
पृथिवी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणवती भवति । यथाऽयं संग्रहः—'वियदेकगुणं प्रोक्तं  
द्वौ गुणौ मातरिश्चनः । त्रयस्ते त्रिसि चत्वारः सलिले पञ्च भूमिगाः' इति । भूतत्वं  
नाम-बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वमिति ॥ अथाऽहंकारादेव पञ्चभूतानामुत्पत्तिर्भ-  
वत्विति चेत् ? उच्यते । शब्दादिगुणकानां भूतानामहंकारादुत्पत्तेरसंभवात् । कुतः ?  
अहंकारस्य शब्दादिमत्त्वाऽभावात्, न चाऽहंकारस्य पञ्चगुणवत्त्वे मानमुपलभ्यते ।

अनुभवविरोधात्स्थूलशब्दादिमत्त्वाऽसंभवात्, सूक्ष्मशब्दादिमत्त्वे तु तत्कार्यात्मक-  
 ब्राणादियावदेन्द्रियाणां शब्दादिमत्तयोपलब्ध्यापत्तेः । नन्वहंकारस्य शब्दाद्यभाव-  
 वत्त्वेऽपि ताम्बूलपत्रचर्वणेन पूर्वमविद्यमानमपि पश्चाद्भाविरूपमिवाऽहंकारादु-  
 त्पन्नानां पृथिव्यादीनामपि परस्परनिमित्तेन शब्दादिगुणवत्त्वं संभविष्यति-इति  
 चेन्न । स्थूलकार्यस्य स्ववृत्तिर्यो विशेषगुणस्तादृशगुणवद्द्रव्यं कारणं भवति,  
 तादृशकारणकत्वव्याप्यं कार्यत्वं भवतीति नियमात्, तथा चाऽनुमानम् 'पञ्चभूता-  
 नि, स्ववृत्तिविशेषगुणसजातीयगुणवद्द्रव्योपादानकानि, स्थूलकार्यत्वात्, घटवत् ।  
 एवम् - 'सूक्ष्मतन्मात्राणि, स्थूलभूतकारणानि, भूतवृत्तिविशेषगुणसजातीयगुणा-  
 त्मकत्वात्, इत्येवं भूतानां तन्मात्रकारणकत्वं सिद्धमिति । यत्र च भूतकारणत्वाऽ-  
 भावस्तत्र भूतवृत्तिशब्दादिगुणसजातीयगुणात्मकत्वाभावान्नाहंकारस्य स्थूल-  
 भूतकारणत्वमिति । तन्मात्रत्वञ्च - 'यज्जातीयेषु शान्तघोरमूढाऽऽख्यविशेषत्रयं  
 न तिष्ठति तादृशशान्ताद्यनाश्रयतज्जातीयशब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकसूक्ष्मद्रव्यत्व-  
 मिति । शान्तं-सुखात्मकम्, घोरम्-दुःखात्मकम्, मूढम् मोहात्मकम्, तत् त्रयं  
 स्थूल विशेषपदवाच्यम्, स्थूलभूतगुणेषु भवति, न तु सूक्ष्मतन्मात्रेषु, तन्मात्राणि  
 तु केवलदेवादिग्रहणयोग्यविषयत्वेन सूक्ष्माणि सूखात्मकान्येवाऽऽस्मदाद्यग्राह्याणि ।  
 अस्मद्वग्राह्यस्थूलशान्तादिविशेषरहितानि, तान्येव सूक्ष्मतन्मात्राणि पञ्चभूतका-  
 रणानिति ॥ २२ ॥

प्रकृतिजन्यं महत्तत्त्वं स्वरूपतो धर्मतश्च कीदृशमिति तद्दर्शयति—

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।

सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

अध्यवसायः-घटोऽयं 'पटोऽयम्' 'कर्तव्यमेतन्मये'त्याद्याकारको निश्चयो दीप-  
 शिखावद् बुद्धेः परिणामो वृत्तिर्बुद्धेर्धर्मोऽवस्थाविशेष इति । परिणामपरिणामिनो-  
 रभेदविवक्षयाऽभेदप्रयोग इति । चैतन्यस्य विषयाऽवभासवैचित्र्याय इन्द्रियाणाञ्च  
 सवृत्तिकत्वोपपत्तये मनसश्च 'इदमेवं-नैव'मित्यत्र मदिष्टप्राधनत्वादिकलरनाय  
 अहंकारस्य च कृत्यसाध्ये वृष्ट्यादौ प्रवृत्तिनिरोधकस्याऽकर्तव्यत्वादिपकारकस्याऽभि-  
 मानस्य संभवाय-बुद्धितत्त्वस्याऽवश्यकत्वमिति । येन सर्वलोकजातः स्वेन्द्रियैर्वि-  
 पयं प्रत्यक्षीकृत्य मनसा च सङ्कल्प्याऽहङ्कारेण चाभिमत्य 'कर्तव्यमेतन्मये'त्यध्य-  
 वस्यति । तदनन्तरं प्रवर्तते, सोऽयमध्यवसायो बुद्धेरसाधारणव्यापार इति । तादा-  
 त्म्यसम्बन्धेनाऽध्यवसायवत्त्वम् बुद्धेरलक्षणमिति । बुद्धेर्धर्मस्तु 'धर्मो ज्ञानं विराग  
 ऐश्वर्य'मिति, एतद्धर्मचतुष्टयं 'सात्त्विकं'—सत्त्वांशमात्रात्मकमिति । तत्र धर्मो  
 द्विविधोऽभ्युदयहेतुर्निःश्रेयसहेतुश्चेति । यागदानतोऽस्नानादिजन्योऽभ्युदयहेतुर्धर्मः ।



अष्टाङ्गयोगेश्वरभक्त्यादिजन्यो धर्मो निःश्रेयसहेतुरिति ॥ 'ज्ञानम्—सत्त्वपुरुषाऽन्य-  
ताख्यातिरात्मसाक्षात्कारश्चेति प्रमाज्ञानम्, एवं प्रमाणादिज्ञानमपि ग्राह्यम् ।  
विरागो—वैराग्यं रागाऽभाव इति यावात्, स च चतुर्विधः—यतमानसंज्ञकव्यति-  
रेकसंज्ञकेन्द्रियसंज्ञकवशीकारसंज्ञकभेदात् । तत्र हि कामक्रोधादिकपाया रागपद-  
वाच्याश्चित्तवर्तिनो यथास्वं विषयेष्विन्द्रियाणि प्रेरयन्ति तन्मा प्रवर्तिषत विषये-  
ष्विन्द्रियाणीति रागादितनूकरणाय कृतप्रयत्नो यतमानसंज्ञकवैराग्यः ॥ परिपाचने  
चाऽनुष्ठीयमाने सति केचित्तु चित्तकपायाः पक्वाः केचित्च पक्ष्यन्ते इत्येवं पक्वे-  
भ्योऽऽपक्वान् पृथक्कृत्य अपक्वानां तनूकरणायाऽनुष्ठितप्रयत्नो व्यतिरेकसंज्ञकवैरा-  
ग्य इति ॥ सर्वेषु चित्तकपायेषु पक्वेषु प्रेरकाऽसामर्थ्येनेन्द्रियाणां प्रवृत्त्यसंभवेऽपि  
मनस्येव स्वरूपाऽवस्थानमात्रेण सूक्ष्मरूपेण संस्थिताः सन्तो मनस्येव विषयौत्सु-  
क्यसम्पादका भवन्ति, येन मनस्येवाङ्कुररूपो विषयाऽवभासो भवति, तस्यापि विल-  
याय कृतप्रयत्नः—एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्यः ॥ यदा च मनोऽङ्कुरविलये सति मनसो  
वशीकरणेन लौकिकाऽऽनुश्रविकस्त्रीविलासदिव्यभोगविभूत्यादिविषयेषु समुप-  
स्थितेषु सत्त्वपि मनसा तत्रौत्सुक्यमपि न स्यात्, तदा विषयाणां सूक्ष्मरूपम-  
प्यनभिज्ञो मनसःसङ्कल्पाऽङ्कुरमनभिज्ञः शान्तस्वरूपः पुरुषो वशीकारसंज्ञकवैराग्य-  
वानिति । यस्य स्वरूपं पतञ्जलिमहर्षिणा 'दृष्टाऽऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार-  
संज्ञकवैराग्य'मिति सूत्रेण समुपवर्णितमिति । ऐश्वर्यम्—अष्टविधम्—अष्टसिद्धयः,  
अणिम—लघिम—गरिम—महिम—प्राप्ति—प्राकाम्य—वशित्वेशित्वाऽभिधानाः । तत्रा-  
ऽणिमा—अणुभावो यतः शिलामपि प्रविशति, महच्छरीरी सन्नपि अप्रतिहतपरमा-  
णुस्वरूपो भूत्वा सर्वत्र पाषाणलोष्टादौ प्रवेशं करोतीति । 'लघिमा लघुभावो येन  
पर्वतवद् गुरुरपि तूलपरमाणुवत्लघुभावमासाद्य सूर्यचन्द्रादिकिरणानवलम्ब्य सूर्य-  
लोकं चन्द्रलोकञ्च याति । 'गरिमा—गुरुभावो येनाऽर्कतूलवल्लघुशरीरी सन्नपि  
हनुमानिव पर्वतस्य गुरुत्वं स्वशरीरे सम्पाद्य गुरुर्भवति । 'महिमा—महतो भावो  
येन लघुशरीरी सन्नपि पर्वतसदृशं शरीरमासाद्य महान् भवति । 'प्राप्तिः—यतः  
स्वगृहान्तरालं तिष्ठन्नपि स्वाऽङ्गल्यग्रं चन्द्रादिकं स्पृशतीति । 'प्राकाम्यम्—  
इच्छाया अनभिघातस्तेन यदेवेच्छति तदेव करोतीश्वरवदिति, यथा श्रीकृष्ण-शङ्ख-  
रादयः । इदमेवैश्वर्यं कामावसायित्वमिति ख्यायते, सत्यसङ्कल्पतेतियावत् ।  
'वशित्वम्—सर्वभूतभौतिकान् स्ववशं नयति यथा विष्णुः । 'ईशित्वम्—येन सर्व-  
भूतभौतिकानामीशनशीलः सन्नुत्पत्तिस्थितिलयानपि कर्तुं प्रभुर्भवतीति । तासामत्र  
सङ्क्षेपः 'अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः । प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिः  
प्रेरणमोक्षिता ॥ 'गुणेष्वसङ्गो यशिता यः कामस्तदवस्यति' इति ॥ त इमे धर्मज्ञा-  
नवैराग्यैश्वर्याणि सात्त्विका बुद्धिधर्माः, तादात्म्येन तत्तद्धर्मवचनम् प्रत्येकमपि

सात्त्विकबुद्धेर्लक्षणं बोध्यम् । अर्थं तामसमस्माद्विपर्यस्तं—बुद्धधेस्तामसा धर्मा हि तच्चतुष्टयविपरीताः, यथा—अधर्माऽज्ञानाऽवैराग्याऽनैश्वर्याणीति । तत्राऽधर्मः—वेदादिविरुद्धकर्मादिजन्यः । ‘अज्ञानम्—अनित्येषु गृहद्वारादिभोग्यविषयेषु नित्यत्व-प्रकारकबुद्धिः, अशुचौ खोशरीरादौ शुचित्वबुद्धिः, दुःखमये संसारे सुखबुद्धिः, अनात्मनि शरीरादौ शरीरमेवाऽऽत्मेत्यादिकाऽऽत्मबुद्धिः, तदेतत्सर्वविधमज्ञानम-विद्येति ॥ ‘अवैराग्यम्—वैराग्यराहित्यं विषयमग्नत्वमिति यावत् । अनैश्वर्यम्—अष्टविधैश्वर्यराहित्यं, पराधीनत्वमिति यावत् । तथा चाऽधर्माऽज्ञानाऽवैराग्या-ऽनैश्वर्याणीति चत्वारस्तामसा बुद्धिधर्मास्तादात्म्येन तादृशप्रत्येकधर्मवत्त्वं तामस-बुद्धेर्लक्षणं बोध्यम् । यद्यपि सात्त्विकतामसधर्मवद् राजसधर्मा वक्तुमुचिता-स्तथापि स्वान्त्येण राजसानां धर्माणामसत्त्वेन सत्त्वतमसोः स्वयमक्रिय-तयोभयत्र क्रियोत्पादनाय रजस आवश्यकत्वात् । उभयविधा अपि धर्मा राजसा इति बोध्यम् ॥ २३ ॥

अहङ्कारस्य लक्षणमुच्यते—

‘अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।

एकादशकश्च गणस्तन्मात्रापञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

यद्धि बहिरिन्द्रियैः साक्षाकृतं, तन्मनसा सङ्कल्प्य ‘तत्राऽहमधिकृतः’--‘अस्मिन्नहं शक्तः’--‘मदर्थं एवाऽमी विषयाः’--‘मत्तो नाऽन्यस्तावदस्मिन्विषयेऽधि-कृतोऽस्ति’--‘ममैवाऽधिकारः’--इत्येवं योऽभिमानः सोऽहङ्कारस्याऽसाधारणो व्या-पारः, तादात्म्यसम्बन्धेन तादृशाऽभिमानवत्त्वमहङ्कारस्य लक्षणम् । स्वापारम-हङ्कारं चोपजीव्य बुद्धिः ‘कर्तव्यमेतन्मये’त्यध्यवस्यतीति । तस्मादहङ्काराद् द्विविधः सर्गः प्रवर्तते,--सृज्यते इति सर्गः षोडशकः सृष्टिप्रपञ्चः । स चाऽवान्तरव्यू-हभेदेन ‘द्विविध’इति । तत्र ‘एकादशकश्च गणः’--इन्द्रियजातीय इति । ‘तन्मात्रा-पञ्चकश्चैव’--सूक्ष्मभूतजातीय इति । एवकारस्तु तदन्यव्यवच्छेदक इति ॥ २४ ॥

तत्र हि—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।

भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

‘सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्ट’मिति प्रकाशलाववाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विकः उद्रिक्तसत्त्वगुणकात्--‘वैकृतात्’--‘विकृतोऽयमहङ्कार’इतिसांख्याचार्यसङ्केतविषया-दहङ्कारात्प्रवर्तते—सृज्यते । एवम्—भूतादेः—उद्रिक्ततमोगुणकात्तामसाऽहङ्कारात्तन्मा-त्रपञ्चको गणः प्रवर्तते—सृज्यते । सोऽयं गणस्तामसः गुरुवरणकत्वादिति । अथैक-जातीयात्कारणान् कथमनेकजातीयं कार्यमिति चेत्! उच्यते, तत्तद्गुणप्राधान्यविशिष्टा-



दहंकाराद् विशिष्टं कार्यं स्यादिति । ननु यदि सत्त्वतमोभ्यामेवाऽहंकारिकं यावत् कार्यं निर्वहेत्तदा रजसोऽन्यथासिद्धत्वं स्यादिति चेन्न, 'तैजसादुभयमपि प्रवर्तते' - तैजसाद् राजसाऽहङ्काराद् गणद्वयमपि भवति, सत्त्वतमसौ स्वकार्यानुकूलशक्तिमत्यपि स्वयमप्रवृत्तिमत्तया ते न स्वकार्यं जनयतः - रजस्तु प्रवृत्तिमत्तया यदा ते प्रवर्तयति तदा स्वस्वकार्यं ते निर्वर्तयत इति तदुभयविधकार्यस्य जनने सत्त्वतमसोः प्रेरकत्वात् भवति रजसो निमित्तत्वमिति नान्यथासिद्धत्वं तस्येति ॥ अथ व्याख्यात-  
रम्—एकादशानां पूरणमिति व्युत्पत्त्या भवत्येकादशकं मनः सात्त्विकम्, तच्च सात्त्विकाऽहङ्काराद्भवति, राजसाऽहङ्काराद् उभयं—ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च, तामसाऽहङ्कारात्तन्मात्राणि समुत्पद्यन्त इति । स्मृतियथा "वैकारिकस्तैजसश्च ताम-  
सश्चेत्यहं त्रिधा । अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकमभूत्" । "वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाऽभिव्यञ्जनं यतः । तैजसादिन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च" । "तामसो भूत-  
सूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः" इति ॥ ननु त्रयोदशकरणानां देवताः सात्त्विका-  
ऽहङ्कारादुत्पद्यन्ते-यथाक्रमं-श्रोत्र-त्वक्-चक्षू-रसना-घ्राण-वाक्-पाणि-पाद-पायू-पस्थ-  
मनो-ऽहङ्कार-बुद्धीनां दिग्-वायु-सूर्य-वरुणा-श्विनीकुमार-ब्रह्मिन्द्रोपेन्द्र-यम-  
प्रजापति-चन्द्र-विष्णु-ब्रह्माणो देवता भवन्ति, तत्कथं नोक्तमिति चेन्न । नाऽस्मन्मते देवतानामधिकरणाऽतिरिक्तत्वमिति, देवताश्च यदि पुरुषास्ते तु नित्याः पुरुषत-  
त्त्वान्तर्गताः, यदि चाऽहङ्कारादुत्पन्नानां शक्तिविशेषाणां देवतासंज्ञा तर्हि स्वाऽधि-  
ष्ठानरूपकरणात्मकत्वं तासामिति ॥ २५ ॥

तत्र च बाह्येन्द्रियाणि दश भवन्ति—बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च, तत्र—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः-श्रोत्र-घ्राण-रसन-त्वगाख्यानि ।

वाक्-पाणि-पाद-पायू-पस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणीत्यर्थः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः स्थूला बुद्ध्यन्ते एभिरिति बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्च भवन्ति । तत्र चक्षुः—चष्टेऽनेनेति व्युत्पत्त्या चक्षुर्नयनं रूपग्रहणलिङ्गं भवति । शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्—शब्दग्रहणलि-  
ङ्गं भवति । जिघ्रत्यनेनेति घ्राणं गन्धग्रहणलिङ्गं भवति । रसयत्यनेनेति रसनं रसग्रहणलिङ्गं भवति । त्वक्-स्पर्शं, स्पृशत्यनेनेति स्पर्शं त्वगिन्द्रियं स्पर्शग्रहण-  
लिङ्गं भवति । एवं वागादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, तत्र—उच्यतेऽनेनेतिवचनं वागि-  
न्द्रियम्—उच्चारणग्रहणलिङ्गं भवति । पण्यते व्यवहोयतेऽनेनेति पाणोन्द्रिय-  
मादानादिग्रहणलिङ्गं भवति । पथते गम्यतेऽनेनेति गमनक्रियाग्रहणलिङ्गं पादेन्द्रियं भवति । पिबन्ति-जलादिकं योगिनोऽनेनेति पाय्विन्द्रियं मलोत्सर्गादिक्रियाग्र-  
हणलिङ्गं भवति । उपतिष्ठते विषयोपभोगार्थं तदुपस्थमानन्दग्रहणलिङ्गं भवति ।

इत्येवं बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियञ्चोभयमपि भवतीन्द्रस्यात्मनश्चिन्हत्वादनुमापकत्वाद्विन्द्रियमिति । अथवा—‘इदं’पदेन विषयाः, तान्प्रति द्रवन्तीतीन्द्रियाणि व्युत्पन्नानि । सात्त्विकाऽहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वसामान्यलक्षणं बोध्यमिति ॥ २६ ॥

बाह्येन्द्रियभिन्नमेकादशकमान्तरमिन्द्रियं मनः, तच्च न केवलं बुद्धीन्द्रियं न वा केवलं कर्मेन्द्रियम्, किन्तु—

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् ।

गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाच्च ॥ २७ ॥

‘अत्र’—एकादशके गणे, ‘मनः’—मन्यतेऽनेनेति मनः, ‘उभयात्मकम्’—बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, बुद्धिपु कर्मसु चेन्द्रियाणां वृत्तिमत्त्वस्य मनोऽधिष्ठाननियतत्वात् । बुद्ध्यते क्रियते चाऽनेनेन्द्रियेणेत्येतत् । अथैवं सति सांकर्यं ज्ञानेन्द्रियत्वकर्मेन्द्रियत्वयोः अनुवृत्तत्वं व्यावृत्तत्वं च निरुन्ध्यादिति चेत् । उच्यते,—असाधारणव्यापारजनकतावच्छेदकत्वाच्चक्षुष्ट्वादिकस्यैव तद्व्यवहारप्रयोजकत्वम्, एकादशके गणे त्विन्द्रियत्वसामान्यस्यैवाऽसंकरस्य तद्व्यवहारप्रयोजकत्वमिति । अथ मनसः कथमिन्द्रियत्वम् ?, यद्युच्यते,—बाह्येन्द्रियसहकारित्वादिति, तथा सत्यालोकस्य तथात्वापत्तेः । यद्युच्यते; इन्द्रस्यात्मनोऽनुमापकत्वादिति । तन्न, तस्य बुद्ध्यहंकारयोरनैकान्त्यात् । अत एव चक्षुर्वदसाधारणव्यापारवत्त्वादपि नेन्द्रियत्वं तस्य । यद्यनैकान्तिकोऽपि धर्मोऽनुमापयेत्, प्रसज्येत तर्हि तु महदहंकारयोरपि तथात्वम्, अतो वाच्यः कश्चिदेकान्तधर्मः इति चेत् !, उच्यते—‘साधर्म्यादि’ति । बाह्येन्द्रियैः सह समानधर्मवत्त्वादिन्द्रियत्वं मनस इति । स च समानो धर्मः—सात्त्विकाऽहंकारोपादानकत्वमिति । अथ ‘अहं तत्त्वज्ञानाऽधिकारी’त्यादिलक्षणसात्त्विकाहंवृत्तेरपि सात्त्विकाऽहंकारोपादानकत्वात् इन्द्रियत्वापत्तिरिति चेत् !, उच्यते,—सात्त्विकाऽहंकारोपादानकतत्त्वान्तरत्वमिति । ‘मनःपष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षती’तिस्मृतेश्च । अथ कोऽस्याऽसाधारणधर्मः ?, संकल्प इति । बाह्येन्द्रिययोगोत्तरक्षणे एव द्राग् अननुवृत्तमव्यावृत्तं च वस्तु ‘इदम्’ ‘किञ्चिद्’—इत्येवं गृह्यते, तद्द्वितीयक्षणे ‘इदमेवम्-घटत्ववत्’ ‘इदं नैवं-पटत्ववन्न’त्यादि सम्भक्-विशेषणविशेष्यभावेन कल्पयति-विशिष्टवृत्तिविषयं करोति, अतो विशिष्टा वृत्तिः संकल्पः, संकल्पात्मकव्यापारवत्त्वं तादात्म्येन मनसो लक्षणमिति । अथाऽक्षपादवत् बाह्येन्द्रियाण्येव विशिष्टं वस्तु गृह्णीयुरिति चेत् ! उच्यते,—असामर्थ्यान्न गृह्णीयुरिति, सामर्थ्यं चासामन्तःकरणाधीनमालोचनमात्रमिति, यथा—‘सम्मुखं वस्तुमात्रं तु प्राग्गृह्णन्त्यविकल्पितम् । तत्सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः’ । ‘अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुखवस्तुजम्’ ।



‘ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यथा । बुद्ध्याऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मते’ति ( श्लोकवार्तिकम् ) । विशिष्टवृत्तिसामर्थ्यं त्वन्तःकरणानामिति । तथा च संकल्पात्मकविशिष्टव्यापारजनकतावच्छेदकं मनस्त्वं प्रवृत्तिनिमित्तं—‘वाच्यं वाच्य-वृत्ति वाच्योपस्थितिप्रकारं चेति । अथ कथमेकजातीयादहंकारात् अनेकजातीयः षोडशकः सर्गः ? इति चेत् ! उच्यते—गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं सर्गस्येति । बुद्ध्यवस्थापन्नसत्त्वरजस्तमसां यः धर्माऽधर्माद्वयः परिणामः, तस्य विशेषः—विभिन्नता,—श्रोत्रजनकमदृष्टमेकं, त्वग्जनकमदृष्टमपरं, एवं वक्षुः(आदि)जनकान्यदृष्टानि अन्यानि, तन्मात्रजनकान्यपि विभिन्नानि तानि,—इति तत्तद्विभिन्नाऽदृष्टप्रेरितोऽहंकारो विभिन्नकारी भवतीति कारणस्यैक्येऽपि निमित्तनानात्वात् कार्यनानात्वमिति । किञ्च—बाह्यभेदाच्चापि नाना वम्, बाह्याः शब्दादिविषयाः अर्थाः, तेषां नानात्वात्, ग्राह्यार्थनानात्वबलात् ग्राहकाणां च नानात्वमिति, एवं बाह्याः स्थूल-भूतानि तेषां नानात्वेनोत्पत्तिरूपप्रयोजनबलादपि तन्मात्राणां नानात्वमिति । ‘बाह्यभेदाश्चे’तिपाठे तु दृष्टान्तमिदं यथा—‘बाह्यभेदा’इति । यथा पृथिव्येकाऽपि-निमित्तभेदात् बाह्या घटपटदण्डादयो भिद्यन्ते, यथा वा जलमेकमपि निमित्तान् भूविकारानासाद्य नारिकेलतालतालीप्रभृतिफलरसतथा मधुराऽम्ललवणादिमत्तथा भिद्यते तथाऽदृष्टविशिष्टविभिन्नकार्यप्रयोजनबलाद्विभिन्नपरिणताहंकारान्नानाकार्याऽऽविर्भाव इति ॥ २७ ॥

तेषु च बाह्येन्द्रियेषु मध्ये ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च विशेषव्यापारान्दर्शयति-

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।

वचनादानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्दश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

पञ्चानाम्—बुद्धीन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणाख्यानां शब्दस्पर्शरूपरस-गन्धेष्वालोचनमात्रं निर्विकल्पकमात्रं ‘वृत्ति’ज्ञानं यथाक्रममभिप्रेतम् । एवम् पञ्चानां—कर्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थाऽऽख्यानां वचनादानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्दश्च यथाक्रमम् वृत्तयो बोध्याः । तत्र हि श्रोत्रस्य शब्दे, त्वचः-स्पर्शे, चक्षुषः-रूपे, रसनाया-रसे, घ्राणस्य-गन्धे,—सामर्थ्यमिति । एवम् वागिन्द्रियस्य कर्म वचनम्, हस्तस्याऽऽदानं-ग्रहणम्, पादयोगमनं-विहरणम्, पायोत्सर्गो मल-त्यागानुकूलकर्म, उपस्थस्थ आनन्दः-आनन्द्यतेइति व्युत्पत्त्या रतिकर्म बोध्यमिति विवेकः । तत्तदसाधारणव्यापारवत्त्वं तत्तल्लक्षणमिति ॥ २८ ॥

अन्तःकरणत्रयस्य मनोऽहङ्कारबुद्ध्याऽऽख्यस्याऽसामान्यां सामान्यां च वृत्तिमाह—

स्वालक्षणं वृत्तिलयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

‘त्रयस्य-मनोऽहङ्कारमहतां त्रयाणां, स्वालक्ष्यं वृत्तिः,--स्वं स्वं-स्वकीयं स्वकीयमसाधारणं लक्षणं येयान्तानि मनोऽहङ्कारमहत्तत्त्वानि, तेषां भावः--स्वा-लक्ष्यं-स्वस्वलक्षणमेव, वृत्तिर्व्यापारः । तत्र च मनसः सङ्कल्पोऽसाधारणी वृत्तिरिति, अहङ्कारस्याऽभिमानोऽसाधारणी वृत्तिरिति, महत्तत्त्वस्याऽध्यवसायोऽसाधारणी वृत्तिरिति । तादात्म्यसम्बन्धेन तत्तद्वृत्तिमत्त्वम् प्रत्येकं लक्षणं बोध्यमिति । सा-स्वस्वलक्षणा वृत्तिर्भवत्यसामान्या-ऽसाधारणी-तत्तल्लक्ष्यतावच्छेदकसमनियता, समनियतत्वम्-अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वं, स्व(लक्षण)समानाधिकरणभेदप्रतियोगितानवच्छेदको यो धर्मस्तत्समानाधिकरणभेदप्रतियोगिताऽनवच्छेदकत्वमिति वा । वृत्तिः=व्यापारः । त्रयस्य साधारणी वृत्तिमाह-‘सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च’इति, मनोऽहङ्कारबुद्धीनां त्रयाणां करणानां सामान्या-लक्ष्यतावच्छेदकमनस्त्वादिप्रत्येकाऽसमनियता, वृत्तिः-व्यापाररूपाः पञ्चवायवो जीवनवृत्तिः-प्रयत्न-भेदः-स्थूलशरीरधारणात्मिका वृत्तिरिति । करणत्रयसत्त्वे प्राणसत्त्वम्, करणत्रयाऽभावे च प्राणःभावः-इत्यन्वयव्यतिरेकाऽनुविधायित्वात् । तत्र प्राणनात्-शरीरधारणात्-प्राणः, नासाग्रहृदयनाभिपादाङ्गुष्ठवृत्तिः । मूत्रपुरीषगर्भादीनामपनयनात्-अपानः कृकाटिकापृष्ठपादपात्रूपस्थपाश्वर्यवृत्तिः । अशितपीताहारपरिणतिभेदं रसं तत्र तत्र स्थाने सममनुरूपं नयन्-समानो-हृदयनाभिसर्वसन्धिवृत्तिः, रसादीनामूर्ध्वनयनात् उदानो हृदयकण्ठतालुमूर्धभ्रूमध्यवृत्तिः । सर्वशरीरव्यापित्वात्-ध्यान-स्त्ववृत्तिरिति । उक्तं च ‘हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले । उदानः कण्ठदेशे स्याद्वयानः सर्वशरीरगः’इति । प्राणः स्थूलवायुभेदः, न तु तत्त्वान्तरम् । केचित्तु-नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जयाः पञ्च, ते च मिलित्वा दशवायवः,--सामान्या वृत्तिर्भवतीति वदन्ति ॥ २९ ॥

बाह्यकरणानामन्तःकरणानाञ्चाऽसाधारणीषु वृत्तिषु यौगपद्यक्रमावाह—

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।

दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

‘दृष्टे’-प्रत्यक्षविषये, ‘तस्य--चतुष्टयस्य’-चतुर्विधकरणस्य-बाह्येन्द्रियमनोहङ्कारमहत्तत्त्वाऽऽलक्ष्यस्य, वृत्तिः-विशेषव्यापाराः, युगपत्-समानक्षणावच्छेदेन । क्रमशश्च-क्रमप्राप्तक्षणावच्छेदेन च, निर्दिष्टाः-स्वीकृताः सांख्याचार्यैः ॥ तत्र युगपद् यथा-अन्धतमसे सौदामनीविलासमात्रेणाऽभ्यर्णं केसरिणमभिमुखमवलोक्य पुरुषस्याऽऽलोचनसङ्कल्पाऽभिमानाऽध्यवसायाः निर्विकल्पकवृत्तिरूपाः समानक्षणे एव प्रादुर्भवन्ति, द्वितीयक्षणे सविकल्पकाः, तृतीयक्षणे च ततो भूदिति प्रदेशान्तरमभिधावतीति ॥ तथैव बुद्ध्यहंकारमनश्चक्षूंषि समानकालं रूपमनुभवन्ति, कचिद्



बुद्ध्यहंकारमनोजिह्वा युगपद्रसं गृह्णन्ति, बुद्ध्यहंकारमनोघ्राणानि युगपद्गन्धं गृह्णन्ति, बुद्ध्यहंकारमनस्त्वस्त्रि युगपत्स्पर्शं गृह्णन्ति, बुद्ध्यहंकारमनःश्रोत्राणि युगपच्छब्दं गृह्णन्तीति । एवमादानादावपि स्थलविशेषे यौगपद्यमनुसन्धेयमिति ॥ अथ दृष्टे क्रमशो यथा-प्रतनुप्रकाशे प्रथमं पदार्थं 'किञ्चिदि'त्यविविक्तं बाह्यकरणै-  
रालोचयति, ततो दत्तमानसो दर्शको 'मूर्ध्नि ऊर्ध्वं' घृतमुष्टिवन्धसमुद्यततीक्ष्णखड्गः सपत्नोऽयमिति संकल्पयति-स्थाणवादिभ्यो त्रिवेचयति, ततः 'मां प्रत्यागच्छतो'-  
त्यभिमन्यते, अथ निश्चिनोति 'इतस्ताद्गन्तव्यमन्यत्रे'ति । एवं दृष्टे रूपादावपि समालोचनसंकल्पाभिमानाध्यवसायाः क्रमशो भवन्तीत्यनुसन्धेयम् ॥ अथ यथा  
दृष्टे विषये चतुष्टयस्य युगपत्क्रमशो वा वृत्तिः तथा अदृष्टेऽपि विषये तत्पूर्विका-  
आलोचनपूर्विका त्रयस्यान्तःकरणस्य वृत्तिर्युगपत् क्रमशश्च भवतीति, अतीन्द्रिये  
पदार्थं बाह्येन्द्रियाणामसामर्थ्यात्, तद्वोधकलिङ्गादावेव सामर्थ्यात् तत्पूर्वकत्वं युक्त-  
मिति । भवन्ति तावदनुमितौ क्वचिद्व्याप्तिज्ञानार्थं लिङ्गप्रत्यक्षापेक्षा, शाब्दबोधे  
च शब्दे शक्त्यनुमानार्थं शब्दश्रवणाऽपेक्षा, स्मृतावपि संस्कारसम्पादकस्य प्रत्य-  
क्षानुभवस्याऽपेक्षेति । यथा गह्वरस्थकेसरिगर्जनाऽऽलोचनोत्तरं श्रोतुः 'अत्र सिंह'इति  
संकल्पाभिमानाध्यवसायवृत्तयोऽनुमित्यात्मिका युगपद्रवन्तीति । यथा च विदेश-  
गतस्य स्वप्रियकान्तस्य निधने 'तव कान्तो मृत इति' आसच्छ्रुते सति युग-  
पत् स्वकान्तमरणसंकल्पाभिमानाध्यवसायाः शाब्दबोधोद्भात्मका भवन्ति, अन्धस्य  
च 'तव चरणयोः सर्पः पृष्ठे सिंहो वे'ति कथिते युगपत्संकल्पाभिमानाध्यवसाया-  
त्मिका शाब्दबोधवृत्तिर्भवतीति । यथा च दारुणयुद्धप्रवृत्तानां प्रतियोगेषु शस्त्रे दृष्टे  
सति तत्प्रतिकाराय द्रागेव युगपत्प्रतिशस्त्रस्मरणवृत्तिः संकल्पाभिमानाध्यवसायाऽऽ-  
त्मिका भवतीति । अथ अदृष्टे क्रमशो यथा-प्रकाशदर्शनेन भूमदर्शनेन वा पर्वती-  
याऽदृष्टवह्नेः व्याप्यव्यापकभावात्मकसंकल्प-परामर्शात्मकाऽभिमानाऽनुमित्यात्मका-  
ऽध्यवसायाः क्रमशो भवन्तीति । यथा च-आज्ञात् 'तव शत्रुः समागच्छति विज-  
याथे'ति श्रुत्वा संकल्पाऽभिमानाध्यवसायाः शाब्दबोधोद्भात्मका क्रमशो भवन्तीति ।  
यथा च-पुनः पुनः श्रेष्ठविषययोगे क्रमशस्तत्संकल्पाभिमानाध्यवसायात्मिका स्मृ-  
तिर्भवतीति ॥ भवति शतवैधस्तावदेतन्नाना-निदर्शनभूमिरिति ॥ ३० ॥

अथ यदुक्तं 'युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिरिति, तन्न युक्तं, कुतः ? , साधारणी-  
नामसाधारणीनां वा वृत्तीनां पूर्वपूर्वाऽपेक्षत्वात्, बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिर्हि विषयापेक्षा,  
मनसः प्रवृत्तिरिन्द्रियव्यापाराधीना, अहंकारस्य प्रवृत्तिर्मनोव्यापाराधीना, महत्त-  
त्त्वस्य प्रवृत्तिरहंकारव्यापाराधीना, जीवनवृत्तेश्च प्रवृत्तिर्निर्वाधापायुलिङ्गव्यापारा-  
धीना भवतीति क्रमनियतत्वात्, अभिधास्यते च बाह्याऽन्तरकरणयोर्द्वारद्वारिभावः  
'तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणी'ति ( ३५ ) कारिकया । किञ्च

वृत्तयो यदि करणाधीनास्तदा करणानां सदातनत्वेन सर्वदोषलम्भप्रसंगेन सर्ववृत्ति-  
लयात्मकसुषुप्त्यनुपपत्तिः, करणाऽनियम्योत्पत्तिकत्वे तु सर्वासां सर्वेभ्यः प्राविर्भा-  
व-इतिसांकर्यं स्यात्, इत्यतो नियामकं यौगपद्याऽप्रतिद्वि द्वारद्वारित्वाऽविरोधि  
सदातनत्वाऽप्रसङ्गं च किमपि वक्तव्यम्, येन करणानि—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराऽऽकृतहेतुकां वृत्तिम् ।

पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते कारणम् ॥३१॥

करणानि चत्वार्यपि, परस्पराऽऽकृतहेतुकां---परस्परेषां,---यदाकृतः--सृष्टिकाले  
कृतः संकेतः--'महत्तत्त्वस्यैवाऽध्यवसायः अभिमानस्त्वहंकारस्य संकल्पस्तु मनसः  
शब्दग्रहणं तु श्रोत्रस्येत्येवमादिरूपः प्रधानसभापतिक--करणसमवायसदस्यकपरिप-  
त्कृतनिर्णयः' स एव हेतुः--नियमो जन्यजनकभावाख्यो यस्यास्ताम्, एतादृशीं स्वां  
स्वां-स्वात्मिकां स्वात्मिकामसाधारणीं वृत्तिं स्थूलत्वेन प्रतिपद्यन्ते । यथा भावि-  
सङ्गमनिर्णायकसमितौ--निर्णितयुद्धकालीनस्थानशस्त्रादयो योद्धारस्तदानीं नियत-  
तत्स्थानशस्त्राण्येवोपादृते नाऽन्यथेतीतिवत् । तथा च न सांकर्यमिति । अथ  
योद्धृक्षत्रियाणां यथा पुरुषार्थः--अनागतावस्थाविजयधर्मो मुख्यो युद्धे स्थानश-  
स्त्रादिप्रवर्तको न तु नृपतिः, नृपतिस्तु गौण इति । तथा करणानां वृत्त्युद्भवस्य  
हेतुः--मुख्यप्रयोजकः--प्रकृष्टनिमित्तम्, पुरुषार्थः--पुरुषस्य अर्थः--प्रयोजनं--  
भोगोऽपवर्गश्चाऽनागतस्वरूपः एव, गौणस्तु भोक्ता केवली पुरुष इति, पुरुषस्य  
यावन्न भोगापवर्गौ तावदसमाप्ताधिकारा गुणाः प्रवर्तन्ते निवर्तितभोगाऽपवर्गास्तु  
समाप्ताधिकाराः निवर्तन्ते । तत्राऽपवर्गो भोगपूर्वक एव, भोगश्च विभिन्नो विभि-  
न्नाऽदृष्टान्वयीति । तथा च सुषुप्त्यनुकूलेऽदृष्टे सति न सुषुप्त्यनुपपत्तिः, न च सर्व-  
दैकावस्थवृत्त्युपलम्भप्रसंगः । यत्र च क्रमीयाऽदृष्टान्वयी भोगः तदानीं तत्र च न  
क्रमेण द्वारद्वारित्वाऽनुपपत्तिः । यत्र च युगपद्भोगसम्पादकादृष्टान्वयिता तत्र युग-  
पदवृत्तीनां प्रवृत्तिरिति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ तथा च 'यथाऽदृष्टानुविधायो भोग-  
स्तथा क्रमाऽक्रमनियमो'--न तु 'क्रमस्यैव नियम' इति । अथ 'एव'कारेण किं  
व्यवच्छेद्यम् ?, उच्यते, येन करणं कार्यते--प्रेर्यते--स्थूलवृत्तिमत् क्रियते तदतिरिक्त-  
स्य हेतोर्मुख्यत्वं व्यवच्छेद्यमिति । अमुल्यानि च वृत्तिप्रवर्तकानि करणाऽदृष्टचैत-  
न्यानि । एतन्मध्यतः केनचिदपि 'करणं न कार्यते'--करणस्य स्थूलवृत्तिमत्ता न  
क्रियते । सुतरां तु चेतनस्याऽप्रेरकत्वमिति । स तूपचारेण जयभाक् नृपतिरिव  
फलभाग् भवतीति ॥ ३१ ॥

यदुक्तं 'न केनचित् कार्यते कारणमिति, तत्र करणत्वं नाम--कार्यं प्रति  
व्यापारवत्कारणत्वम् । यथा कार्यं--शास्त्राख्येदं प्रति समुत्पत्तनसंयोगादिव्यापार-



वत्तया कुठारस्य करणत्वं भवति । तद्वत् शरीरात्मककार्यं प्रत्यपि संयोगादिव्या-  
पारवत्तया अवयवानां तान्त्रप्रति च तदवयवानामपि करणत्वात् करणाऽननुगमः  
स्यात्, स्याच्चैवं सति व्यापाराऽननुगमः, तथा सति च कार्यस्य-व्यापारविषयस्याऽ-  
प्यनियमः प्रसज्येतेति चेत् !, उच्यतेऽस्मिन् तन्त्रे—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरण-धारण-प्रकाशकरम् ।

कार्यञ्च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च ॥ ३२ ॥

‘करणम्’,—कार्यं प्रति व्यापारवदसाधारणकारणम्, यदुच्यते शाब्दिकैः साध-  
कतममिति, तदत्र भवति मतं-‘त्रयोदशविधमि’ति । त्रयोदशसंख्याकं-श्रोत्रत्वक्चक्षू-  
रसनाघ्राणाख्यं बुद्धीन्द्रियमित्येकः समुदायः, वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यं कर्मेन्द्रिय-  
मित्यपरः समुदायः, मनोऽहंकारबुद्ध्य इत्यन्यः समुदायः, मिलित्वा त्रयोदशधैव, न  
न्यूनं नाऽप्यधिकमिति । अथ मन्यन्ते केचन बुद्धीन्द्रियाणामेव करणत्वं, केचिच्च  
चेतसोऽपि करणान्तरत्वं, तत्कथमेतावदेवेति चेत् !, व्यापारस्य तन्निग्रामकत्वात् त्र-  
योदशधैव । प्रसिद्धं च ‘तत्’-करणम् आहरण-धारण-प्रकाशात्मकव्यापारकरत्वात् ।  
तत्र कर्मेन्द्रियसमुदायस्य आहरणं-व्यापारः, आहरति-व्याप्नोतीति-आहरणं व्यापनम्,  
आहरणमिति-आदानादिपञ्चव्यापारसमुदायवचनम्, वागादीनि वचनादिना वाच्या-  
दीन् पदार्थान् व्याप्नुवन्तीति, तद्यथा वाक् वचनद्वारा वाच्यमर्थं व्याप्नोति, पाणिः  
आदानं धृतिस्तद्वद्वारा धार्यमर्थं पुस्तकादिकं व्याप्नोति, पादः विहरणद्वारा भूतला-  
दिकं व्याप्नोति, पायुः उत्सर्गद्वारा मलं व्याप्नोति, उपस्थः आनन्दद्वारा कामं  
सुरतं व्याप्नोतीति । अथवा वाक्-उच्चारणक्रियया वचनं-शब्दं व्याप्नोति, हस्तः-  
अञ्जलिप्रसारादिक्रियया आदानं व्याप्नोति, चरणः विक्रमणक्रियया विहरणं व्या-  
प्नोति, पायुः विकासक्रियया उत्सर्गं व्याप्नोति, उपस्थः ज्ञाप्रक्रिययाऽऽनन्दं व्या-  
प्नोतीति । व्यापारेण व्यापारकर्म वस्तु व्याप्नुवन्ति, अथवा गौणकर्मणा मुख्यं  
व्यापारं व्याप्नुवन्तीति । अथ मनोऽहंकारबुद्धिसमुदायस्य व्यापारो धारणम्,  
धार्यते-रक्ष्यते शब्दादिगुणकस्थूलभौतिकशरीरमनेन इति-धारणं-प्राणनम् । प्राणाऽ-  
पानसमानव्यानोदानाख्यानां व्यापाराणां ‘धारणमि’ति समानवचनम् । अथ ज्ञाने-  
न्द्रियसमुदायस्य व्यापारः प्रकाशः, प्रकाश्यते आलोच्यते इति प्रकाशः आलोचनम्,  
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रत्यक्षसमुदायसामान्यवचनमिदम् । तदेवं व्यापारनियम उक्तः ।  
यावतां विषयाणां तदन्यतमविषयतयैव भोगानुगुणत्वव्यवस्थानात्, तदाह-‘कार्यं-  
चे’ति । व्यापारविषय इत्येतत् । तस्य-करणसमुदायत्रयस्य, कार्यं-व्यापारविषयः,  
दशधा भवति । आहार्यं दशधा, तद्यथा-आहरणस्य-व्यापनस्य विषयाः-वाच्याऽऽ-  
देयविहार्योत्सृज्याऽऽनन्याः पञ्चाऽस्माकमदिव्या देवादीनां च दिव्या इति दिव्या-

दिव्यतया वाच्यादीनां दशधा व्यवस्था, अथवा आहरणस्य-उच्चारणाञ्जलिबन्धन-  
विक्रमणविकसनजागरणक्रियासमुदायस्य विषयाः वचनादानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्दाः  
पञ्चाऽस्मदादीनामदिव्या देवादीनां च दिव्या इति दिव्याऽदिव्यतयाऽऽदानादीनां  
दशधा व्यवस्था । अथ धार्यमपि दशधा, तद्यथा-धारणस्य-प्राणनस्य विषयः शरीरं,  
तच्च स्थूलपाञ्चभौतिकम्, तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां तन्मात्राणां समुदायः पृ-  
थिवी, ते च सूक्ष्माः शब्दादयः पञ्च दिव्याः स्थूलास्तु शब्दादयः पञ्चाऽदिव्याः,  
इति दिव्याऽदिव्यतया धार्यं शरीरे दशधा व्यवस्था । अथ प्रकाश्यमपि दशधा,  
तद्यथा-प्रकाशस्य ज्ञानस्य विषयाः स्थूलाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्च, ते चाऽ-  
स्माकमदिव्याः-‘शूनसुखदाः, देवानां तु दिव्याः अधिकसुखदा इति प्रकाश्ये  
दशधा व्यवस्था ॥ अथ व्याख्यानान्तरम्-प्रत्येकमपि करणमाहरणधारणप्रकाशकरं  
भवति, यथा चक्षुः घटम् आहरति-वृत्त्या आवृणोति, ततः-धारयति-घटस्याकारं  
वृत्तौ समुपदधाति, ततः-प्रकाशयति- मनसेऽर्पयति, एवं मनः-इन्द्रियार्पितमाहरति,  
ततो वृत्तौ धारयति, ततोऽहंकाराय च प्रकाशयत्यर्पयति, अथवेन्द्रियाऽनर्पितमपि  
स्वतन्त्रं विषयमाहरति धारयति प्रकाशयति चेति । इदं च बुद्धिपर्यन्तानां समा-  
नम् तस्य च प्रत्येकस्य करणस्य आहार्यं-आवृत्तौ विषयो बहिष्ठः उत्तममध्यमकनि-  
ष्ठभेदात् त्रिधाऽपि मृदुमध्याधिमात्रत्वात् नवधा आहार्यः, न हार्यश्चाहार्ययोग्यतावा-  
नेकविध इति दशधा । एवं वृत्तावुपधृतः सः धार्योऽपि तद्वन्नवधैकधा चेति दशधा ।  
तथैवाऽर्पणविषयः-अर्पितः स नवधैकधेति दशधा । इति प्रत्येकविषयत्रिंशधेति ॥३२॥

त्रयोदशविधकरणानां मध्ये कश्चित्समुदाय आन्तरः कश्चिच्च बाह्यः, उभावपि  
द्वारद्वारिभावात् विलक्षणविषयकव्यापाराच्च कल्पितौ भवतः, तत्र—

अन्तःकरणं त्रिविधं, दशधा बाह्यं, त्रयस्य विषयाख्यम् ।

साम्प्रतकालं बाह्यं, त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

अन्तः-हृत्पद्मे स्थितं करणमन्तःकरणम्, तत् त्रिविधम्-मनोऽहंकारबु-  
द्ध्याख्यमिति । बहिः-स्थूलशरीरस्थगोलकेषु स्थितं करणं-बाह्यकरणम्, तच्च दशधा-  
कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियसमुदायः । तत्र क्रमसमये बाह्यं द्वारं भवति, कुतः ?, ‘त्रयस्य  
विषयाख्यं’-यतः । आख्याति समर्पयति यत् तद् आख्यं-समर्पकम् । बाह्यकरणा-  
न्यतमं तत्त्रयाय विषयाणामर्पणेन द्वारं भवति । अथ बहिष्ठा विषयाः कथमर्प्यन्ते ?  
इति चेत् !, उच्यते, प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावाः, अत एव तेषां सतां करण-  
निमित्ता भवति त्रिधाऽवस्था, बहिराहार्याऽऽकाराऽवस्था, वृत्तिधार्याकारावस्था, चैत-  
न्यभोग्याकारावस्था चेति । तत्र वृत्तिसन्निकर्षयोग्यो घटो बहिराहार्याकारावस्थः, तस्य  
य आकारो वृत्तावारूढः सः धार्याकारावस्थः, चैतन्यप्रतिबिम्बे संक्रामति य आकारः



स भोग्याकारावस्थः । तत्र बहिष्ठस्य वृत्तिधार्याकारं समर्पयत्यन्तःकरणाय बाह्यकरणमिति । ज्ञानेन्द्रियाणामियं व्यवस्था । अन्यत्रापि यावदाददतेऽञ्जलिभ्यां, घटादिस्तावदाहार्याऽऽकारावस्थो बहिः । आदानात्मकव्यापारे संवादित्वं यत् तदेव फलाख्यः समारूढः स धार्याकारावस्थः, ततश्चैतन्यप्रतिबिम्बे संक्रान्तो य आकारः स भोग्याकारावस्थ इति । समानमेतदन्यत्रापि । तत्र धार्याकारावस्थस्याऽऽलोचितस्य घटादेः भोग्याकारावस्थार्थं तं हृत्स्यं यत् गृह्णाति तद् आन्तरं बाह्यस्य द्वारीति । बाह्यत्वालोचनेनाऽऽदानादिना वा धार्याकारसमर्पकतया द्वारमिति । अथ—आन्तरं बाह्यस्य द्वारमिति विपरीतं कुतो न भवतीति चेत् ? । उच्यते,—निरवकाशस्य प्रबलत्वात्, अन्तःकरणं धार्याकारे सावकाशं बाह्यकरणं तु निरवकाशम्, अतोऽस्य बाह्येऽर्थेऽधिकारात् द्वारत्वमिति । किञ्च—‘साम्प्रतकालं बाह्यं’,—लौकिकं बाह्यकरणं दशविधमपि वर्तमानः कालो विषयो यस्य तत्,—वर्तमानस्थितिकं सन्निकृष्टं विषयं गृह्णातीति यावत् । तत्र सन्निकर्षो नियामकः, विना सन्निकर्षं नास्ति सामर्थ्यं बाह्यकरणस्य, तस्मात् सन्निकर्षबलादपि बाह्यकरणस्य द्वारत्वमिति । ननु वाग्निन्द्रियस्य शब्दोच्चारणं विषयः, तत्तु वाग्निन्द्रियेणैव जन्येत, न तु पूर्वं समानक्षणे च सिद्धम्, तथा च वाचोऽनागतविषयकत्वात् कथं वर्तमानकालीनविषयग्राहकत्वम् ? एवं—यत्र आहार्याकारावस्थे वृत्तिसन्निकर्षाधिकरणः एकः क्षणः, वृत्त्याहितधार्याकारावस्थाधिकरणो द्वितीयः क्षणः, तत्र द्वितीयक्षणे चक्षुरादीन्द्रियम् आहार्याकारावस्थं प्रथमक्षणवच्छिन्नं घटादिकं रूपादिकं च गृह्णाति, तत्र द्वितीयक्षणे प्रथमक्षणीयाया आहार्याकारावस्थाया विगमेऽपि आहार्याकारावस्थं द्वितीयक्षणे गृह्णात् वृत्तिधार्याकारावस्थया विपरिणमयति, तथा च प्रथमद्वितीयक्षणयोर्भिन्नकालत्वात् प्रथमक्षणीयावस्थायां द्वितीयक्षणे गृह्णात् चक्षुरादिकं कथं वर्तमानकालविषयकमिति चेत् !, न, । वर्तमानसमीपस्याऽनागतस्याऽतीतस्य च वर्तमानत्वात् । अतोऽनागतविषयकवाचः अतीतविषयकचक्षुरादेश्च वर्तमानसमीपविषयविषयकत्वात् साम्प्रतकालत्वमुपपन्नमिति ॥ अथ ‘आभ्यन्तरं करणं त्रिकालं’ भवति । त्रयः कालाः—भूतवर्तमानभविष्यन्तो विषया यस्येति । तत्र भूतकालीनविषयकसंकल्पाभिमानाध्यवसाया यथा—‘भूतकालीनोपरिदेशसम्बन्धिनी नदी, वृष्टिमती, पूरविशेषात्’,—इत्यत्र चक्षुरादिभिः पूरे समालोचिते सति तदुत्तरकालीनं मनः ‘यत्र पूरविशेषस्तत्र वृष्टि’रिति संकल्पयति, वृष्टिव्याप्यपूरविशेषवतीयमेव नदी’त्यभिमन्यते, ‘नदी वृष्टिमती’त्यध्यवस्यति चेति ॥ वर्तमानकालीनसंकल्पाभिमानाध्यवसायाश्च—‘पर्वतो विह्विमान् धूमादि’त्यत्र प्रथमं चक्षुषा धूमे आलोचिते सति द्वितीयक्षणसम्बन्धि मनः ‘यत्र धूमस्तत्र वह्नि’रिति संकल्पयति, ततस्त्वृतीयक्षणसमानकालीनश्चादृक्कारः ‘वह्निव्याप्यधूमवानयमेव पर्वत’ इत्यभिमन्यते, ततश्च-

तुर्थक्षणसमानकालीना बुद्धिः 'पर्वतो वह्निमानि'त्यध्यवस्यतीति । प्रतिक्षणं परिणामभेदेऽपि परिणामिनो वह्नेरेकत्वात् संकल्पाभिमानाध्यवसायानां स्वस्वक्षणे वह्निना सह समानकालत्वं निरावाधमिति ॥ भविष्यत्कालीनविषयक-संकल्पाभिमानाध्यवसाया यथा 'भविष्यत्कालः,—वृष्टिमान्,—मेघोन्नतियोगात्' इत्यत्र 'यत्र मेघोन्नतियोगस्तत्र वृष्टि'रिति संकल्पः, 'वृष्टिव्याप्तमेघोन्नतिसंयोगात्' इत्यभिमानः, 'भविष्यत्कालो वृष्टिमानि'त्यध्यवसायश्चेति । एवं शाब्दस्मृत्यादावप्यनुसन्धेयम् ॥ अथ कोऽयं कालः ? । अत्र केचित्,—“अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि”—( वैशे. अ. २, आ. २, सू. ६ ) । सूर्यक्रियासम्बन्धात् 'वलरामः परो घनश्यामस्त्वपर'—इत्यादिव्यवहारं स्वाश्रयतपनसंयोगिसंयोगात्मकसम्बन्धघटकतया यः कलयति सः कालः, स चाऽखण्डकालो नित्यो द्रव्यमेकश्चेति । खण्डकालस्तु क्षणादिः, क्षणलवमुहूर्तयामदिवसाहोरात्रपक्षमासत्वंयत्नसंवत्सरयुगादिभानं तूपाधिनिबन्धनम् । क्षणादिनियामिका उपाधयश्च स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म-१ । पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागः-२ । पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावः-३ । उत्तरसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा-४, । इति । अतीताऽनागतवर्तमानभेदेन त्रैकाल्यमप्युपाधिनिबन्धनम्, ताश्च—'कार्याऽऽरम्भः-१ । कार्यस्थितिः-२ । कार्यनिरोधः-३ ।—इति प्राहुः । अत्रोच्यते—सांख्यतन्त्रे प्रकृतेर्विभुद्रव्यस्य सम्बन्धघटकतया परत्वाऽपरत्वादिव्यवहारनियामकत्वात्, तदर्थं कालात्मकतत्त्वान्तरस्वीकाराऽनौचित्यात्, । अखण्डकालशब्दः प्रकृतेरपरपर्यायः, कार्याणामाकलनात् आपूरणात् अखण्डत्वाच्चाऽखण्डकाल इति । खण्डकालशेषोपाधावन्तर्भूतः, क्षणलवादिशब्दा अपि तत्तद्वस्त्वात्मकप्रकृतिगतविभिन्नक्रियात्मकोपाधबोधकाः, अतीतादिशब्दाश्च-यथायोगं कार्यनिरोधादिपराः । तथा च नाऽङ्गीक्रियते 'काल'इतितत्त्वान्तरमित्युक्तमेव प्रथमम् ॥ ३३ ॥

स्वसमानकालीनवस्तुग्रहणसमर्थदशबाल्यकरणानां विषयान् विशिष्य दर्शयति—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाऽविशेषविषयाणि ।

वाग् भवति शब्दविषया, शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥ ३४ ॥

'तेषाम्'—दशानामिन्द्रियाणां मध्ये यानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि—आत्रादीनि, तानि 'विशेषाऽविशेषविषयाणि'—विशेषविषयाणि अविशेषविषयाणि च भवन्तीति । विशेषत्वं नाम—अस्मदिन्द्रियप्रयोज्यलौकिकसन्निकर्षग्रहणयोग्यतावत्त्वम् । यानि स्थूलानि पृथिव्यादिपञ्चभूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणवन्ति तान्यस्मदिन्द्रियप्रत्यक्षयोग्यानि भवन्ति, तादात्म्यसंसर्गेण पृथिव्यादिभूतवृत्तिशब्दाद्योऽप्यस्मदिन्द्रिययोग्या भवन्तीति ते 'विशेषाः' उच्यन्ते । अथवा अभिव्यक्तशान्तबोद्धत्वाऽऽ-



अयात्मकत्वमिति विशेषस्य सामान्यलक्षणं बोध्यम्, तच्च 'शान्ता घोराश्च मूढाश्चे' ति (३८) कारिकया दर्शयिष्यते । अत एवेन्द्रियाणामपि विशेषत्वं 'सूक्ष्मा मातापितृजा' इति (३९) कारिकया स्फुटीकरिष्यते इति । अथ 'अविशेषाः' अस्मदिन्द्रियप्रत्यक्षाऽयोग्याः सूक्ष्माः । तादृशानि तु शब्दादिपञ्चतन्मात्राणि, तानि च योगिनां प्रत्यक्षविषयाणीति । तादृशा विशोपाऽविशोपा एव विषया येषां बुद्धीन्द्रियाणां तानि विशेषाऽविशेषविषयाणि तत्र योगिप्रभृतीनां विशेषा अविशेषाश्चेत्युभयं तावदिन्द्रियग्रहणयोग्यं भवति । अस्मदादीन्द्रियाणान्तु ग्रहणयोग्या विशोपा एवेति तारतम्यम् तथाहि—योगिनां श्रोत्रं शब्दतन्मात्रविषयं स्थूलशब्दविषयञ्च । अस्मदादीनान्तु श्रोत्रं स्थूलशब्दविषयमेव । एवं तेषां त्वक् स्थूलसूक्ष्मस्पर्शविषया, अस्मदादीनान्तु स्थूलस्पर्शविषयैव । तेषां—चक्षुः स्थूलसूक्ष्मरूपविषयम्, अस्मदादीनान्तु स्थूलरूपविषयमेव । तेषां रसना स्थूलसूक्ष्मरसविषया, अस्मदादीनान्तु स्थूलरसविषयैव । तेषां घ्राणं स्थूलसूक्ष्मगन्धविषयम्, अस्मदादीनान्तु स्थूलगन्धविषयमेव । एवं कर्मेन्द्रियेषु मध्ये अस्मदादीनां योगिप्रभृतीनाञ्च वाग् भवति 'शब्दविषया'—स्थूलशब्दविषयैवेत्यर्थः । कुतः ? स्थूलशब्दस्य हेतुभूतत्वात् । सा हि स्थूलमेव शब्दं विषयीकरोत्युच्चारयति, न तु शब्दतन्मात्रम्, सूक्ष्मतन्मात्रात्मकशब्दस्योच्चारणाऽसंभवात्, उच्चारणविषयस्तु स्थूलावस्थः शब्द एवेति सर्वेषां स्थूलशब्दविषयैव वाग्भवेतीति ॥ 'शेषाणि तु'—पाणिपादपायूपस्थाऽऽख्यानि चत्वारि तु 'पञ्चविषयाणि' पञ्च स्थूलाः शब्दादयो विषया येषान्तानि तथोक्तानि भवन्ति, तथाहि—पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशाः भूतविशेषाः स्थूलाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा भवन्ति, तत्र शब्दादिगुणवन्तः पृथिवीजलादयः पाणिभ्यामादानेन व्यापारेणाऽऽहार्या—ग्राह्या भवन्ति । पादाभ्याञ्च गमनेन व्यापारेणाऽऽहार्या भवन्ति, पाद्विन्द्रियेणोत्सृष्टा भवन्ति, लिङ्गेनाऽऽनन्देन व्यापारेण ते वीर्यादय आहार्याः—स्खलिता भवन्ति । इत्येवं—पाणिपादपायूपस्थानां स्थूलपृथिवीजलादिग्राहकत्वेन पृथिवीजलादिषु तादात्म्येन स्थितानां स्थूलानां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानामपि ग्राहकत्वमिति तत्त्वम् ॥३४॥

तत्र त्रयोदशकरणेषु समनोऽहंकारबुद्धेः प्रधानभावः, तदन्यानां त्वप्रधानभावो नियतः । कस्मात् ?, उच्यते—

साऽन्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।

तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

'यस्मात्'—यतोऽन्तःकरणाभ्यां मनोऽहंकाराभ्यां सहिता बुद्धिर्यावदुपभोगसाधनं विषयं सुखात्मकं दुःखात्मकं मोहात्मकञ्चाऽवगाहतेऽध्यवस्यति, तस्मात्समनोऽहङ्कारा बुद्धिः—'द्वारि'—एतत्त्रिविधं करणं द्वारि प्रधानं मुख्यमिति यावत् ।

‘शेषाणि’-तु दशेन्द्रियाणि ‘द्वाराणि’-अप्रधानानीति । द्वारत्वञ्चात्रोपकारकत्वम्, बाह्येन्द्रियैरालोच्य विषयास्तेऽन्तःकरणाय समर्प्यन्ते, अतएव युक्तं द्वारत्वं बाह्येन्द्रियाणामिति । अथ बाह्येन्द्रियाऽपेक्षया मनसो द्वारित्वम्, एवं मनसा सङ्कल्प्य विषयास्तेऽहङ्काराय समर्प्यन्ते, अतो मनसो द्वारित्वम्-अहङ्कारस्य च द्वारित्वमिति । अहङ्कारेण चाऽभिमत्य विषयास्ते बुद्ध्यै समर्प्यन्ते, अत एवाऽहङ्कारस्य द्वारत्वं बुद्धेश्च द्वारित्वमिति । यदपेक्षया यस्य गुणभावस्तद्द्वारमप्रधानमिति । यस्य च गुणभावस्तद्द्वारोति प्रधानमिति । बाह्येन्द्रियाणां सर्वथैव गुणभावेनाऽप्रधानभावः इति । मनसश्च बाह्येन्द्रियाऽपेक्षया प्रधानभावोऽहङ्काराऽपेक्षयाऽप्रधानभावोऽतएव प्रधानाऽप्रधानभावइति । एवमहङ्कारस्यापि प्रधानाऽप्रधानभावः, तस्य मनोऽपेक्षया प्रधानभावात्, बुद्ध्यपेक्षया त्वप्रधानभावादिति । बुद्धेस्तु पुरुषस्य साक्षाद्भोगसम्पादकत्वात्प्रधानभावएवेति ॥ यद्यपि बुद्धिरपि विषयानध्यवस्याऽऽत्मने समर्पयति तस्माद्भवति द्वारम्, तथापि करणानां परस्परं स्वस्वाऽपेक्षया द्वारद्वारिभावस्य प्रकृतेऽभिप्रेततया करणाऽपेक्षया बुद्धेर्न द्वारत्वं, किन्तु द्वारित्वमेवेति ॥ ३५ ॥

अथ बाह्येन्द्रियैरालोच्य बुद्ध्यै समर्पयिष्यन्ते, बुद्ध्या चाऽध्यवस्याऽहङ्काराय, तेन चाऽभिमत्य मनसे, मनसा च सङ्कल्प्यात्मने भोगाय समर्पयिष्यन्ते विषयाः । अथवा बाह्येन्द्रियैरालोच्य मनसे मनसा च सङ्कल्प्य बुद्ध्यै, बुद्ध्या चाऽहङ्काराय, अहङ्कारेण चाऽभिमत्याऽऽत्मने भोगाय समर्पयिष्यन्ते विषया इति, तथा च कृतं बुद्धेः प्रधानभावेनेति चेत् !, नैवं युक्तम् । यतः—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।

कृत्स्नं पुरुषस्याऽर्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

‘एते’—बाह्येन्द्रियमनोऽहङ्काराः । ‘गुणविशेषाः’—गौणाः—बुद्ध्यपेक्षयाऽप्रधानभूता एव भवितुमर्हन्ति । यतस्ते विषयान् गृहीत्वा बुद्ध्यै समर्पयन्ति, अतस्ते गुणभूता इति ॥ अथ स्वतन्त्रव्यापाराणां करणानामन्यतमेन चक्षुरादिना गृहीतं पुण्यं देवदर्शनादिकं मनसा गृहीतेनाऽपुण्येन परस्त्रीसंकल्पादिना सह विरोत्स्यत् तदुभयमन्तराले एव विलयं गमिष्यतीति कुतो बुद्ध्यै समर्पणम् ? तद्वत् यावतां व्यापाराणां परस्परं येन केनाऽपि विरोधात् सर्व एवाऽन्तराले विलीयेरन्निति बुद्ध्यै समर्पणसमयाऽलाभादेव बुद्धेर्न प्रधानभाव इति चेत् !, उच्यते,—यद्यपि ते विरुद्धानां गुणानां विकारविशेषा एव, अत एव ‘परस्परं विलक्षणाः’ विरुद्धाऽदृष्टाऽधीनविषयप्रयुक्तां विरुद्धां वृत्तिं लभमाना भवन्तीति तु निसर्गस्तथापि भोगाऽपवर्गात्मकपुरुषार्थेन प्रबलप्रयोजकेनैककार्यकारितां प्रापिताः सन्तः ‘प्रदीपकल्पाः’ भूत्वा बुद्ध्यै समर्पयिष्यन्तीति । यथा वर्तितैलवद्भयः परस्परविरोधशीला अपि मिलिताः



प्रदीपाख्याः गाढान्धकाराऽपनयनेनाऽर्थप्रकाशात्मकं कार्यं कुर्वन्ति । तथैव मिलितान्येतानि बुद्ध्यतिरिक्तकरणानि पुरुषस्य भोग्यं 'कृत्स्नं'-समग्रं स्वस्वविषयम् 'अर्थम्'-पदार्थजातम् 'प्रकाश्य'-आलोच्य संकल्पाऽभिमत्य च 'बुद्धौ प्रयच्छन्ति' बुद्ध्यै साक्षादुपभोगसाधनायाऽध्यवसायार्थमर्पयन्ति । यथा स्थायुका ग्रामीणेभ्यः करमादाय गोपाय प्रयच्छन्ति, गोपाश्च राष्ट्राध्यक्षाय, राष्ट्राध्यक्षाश्च प्रधानमन्त्रिणे, स च भूपतये इति । तद्वत् इन्द्रियग्रामो मनसेऽर्पयति, मनोऽहंकारायाऽहंकारो बुद्ध्यै सा च पुरुषायेति । तस्माद्बुद्धिः प्रधानं करणमितरत् गौणमिति ॥ ३६ ॥

भवति चेत्तश्चाऽपि बुद्धेः प्रधानभावः, यतः—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।

सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

बाह्येन्द्रियमनोऽहङ्कारैः समर्पितान् विषयानध्यवस्य बुद्धिर्धार्मिकारावस्थं सर्वमुपभोग्यं विषयजातं प्रति पुरुषस्योपभोगं साधयति-समुपस्थापयति । भोगापवर्गो हि पुरुषार्थः, भोगात्मकस्य पुरुषार्थस्य साक्षात्सम्पादकं यत्तदेव प्रधानम्, बुद्धिश्च पुरुषार्थस्य साक्षात्सम्पादिका, अत एव प्रधानकरणमिति । यथा राज्याध्यक्षो भूपतिप्रयोजनस्य साक्षात्सम्पादकतया प्रधान इति । बुद्धेर्हि स्वच्छतया तत्र भवत्यात्मनः प्रतिबिम्बम्, आत्मनश्छायापत्त्या च बुद्धिश्चेतनेव पुरुषाऽभिन्नेव वर्तते, तत्र यदा आहार्यावस्थविषयाणामालोचनसङ्कल्पाऽभिमानास्तत्तद्व्यावस्थविषयोपसंक्रान्ता बुद्धिव्यापारेण सहैकव्यापारीभवन्ति, बाह्येन्द्रियव्यापाराश्च बुद्धिव्यापारेणाऽध्यवसायेन सह मिलिता एकव्यापारीभवन्ति, तदा बुद्धौ प्रतिबिम्बितः पुरुषो भोगानुपभुङ्क्ते, इति भवति बुद्धिः प्रधानं करणमिति । किञ्च-यदधीनाऽन्यकरणानां सत्ता, तद् भवति प्रधानं करणम्, बुद्धिर्हि स्वकरणानां पुरुषार्थसाधनत्वस्य साक्षात्परपरया वा सम्पादिका, अत एव भवति सर्वकरणाऽपेक्षया स्वतन्त्र-सत्तावत्करणम्, तथा चाऽनुमानानि-'बुद्धिः',-प्रधानं करणम्, तदन्यकरणेषु पुरुषार्थसाधनतासम्पादकत्वात् । बुद्धिः,-प्रधानकरणम्, पुरुषे साक्षादुपभोगस्य सम्पादकत्वात् । 'बुद्धिः--प्रधानकरणम्, दशेन्द्रियग्राह्यविभिन्नविषयविषयकसंस्कारैकाऽऽधारत्वात् । 'बुद्धिः--प्रधानकरणम् तत्त्वज्ञानेनाऽहङ्कारमनसोः स्वस्वव्यापारसहितयोरलये सत्यपि स्मरणाऽधिकरणत्वेनाऽवस्थानात् । 'बुद्धिः--प्रधानकरणम्, पुरुषप्रतिबिम्बस्य साक्षादाधारत्वा'दिति । एवं 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्यादिश्रुत्या दर्शिताया निदिध्यासनात्मकप्रधानवृत्तेरधिकरणत्वात् प्रधानं करणं बुद्धिर्भवतीति ॥ ननु यदि च पुरुषे सर्वविषयोपभोगस्य सम्पादिका बुद्धिस्तीति नित्यायास्तस्याः सर्वदा योगात्सर्वदा भोगप्रसंगादभोगोपपत्तिः स्यादिति चेन्न । यतः 'सैव च विशिनष्टि पुनः

प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्',—या पूर्वं भोगदा सैव--बुद्धिः पुनः--भोगाधिकारसमाप्तौ सत्याम्, 'सूक्ष्मम्'--विद्यमानमपि अज्ञानावृत्तत्वेनाऽविद्यमानमिव स्थितमत एव दुरधिगममिति, एतादृशं यत् 'प्रधानपुरुषान्तरम्' प्रधानं बुद्धितत्त्वम्, पुरुषश्चेतनस्तयोः अन्तरम्--भेदम्--अन्यताभावम् । दिशिनिष्टि--इवाऽर्थापन्नतानिराकरणेन बोधयति, साक्षात् मोक्षप्रयोजिकांसत्त्वपुरुषान्यताख्यातिं सम्पादयति । आवरणाधिकारस्य परिसमापनात् सत्त्वपुरुषा-यताख्यातिः स्वयं यथावत्प्रकाशते-इति यावत् । तथा च सति मोक्षाधिगम इति । नित्याधिगतस्यापि तस्याऽधिगम-इत्युपचारमात्रमिति ॥ प्रकृतौपयोगिकप्रयोगश्च 'बुद्धिः प्रधानकरणम्, साक्षात् सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिसम्पादकत्वादिति ॥ ३७ ॥

यदुक्तं 'विशेषाऽविशेषविषयाणि'—इति, तत्र के विशेषाऽभिधानाः ? के चाऽविशेषाऽभिधानाः ? इत्याकाङ्क्षायामाह —

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।

एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

सूक्ष्माणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि 'तन्मात्राणि' भवन्ति 'अविशेषाः'—शान्तघोरमूढत्वाद्यात्मका ये भवन्ति ते 'विशेषाः' ये च तथा न भवन्ति ते अविशेषा इति । शान्तघोरमूढरूपता हि स्थूलभूतेष्वेवोपलभ्यते, एवं दशेन्द्रियेष्वपि शान्तघोरमूढता समुपलभ्यते, तेन भवति स्थूलभूतानां दशेन्द्रियाणाञ्च विशेषत्वम्, न तु सूक्ष्मतन्मात्रेषु शान्तघोरमूढता कदाचिदपि योगिनामुपलभ्यते, तेषां शान्तैकरूपतयैवाऽवस्थानेन योगिनांतेषां शान्ततयैवानुभवात्, तस्मादविशेषास्तन्मात्राणि । 'तन्मात्राणि' इत्यत्र तान्येव मात्राणीति मात्रशब्दः तेषु शब्दादिषु उपभोगयोग्यता-व्यावर्तक इति बोध्यम् । तेभ्यश्चाऽविशेषेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि प्रादुर्भवन्ति, तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्राज्जलम्, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, प्रादुर्भवतीति । एतानि च पञ्चभूतानि—'विशेषाः स्मृताः' कुतः ?, 'शान्ता घोराश्च मूढाश्च' इति—प्रथमश्चकारो हेतौ । तथा च 'पञ्चभूतानि,—विशेषाः,—शान्तघोरमूढत्वाद्याश्रयात्मकत्वा'दित्यनुमितम् । द्वितीयश्चकारः समुच्चयार्थः—तेन—शान्ताः सुखाः प्रकाशा लघवश्च ग्राह्याः । भवन्ति चाऽकाशादिस्थूलेषु केचिच्छान्ताः सत्त्वप्रधानतया स्थलादौ अवकाशादिप्रदानात् सुखकराः प्रकाशा लघवश्चेति । एवं दुःखत्वमनवस्थितत्वञ्च ग्राह्यम्, भवन्ति चाकाशादिषु स्थूलेषु केचिद् रजःप्रधानतया पर्वतात् पतनेऽवकाशदतया घोरा दुःखा अनवस्थिताश्चेति । एवं विषण्णत्वं गुरुत्वञ्च ग्राह्यम्, भवन्ति चाऽऽकाशादिषु स्थूलेषु केचित्तमःप्रधानतया दिङ्मोहादिना मूढा विषण्णा गुरुवश्चेति । तथा चाभिव्यक्तशान्तादिघोरादिमूढाद्यन्यतमात्मकत्वं विशेषत्वमिति पर्यवसितम् ॥ ३८ ॥



उक्तानां विशेषाणामवान्तरभेदत्रयं भवति, तद्यथा —

सूक्ष्माः,—मातापितृजाः,—सहप्रभूतास्त्रिधा विशेषाः स्युः ।

सूक्ष्मास्तेषां नियताः, मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

त्रिधा विशेषाः स्युरिति — ते च 'सूक्ष्माः'—सूक्ष्माणीन्द्रियाणि दशविधानि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थाऽऽख्यानि सूक्ष्मा विशेषा भवन्ति, तेषां शान्तधोरमूढत्वादिधर्माश्रयात्मकत्वात् । तथा च सूक्ष्माणीन्द्रियाणि—एको विशेष इति । यद्यपि सात्त्विकाऽहङ्कारादुत्पन्नानीन्द्रियाणि सात्त्विकान्येव भवितुमर्हन्ति न तु घोरमूढात्मकान्यपि, तथापि शान्तधोरमूढात्मकविषयग्राहकत्वेन तादृशविषयाकारपरिणतवृत्तिजनकानि तादृशवृत्त्यभिन्नानि तानि सुखदुःखमोहात्मकान्येव भवन्तीति तत्त्वम् । एवं पञ्चतन्मात्राणि तामसाऽहङ्कारादुत्पन्नानि तामसान्येव भवितुमर्हन्ति, न तु केवलानि शान्तरूपाणीति—तथा च कथं तेषामविशेषत्वं संभवेत्, तथापि तानि सर्वथा दिव्यतया सुखमात्रसम्पादकतया देवानां दिव्यलोचनानां योगिनाञ्च शान्तरूपेणाऽनुभवविषयतया शान्तस्वरूपाणि भवन्त्यविशेषा इति विवेकः । सर्वेषां स्वानुभवपथमागतानां वस्तूनां पदार्थतत्त्वाऽवधारणमिति नियमादिति ॥ केचित्तु—'सूक्ष्माः—सूक्ष्मदेहाः परिकल्पिता विशेषाः'—'महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तं सूक्ष्मं शरीरं शान्तधोरमूढैरिन्द्रियैरन्वितत्वाद् 'विशेष' इति विवेचयन्ति । तच्च युक्तम् भवति, तथा सति तुल्ययुक्त्या तन्मात्रैरविशेषैरप्यन्वितत्वाद्—अविशेषमपि सूक्ष्मं शरीरं स्यादिति, तेन विरुद्धयोर्विशेषत्वाऽविशेषत्वयोरेकत्र समावेशे साङ्ख्यप्रसङ्गेन विशेषात्मकमविशेषात्मकञ्च तत्त्वं निर्विवादं न सिद्धयेदिति । एवं शान्तधोरमूढैरिन्द्रियैरन्वितत्वेन सूक्ष्मं शरीरं विशेषः स्यात्तदा सूक्ष्मशरीरान्तर्गतानां तादृशेन्द्रियैरन्वितानां तन्मात्रमनोऽहङ्कारबुद्धीनामपि विशेषत्वाऽऽपत्तिः स्यादिति । तस्मात्सूक्ष्मपदेनेन्द्रियाण्येव ग्राह्याणीति ॥ एतेन—'सूक्ष्मं शरीरं'—एकादशेन्द्रियबुद्ध्यहङ्कारपञ्चतन्मात्राणां संघातरूपं भवति, तच्च सुखदुःखमोहाद्युपभोगजनकमपि भवति, अत एव—'अष्टादशतत्त्वानां संघातरूपं सूक्ष्मं शरीरमिति ख्यायते न तु प्रत्येकं तत्त्वम्, नहि केवला बुद्धिः सप्तदशतत्त्वसंघातमन्तरेण पुरुषायोपभोगं दातुं समर्था, न वा केवलोऽहङ्कारस्तदितरसप्तदशतत्त्वसंघातमन्तरेणाऽभिमत्योपभोगं दातुं समर्थः, न वा तथैव केवलं मनः सङ्कल्प्य पुरुषायोपभोगं दातुं शक्तम्, न वा केवलं तत्तदिन्द्रियं स्वस्वविषयमालोच्याऽऽत्मने तदुपभोगं दातुं समर्थं भवति । अतएव—अष्टादशतत्त्वानां मध्ये प्रत्येकस्य स्वेतराऽपेक्षारहितस्य सुखदुःखमोहात्मकभोगसम्पादकत्वं कदाचिदपि न संभवति, किन्तु मिलित्वा संघातरूपं सूक्ष्मं

शरीरं सुखदुःखमोहान्समर्पयत्यात्मने, तस्मात् 'सूक्ष्म'पदेन 'सूक्ष्मं शरीरं' विशेष-  
त्वेन कल्पितमिति' केषाञ्चिद् विनिगमकम्याख्यानमपि निरस्तम्, पूर्वोक्तदोषापत्ते-  
रिति ॥ केचित्तु—तन्मात्राणि विहाय दशेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धीनामात्मनि सुख-  
दुःखभोगस्य सम्पादकत्वात् 'सूक्ष्म'पदेन—दशेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिस्वरूपो गणः  
'सूक्ष्मविशेष'—पदवाच्य इत्यपि वदन्ति, तत्तु चिन्तनीयम् ॥ द्वितीयो विशेषः—  
'मातापितृजाः' षाट्कौशिकाः पञ्चभूतेभ्यः परिणतेभ्य उत्पद्यमानाः स्थूलशरीरात्मकाः  
षट्कोशाः । तत्र मातृतो लोमलोहितमांसानि, पितृतस्तु स्नाय्वस्थिमज्जानः,—उत्प-  
द्यन्ते, तैः षट्कोशैः संभूतमिदं स्थूलं शरीरं द्वितीयो विशेषः, शान्तघोरमूढरूप-  
त्वादिति ॥ तृतीयो विशेषस्तु—'सहप्रभूताः' सहभावं पञ्चीकरणप्रक्रियादर्शितरी-  
त्याऽऽपञ्चाः प्रकृतभूतपदवाच्याः शरीरातिरिक्ता घटपर्वतादिपृथिवी-समुद्रादिजल-  
महातेजो-महावायु-महाकाशात्मकाः तृतीयो विशेष इति ॥ 'सह प्रभूतै रिति पाठे तु  
पञ्चमहाभूतात्मकेनैकविधेन विशेषेण सह,—'सूक्ष्माः—सूक्ष्मम् शरीरं द्वितीयो  
विशेषः । 'मातापितृजाः—स्थूलशरीरं मातापितृजन्यं तृतीयो विशेष इति ।  
तेषां त्रिविधानां मध्ये पञ्चमहाभूतात्मकविशेषाणामात्मना सहाऽत्यन्तसम्बन्धो  
नास्ति, यादृशः सूक्ष्माणां मातापितृजानाञ्च संयोगोऽस्ति । तथा चाऽऽत्मना सह  
संयुक्तयो-मातापितृज-सूक्ष्मयोर्विशेषयोर्मध्ये सूक्ष्मविशेषात्मकानीन्द्रियाणि त्वात्म-  
ना सह आदिसर्गादारभ्य महाप्रलयपर्यन्तं मोक्षावधिकं नियततयाऽवस्थितानि  
भवन्ति, तदुक्तं—'सूक्ष्मास्तेषां नियताः' इति, सूक्ष्मशरीरस्य तावत्पर्यन्तं स्थायित्वात्  
तदन्तर्गतानामिन्द्रियाणामपि तथा स्थायित्वमिति । अथ च स्थूलशरीरमिदम-  
नित्यं मरणान्ते भस्मान्तं विडन्तं मृदन्तं वा भवति, तदेतद्दुष्कम्—'मातापितृजा  
निवर्तन्ते' इति ॥ ३९ ॥

सूक्ष्मशरीरस्येदानीं स्वरूपादिकमाह—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।

संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

यत् 'लिङ्गं'—लिङ्गशरीरं—सूक्ष्मशरीरम्, तत् 'पूर्वोत्पन्न'मिति, मूलप्रकृत्या  
बहूनां महासर्गाणामादिसर्गे प्रतिचेतनमेकमेकं प्रकटीकृतम् । अथ—किं नित्यनैमि-  
त्तिकप्राकृतात्यन्तिकप्रलयेषु प्रत्यात्मनियतं तदेव वा भिन्नमिति !, उच्यते—'सर्वत्र  
प्रलयेषु स्वनियतसूक्ष्मशरीरेण सह लीनानां कृते तदेव पुनः प्रकटीक्रियतेऽतस्तदेव  
नियतम् तत्रैव 'पूर्वोत्पन्नं' 'नियतं'चेति विचारः । अन्यथाऽनादिभूतसंसारप्रवाहेऽ-  
नादिसंयोगात् तस्य पूर्वोत्पन्नत्वमेव नोपपद्येतेति ॥ 'असक्तम्' सक्तिः—संयोगः—  
अन्यत्र परमाण्वादौ प्रवेशे कुण्ठितभावः तद्रहितम्, अच्छिद्रेऽपि प्रवेशशीलमिति



भावत् । 'नियतम्' सत्त्वपुरुषसंयोगस्याऽनादित्वात् अनादितोऽनुवर्तमानमपि मोक्षावधिकं नियतमिति सहचारीति । सर्गेषु प्रलयेषु च सत्सु तदाविर्भावतिरोभावप्रयुक्तस्तु व्यवहारः—आ च आदिसर्गात्—आ च महाप्रलयादवतिष्ठते—इति । 'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्'—महत्तत्त्वाहंकारमनःश्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राण—वाक्पाणिपादपाश्र्वपस्थ—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेत्यष्टादशतत्त्वसमुदायः सूक्ष्मं शरीरमित्यर्थः ॥ अथ कथमेतत्समुदायस्य सूक्ष्मस्य 'विशेषः' संज्ञेति चेत् !, उच्यते,—शान्तत्वधोरत्वमूढत्वधर्मवद्भिरिन्द्रियात्मकविशेषैर्युक्तत्वात् इन्द्रियघटिताऽष्टादशसमुदायात्मकसूक्ष्मशरीरेऽपि 'विशेषः' इत्युपचारात् ॥ अथैवं सूक्ष्मशरीरेणैव चेतनस्य भोगनिर्वाहे स्थूलशरीरं निरर्थकमिति चेत् ! । न निरर्थकम् । कुतः ? यतः 'निरुपभांगम्, स्थूलशरीरमन्तरेण सूक्ष्मं शरीरं चेतनाय भोगं दातुं न समर्थं भवति, नहीन्द्रियाणि सूक्ष्माणि गोलकमन्तरेण स्थूलविषयां गृहीतुं प्रभवन्ति, नहि पर्वतपक्षच्छेदनमिन्द्रवज्रमन्तरेण शक्यसंभवम्, नह्युपस्थं लिङ्गमन्तरेण कामिनीस्वादनं विन्दते, तस्मात् स्थूलेन स्थूलस्य योगात् गोलकार्थं स्थूलशरीरमपेक्षते, अतो न निरर्थकं स्थूलशरीरमिति अथ स्थूलशरीरमेव तर्हि भोगं सम्पादयतु कृतं सूक्ष्मशरीरेणेति चेत् ! । नैवम् । भोगायतनस्य करणसाक्षात्तत्वात् । स्थूलस्य नाशे सति, जन्मान्तरप्रयोजकस्याऽदृष्टादेराधारतया सूक्ष्मशरीरस्याऽऽवश्यकत्वाच्च तदिदमुक्तम्—'भावैरधिवासित'मिति । भवति संसार एभ्य इति भावाः—धर्माऽधर्म—ज्ञाना—ऽज्ञान—वैराग्याऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्याण्यष्टौ । तत्र धार्यते—अभ्युदयादिः क्रियतेऽनेति धर्मः पुण्यम् । तद्विरुद्धोऽधर्मोऽपुण्यम् । ज्ञायतेऽनेन सत्त्वपुरुषान्यभाव इति ज्ञानं—तत्त्वज्ञानम् । तद्विपरीतमज्ञानम् । विगतो रागो विरागः स एवेति वैराग्यं—वैतुष्यम् । सत्पुण्यत्वमवैराग्यम् । ईदृष्टे—इत्यैश्वर्यम्—इच्छाऽनभिघातादिः । तद्विपरीतमनैश्वर्यमसामर्थ्यमिति । तादृशभावाधिकरणं बुद्धितत्त्वम्, चेतनस्य परिणामाऽनधिकरणत्वात्, बुद्धिघटितं च सूक्ष्मं शरीरमिति स्वान्वितान्वितत्वसंसर्गेण सूक्ष्मशरीरमप्यधिवासितम्—अधिकरणीकृतं भवति तैरिति ॥ अथ आत्मनो धर्माधर्मौ कल्पनियौ न तु सूक्ष्मशरीरस्येति चेन्न । यत्र धर्माधर्मौ तत्रैव प्रवृत्तिः, यत्र प्रवृत्तिस्तत्रैव प्रवर्तका रागादयो दोषाः, यत्र दोषास्तत्र मिथ्याज्ञानम्, यत्र मिथ्याज्ञानं तत्रैव संसरणमिति, निर्धर्मकस्याऽऽत्मनस्तु तेषामभावात् न धर्माधर्मौ तत्रेति । तदेतत्प्रदर्शितुमुक्तम्—'संसरती'ति । संसरणं नाम—देहयोगवियोगौ, सूक्ष्मं शरीरं गृहीतं गृहीतं देहं त्यजति, हित्वा हित्वा च नूतनं गृह्णातीति ॥ अथ तस्य विभुत्वे योगवियोगौ नह्युपपद्येयातामित्यतः—परिच्छिन्नमध्यमाणुपरिमाणवदङ्गीक्रियतेऽस्मिन्तन्त्रे । न त्वत्यन्तमणु, साऽवयवस्य तस्य साङ्ख्यसिद्धान्ताऽभिमतत्वात् । मध्यमाणुपरिमाणस्य तस्य लिङ्गशरीरस्य गतिश्रुतिर्यथा 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सविज्ञानो भवति

सविज्ञानमनूत्क्रामतीति' । तादृशगमनशीलस्य साऽवयवत्वं सांसिद्धिकं, सावयव-  
त्वाच्च लयशीलमित्यतो लिङ्गमिति संज्ञा, लीनमर्थं मोक्षं गमयतीत्यतोऽपि  
लिङ्गमिति व्यपदेश इति ॥ ४० ॥

ननु तथापीन्द्रियमनोऽहंकारोपकरणिकाया बुद्धेरेव संसरणं न्याय्यम्, अलं  
तन्मात्राण्यन्तर्भाव्याऽष्टादशतत्त्वसमवायात्मकाऽप्रामाणिकसूक्ष्मशरीरकल्पनया, एवं  
च तन्मात्रसर्गोऽपि निरर्थक-इति चेन्न । जन्मप्रायणाऽन्तराले सूक्ष्मशरीरस्यावश्य-  
कतया प्रामाणिकत्वात् । अथ कियदुरुपाऽऽवश्यकता ? । उच्यते,—आधारतया त-  
दावश्यकता । तत्र निदर्शनम्—

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते, स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया ।

तद्वद् विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

'यथा'—यद्वत्, चित्रं—मूर्त्यादिलेखनम्, पटकागदाद्याश्रयम् ऋते न स्थितिपदं  
लभते । अनेनाऽऽधाराऽपेक्षा दर्शिता । एवम्—स्थाणुर्वृक्षस्तम्भः,—आदिना शाखा-  
दयः, तेभ्यो विना यथाच्छाया स्थितिपदं न लभते । अनेन अवच्छेदकता दर्शिता ।  
तद्वत्, लिङ्गम्—इन्द्रियमनोऽहंकारसहिता बुद्धिः परकाये चेतनस्य लिङ्गनात् ज्ञाप-  
नात् 'लिङ्ग'मिति व्यपदिश्यते । प्रयोगस्तु—'परशरीरम्,—आत्मवत्,—इन्द्रियादि-  
मत्त्वात्,—अस्मच्छरीरवदिति' । तदेतत्त्रयोदशसमुदायात्मकं लिङ्गं 'विनाऽविशे-  
षैः'—अविशेषैः—तन्मात्रैः, विना—तानि विहाय, निराश्रयं सत् स्थितिपदमेव न लभे-  
तेति । कुतः ? उच्यते—'तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः' ( ३८ )-  
इत्यादिना पञ्चभूतात्मकविशेषाणामुत्पत्तिः तन्मात्रात्मकपञ्चाऽविशेषेभ्य उक्ता,  
ततश्च 'सूक्ष्मा मातापितृजाः' ( ३९ ) इत्यनेन पञ्चभूतानां विकारात्मकं पाट्कौशिकं-  
स्थूलशरीरमुक्तम्, तथा च यदि तन्मात्राणि नाऽन्तर्भावयेत् इन्द्रियादिसमुदाये, तदा  
तदभावे कार्यस्य स्थूलपाट्कौशिकस्याऽप्यभावप्रसंगः स्यात्, अतः स्थूलस्य स्थिति-  
लाभाय अविशेषान् तन्मात्राण्यन्तर्भाव्यैवेन्द्रियादिसमुदायस्य संसरणं युक्तम्, अतो न  
तन्मात्रसर्गो निरर्थकः । संसरणं च शरीरनियतम्, "अशरीरं वावसन्तं न प्रियाऽ-  
प्रिये स्पृशतः" इति श्रुतेः । तथा च मरणजननान्तरीयककालीनबुद्ध्याद्यष्टादशसमु-  
दायः,—वर्तमानशरीराऽऽश्रितः—वर्तमानतन्मात्रान्वितबुद्ध्याद्यष्टादशसमुदायत्वा-  
त्,—जननमरणान्तरीयकबुद्ध्यादिसमुदायवदिति प्रमाणेन—जननमरणयोर्मध्यका-  
लीनबुद्ध्यादीनां यथा स्थूलशरीराश्रयस्तथा मरणजननमध्यकाले स्थूलस्य बाधत्वात्  
यदाश्रयतया कल्प्यते तदेवाऽष्टादशतत्त्वात्मकसमुदायः सूक्ष्मशरीरं सिद्धमिति ॥ ४१ ॥

तदेवं प्रसंगात् सूक्ष्मशरीरस्याऽप्रामाणिकत्वादिशंकां निराकृत्य, प्राग् यदुक्तं  
"नियत"मिति, तत् सयुक्तिकमुपपादयति—



पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन ।

प्रकृतेर्विभुत्वयोगात् नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

‘इदं’-‘महदादिसूक्ष्मपर्यन्त’मित्यनेनाऽभिहितं यत् ‘लिङ्गम्’-सूक्ष्मशरीरम्, आत्यन्तिकादिप्रलयपर्यन्तं मोक्षपर्यन्तं वाऽऽत्मना सहैवाऽवतिष्ठते । कुतः ? । सप्रयोजनत्वात् । नहि निष्प्रयोजनं किञ्चिदपि तिष्ठति । सप्रयोजनं च प्रयोजननिर्वर्तने सति निवर्तते । भवति चेदं सूक्ष्मशरीरं ‘पुरुषार्थहेतुकम्’-पुरुषार्थप्रयोजनकम् । प्रयोजनस्य कार्यप्रवर्तकत्वात् हेतुत्वोपचार इति । भोगापवर्गात्मको यः पुरुषार्थोऽनागतावस्थः, तस्य वर्तमानावस्थत्वमत्र प्रयोजनम्, यावन्न वर्तमानावस्थो भवेत् पुरुषार्थः, तावद् व्यवतिष्ठते इदं लिङ्गशरीरमिति ॥ ननु सप्रयोजनत्वमात्रं न कार्यव्यवस्थितिनियामकम्, कारणनाशे सति नाशदर्शनात् । कारणेषु ह्युत्पादक-ज्ञापकस्थापकाद्यन्यतमेषु स्थापकस्य-स्थितिजनकस्य उत्पादकस्य उत्पत्तिजनकस्य वा नाशे घटादेर्नाशदर्शनात्, एवमस्य लिङ्गस्यापि नाशः-अव्यवस्थानं स्यादिति चेत् ! । न । स्थितिजनकस्य निमित्तकारणस्य धर्मादेः नैमित्तिककारणस्य स्थूलशरीरस्य च प्रकर्षेण-अवैकल्येन यः संगः-उपस्थितिः-समानेऽधिकरणे वर्तमानता । तेनेति हेत्वर्थे तृतीया । तस्मात्, -स्थितिकारणस्य मोक्षावधि सत्त्वात् लिङ्गशरीरं तिष्ठते-इति । ननु के निमित्ताः, के च नैमित्तिकाः कारणविशेषाः सूक्ष्मशरीरस्य स्थितौ ? इति चेत् ! । उच्यते, -निमित्ता धर्माऽधर्मज्ञानाऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्यात्मका अष्टौ भावाः, ते चाऽनादिकर्मसम्बन्धात् सूक्ष्मशरीरसहस्रवः स्थितौ कारणं भवन्तीति । तैर्निमित्ताभिवैजन्यं पाटकौशिकं स्थूलशरीरं ‘नैमित्तिक’मित्युच्यते । तदेवं धर्मादिजन्यं तत् तत् स्थूलं नैमित्तिकं पुनर्धर्मादीन् दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयफलकान् उपार्जयति, तेभ्यः पुनः स्थूलशरीरपरिग्रहः स्थूलशरीरेण च धर्माऽधर्माद्यर्जनमित्येवं लिङ्गस्य स्थितिजनकधर्मादीनामुपार्जकत्वेन तद्द्वारा लिङ्गस्य स्थितिजनकत्वात् भवति मोक्षावधिकं संसरणमतस्तावत्पर्यन्तं व्यवतिष्ठते-इति ॥ धर्मादितः शरीरं धर्मश्च शरीरादित्येवं पूर्वं पूर्वमनवस्था तु बीजाङ्कुरवन्न दोषाय । अथोत्पत्तिकारणमस्य प्रधानं नित्यं, तेन सह तादात्म्यात् न कपालनाशात् घट-नाशवत् नाशयोगोऽपि । लयस्तु स्यात् अधिकारसमाप्तौ सत्याम् । यावन्नाऽधिकारसमाप्तिस्तावत् स्वकारणस्य मूलायाः-‘प्रकृतेः’-‘विभुत्वयोगात्’-विभुत्वं-व्यापकत्वं, सर्वत्र सर्वदा सत्त्वं, -तस्य योगः सम्बन्धस्तस्मात्, -विभुकारणतादात्म्यादित्येतत् । बहुधा संसरत् नटवद् व्यवतिष्ठते । यथा नटः समयाद्यनुकूलं वेशरचनां कृत्वा क्वचित् देवो मनुष्यः सिंहो वा भवति, वेषविगमेऽपि स तु स एव, तथा सूक्ष्मं शरीरं स्थूलशरीरपरिग्रहणेन देवो वा मनुष्यो वा पशुर्वा वनस्पतिर्वा भवत्,

भवन् व्यवतिष्ठते । विभुकारणव्यवस्थितबलादप्यस्य व्यवस्थितिर्मेक्षावधिका । तदुत्तरं तु लयं गच्छतीति 'लिङ्ग'मित्यन्वर्थम् ॥ ४२ ॥

यदुक्तं 'भावैरधिवासित'मिति, तत्र भावान् विभजते—

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः ।

दृष्टाः करणाश्रयिणः, कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

'भावस्त्रिविधा भवन्ति, केचन सांसिद्धिकाः, केचन प्राकृतिकाः, केचन वैकृताश्चेति । तत्र 'सांसिद्धिकाः'—सर्गसर्गान्तरीयपरम्परया वर्तमानाः सर्वदा सिद्धा धर्मादयः सांसिद्धिकाः, यथा कपिलस्य भगवतः—धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणीति चत्वारो भावाः । श्रूयते च 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च पश्येदिति' ॥ अथ प्राकृतिकाः—प्रकृष्टा कृतिः—तपश्चरणादिरूपो यत्नः तज्जन्या भावाः प्राकृतिका इत्युच्यन्ते—यथा वसिष्ठबाल्मोकिप्रभृतीनाम् ॥ अथ वैकृतिकाः—विगता कृतिः—विकृतिः अकृतिरित्यर्थः, स्वकृतिप्रन्तरेणापि योगिजनसंकल्पात्मकाऽऽशीर्वादादिना लब्धविषया भावाः—वैकृतिका इति । अधर्मा अपि जनः 'धर्मा भवे'त्येवंयोगिजनाऽऽशीर्वादाज्जायमानाः, 'श्रीगुणातीतानन्दा'ख्यस्य मूलाक्षरब्रह्मणः संकल्पमात्रात् 'पर्वत'भक्तप्रभृतीनां जायमानास्ते वैकृतिका इत्युच्यन्ते ॥ ते च चत्वारः सात्त्विकाः ॥ अथ तामसानि—अधर्माऽज्ञानाऽविरागाऽनैश्वर्याण्यपि भूतप्रेतराक्षसादीनां त्रिधा बोध्यानीति ॥ एतेषामधिवसतिमाह—'करणाश्रयिण'इति । एते धर्माद्याः—धर्मादयोऽष्टौ, करणम्—प्रधानकरणं यत् बुद्धितत्त्वं तदाश्रयिणो दृष्टाः—निर्णिता एवेति । उक्तमेतत्—“अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्य” (२३)—मित्यनेन ॥ अथ लोके दृष्टाः धर्मादिभावकार्याण्यपि स्थूलशरीराऽवस्थाविशेषाः 'भावा'इति, ते तु नात्र बुद्धिधर्म—'भाव'पदेनाऽभिप्रेताः । तथापि लोके 'भावा'—इति—उपचर्यन्ते । ते च 'कललाद्याः'—कलल-बुद्बुदमांसपेशीकरणडाऽङ्गप्रत्यङ्ग-व्यूहात्मका अवस्थाविशेषा गर्भस्थशरीरस्य, ततो निर्गतस्य शरीरस्य बाल्ययौवन-वार्धक्यादयश्च भवन्तीति ॥ ते च शरीरमाश्रित्य तिष्ठन्तीत्युक्तम्—'कार्याश्रयिणः' इति । बुद्धिधर्माणां भावानां कार्यं यत् स्थूलशरीरं तदाश्रयिण इति ॥ तत्र बुद्धिधर्मा भावाः 'निमित्तानी'—त्युच्यन्ते । अथ कललान्वितशरीरात्मका भावाः 'नैमित्तिका' इत्युच्यन्ते । निमित्तजन्यत्वात्तेषां नैमित्तिकत्वमिति ॥ ४३ ॥

अष्टभावानां मध्ये केन निमित्तेन किं नैमित्तिकं भवति, तद् दर्शयति—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।

ज्ञानेन चाऽपवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

'धर्मेण'—शुक्लेनाऽभ्युदयहेतुना 'ऊर्ध्वम्-भुवःप्रभृतिसत्यान्तलोकस्थब्राह्म-



प्राजापत्यैन्द्रगान्धर्वयाक्षपैत्रादिषु सर्गेषु 'गमनम्' भवति, तत्र 'तत्र तत्तद्देवादिशरीरमासाद्य तत्रत्यदिव्यभोगान् भुङ्क्ते । निःश्रेयसहेतुना योगाभ्यासजनितेनेश्वराऽऽराधन-भक्त्यादिजनितेनाऽऽशीर्वादलब्धेन च धर्मेण तु—विष्णुलोकब्रह्मधामादिषु गमनं भवतीति । 'अधर्मेण'—वेदशास्त्रलोकव्यवहार—स्वहृदय—निषिद्धकर्मादिजन्येनाऽन्येन वा 'अधस्तात्'—भूतलादिपातालान्तलोकेऽपकृष्टासु जरायुजाऽऽण्डजोद्भिज्जस्वेदजादिषु योनिषु यमलोकादिषु च गमनम् भवति । 'ज्ञानेन चाऽपवर्गः' इति पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वज्ञानेन विवेकख्यातिर्भवति, विवेकख्यात्या चाऽऽत्मसाक्षात्कारः, आत्मसाक्षात्कारेण च दुःखत्रयभोगाऽस्त्यन्ताऽभावरूपः परमपुरुषाऽर्थो मोक्षः लभ्यते । यावद्विवेकख्यातिर्न भवति तावदेव प्रकृतिभोगमारभते, सत्याञ्च विवेकख्यातौ समाप्ताधिकारतया विवेकख्यातिमन्तं पुरुषं प्रति निवर्तते न प्रवर्तते इति ॥ अस्माकन्तु योगप्रणालिकामनुसृत्य भगवति श्रीस्वामिनारायणे परब्रह्मणि साध्यादिभक्तिसहितेन निःश्रेयसहेतुधर्मसहितेन-विवेकख्यात्यात्मकज्ञानेन सर्वैराग्यात्मसाक्षात्कारेण च भवति 'परमाऽक्षरधामप्राप्तिरितिसिद्धान्तः ॥ 'विपर्ययात्'—अज्ञानात्-तत्त्वज्ञानभिन्नज्ञानात् अप्रमात्मकात् विपर्ययविकल्पादिज्ञानादितियावत् । 'इष्यते बन्धः' स च बन्धस्त्रिविधः—प्राकृतिको वैकृतिको दाक्षिणकश्चेति । तत्र प्रकृतिरेवात्मेत्यवगत्य ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, यः पुराणे प्रकृतिलयान्प्रत्युच्यते, यथा "पूर्णं शतमहस्रं हि तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः"—प्रकृतिमेवाऽऽत्मानमभिमत्य प्रकृत्युपासका एकलक्षमन्वन्तरकालपर्यन्तं मूलप्रकृतौ लयं प्राप्नुवन्तीति, लयो नाम-स्थूलशरीरं विना सूक्ष्मशरीरेण सहावस्थानं, तत्र स्थूलकृतभोगरहिताः सूक्ष्मशरीरसंहिताश्चात एव भोजनादिरहिताः पाशबद्धाः कारागारवासिनो रुध्यमाना इव तिष्ठन्तीति । एकमन्वन्तरस्य वर्षाणि विंशतिसहस्राऽधिक-सप्तपष्टिलक्षोत्तर—त्रिंशत्कोटयो भवन्ति । पुनश्च 'तदवधौ सत्यां संसृतिभ्रमणं भवति तेषां न तु मोक्ष इति ॥ वैकृतिको बन्धो यथा-बुद्ध्यादिविकारानात्मधियोपासकानां भवति, तदुक्तं 'दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः'—। एकादशेन्द्रियाणि प्रत्येकं तत्समूहं वाऽऽत्मस्वरूपमभिमत्य 'इन्द्रियाऽऽत्मकोऽहमात्मा' इति श्रवणमनननिदिध्यासनकर्तृणामिन्द्रियाऽऽत्मवादिनां दशमन्वन्तरकालपर्यन्तमिन्द्रियेषु लयो भवति, पुनश्चावधिसमाप्तौ संसृतिमाप्नुवन्ति, न तु निःश्रेयसगतिमिति । एवं 'भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः'—पञ्चभूतानि प्रत्येकं तत्समूहं वाऽऽत्मस्वरूपतयोपासकानां पञ्चभूतेषु भवति लयः शतमन्वन्तरकालाऽवधिकः । अभिमानात्मकाऽहङ्कारमात्मरूपतयोपासकानाञ्च सहस्रमन्वन्तरकालाऽवधिकोऽहंकारतत्त्वे लयो भवति, पुनश्च कालसमाप्तौ संसृतिभ्रमणमिति । एवं—'बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः" बुद्धिमात्मरूपतयोपासकानां बौद्धानां दशम-

न्वन्तरसमयाऽवधिको बुद्धौ लयो भवति, कालसमाप्तौ च पुनः संसृतिरिति॥ 'दाक्षिणको बन्धो यथा--सुखादि-धर्मशून्यमात्मस्वरूपमजानतां सुखभोगाय स्वर्गादिप्राप्तिमभिलषतां दक्षिणेन वैदिककर्मणा यज्ञादिना भवति स्वर्गादिलोकाऽवाप्तिस्तत्र च यथापुण्यं तिष्ठन्तीत्ययमपि मोक्षविरोधी दाक्षिणको बन्धो भवति, -तदुक्तं "पुरुषज्ञानहीनानां स्वर्गाद्यर्थं हि कुर्वताम् । तानि तानीह कर्माणि तेषां बन्धस्तु दाक्षिणः"-इति ॥ अयं विपर्ययोऽज्ञानं 'द्रोह' इत्यप्युच्यते, द्रोहो नाम-स्वरूपस्वभावादिकस्य वैपरीत्येन वर्णनम्, यथा परमात्मानमुद्दिश्य-'न स परमात्मेति, भगवद्भक्तमुद्दिश्य-'स तु न भक्तिमानिति, 'ब्राह्मणमुद्दिश्य-'अयं चाण्डाल इति, यथा वा दीनजनमुद्दिश्य-'अयमुद्धत इति । उक्तं च परमात्मना श्रीस्वामिनारायणेन वृत्तालस्य एकादशे वचनामृते-"अस्माकं त्वीदृशः स्वभावो वर्तते-यत् - 'भगवतः, भगवद्भक्तस्य, ब्राह्मणस्य, कस्यचिदपि दीनस्य, -त्रा द्रोहः कदाचिदपि न कर्तव्य इति, यतस्तेषां चतुर्णामन्यतमस्य कस्यचिदपि द्रोहो भवेत् तर्हि तत्पापेन तस्य द्रोष्टुर्जीवस्यापि नाशो भवेदिति । अथ जीवश्चेतनस्त्वविनाशोऽत्युक्तः कथमस्य नाशः संभवेदिति चेत् ?, उच्यते-"पर्वतस्याऽथवाऽन्यस्य कस्यचित् अतीव जडदेहस्य प्राप्तिर्भवेत् यत्र चिरकालान्तरेऽपि जीवस्य निःश्रेयसं न संभवेदित्ययं तस्य जीवस्य नाशो लयो जात इत्युपचर्यते" इति ॥ अथ गढपुरस्यान्तिमप्रकरणस्थे द्वादशे वचनामृतेऽप्यभिहितम्-"भगवतो भगवद्भक्तस्य च द्रोहेण-जीवस्यापि नाशो भवतीति । अथात्र केनचिदाशंक्येत-"जीवस्य नाशः कथं भवेदिति" । तर्हि तत्र दृष्टान्तम्-यथा 'यः क्लीबो भवति, स 'पुरुष' इत्यपि न व्यवह्रियते, 'स्त्री'-इत्यपि न व्यवह्रियते, स तु केवलः 'शण्ड'-इतिव्यवह्रियते, तद्वत् भगवतो भगवद्भक्तस्य च द्रोहकर्ता यो भवेत् तज्जीवोऽपि तथा प्रयोजनहीनो भवति यः कदाचिदपि स्वमोक्षस्योपायमनुष्ठानं समर्थो न भवेदिति"-इयमपि लयसमा स्थितिः 'लय' इत्युच्यते-इति ॥ ४४ ॥

वैराग्यात्प्रकृतिलयः, संसारो भवति राजसाद् रागात् ।

ऐश्वर्यादविघातो, विपर्ययात् तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाये"ति श्रुत्या आत्मज्ञानिनः पुरुषस्यैव मोक्षावगमकथनेन ज्ञानरहितस्य तु विरक्तस्याऽपि मोक्षो न भवति, यतः - 'वैराग्यात्'-दृष्टाऽनुश्रविकविषयेष्वलंबुद्धिरूपाद्वैराग्यमात्रात्, 'प्रकृतिलयः' प्रकृतिमहदहङ्कारभूतेन्द्रिय-तन्मात्रादिषु स्वात्मबुद्धयोपास्यमानेषु तत्र तत्र तदुपासकानां लयो भवति, पुनश्च कालान्तरे ते त्वाविर्भवन्ति संसरन्ति च, न तु मोक्षगतिमाप्नुवन्तीति । अथ च 'संसारो भवति राजसाद् रागात्'- राजसाद्वरागात्-



अवैराग्यात्, विषयेषु रक्तानां 'संसारः'—पुनः पुनर्जन्ममरणे जायेते—इति । एवं 'ऐश्वर्यात्'—अणिमाद्यष्टविधात्—'अविघातोः'—भवति, स्वेच्छायाः सर्वत्र साफल्यं भवति ॥ ऐश्वर्यवानेवेश्वरः स च यदेवेच्छति तदेव करोतीति । अथ च 'विपर्य-  
यात्'—अनैश्वर्यात्,—तद्विपर्यासः—सर्वत्रेच्छाविघातो भवतीति । यथा पुरुषाऽधीनो मर्कटः सिंहो वा कारागृहस्थ पुरुषो वा भवति सर्वत्रेच्छाविघातवान् । इच्छाविघा-  
तस्याऽप्यत्यन्तदुःखजनकत्वेनाऽधमः स भवतीति ॥ ४५ ॥

तदेवमुक्तान् बुद्धिधर्मान् धर्माद्यष्टभावान् संक्षेपेण विस्तरेण चाह—

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।

गुणवैषम्यविमर्दात्तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

'एषः—अष्टधा निर्दिष्टो भावाख्यः, 'प्रत्ययसर्गः'—प्रतीयन्तेऽर्थाः अनेनेति प्रत्ययः  
ज्ञानं बुद्धिः, तस्याः सर्गः—भावाख्यं कार्यं, सः संक्षेपाच्चतुर्विधो भवति—'विपर्यया-  
सिद्धितुष्टिसिद्ध्याऽऽख्यः,'— तत्र 'विपर्ययो'—मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्,—अज्ञान-  
मन्त्रियेति यावत् । अविद्या च पञ्चपदा वक्ष्यते ॥ अथ 'अशक्तिः'—इन्द्रियादिकरणा-  
नामसामर्थ्यं कुण्ठितभावः तेन परम्परया बुद्धिद्वत्तीनां कुण्ठितभावाः प्रसज्यन्ते ।  
ताश्चाष्टाविंशतिसंख्याका भवन्तीति वक्ष्यन्ते ॥ अथ 'तुष्टिः,'—मोक्षविरोधी प्राकृ-  
तिकसन्तोषः, सोऽयं नवधा प्रदर्शयिष्यते ॥ अथ 'सिद्धिः,'—अणिममहिमाद्यात्मकं  
सामर्थ्यम्, अयमपि बुद्धिधर्मोऽष्टधा निरूपयिष्यते ॥ एतेषु चतुर्षु अष्टानां समा-  
वेशः, तत्र विपर्ययेऽज्ञानस्याऽधर्मस्य च, अशक्तौ अवैराग्यस्याऽनैश्वर्यस्य च, तुष्टौ  
धर्मस्य वैराग्यस्य च, ऐश्वर्यस्य तु क्वचित्तुष्टौ क्वचिद्विपर्यये समावेश इति, ज्ञानस्य  
तु ऊहादिसिद्धौ समावेश इति संक्षेपः ॥ अथ विस्तरोऽपि भवति 'गुणवैषम्यवि-  
मर्दात्,'—गुणानां सत्त्वरजस्तमसां यत् वैषम्यं—न्यूनाधिकभावः—एकैकस्य न्यूनबलता  
द्वयोर्द्वयोर्वा न्यूनबलता, एकैकस्याधिकबलता द्वयोर्द्वयोर्वाऽधिकबलता, अस्याश्च  
मृदुमन्दतीव्रभावात् बहुधात्वम् भवतीति, तत्कृतो विमर्दः—स्वस्वकार्यजननसा-  
मर्थ्यपराभवोऽपि बहुविधस्तस्मात् । 'तस्य'—चतुर्विधस्य बुद्धिधर्मस्य पञ्चाशत्सं-  
ख्याका 'भेदाः'—प्रकाराः, भवन्ति ॥ ते च पञ्चाशद्विभेदा अनुपदं वक्ष्यन्ते ॥ ४६ ॥

अवान्तरविभागपूर्वकं तान्पञ्चाशद्भेदान् परिगणयति—

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।

अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥

विपर्ययस्य—अविद्यायाः भेदाः पञ्च भवन्ति, ते च—अविद्या, अस्मिता, रागो,  
द्वेषः, अभिनिवेशश्चेति । ते च पञ्च—क्रमशः तमः, मोहः, महामोहः, तामिस्रः,

अन्धतामिहचेति-उच्यन्ते । तत्र-‘अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखा-  
त्मख्यातिरविद्या, सा चाऽन्धकारवत् आवरकत्वात् ‘तमः’ उच्यते । पुरुषबुद्धयोरेकस्व-  
रूपाऽऽपत्तिः-अस्मिता, भिन्नयोरपि बुद्धिपुरुषयोरभेदेन-‘अहं चेतनास्मि’ ‘अहं  
कर्तास्मी’त्येवमभेदेनाऽस्मेर्भावः क्लेशोऽज्ञानमिति, बुद्धिपुरुषयोर्मोहनमात्रत्वादयं  
‘मोह’ इत्युच्यते । रागः-अनात्मधर्मस्याऽपि सुखस्य तृष्णा, सर्ववस्तुषु मोहपरा-  
काष्टायाः साधनत्वादयं ‘महामोह’-इत्युच्यते । द्वेषः-अनात्मधर्मस्यापि दुः-  
खस्य जिवांसा, क्रूरतामसधर्मत्वादयं-‘तामिस्र’ इत्युच्यते । अभिनिवेशः-अनात्म-  
धर्मस्यापि मरणस्याऽऽत्मनि त्रासः, विदुषामविदुषां प्रश्नादीनां चातीवाऽन्धकरण-  
त्वात् क्रूरतामसधर्मत्वादयम् ‘अन्धतामिस्र’ इत्युच्यते । सेवं पञ्चपर्वं अविद्येत्यु-  
च्यते । अस्मितादीनामविद्याक्षेत्रकत्वादविद्याविषयविषयकत्वाच्चाऽविद्येत्युपचारः ॥  
अथ करणानामेकादशेन्द्रियाणां वैकल्यात्-वधात् कुण्ठितभावात्, स्वस्वविषयप्र-  
हणाऽसामर्थ्यात् एकादशभेदाः, तद्द्वारा बुद्धिगतनवविधतुष्टीनां विपर्यया नवभेदाः,  
अणिमाद्यष्टसिद्धीनामूहादीनां वा विपर्यया नवभेदाः, मिलित्वाऽष्टाविंशति-भेदा  
अशक्तिः-असामर्थ्यं भवति, सा च “एकादशेन्द्रियवधा”-(४९) इत्यार्यया वक्ष्यते ॥  
अथ तुष्टिः प्राकृतिकसन्तोषः, सा च प्रकृतिः, उपादानं, कालः, भाग्यम्, शब्दोपरमः,  
स्पर्शोपरमः, रूपोपरमः, रसोपरमः, गन्धोपरमश्चेतिनवधा भवति, इयमपि “आध्या-  
त्मिक्यश्चतस्र”-(५०) इत्यार्यया वक्ष्यते ॥ अथ सिद्धिः-‘सिध्यन्ति कार्याण्यनयेति  
सिद्धिः-सामर्थ्यम्-अणिमाद्यात्मकमष्टविधम्, अथवा ‘ऊहः शब्दोऽध्ययन’-(५१)  
मित्यादिना वक्ष्यमाणं बोध्यमिति ॥४७॥

पञ्चानामविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशानां तमोमोहमहासोहतामिस्राऽन्ध-  
तामिस्राऽपराऽभिधानानां विपर्ययभेदानामप्यवान्तरभेदानाह—

भेदस्तमसोऽष्टविधो, मोहस्य च, दशविधो महामोहः ।

तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥

‘तमसः’-अविद्यात्मकस्य प्रथमपर्वस्य, ‘भेदः’-विभागः, अष्टविधो भवति ।  
कुतः?, अष्टविधविषयकत्वात्, अष्टौ हि प्रकृति-महत्तत्त्वा-ऽहंकार-मनः-ज्ञानेन्द्रिय-  
कर्मेन्द्रिय-तन्मात्र-भूतानि, तत्राऽनात्मसु आत्मबुद्धिः-“आत्मा प्रकृत्यभिन्नः,  
आत्मा-महत्तत्त्वाभिन्नः, आत्मा अहंकाराभिन्नः, आत्मा मनोऽभिन्नः, आत्मा  
ज्ञानेन्द्रियाभिन्नः, आत्मा कर्मेन्द्रियाभिन्नः, आत्मा तन्मात्राभिन्नः, आत्मा  
पृथिव्याभिन्नः”, इत्येवमष्टविधविषयविषयकत्वात् अष्टविधान्यज्ञानानि भिद्यन्त  
इति ॥ एवमन्याऽपि बहुधा भवत्यविद्या-अनित्येषु नित्यत्वख्यातिः,—यथा ध्रुवा  
पृथिवी सचन्द्रतारका द्यौश्च, अमृता दिवौकस इति । अशुचौ काये शुचिर्यातिरथ-  
विद्या—यथा नवेव शशांकलेखा कमनीयेयं कन्याऽमृताऽव्यवनिर्मितेव चन्द्रं मि-



त्वा निःसृतेवेति । दुःखदे सुखदख्यातिरप्यविद्या—यथा यत्र परिणामतापसंस्कारदुःखैः सर्वं दुःखमेव विवेकिनस्तत्राऽविवेकिनः सुखमिति ॥ अथ 'मोहस्य'—अस्मिताख्यस्य द्वितीयपर्वस्य, 'व'—अपि, अष्टविधो भेदो भवति । कुतः ?, अष्टविधविषयविषयकत्वात्, अष्टौ हि अणिम-महिम-लघिम-गरिम-प्राप्ति-प्राकाम्य वशित्वे-शित्वात्मकैश्वर्यविशेषाः, देवादयो हि तान्यष्टैश्वर्याण्यासाद्य 'वयममरणधर्मका'—इत्यभिमानं कुर्वन्तः आगन्तुकान्यप्यैश्वर्याणि 'उत्तरकाले बाधरहितानि स्वकीयान्येव नाऽन्यदीयानि—'वयं शाश्वतिकैश्वर्यवन्तःस्म' इत्यभिमान्यन्ते, यथा "शाश्वतिकाऽणिमवानहमेवास्मि, महिमवानस्मि, लघिमवानस्मि, गरिमवानस्मि, प्राप्तिमानस्मि, प्राकाम्यवानस्मि, वशित्ववानस्मि, ईशित्ववानस्मीति, अस्मदादीनां तु 'ऊहवानस्मि, शब्दवानस्मि, अध्ययनवानस्मि, आध्यात्मिकदुःखाभाववानस्मि, आधिभौतिकदुःखाभाववानस्मि, आधिदैविकदुःखाभाववानस्मि, सुहृत्प्राप्तिमानस्मि, दानवानस्मि,—इत्यष्टसिद्धिविषयको मोहोऽनुसन्धेयः । 'अहं समर्थोऽस्मी'त्येकात्मतेव अस्मेरेन्वयाच्चाऽस्मितेति ॥ एवमन्याऽपि बहुधा भवत्यस्मिता—'बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्राऽस्मबुद्धिं मोहेने'ति ॥ अथ 'महामोहः'—रागाख्यस्तृतीयः पर्वः दशविधो भवति । कुतः ?, दशविधविषयविषयकत्वात्, दश हि—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्च विषयाः वाच्याऽऽदेयविहार्योत्सृज्याऽऽनन्धाः पञ्च विषयाश्च, मिलितास्त एते दशाऽस्मदादीनामदिव्याः देवादीनां तु दिव्या इति विशेषः, देवादयो हि सुखानुस्मृतिपूर्वं सुखविषयेषु शब्दादिषु पञ्चसु सुखसाधनेषु वाच्यादिषु पञ्चसु च सरागा भवन्ति यथा—"दिव्यं मे शब्दसुखं जायताम्, स्पर्शसुखं जायताम्, रूपसुखं जायताम्, रससुखं जायताम्, गन्धसुखं जायताम्, एवं वचनं-वाणी सर्वभूतप्राणिमात्रभाषा, तथा तथा भाषया ये येऽर्था भाष्यन्ते तान् पदपदार्थयोःशक्त्यात्मकसम्बन्धज्ञानवन्त एवावगच्छन्ति नाऽन्ये, देवाश्च तादृशशक्तिज्ञानवन्तस्तत्तद्भाषया भाष्यार्थानवगच्छन्तीत्यतः सर्वदा रागो वाच्ये वर्तते 'अस्माभिः सर्वेऽपि वाच्यार्थाः सदा ज्ञायतामि'ति, आदेयेषु च दिव्यविषयेषु स्रक्चन्दनवनितादिषु वर्तते तेषामिच्छा—'आदेयैर्मे सदा भूयतामि'ति, एवं विहार्येषु दिव्यस्थलीमन्दिरोद्यानादिषु सर्वत्र अप्रतिहतगत्या 'अस्माभिर्विहीयतामिति, एवमुत्सृज्येषु बस्तिक्रियादिषु च 'अस्माभिर्निरुपद्रवमुत्सृज्यतामि'ति, एवमानन्धेषु अप्सरःप्रभृतिषु 'अस्माभिः सदा तत्राऽऽनन्द्यतामि'तिरागा वर्तन्ते तेषामिति । एवमस्मदादीनामप्यदिव्येषु शब्दादिपञ्चविषयेषु बहुभाषाभाष्यार्थेषु स्रक्चन्दनाद्यादेयेषु कोमलरमणीयाऽस्तरणमन्दिरोद्यानाऽऽकाशमागादिविहार्येषु बन्धकोशादिकं यथा न स्यात् तथा उत्सृज्येषु कामिनीध्वानन्धेषु च जायन्ते इच्छाविशेषाः, इति रागो दशविधविषयविषयकत्वात् दशविध उक्तः? भवति चान्यत्राऽपि दृष्टानुश्रविके विषये तृष्णा-

त्मको बहुविध इति॥ अथ 'तामिस्रः'—द्वेषाख्यश्चतुर्थः पर्वः अष्टादशधा भवति। कुतः! अष्टादशविषयविषयकत्वात्, अष्टादश हि—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः विषयाः पञ्च, वाच्यादैवविहार्योत्सृज्यान्ध्याः पदार्थाः पञ्च, अणिममहिमलघिमगरिमप्राप्तिप्रा-  
काम्यवशित्वेशित्वाख्यान्यष्टैश्वर्याणि, मिलितास्तु तेऽष्टादश, तत्र स्वभोग्यतया समासादिताः शब्दादयः पञ्च अन्यैर्देवैर्नाश्यमानाः स्वरूपेण कोपनीया भवन्ति, वाच्यादयोऽपि परैर्मन्त्रौषध्यादिना प्रतिक्रियमानाः स्वरूपेण कोपनीया भवन्ति, अणिमादयोऽपि देवैः परस्परमधिकाऽधिकसामर्थ्यैरभिभूयमानाः स्वरूपेण कोप-  
नीया द्वेषविषया भवन्ति, तत्र तत्र तत्स्वरूपनाशे द्वेषो जायते—यथा 'मङ्गो ग्यो दिव्यशब्दः स्वरूपेण मा नङ्क्षीत्, स्पर्शो मा नङ्क्षीत्, रूपं मा नङ्क्षीत्, रसो मा नङ्क्षीत्, गन्धो मा नङ्क्षीत्, सर्वभूतभाषाभिः भाष्यार्थानां ज्ञानं मा निरुध्यताम्, आदेयं स्रगादिकं मा नङ्क्षीत्, विहार्यमास्तरणमन्दिरादिकं मा उपरुध्यताम्, उत्सृज्यं मा प्रतिक्रियताम्, आनन्द्यं मा वियुज्यतामिति, एवं अणिमा मा नङ्क्षीत्, महिमा मा नङ्क्षीत्, लघिमा मा नङ्क्षीत्, गरिमा मा नङ्क्षीत्, प्राप्तिमा नङ्क्षीत्, प्राकाम्यं मा नङ्क्षीत्, व्रशित्वं मा नङ्क्षीत्, ईशित्वं मा नङ्क्षीत्,—इत्येवमेतेषां स्वरूपना-  
शादौ द्वेषः—अष्टादशधा विभियते । एवमस्मदादीनाम्—अदिव्येषु शब्दादिपञ्च-  
विषयेषु वाच्यादिषु पञ्चसु ऊहाद्यष्टैश्वर्येषु च तत्तत्स्वरूपे द्वेषोऽष्टादशधा बोध्यः । भवति चाऽन्यत्रापि दृष्टानुश्रविकादौ जिघांसात्मकोऽपि द्वेषो बहुविध इति ॥ अथ 'अन्धतामिस्रः'—अभिनिवेशाख्यः पञ्चमः पर्वोऽपि 'तथा'—अष्टादशधा भवति । कुतः ?, तस्याप्यष्टादशविषयविषयकत्वात्, देवादयः 'भोग्या शब्दादयो वाच्यादयो-  
ऽणिमादयश्चास्माकमसुरादिभिर्मा उपघानिषत्'—इति बिभ्यति—यथा 'दिव्यः शब्दो मा उपघानिषत्, स्पर्शो मा उपघानिषत्, रूपं मा उपघानिषत्, रसो मा उपघानि-  
षत्, गन्धो मा उपघानिषत्, मन्त्रादिना भाष्यार्थज्ञानं मा उपघानिषत्, आदेयं मा उपघानिषत्, विहार्यं मा उपघानिषत्, उत्सृज्यं मा उपघानिषत्, आनन्द्यं मा उपघानिषत्, अणिमा मा उपघानिषत्, महिमा मा उपघानिषत्, लघिमा मा उप-  
घानिषत्, गरिमा मा उपघानिषत्, प्राप्तिः मा उपघानिषत्, प्राकाम्यं मा उपघा-  
निषत्, व्रशित्वं मा उपघानिषत्, ईशित्वं मा उपघानिषत्,—इति अष्टादशधा त्रासोऽपि असुरादिनिमित्तको विकल्प्यते । भवति चाऽन्योऽपि त्रासः प्राणिमात्रस्य 'मा न भूवं' 'भूयासमिति' । त एते पञ्चविधविपर्ययस्य विकल्पा द्वाषष्टिरिति दर्शि-  
ताः । यथाकल्पनं तु मृदुमध्यतीव्रादिभेदाद्बहुधेति ॥ ४८ ॥

अशक्तेरष्टाविंशतिभेदानाह—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।

सप्तदशवधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥



अशक्तिर्बुद्धिधर्मः, -अतएवाऽशक्तिरष्टाविंशतिबुद्धिवधात्मकोद्दिष्टा, -कथिता सां-  
ख्याचार्यैः । तत्र चैकादशेन्द्रियाणां वधाः—कुण्ठितभावाः, सप्तदश च बुद्धिवधाः,  
मिलित्वा भवन्त्यष्टाविंशतिवधा इति । यद्यपीन्द्रियवधास्त्विन्द्रियधर्मो न तु बुद्धे-  
स्तेन सप्तदशवधा एव बुद्धेर्भवितुमर्हन्ति, तथापि—इन्द्रियाणां वधेषु सत्सु—एकाद-  
शविधानां बुद्धिवृत्तीनां वधा भवन्ति, अत एकादशविधबुद्धिवृत्तिवधानां हेतुत्वेने-  
न्द्रियवधा अपि स्वप्रयोज्यवत्त्वसम्बन्धेन बुद्धावुपसङ्क्रान्ता बुद्धिवधा इत्युपचर्यन्ते ।  
ते च यथा—“वाधिर्यं कुष्ठिताऽन्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा । मूकता कौण्ठिक्यपङ्गुत्वे  
क्लेश्योदावर्तमन्दताः” —यथासङ्ख्यम्—श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादोप-  
स्थपायुमनसां वधा विज्ञेया इति । तथा चैकादशहेतुकत्वादेकादशविधाऽशक्तिर्बुद्धधेः  
स्ववृत्तिव्यापारेषु भवतीति । एवमष्टसिद्धीनां नवतुष्टीनाञ्च विपर्ययाद् बुद्धधेः सप्त-  
दश वधा भवन्ति, -यथाहि—तुष्टीनां वधाः—अतुष्टयः, अतुष्टीनां ज्ञानं तुष्ट्यात्मकप्रति-  
योगिज्ञानसापेक्षं भवति, अतएव विस्तरतोऽग्रिमकारिकाविवेचनाऽवसरे व्याख्यास्य-  
मानानामपि तुष्टीनां दिङ्मात्रस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकमत्राऽतुष्टीनां स्वरूपनिरूपणं क्रियते ।  
तद्यथा—‘भवति प्रकृतिर्मोक्षप्रदा’ इति प्रतीतिः ‘प्रकृति’ नाम्नी तुष्टिस्तस्या विपर्ययो  
‘नास्ति प्रकृतिर्मोक्षप्रदा’ इति प्रतीतिः प्रथमाऽतुष्टिः ‘अप्रकृतिः’—इत्यभिधाना, सोऽयं  
प्रथमो बुद्धिवधः । भवति ‘बुद्धितत्त्वं मोक्षप्रद’ मिति प्रतीतिः ‘उपादान’ नाम्नी तुष्टि-  
स्तस्या विपर्ययो ‘नास्ति महत्तत्त्वं मोक्षप्रद’ मिति प्रतीतिर्द्वितीयाऽतुष्टिः—‘अनुपा-  
दान’ नाम्नी, सोऽयं द्वितीयो बुद्धिवधः । भवति ‘तन्मात्रमनोऽहङ्कारलयकालीनं  
पदार्थतत्त्वज्ञानयुक्तं बुद्धितत्त्वं मोक्षप्रद’ मित्येवं कालं विशिष्य प्रतीतिः ‘काल’-  
नाम्नी तुष्टिस्तस्या विपर्ययो ‘न भवति तत्कालीनमपि पदार्थतत्त्वज्ञानयुक्तं बुद्धि-  
तत्त्वं मोक्षप्रद’ मिति प्रतीतिः ‘अकाला’ऽभिधाना तृतीयाऽतुष्टिः, सोऽयं तृतीयो  
बुद्धिवधः । ‘अस्ति भाग्यमेव मोक्षप्रद’ मिति प्रतीतिः ‘भाग्य’ नाम्नी तुष्टिस्तस्या  
विपर्ययो ‘नास्ति भाग्यमपि मोक्षप्रद’ मिति प्रतीतिश्चतुर्थतुष्टिः ‘अभाग्या’ऽभिधाना, -  
सोऽयं चतुर्थो बुद्धिवधः । ता एताश्चतस्र आध्यात्मिक्योऽतुष्टयो बोध्याः । बाह्यास्तु  
पञ्च, -यतोहि—बाह्या मुख्याः शब्दादयः पञ्च विषयाः सन्ति तानधिकृत्य भवन्ति,  
तस्मात् बाह्याः पञ्च, -यथाहि—‘सर्वोत्तमदिव्याऽदिव्योभयविधशब्दोपभोग-तत्साधन-  
धनादिषु दोषबाहुल्यदर्शनेन शब्दविषयकोपभोगाद्विरक्तस्य शान्ता वृत्तिः, सेयं ‘श-  
ब्दोपरम’ नाम्नी तुष्टिस्तस्या विपर्ययः—‘सर्वोत्तमदिव्याऽदिव्योभयविधशब्दोपभोग-  
तत्साधनधनादिषु सुखदगुणबाहुल्यदर्शनेन शब्दविषयोपभोगाऽऽतुरा तृष्णामयी  
वृत्तिः, सेयं ‘शब्दानुपरम’ नाम्नी पञ्चम्यतुष्टिः, सोऽयं पञ्चमो बुद्धिवधः । सर्वोत्तमदि-  
व्याऽदिव्योभयविधस्पर्शाऽऽलिङ्गनोपभोग--तत्साधनधनादिषु दुःखदोषबाहुल्यद-  
र्शनेन स्पर्शविषयोपभोगाद्विरक्तस्य शान्ता वृत्तिः, सेयं ‘स्पर्शोपरम’ नाम्नी तुष्टिस्त-

स्या विपर्ययः 'सर्वोत्तमदिव्याऽदिव्योभयविधस्पर्शाऽऽलिङ्गनोपभोग-तत्साधनधना-  
दिषु सुखदगुणबाहुल्यदर्शनेन स्पर्शाऽऽलिङ्गनविषयोपभोगाऽऽतुरा तृष्णामयी वृत्तिः,  
सेयं 'स्पर्शाऽनुपरम'नाम्नी पष्ठ्यतुष्टिः, सोऽयं षष्ठो बुद्धिवधः । सर्वोत्तमदिव्याऽदि-  
व्योभयविधरूपनृत्याद्युपभोग-तत्साधनधनादिषु दुःखदोषबाहुल्यदर्शनेन रूपनृत्या-  
दिविषयोपभोगाद्विरक्तस्य शान्ता वृत्तिः' सेयं 'रूपोपरम'नाम्नी तुष्टिस्तस्या विपर्ययः  
'सर्वोत्तमदिव्याऽदिव्योभयविधरूपनृत्याद्युपभोगतत्साधनधनादिषु सुखदगुणबाहु-  
ल्यदर्शनेन रूपनृत्यादिविषयोपभोगाऽऽतुरा तृष्णामयी वृत्तिः-सेयं 'रूपानुपरम'-  
नाम्नी सप्तम्यतुष्टिः, सोऽयं सप्तमो बुद्धिवधः । सर्वोत्तमदिव्याऽदिव्योभयविधरति-  
मधुरादिरसोपभोग-तत्साधनधनादिषु दुःखदोषबाहुल्यदर्शनेन रतिरसमाधुर्यादि-  
भोगाद्विरक्तस्य शान्ता वृत्तिः, सोऽयं 'रसोपरम'नाम्नी तुष्टिस्तस्या विपर्ययः- 'सर्वो-  
त्तमदिव्यादिव्योभयविध-रति-मधुरादिरसोपभोग-तत्साधनधनादिषु सुखदगुणबाहु-  
ल्यदर्शनेन-रतिमधुरादिरसोपभोगाऽऽतुरा तृष्णामयी वृत्तिः-सेयं 'रसानुपरम'नाम्नी-  
अष्टम्यतुष्टिः, सोऽयमष्टमो बुद्धिवधः । सर्वोत्तमदिव्याऽदिव्योभयविधगन्धोपभोग-  
तत्साधनधनादिषु दुःखदोषबाहुल्यदर्शनेन गन्धविषयोपभोगाद्विरक्तस्य शान्ता  
वृत्तिः सेयं 'गन्धोपरम'नाम्नी तुष्टिस्तस्या विपर्ययः- 'सर्वोत्तमदिव्याऽदिव्योभय-  
विधगन्धोपभोग-तत्साधनधनादिषु सुखदगुणबाहुल्यदर्शनेन गन्धसौरभादिविषयो-  
पभोगाऽऽतुरा तृष्णामयी वृत्तिः-सेयं 'गन्धानुपरम'नाम्नी नवम्यतुष्टिः, सोऽयं  
नवमो बुद्धिवधः इति । तथा च 'प्रकृत्युपादान-काल-भाग्य-शब्दोपरम-स्पर्शोपरम-  
रूपोपरम-रसोपरम-गन्धोपरम-संज्ञकानां नवतुष्टीनां विपर्ययाद् 'अप्रकृत्य-उपादाना-  
ऽकाला-ऽभाग्य-शब्दानुपरम-स्पर्शानुपरम-रूपानुपरम-रसानुपरम-गन्धानुपरम-संज्ञ-  
कानवाऽतुष्टयो भवन्तीति । अथवा 'अम्मः-सलिलौ-घ-वृष्टि-पार-सुरार-पारापारा-ऽनु-  
त्तमाम्भ-उत्तमाम्भः-संज्ञकानां नवतुष्टीनां विपर्ययात् 'अनम्भो-ऽसलिला-ऽनोघा-ऽ-  
वृष्ट्य-पारा-ऽसुपारा-ऽपारापारा-सूतमाम्भो-ऽनुत्तमाम्भः-संज्ञका नवा-ऽतुष्टय इति ॥  
अथवा- 'सुवर्णानिलाऽमनोज्ञा-दृष्टि-परा-ऽसुपरा-सुनेत्रा-ऽवसुनाडिको-त्तमाम्भसिका-  
संज्ञकानां नवतुष्टीनां विपर्ययात्- 'असुवर्णा-ऽनिला-मनोज्ञा-ऽदृष्ट्य-परा-सुपरा-ऽसुनेत्रा-  
वसुनाडिका-ऽनुत्तमाम्भसिका-संज्ञका नवाऽतुष्टयो भवन्तीति ॥ इमाः तुष्टिव्याख्यानात्  
तद्विपरीततया तत्रैवाऽवगन्तव्याः ॥ सिद्धिज्ञानसापेक्षमसिद्धिज्ञानमित्यतः सङ्क्षे-  
पतः सिद्धिस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकमसिद्धयः प्रदर्श्यन्ते । अथाऽष्टसिद्धीनां वधा यथा-  
अध्ययनेन प्राक्तनीयसंस्कारवशात् यत्किञ्चित्त्वज्ञानाऽऽविर्भावः 'अध्ययन'मित्य-  
भिधाना सिद्धिस्तस्या विपर्ययः 'अध्ययनं विना पदार्थतत्त्वज्ञानाऽविर्भावः 'अन-  
ध्ययन'मित्यभिधानाऽसिद्धिर्बुद्धिवधः प्रथमः । शास्त्रगतशब्दार्थश्रवणमात्रादुत्पन्नं  
तत्त्वज्ञानं 'शब्दः'-इत्यभिधाना सिद्धिस्तद्विपर्ययः- 'अन्यतोऽर्थशब्दादिश्रवणं विना



पदार्थतत्त्वज्ञानाऽनाविर्भावः--'अशब्दः'-इत्यभिधानाऽसिद्धिः, सोऽयं द्वितीयो बुद्धि-  
वधः । 'आगमाऽविरोध्यूहनेन जायमानं तत्त्वज्ञानं 'ऊहः'-इत्यभिधाना सिद्धिस्त-  
द्विपर्ययः--'आगमाऽविरोध्यूहनेन 'विना तत्त्वज्ञानाऽनाविर्भावः--'अनूहः'-इत्यभि-  
धानाऽसिद्धिः, सोऽयं तृतीयो बुद्धिवधः । पदार्थतत्त्वज्ञानवतां सुहृदां सन्निधियो-  
गात् स्वस्य जायमानं तत्त्वज्ञानं 'सुहृत्प्राप्ति'रित्यभिधाना सिद्धिस्तद्विपर्ययः--  
'तादृशसुहृदां सन्निधिं विना तत्त्वज्ञानाऽनाविर्भावः--'असुहृत्प्राप्तिः'-इत्यभिधा-  
नाऽसिद्धिः, सोऽयं चतुर्थो बुद्धिवधः । प्राक्तनसंस्कारप्रभावात् स्वस्य सर्वदा वर्त-  
मानं स्वच्छप्रवाहाऽवस्थितं शुद्धं तत्त्वज्ञानं 'दान'-नाम्नीसिद्धिस्तस्या विपर्ययः  
'शुद्धतत्त्वज्ञानस्याऽनाविर्भावः 'अदान'मित्यभिधानाऽसिद्धिः पञ्चमो बुद्धिवधः ।  
'आध्यात्मिकदुःखाऽभावः'-इत्यभिधाना सिद्धिस्तद्विपर्ययः 'आध्यात्मिकदुःखसत्ता'-  
नाम्नी असिद्धिः षष्ठो बुद्धिवधः । 'आधिभौतिकदुःखाऽभावः'-इत्यभिधाना सिद्धिस्त-  
स्या विपर्ययः--'आधिभौतिकदुःखसत्ता'नाम्न्यसिद्धिः सप्तमो बुद्धिवधः । 'आधिदै-  
विकदुःखाऽभावः'इत्यभिधाना सिद्धिस्तस्या विपर्ययः--'आधिदैविकदुःखसत्ता'-इत्य-  
भिधानाऽसिद्धिः--सोऽयमष्टमो बुद्धिवधः-इति ॥ त इमेस्वरूपतो बुद्धिवधा बोध्याः ।  
तथा च-'अध्ययनशब्दोऽसुहृत्प्राप्तिदानाऽऽध्यात्मिकदुःखाऽभावाऽऽधिभौतिकदुःखा-  
ऽभावाऽऽधिदैविकदुःखाऽभावाऽभिधानानामष्टसिद्धीनां विपर्ययाद्-अनध्ययनाऽश-  
ब्दाऽनूहाऽसुहृत्प्राप्त्यदानाऽऽध्यात्मिकदुःखसत्ताऽऽधिभौतिकदुःखसत्ताऽऽधिदैविक-  
दुःखसत्तासंज्ञका अष्टावसिद्धयो भवन्तीति॥ केचिच्च 'तार-सुतार-तारतार-रम्यक-स-  
दामुदित-प्रमोद-मुदित-मोदमानाऽभिधानानां सिद्धीनां विपर्ययात् 'अताराऽसुतारा-  
ऽतारताराऽरम्यकाऽसदामुदिताऽप्रमोदाऽमुदिताऽमोदमाना अष्टावसिद्धयः-इत्यभि-  
धानैर्विवेचयन्ति ॥ अथवा-अणिम-महिम-लघिम-गरिम-प्राप्तिप्राकाम्यवशित्वेशित्वा-  
ख्यानां सिद्धीनां विपर्ययाद्-अनणिमाऽमहिमाऽलघिमाऽगरिमाऽप्राप्त्यप्राकाम्याऽवशि-  
ष्टाऽनीशित्वाख्या अष्टावसिद्धयो बुद्धिवधाख्या अनुष्टयो बोध्या इत्यपि वदन्ति॥४९॥

‘तुष्टिर्नवधे’त्युक्तम् । तत्र च तुष्टयः —

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याऽऽख्याः, ।

बाह्या विषयोपरमात्पञ्च, नव तुष्टयोऽभिमतताः ॥ ५०॥

तुष्टिस्वरूपाणि विस्तरशो निरूप्यन्ते । भवति हि प्रकृत्यादिभिन्नत्वेनाऽऽत्मनः  
साक्षात्कारो मोक्षोपायः । प्रकृत्यादिचतुर्विंशतितत्त्वाऽतिरिक्त आत्मास्तीति प्रति-  
पद्य ततोऽस्य श्रवणमननादिना विवेकसाक्षात्काराय तु केनचिदसदुपदिष्टः सन् यो  
न प्रयतते, तस्याऽऽध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयो भवन्तीति, प्रकृत्यादिव्यतिरिक्तमात्मानम-  
धिकृत्य यस्मात्ताः संभवन्त्यत एवाऽऽध्यात्मिक्यस्तुष्टय इति ॥ ताश्च 'प्रकृत्युपादान-

कालभाग्याऽऽख्याश्चतस्र' इति ॥ तत्र प्रकृत्याख्या तुष्टिर्यथा-मोक्षार्थमात्मनि जिज्ञासिते सति केनचिदुपदिष्टं 'विवेकसाक्षात्कारो हि मोक्षः स च प्रकृतेः परिणामविशेषः, तच्च प्रकृतिरेव करोति, कृतमात्मनो ध्यानाभ्यासेन, तस्मादात्मनो ध्यानाभ्यास-प्रयासं विहाय शान्ततयैवमेवाऽऽस्व वत्स,'-इत्येवमुपदेष्टव्यस्य शिष्यस्य या प्रकृतौ तुष्टिः-विवेकसाक्षात्कारप्रदत्वसन्तोषः,-सा 'प्रकृति'नाम्नी तुष्टिरुच्यते । तदनन्तरं पुनरुपदिशति यत् 'विवेकसाक्षात्कारः प्रकृतिधर्मोऽपि प्रकृतिः सर्वानात्मनः प्रति साधारणा, अत एव विवेकख्यातिं करिष्यति चेत् !-गृहिभ्यो वान-प्रत्येभ्यः सर्वेभ्यः प्रत्येकेभ्यो वा समर्पयिष्यतीति तन्निर्णयाऽनियमेनाऽनियता विवेकख्यातिरापद्येत, तस्माद्विवेकसाक्षात्कारस्य साक्षात्कारणं तदुपादानात्मकं बुद्धि-तत्त्वं प्रत्येकं यं यमात्मानं प्रति नियतं, तत्र बुद्धितत्त्वे तेनाऽऽत्मना पदार्थतत्त्व-ज्ञानाभ्यासः कर्तव्यः, येन पदार्थतत्त्वज्ञानाभ्याससहकृतं स्वच्छं बुद्धितत्त्वं द्रागेव विवेकसाक्षात्कारं करोति, कृतमात्मनो ध्यानाभ्यासेन, तस्मादात्मनो ध्यानाभ्यास-प्रयासं विहाय बुद्धितत्त्वमात्रं चिन्तयन् शान्ततयैवमेवाऽऽस्व वत्स !' इति, तथा च सति शिष्यस्य या बुद्धौ तुष्टिः-विवेकसाक्षात्कारप्रदत्वसन्तोषः, सा-उपादाना-भिधाना द्वितीया तुष्टिरुच्यते । एवं 'पदार्थतत्त्वज्ञानविशिष्टमपि बुद्धितत्त्वं सद्यो न भवति तत्त्वसाक्षात्कारसम्पादकम्, पदार्थतत्त्वज्ञानसहितेऽपि बुद्धितत्त्वे यदा तन्मात्रमनोऽहङ्काराणां लयः स्यात्, तस्मिन् काले प्राप्ते सति द्रागेव विवेकसाक्षात्कारो भविष्यति, अतएव तावत्कालप्राप्तिपर्यन्तं शान्ततया एवमेवाऽऽस्व वत्स?, मा भवाऽऽकुलः, अलं चाऽऽत्मनो ध्यानाभ्यासादिप्रयासेन,'-इत्युपदेशे सति काले विश्वस्तः सन् तिष्ठति, सा 'काला'ऽऽख्या तृतीया तुष्टिरुच्यते । एवं यदि स्वस्य आगये विवेकसाक्षात्कारः स्यात् तदैव बुद्धौ तन्मात्रमनोऽहङ्काराणां लयः स्यात्, स्याच्च तदैव पदार्थतत्त्वज्ञानम्, तेन च विवेकसाक्षात्कारोऽपि स्यात्, तस्माद्भाग्यमेव तत्र कारणम्, न केवलात्प्रकृतितत्त्वान्न वा बुद्धितत्त्वतो न वा तन्मात्रादिलयकालाऽवधितो विवेकसाक्षात्कारो भवति, तस्मादलं ते स्वाऽऽत्मध्यानादिप्रयासेन, कृतं ते तत्त्वज्ञानेन, अलं च तन्मात्रमनोऽहङ्कारलयकालाऽपेक्षया,'-इत्युपदेशे सति विवेकसाक्षात्कारप्रदं भाग्यमेवेत्यध्यवस्यतः सन्तोषं विन्दतो या तुष्टिः-सा 'भाग्या'ऽऽख्या उच्यते, सेयं चतुर्थी तुष्टिरिति ॥ 'बाह्याः-विषयोपरमाः पञ्च' इति विषयेभ्य उपरमाः सन्तोषा इति यावत् ॥ अनात्मानः प्रकृतिमहदहङ्कारादीन् स्वात्म-स्वरूपात्मकानेवाऽभिमन्यमानस्य 'अहमात्मस्वरूपज्ञो विषयेभ्यो विरक्त' इति निश्चयवतः- "शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु भोग्येषु प्रधानविषयाऽऽत्मकेषु प्रापणीयेषु धनं मुख्यं साधनम्, यतो धनिन एव धनद्वारा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानुत्तमोत्तमविषयानासाद्य तेषां भोगान् कुर्वन्तीति, तस्माद् द्रव्यमवश्यमुपार्जनीयम्, किन्तु द्रव्यो-



पार्जने ब्रह्मो दोषा विद्यन्ते-यथा-भृत्यवृत्ति-नृपतिचौराद्यापत्ति-भोगक्षय-हिंसाऽ-  
नीति-कापट्याऽऽचरण-पापकर्मप्रवृत्ति-मदोन्मत्तादयोः, तद्यथा लक्ष्मीप्राप्त्यर्थं भृत्या-  
दिव्यवसायसाध्यसेवात्मकं सतिरस्कृतिकर्म दुःखदं भवति, व्यापारादिना च लक्ष्म्या  
त्रिपुले लाभे सति राज्ञा चौरादिना वा तदपहरणं महद्दुःखदं भवति, द्रव्यरक्षणे कृते  
सत्यपि कदाचिच्चौरादिकृततदपहरणसमये संग्रामनिमित्ता स्वपरमरणात्मिका  
हिंसा भवति, अथवा द्रव्यलाभे सति मांसमदिरादिसेवनप्रवृत्तौ सत्यां प्राणिहिंसनं  
भवति, महताऽऽयासेनाऽर्जितं धनं भोगेन तु द्रागेव विनष्टं भवति, द्रव्योपार्जनार्थं  
वाऽनेकविषयप्रयत्नविक्रयव्यवहारेऽसत्यवचन-कापट्यतुलामानाद्यनीत्याचरणं भव-  
ति, द्रव्यलाभे च व्यभिचारादिपापकर्मप्रवृत्तिर्भवति, लक्ष्मीमदेन अभीतः सन् मदो-  
न्मत्ततया दीनकातरजनानामवमानतिरस्कृत्यादिकं करोति, तेन तेषां हृदयगत-  
दुःखप्रयुक्तनिःश्वासमोचनपूर्वकशापादिना स्वस्य महत्यधोगतिर्भवति । इत्येव-  
मनेके दोषास्तावद् धनोपार्जने विद्यन्ते”-इति विचारयतः पुरुषस्य पञ्चविषयेषु  
पञ्च वैराग्या भवन्ति, पञ्चवैराग्यैश्च पञ्चसन्तोषा भवन्ति, त एव तुष्ट्यभिधानाः-  
बाह्यपञ्चविषयविषयकत्वाद् बाह्योपरमाः पञ्च तुष्टय इति । तद्यथा-‘कर्णेन श्राव-  
णविषयेऽमृततरङ्गमाधुर्यमप्यधरीकृत्य मिष्टां स्रवतां-निपादपभ-गान्धार-पड्ज-  
मप्यम-धैवत-पञ्चमेतिसप्तस्वराणां कलमन्दगम्भीरतरधारातरङ्गैः सह स्वकीयमन्यर-  
गम्भीरगितिस्वरभङ्गान् मिश्रयन्तोनां-त्रिणा-विपञ्ची-सप्तताल-मथूरतन्त्री-मुरलि-  
मृदङ्गादिशब्दस्वरैकतालमुपनयन्तीनां रागरागिणोगानचातुर्यगर्विततरुणीनां गाय-  
नमाकर्ण्यैव भवति शब्दश्रवणविषयिणी तृप्तिः, किन्तु तादृशगायनसाधनकूटसम्पा-  
दने विद्यते बहुतरधनस्याऽपेक्षा, धनार्जने च भवन्ति-भृत्यवृत्ति-नृपचौराद्यापत्ति-  
भोगक्षय-हिंसाऽनीति-कापट्याचरण-पापकर्मप्रवृत्ति-मदोन्मत्तादयो दोषा, तैश्चाऽ-  
धोगतिर्भवतीति’-सम्यग्विचारयतः पुरुषस्य शब्दश्रवणे वैराग्याद् भवति शब्द-  
श्रवणाऽविषयिणी शान्ता वृत्तिः, सेयं ‘शब्दोपरमा’ऽभिधाना पञ्चमो तुष्टिरुच्यते ।  
एवं ‘स्पर्शनविषये अमृतसमशीतलतेजःकिरणप्रभाप्रसरितप्रकाशमप्यधरीकृत्याऽव-  
स्थितां शरीरप्रभां प्रकाशयन्तीनां सौम्यसमप्रकलासङ्कलितचन्द्रनिम्बसौभाग्यज्ञो-  
भामप्यधरीकुर्वद्यत् स्मितहास्यं तेन स्फुटीभवद्दन्तपङ्क्तिधवलताऽभिव्यासवर्तुलमु-  
खवतीनां सुस्तनजङ्घाऽङ्गप्रत्यङ्गव्यूहविरचितानां तनुकटिमत्कामिनीनां सूक्ष्मस-  
सायकाऽनङ्गानन्दोऽनुभवसहकृतं कोमलसर्वाङ्गस्पर्शसम्भोगमनुभूयैव भवति स्पर्शा-  
द्विषयविषयिणी तृप्तिः, -किन्तु तादृशस्पर्शनविषयसाधनकूटसम्पादने विद्यते बहु-  
विधधनस्याऽपेक्षा, धनार्जने च भवन्ति पूर्वाक्ता भृत्यवृत्त्यादिदोषाः, तैश्चाऽधोगति-  
र्भवतीति’-सम्यग्विचारयतः पुरुषस्य सस्पर्शाऽङ्गसम्भोगे वैराग्याद् भवति सस्पर्शा-  
ऽङ्गसम्भोगाऽविषयिणी शान्ता वृत्तिः, ‘सेयं’स्पर्शोपरमा’ऽभिधाना षष्ठी तुष्टिरुच्यते ।

रूपादिविषये 'अमृतसमशीतलमेघमुक्तोद्विन्दुवृष्टिसहितगम्भीरगर्जनाश्वनिश्रवणमा-  
त्रानम्यूरैर्विरचितं नृत्यमधरीकृत्य नर्तनविधिं सम्पादयन्तीनां द्वितीयेन्दुवक्त्रभूल-  
ताभङ्गसहकृतसकजलचक्षुःपुटनेनकटाक्षबाणभङ्गं विन्यस्यन्तीनां नृत्यगीततालैकता-  
ऽऽपन्नताण्डवभावं भजन्तीनां तेजस्वितरुणकोमलाऽङ्गकलिकां निरावरणां विदधतीनां  
रूपवतीनां नवतरुणीनर्तकीनां नाट्यगतनृत्य-रूपादिकमनुभूयैव भवति रूपादिचा-  
क्षुषविषयविषयिणी वृत्तिः, किन्तु तादृशचाक्षुषविषयसाधनकूटसम्पादने विद्यते बहु-  
विधधनस्याऽपेक्षा, धनार्जने च भवन्ति पूर्वोक्ता भृत्यवृत्त्यादिदोषाः, तैश्चाऽधोग-  
तिर्भवतीति'-सम्यग् विचारयतः पुरुषस्य चाक्षुषविषये वैराग्याद् भवति रूपनृ-या-  
द्युपभोगाऽविषयिणी शान्ता वृत्तिः, सेयं 'रूपोपरमा'ऽभिधाना लक्ष्मी तुष्टिरुच्य-  
ते । रसविषये 'अमृतसमस्वाददिष्टमधुराऽम्बललवणतिकादिरसान्वितभोज्यादिस्वाद-  
मधरीकृत्याऽवस्थितं अधरविम्बरसाऽऽस्वादनसहिताऽऽननचुम्बनरसस्वादं प्रादुर्भा-  
वयन्तीनां प्रमदानां भोगपूर्वकं विविधमधुरादिरसाऽन्वितमक्षयभोज्यलेहयचोक्षयेति-  
चतुर्विधभोजनपानविलासादीनाञ्च रसभोगमनुभूयैव भवति रसविषयिणी वृत्तिः,  
किन्तु तादृशरासनभोगसाधनसंहतिसम्पादने विद्यतेऽत्यन्तधनाऽपेक्षा, धनार्जने  
च भवन्ति पूर्वोक्तभृत्यवृत्त्यादिदोषाः, तैश्चाऽधोगतिर्भवतीति'-सम्यग् विचार-  
यतः पुरुषस्य रसविषये वैराग्याद् भवति रसरत्याद्युपभोगाऽविषयिणी शान्ता वृ-  
त्तिः, सेयं 'रसोपरमा'ऽभिधानाऽष्टमी तुष्टिरुच्यते ॥ गन्धविषये 'अमृतमुवनवा-  
सीन्द्रोद्यानगतपुष्पसुगन्धमधरीकृत्य वर्ततां-केसर-तमालाऽगुरुचन्द्रन-कर्पूर-कस्तु-  
र्यत्तर-मालतीलतादिकुसुमानां सुगन्धान्वितस्य भोग्यशय्यास्तरणस्य तद्गतकुसुम-  
मालादेश्च भोगमनुभूयैव भवति गन्धविषयिणी वृत्तिः, किन्तु तादृशगन्धविषयभो-  
गसाधनसंहतिसम्पादने विद्यते बहुतरधनाऽपेक्षा, धनाऽर्जने च भवन्ति भृत्यवृ-  
त्त्यादिदोषाः, तैश्चाऽधोगतिर्भवतीति'-सम्यग् विचारयतः पुरुषस्य गन्धविषय-  
कोपभोगे वैराग्याद् भवति गन्धविषयोपभोगाऽविषयिणी शान्ता वृत्तिः, सेयं  
'गन्धोपरमा'ऽभिधाना नवमी तुष्टिरुच्यते-इति । तथा च 'प्रकृत्युपादान-काल-  
भाग्य-शब्दोपरम-स्पर्शोपरम-रूपोपरम-रसोपरम-गन्धोपरम-संज्ञका नव तुष्टयः ॥ अथ  
व्याख्यान्तरम्-'विवेकसाक्षात्कारं प्रकृतिरेव करोतीति प्रकृतौ तुष्टिः 'अम्भः'-इत्यु-  
च्यते, संसारमज्जनहेतुत्वेनाऽम्भसः साम्यात् ॥ विवेकसाक्षात्कारो प्रव्रज्यया भव-  
तीति प्रव्रज्यायां तुष्टिः 'सलिल'मित्युच्यते, इयं संसरणनिमित्तत्वात् 'सलिल'-  
मित्युच्यते सृधातोरिरन्प्रत्यये 'सरिरम्' रलयोरभेदात्सलिलमिति ॥ नियते काले  
समुपस्थिते सति विवेकख्यातिर्भवति नाऽन्यथेति काले तुष्टिः 'ओषः'-इत्युच्यते,  
कालप्रतीक्षायाः अर्दकत्वात् 'ऊहिर'-अर्दने-इत्यस्माद्धातोर्निष्पत्तेः ॥ विवेकख्या-  
तिस्तु भाग्यादेव भवति नाऽन्यथेति भाग्ये तुष्टिः 'वृष्टिरित्युच्यते, -वर्षति अकस्मात्



विवेकख्यातिर्यस्मादित्युत्पत्तेः ॥ विषयसुखसाधनस्य धनस्याऽर्जनोपायाः सेवा-  
दयः कष्टा इति—अर्जनदुःखनिमित्तं विषयोपरमे सति तुष्टिः 'पार'मित्युच्यते,  
धनार्जनदुःखस्य पारंप्रापयितृत्वात् ॥ अर्जितधनस्य चौरादिभ्यो रक्षणं महद्दुःख-  
मिति रक्षणदुःखनिमित्तं विषयोपरमे सति तुष्टिः 'सुपार'मित्युच्यते, अतितरंदुः-  
खपारं प्रापयितृत्वात् ॥ उपार्जितधनं भुज्यमानं क्षीयते-इत्यपि महद्दुःखमिति क्षय-  
दुःखनिमित्तं विषयोपरमे सति तुष्टिः 'पारापारमि'त्युच्यते, क्षयं भावयतोऽपि  
क्वचिद्विषयप्रवृत्तेर्दुःखस्याऽपारात् क्वचिदप्रवृत्तेश्च दुःखस्य पारात् ॥ भोगेन वर्धिताः  
कामा विषयाऽलाभे दुःखाकुर्वन्तीति भोगदुःखनिमित्तं विषयोपरमे सति तुष्टिः  
'अनुत्तमाम्भः'—इत्युच्यते, विषयेभ्यः पुरुषं जलवद् द्रवन्त्यपि 'न उत्तमा द्राविका'—  
इति ॥ विषयभोगा मांसादिभक्षणाद्यधीना इति हिंसादुःखनिमित्तं विषयोपरमे  
सति तुष्टिः 'उत्तमाम्भः'— इत्युच्यते, कारुण्येन उत्तमस्याऽऽर्द्राभावस्य प्रापकत्वात्  
॥ इति ॥ अथाऽन्यदपि व्याख्यानम्—'अस्ति प्रधानं मोक्षदमिति तुष्टिः 'सुवर्णा'-  
उच्यते, त्रिवर्णायां प्रकृतौ मोक्षस्य सुष्ठुत्पत्तेः । अस्ति महत्तत्त्वं मोक्षदमिति तुष्टिः  
'निला' उच्यते, लयशीले महत्तत्त्वे तृप्तेः । 'अस्त्यहंकरो मोक्षद इति तुष्टिः 'अमनोज्ञा'  
उच्यते, मनोभिन्ने विषयग्राहिणि अहंकारे तृप्तेः । 'तन्मात्राणि भूतानि च मोक्ष-  
दानीति तुष्टिः 'दृष्टिः' उच्यते, दृष्टभूतादिविषयकत्वात् । धनार्जनं निवृत्तेः तुष्टिः 'परा'  
उच्यते, सन्तोषस्य परमसुखदत्वात् । रक्षणे निवृत्तेः तुष्टिः 'असुपरा'—उच्यते, किञ्चिन्-यू-  
नसुखदत्वात् । धनक्षयदोषदर्शने सति निवृत्तेः तुष्टिः 'सुनेत्रा' उच्यते, दोषदर्शनने-  
त्रवत्त्वात् । भोगे दुःखदर्शनेन निवृत्तेः तुष्टिः 'अवसुनादिका'—उच्यते, मनोबहाना-  
डिकायां मनसो वासात् भोगे तृष्णा भवति तद्विपर्ययात् । हिंसादोषदर्शनेन निवृत्तेः  
तुष्टिः 'उत्तमाम्भसिका' उच्यते, कारुण्येनातीवार्द्राकरणेन जलसाम्यात् ॥ इति ॥ ५० ॥

गौणमुख्यभेदेन सिद्धीराह—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।

दानं च, सिद्धयोऽष्टौ, सिद्धेः पूर्वोऽङ्कशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

ऊहः शब्दोऽध्ययनं सुहृत्प्राप्तिर्दानमाध्यात्मिकदुःखाभाव आधिभौतिकदुःखा-  
भाव आधिदैविकदुःखाभावश्चेत्यष्टौ सिद्धयः । तत्र दुःखविघातास्त्रयो मुख्यप्रयो-  
जनत्वात् मुख्याः सिद्धयः । तदितरास्तु पञ्च गौण्यः । क्रमस्तु प्रथममध्ययनं ततः  
शब्दस्तत ऊहस्ततः सुहृत्प्राप्तिस्ततो दानं ततश्च दुःखविघातास्त्रय इति । अथ  
'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रीयं ब्रह्मनिष्ठं मित्यादिविधिवदध्यात्मवि-  
द्यात्मकतत्त्वज्ञानबोधकशास्त्रस्याऽध्ययनमात्रेण पदार्थतत्त्वज्ञानाद्याविर्भावः—'अध्य-  
यनं'—प्रथमा सिद्धिः । तथाविधशास्त्रस्य श्रवणमात्रेण पदार्थतत्त्वज्ञानाद्याविर्भावः

‘शब्द’-द्वितीया सिद्धिः । तथाविधशस्त्रार्थस्य आगमाऽविरोध्यह्नमात्रेण पदार्थ-  
तत्त्वज्ञानाद्याविर्भावः ‘ऊहः’-तृतीया सिद्धिः । पदार्थतत्त्वज्ञानिनां सहाध्यायिनां  
सहवासेन प्राक्तनसंस्कारोद्भवात् पदार्थतत्त्वज्ञानाद्याविर्भावः ‘सुहृत्प्राप्तिः’-चतुर्थी  
सिद्धिरुच्यते । निरूपणवस्थाने वसतः केवलेन मननादिना प्राग्भवोत्कटसंस्कार-  
वशात् पदार्थतत्त्वज्ञानादेः स्वच्छ-प्रवाहप्रतिष्ठा ‘दानं’-पञ्चमी सिद्धिः, दैर्घ्योपधने-  
इत्यस्माद्वातोर्दानं-पदनिष्पत्तेः । आध्यात्मिकदुःखाभावः षष्ठी सिद्धिः । आधिभौ-  
तिकदुःखाभावः सप्तमी सिद्धिः । आधिदैविकदुःखाभावोऽष्टमी सिद्धिः । इमेदुःखवि-  
घातास्त्रयो यदा ऐकान्तिका आत्यन्तिकाश्च, तदानीं तत्र सिद्धित्वावस्था परिणमन्ती  
मोक्षत्वेन प्रकाशते-इति हृदयम् । अथ व्याख्यानतरम्-गुरुमुखादध्यात्मविद्याना-  
मक्षरस्वरूपग्रहणम्-अध्ययनं-‘तार’मित्युच्यते, संसारतरणस्य प्रथमसोपानत्वात् ।  
‘शब्द’जन्यमर्थज्ञानं ‘सुतार’मित्युच्यते, अर्थज्ञानस्य सुखेन संसारतारकत्वात् ।  
आगमाऽविरोधिन्यायेनार्थपरीक्षात्मकतर्कः-ऊहः ‘तारतार’मित्युच्यते, मननात्म-  
कतर्कस्याधिकतरतारकत्वात् । सुहृद्भिः सतीर्थैः सह संवादेन निणितार्थैश्चदा सुहृ-  
त्प्राप्तिः ‘रम्पक’मित्युच्यते, संवादजनिते निणये श्रद्धायाः रमणीयत्वात् । शुद्धं  
विवेकज्ञानं-दानम्-‘सदासुदित’मित्युच्यते, सदासुदहेतुत्वात्, अथवा धनादिदा-  
नेनाऽऽराधितो ज्ञानी ज्ञानप्रयच्छतीति धनस्य दानं सिद्धिः । आध्यात्मिकदुःखाभावः  
‘प्रमोदः’-इत्युच्यते प्रकर्षेणानन्दप्रदत्वात् । आधिभौतिकदुःखाभावो ‘मुदितः’-इत्यु-  
च्यते, क्वचित् क्वचित्प्राप्तस्याधिभौतिकदुःखस्य योऽभावस्तस्यापि स्मृतस्य क्वचित्  
क्वचित् मोदकत्वात् । आधिदैविकदुःखाभावः ‘मोदमान’इत्युच्यते, चिरं कदाचित्प्रा-  
प्तस्य आधिदैविकदुःखस्याभावोऽपि स्मृतः चिरं कदाचिदेव मोदयतीति ॥ अथाऽन्याश्च  
प्रसिद्धाः सिद्धय ऐश्वर्याणि - अणिम-महिम-लघिम-गरिम-प्राप्ति-प्राकाम्य-वशित्वे-  
शित्वाख्यानि योगजधर्मकानि सन्त्यप्यतिगर्वहेतुकानि नोपादेयतयाऽभिमतानीति ॥  
ऊहादय एव तत्त्वज्ञानहेतुक्यस्तावदुपादेयाः ॥ उपादेयानां सिद्धीनां ‘पूर्वः’-प्रागुक्तो  
विपर्ययाऽशक्तिगुष्ट्याख्यस्त्रिविधः ‘अङ्कशः’-पराकाष्ठागतेर्निरोधकः, अतो विपर्ययाऽ-  
शक्तिगुष्टयो हेया इति ॥ यत्तु-‘पूर्वस्त्रिविधः-ऊहशब्दाध्ययनरूपो मुख्यसिद्धीना-  
माकर्षकोऽङ्कश’इति व्याख्यानम् । यत्तु-अपभ्याख्यानम्, सिद्ध्यन्तर्वर्च्यहादीनां  
सिद्धिपूर्वत्वाऽभावात् ॥ अथाऽन्या अपि विभूतयो बन्धकारिण्यो हेया एवेति ॥ ५१ ॥

अथाऽनागतावस्थभोगाऽपवर्गात्मकपुरुषार्थप्रवर्तितगुणत्रयकृतो बुद्ध्यादिस्थूल-  
भूतान्तः सर्गो द्विधा विभक्तः,—बुद्धिसर्गस्तन्मात्रसर्गश्च, तत्र सेन्द्रियमनोऽहंकारा  
बुद्धिः धर्मादिभावान्वितत्वात् ‘भावसर्ग’इति परिभाष्यते, शब्दादयो त्रिपयाः स्थूलभू-  
तानि स्थूलं सूक्ष्मं च शरीरमिति समुदायात्मकस्तन्मात्रसर्गो ‘लिङ्गसर्ग’-इति परिभा-  
ष्यते, तन्मात्रघटितत्वेनैव बुद्ध्यादीनां लिङ्गशरीरत्वस्य ‘चित्रं यथे’ (४१) तिकारिकया



साधितत्वात् । तदनयोरेकविधसर्गेण पुरुषार्थसिद्धिसंभवे किमुभयसर्गेणेत्यत आह—

न विना भावैर्लिङ्गं, न विना लङ्गेन भावनिवृत्तिः ।

लिङ्गाऽऽख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

अनागतावस्थभोगापवर्गात्मकपुरुषार्थस्वयमपेक्षते,—भोग्यम्, आयतनम्, साधनंचेति, तत्र भोग्याः स्थूलाः शब्दादयो विषया भूतानि च, आयतनम् अधिकरणं स्थूलं सूक्ष्मं चेत्युभयं शरीरम्, साधनं-बुद्ध्यादित्रयोदशविधं करणम् । तत्र भोग्याऽऽयतनरूपेण ख्यातस्तन्मात्रसर्गः 'लिङ्ग'मित्युक्तः । अयं लिङ्गसर्गः 'भावैर्विना'-धर्माऽद्यष्टभावान्वित बुद्ध्यात्मकभावसर्गं विना न संभवति, कुतः ? अदृष्टस्य सर्वत्र विषयेषु शरीरादौ च कारणत्वात्, कारणमन्तरेण कार्यस्य स्वरूपाऽनिष्पत्तो-भोग्यत्वं भोगाऽयनतत्वं च विहन्येत, तथा च सति पुरुषार्थो न सम्पद्येत, भावमूलं बुद्धिमन्तरेण तु सुतराम्, तस्मात् तन्मात्रसर्गः भोगप्रयोजकस्वरूपादिनिष्पत्तौ भावसर्गमपेक्षते । एवम् 'भावनिवृत्तिः'—भावसर्गस्य धर्माऽधर्मादीनां बुद्धिष्वं यथाक्रमं स्वरूपनिष्पत्तिः पुरुषार्थसाधनत्वनिष्पत्तिश्च 'लिङ्गेन विना'—विषयैर्विना शरीरमन्तरेण च, न संभवति, कुतः ? शरीरादिकस्य धर्मादिसाधनत्वात् । शरीरेण धर्मादयः धर्मादितश्च शरीरमिन्योन्याश्रितोऽयमनादिः प्रवाहः पूर्वपूर्वतनादिसर्गायः ॥ किञ्च भोगकारणेऽज्ञाने अपवर्गकारणे च विवेकज्ञाने स्वातन्त्र्येण विषयतया विषयाणाम् अवच्छेदकतया शरीराणाम् अधिकरणतया बुद्धेर्निमित्ताकारणतया चाऽदृष्टादीनामपेक्षा भवति । 'तस्मात्'—अन्योन्याश्रिततया स्वातन्त्र्येणाऽपि चेतिहेतोः । 'लिङ्गा'ऽऽख्यः—तन्मात्राख्यः,—'भावाख्यः'—बुद्ध्याख्यश्चेति 'द्विविधः सर्गः'—सर्गद्वयात्मिका सृष्टिः, प्रवर्तते—पुरुषार्थप्रवर्तितगुणैर्निष्पद्यते इति ॥ ५२ ॥

तदेवं भावसर्गं सविस्तरं प्रदर्श्य स्थूलं तन्मात्रसर्गं विभज्य दर्शयति—

'अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।

मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

चतुर्दशभुवनात्मकब्रह्माण्डान्तर्गतोऽयं सर्गः, तत्र च दैवोऽष्टविकल्पः,—ब्राह्मः, प्राजापत्यः, माहेन्द्रः, पैत्रः, गान्धर्वः, याक्षः, राक्षसः पैशाचः, इति । तत्र च ब्राह्मः सर्गः सत्यतपोजनलोकेषु विद्यते, ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अकृतभुवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठाः उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गाऽऽयुषः,—अच्युत-शुद्धनिवास-सत्याभ-संज्ञासंज्ञिनश्चेतिसंज्ञका भवन्ति । ब्रह्मणस्तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः—आभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वराश्चेति, ते भूतेन्द्रिय-प्रकृतिवशिनो ध्यानाऽऽहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अपोभूमिभ्वनावृत्तज्ञानविषया भवन्ति । ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायः—ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्म

कायिका ब्रह्मसहाकारिका अमराश्चेति, ते भूतेन्द्रियवशिनो भवन्ति । इति लोक-  
त्रयस्थोऽयं ब्राह्मः सर्गः ॥ प्राजापत्यस्तु सर्गः—महर्लोके पञ्चविधो भवति देव-  
निकायः—कुसुदा ऋभवः प्रतर्दना अङ्गनाभाः प्रचिताभाश्चेति, एते महाभूतवशिनो  
ध्यानाऽऽहाराः सन्ति ॥ माहेन्द्रसर्गस्तु स्वर्गलोके, तत्र पङ्क्तिनिकायाः—त्रिदशा  
अग्निष्वात्ता याम्यास्तुपिता अपरिनिर्मितवशवर्तिनः परिनिर्मितवशवर्तिनश्चेति, सर्वे  
सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्यसम्पन्नाः कामभोगिनोऽप्सराभिः कृतपरिचारा विद्यन्ते ॥  
पितृलोकेऽर्षभादिपितृसर्गः । पर्वतेषु गान्धर्वः सर्गः । जलधौ वरुणलोके याज्ञः सर्गः ।  
अतलादिपातालेषु राक्षसः पैशाचश्च सर्गः । उक्तं च पातञ्जलव्यासभाष्ये—‘ब्राह्मस्त्रि-  
भूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् । माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि  
प्रजाः’……‘पाताले जलधौ पर्वतेषु च देवनिकाया असुरगान्धर्वकिंपुरुषयक्षराक्ष-  
सभूतप्रेतपिशाचाऽपस्मारकाऽप्सरोब्रह्मराक्षसकृष्णगण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति ।  
सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः’ इत्यादिना ॥ देशानां विभिन्नाकृतिमत्त्वे-  
नापि बहुसर्गसङ्ग्राहेऽपि अष्टविधत्वमतिस्फेपः कथित इति बोध्यम् ॥ अथ ‘तैर्य-  
ग्योनश्च पञ्चधा भवति’—तैर्यग्योनेः सर्गः पञ्चप्रकारः—पशु-पक्षि-मृग-सरीसृप-स्था-  
वरजातीयः, पशवः सखुराश्चतुष्पादा गवाश्चहरिणगवयवराहादयः । पक्षिणः  
मयूरमक्षिकादयः । मृगाः—अखुरा अपक्षाश्च विविधपादा शालामृगभल्लूकवृकशशा-  
ऽऽस्रुककलासलूतावृश्चिकप्रभृतयः । सरीसृपाः उदराग्रवयवैः सरन्तः सर्पन्ति ये ते  
सर्पमत्स्यादयः । स्थावराः—वृक्षलतातृणादयः ॥ अथ ‘मानुषकश्च सर्गः एकविधः’  
ब्राह्मणक्षत्रियादीनां हस्तपादाद्याकृतीनां समानरूपत्वात् मनुष्यत्वेन धर्मेणैक-  
विधो बोध्यः । विस्तरतस्तु जरायुजाऽण्डजस्वेदजोद्भिज्जमानादिषु चतुरशीति-  
लक्षजातीयादिः सर्गस्त्वपार इति । घटाद्यात्मकस्थूलभूतान्यपि सर्ग एव । दैवादि-  
स्तु भूतेभ्यश्चेतनसम्बन्धेन जायमानोऽतएव ‘गौतिक’श्चेतनः सर्गोऽयं ‘समासतः’  
जातीयसंक्षेपतः, कथितो वेदितव्यः ॥ ५३ ॥

सत्त्वरजस्तमोऽन्यतमस्य प्राधान्येन प्राणिसर्गस्य विभिन्नाऽवस्थितिं दर्शयति-

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।

मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

ऊर्ध्वम्’ भुवःस्वर्महर्जनतयःसत्यलोकेषु प्राणिनां सर्गः, ‘सत्त्वबहुलः’—सत्त्व-  
गुणप्रधानो वर्तते । अथ ‘मूलतः’—अपकृष्टताया अन्तिमस्थितिः, तद्यथा—मनुष्ये-  
भ्योऽपकृष्टाः पशवस्तेभ्यः पक्षिणस्तेभ्यो वृक्षास्ततो लतादयस्ततःस्तम्बाः—गुच्छादय  
इति—गुच्छादिभ्य आरभ्य पश्वधिकः तैर्यग्योनः सर्गः, तथा ‘मूलतः’—पातालतः आरभ्य-  
पाताल-रसातल-महातल-तलातल-सुतल-वितलाऽतललोकेषु स्थितः प्राणिसर्गोऽपि  
नागपिशाच-राक्षसादिजातीयः, ‘तमोविशालः’—तमोगुणप्रधानो भवति, तेषां मोह-



प्रधानत्वात्तामसत्वमिति । अथ 'मध्ये'—चतुर्दशभुवनयोर्मध्यगते जम्बू-शाक-कुश-क्रौञ्च-शात्मल-प्लक्ष-पुष्कराख्यसप्तद्वीपात्मकेऽस्मिन् भूलोके यो मनुष्याणां 'सर्गः' सः 'रजोविशालः'—यज्ञदानादिपुण्यकर्म-हिंसामदिराद्यपुण्यकर्मप्रवृत्तेर्दुःखफ-लिकाया राजसकार्यत्वात् रजोगुणप्रधानो भवतीति कल्प्यते । सोऽयं चतुर्दशभुव-नात्मकब्रह्माण्डे 'ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तः'—ब्रह्म-पितृ-देव-गान्धर्वयक्षरासक्षपिशाचमनु-प्यनागपशुमृगपक्षिसरीसृपवृक्षलतागुच्छतृणपर्यन्तः यावान् सर्गस्त्रिगुणो भौतिको विज्ञेयः । यथा चाऽस्मिन्ब्रह्माण्डे तथा ब्रह्माण्डान्तरेष्वपि समानमिति ॥ ५४ ॥

तत्र सर्गेषु कुत्रचिद्व्यति दिव्यविषयजं सुखं प्रधानं यथा देवेषु, कुत्रचिच्च कनि-ष्ठविषयजं दुःखं प्रधानं यथा पशूनादिषु, कुत्रचित्सुखदुःखसाम्येऽपि मोहः प्रधानो यथा राक्षसादिषु, मनुष्येषु यथाविषयं दुःखस्य प्राधान्यवत् सुखस्यापि प्रायशः प्राधान्यमित्येवं विषयविविचित्रभावात् सुखदुःखमोहवैचित्र्येऽपि, समानं तावत्—

तत्र जरामरणकृतं दुःखम्प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।

लिङ्गस्याऽऽविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

'तत्र'—सत्त्वजस्तमोऽन्यतमप्रधानेषु विविधजातीयसर्गेषु, 'चेतनः'—आत्मा, 'पुरुषः'—सन्-पुरि स्थले शरीरे शयनं निवासं लभन् लभन्, 'लिङ्गस्य आ विनि-वृत्तेः'—लिङ्गस्य सूक्ष्मशरीरस्य, आ विनिवृत्तेः—विनिवृत्तिः स्वकारणे प्रधाने लय-स्तदवधिपर्यन्तम्, 'जरामरणकृतम्'—जरया जर्जरिताऽवस्थया, मरणेन—शरीरविधो-गेन च कृतं—'मा न भूवम्' 'भूयासम्'—इतिप्रत्ययसिद्धं दुःखं 'प्राप्नोति'—भुङ्क्ते । अथ निर्धर्मकस्यात्मनो दुःखधर्मकत्वाभावात् कथं दुःखं भुङ्क्ते ?, इति चेत् !, उच्यते, निर्धर्मकोऽपि सः भोगसहायकात् 'तस्मात्'—लिङ्गशरीरात्,—लिङ्गशरीर-सकाशात्, तद्धर्ममपि दुःखं 'स्वभावेन'—स्वस्मिन् चेतने भावः—स्वाश्रयप्रतिबिम्ब-तत्त्वात्मकपरम्परासम्बन्धकृतौपाधिकधर्मभावस्तेन भुङ्क्ते । बुद्धानुपाधित्वं च भ्रान्तिविषयधर्मप्रकारक-प्रमीश्विशेष्यतावत्त्वम्, यथार्थबाधविषयप्रतियोग्याश्र-यत्वं वा बोध्यम् । तस्मात् दुःखबहुलोऽयं सर्गोऽपि हेय इति ॥ ५५ ॥

तदस्य सर्गस्य यौद्धा असत्कारणकत्वं वदन्ति, चार्वाकाः स्वभावकारणकत्वम्, शांकरा ब्रह्मोपादानकत्वम्, द्वैतिनस्त्वोश्वराऽधिष्ठितप्रकृतिकारणकत्वम्, अन्ये तु ईश्वरप्रेरितपरमाणुकारणकत्वमिति । एतेषां मतानां निरसनायसर्गस्य प्रकृति-कारणकत्वं दृढयति—

इत्येषः प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः ॥ ५६ ॥

'इती'ति—सर्गनिरूपणोपसंहारे । 'एषः' समासेन व्यासेन च दर्शितः ।

‘महदादिविशेषभूतपर्यन्तः’—प्रहृतत्वाहंकारमनोदशेन्द्रियतन्मात्रस्थूलभूतपर्यन्तः ।  
 ‘आरम्भः’—आरम्भते आविर्भावयते यः स आरम्भः—सर्गः । स च सर्गः—‘स्वार्थः  
 इव’—प्रकृतेः स्वार्थाभावात् ‘इवे’तिदृष्टान्तोक्तिः, यथा लोके कान्ताकृतः स्वसुखार्थः  
 कान्तसुखार्थश्च सुरतारम्भो भवति, तद्वदत्र जडायाः प्रकृतेः स्वार्थरहितत्वेऽपि  
 स्वार्थवत् । ‘प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्’—पुरुषं पुरुषं प्रति मोक्षदानात्मकप्रयोजनार्थम् ।  
 अत एव ‘परार्थः’—परस्य स्वभिन्नस्य पुरुषस्य अर्थो मोक्षात्मकं प्रयोजनं यस्य  
 तथोक्त एव । ‘प्रकृतिकृतः’—प्रकृत्या एव कृतो भवति । विमोक्षार्थं कृतत्वाच्च  
 प्रकृतेर्नित्यत्वेऽपि न सर्गस्य सर्वदा सत्त्वप्रसक्तिः, मोक्षावधि एव सर्वसत्तायः संचा-  
 रात् । स च सर्गो न अमत्कारणको न वा स्वाभाविकः, सर्वदा सत्त्वापत्तोः अत्य-  
 न्ताऽसत्त्वापत्तेश्च । नाऽपि—ब्रह्मकारणकः, ब्रह्मणोऽपरिणामित्वात् । नापि—ईश्व-  
 राधिष्ठितप्रकृतिकारणकः, आत्मनो निर्धर्मकस्य क्रियाशून्यत्वेनाधिष्ठानृत्वाऽसंभ-  
 वात् । अत एव नेश्वरप्रेरितपरमाणुकारणकः संभवतीति । किन्तु परार्थ एव प्रकृति-  
 कारणक एवेति ॥ ५६ ॥

‘अथ—प्रवृत्तेश्चेतनधर्मत्वात्, चेतनस्यैव स्वप्रयोजनं परप्रयोजनज्ञाऽवगम्य  
 प्रवृत्तिर्युक्ता, प्रयोगश्च—‘प्रवृत्तिः,—चेतनप्रयुक्ता,—प्रवृत्तित्वान्,—मत्प्रवृत्तिवदिति ।  
 अचेतना तु प्रकृतिः स्वप्रयोजनाय परप्रयोजनाय वाऽसंभवत्प्रवृत्तिका सती प्रवर्तकं  
 चेतनमपेक्षते, प्रयोगश्च—‘प्रकृतिप्रवृत्तिः,—चेतनप्रयुक्ता,—प्रवृत्तित्वात्,—रथप्रवृत्ति-  
 वदिति । चेतनोऽप्यधिष्ठेयविभुस्वरूपाऽनभिज्ञोऽधिष्ठाता भवितुं नाहंति, प्रयोगश्च  
 ‘जीवचेतनः,—न प्रकृतिप्रवर्तकः,—तत्स्वरूपाऽनभिज्ञत्वात् । किन्तु—सर्वज्ञः कश्चि-  
 दधिष्ठाता भवितुमहंति,—प्रयोगश्च—‘प्रकृतिप्रवृत्तिः,—कारणाऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकू-  
 निमदधिष्ठानप्रयुक्ता,—कार्याऽनुकूलप्रवृत्तित्वात्,—चक्रप्रवृत्तिवदिति । तादृशः  
 ईश्वरस्तदधिष्ठिता सती प्रकृतिः प्रवर्तिष्यते, अतो युक्तं सर्गस्य ईश्वराधिष्ठितप्रकृति-  
 कृतकत्वमिति चेत् !,—उच्यते—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

अचेतनस्यापि परप्रयोजनाय प्रवृत्तिर्भवति, यथा ‘वत्सस्य-स्तनंधयस्य विवृ-  
 ष्णेनिमित्तं-जीवनार्थम्,’ ‘अज्ञस्य’-वत्सस्वरूपाऽनभिज्ञस्यापि जडस्य ‘क्षीरस्य’-दुग्ध-  
 स्य, ‘प्रवृत्तिः’—स्तनाद्वर्हिर्निस्सरणात्मिका भवति, ‘तथा’—तद्वत् ‘प्रधानस्य’—  
 सर्गाकारणीभूताया अचेतनाया अपि मूलप्रकृतेः, ‘पुरुषस्य-शरीरस्थस्य-जीवात्मनः’—  
 भोगपूर्वको यः कर्तव्यो विमोक्षो मुक्तिस्तन्निमित्तं सर्गो प्रवृत्तिर्भवतीति ॥ यद्योक्तं—  
 ‘प्रवृत्तिः—चेतनप्रयुक्ता,—प्रवृत्तित्वादिति । तत्तु क्षीरप्रवृत्तौ व्यभिचरितं सत् नाऽलं



भवति प्रकृतिप्रवृत्तौ चेतनप्रयुक्तत्वं साधयितुमिति । ननु चेतनाधिष्ठितप्रयुक्तत्वस्य क्षीरप्रवृत्तावपि साध्यत्वात् क्षीरप्रवृत्तेः सन्दिग्धसाध्यवत्तया पक्षान्तर्गतत्वं, तथा च 'नहि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारो दोषत्वेनाऽभिधीयते' अन्यथा सर्वत्र पक्षे सर्वदैव साध्यस्य सन्दिग्धत्वेनाऽनुमानमात्रोच्छेदप्रसंगः स्यात् । तस्माद् व्यभिचाराऽनुज्ञावात् प्रकृतिप्रवृत्तेः चेतनप्रयुक्तत्वं सुसिद्धयत्येवेति चेन्न । कारणाऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्प्रयुक्ता कार्यानुकूलप्रवृत्तिः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्या भवति,— यथा 'पाकाद्यर्थिका देवदत्तप्रवृत्तिः,—स्वपरक्षुन्नवृत्तिरूपस्वार्थकारुण्यप्रयुक्ता,—प्रवृत्तित्वात्, मदीयपाकार्थप्रवृत्तिवदिति, अतः कारणाऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमाश्रितः ईश्वरः स्वार्थकारुण्यशून्यत्वात् प्रवर्तको भवितुं नार्हति, नहि सकलपूर्णकामस्य जगत्सर्जने कोऽपि स्वार्थो भवति । न च सर्गप्रवर्तकं कारुण्यमस्य भवति, अनुपपत्तेः । सर्गप्राक्समये जीवचेतनानां शरीराद्यनुत्पत्तौ तत्प्रयुक्तस्य हेयस्य दुःखस्याऽऽभावात् तदानीं कस्य हननेच्छात्मकं कारुण्यमीश्वरस्य संभवेत् ? । यद्युच्येत—सर्गात्पत्तेरुत्तरस्मिन्काले जीवान् दुःखिनोऽवलोक्येश्वरस्य कारुण्यं भवति तेन च प्रकृतिं प्रवर्तयतीति । तदाऽन्योन्याश्रयापत्तिः, सृष्ट्या कारुण्यं जातं कारुण्येन च सर्गं प्रवर्तयतीति । किञ्च करुणयोत्तेजित ईश्वरः प्रकृतिद्वारिकां सृष्टिं कुर्यात् तर्हि सुखैकगुणकां रचयेत्, न तु 'सुखिनः कांश्चित् कांश्चिद् दुःखिनो मोहिनस्तथे'ति । यद्युच्येत प्राणिनां शुक्ल-कृष्ण-शुक्लकृष्णात्मकविविधकर्मणामनुसारेणेश्वरः सृजतीति । तदा पुण्याऽपुण्यादिकर्मणैव प्रकृतेः सर्गप्रवृत्त्युपपत्तौ कारणाऽपरोक्षज्ञानादिमानधिष्ठानत्वेन प्रवर्तकोऽन्यथासिद्ध इति । यद्युच्येत कर्माऽप्यचेतनत्वात् तदपीश्वराधिष्ठितमेव प्रकृतिं प्रवर्तयत्यतो नाऽन्यथासिद्ध इति । तदापि चक्रकापत्तिर्दुर्वारैव,— कारुण्यं हि दुःखेन जायते, दुःखं शरीरविषयादिना, शरीरादिकं च सकलेश्वराऽधिष्ठितकर्मवैचिध्यात्, तत्र च कारुण्यं दुःखेनेति । किञ्च भवन्मते सर्गप्राक्क्षणे कर्मजन्यशरीराद्यभावात् दुःखाभावेन कारुण्याऽनुपपत्तेः तत्प्रेरितेश्वरस्य तदानीं-क्षणे कर्माऽधिष्ठानत्वाऽसंभवात् तदनधिष्ठितकर्मतः सृष्ट्यनुकूलक्रियात्मकप्रवृत्त्यनुत्पत्तेः सर्वदाऽत्यन्ताभावः सृष्टेः प्रसज्येतेति ॥ क्षीरस्येव जडस्य चेतनाऽनधिष्ठितस्य प्रवृत्तिवादिनां सांख्यानां तु प्रकृतेः प्रवृत्तौ न स्वार्थः प्रयोजकः, तस्याः स्वार्थाऽभावात्, न च दुःखप्रहायेच्छात्मकं कारुण्यं प्रयोजकम्, तदनावश्यकत्वात् । किन्तु मोक्षात्मकपरप्रयोजनमेव प्रयोजकम्, उक्तं च 'पुरुषार्थ एव हेतु'रिति । तथा च क्षीरजलवाय्वादिवत् स्वार्थकारुण्याभ्यामन्तरेणैव प्रकृतेः प्रवृत्तिर्निरावाधा, अतः सर्गः परार्थएव प्रकृतिकृत एव चेति ॥ ५७ ॥

‘स्वार्थ इवे’त्यभिहितं निदर्शनं विशदीकृत्य नैदर्शनिकेऽतिदिशति—

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।

पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

अस्ति हि नियमः—‘यद्विषयकं ज्ञानं तद्विषयिणी इच्छा, यद्विषयिणी इच्छा तद्विषयिणी प्रवृत्तिरिति । तथा च यत् ज्ञातं सत् स्ववृत्तितया इष्यमाणं भवति तत् प्रयोजनमित्युच्यते, स्ववृत्तित्वं-साक्षात्परम्परया वा स्वीयत्वमिति । जनश्च स्वार्थे परार्थे वा यत्र प्रवर्तते सः स्वार्थः परार्थश्च तस्य इष्यमाणं फलं भवति, इष्यमाणस्य सिद्धौ सत्यामिच्छा शाम्यति । यथा च ‘लोकः’—जनः, स्वस्य ‘औत्सुक्य-निवृत्त्यर्थम्’—औत्सुक्यमिच्छा ‘इदं मे भवत्वित्याद्याकारिका ज्ञानविततिर्बुद्धिधर्मः, तस्य निवृत्त्यर्थं—शान्त्यर्थम् । ‘क्रियासु’—स्वेष्ट्यमाणेषु कर्तव्येषु, प्रवर्तते । प्रवृत्तिं करोति । ‘तद्वत्’—तथा, ‘अव्यक्तं’—मूलप्रकृतिः, ‘पुरुषस्य’—चेतनस्य, ‘विमोक्षार्थम्’—‘पुरुषो भोगमनु मुच्यतामि’ति य इष्यमाणो मोक्षः परार्थस्तदर्थम्, ‘प्रवर्तते’—सर्गं करोतीति । मोक्षावधिकं सर्गमापूरयतीत्येतत् ॥ ५८ ॥

अथेष्ट्यमाणसिद्धौ यथेच्छुकः स्वयमेव निवर्तते तथा प्रकृतिरपीति—दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।

पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

‘रङ्गस्य’ ‘पुरुषस्य’ चेत्युभयत्र कर्मणि षष्ठौ । यथा ‘नर्तकी’—नृत्यकारिणी । ‘रङ्गस्य’—रङ्गाय,—लक्षणया रङ्गस्थदर्शकेभ्य इत्यर्थः । शृङ्गारादिरसेतिहासादि-भावगीताद्यन्वितनृत्यन्तीं स्वाम् । ‘दर्शयित्वा’—प्रदर्श्य । ‘इमे दर्शका नृत्यन्तीं भ्रामवलोकयन्तिव’तीच्छायाः विषयस्याऽवलोकनात्मकफलस्य सिद्धौ सत्याम्—इच्छायाः शान्तौ स्वयमेव ‘नृत्यात्’—दर्शकजनदर्शनसाधनात् नृत्यात्मकविषयात्, ‘निवर्तते’—नृत्यमुपसंहरति,—तत्र विषये प्रवृत्तिं न करोति, इच्छाऽभावात् प्रवृत्त्यभावो भवतीति हृदयम् । तथा ‘प्रकृतिः’—मूलकारणं प्रधानमपि, ‘पुरुषस्य’—पुरुषाय, महत्तत्त्वप्रभृति-स्थूलभूतान्तशब्दस्पर्शाद्यात्मकसर्गात्मना ‘आत्मानं’—स्वाम्, ‘प्रकाश्य’—भोगं दत्त्वा विवेकख्यात्यात्मकं प्रकाशं च कृत्वा, ‘विनिवर्तते’—विशेषतो निवर्तते—सर्गमत्यन्तमुपसंहरति । भोगविवेकख्यात्यात्मकफलसिद्धौ सत्यां ‘पुरुषो भोगम् अनु मुच्यतामितीच्छाशान्तौ सत्याम् प्रवृत्तिरपि शाम्यतीति हृदयम्॥अपवर्गसाक्षात्साधनमपि विवेकख्यातिरिष्यमाणत्वात्फलत्वेन गृह्यते ॥ ५९ ॥

अथ नर्तकी नृत्यप्रदर्शनेनोपकृतेभ्यः पारिषदेभ्योऽपि पारितोषिकं प्रत्युपकारं लभते, तथा प्रकृतिरपि भोगापवर्गदानेनोपकृतात् पुरुषात् प्रत्युपकारं लप्स्यते, एवं च सत्यस्याः प्रवृत्तिर्न परार्था, प्रत्युपकारात्मकस्वार्थस्याऽपि सत्त्वादिति चेत् ! नैवम् । यतः—



नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।

गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्याऽर्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

क्रियते हि गुणवद्भ्यामुभाभ्यां स्वस्वगुणैः परस्परमुपकारः, नर्तकी नृत्येन दर्शकश्च पारितोषिकेणेति । नैवमत्र, प्रकृतेरेव गुणवत्त्वात् पुरुषस्य चाऽत्यन्तं निर्गुणत्वात्, अतः पुरुषः केन गुणेन उपकरिष्यतीति । 'प्रकृति'स्तु 'अनुपकारिणः' गुणविधुरत्वात् प्रत्युपकारशून्यस्य, 'पुंसः'—चेतनस्य, 'नानाविधैः'—भोग्यशब्दादिविषयभोगसाधनेन्द्रियाऽन्तःकरण-भोगायतनशरीरात्मकैः, 'उपायैः'—परिणामविशेषैः, 'उपकारिणो'—परार्थमात्रतया कार्यकारिणी, भवति । स्वयं हि 'गुणवती'—सुखदुःखमोहात्मकत्रिगुणमयी वर्तते, अतः 'अगुणस्य'—निर्गुणस्य—कृतज्ञत्वादिगुणविधुरस्य—गुणातीतस्य, 'सतः'—स्वरूपमात्रेणाऽवस्थितस्य, 'तस्य'—चेतनस्य, 'अर्थम्'—भोगापवर्गात्मकं प्रयोजनम्, 'अपार्थकम्'—अपगतोऽर्थः प्रत्युपकारात्मकप्रयोजनं यस्मात् तत्,—निस्स्वार्थमिति यावत् । 'चरति'—सम्पादयति । न तु स्वप्रयोजनार्थम् ॥ ६० ॥

अथ नर्तकी रङ्गस्थदर्शकेभ्यो नृत्यं दर्शयित्वा नृत्यान्नितृत्ता सत्यपि नृत्यदर्शकानाम् 'पुनर्नृत्यतामधिकं नृत्यता'मितिसाक्षर्यं वदतां नृणावशात् पुनर्नृत्ये प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरपि चेतनाय ससर्गां स्वां दर्शयित्वा सर्गान्निवृत्ता सत्यपि पुनर्विवेकख्यात्यनन्तरं सर्गे प्रवृत्तिं करिष्यति, तथा च सति पुनः संसाराऽऽपत्तौ 'न स पुनरावर्तते' इत्यादिश्रुतिरनुपपन्ना स्यादिति चेत् ! उच्यते,—नर्तकी हि प्रेक्षकाणां दर्शनवृत्तिमन्तरेणैव नृत्यमुपसंहृत्य निवर्तते यदा, तदैव प्रेक्षकैः पुनर्नृत्यदर्शनाकांक्षयाऽऽराधिता सती रङ्गे प्रवर्तते नृत्यार्थम् । ततः प्रेक्षकाणां दर्शनवृत्तिकरं नृत्यं विधाय निवृत्ता सा प्रेक्षकैर्नाऽऽराध्यते, नर्तक्यपि तदा 'सम्भ्यैरत्यन्तमहं दृष्टाऽस्मि न पुनस्तैराराध्यते'—इत्यवगम्य न पुनर्दर्शकानां दृष्टिपथमवतरति । तथा प्रकृतिरपि सर्गान्ते सर्गमुपसंहृत्य निवृत्ताऽपि नृषितानां द्रष्टृणां कृते पुनः सर्गान्तरमारभते नन्वनृषितानां मुक्तानां कृते, यतः—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।

या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

'प्रकृतेः'—प्रकृत्यपेक्षया, 'सुकुमारतरम्'—परपुरुषदर्शनाऽसहिष्णु, 'किञ्चिद'पि वस्तु नाऽस्तीति 'मे'—ईश्वरकृष्णाचार्यस्य, 'मतिर्भवति'—निश्चयो वर्तते ॥ 'या' हि प्रकृतिः, यदा 'पुरुषेणाऽहं दृष्टाऽस्मि विविक्ततया'—इति जानाति, तदा 'पुनः'—तत्पश्चात्, 'पुरुषस्य दर्शनम्,—विवेकिपुरुषस्य दृष्टिपथं—भोगपथं, 'न उपैति'नाऽ—

वतरतीति । प्रकृतिरूपेण साधारण्यपि तत्तद्बुद्धिरूपेण बहुसर्गायसुकुमारपतिव्रता परपुरुषस्येव 'विवेकिविरक्तस्वपुरुषस्याऽपि दृष्टिगोचरतां न प्राप्नोमी'ति सदा यतते । अतएव—'इयं जडाऽशुद्धा शुद्धचेतनमिन्ना'—इत्येवमादिरूपेण विवेकज्ञानेन दृष्टा प्रकृतिर्विवेकित्वादतृष्णं प्रति न संसरति, लयमेव गच्छति । उक्तं च नारदीये 'सवि-काराऽपि मौढ्येन चिरं भुक्त्वा गुणात्मना । प्रकृतिर्ज्ञातदोषेयं लज्जयेव निव-र्तते' इति ॥ अतृष्णस्य च संसाराऽभावात् 'न स पुनरावर्तते'—इतिमुक्तिश्रुतिर-प्युपपन्ना भवतीति ॥ ६१ ॥

अथ—'यदुक्तं 'पुरुषस्य विमोक्षार्थ' (५८)मिति । तन्नोपपद्यते । कुतः ? । पुरुषस्य निर्धर्मकत्वात् । दुःखस्य च बुद्धिधर्मतया दुःखभोगाऽत्यन्तयोगात्मक-बन्धस्य दुःखभोगात्यन्तनिवृत्तिरूपमुक्तेश्च बुद्धिधर्मत्वस्य न्याय्यत्वात्, दुःखादि-कारणाऽदृष्टात्मकनिमित्तालम्ब्यस्य जात्यायुर्भोगात्मकस्य संसारस्यापि बुद्धिधर्मत्वस्य न्याय्यत्वाच्चेति चेत्, ! उच्यते,—सांसिद्धिकस्य प्रकृतिधर्मस्य संसारस्य बन्धस्य मुक्तेश्च—स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसंसर्गेणोपचारमात्रत्वमात्मनि, न तु सांसिद्धिकत्वम्,

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित् ।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाऽऽश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

'तस्मात्' पुरुषस्य निर्धर्मकत्वात्, संसारादीनां च प्रकृतेः सांसिद्धिकधर्मत्वा-च्चेतिहेतुसम्भावात् । 'अद्धा'—तत्त्वतः वस्तुतः, 'कश्चिदपि'—पुरुषो 'न संसरति'—न जात्यायुर्भोगधर्मो भवति, 'न बध्यते'—न दुःखभोगाऽत्यन्तयोगधर्मो भवति, 'नापि मुच्यते'—न च मोक्षवर्ष्यपि भवति । किन्तु प्रकृतिरेव 'नानाऽऽश्रया'—बहु-विधा आश्रयाः—भोग्यस्थूलशब्दादि-भोगसाधनेन्द्रियादि—भोगायतनशरीरात्मका आलम्बनविशेषा यस्याः सा,—एतादृशी सती, 'संसरति'—अभिव्यक्तजात्यायुर्भोग-धर्मिणी भवति, 'बध्यते'—अभिव्यक्तदुःखभोगाऽत्यन्तयोगधर्मिणी भवति, 'मुच्यते च'—दुःखभोगाऽत्यन्तनिवृत्तिधर्मिण्यपि भवति । पुरुषस्तु विकल्पवृत्तिनिबन्धन-धर्मोपचासी भवतीति ॥ ६२ ॥

अथ सांसिद्धिकैश्च निमित्तभूतैः—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।

सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

'प्रकृतिः'—अभिव्यक्तविषयोपकरणाऽऽयतनात्मिका सती । 'पुरुषार्थं प्रति'—भोगाऽपवर्गात्मकं प्रति । तत्र भोगं प्रति 'आत्माना'—स्वयैव बुद्ध्यात्मिकया कर्त्या, 'सप्तभिरेव'—सप्तसंख्याकैरेव, 'रूपैः'—रूप्यन्ते भोग्यादयो येभ्य इति रूपा-स्तैः—धर्माधर्माऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्चर्याऽनैश्चर्यात्मकैर्भावैः, 'आत्मानम्'—



स्वाम्, 'बध्नाति'-स्थूलदुःखाऽत्यन्तयोगिनीं करोति । अत्र बन्धनं प्रति धर्मादिसप्तान्यतमस्य निमित्तात्वमभिमतम्, तेन एकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्बहुभिर्वा भावैर्बन्धनं यथायोगमनुसन्धेयम् । 'सैव च'-या बन्धनकर्त्री सैव प्रकृतिः । अपवर्गात्मकं पुरुषार्थं प्रति बुद्ध्यात्मिकया स्वया 'एकरूपेण'-तत्त्वज्ञानात्मकेन एकेन भावेन, विवेकख्यात्येति यावत् । आत्मानं-स्वाम्, 'विमोचयति'-बन्धनविश्लिष्टां करोति । अनेन मुक्तिं प्रति विवेकख्यातिद्वारा तत्त्वज्ञानस्य कारणत्वं दर्शितमिति । धर्मादिसप्तनिमित्तैर्दुःखाद्यत्यन्तयोगवती भवति तत्त्वज्ञानेन तु दुःखाद्यत्यन्त-निवृत्तिमती भवतीति । पुरुषस्तु सहयोगात् तथा उपचर्यते इति ॥ ६३ ॥

अथ तत्त्वविवेचने प्रवृत्तशास्त्रस्य विवेकख्यातिः-फलमुच्यते--

एवं तत्त्वाऽभ्यासात् 'नाऽस्मि, न मे, नाऽहं'मित्यपरिशेषम् ।

अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

'एवम्'-निरूपितानां समस्तव्यस्तपञ्चविंशतिपदार्थानां 'सकृदवगमे सति समस्तव्यस्तोभयरीत्या । तत्र पदार्थेषु 'अविपर्ययात्'-विपर्ययसंशयविकल्पवृत्त्यननुगुणादेव हि, 'तत्त्वाऽभ्यासात्'-तत्त्वस्य तत्त्वज्ञानस्य दीर्घकालाऽऽदरनैरन्तर्यसेवितात् अभ्यासात् सार्वदिक्यां स्थितौ कृतात् यत्नात् । 'विशुद्धम्'-विपर्ययसंशयविकल्पात्मकाऽशुद्धिरहितम्, विपर्ययो हि शुक्तौ 'इदं रजत'मित्यादिरूपः स्वरूपतोऽप्रतिष्ठितोऽशुद्धिः, संशयः 'स्थाणुर्न वे'त्यादिरूपो विपरीतकोटिविषयतोऽप्रतिष्ठितोऽशुद्धिः, विकल्पः 'पुरुषस्य चैतन्य'मित्यादिरूपः आरोपितसम्बन्धतोऽप्रतिष्ठितोऽशुद्धिः, तद्रहितत्वात् स्वच्छम् । 'केवलम्'-विवेकज्ञानेति शब्दवाच्यमात्रस्वरूपात्मकं भावनाप्रकर्षाद्विशदाभं बलवद् अनाद्यज्ञानबीजभावस्य भस्मसात्करम् । 'अपरिशेषम्'-किञ्चिदपि तत्त्वं सामान्यं विशेषं च ज्ञातव्यतया न परिशिष्यते यत्रैतादृशम्, ऋतम्भरं सर्वम् । 'नाऽस्मि, नाऽहं, न मे'-चेतनः क्रियाकर्तृत्वस्वामित्ववद्भिन्न-इत्याकारकं 'ज्ञानं'-विवेकख्यातिरूपमुत्पद्यते । 'कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचना' इति शाब्दिकोक्तेः 'अस्' धातोः क्रियार्थत्वात् 'न अस्मि'-इत्यनेन चेतने क्रिया निषिद्धा-चेतनो न क्रियावानिति, क्रियाश्च-अध्यवसायाभिमानसंकल्पाऽऽलोचनवचनादिव्यापारोत्क्षेपणादिरूपास्तद्विभिन्नाः पुरुष इति । अथवा अस्धातोः सत्तार्थकत्वे 'ना अस्मि'-स्वरूपसन् चेतन एव' न तु धर्मलक्षणावस्थादिसत् अव्यक्तमित्यर्थः । क्रियाऽभावाच्च कर्तृत्वाऽभावोऽपि समुपपद्यते, अहं वेद्मि, अहं पचामि, अहमानन्दयामी'त्यादौ 'अहं'पदेन कर्तुः बोधनात् 'न अहम्'-इत्यनेन चेतने सर्वविधं कर्तृत्वं निषिद्धं 'चेतनो न कर्तेति । कर्तुश्च स्वामित्वलाभात् कर्तृत्वव्यावृत्त्या स्वामित्वस्य व्यावर्त-

नात् 'न मे'-इत्यनेन चेतने स्वामित्वं निषिद्धमिति । तदिदं 'अव्यक्ताद्यविशेषान्ते विकारेऽस्मिंश्च वर्णिते । चेतनाऽचेतनाऽन्यत्वज्ञानेन ज्ञानमुच्यते 'विवेकख्यातिरवि-  
-श्रवा हांनोपायः' इति महद्भिः सम्मतं, तच्च मोक्षस्य साक्षात्कारणमिति ॥ ६४ ॥

अथ लब्धायां विवेकख्यातौ सात्त्विकबुद्धेर्मनाक् योगात् तदानीं—

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।

प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥ ६५ ॥

'तेन' विशुद्धया विवेकख्यात्या द्वारभूतया, 'स्वच्छः'—राजसतामसवृत्त्याहि-  
-तबुद्धियोगरहितः, त्रिगुणभोगप्रयुक्ताऽप्रतिबिम्बक इत्येतत् । अस्ति हि तदानीं  
विवेकख्यातिमात्रान्वितप्रतिबिम्बकः । अत एव 'प्रेक्षकवदवस्थितः'—'नृत्यविरक्तां  
नर्तकीं तत्राऽरागोऽमनस्कस्तदस्थः पश्यन् प्रेक्षक इव, प्रेक्षया विवेकख्यातिमात्रया  
वृत्त्या प्रकाश्यं यदव्यक्तं तन्मात्रस्वरूपाऽवलम्बितप्रतिबिम्बनिरूपकतया स्थितः,  
'पुरुषः'—विवेकिचेतनः, 'अर्थवशात्'—अर्थस्य प्रयोजनस्य विवेकख्यात्यात्मकस्य वशः—  
सामर्थ्यं तस्मात्, अविद्याया दग्धबीजभावे सति 'सप्तरूपविनिवृत्ताम्'—अविद्या-  
कार्याणि यानि धर्माधर्माऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्यात्मकानि सप्त रूपाणि  
तानि विनिवृत्तानि नष्टानि यस्यास्तथोक्ताम्, अत एव 'निवृत्तप्रसवां' निवृत्तो  
लीनः प्रसवः-सर्गानुकूलयत्नो यस्यास्तथोक्ताम्, 'प्रकृतिम्'—प्रकर्षेण निर्वर्तिता  
अपवर्गसाधनं विवेकख्यात्यात्मिका कृतिर्यथा सा, तथाविधां, 'पश्यति'—पश्यन्निव  
वर्तते । इयमेवाऽस्य जीवतोऽपि मुक्तवत् स्थितिः—भोगाऽपवर्गयोः सन्धिः सिन्धु-  
रूपा विवेकज्ञानप्रवाहेण उत्तरतो वाहिनी चेतनसरोवरमात्रान्ता भवतीति ॥ ६५ ॥

अथ सत्यामपि विवेकख्यातौ द्वयोः संयोगस्य जडचेतनधर्मात्मकस्य हेयहेतोः  
सत्त्वात् पुनर्भोगाद्यर्थं सर्गं प्रवर्तयिष्यति प्रकृतिरिति चेत् !, उच्यते,—विवेकिनः  
संसारपत्तिवारणाय सर्गं प्रति विवेकख्यात्यभावविशिष्टसंयोगस्य कारणत्वमभि-  
मतम्, तथा च विवेकख्यात्यभावदशायां करोतु नाम पुनः पुनः पुनर्भोगाद्यर्थं  
सर्गं, सत्यां तु विवेकख्यातौ काण्ठावच्छेदकीभूताऽभावप्रतियोगित्वात्मकप्रति-  
बन्धकस्य विवेकख्यात्यात्मकस्य सत्त्वात् सर्गं न प्रवर्तयिष्यति प्रकृतिः किञ्च-  
तदानीं हि—

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको, दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या ।

सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

'एकः'—विवेकिचेतनः । 'मया दृष्टा'—मया चेतनेन स्वरूपस्वभावैः पुरुषा  
प्रकृतिर्बहुभूता,—इति विचारयन् । 'उपेक्षकः'—उपेक्षां करोति । 'अन्या' च  
प्रकृतिरपि । 'दृष्टा अह'—स्वरूपस्वभावचरिताऽन्विताऽहं बहुभुक्ता पुरुषेण—



इति विचारयन्ती सती । उपरमति प्रवृत्तिश्चान्या भवति । तथा च प्रवृत्तिं प्रति उपेक्षानात्मकज्ञानस्य कारणतया विवेकख्यातेश्च उपेक्षात्मकज्ञानजनकतया तदानीमुपेक्षानात्मकज्ञानस्य विरहादपि सर्गं न प्रवर्तयिष्यति प्रकृतिरिति । ननु पुरुषस्य उपेक्षात्मकज्ञानस्य प्रकृतिप्रवृत्तेर्न प्रतिबन्धकत्वं व्यधिकरणत्वादिति चेन्न, विवेकख्यातेरिव उपेक्षात्मकज्ञानस्यापि प्रकृतेर्धर्मत्वात्, तथा च प्रकृतिरेव विवेकख्यात्यात्पुत्रं विवेकिनं चेतनम् उपेक्षते विरमति चेत्यार्याथः ॥ किञ्च भोगविवेकख्यात्यात्मकपुरुषार्थस्यापि अनागतावस्थस्यैव प्रवृत्तिप्रयोजकत्वम्, अनागतावस्थ-भिन्ने च पुरुषार्थे न प्रवृत्तिप्रयोजकत्वं, तस्य पुरुषेणाऽर्थितया स्वीकृतत्वेन चरितार्थत्वात् तत्रार्थितया पुरुषस्याऽसम्बन्धात्, तथा च विवेकिनं प्रति प्रकृत्या निर्वर्तितस्य भोगविवेकख्यात्यात्मकपुरुषार्थस्याऽप्रयोजकत्वादेव सर्गं न प्रवर्तयिष्यति प्रकृतिरिति । अतः 'तयोः'-प्रकृतिपुरुषयोः, 'संयोगे सत्यपि'-अनादित आगतस्य संयोगस्य विद्यमानत्वेऽपि, 'सर्गस्य'-सृष्टेः, 'प्रयोजनम्'-पुनर्भोगापवर्गात्मक-फलवत्त्वं नास्त्येव । नहि च बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिर्भवतीत्यनु-पपन्न एव पुनः सर्ग इति ॥ ६६ ॥

अथ कर्माणि द्विविधानि, - सञ्चितानि प्रारब्धानि च, तत्र सञ्चितानां विवेक-ख्यात्या दाहः, प्रारब्धानां तु भोगेन क्षयः, यावन्न समाप्यते आरब्धं तावत् तत्सा-मर्थ्यात् न वियुज्यते शरीरम्, सोऽयं विवेकख्यात्यारम्भक्षणात् शरीरपातक्षणाऽवधि जीवन्मुक्त इत्युक्तं नारदीयस्मृतौ--“दीक्षयैव नरो मुच्येत तिष्ठन्मुक्तोऽपि विग्रहे । कुलालचक्रमध्यस्थो विच्छिन्नोऽपि भ्रमेद् घटः” । “पूर्वाऽभ्यासबलात्कार्यं न लोको न च वैदिकः । अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते” । इति ॥ एतादृशी जीवन्मुक्तिं प्रत्येव तत्त्वज्ञानं कारणं जीवन्मुक्तिनियत विवेकख्यातेश्च प्रारब्धक्षयविशिष्टा सती परममुक्तिं प्रति कारणम्, अतो न तत्त्वज्ञान-परममुक्त्यो-रनैकान्तिकताशङ्काऽवकाशोऽपि, एतस्यां जीवन्मुक्तावधिकृतश्चेतनः परमां मुक्ति-मभिलषन् सन्—

सम्यग्ज्ञानाऽधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।

तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रसिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

‘सम्यग्ज्ञानाऽधिगमाद्’-सम्यग्ज्ञानस्य विवेकख्यातेराविर्भावात्, तथा च विरोधिण्या ‘धर्मादीनाम्’-सञ्चितानां धर्माऽधर्मादिसप्तभावानां दृष्टाऽदृष्टजन्मवेद-नीयानामसंख्यानामपि बीजभावे दग्धे सति, ‘अकारणप्राप्तौ’-अकारणत्वस्य प्राप्तौ सत्याम्-कारणताया लये सतीति यावत् । ‘संस्कारवशात्’-संस्क्रियन्ते भोगा आरभ्यन्तेऽनेनेति संस्कारः-प्रारब्धधर्मादिस्तस्य वशात्-सामर्थ्यात्, ‘धृतशरीरः’-

धृतं प्रारब्धभोगायतनत्वेन यथावत् स्थितं स्थूलसूक्ष्मोभयशरीरं यस्य,—तथोक्तो विवेकी, 'चक्रभ्रमिवत्'—यथा दण्डेन जायमाना चक्रेण च धृता भ्रमिः भ्रमणं वेगावधि तिष्ठति, तथा प्राग्भवीषधर्मादिभिर्जायमानमिदानीं च प्रारब्धमात्रेण धृतं शरीरद्वयं प्रारब्धभोगक्षयाऽवधि तिष्ठतीति ॥ अथ परमात्मशरणागत्या तु प्रारब्धस्यापि क्षयो भवति, उक्तं च 'साध्यमक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्याऽपि भूयसी'ति, तथा सत्यपि शरीरधृतिस्तु स्वातन्त्र्येण लोककल्याणायेश्वरवदिति, तस्य च लोकैर्दृश्यमानं चरितम् अशुक्लाऽकृष्णं न तस्य भोगाऽपवर्गफलकम्, अत एव यथेष्टं विहरति यथेष्टं च शरीरं त्यजति स सदैव मुक्त इति ॥ ६७ ॥

यश्च प्रारब्धभोगाऽनुपक्तः स तु यत्र क्षणे चरमप्रारब्धभोगः समाप्तस्तदव्यवहितोत्तरक्षणे एव—

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।

ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

'शरीरभेदे'—स्थूलसूक्ष्मोभयशरीरस्य विभोगे, प्राप्ते सति, 'चरितार्थत्वात्'—चरितौ निर्वर्तितौ भोगाऽपवर्गात्मकौ अर्थौ यत्र सा तत्त्वात्,—कृतकृत्यत्वादित्येतत् । 'प्रधानविनिवृत्तौ'—प्रधानस्य—व्यक्ताऽव्यक्तात्मकमूलप्रकृतेः विशेषेण—आत्यन्तिक्यां निवृत्तौ—वियुक्तौ सत्याम्, 'ऐकान्तिकम्'—एकः—अव्यभिचरितः अन्तः—जन्यजनकभावाख्यानियमो यस्य तदेव,—विवेकख्यातिसमानाधिकरणाऽभावप्रतियोगित्वाऽभाववदिति यावत् । 'आत्यन्तिकम्'—अत्यन्तं—दुःखान्तराऽस्मिंश्च, स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसमानकालीनमिति यावत्, तदेव । एतदुभयविधं 'कैवल्यम्'—दुःखत्रयनिवृत्तिरूपम्—स्वस्वरूपावस्थानमात्रं कैवलीभावमिति यावत् । 'माप्नोति'—विन्दते । प्रकृतिस्तं प्रति मुच्यते पुरुषस्तु सदैव मुक्त इति हृदयम् ॥ ६८ ॥

सम्प्रदायपरम्परया प्राप्तस्याऽस्य सांख्यज्ञानस्य मूलमृषिं परिचाययति—

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।

स्थित्युत्पत्तिप्रलयाच्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

'इदम्'—अनेन शास्त्रेण प्रतिपादितम्, 'गुह्यम्'—तत्त्वविषयधीशून्यानां दुर्बोधम्, 'पुरुषार्थज्ञानम्'—पुरुषस्य चेतनस्य यो भोगाऽपवर्गात्मकोऽर्थस्तत्प्रयोजनकं ज्ञानम्, 'परमर्षिणा'—परमश्चासौ ऋषिः कपिलाख्यस्तेन । ऋषित्वं चाऽस्य श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तं मग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येदि'—ति । 'समाख्यातम्'—कथितं,—प्रकटीकृतम् ॥ 'यत्र'—यस्मिन् सांख्यज्ञाने, 'भूतानाम्' पृथिव्यादिपरिणामानाम्, स्थितिः—भोग्यावस्था, उत्पत्तिः—जननम्, प्रलयः—तिरोभावः, त एते, चिन्त्यन्ते—निरूप्यन्ते ॥ अथवा—'भूतानाम्'—सुसुक्ष्मजीवानाम्, 'यत्र'—ज्ञाने, 'निमित्तात्मकमयोगे' इत्यनेन निमित्तार्थे सप्तमीकरणात्—यज्ज्ञानात्मकप्राप्ति-



निमित्तमित्यर्थः, अन्यैवैदिकशास्त्रैरपि तत्त्वानामुत्पत्तिस्थितिलया विचार्यन्ते तदे-  
वेदं तत्त्वज्ञानं न तु कल्पितमिति ॥ तथा च परमर्षिजन्यस्य प्रामाणिकस्य आग-  
मान्तरसम्मतस्य चाऽस्याऽतीवोपादेयत्वमिति ॥ ६९ ॥

अस्य सम्प्रदायपरम्परया प्रचारं दर्शयति—

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।

आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

‘मुनिः’—कपिलर्षिः, ‘अनुकम्पया’—आसुरेर्मोक्षो भवेदिति दयया, ‘अग्र्यं’—  
सर्वेषां मोक्षदानामष्टादशविद्यानां मूर्धन्यम्, ‘पवित्रम्’—दुःखत्रयहेत्वविद्यां निर्धूय  
विवेकख्यात्यात्मकं मोक्षदं पुण्यं ददातीति पावनम्, ‘एतत्’—सांख्यज्ञानम्, ‘आसु-  
रि’नाम्ने शिष्याय प्रददौ, आसुरिमुनिरपि स्वशिष्याय ‘पञ्चशिख’नाम्ने प्रददौ,  
तेन च पञ्चशिखेनर्षिणा, ‘तन्त्रं’—सांख्यज्ञानप्रतिपादकं शास्त्रम् ‘बहुधा’—बहुविधै-  
रुपक्रमोपसंहारादिरचनाभिः, ‘कृतम्’—विरचय्य बहुषु शिष्येषु विस्तारितमिति ॥ ७० ॥  
विस्तृतं तदेव ज्ञानं ग्रथितमेतदिति-शास्त्रव्याजेन ग्रन्थकारः स्वपरिचयं प्रकटयति—

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।

संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥

पञ्चशिखर्षेः तन्त्रेषु बहुधा निरूपितं कपिलं ज्ञानमुक्तरीत्या कपिलर्षेः ‘शिष्या-  
णां-परम्परया’—सम्प्रदायेन, ईश्वरकृष्णाख्ये शिष्ये मयि ‘आगतम्’—अवतरितम्,  
‘एतत्’—सांख्यज्ञानम्, ‘आर्यमतिना’—आरात् याता तत्त्वैभ्यः,— पञ्चविंशतितत्त्वानां  
समिपे गन्त्री,—तत्त्वविपरिणीति यावत्, तथोक्ता मतिर्यस्य ‘तेन’,—तत्त्वज्ञानिना,  
‘ईश्वरकृष्ण’संज्ञकेन मया, सांख्यस्य ‘सिद्धान्तम्’—निर्णीतार्थम्, ‘सम्यक्’—संशय-  
विपर्ययविकल्परहितं यथा स्यात् तथा, ‘विज्ञाय’—निश्चित्य, ‘आर्याभिः’—आर्याछ-  
न्दसि ग्रथिताभिर्द्वांसप्तिसंख्याककारिकाभिः, ‘संक्षिप्तम्’—अर्थेषु विस्तृतमपि  
ज्ञानं शब्दसंक्षेपेण संगृहीतम् । कपिलोच्चरितमेवैतत्परम्परया प्राप्तमीश्वरकृष्णेन  
ग्रथितं सर्वथा श्रद्धेयमिति ॥ ७१ ॥

अस्य च आख्यायिकाशून्यत्वान्नेतिहासत्वम् अर्थवादादिशून्यत्वाच्च न पुरा-  
णादिकत्वं, किन्तु यावत्तत्त्वविषयप्रमाणप्रमेयसर्गस्थितिलयमोक्षादिप्रतिपादकत्वात्  
शास्त्रत्वमिति व्यञ्जयन्नुपसंहरति—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्ठितन्त्रस्य ।

आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चाऽपि ॥ ७२ ॥

‘सप्तत्याम्’—द्वयधिकानां सप्ततिसंख्याककारिकाणां समवायात्मकेऽस्मिन्  
सांख्यनिबन्धे, ‘आख्यायिकाः—ऋष्यादिवंशचरितानि तैर्विरहिताः, अथ च ‘परेषां

मतानां वादः-प्रतिवादः खण्डनं, अथवा परान् अर्थान् वहन्ति नतु स्वार्थानिति परवादः-अर्थवादस्तेन विवर्जिताश्च, 'येऽर्थाः'-पञ्चविंशतिपदार्था व्यस्ततया निरूपिताः सन्ति, त एव समस्ता व्यस्ताश्च 'कृत्स्नस्य पष्टितन्त्रस्य'-समग्रस्य 'पष्टितन्त्र'-संज्ञकग्रन्थस्यैव, अर्थाः पदार्थाः सन्ति । किलं-निश्चये ॥ "पष्टितन्त्रे पष्टि-संख्याकाः पदार्था निरूपिताः ॥ तेषामिदं स्पष्टीकरणम् "प्रधानस्य पुरुषस्य चाऽ-स्तित्वम् १, प्रधानस्य एकत्वम्-२ प्रधानस्य भोगापवर्गात्मकप्रयोजनवत्त्वम्-३, प्रधानस्य परार्थत्वम्-४, प्रधानस्य व्यक्ताऽऽव्यक्तस्वरूपत्वम्-५, पुरुषस्य प्रधानभि-न्नत्वम्-६, पुरुषस्याऽकर्तृत्वम्-७, पुरुषस्य बहुत्वम्-८, भोगः-९, मोक्षः-१०, एते दश मुख्यार्थाः ॥ अविद्या-११, अस्मिता-१२, रागः-१३, द्वेषः-१४, अभिनिवेशः-१५ एतेष्व विपर्ययाः । अम्भः-१६, सलिलम्-१७, ओघः-१८, वृष्टिः-१९, पारम्-२०, सुपारम्-२१, पारापारम्-२२, अनुत्तमाम्भः-२३, उत्तमाम्भः-२४, एता नव तुष्टयः ॥ बधिरत्वम्-२५, कुष्टित्वम्-२६, अन्धत्वम्-२७, जडत्वम्-२८, अजिघ्र-स्त्वम्-२९, मूकत्वम्-३०, कौण्यम्-३१, पङ्गुत्वम्-३२, उदावर्तत्वम्-३३, कीब-त्वम्-३४, मन्दता-३५, एते ह्येकादशेन्द्रियवधाः ॥ अनम्भः-३६, असलिलम्-३७, अनोघः-३८, अवृष्टिः-३९, अपारम्-४०, असुपारम्-४१, अपारापारम्-४२, उत्त-माम्भः-४३, अनुत्तमाम्भः-४४, एता नव अतुष्टयः । अतारम्-४५, असुतारम्-४६, अतारतारम्-४७, अरम्यकम्-४८, असदामुदितम्-४९, अप्रसोदम्-५०, अमुदितम्-५१, अमोदमानम्-५२ एते अष्टसिद्धिवधाः ॥ तारम्-५३, सुतारम्-५४, तार-तारम्-५५, रम्यकम्-५६, सदामुदितम्-५७, प्रसोदम्-५८, मुदितम्-५९, मोद-मानम्-६०, एता अष्टसिद्धयः ॥ इति ॥ अथ भवन्ति मुख्यार्था इमे वा दश-  
"प्रकृतिः, पुरुषः, सुखम्, दुःखम्, मोहः, महत्तत्त्वम्, अहंकारः, एकादशेन्द्रिय-समुदायः, पञ्चतन्मात्रसमुदायः, पञ्चस्थूलभूतसमुदाय इति ॥ इयं सांख्यकारिका पञ्चविंशतिपदार्थी भवति । तांश्च पञ्चविंशतिपदार्थान् समस्तान् व्यस्तांश्च निरूप-यन्ती शास्त्रत्वमावहतीति ॥ "पञ्चविंशतितत्त्वानि समस्तव्यस्तरूपतः ज्ञात्वाऽऽप्य विवेकख्यातिं कैवल्यं याति चेतनः" ॥ ७२ ॥ इति ॥ ❀

'भारते पश्चिमे प्रान्ते पुण्ये सागरसङ्गते । 'रैवताऽद्रि'समाधारे 'कङ्क'-सौराष्ट्रविभ्रते ॥ १ ॥ वीरवीहङ्गगणाऽऽपूर्ण-'जीर्णदुर्ग'निवासिभिः । 'श्रीकृष्ण-वल्लभाऽऽचार्यैः'-स्वामिनारायणाऽऽश्रितैः ॥ २ ॥ सांख्यशास्त्रनिगूढानां सिद्धान्तानां प्रदीपकम् । नैकदर्शनसिद्धान्ताऽन्वितं भाष्यमिदं शुभम् ॥ ३ ॥ काश्यां उपेष्टे वैकट्येऽन्दे षडष्टाऽङ्केन्दुसस्मिते । विरचय्याऽर्पितं यत्र भगवान् सः सीदतु ॥ ४ ॥

\* इति श्रीनदार्शनिकपञ्चानन-प्रवर्तनाऽऽचार्य, नव्यन्यायाऽऽचार्य, सांख्ययोग-वेदान्त-तीर्थ, पण्डितश्री-कृष्णवल्लभाऽऽचार्य स्वामिनारायणविरचितं भाष्यं समाप्तम् ❀



\* श्रीगौडपादस्वामिकृतभाष्यसहिता \*

## —१३ साङ्ख्यकारिका —

‘दुःखत्रयाभिघाताजिज्ञासा तदभिघातके हेतौ । दृष्टे साऽपार्था

‘कपिलाय नमस्तस्मै’ येनाविद्योदधौ जगति मग्ने । कारुण्यात् साङ्ख्यमयी  
नौरिव विहिता प्रतरणाय ॥ १ ॥ अल्पग्रन्थं स्पष्टं प्रमाणसिद्धान्तहेतुभिर्युक्तम् ।  
शास्त्रं शिष्यहिताय समासतोऽहं प्रवक्ष्यामि ॥ २ ॥ दुःखत्रयेति ।—अस्या आ-  
र्याया उपोद्धातः क्रियते । इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम, तत् यथा,—“सन-  
कश्चः सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः । आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ।  
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः” ॥ कपिलस्य सहोत्तरानि ‘धर्मो ज्ञानं  
वैराग्यमैश्वर्यञ्चेति । एवं स उत्पन्नः सन् अन्धे तमसि मज्जजगदालोक्ष्य संसार-  
पारम्पर्येण सत्कारुण्यो जिज्ञासमानाय आसुरिगोत्राय ब्राह्मणाय इदं पञ्चविंशति-  
तत्त्वानां ज्ञानम् उक्तवान्, यस्य ज्ञानात् दुःखत्रयो भवति,—“पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो  
यत्र तत्राश्रमे वसेत् । जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥” तदिद-  
माहुः, दुःखत्रयाभिघाताजिज्ञासेति ।—तत्र दुःखत्रयम्-आध्यात्मिकम्, आधि-  
भौतिकम्, आधिदैविकञ्चेति । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं, शारीरं मानसञ्चेति ।  
शारीरं वातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतं ज्वरातीसारादि । मानसं प्रियवियोगा-  
प्रियसंयोगादि । आधिभौतिकं चतुर्विधभूतग्रामनिमित्तं मनुष्यपशुमृगपक्षिसरी-  
ररूपदंशमशकयूकामत्कुणमत्स्पमकरग्राहस्थावरंभ्यो जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेभ्यः  
सकाशादुपजायते । आधिदैविकं देवानामिदं दैवं, दिवः प्रभवतीति वा दैवं,  
तदधिकृत्य यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकम् । एवं यथा  
दुःखत्रयाभिघाताजिज्ञासा कार्या क ? तदभिघातके हेतौ तस्य दुःखत्रयस्य  
अभिघातको योऽसौ हेतुः तत्रेति । दृष्टे साऽपार्था चेत्, दृष्टे हेतौ दुःख-  
त्रयाभिघातके सा जिज्ञासाऽपार्था चेत् यदि । तत्राध्यात्मिकस्य द्विविधस्यापि  
आयुर्वेदशास्त्रक्रियया प्रियसमागमाप्रियपरिहारकटुतिक्तकषायकाथादिभिर्दृष्ट एव  
आध्यात्मिकोपायः । आधिभौतिकस्य रक्षादिनाऽभिघातो दृष्टः । दृष्टे साऽ-  
पार्था चेद्वयं मन्यसे, न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात् । यत एकान्ततोऽवश्यम्

चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥ दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्ष-  
यातिशययुक्तः । तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥ मूल-

अत्यन्ततो नित्यं दृष्टेन हेतुनाऽभिघातो न भवति, तस्मादन्यत्र एकान्तात्य-  
न्ताभिघातके हेतौ जिज्ञासा विविदिषा कार्येति \* १ \* यदि दृष्टादन्यत्र  
जिज्ञासा कार्या, ततोऽपि नैव; यत आनुश्रविको हेतुः दुःखत्रयाभिघातकः । अनु-  
श्रूयत इत्यनुश्रवः, तत्र भवः आनुश्रविकः । स च आगमात् सिद्धः । यथा—  
“अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् । किं नूनमस्मान् तृणव-  
दरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य ॥” कदाचिदिन्द्रादीनां देवानां कल्प आसीत्,  
कथं वयममृता अभूम ? इति विचार्य । यस्माद्वयमपाम सोमं पीवन्तः सोमं,  
तस्मादमृता अभूम अमरा भूतवन्त इत्यर्थः । किञ्च, अगन्म ज्योतिः गतवन्तः  
लब्धवन्तः ज्योतिः स्वर्गमिति । अविदाम देवान् दिव्यान् विदितवन्तः । एवञ्च किं  
नूनमस्मान् तृणवदरातिः नूनं निश्चितं किमरातिः शत्रुरस्मान् तृणवत् कर्त्तेति ।  
किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य धूर्तिर्जरा हिंसा वा किं करिष्यति अमृतमर्त्यस्य । अन्यच्च,  
वेदे श्रूयते आत्यन्तिकं फलं पशुवधेन । “सर्वांल्लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं  
तरति ब्रह्महत्यां तरति यो श्रोऽश्वमेधेन यजते” इति । ऐकान्तात्यन्तिके एवं वेदोक्ते  
अपार्थैव जिज्ञासा, इति न । उच्यते— दृष्टवदानुश्रविक इति, दृष्टेन तुल्यो  
दृष्टवत्, योऽसौ आनुश्रविकः कस्मात् स दृष्टवत्, यस्मादविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।  
अविशुद्धियुक्तः पशुघातात्, तथा चोक्तम्, “षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽ-  
हनि । अश्वमेधस्य वचनाद्गानानि पशुभिस्त्रिभिः ॥” इति । इत्थं यद्यपि श्रुतिस्मृ-  
तिविहितो धर्मस्तथापि मिश्रीभावादविशुद्धियुक्त इति । तथा,—“बहूनीन्द्रसहस्राणि  
देवानाञ्च युगे युगे । कालेन समतीतानि कालो हि दुरतिक्रमः ॥” इति । एव-  
मिन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः; तथाऽतिशयो विशेषस्तेन युक्तः । विशेषगुणदर्शनादि-  
तरस्य दुःखं स्यादिति । एवमानुश्रविकोऽपि हेतुर्दृष्टवत् । कस्तर्हि श्रेयानिति चेत् ?  
उच्यते—तद्विपरीतः श्रेयान्, ताभ्यां दृष्टानुश्रविकाभ्यां विपरीतः श्रेयान् प्रशस्यतर  
इति, अविशुद्धिक्षयातिशयायुक्तत्वात् । स कथमित्याह—व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्—तत्र  
व्यक्तं महदादि, बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि ।  
अव्यक्तं प्रधानम् । ज्ञः पुरुषः । एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः  
कथ्यन्ते । एतद्विज्ञानाच्छ्रेय इति । उक्तञ्च “पञ्चविंशतितत्त्वज्ञः” इत्यादि \* २ \*  
अथव्यक्ताव्यक्तज्ञानां को विशेष इत्युच्यते—मूलप्रकृतिः प्रधानं, प्रकृतिविकृतिसंसकस्य  
मूलभूतत्वात्, मूलञ्च सा प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः । अविकृतिः अन्यस्मान्नोत्पद्यते,  
तेन प्रकृतिः कस्यचिद्विकारो न भवति । महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त-महान्



प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥ दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्च सर्वप्रमाणसि-

बुद्धिः, बुद्ध्याद्याः सप्त, बुद्धिः अहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः । तत् यथा—प्रधानात् बुद्धिरुत्पद्यते, तेन विकृतिः प्रधानस्य विकार इति । सैवाहङ्कारमुत्पादयति, अतः प्रकृतिः । अहङ्कारोऽपि बुद्धेरुत्पद्यते इति विकृतिः, स च पञ्चतन्मात्राण्युत्पादयतीति प्रकृतिः, तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यते इति विकृतिस्तस्मादाकाशमुत्पद्यते इति प्रकृतिः । तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यते इति विकृतिस्तदेवं वायुमुत्पादयतीति प्रकृतिः । गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यते इति विकृतिस्तदेवं पृथिवीमुत्पादयतीति प्रकृतिः । रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यते इति विकृतिस्तदेवं तेज उत्पादयतीति प्रकृतिः । रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यते इति विकृतिस्तदेवमप्युत्पादयतीति प्रकृतिः । एवं महदाद्याः सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च । षोडशकस्तु विकारः, पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः पञ्चमहाभूतानि एष षोडशको गणो विकृतिरेव, विकारो विकृतिः । न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॐ ३ ॐ

एवमेपां व्यक्ताव्यक्तज्ञानां त्रयाणां पदार्थानां कैः कियद्भिः प्रमाणैः केन कस्य वा प्रमाणेन सिद्धिर्भवति । इह लोके प्रमेयवस्तु प्रमाणेन साध्यते, यथा प्रस्थादिभिर्ब्रह्मस्तुल्यया चन्द्रनादिः तस्मात् प्रमाणमभिधेयम् । दृष्टमिति ।—दृष्टं यथा श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एषां पञ्चानां पञ्चैव विषया यथा सङ्ख्यम् । शब्दं श्रोत्रं गृह्णाति, त्वक् स्पर्शं, चक्षुः रूपं, जिह्वा रसं, घ्राणं गन्धमिति । एतत् दृष्टमित्युच्यते प्रमाणम् । प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योऽर्थो न गृह्यते स आसवचनात् ग्राह्यः । यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गोऽप्सरसः इत्यादि । प्रत्यक्षानुमानाग्राह्यमप्यासवचनात् गृह्यते । अपि चोक्तम्—“आगमो ह्यासवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः । क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्वैत्वसम्भवात् ॥ स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः । पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः ॥” एतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति षट् प्रमाणानि जैमिनिः । अथ कानि तानि प्रमाणानि ?—अर्थापत्तिः सम्भव अभावः प्रतिभा ऐतिह्यम् उपमानञ्च’ इति षट् प्रमाणानि । तत्रार्थापत्तिर्द्विविधा, दृष्टा, श्रुता च । तत्र दृष्टा—एकस्मिन् पक्षे आत्मभावो गृहीतश्चेदन्यस्मिन्नप्यात्मभावो गृह्यते एव । श्रुता यथा—दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते अथ च पीनो दृश्यतेऽतोऽवगम्यते रात्रौ भुङ्क्ते इति । सम्भवो यथा—प्रत्य इत्युक्ते चत्वारः कुडवाः सम्भाव्यन्ते । अभावो नाम प्रागितरेतरात्यन्तसर्वाभावलक्षणः । प्रागभावो यथा—देव-

द्वत्वात् । त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥ प्रति-  
विषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् । तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमा-  
प्तश्रुतिराप्तवचनन्तु ॥ ५ ॥ सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनु-

दत्तः कौमार्यौवनदिषु । इतरेतराभावः,—पटे घटाभावः । अत्यन्ताऽभावः,—  
खरविषाण-वन्ध्यासुत-खपुष्पवदिति । सर्वाभावः,—प्रध्वंसाभावो दग्धपटवदिति,  
यथा धुक्कधान्यदर्शनात् वृष्टेरभावोऽवगम्यते । एवमभावोऽनेकधा । प्रतिभा यथा-  
“दक्षिणेन च विन्ध्यस्य सह्यस्य च यदुत्तरम् । पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो  
मनोरमः ॥” एवमुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभनाः गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते,  
प्रतिभा च जानतां ज्ञानमिति । ऐतिह्यं यथा-ब्रवीति लोको यथा अत्र वटे यक्षिणी  
प्रतिवसति इत्येव ऐतिह्यम् । उपमानं यथा—गौरिव गवयः, समुद्र इव तडागः ।  
एतानि षट् प्रमाणानि त्रिषु दृष्टादिष्वन्तर्भूतानि । तत्रानुमाने तावदध्यापसरन्त-  
र्भूता । सम्भवाभावप्रतिभैतिह्योपमाश्रावचने । तस्मात् त्रिष्वेव सर्वप्रमाणसिद्ध-  
त्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, तदाह—तेन त्रिविधेन प्रमाणेन प्रमाणसिद्धिर्भवतीति  
वाक्यशेषः । प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि । प्रमेयं प्रधानं बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि  
एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि पुरुष इति । एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ता-  
व्यक्तज्ञा इत्युच्यन्ते । तत्र किञ्चित् प्रत्यक्षेण साध्यं किञ्चिदनुमानेन किञ्चिदागमे-  
नेति त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॐ ४ ॐ तस्य किं लक्षणमेतदाह—प्रतिविषयेषु श्रोत्रा-  
दीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टं प्रत्यक्षमित्यर्थः । त्रिविधमनुमानमाख्यातं,  
पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं चेति । पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्, यथा मेघोन्नत्या  
वृष्टिं साधयति पूर्वदृष्टत्वात् । शेषवत् यथा—समुद्रादेकं जलपलं लवणमासाद्य शेष-  
स्याप्यस्ति लवणभाव इति । सामान्यतो दृष्टं—देशान्तरादेशान्तरं प्राप्तं दृष्टं गतिम-  
च्चन्द्रतारकं चैत्रवत् । यथा चैत्रनामानं देशान्तरादेशान्तरं प्राप्तमवलोक्य गतिमा-  
नयमिति, तद्वच्चन्द्रतारकमिति । तथा पुष्पिताम्बुदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्बा इति  
सामान्यतो दृष्टेन साधयति । एतत् सामान्यतो दृष्टम् । किञ्च तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वक-  
मिति । तदनुमानं लिङ्गपूर्वकं, यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते, यथा—दण्डेन यतिः ।  
लिङ्गिपूर्वकञ्च, यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा—दृष्ट्वा यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति ।  
आप्तश्रुतिराप्तवचनञ्च । आप्ता आचार्या ब्रह्मादयः, श्रुतिर्वेदः, आप्ताश्च श्रुतिश्च  
आप्तश्रुतिः, तदुक्तमाप्तवचनमिति । एवं त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् \*५\* तत्र केन प्रमा-  
णेन किं साध्यमुच्यते,—सामान्यतो दृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणामिन्द्रियाण्यतीत्य वर्त्त-  
मानानां सिद्धिः । प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतो दृष्टेनानुमानेन साध्येते, यस्मा-  
न्महदादिलिङ्गं त्रिगुणं, यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तत् प्रधानमिति । यतश्चाचेतनं चेत-



मानात् । तस्मादपि चाऽसिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥ ६ ॥ अति-  
दूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् । सौक्ष्म्यादव्यवधानाद्-  
भिभवात्समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥ सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात् कार्य-  
तस्तदुपलब्धिः । महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपञ्च ॥ ८ ॥  
असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकर-

नमिवाभाति अतोऽन्योऽधिष्ठाता पुरुष इति । व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम् । तस्मादपि  
चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धं, यथा-इन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गोऽप्स-  
रस इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम् ❁ ६ ❁ अत्र कश्चिदाह प्रधानं पुरुषो वा नो-  
पलभ्यते, यच्च नोपलभ्यते लोके तन्नास्ति, तस्मात् तावपि न स्तः, यथा द्वितीयं  
शिरस्तृतीयः बाहुरिति । तदुच्यते—अत्र सतामप्यर्थानामष्टधोपलब्धिर्न भवति;  
तत् यथा-इह सतामप्यर्थानामतिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा, यथा-देशान्तरस्थानां चैत्र-  
मैत्रविष्णुमित्राणाम् । सामीप्यात् यथा-चक्षुषाऽङ्गनानुपलब्धिः । इन्द्रियाभिधा-  
तात् यथा-बधिरान्धयोः शब्दरूपानुपलब्धिः । मनोऽनवस्थानात् यथा-व्यप्रचिताः  
सम्यक्कथितमपि नावधारयति । सौक्ष्म्यात् यथा-धूमोष्मजलनीहारपरमाणवो गग-  
नगता नोपलभ्यन्ते । व्यवधानात् यथा-कुड्घेन पिहितं वस्तु नोपलभ्यते । अभि-  
भवात् यथा-सूर्यतेजसाऽभिभूताः ग्रहनक्षत्रतारकादयो नोपलभ्यन्ते । समानाभि-  
हारात् यथा-मुद्गराशौ मुदगः क्षिप्तः, कुवलयामलकमध्ये कुवलयामलके क्षिप्ते  
कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते समानद्रव्यमध्याहृतत्वात् । एवमष्टधाऽनुपलब्धिः  
सतामर्थानामिह दृष्टा ❁ ७ ❁ एवञ्चास्ति किमभ्युपगम्यते प्रधानपुरुषयोरप्येतयो-  
र्वाऽनुपलब्धिः केन हेतुना ? केन चोपलब्धिस्तदुच्यते-सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः,  
प्रधानस्येत्यर्थः, प्रधानं सौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते, यथाऽऽकाशे धूमोष्मजलनीहारपरमाणवः  
सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते । कथं तर्हि तदुपलब्धिः ? कार्यतस्तदुपलब्धिः, कार्यं दृष्ट्वा  
कारणमनुमीयते । अस्ति प्रधानं कारणं यस्येदं कार्यम्, बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मा-  
त्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि एव तत्कार्यम् । तच्च कार्यं प्रकृतिवि-  
रूपं प्रकृतिः प्रधानं, तस्या विरूपं प्रकृतेरसदृशम् । सरूपञ्च समानरूपञ्च, यथा  
लोकेऽपि पितुस्तुल्य इव पुत्रो भवत्यतुल्यश्च । येन हेतुना तुल्यमतुल्यं तदुपरिष्टात्  
वक्ष्यामः ❁ ८ यदिदं महदादिकार्यं तत् किं प्रधाने सत् ? उताहोस्विदसत् ?  
आचार्यविप्रतिपत्तेरयं संशयः, यतोऽत्र सांख्यदर्शने सत्कार्यं बौद्धादीनामसत्का-  
र्यम् । यदि सदसन्नं भवत्यथासत्सन्नं भवतीति विप्रतिषेधस्तत्राह-असदकरणात्  
न सत्-असत् असतोऽकरणं तस्मात् सत्कार्यम् । इह लोकेऽसत्करणं नास्ति, यथा  
सिक्ताभ्यस्तैलोत्पत्तिः, तस्मात् सतः कारणादस्ति प्राणुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्तम्, अतः

णात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥ हेतुमदनित्यमन्यपि सक्रियम-  
नेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

सत्कार्यम् । किञ्चान्यदुपादानग्रहणात्, उपादानं कारणं तस्य ग्रहणात्, इह लोके  
यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति, दध्यर्थी क्षीरस्य न तु जलस्य, तस्मात्  
सत्कार्यम् । इतश्च सर्वसम्भवाभावात् सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति, यथा सुव-  
र्णस्य रजतादौ तृणपांशुसिकतासु, तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत्कार्यम् । इतश्च  
शक्तस्य शक्यकरणात् इह कुलालः शक्तो मृदण्डचक्रचीवररज्जुनीरादिकरणोपकरणं  
वा शक्यमेव घटं मृत्पिण्डादुत्पादयति, तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च कारणभावाच्च  
सत्कार्यं कारणं तल्लक्षणं तल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेभ्यो यवाः, व्रीहिभ्यो  
व्रीहयः । यदाऽसत् कार्यं स्यात् ततः कोदवेभ्यः शालग्रः स्युर्न च सन्तीति,  
तस्मात् सत्कार्यम् । एवं पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधाने महदादिलिङ्गमस्ति, तस्मात् सत्  
उत्पत्तिर्नास्ति इति ॐ ९ ॐ प्रकृतिविरूपं सरूपञ्च यदुक्तं तत् कथमित्युच्यते-व्यक्तं  
महदादिकार्यं, हेतुमदिति हेतुरस्यास्ति हेतुमत्, उपादानं हेतुः कारणं निमित्त-  
मिति पर्यायाः । व्यक्तस्य प्रधानं हेतुरस्ति, अतो हेतुमत् व्यक्तं भूतपर्यन्तं, हेतु-  
मत् बुद्धितत्त्वं प्रधानेन, हेतुमानहङ्कारो बुद्ध्या, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि  
हेतुमन्त्यहङ्कारेण, आकाशं शब्दतन्मात्रेण हेतुमत्, वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमात्रं,  
तेजो रूपतन्मात्रेण हेतुमत्, आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्यः, पृथिवी गन्धतन्मात्रेण  
हेतुमती, एवं भूतपर्यन्तं व्यक्तं हेतुमत् । किञ्चान्यत्, अनित्यं यस्मादन्यस्मादुत्प-  
द्यते, यथा-मृत्पिण्डादुत्पद्यते घटः, स चानित्यः । किञ्चान्यपि असर्वगमित्यर्थः,  
यथा प्रधानपुरुषौ सर्वगतौ, नैवं व्यक्तम् । किञ्चान्यत्, सक्रियं संसारकाले संस-  
रति, त्रयोदशविधेन करणेन संयुक्तं सूक्ष्मं शरीरमाश्रित्य संसरति, तस्मात् सक्रि-  
यम् । किञ्चान्यत्, अनेकं बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहा-  
भूतानि चेति । किञ्चान्यत्, आश्रितं स्वकारणमाश्रयते, प्रधानाश्रिता बुद्धिः, बुद्धि-  
माश्रितोऽहङ्कारः, अहङ्काराश्रितान्येकादशेन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि, पञ्चतन्मा-  
त्राश्रितानि पञ्चमहाभूतानीति । किञ्च लिङ्गं लययुक्तं, लयकाले पञ्चमहाभूतानि  
तन्मात्रेषु लीयन्ते, तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे, स च बुद्धौ, सा च प्रधाने लयं  
यातीति । तथा सावयवम् अवयवाः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तैः सह । किञ्च  
परतन्त्रं नात्मनः प्रभवति, यथा प्रधानतन्त्रा बुद्धिः, बुद्धितन्त्रोऽहङ्कारः, अहङ्कार-  
तन्त्राणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि च, तन्मात्रतन्त्राणि पञ्चमहाभूतानि च । एवं पर-  
तन्त्रं परायत्तं व्याख्यातं व्यक्तम् । अथोऽव्यक्तं व्याख्यास्यामः, विपरीतमव्यक्तम्-  
एतैरेव गुणैर्यथोक्तैर्विपरीतमव्यक्तं, हेतुमत् व्यक्तमुक्तम् । न हि प्रधानात् परं



त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि । व्यक्तं तथा

किञ्चिदस्ति, यतः प्रधानस्यानुत्पत्तिः तस्मादहेतुमदव्यक्तम् । तथाऽनित्यञ्च व्यक्तं, नित्यमव्यक्तमनुत्पाद्यत्वात्, न हि भूतानीव कुतश्चिदुत्पद्यते इत्यव्यक्तं प्रधानम् । किञ्चाव्यापि व्यक्तं, व्यापि प्रधानं सर्वगतत्वात् । सक्रियं व्यक्तमक्रियमव्यक्तं सर्वगतत्वादेव । तथाऽनेकं व्यक्तमेकं प्रधानं कारणत्वात्, त्रयाणां लोकानां प्रधानमेकं कारणं, तस्मादेकं प्रधानम् । तथाऽऽश्रितं व्यक्तम् अनाश्रितमव्यक्तमकार्यत्वात्, न हि प्रधानात् किञ्चिदस्ति परं, यस्य प्रधानं कार्यं स्यात् । तथा व्यक्तं लिङ्गम्, अलिङ्गमव्यक्तं नित्यत्वात्, महदादिलिङ्गं प्रलयकाले परस्परं प्रलीयते, नैवं प्रधानं, तस्मादलिङ्गं प्रधानम् । तथा सावयवं व्यक्तं, निरवयवमव्यक्तं, न हि शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः प्रधाने सन्ति । तथा परतन्त्रं व्यक्तं, स्वतन्त्रमव्यक्तं प्रभवत्पात्मनः ॐ १० ॐ एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तं, साधर्म्यमुच्यते, यदुक्तं 'सरूपञ्च' ।—त्रिगुणं व्यक्तं, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा यस्येति । अविवेकि व्यक्तं, न विवेकोऽस्यास्तीति, इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति, अयं गौरयमश्व इति यथा, ये गुणास्तत् व्यक्तं यत् व्यक्तं ते च गुणा इति । तथा विषयो व्यक्तं, भोग्यमित्यर्थः, सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात् । तथा सामान्यं व्यक्तं, मूल्यदासीवत् सर्वसाधारणत्वात् । अचेतनं व्यक्तं, सुखदुःखमोहान् न चेतयतीत्यर्थः । तथा प्रसवधर्मि व्यक्तं, तत् यथा—बुद्धेरहङ्कारः प्रसूयते, तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च प्रसूयन्ते, तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि । एवमेते व्यक्तधर्माः प्रसवधर्मान्ता उक्ताः, एवमेभिरव्यक्तं सरूपं, यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति । तत्र त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तमपि त्रिगुणं, यस्यैतन्महदादिकार्यं त्रिगुणम् । इह यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमिति, यथा कृष्णतन्तुकृतः कृष्ण एव पटो भवति । तथा अविवेकि व्यक्तं, प्रधानमपि गुणैर्न भिद्यते, अन्ये गुणाः अन्यत् प्रधानमेवं विवेक्तुं न याति तदविवेकि प्रधानम् । तथा विषयो व्यक्तं, प्रधानमपि सर्वपुरुषविषयभूतत्वात् विषय इति । तथा सामान्यं व्यक्तं, प्रधानमपि सर्वसाधारणत्वात् । तथाऽचेतनं व्यक्तं प्रधानमपि सुखदुःखमोहान् न चेतयतीति कथमनुमीयते, इह ह्यचेतनान्मृत्पिण्डादचेतनो घट उत्पद्यते । तथा प्रसवधर्मि व्यक्तं, प्रधानमपि प्रसवधर्मि, यतः प्रधानात् बुद्धिरुत्पद्यते । एवं प्रधानमपि व्याख्यातम् । इदानीं 'तद्विपरीतस्तथा च पुमानित्येतत् व्याख्यायते ।—तद्विपरीतस्ताभ्यां व्यक्ताव्यक्ताभ्यां विपरीतः पुमान् ; तत् यथा—त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तञ्च, अगुणः पुरुषः । अविवेकि व्यक्तमव्यक्तञ्च, विवेकी पुरुषः । तथा विषयो व्यक्तमव्यक्तञ्च, अविषयः पुरुषः । तथा सामान्यं व्यक्तमव्यक्तञ्च, असामान्यः पुरुषः । अचेतनं व्यक्तमव्यक्तञ्च, चेतनः

प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥ प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः  
प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः । अन्योऽन्यग्भिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च

पुरुषः । सुखदुःखमोहांश्चेतयति सज्जानीते तस्माच्चेतनः पुरुषः इति । प्रसवधर्मि  
व्यक्तं प्रधानञ्च, अप्रसवधर्मी पुरुषः, न हि किञ्चित् पुरुषात् प्रसूयते । तस्मादुक्तं  
'तद्विपरीतः पुमानिति' । तदुक्तं 'तथा च पुमान्' इति, तत् पूर्वस्यामार्यायां प्रधा-  
नमहेतुमत् यथा व्याख्यातं तथा च पुमान्, तत् यथा हेतुमदनित्यमित्यादि व्यक्तं,  
तद्विपरीतमव्यक्तं, तत्र हेतुमत् व्यक्तमहेतुमत् प्रधानम्, तथा च पुमानहेतुमान्,  
अनुत्पाद्यत्वात् । अनित्यं व्यक्तं नित्यं प्रधानम्, तथा च नित्यः पुमान् ।  
अव्यापि व्यक्तं व्यापि प्रधानम्, तथा च व्यापी पुमान्, सर्वगतत्वात् । सक्रियं  
व्यक्तमक्रियं प्रधानम्, तथा च पुमानक्रियः, सर्वगतत्वादेव । अनेकं व्यक्तमेकम-  
व्यक्तम्, तथा च पुमानप्येकः । आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तम्; तथा च  
पुमाननाश्रितः । लिङ्गं व्यक्तमलिङ्गं प्रधानम्, तथा च पुमानप्यलिङ्गः, न कचि-  
ह्रीयते इति । सावयवं व्यक्तं निरवयवमव्यक्तम्, तथा च पुमान् निरवयवः । न  
हि पुरुषे शब्दादयोऽवयवाः सन्ति । किञ्च परतन्त्रं व्यक्तं स्वतन्त्रमव्यक्तम्, तथा  
च पुमानपि स्वतन्त्रः, आत्मनः प्रभवतीत्यर्थः \* ११ \* एवमेतदव्यक्तपुरुषयोः  
साधर्म्यं व्याख्यातं पूर्वस्यामार्यायां व्याख्यातम् । व्यक्तप्रधानयोः साधर्म्यं पुरुषस्य वैधर्म्यञ्च  
त्रिगुणमविवेकीत्यादि प्रकृत्यार्यायां व्याख्यातम् । तत्र यदुक्तं त्रिगुणमिति व्यक्तम-  
व्यक्तञ्च तत्, के ते गुणा इति तत्स्वरूपप्रतिपादनायेदमाह—प्रीत्यात्मका अप्रीत्या-  
त्मका विषादात्मकाश्च गुणाः सत्त्वरजस्तमांसीत्यर्थः । तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वं,  
प्रीतिः सुखं तदात्मकमिति । अप्रीत्यात्मकं रजः, अप्रीतिर्दुःखम् । विषादात्मकं  
तमः, विषादो मोहः । तथा प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः, अर्थशब्दः सामर्थ्यवाची,  
प्रकाशार्थं सत्त्वं, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः, प्रवृत्त्यर्थं रजः । नियमार्थं तमः, स्थितौ  
समर्थमित्यर्थः, प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा इति । तथाऽन्योऽन्यग्भिभवाश्रयज-  
ननमिथुनवृत्तयश्च—अन्योऽन्यग्भिभवाः अन्योऽन्यगश्रयाः अन्योऽन्यजननाः अन्योऽ-  
न्यमिथुनाः अन्योऽन्यवृत्तयश्च ते तथोक्ताः । अन्योऽन्यग्भिभवा इति—अन्योऽन्यं  
परस्परमभिभवन्तीति, प्रीत्यप्रीत्यादिभिर्धर्मैराविर्भवन्ति, यथा यदा सत्त्वंमुक्तं  
भवति तदा रजस्तमसी अभिभूय स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठते, यदा  
रजस्तदा सत्त्वतमसी अप्रीतिप्रवृत्त्यात्मना धर्मेण, यदा तमस्तदा सत्त्वरजसी  
विषादस्थित्यात्मकेन इति । तथाऽन्योऽन्यगश्रयाश्च द्व्यणुकवत् गुणाः । अन्योऽन्य-  
जननाः, यथा सृष्टिपण्डो घटं जनयति । तथाऽन्योऽन्यमिथुनाश्च, यथा स्त्रीपुंसौ  
अन्योऽन्यमिथुनौ तथा गुणाः । उक्तञ्च,—“अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र-



गुणाः ॥१२॥ सत्त्वं लघु प्रकाशकामिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः । गुरु  
वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥ अविवेक्यादिः सिद्ध-  
क्षैर्गुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् । कारणगुणात्मकत्वान् कार्यस्याव्यक्तमपि

गामिनः । रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ॥ तमसश्चापि मिथुने ते  
सत्त्वरजसी उभे । उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ॥ नैपामादिः सम्प्रयोगो  
वियोगो वोपलभ्यते ॥” परस्परसहाया इत्यर्थः । अन्योऽन्यवृत्तयश्च परस्परं  
वर्तन्ते “गुणाः गुणेषु वर्तन्ते” इति वचनात् । यथा सुरूपा सुशीला स्त्री सर्व-  
सुजहेतुः, सपत्नीनां सैव दुःखहेतुः, सैव रागिणां मोहं जनयति, एवं सत्त्वं रज-  
स्तमसोवृत्तिहेतुः । यथा राजा सदोद्युक्तः प्रजापालने दुष्टनिग्रहे क्षिप्राणां सुख-  
मुत्पादयति, दुष्टानां दुःखं मोहञ्च, एवं रजः सत्त्वतमसोवृत्तिं जनयति । तथा  
तमः स्वरूपेणावरणात्मकेन सत्त्वरजसोवृत्तिं जनयति, यथा मेघाः खमा-  
वृत्य जगतः सुखमुत्पादयन्ति ते वृष्ट्या कर्षकाणां कर्षणोद्योगं जनयन्ति विर-  
हणां मोहम्, एवमन्योऽन्यवृत्तयो गुणाः ॐ १२ ॐ किञ्चान्यत्, सत्त्वं लघु प्रका-  
शकञ्च—यदा सत्त्वमुत्कटं भवति तदा लघून्यङ्गानि बुद्धिप्रकाशश्च प्रसन्नतेन्द्रि-  
याणां भवति । उपष्टम्भकं चलञ्च रजः,—उपष्टम्भातीत्युपष्टम्भकमुद्योतकं, यथा  
वृषो वृषदर्शने उत्कटमुपष्टम्भं करोति, एवं रजोवृत्तिः, तथा रजश्च चल द्रष्टुं, रजो-  
वृत्तिश्चलचित्तो भवति । गुरु वरणकमेव तमः,—यदा तम उत्कटं भवति तदा गुरु-  
ण्यङ्गान्यावृतानीन्द्रियाणि भवन्ति स्वार्थासमर्थानि । अत्राह—यदि गुणाः पर-  
स्परं विरुद्धाः स्वमतेनैव कमर्थं निष्पादयन्ति, तर्हि कथं प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः,  
प्रदीपेन तुल्यं प्रदीपवत्, अर्थतः साधना वृत्तिरिष्टा, यथा प्रदीपः परस्परविरुद्ध-  
तैलाग्निवत्संयोगादर्थप्रकाशान् जनयति, एवं सत्त्वरजस्तमांसि परस्परं विरुद्धा-  
न्यर्थं निष्पादयन्ति ॐ १३ ॐ अन्तरप्रश्नो भवति ‘त्रिगुणमविवेकिविषय’ इत्यादि-  
ना प्रधानं व्यक्तञ्च व्याख्यातं, तत्र प्रधानमुपलभ्यमानं महदादि च त्रिगुणम्,  
अविवेक्यादीति च कथमवगम्यते ? तत्राह—योऽयमविवेक्यादिगुणः स त्रैगुण्यान्म-  
हदादौ व्यक्तेनायं सिध्यति । अत्रोच्यते—तद्विपर्ययाभावात्—तस्य विपर्ययस्तद्वि-  
पर्ययस्तस्याभावस्तद्विपर्ययाभावः तस्मात् सिद्धमव्यक्तम् । यथा यत्रैव तन्तव-  
स्तत्रैव पटः, अन्ये तन्तवोऽन्यः पटो न, कुतः ? तद्विपर्ययाभावात् । एवं व्यक्ता-  
व्यक्तसम्पन्नो भवति, दूरं प्रधानमासन्नं व्यक्तं, यो व्यक्तं पश्यति स प्रधानमपि  
पश्यति, तद्विपर्ययाभावात् । इतिश्चाव्यक्तं सिद्धं ‘कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य,’  
लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमपि, यथा कृष्णेभ्यस्तन्तुभ्यः कृष्ण एव  
पटो भवति । एवं महदादिलिङ्गमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि, यदा-

सिद्धम् ॥ १४ ॥ भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारण-  
कार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ॥ १५ ॥ कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते

रमकं लिङ्गं तदात्मकमव्यक्तमपि सिद्धम् ॐ १४ ॐ त्रैगुण्यादविवेक्यादिव्यक्तं  
सिद्धस्तद्विपर्ययाभावात्, एवं कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धमि-  
त्येतन्मिथ्या, लोके यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति, इति न वाच्यम्, सतोऽपि पाषाणग-  
न्धादेरनुपलम्भात्, एवं प्रधानमप्यस्ति किन्तु नोपलभ्यते, तदाह—कारणमस्त्य-  
व्यक्तमिति क्रियाकारकसम्बन्धः । भेदानां परिमाणात्—लोके यत्र कर्ताऽस्ति  
तस्य परिमाणं द्रष्टुं, यथा कुलालः परिमितैर्मृत्पिण्डैः परिमितानेव घटान् करोति,  
एवं महदपि महदादिलिङ्गं परिमितं भेदतः, प्रधानकार्यमेका बुद्धिरेकोऽहङ्कारः  
पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानीत्येवं भेदानां परिमाणादस्ति  
प्रधानं कारणं यत् व्यक्तं परिमितमुत्पादयति । यदि प्रधानं न स्यात्, तदा निष्प-  
रिमाणमिदं व्यक्तमपि न स्यात्, परिमाणाच्च भेदानामस्ति प्रधानं यस्मात् व्यक्त-  
मुत्पन्नम् । तथा समन्वयात्, इह लोके प्रसिद्धिर्द्रष्टा यथा व्रतधारिणं बद्धं दृष्ट्वा  
समन्वयति नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणाविति, एवमिदं त्रिगुणं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वा  
साधयामोऽस्य यत् कारणं भविष्यतीति, अतः समन्वयादस्ति प्रधानम् । तथा  
शक्तितः प्रवृत्तेश्च, इह यो यस्मिन् शक्तः स तस्मिन्नेवार्थे प्रवर्तते, यथा कुलालो  
घटस्य करणे समर्थो घटमेव करोति न पटं रथं वा । तथा अस्ति प्रधानं कारणं,  
कुतः ? कारणकार्यविभागात्—करोतीति कारणं, क्रियते इति कार्यम्, कार-  
णस्य कार्यस्य च विभागः,—यथा घटो दधिमधूदकपयसां धारणे समर्थो न तथा  
तत्कारणं मृत्पिण्डः । मृत्पिण्डो वा घटं निष्पादयति न चैवं घटो मृत्पिण्डम् ।  
एवं महदादिलिङ्गं द्रष्टृत्वाऽनुमीयते, अस्ति विभक्तं तत्कारणं यस्य विभाग इदं  
व्यक्तमिति । इतश्च अविभागात् वैश्वरूपस्य—विश्वं जगत्, तस्य रूपं व्यक्तिः,  
विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूपं, तस्याविभागादस्ति प्रधानं, यस्मात् त्रैलोक्यस्य प-  
ञ्चानां पृथिव्यादीनां महाभूतानां परस्परं त्रिभागो नास्ति महाभूतेष्वन्तर्भूतास्तस्यो  
लोका इति, पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति, एतानि पञ्चमहाभूतानि प्रलय-  
काले सृष्टिक्रमेणैवाविभागं यान्ति तन्मात्रेषु परिणामिषु, तन्मात्राण्येकादशेन्द्रि-  
याणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो बुद्धौ, बुद्धिः प्रधाने, एवं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रकृ-  
तावविभागं गच्छन्ति. तस्मादविभागात् क्षीरदधिवत् व्यक्ताव्यक्तयोरस्त्यत्यक्तं  
कारणम् ॐ १५ ॐ अतश्च—अव्यक्तं प्रख्यातं कारणमस्ति यस्मान्महदादिलिङ्गं प्रव-  
र्तते । त्रिगुणतः त्रिगुणात्, सत्त्वरजस्तमांसि गुणा यस्मिन् तत् त्रिगुणम्, तत्  
किमुक्तं भवति ? सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम् । तथा समुदायात्, यथा



त्रिगुणतः समुदयाच्च । परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥ सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् । पुरुषोऽस्ति

गङ्गास्रोतोऽसि त्रीणि रुद्रमूर्धनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति, एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति । यथा वा तन्त्रवः समुदिता पटं जनयन्ति, एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयतीति त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते । यस्मादेकस्मात् प्रधानात् व्यक्तं तस्मादेकरूपेण भवितव्यम्, नैष दोषः । परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्, एकस्मात् प्रधानात् त्रयो लोकाः समुत्पन्नास्तुल्यभावा न भवन्ति, देवाः सुखेन युक्ताः, मनुष्या दुःखेन, तिर्यञ्चो मोहेन, एकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तं व्यक्तं प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवत् भवति-प्रतिप्रतीति वीप्सा, गुणानामाश्रयो गुणाश्रयस्तद्विशेषस्तं गुणाश्रयविशेषं प्रतिनिधाय प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषं परिणामात् प्रवर्तते व्यक्तं, यथा आकाशादेकरसं सलिलं पतितं नानारूपात् संश्लेषाद्विद्यते तत्तद्रसान्तरैः, एवमेकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तास्त्रयो लोका नैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुत्कटं रजस्तमसी उदासीने, तेन तेऽत्यन्तसुखिनः, मनुष्येषु रज उत्कटं भवति सत्त्वतमसी उदासीने, तेन तेऽत्यन्तदुःखिनः, तिर्यङ्क्षु तम उत्कटं भवति सत्त्वरजसी उदासीने, तेन तेऽत्यन्तमूढाः ॥ १६ ॥ एवमार्याद्वयेन प्रधानस्यास्तित्वमवगम्यते, इतश्चोत्तरं पुरुषास्तित्वप्रतिपादनार्थमाह, यदुक्तं-“व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षः प्राप्यते” इति, तत्र व्यक्तादनन्तरमव्यक्तं पञ्चभिः कारणैरधिगतं व्यक्तवत् । पुरुषोऽपि सूक्ष्मः, तस्याधुनानुमितास्तित्वं प्रातिक्रियते-अस्ति पुरुषः, कस्मात् ? संघातपरार्थत्वात् । योऽयं महदादिसंघातः स पुरुषार्थ इत्यनुमीयते, अचेतनत्वात् पर्यङ्कवत्, यथा पर्यङ्कः प्रत्येकं गात्रोत्पलकपादपीठतूलीप्रच्छादनपटोपधानसंघातः परार्थो न हि स्वार्थः, पर्यङ्कस्य न हि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति । अतोऽवगम्यते अस्ति पुरुषो यः पर्यङ्के शेते, यस्यार्थं पर्यङ्कस्तत्परार्थम्; इदं शरीरं पञ्चानां महाभूतानां सङ्घातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यं शरीरं भोग्यमहदादिसङ्घातरूपं समुत्पन्नमिति । इतश्चात्माऽस्ति त्रिगुणादिविपर्ययात् । यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां “त्रिगुणमविवेकि विषय” इत्यादि । तस्माद्विपर्ययात्, येनोक्तं तद्विपरीतस्तथा च पुनान् । अधिष्ठानात्, यथेह लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाऽधिष्ठितः प्रवर्तते तथा आत्माऽधिष्ठानाच्छरीरमिति । तथा चोक्तं पठितन्त्रे ‘पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते’ । अतोऽस्त्यात्मा, भोकृत्वात् । यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्तकपायपङ्कजसोपवृंहितस्य संयुक्तस्यान्नस्य साध्यते, एवं महदादिलिङ्गस्य भोकृत्वाभावादस्ति स आत्मा यस्येदं भोग्यं शरीरमिति । इतश्च

भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥ जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥ तस्माच्च विपर्ययासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥ तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनाव-

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च-केवलस्य भावः कैवल्यं तन्निमित्तं या च प्रवृत्तिस्तस्याः स्वकैवल्यार्थं प्रवृत्तेः सकाशादनुमीयते, अस्त्यात्मेति; यतः सर्वो विद्वानविद्वांश्च संसारसन्तानक्षयमिच्छति । एवमेभिर्हेतुभिरस्त्यात्मा शरीरात् व्यतिरिक्तः ॥ १७ ॥ अथ सः किमेकः सर्वशरीरे अधिष्ठाता मणिरसनात्मकसूत्रवत् ? आहोस्वित् बहव आत्मानः प्रतिशरीरमधिष्ठातार इति ? अत्रोच्यते-जन्म च मरणं च करणानि च जन्ममरणकरणानि तेषां प्रतिनियमात् प्रत्येकनियमादित्यर्थः । यथेक एव आत्मा स्यात् तत एकस्य जन्मनि सर्व एव जायेरन्, एकस्य मरणे सर्वेऽपि म्रियेरन्, एकस्य करणवैकल्ये बाधिर्यान्धत्वसूकृत्वकुणित्वजङ्गत्वलक्षणे सर्वेऽपि बाधिरान्धसूकृत्वकुणित्वजङ्गलाः स्युः, न चैवं भवति, तस्माज्जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । इतश्च, अयुगपत् प्रवृत्तेश्च-युगपदेककालं, न युगपदयुगपत् प्रवर्तनं, यस्मादयुगपदमार्गदिषु प्रवृत्तिर्दृश्यते, एके धर्मे प्रवृत्ताः, अन्येऽधर्मे, वैराग्येऽन्ये, ज्ञानेऽन्ये प्रवृत्ताः, तस्मादयुगपत् प्रवृत्तेश्च बहव इति सिद्धम् । किञ्चान्यत् त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव, त्रिगुणभावविपर्ययाच्च पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । यथा सामान्ये जन्मनि एकः सात्त्विकः सुखी, अन्यो राजसो दुःखी, अन्यस्तामसो मोहवान्, एवं त्रैगुण्यविपर्ययाद्बहुत्वं सिद्धमिति ॥ १८ ॥ अकर्ता पुरुष इत्येतदुच्यते, तस्माच्च विपर्ययासात्-तस्माच्च यथोक्तत्रैगुण्यविपर्ययाद्विपर्ययान्निर्गुणः पुरुषो विवेकी भोक्तृत्वादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्ययास उक्तस्तस्मात्, सत्त्वरजस्तमःसु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति, योऽयमधिकृतो बहुत्वं प्रति । गुणा एव कर्तारः प्रवर्तन्ते, साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तते एव । किञ्चान्यत्, कैवल्यं केवलभावः, कैवल्यमन्यत्वमित्यर्थः, त्रिगुणेभ्यः केवलोऽन्यः । माध्यस्थ्यं मध्यस्थभावः, परिव्राजकवत् मध्यस्थः पुरुषः, यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽप्येवं गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते, तस्माद्द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च, यस्मान्मध्यस्थस्तस्मात् दृष्टा तस्मादकर्ता पुरुषस्तेषां कर्मणामिति सत्त्वरजस्तमांसित्रयो गुणाः कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते, न पुरुषः, एवं पुरुषस्यास्तित्वञ्च सिद्धम् ॥ १९ ॥ यस्मादकर्ता पुरुषस्तत् कथमध्यवसायं करोति ? धर्मं करिष्याम्यधर्मं न करिष्यामीत्यतः कर्ता भवति, न च कर्ता पुरुष एवमुभयथा दोषः स्यादिति, अत उच्यते-इह पुरुषश्चेतनावान् तेन चेतनावभाससंयुक्तं महदादिकिञ्चेतनावदिव



वदिव लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तव्यं भवत्युदासीनः ॥ २० ॥  
 पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्गवन्धवदुभयोरपि सं-  
 योगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥ प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोड-

भवति, यथा लोके घटः शीतसंयुक्तः शीतः, उष्णसंयुक्त उष्णः, एवं महदादि  
 लिङ्गं तस्य संयोगात् पुरुषसंयोगाच्चेतनावदिव भवति, तस्मात् गुणा अध्यवसायं  
 कुर्वन्ति न पुरुषः । यद्यपि लोके पुरुषः कर्ता गन्तेत्यादि प्रयुज्यते तथाऽप्यकर्ता  
 पुरुषः । कथम् ? गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तव्यं भवत्युदासीनः, - गुणानां कर्तृत्वे  
 सति उदासीनोऽपि पुरुषः कर्त्तव्यं भवति, न कर्ता । अत्र दृष्टान्तो भवति, यथाऽ-  
 चौरश्चौरैः सह गृहीतश्चौर इत्यवगम्यते, एवं त्रयो गुणाः कर्तारः, तैः संयुक्तः पुरु-  
 षोऽकर्ताऽपि कर्ता भवति कर्तृसंयोगात् । एवं व्यक्ताव्यक्तज्ञानां विभागो विख्यातः,  
 यद्विभागान्मोक्षप्राप्तिरिति \*२०\* अथैतयोः प्रधानपुरुषयोः किं हेतुः सङ्घातः ?  
 उच्यते-पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगो दर्शनार्थं, प्रकृतिं महदादि कार्यं भूत-  
 पर्यन्तं पुरुषः पश्यति, एतदर्थं प्रधानस्यापि पुरुषेण संयोगः कैवल्यार्थम् । स च  
 संयोगः पङ्गवन्धवदुभयोरपि द्रष्टव्यः, यथा एकः पङ्गुरेकश्चान्ध एतौ द्वावपि गच्छ-  
 न्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां सार्थस्य स्तेनकृतादुपप्लवात् स्वबन्धुपरित्यक्तौ दैवा-  
 दितश्चेतश्च चेरतुः, स्वगत्या च तौ संयोगमुपयातौ पुनस्तयोः त्ववचसोर्विश्व-  
 स्तत्त्वेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थञ्च भवति, अन्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः, एवं  
 शरीरारूढपङ्गुदर्शितेन मार्गेणान्धो याति पङ्गुश्चान्धस्कन्धारूढः । एवं पुरुषे दर्श-  
 नशक्तिरस्ति पङ्गुवन्न क्रिया, प्रधाने क्रियाशक्तिरस्त्यन्धवन्न दर्शनशक्तिः । यथा  
 वा अनयोः पङ्गवन्धयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यतीप्सितस्थानप्राप्तयोः, एवं प्रधा-  
 नमपि पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्त्तते, पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति,  
 तयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यति । किञ्चान्यत्, तत्कृतः सर्गः,-तेन संयोगेन  
 कृतस्तत्कृतः, सर्गः सृष्टिः, यथा स्त्रीपुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधानपुरुषसंयो-  
 गात् सर्गस्योत्पत्तिः ॥ २१ ॥ इदानीं सर्गविभागदर्शनार्थमाह-प्रकृतिः प्रधानं ब्रह्म  
 अव्यक्तं बहुधानकं मायेति पर्यायाः । अलिङ्गस्य प्रकृतेः सकाशान्महानुत्पद्यते,  
 महान् बुद्धिरासुरी मतिः ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते । तस्माच्च महतोऽ-  
 हङ्कार उत्पद्यते, अहङ्कारो भूतादिवैकृतस्तैजसोऽभिमान इति पर्यायाः । तस्मा-  
 द्गणश्च षोडशकः, तस्मादहङ्कारात् षोडशकः षोडशस्वरूपेण गण उत्पद्यते; स  
 यथा-पञ्चतन्मात्राणि, शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्ध-  
 तन्मात्रमिति । तन्मात्रसूक्ष्मपर्यायवाच्यानि । तत एकादशेन्द्रियाणि, श्रोत्रं त्वक्  
 चक्षुषी जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धौन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपादपस्थानि पञ्च

शकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ २२ ॥ अध्यव-  
सायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं तामसम-

कमेन्द्रियाणि, उभयात्मकमेकादशं मनश्च, एषः षोडशको गणोऽहंकारादुत्पद्यते ।  
क्रिञ्च पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि-तस्मात् षोडशकाद्वगणात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः सकाशात्  
पञ्च वै महाभूतान्युत्पद्यन्ते, यदुक्तं—शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्रादायुः,  
रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, एवं पञ्चभ्यः परमा-  
णुभ्यः पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते ॥ २२ ॥ यदुक्तं “व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षः”  
इति, त्र महदादि भूतान्तं त्रयोविंशतिभेदं व्याख्यातं, अव्यक्तमपि “भेदानां  
परिमाणात्” इत्यादिना व्याख्यातम्, पुरुषोऽपि “संघातपरायत्वात्”  
इत्यादिमिहेतुमि व्याख्यातः, एवमेानि पञ्चविंशतितत्त्वानि, यस्तैस्त्रैलोक्यं  
व्याप्तं जानाति, तस्य भावाऽस्तित्वं तत्त्वं, यथोक्तं—“पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्रा-  
श्रमे रत । जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥” तानि यथा—  
प्रकृतिः पुरुषो बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि  
इत्येतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि । तत्रोक्तप्रकृतेर्महानुत्पद्यते, तस्य महतः किं लक्ष-  
णमित्येतदाह—अध्यवसायो बुद्धिलक्षणम्, अध्यवसानमध्यवसायः; यथा बीजे  
भविष्यद्वृत्तिकोऽङ्कुरस्तद्वदध्यवसायोऽयं घटोऽयं पट इत्येवम् अध्यवस्यति या सा  
बुद्धिरिति लक्ष्यते । सा च बुद्धिरष्टाङ्गिका सात्त्विक-तामसरूपभेदात् । तत्र बुद्धेः  
सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति, धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यञ्चेति । तत्र धर्मो नाम  
दयादानयमनियमलक्षणः; तत्र यमा नियमाश्च पातञ्जलेऽभिहिताः,—“अहिंसास-  
त्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः” “शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि  
नियमाः” । ज्ञानं प्रकाशोऽवगमो भानमिति पर्यायाः; तच्च द्विविधं, बाह्यमाभ्य-  
न्तरञ्चेति । तत्र बाह्यं नाम वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिषाख्यष-  
डङ्गसहिताः पुराणानि न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चेति । आभ्यन्तरं प्रकृतिपुरु-  
षज्ञानम्, इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, अयं पुरुषः सिद्धो निर्गुणो  
व्यापी चेतन इति । तत्र बाह्यज्ञानेन लोकपङ्क्तिर्लोकानुराग इत्यर्थः । आभ्य-  
न्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः । वैराग्यमपि द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च, बाह्यं द्रष्टवि-  
षयवैतृष्यमर्जनरक्षणक्षयसङ्गर्हिंसादोषदर्शनात् विरक्तस्य; आभ्यन्तरं प्रधानम-  
प्यत्र स्वप्नेन्द्रजालसदृशमिति विरक्तस्य मोक्षेऽसौर्धदुत्पद्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम् ।  
ऐश्वर्यमीश्वरभावः, तच्चाष्टगुणम्—अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमी-  
शित्वं वशित्वं यत्र कामावसायित्वञ्चेति । अणोर्मावोऽणिमा सूक्ष्मो भूत्वा जागति  
विचरतीति । महिमा महान् भूत्वा विचरतीति । लघिमा मृणालीतूलावयवादिपि



स्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥ अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते  
सर्गः । एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥ सात्त्विक एका-  
दशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् । भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादु-  
भयम् ॥ २५ ॥ बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि । वाक्-

लघुतया पुष्पकेसराग्नेष्वपि तिष्ठति । प्राप्तिरभिमतं वस्तु यत्र तत्रावस्थितः प्राप्नो-  
ति । प्राकाम्यं प्रकामतो यदेवेच्छति तदेव विदधाति । ईशित्वं प्रभुतया त्रैलो-  
क्यमपीष्टे । वशित्वं सर्वं वशीभवति । यत्र कामावसायित्वं ब्रह्मादिस्तत्त्वपर्यन्तं,  
यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति । चत्वार्येतानि बुद्धेः  
सात्त्विकानि रूपाणि । यदा सत्त्वेन रजस्तमसी अभिभूते, तदा पुमान् बुद्धिगुणान्  
धर्मादीनाप्नोति । किञ्चाम्यत्, तामसमस्मात् विपर्यस्तम्-अस्माद्धर्मादेर्विपरीतं  
तामसं बुद्धिरूपं, तत्र धर्माद्विपरीतोऽधर्मः, एवमज्ञानमवैराग्यमनैश्चर्च्चमिति ।  
एवं सात्त्विकैस्तामसैः स्वरूपैरष्टाङ्गा बुद्धिस्त्रिगुणादव्यक्तादुत्पद्यते ॥ २३ ॥ एवं  
बुद्धिलक्षणमुक्तम्, अहङ्कारलक्षणमुच्यते-एकादशकश्च गण एकादशेन्द्रियाणि तथा  
तन्मात्रो गणः पञ्चकः पञ्चलक्षणेपेत शब्दतन्मात्र-स्पर्शतन्मात्र-रूपतन्मात्र-रसतन्मा-  
त्रगन्धतन्मात्र-लक्षणेपेतः ॥ २४ ॥ किं लक्षणात् सर्ग इत्येतदाह-सत्त्वेनाभिभूते यदा  
रजस्तमसी अहङ्कारे भवतस्तदा सोऽहङ्कारः सात्त्विकः, तस्य च पूर्वाचार्यैः संज्ञा  
कृता वैकृता इति । तस्माद्वैकृतादहङ्कारादेकादशक इन्द्रियगण उत्पद्यते । तस्मात्-  
सात्त्विकानि विशुद्धानीन्द्रियाणि स्वविषयसमर्थानि, तस्मादुच्यते सात्त्विक एका-  
दशक इति । किञ्चाम्यत्, भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तमसाभिभूते, सत्त्वरजसी  
अहङ्कारे यदा भवतः, तदा सोऽहङ्कारस्तामस उच्यते, तस्य पूर्वाचार्यकृता संज्ञा  
भूतादिः, तस्मात् भूतादेरहङ्कारात् तन्मात्रः पञ्चको गण उत्पद्यते, भूतानामादिभू-  
तस्तमोबहुलस्तेनोक्तः स तामस इति; तस्मात् भूतादेः पञ्चतन्मात्रको गणः ।  
किञ्च, तैजसादुभयं—यदा रजसाभिभूते सत्त्वतमसी अहङ्कारे भवतस्तदा तस्मात्  
सोऽहङ्कारस्तैजस इति संज्ञां लभते, तस्मात्तैजसादुभयमुत्पद्यते । उभयमिति  
एकादशो गणस्तन्मात्रः पञ्चकः । योऽयं सात्त्विकोऽहङ्कारो वैकृतिको विकृतो भूत्वा  
एकादशेन्द्रियाण्युत्पादयति स तैजसमहङ्कारं सहायं गृह्णाति, सात्त्विको निष्क्रियः,  
स तैजसयुक्त इन्द्रियोत्पत्तौ समर्थः तथा तामसोऽहङ्कारो भूतादिसंज्ञितो निष्क्रि-  
यत्वात् तैजसेनाहङ्कारेण क्रियावता युक्तस्तन्मात्राण्युत्पादयति, तेनोक्तं तैजसादुभय-  
मिति । एवं तैजसेनाहङ्कारेणैन्द्रियाण्येकादश पञ्चतन्मात्राणि कृतानि भवन्ति ॥ २५ ॥  
सात्त्विक एकादशकः इत्युक्तः; यो वैकृतात् सात्त्विक एकादशकः सात्त्विकादहङ्का-  
रादुत्पद्यते तस्य का संज्ञेत्याह—चक्षुरादीनि स्पर्शनपर्यन्तानि बुद्धीन्द्रियाण्यु-

पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥ उभयात्मकमत्र मनः  
सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् । गुणपरिणामविशेषाज्ञानात्वं बाह्यभे-  
दाश्च ॥ २७ ॥ रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः । वचना-

च्यन्ते । स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं, तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोऽस्ति,  
तेनेदं पठ्यते स्पर्शनकानीति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्च विषयान् बुध्यन्ते  
अवगच्छन्तीति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाणि ।  
तत्र वाक् वदति, हस्तौ नाना व्यापारं कुरुतः, पादौ गमनागमनं, पायुरुत्सर्गं  
करोति, उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्त्या ॥ २६ ॥ एवं बुद्धोन्द्रियकर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रि-  
याणि व्याख्यातानि, मन एकादशकं किमात्मकं किंस्वरूपञ्चेति तदुच्यते,—अत्रे-  
न्द्रियवर्गे मन उभयात्मकं, बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियवत् कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत् ।  
कस्मात् ? बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्तिं कल्पयति कर्मेन्द्रियाणाञ्च, तस्मादुभयान्मकमनः ।  
सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पकम् । किञ्चान्यत्, इन्द्रियञ्च साधर्म्यात्—समानधर्मभावात्,  
सात्त्विकाहङ्कारात् बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणिमनसा सहोत्पद्यमानानि मनसः सा-  
धर्म्यं प्रति, तस्मात् साधर्म्यान्मनोऽपीन्द्रियम्, एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि सात्त्विका-  
द्वैकृताहङ्कारादुत्पन्नानि । तत्र मनसः का वृत्तिरिति ? सङ्कल्पो वृत्तिः, बुद्धीन्द्रि-  
याणां शब्दादयो वृत्तयः, कर्मेन्द्रियाणां वचनादयः । अथैतानीन्द्रियाणि भिन्नानि  
भिन्नार्थग्राहकाणि किमीश्वरेण उत स्वभावेन कृतानि ? यतः प्रधानबुद्धयहङ्कारा  
अचेतनाः पुरुषोऽप्यकर्तृतेति । अत्राह—इह साङ्ख्यानं स्वभावो नाम कश्चित् कार-  
णमस्ति । अत्रोच्यते—गुणपरिणामविशेषाज्ञानात्वं बाह्यभेदाश्च—इमान्वेकादशेन्द्रि-  
याणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चानां वचनादानविहरणोत्सर्गानः दाश पञ्चानां  
सङ्कल्पश्च मनसः, एवमेतेभिन्नानामेवेन्द्रियाणमार्थाः, गुणपरिणामविशेषात्—गुणानां  
परिणामो गुणपरिणामस्तस्य विशेषादिन्द्रियाणां नानात्वं बाह्यार्थभेदाश्च । अथैतन्ना-  
नात्वं नेश्वरेण नाहङ्कारेण न बुद्ध्या न प्रधानेन न पुरुषेण, स्वभावात् कृतगुणपरिणा-  
मेनेति । गुणानामचेतनत्वान्न प्रवर्तते ? प्रवर्तते एव । कथम् ? बध्यतीहैव—“वत्सवि-  
वृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरजस्य । पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्या॥”  
एवमचेतना गुणा एकादशेन्द्रियभावेन प्रवर्तन्ते, विशेषोऽपि तत्कृत एव, येनोच्चैः  
प्रदेशे चक्षुरवलोकनाय स्थितं, तथा घ्राणं तथा श्रोत्रं तथा जिह्वा स्वदेशे स्वार्थग्र-  
हणाय । एवं कर्मेन्द्रियाण्यपि यथायथं स्वार्थसमर्थानि स्वदेशावस्थितानि स्वभावतो  
गुणपरिणामविशेषादेव न तदर्थं अपि, यत उक्तं शास्त्रान्तरे—“गुणा गुणेपुवर्त्त-  
न्ते” गुणानां या वृत्तिः सा गुणविषया एवेति बाह्यार्थां विज्ञेया गुणकृता एवेत्यर्थः,  
प्रधानं यस्य कारणमिति ॥ २७ ॥ अथेन्द्रियस्य कस्य का वृत्तिरित्युच्यते—माल-



दानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥ स्वालक्षण्या वृत्तिस्त्रयस्य  
सैषा भवत्यसामान्या । सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥  
युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा । दृष्टे, तथाऽप्यदृष्टे

शब्दो विशेषार्थः । अविशेषव्यावृत्त्यर्थो यथा—मिक्षामात्रं लभ्यते, नान्यो विशेष  
इति । तथा चक्षुः रूपमात्रे न रसादिषु, एवं श्रोत्रस्य शब्दः, त्वचः स्पर्शः । एवमेषां बुद्धी-  
न्द्रियाणां वृत्तिः कथिता । कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः कथ्यते—वचनादानविहरणोत्सर्गा-  
नन्दाश्च पञ्चानां कर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः । वाचो वचनं, हस्तयोरादानं पादयोर्विहरणं,  
पायोर्भुक्त्याहारस्य परिणतमलोत्सर्गः, उपस्थस्यानन्दः सुतोत्पत्तिविषया वृत्ति-  
रिति सम्बन्धः ❁ २८ ❁ अधुना बुद्ध्यहङ्कारमनसामुच्यते—स्वलक्षणस्वभावा स्वा-  
लक्षण्या । अध्यवसायो बुद्धिरिति लक्षणमुक्तं सैव बुद्धिवृत्तिः । तथाऽभिमा-  
नोऽहङ्कार इत्यभिमानलक्षणाऽभिमानवृत्तिश्च । सङ्कल्पकं मन इति लक्षणमुक्तं,  
तेन सङ्कल्प एव मनसो वृत्तिः । त्रयस्य बुद्ध्यहङ्कारमनसां स्वालक्षण्या वृत्तिर-  
सामान्या, या प्रागभिहिता बुद्धीन्द्रियाणाम्च वृत्तिः साऽप्यसामान्यैवेति । इदानीं  
सामान्या वृत्तिराख्यायते, सामान्यकरणवृत्तिः, सामान्येन करणानां वृत्तिः, प्राणाद्याः  
वायवः पञ्च—प्राणापनसमानोदानव्याना इति पञ्च वायवः सर्वेन्द्रियाणां सामान्या  
वृत्तिः, यतः, प्राणो नाम वायुमुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य यत् स्पन्दनं  
कर्म तत् त्रयोदशविधस्यापि सामान्या वृत्तिः, सति प्राणे यस्मात् करणानामात्म-  
लाभ इति । प्राणोऽपि पञ्जरशकुनिवत् सर्वस्य चलनं करोतीति, प्राणनात् प्राण  
इत्युच्यते । तथाऽपनयनादपानः, तत्र यत् स्पन्दनं तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्य ।  
तथा समानो मध्यदेशवर्ती, य आहारादीनां समनयनात् समानो वायुः, तत्र यत्  
स्पन्दनं तत् सामान्यकरणवृत्तिः । तथा ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो ना-  
भिदेशमस्तकान्तर्गोचरः, तत्रोदाने यत् स्पन्दनं तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वृत्तिः ।  
किञ्च—शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकाशवत्  
व्यानः, तत्र यत् स्पन्दनं तत् करणजालस्य सामान्या वृत्तिरिति । एवमेते  
पञ्च वायवः सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याताः, त्रयोदशविधस्यापि करणसा-  
मान्या वृत्तिरित्यर्थः ❁ २९ ❁ युगपच्चतुष्टयस्य—बुद्ध्यहङ्कारमनसामेकैन्द्रि-  
यसम्बन्धे सति चतुष्टयं भवति । चतुष्टयस्य दृष्टे प्रतिविषयाध्यवसाये युगपद्बु-  
त्तिः, बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षूषि युगपदेककालं रूपं पश्यन्ति स्थाणुरयमिति । बुद्ध्य-  
हङ्कारमनोजिह्वा युगपदस्रं गृह्णन्ति । बुद्ध्यहङ्कारमनोग्राणानि युगपद्गन्धं गृह्णन्ति ।  
तथा त्वक्-श्रोत्रे अपि । किञ्च, क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा—तस्येति चतुष्टयस्य क्रम-

त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥ स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकृतहेतुकां वृत्तिम् । पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्य्यते करणम् ॥ ३१ ॥ करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् । कार्य्यञ्च तस्य दशधा हाय्यं धार्य्यं प्रकाश्यञ्च ॥ ३२ ॥ अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य

शश्च वृत्तिर्भवति; यथा कश्चित् पथि गच्छन् दूरादेव दृष्ट्वा स्थाणुरथं पुरुषो वेति संशये सति तत्रोपरुद्धं तल्लिङ्गं पश्यति शकुनिं वा, ततस्तस्य मनसा सङ्कल्पिते संशये व्यवच्छेदभूता बुद्धिर्भवति स्थाणुरयमिति, अतोऽहङ्कारश्च निश्चयार्थः स्थाणुरेव, इत्येवं बुद्धयहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा; यथा रूपे तथा शब्दादिव्यपि बोद्धव्याः । दृष्टे-दृष्टविषये । किञ्चान्यत्, तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः, अदृष्टेऽनागतेऽतीते च काले बुद्धयहङ्कारमनसां रूपे चक्षुःपूर्विका त्रयस्य वृत्तिः, स्पर्शं त्वक्पूर्विका, गन्धे घ्राणपूर्विका, रसे रसनपूर्विका, शब्दे श्रवणपूर्विका, बुद्धयहङ्कारमनसामनागते भविष्यति कालेऽतीते च तत्पूर्विका क्रमशो वृत्तिः, वर्त्तमाने युगपत् क्रमशश्चेति ॥ ३० ॥ किञ्च, स्वां स्वामिति वीप्सा, बुद्धयहङ्कारमनांश्चि स्वां स्वां वृत्तिं परस्पराकृतहेतुकाभू-आकृतमादरसम्भ्रमः, इति प्रतिपद्यन्ते पुरुषार्थ-करणाय बुद्ध्याहङ्कारादयः, बुद्धिरहङ्काराकृतं ज्ञात्वा स्वविषयं प्रतिपद्यते, किमर्थमिति चेत् ! पुरुषार्थ एव हेतुः, पुरुषार्थः कर्त्तव्य इत्येवमर्थं गुणानां प्रवृत्तिः, तस्मादेतानि करणानि पुरुषार्थं प्रकाशयन्ति, यद्यचेतनानीति कथं स्वयं प्रवर्त्तन्ते ? न केनचित् कार्य्यते करणं-पुरुषार्थ एवैकः कारयतीति वाक्यार्थः, न केनचित्-ईश्वरेण पुरुषेण वा कार्य्यते प्रबोध्यते करणम् ॥ ३१ ॥ बुद्ध्यादि कतिविधं तदित्युच्यते-करणं त्रयोदशविधं बोद्धव्यं, महदादि, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वागादीनीति त्रयोदशविधं करणम् । तत् किं करोतीत्येतदाह-तदाहरणधारणप्रकाशकरं-तत्राहरणं धारणञ्च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि । कतिविधं कार्य्यं तस्येति तदुच्यते-कार्य्यञ्च तस्य दशधा-तस्य करणस्य कार्य्यं कर्त्तव्यमिति दशधा दशप्रकारं, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यं वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यमेतद्दशविधं कार्य्यं, बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति धारयन्ति चेति ॥ ३२ ॥ किञ्च, अन्तःकरणमिति-बुद्धयहङ्कारमनांसि, त्रिविधं महदादिभेदात् । दशधा बाह्यञ्च-बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च दशविधमेतत् करणं बाह्यम्; तत्र यस्यान्तःकरणस्य विषयाख्यं बुद्धयहङ्कारमनसां भोग्यं, साम्प्रतकालं-श्रोत्रं वर्त्तमानमेव शब्दं शृणोति नातीतं न च भविष्यन्तम् । चक्षुरपि वर्त्तमानं रूपं पश्यति नातीतं नानागतम् । त्वक् वर्त्तमानं स्पर्शम् । जिह्वा वर्त्तमानं रसम् । नासिका वर्त्तमानं गन्धम्; नातीतानागतञ्चेति । एवं कर्मेन्द्रियाणि, वाक् वर्त्तमानं



विषयाख्यम् । साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥  
बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि । वाक् भवति शब्द-  
विषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥ ३४ ॥ सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं  
विषयमवगाहते यस्मात् । तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि  
॥ ३५ ॥ एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः । कृत्स्नं पुरु-  
षस्यार्थं प्रकाशय बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥ सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्

शब्दमुच्चारयति नातीतं नानागतम् । पाणी वर्त्तमानं घटमाददाते नातीतमनागतञ्च ।  
पादौ वर्त्तमानं पन्थानं विहरतो नातीतं नाप्यनागतम् । पायूपस्थौ च वर्त्तमाना-  
वुत्सर्गानन्दौ कुरुतो नातीतौ नानागतौ । एवं बाह्यं करणं साम्प्रतकालमुक्तम् ।  
त्रिकालमाभ्यन्तरं करणं—बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिकालविषयाणि । बुद्धिर्वर्त्तमानं घटं  
बुध्यते, अतीतमनागतञ्चेति । अहङ्कारो वर्त्तमानेऽभिमानं करोत्यतीतेऽनागते च ।  
तथा मनो वर्त्तमाने सङ्कल्पं कुरुतेऽतीतेऽनागते च, एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करण-  
मिति ॥ ३३ ॥ इदानीमिन्द्रियाणि कति सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, कानि निर्वि-  
शेषमिति तदुच्यते—बुद्धीन्द्रियाणि तेषां सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, सविशेषविषयं  
मानुषाणां, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् सुखदुःखमोहविषययुक्तान् बुद्धीन्द्रियाणि  
प्रकाशयन्ति । देवानां निर्विशेषान् विषयान् प्रकाशयन्ति । तथा कर्मेन्द्रियाणां मध्ये  
वाक् भवति शब्दविषया, देवानां मानुषाणाञ्च वाक् वदति श्लोकादीनुच्चारयति,  
तस्माद्देवानां मानुषाणाञ्चवागिन्द्रियं तुल्यं, शेषाण्यपि वागव्यतिरिक्तानि पाणि-  
पादपायूपस्थसंज्ञितानि पञ्चविषयाणि—पञ्च विषयाः शब्दादयो येषां तानि पञ्चवि-  
षयाणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पाणौ सन्ति, पञ्चशब्दादिलक्षणायां भुवि पादो  
विहरति, पाथिविन्द्रियं पञ्चबलसमुत्सर्गं करोति, तथोपस्थेन्द्रियं पञ्चलक्षणं शुक्रमा-  
नन्दयति ॥ ३४ ॥ सान्तःकरणा बुद्धिः अहङ्कारमनःसहितेत्यर्थः, यस्मात् सर्वं  
विषयमवगाहते गृह्णाति, त्रिष्वपि कालेषु शब्दादीन् गृह्णाति, तस्मात् त्रिविधं  
करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि, करणानीति वाक्यशेषः ॥ ३५ ॥ किञ्चान्यत्,  
यानि करणान्युक्तानि एते गुणविशेषाः, किंविशिष्टाः ? प्रदीपकल्पाः प्रदीपव-  
द्विषयप्रकाशकाः, परस्परविलक्षणा असद्रूपा भिन्नविषया इत्यर्थः । गुणविशेषा  
इति—गुणविशेषा गुणेश्चो जाताः । कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रि-  
याण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्वं स्वमर्थं पुरुषस्य प्रकाशय बुद्धौ प्रयच्छन्ति बुद्धिस्थं  
कुर्वन्तीत्यर्थः । यतो बुद्धिस्थं सर्वं विषयसुखादिकं पुरुष उपलभ्यते ॥ ३६ ॥  
इदञ्चान्यत्, त्रैवेन्द्रियगतं त्रिष्वपि कालेषु सर्वं प्रत्युपभोगमुपभोगं प्रति देवम-  
नुष्यतिर्यग्बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियद्वारेण सान्तःकरणा बुद्धिः साधयति सम्पादयति

पुरुषस्य सधियति बुद्धिः । सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥ तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः । एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥ सूक्ष्मा माता-

यस्मात्, तस्मात् सैव च विशिनष्टि—प्रधानपुरुषयोर्विषयविभागं करोति, प्रधानपुरुषान्तरं नानात्वमित्यर्थः । सूक्ष्ममित्यनधिकृततपश्चरणैरप्राप्यम्, इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था इयं बुद्धिरयमहङ्कारः, एतानि पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्ययमन्यः पुरुष एवो व्यतिरिक्त इत्येवं बोधयति बुद्धिः, यस्यावापादपवर्गो भवति ॥ ३७ ॥ पूर्वश्रुतं विशेषाविशेषविषयाणि, तत् के विषयास्तात् दर्शयति—यानि पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमेतान्यविशेषा उच्यन्ते, देवानामेते सुखलक्षणा विषया दुःखमोहरहिताः, तेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते एते स्मृता विशेषाः । गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात् तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादाकाशम् । इत्येवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतान्येते विशेषा मांनुषाणां विषयाः शान्ताः सुखलक्षणाः, घोरा दुःखलक्षणाः, मूढा मोहजनकाः । यथाकाशं कस्यचिदनवकाशादन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति, तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति, तदेव पन्थानं गच्छतो वनमार्गात् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढं भवति । एवं वायुर्धर्मात्स्य शान्तो भवति, शीतात्स्य घोरो, धूलीशर्कराविमिश्रोऽतिवान् मूढ इति । एवं तेजःप्रभृतिषु द्रष्टव्यम् ॥ ३८ ॥ अथाऽन्ये विशेषाः सूक्ष्माः,—तन्मात्राणि यत् सङ्गृहीतं तन्मात्रकं सूक्ष्मशरीरं महदादिलिङ्गं सदा तिष्ठति संसरति च, ते सूक्ष्माः, तथा मातापितृजाः,—स्थूलशरीरोपचायका ऋतुकाले मातापितृसंयोगे शोणितशुक्रमिश्रीभावेनोदरान्तः सूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुर्वन्ति, तत् सूक्ष्मशरीरं पुनर्मातुरशितपीतनानाविधरसेन नाभिनिबन्धेनाप्यायते, तथाप्यारब्धं शरीरं सूक्ष्मैर्मातापितृजैश्च सह महाभूतैस्त्रिधा विशेषैः, पृष्ठोदरजङ्घाकट्युरःशिरःप्रभृतिपाट्कौशिकं पाञ्चभौतिकं रुधिरमांसस्त्रायुशुक्रास्थिमज्जासम्भृतम् आकाशोऽदकाशानाद्वायुर्वर्द्धनात् तेजः पाकादापः सङ्ग्रहात् पृथिवी धारणात् समस्तावयवेष्वेतां मातुरुदरात् बहिर्भवति, एवमेते त्रिविधा विशेषाः स्युः । अत्राह—के नित्याः के वा अनित्याः ? सूक्ष्मास्तेषां नियताः,—सूक्ष्मास्तन्मात्रसंज्ञकास्तेषां मध्ये नियता नित्याः, तैरारब्धं शरीरं कर्मवशात् पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरजातिषु संसरति धर्मवशादिन्द्रादिलोकेषु, एवमेतन्म्रियतं सूक्ष्मशरीरं



पितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः । सूक्ष्मास्तेषां नियता माता-  
पितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥ पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्त-  
न्तम् । संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥ चित्रं  
यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया । तद्वद्विना विशेषैर्न  
तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥ पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिक-

संसरति न यावत् ज्ञानमुत्पद्यते, उत्पन्ने ज्ञाने विद्वान् शरीरं त्यक्त्वा मोक्षं  
गच्छति, तस्मादेते विशेषाः सूक्ष्मा नित्या इति । मातापितृजा निवर्तन्ते—  
तत् सूक्ष्मशरीरं परित्यज्येहैव प्राणत्यागवेलायां मातापितृजा निवर्तन्ते, सरण-  
काले, मातापितृजं शरीरमिहैव निवृत्त्य भूम्यादिषु प्रलीयते यथातत्त्वम् ॥ ३९ ॥  
सूक्ष्मञ्च कथं संसरति ? तदाह—यदा लोका अनुत्पन्नाः प्रधानादिसर्गो तदा  
सूक्ष्मशरीरमुत्पन्नमिति । किञ्चान्यत्, असक्तं—न संयुक्तं तिर्यग्ग्योनिदेवमानु-  
षस्थानेषु, सूक्ष्मत्वात् कुत्रचिदसक्तं पर्वतादिषु अप्रतिहतप्रसरं संसरति गच्छति ।  
नियतं—यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति । तच्च महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं—  
महानादौ यस्य तन्महदादि, बुद्धिरहङ्कारो मन इति पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्म-  
पर्यन्तं तन्मात्रपर्यन्तं संसरति शूलग्रहपिपीलिकावत् त्रीनपि लोकान् । निरुप-  
भोगं—भोगरहितं तत् सूक्ष्मशरीरं मातापितृजेन बाह्येनोपचयेन क्रियाधर्मग्रहणाद्भो-  
गेषु समर्थं भवतीत्यर्थः । भावैरधिवासितं—पुरस्ताद्भावात् धर्मादीन् वक्ष्यामः,  
तैरधिवासितमुपरञ्जितम् । लिङ्गमिति—प्रलयकाले महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं करणोपेतं  
प्रधाने लीयते, असंसरणयुक्तं सत् आ सर्गकालमत्र वर्तते, प्रकृतिमोहबन्धनबद्धं  
सत् संसरणादिक्रियास्वसमर्थमिति; पुनः सर्गकाले संसरति तस्माल्लिङ्गं सूक्ष्मम्  
॥ ४० ॥ किं प्रयोजनेन त्रयोदशविधं करणं संसरति ? इत्येवं चोदिते सत्याह—चित्रं  
यथा कुड्याद्याश्रयमृते न तिष्ठति, स्थाण्वादिभ्यः कीलकादिभ्यो विना यथा छाया  
न तिष्ठति, तैर्विना न भवति; आदिग्रहणात् यथा शैत्यं विना नापो भवन्ति शैत्यं  
वाऽग्निरिवा, अग्निरुष्णं विना वायुः स्पर्शं विना आकाशमवकाशं विना पृथिवी  
गन्धं विना, तद्वदेतेन दृष्टान्तेन न्यायेन विना विशेषैर्विशेषैस्तन्मात्रैर्विना न तिष्ठ-  
ति । अथ विशेषभूतान्युच्यन्ते—शरीरं पञ्चभूतमयं, वैशेषिणा शरीरेण विना क  
लिङ्गस्थानञ्चेति क एकदेहसुज्जति तदेवान्यमाश्रयति, निराश्रयमाश्रयरहितं, लिङ्गं  
त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः ॥ ४१ ॥ किमर्थम् ? तदुच्यते—पुरुषार्थः कर्तव्य इति  
प्रधानं प्रवर्तते, स च द्विविधः शब्दाद्युपलब्धिलक्षणो गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्ष-  
णश्च । शब्दाद्युपलब्धिर्ब्रह्मादिषु लोकेषु गन्धादिभोगावाप्तिः । गुणपुरुषान्तरोपल-

प्रसङ्गेन । प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥ सां-  
सिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः । दृष्टाः करणाश्र-  
यिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥ धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनम-

ब्धिसौक्ष्म इति । तस्मादुक्तं—“पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्तते” इति । नि-  
त्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन—निमित्तं धर्मादि, नैमित्तिकमूर्ध्वगमनादि, पुरस्तादेव वक्ष्यामः,  
प्रसङ्गेन प्रसक्त्या, प्रकृतेः प्रधानस्य, विभुत्वयोगात्—यथा राजा स्वराष्ट्रे विभुत्वात्  
यद्वयदिच्छति तत् तत् करोतीति, तथा प्रकृतेः सर्वत्र विभुत्वयोगान्निमित्तनैमित्ति-  
कप्रसङ्गेन व्यवतिष्ठते पृथक् पृथग्देहधारणे लिङ्गस्य व्यवस्थां करोति । लिङ्गं सूक्ष्मैः  
परमाणुभिस्तन्मात्रैरुचितं शरीरं त्रयोदशविधकरणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्गयोनिषु  
व्यवतिष्ठते । कथम् ? नटवत्—यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्य देवो भूत्वा निर्गच्छति  
पुनर्मानुषः पुनर्विद्रूपकः, एवं लिङ्गं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनोदरान्तः प्रविश्य हस्ती  
स्त्री पुमान् भवति ❀ ४२ ❀ भावैरधिवासितं लिङ्गं संसरतीत्युक्तम्; तत् के भावा  
इत्याह—भावास्त्रिविधाश्चिन्त्यन्ते, सांसिद्धिकाः, प्राकृताः, वैकृताश्च । तत्र सां-  
सिद्धिका यथा—भगवतः कपिलस्यादिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्नाः,  
धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति । प्राकृताः कथ्यन्ते,—ब्रह्मणश्चत्वारः पुत्राः सनक-  
सनन्द-सनातन-सनत्कुमारा बभूवुः, तेषामुत्पन्नकार्यकारणानां शरीरिणां षोडश-  
वर्षाणामेते भावाश्चत्वारः समुत्पन्नाः, तस्मादेते प्राकृताः । तथा वैकृता यथा,—  
आचार्य्यमूर्त्तिं निमित्तं कृत्वा अस्मदादीनां ज्ञानमुत्पद्यते, ज्ञानाद्वैराग्यं, वैराग्या-  
द्धर्मः, धर्मादेश्वर्यमिति । आचार्य्यमूर्त्तिरपि विकृतिरिति, तस्माद्वैकृता एते भावा  
उच्यन्ते, यैरधिवासितं लिङ्गं संसरति । एते चत्वारो भावाः सात्त्विकाः, तामसा  
विपरीताः, “सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्य्यस्तम्” इत्यत्र व्याख्याताः ।  
एवमष्टौ धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमित्यष्टौ भावाः, क  
वर्तन्ते ? दृष्टाः करणाश्रयिणः—बुद्धिः करणं तदाश्रयिणः, एतदुक्तम्—“अध्यव-  
सायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानम्” इति । कार्य्यं देहस्तदाश्रयाः कललाद्याः, ये मातृजा  
इत्युक्ताः शुक्रशोणितसंयोगे विवृद्धिहेतुकाः कललाद्याः,—बुद्बुदमांसपेशोप्रभृतयः,  
तथा कौमारयौवनस्थविरत्वादयो भावा अन्नपानरसनिमित्ता निष्पद्यन्ते, अतः का-  
र्याश्रयिण उच्यन्ते, अन्नादिविषयभोगनिमित्ता जायन्ते ❀ ४३ ❀ निमित्तनैमित्तिकप्रस-  
ङ्गेनेति यदुक्तमत्रोच्यते—धर्मेण गमनमूर्ध्वं—धर्मं निमित्तं कृत्वोर्ध्वमुपनयति; ऊर्ध्व-  
मित्यष्टौ स्थानानि गृह्यन्ते, तद्यथा—ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यमैन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्ष-  
सं पैशाचमिति, तत् सूक्ष्मं शरीरं गच्छति । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरान्तेष्वधर्मो



प्रस्ताद्वत्यधर्मेण । ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥  
 वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् । ऐश्वर्यादविघातो  
 विपर्ययात् तद्विपर्ययासः ॥ ४५ ॥ एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्ति-  
 ण्सिद्ध्याख्यः । गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥४६॥  
 पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तेस्तु करणवैकल्यात् । अष्टाविंशतिभेदा

निमित्तम् । किञ्च ज्ञानेन चापवर्गः,—अपवर्गश्च पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं, तेन निमि-  
 त्तेनापवर्गो मोक्षः, ततः सूक्ष्मं शरीरं निवर्तते, परमात्मा उच्यते । विपर्ययादि-  
 ष्यते बन्धः, अज्ञानं निमित्तं, स चैव नैमित्तिकः प्राकृतो वैकारिको दाक्षिणिकश्च  
 बन्ध इति वक्ष्यति पुरस्तात्, यदिदमुक्तं—“प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च ।  
 दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते ॥” ॥४४॥ तथाऽन्यदपि निमित्तं—यथा कस्य-  
 चिद्वैराग्यमस्ति न तत्त्वज्ञानं, तस्मादज्ञानपूर्वाद्वैराग्यात् प्रकृतिलयः,—मृतोऽष्टासु प्रकृ-  
 तिषु प्रधानबुद्धयहङ्कारतन्मात्रेषु लीयते न मोक्षः, ततो भूयोऽपि संसरति । तथा  
 योऽयं राजसो रागः,—यजामि दक्षिणां ददामि, येनामुष्मिन् लोकेऽत्र यहिव्यं मानुषं  
 सुखमनुभवाभ्येतस्माद्राजसाद्रागात् संसारो भवति । तथा ऐश्वर्यादविघातः,—ए-  
 तदैश्वर्यमष्टगुणमणिमादियुक्तं तस्मादैश्वर्यनिमित्ता विघातो नैमित्तिको भवति  
 ब्रह्मादिषु स्थानेष्वैश्वर्यं न विहन्यते । किञ्चान्यत्, विपर्ययात् तद्विपर्ययासः,—त-  
 स्याविघातस्य विपर्ययासो विघातो भवति, अनैश्वर्यात् सर्वत्र विहन्यते ॥ ४५ ॥  
 एष निमित्तैः सह नैमित्तिकः षोडशविधो व्याख्यातः, स किमात्मक इत्याह—यथा  
 एष षोडशविधो निमित्तानैमित्तिकभेदो व्याख्यात एष प्रत्ययसर्ग उच्यते । प्रत्ययो  
 बुद्धिरित्युक्ता, अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानमित्यादि । स च प्रत्ययसर्गश्चतुर्धा  
 भिद्यते, विपर्ययाशक्तिणिसिद्ध्याख्यभेदात् । तत्र संशयोऽज्ञानं विपर्ययः ; यथा  
 कस्यचित् स्थाणुदर्शने स्थाणुरयं पुरुषो वेति संशयः । अशक्तिर्यथा—तमेव स्थाणुं  
 सम्यक् दृष्ट्वा संशयं छेतुं न शक्नोतीत्यशक्तिः । एवं तृतीयस्तुष्ट्याख्यो यथा—तमेव  
 स्थाणुं ज्ञातुं संशयितुं वा नेच्छति किमेनेनास्माकमित्येषा तुष्टिः । चतुर्थः सिद्ध्याख्यो  
 यथा,—आनन्दितेन्द्रियः स्थाणुमारूढां वह्निं पश्यति शकुनिं वा, तस्य सिद्धिर्भा-  
 वति स्थाणुरयमिति । एवमस्य चतुर्विधस्य प्रत्ययसर्गस्य गुणवैषम्यविमर्दात्  
 तस्य भेदास्तु पञ्चाशत्, योऽयं सत्त्वरजस्तमोगुणानां वैषम्यं विमर्दः तेन तस्य प्रत्य-  
 यसर्गस्य पञ्चाशद्भेदा भवन्ति \* ४६ \* तथा कापि सत्त्वरजस्तमो भवति रजस्त-  
 मसी उदासीने, कापि रजः कापि तम इति भेदाः कथ्यन्ते, पञ्च विपर्ययभेदाः,—ते  
 यथा—तमो मोहो महामोहस्तामसोऽन्धतामिस्र इति ; एषां भेदानां नानात्वं  
 वक्ष्यतेऽनन्तरमेवेति । अशक्तेस्त्वष्टाविंशतिभेदा भवन्ति करणवैकल्यात्, तानपि

तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥ भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दश-  
विधो महामोहः । तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥  
एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा । सप्तदशवधा बुद्धेर्विप-  
र्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥ आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादान-

वक्ष्यामः । तथा तुष्टिर्नवधा—ऊर्ध्वस्त्रोतसि राजसानि ज्ञानानि । तथाऽष्टविधा  
सिद्धिः,—सात्त्विकानि ज्ञानानि, तत्रैवोर्ध्वस्त्रोतसि ॐ ४७ ॐ एतत् क्रमेणैव  
वक्ष्यते, तत्र विपर्ययभेदा उच्यन्ते—तमसस्तावदष्टधा भेदः प्रलयोऽज्ञानाद्विभज्यते,  
सोऽष्टासु प्रकृतिषु लीयते प्रधानबुद्ध्यहङ्कारपञ्चतन्मात्राख्यासु, तत्र लीनमात्मानं  
मन्यते मुक्तोऽहमिति तमोभेद एषः । अष्टविधस्य मोहस्य भेदोऽष्टविध एवेत्यर्थः,  
यत्राष्टगुणमणिमाद्यैश्वर्यं तत्र सङ्गादिन्द्रादयो देवा न मोक्षं प्राप्नुवन्ति, पुनश्च  
तत्क्षये संसरन्त्येषोऽष्टविधो मोह इति । दशविधो महामोहः,—शब्दस्पर्शरूपरस-  
गन्धा देवानामेते पञ्च विषयाः सुखलक्षणाः मानुषाणामप्येते एव शब्दादयः पञ्च  
विषयाः, एवमेतेषु दशसु महामोह इति । तामिस्रोऽष्टादशधा—अष्टविधमैश्वर्यं,  
दृष्टानुश्रविका विषया दश, एतेषामष्टादशानां सम्पदमनुनन्दन्ति विपदं नानुमोदन्ते  
एषोऽष्टादशविधो विकल्पस्तामिस्रः । यथा तामिस्रोऽष्टगुणमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविका  
दश विषयास्तथाऽन्धतामिस्रोऽप्यष्टादशभेद एव । किन्तु विषयसम्पत्तौ सम्भोग-  
काले य एव त्रियतेऽष्टगुणैश्वर्याद्वा भ्रश्यते ततस्तस्य महद्दुःखमुत्पद्यते सोऽन्धता-  
मिस्र इति । एवं विपर्ययभेदास्तमःप्रभृतयः पञ्च प्रत्येकं मिथ्यमाना द्विपष्टिभेदाः  
संवृत्ता इति ॐ ४८ ॐ अशक्तिभेदाः कथ्यन्ते—भवन्त्यशक्तेश्च करणवैकल्यादष्टा-  
विंशतिभेदा इत्युद्दिष्टं तत्रैकादशेन्द्रियवधाः,—बाधिर्यमन्धता प्रसुप्तिरुपजिह्विका  
घ्राणपाको मूकता कुणित्वं खान्ज्यं गुदावर्त्तः क्लैव्यमुन्माद इति । सह बुद्धिवधै-  
रशक्तिरुद्दिष्टा—ये बुद्धिवधास्तैः सहाशक्तेरष्टाविंशतिभेदा भवन्ति । सप्तदश वधा  
बुद्धेः,—सप्तदश वधास्ते तुष्टिभेदसिद्धिभेदवैपरीत्येन, तुष्टिभेदा नव, सिद्धिभेदा  
अष्टौ ये, तद्विपरीतैः सह एकादशवधा एवमष्टाविंशतिविकल्पा अशक्तिरिति ॐ ४९ ॐ  
विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनामेव भेदक्रमो द्रष्टव्यः । तत्र तुष्टिर्नवधा कथ्यते, आध्या-  
त्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः,—अध्यात्मनि भवा आध्यात्मिक्यः, ताश्च प्रकृत्युपादानकाल-  
भाग्याख्याः । तत्र प्रकृत्याख्या यथा—कश्चित् प्रकृतिं वेत्ति तस्याः सगुणनिर्गुणत्वञ्च,  
तेन तत्त्वं तत्कार्यं विज्ञायैव केवलं तुष्टस्तस्य नास्ति मोक्ष एषा प्रकृत्याख्या ।  
उपादानाख्या यथा—कश्चिद्विज्ञायैव तत्त्वान्युपादानग्रहणं करोति त्रिदण्डकमण्डलु-  
विविदिषाम्यो मोक्ष इति, तस्यापि नास्ति मोक्षः, इति एषा उपादानाख्या । तथा



कालभाग्याख्याः । बाह्या विषयोपरमात्पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥५०॥  
ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः । दानञ्च सिद्धयोऽष्टौ

कालाख्या—कालेन मोक्षो भविष्यतीति किं तत्त्वाभ्यासेनेत्येषा कालाख्या तुष्टि-  
स्तस्य नास्ति मोक्ष इति । तथा भाग्याख्या—भाग्येनैव मोक्षो भविष्यतीति भा-  
ग्याख्या, चतुर्धा तुष्टिरिति । बाह्या विषयोपरमात् पञ्च—बाह्यास्तुष्टयः पञ्च विष-  
योपरमात्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य उपरतोऽर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादर्शनात् ।  
बुद्धिनिमित्तं पाशुपाल्यवाणिज्यप्रतिग्रहसेवाः कार्य्याः, एतदर्जनं दुःखम् । अर्जितानां  
रक्षणे दुःखम् । उपभोगात् क्षीयते इति क्षयदुःखम् । तथा विषयोपभोगसङ्गे कृते  
नास्तीन्द्रियाणामुपशम इति सङ्गदोषः । तथा न अनुपहत्य भूतान्युपभोगइत्येष  
हिंसादोषः । एवमर्जनादिदोषदर्शनात् पञ्चविषयोपरमात् पञ्च तुष्टयः । एवमाध्या-  
त्मिकबाह्यभेदाच्च तुष्टयः, तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि—“अम्भः सलिलं  
मेघो वृष्टिः सुतमः पारं सुनेत्रं नारीकमनुत्तमाम्भसिकम्” इति । आसां तुष्टीनां  
विपरीता अशक्तिभेदात् बुद्धिवधा भवन्ति, तद्यथा—अनम्भोऽसलिलममेघ इत्या-  
दिवैपरीत्यात् बुद्धिवधा इति \* ५० \* सिद्धिरुच्यते, ऊहो यथा—“कश्चिन्नित्य-  
भूहते किमिह सत्यं किं परं किं नैःश्रेयसं किं कृत्वा कृतार्थः स्याम्” इति चिन्त-  
यतो ज्ञानमुत्पद्यते, प्रधानादन्य एव पुरुषः, इतोऽन्या बुद्धिः, अन्योऽहङ्कारः,  
अन्यानि तन्मात्राणीन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीत्येवं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते येन मोक्षो  
भवति, एषा ऊहाख्या प्रथमा सिद्धिः । तथा शब्दज्ञानात् प्रधानपुरुषबुद्धयहङ्का-  
रतन्मात्रेन्द्रियपञ्चमहाभूतविषय ज्ञानं भवति, ततो मोक्ष इत्येषा शब्दाख्या  
सिद्धिः अध्ययनात् वेदादिशास्त्राध्ययनात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्यते मोक्षं याति  
इत्येषा तृतीया सिद्धिः । दुःखविघातास्त्रयः,—आध्यात्मिकाधिर्भांतिकाधिदैविक-  
दुःखत्रयविघाताय गुरुं समुपगम्य तत्त उपदेशान्मोक्षं याति, एषा चतुर्थी सिद्धिः ।  
एषैव दुःखत्रयभेदात् त्रिधा कल्पनीया इति षट् सिद्धयः । तथा सुहृत्प्राप्तिः,  
यथा—कश्चित् सुहृज्ज्ञानमधिगम्य मोक्षं गच्छति, एषा सप्तमी सिद्धिः । दानं  
यथा—कश्चिद्भगवतां प्रत्याश्रयौपधित्रिदण्डकुण्डिकादीनां प्रासादच्छादनादीनाञ्च दाने-  
नोपकृत्य तेभ्यो ज्ञानमवाप्य मोक्षं याति, एषा अष्टमी सिद्धिः । आसामष्टानां  
सिद्धीनां शास्त्रान्तरे संज्ञाः कृताः, “तारं सुतारं तारतारं प्रमोदं प्रमुदितं प्रमोदमानं  
रम्यकं सदाप्रमुदितम्” इति । आसां विपर्ययात् बुद्धेर्वधा ये विपरीतास्ते अशक्तौ  
निक्षिप्ताः, यथा भतारमसुतारमतारतारमित्यादि द्रष्टव्यम् । अशक्तिभेदा अष्टाविं-  
शतिरुक्ताः, ते सह बुद्धिवधैरकादशेन्द्रियवधा इति । तत्र तुष्टिविपर्यया नव,  
सिद्धीनां विपर्यया अष्टौ, एवमेते सप्तदश बुद्धिवधाः, एतैः सहेन्द्रियवधा अष्टा-

सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥ न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिवृत्तिः । लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥ अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति । मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥ ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः । मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥ तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः । लिङ्गस्याविनिवृत्तस्त-

विंशतिरशक्तिभेदाः पश्चात् कथिता इति विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धीनामेवोद्देशो निर्देशश्च कृत इति । किञ्चान्यत्, सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः,—सिद्धेः पूर्वा या विपर्ययाशक्तितुष्टयस्ता एव सिद्धेरङ्कुशस्तत्रेदादेव त्रिविधः, यथा—हस्ती गृही-ताङ्कुशेन वशो भवति, एवं विपर्ययाशक्तितुष्टिभिर्गृहीतो लोकोऽज्ञानमाप्नोति, तस्मादेताः परित्यज्य सिद्धिः सेव्या, सिद्धेस्तच्चज्ञानमुत्पद्यते तस्मान्मोक्ष इति ॥ ५१ ॥ अथ यदुक्तं भावैरधिवासितं लिङ्गं, तत्र भावा धर्मादयोऽष्टावुक्ता बुद्धिपरिणामाः, विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिपरिणताः, स भावाख्यः प्रत्ययसर्गः, लिङ्गश्च तन्मात्रसर्ग-श्चतुर्दशभूतपर्यन्त उक्तः, तत्रैकेनैव सर्गेण पुरुषार्थसिद्धौ हिमुभयविधसर्गेणेत्यत आह—भावैः,—प्रत्ययसर्गेर्विना, लिङ्गं न—तन्मात्रसर्गो न, पूर्वपूर्वसंस्काराऽदृ-ष्टकारितत्वादुत्तरोत्तरदेहलभ्यस्य । लिङ्गेन—तन्मात्रसर्गेण च विना, भावनिवृ-त्तिर्न, स्थूलसूक्ष्मदेहसाध्यत्वाद्दर्मादेः अनादित्वाच्च सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योऽन्या-श्रयो न दोषाय तत्तज्जातीयापेक्षित्वेऽपि तत्तद्व्यक्तीनां परस्परानपेक्षित्वात् ; तस्मा-द्भावाख्यो लिङ्गाख्यश्च द्विविधः प्रवर्तते सर्ग इति ॥ ५२ ॥ किञ्चान्यत्, तत्र दैवमष्टप्रकारं, ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यमैन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमिति । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणि भूतान्येवं पञ्चविधस्तैरश्चः । मानुष्यो निरर्कैव । इति चतुर्दश भूतानि ॥ ५३ ॥ त्रिष्वपि लोकेषु गुणत्रयमस्ति, तत्र कस्मिन् । किमधिकमित्यु-च्यते, ऊर्ध्वमिति ।—अष्टसु देवस्थानेषु सत्त्वविशालः सत्त्वविस्तारः सत्त्वोत्कट ऊर्ध्वसत्त्व-इति; तत्रापि रजस्तमसी स्तः । तमोविशालो मूलतः,—पश्चादिषु स्थानरान्तेषु सर्वः सर्ग-स्तमसाधिक्येन व्याप्तः, तत्रापि सत्त्वरजसी स्तः । मध्ये—मानुषे रज उत्कटं, तत्रापि सत्त्वतमसी विद्येते, तस्मात् दुःखप्राया मनुष्याः । एवं ब्रह्मादिस्तम्बपर्य-न्तः—ब्रह्मादिस्थावरान्त इत्यर्थः । एवमभौतिकः सर्गो लिङ्गसर्गो भावसर्गो भूत-सर्गो दैवमानुषतैर्यग्योना इति, एषः प्रधानकृतः षोडशविधः सर्गः ॥ ५४ ॥ तत्रेति—तेषु देवमानुषतैर्यग्योनिषु जराकृतं मरणकृतञ्चैव दुःखं चेतनः चैतन्य-वान् पुरुषः प्राप्नोति, न प्रधानं न बुद्धिर्नाहङ्कारो न तन्मात्राणीन्द्रियाणि महाभू-तानि च । कियन्तं कालं पुरुषो दुःखं प्राप्नोतीति तद्विविनक्ति, लिङ्गस्याविनिवृत्ते-



स्मात् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥ इत्येष प्रकृतिकृतौ महदादिविशेषभू-  
तपर्यन्तः । प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थः आरम्भः ॥ ५६ ॥  
वत्साविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरङ्गस्य । पुरुषविमोक्षनि-  
मित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥ औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रि-  
यासु प्रवर्तते लोकः । पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥  
रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्त्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं

रति—यत् तन्महदादि लिङ्गशरीरेणाविश्य तत्र व्यक्तीभवति, तत् यावन्न निवर्तते  
संसारशरीरमिति तावत् सङ्क्षेपेण त्रिषु स्थानेषु पुरुषो जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नो-  
ति, लिङ्गस्याविनिवृत्तेः लिङ्गस्य विनिवृत्तिं यावत् । लिङ्गनिवृत्तौ मोक्षो मोक्ष-  
प्राप्तौ नास्ति दुःखमिति । तत् पुनः केन निवर्तते ? यदा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं  
स्यात् सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिलक्षणम्, इदं प्रधानमियं बुद्धिरयमहङ्कार इमानि  
पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि, येभ्योऽन्यः पुरुषो विसदृश इत्येवं  
ज्ञानाल्लिङ्गनिवृत्तिस्ततो मोक्ष इति ॐ ५५ ॐ प्रकृतेः किंनिमित्तमारम्भ इत्युच्यते—  
इत्येष परिसमाप्तौ निर्देशे च' प्रकृतिकृतौ—प्रकृतिकरणे प्रकृतिक्रियायां य आरम्भो  
महदादिविशेषभूतपर्यन्तः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः तस्मात् तन्मात्राण्येकादशेन्द्रि-  
याणि तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानीत्येवं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं—पुरुषं पुरुषं प्रति देव-  
मनुष्यतिर्यग्भावं गतानां विमोक्षार्थमारम्भः; कथम् ? स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः;  
यथा कश्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति, एवं प्रधानम् । पुरुषोऽत्र प्रधा-  
नस्य न किञ्चित् प्रत्युपकारं करोति; स्वार्थं इव न च स्वार्थः परार्थ एव, अर्थः शब्दादि-  
विषयोपलब्धिगुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च, त्रिषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषा योज-  
यितव्याः, अन्ते च मोक्षेणेति प्रधानस्य प्रवृत्तिः; तथा चोक्तं—“कुम्भवत् प्रधानं  
पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते” इति ॐ ५६ ॐ अत्रोच्यते—अचेतनं प्रधानं चेतनः पुरुष  
इति, मया त्रिषु लोकेषु शब्दादिभिर्विषयैः पुरुषो योज्योऽन्ते मोक्षः कर्त्तव्य इति  
कथं चेतनवत् प्रवृत्तिः ? सत्यं, किन्त्वचेतनानामपि प्रवृत्तिर्द्रष्टा निवृत्तिश्च यस्मा-  
दित्याह—यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति,  
‘पुष्टे च वत्से निवर्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम् इति अङ्गस्य प्रवृत्तिरिति  
ॐ ५७ ॐ किञ्च, यथा लोके इष्टौत्सुक्ये सति तस्य निवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते,  
गमनागमनक्रियासु कृतकार्या निवर्तते, तथा पुरुषस्य विमोक्षार्थं शब्दादिविषयो-  
पभोगोपलब्धिलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणञ्च द्विविधमपि पुरुषार्थं कृत्वा  
प्रधानं निवर्तते ॐ ५८ ॐ किञ्चान्यत्, यथा नर्त्तकी शृङ्गारादिरसैरितिहासादिभा-  
वैश्च निबद्धगीतवादित्रनृत्यानि रङ्गस्य दर्शयित्वा कृतकार्या नृत्याजिवर्तते, तथा

प्रकाश्य निवर्त्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥ नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः । गुणवत्स्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥ प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति । या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥ तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते

प्रकृतिरपि पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य बुद्धयहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतभेदेन निवर्त्तते ॐ ५९ ॐ कथं को वा अस्या निवर्त्तको हेतुः ? तदाह—नानाविधैरुपायैः प्रकृतिः पुरुषस्योपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः, कथम् ? देवमानुपतिर्व्यग्भावेन सुखदुःखमोहात्मकभावेन शब्दादिविषयभावेन; एवं नानाविधैरुपायैरात्मानं प्रकाश्य अहमन्या त्वमन्य इति निवर्त्तते, सतो नित्यस्य तस्यार्थमपार्थकं चरति कुर्वते, यथा कश्चित् परोपकारी सर्वस्योपकुर्वते नात्मनः प्रत्युपकारमीहते, एवं प्रकृतिः पुरुषार्थं चरति करोत्यपार्थकं, पश्चादुक्तमात्मानं प्रकाश्य निवर्त्तते ॐ ६० ॐ निवृत्ता च किं करोतीत्याह—लोके प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन परार्थ एवं मतिरुपपन्ना । कस्मात् ? अहमनेन पुरुषेण दृष्टाऽस्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति पुरुषस्यादर्शनमुपयातीत्यर्थः । तत्र सुकुमारतरं वर्णयति केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते “अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा” ॥ अपरं स्वभावकारणिकां ब्रुवते, “केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः । स्वभावेनैव—” इति । अत्र साङ्ख्योपाचार्या आहुः,—“निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन् ? कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव ? तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते तथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः कृष्ण एव” इति । एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते । निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिर्युक्तेति । अनेन पुरुषो व्याख्यातः । तथा केपाञ्चित् कालः कारणमिति, उक्तञ्च—“कालः पचति भूतानि कालः संहर्ते जगत् । कालः सुषेपु जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः” ॥ व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणं, स्वभावोऽप्यत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणं, नापि स्वभाव इति । तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य । अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादि कारणमस्तीति मे मतिर्भवति । तथा च श्लोके रूढम् ॐ ६१ ॐ पुरुषो मुक्तः पुरुषः संसारी, इति नोदिते—आह तस्मात् कारणात् पुरुषो न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति, यस्मात् कारणात् प्रकृतिरेव नानाश्रया देवमानुपतिर्व्यग्योन्याऽऽश्रया बुद्धयहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण बध्यते मुच्यते संसरति चेति । अथ



नापि संसरति कश्चित् । संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥ रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः । सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥ एवं तत्त्वाभ्यासाभ्यास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् । अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥ तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् । प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवास्थितः स्वस्थः ॥ ६५ ॥ दृष्टा मयेत्युपेक्षक

मुक्त एव स्वभावात् स सर्वगतश्च कथं संसरति ? अप्राप्तप्रापणार्थं संसरणमिति, तेन पुरुषो बध्यते, पुरुषो मुच्यते, पुरुषः संसरतीति व्यपदिश्यते येन संसारित्वं विद्यते; सत्त्वपुरुषान्तरज्ञानात् तत्त्वं पुरुषस्याभिव्यज्यते, तदभिव्यक्तौ केवलः शुद्धो मुक्तः स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इति । अत्र यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति, ततो मोक्षोऽपि नास्ति । अत्रोच्यते—प्रकृतिरेवात्मानं बध्नाति मोचयति च, यत्र सूक्ष्मशरीरं तन्मात्रकं त्रिविधकरणोपेतं तत् त्रिविधेन बन्धेन बध्यते; उक्तञ्च—“प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च । दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते ॥” तत् सूक्ष्मं शरीरं धर्माधर्मसंयुक्तम् ॥ ६२ ॥ प्रकृतिश्च बध्यते, प्रकृतिश्च मुच्यते, संसरतीति कथम् ? तदुच्यते—रूपैः सप्तभिरेव—एतानि सप्त प्रोच्यन्ते, धर्मो वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यम्, एतानि प्रकृतेः सप्त रूपाणि, तैरात्मानं स्वं, बध्नाति प्रकृतिः, आत्मना स्वेनैव, सैव प्रकृतिः, पुरुषस्यार्थः पुरुषार्थः कर्तव्य इति विमोचयत्यात्मानमेकरूपेण ज्ञानेन ॥ ६३ ॥ कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यते ? एवमुक्तेन क्रमेण, पञ्चविंशतितत्त्वलोचनाभ्यासादियं प्रकृतिरयं पुरुष एतानि पञ्चतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानीति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते, नास्मि नाहमेव भवामि, न मे मम शरीरं तत्, यतोऽहमन्यः शरीरमन्यत् नाहमिति अपरिशेषम् अहङ्काररहितम्, अविपर्ययाद्विशुद्धं विपर्ययः संशयः अविपर्ययादसंशयाद्विशुद्धं, केवलं तदेव नान्यदस्तीति मोक्षकरणम्, उत्पद्यतेऽभिव्यज्यते, ज्ञानं पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं पुरुषस्येति ॥ ६४ ॥ ज्ञाने पुरुषः किं करोति ?—तेन विशुद्धेन केवलज्ञानेन, पुरुषः प्रकृतिं पश्यति प्रेक्षकवत् प्रेक्षकेण तुल्यम्, अवस्थितः स्वस्थः, यथा रङ्गप्रेक्षकोऽवस्थितो नर्तकीं पश्यति, स्वस्थः स्वस्मिंस्तिष्ठति स्वस्थः स्वस्थानस्थितः । कथम्भूतां प्रकृतिम् ? निवृत्तप्रसवां निवृत्तबुद्धयहङ्कारकाय्याम्, अर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तां निवृत्तितपुरुषोभयप्रयोजनवशात् यैः सप्तभिः रूपैर्धर्मादिभिरात्मानं बध्नाति तेभ्यः सप्तभ्यो रूपेभ्यो विनिवृत्तां प्रकृतिं पश्यति ॥ ६५ ॥ किञ्च, रङ्गस्थ इति यथा रङ्गस्थ इत्येवमुपेक्षक एकः केवलः शुद्धः पुरुषस्तेनाहं दृष्टेति कृत्वा उपरता निवृत्ता, एका एकैव प्रकृतिः

एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या । सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥ सम्यक् ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ । तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवत् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥ प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ । ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्य-  
माप्नोति ॥ ६८ ॥ पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् । स्थि-  
त्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥ एतत् पवित्रमग्र्यं मु-  
निरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ । आसुरिरपि पञ्चाशिखाय तेन च बहुधा

त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति सूक्ष्मवधे जातिभेदात्,  
एवं प्रकृतिपुरुषयोर्निवृत्तावपि व्यापकत्वात् संयोगोऽस्ति न तु संयोगात् कृतः  
सर्गो भवति । सति संयोगेऽपि तयोः,—प्रकृतिपुरुषयोः सर्वगतत्वात् सत्यपि संयोगे  
प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य सृष्टेः चरितार्थत्वात्, प्रकृतेर्द्विविधं प्रयोजनं शब्दविषयोप-  
लब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च, उभयत्रापि चरितार्थत्वात् सर्गस्य नास्ति प्रयोजनं  
यः पुनः सर्ग इति । यथा दानग्रहणनिमित्तम् उत्तमर्णाधमर्णयोर्द्रव्यविशुद्धौ  
सत्यपि संयोगे न कश्चिदर्थसम्बन्धो भवति, एवं प्रकृतिपुरुषयोरपि नास्ति प्रयो-  
जनमिति ॥ ६६ ॥ यदि पुरुषस्योत्पत्तेः ज्ञाने मोक्षो भवति ततो मम कस्मान्न  
भवतीत्यत उच्यते—यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं भवति तथाऽपि संस्कारवशाद्दृ-  
तशरीरो योगी तिष्ठति; कथम्? चक्रभ्रमवच्चक्रभ्रमेण तुल्यम्; यथा कुलालश्चक्रं  
भ्रमयित्वा घटं करोति, मृत्पिण्डं चक्रमारोप्य पुनः कृत्वा घटं पर्यामुञ्चति चक्रं  
भ्रमत्येव संस्कारवशात्, एवं सम्यग्ज्ञानाधिगमादुत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य धर्मादीनाम-  
कारणप्राप्तौ एतानि सप्त रूपाणि बन्धनभूतानि सम्यग्ज्ञानेन दग्धानि, यथा  
नाग्निना दग्धानि बीजानि प्ररोहणसमर्थानि, एवमेतानि धर्मादीनि बन्धनानि  
न समर्थानि । धर्मादीनामकारणप्राप्तौ संस्कारवशाद्दृष्टतशरीरस्तिष्ठति, ज्ञानाद्द-  
र्त्तमानधर्माधर्मक्षयः कस्मान्न भवति, वर्त्तमानत्वादेव, क्षणान्तरे क्षयमप्येति, ज्ञानं  
त्वनगतं कर्म दहति, वर्त्तमानशरीरेण च यत् करोति तदपीति, विहितानुष्ठानक-  
रणादिति, संस्कारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षः ॥ ६७ ॥ स किंविशिष्टो भवतीत्युच्यते—  
धर्माधर्मजनितसंस्कारक्षयात् प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानस्य निवृत्तौ ऐका-  
न्तिकमवश्यम्, आत्यन्तिकमनन्तर्हितं, कैवल्यं केवलभावान्मोक्षम्, उभयम् ऐका-  
न्तिकात्यन्तिकमित्येवं विशिष्टं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥ पुरुषार्थो मोक्षस्तदर्थं ज्ञान-  
मिदं गुह्यं रहस्यं, परमर्षिणा श्रीकपिलर्षिणा, समाख्यातं सम्यगुक्तं. यत्र ज्ञाने,  
भूतानां चैकारिकाणां, स्थित्युत्पत्तिप्रलया अवस्थानाविर्भावतिरोभावाः, चिन्त्यन्ते



कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥ शिष्यपरम्परयाऽऽगतमोश्वरकृष्णेन चैतदार्या-  
भिः । संक्षिप्तमार्ग्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥ सप्तत्यां  
किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य । आख्यायिकाविरहिताः पर-  
वादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥ इति साङ्ख्यकारिका समाप्ता ॥

विचार्यन्ते, येषां विचारात् सम्यक् पञ्चविंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते संवि-  
त्तिरिति \* ६९-७०-७१-७२ \*

साङ्ख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि ।  
यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यञ्चात्र गौडपादकृतम् ॥



\* इति साङ्ख्यकारिकाणां श्रीगौडपादस्वामिकृतं भाष्यं समाप्तम् \*



\* ॐ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतराम् \*

## सांख्यतत्त्वकौमुदी

“अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः ॥ अजा ये तां

श्रुतयः स्मृतयश्चाऽपि दिव्यतां यान्ति यस्तत्वात् ।

नत्वा तं परमात्मानं ‘स्वामिनारायणं’ हरिम् ॥ १ ॥

‘श्रीकृष्णवल्लभाऽऽचार्यः’ स्वामिनारायणाऽऽश्रितः ।

तनुते तत्त्वकौमुद्यास्तात्त्विकीं ‘किरणावलीम्’ ॥ २ ॥

श्रीवाचस्पतिमिश्राः श्रीमदीश्वरकृष्णाऽऽचार्यविरचित-सांख्यकारिकाणां निगूढतत्त्वं बुबोध-  
यिषवः सांख्यशास्त्रस्य जननीं ‘श्वेताश्वतरोपनिषत्’-स्थां “अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः  
सृजमानां मरूपाः । अजो ह्येको जुपमाणोऽनुरोते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः” ॥ इति श्रुति-  
माश्रित्य तत्र किञ्चिद् व्यत्यस्य प्रारिप्सितस्य ‘तत्त्वकौमुदी’रूपटीकात्मकग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिस-  
माप्त्यर्थं प्रकृतिरूपनमस्कारात्मकं मङ्गलं ‘शिष्या अप्येवं ग्रन्थादौ मङ्गलं कुर्युरिति’ शिष्यशिक्षार्थं  
ग्रन्थादौ निबध्नाति-अजामेकामिति । एकां, लोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृज-  
मानाम्, अजां, नमामः, ये अजाः, जुपमाणां ताम्, भजन्ते, भुक्तभोगां ( च ) एनां, जहति,  
तान् नुमः-इत्यन्वयः । एकां=स्वसजातीयाऽप्रसिद्धिकाम्, -साजात्यं मूलप्रकृतित्वमात्रधर्मेण  
ग्राह्यम्, तथा च-स्वं=मूलप्रकृतिः तत्सजातीया द्वितीया मूलप्रकृतिर्यस्या न विद्यते-इत्यर्थः ॥  
मूलप्रकृतेः स्वरूपमाह-लोहितशुक्लकृष्णमिति । लोहिता चासौ शुक्ला च लोहितशुक्ला  
लोहितशुक्ला चासौ कृष्णा चेति लोहितशुक्लकृष्णा ताम्, लोहितं=रक्तं रजः, शुक्लं श्वेतं  
सत्त्वमुकृष्णं नीलं तमः, एतद्गुणत्रयात्मिकामित्यर्थः । रजोगुणस्य प्रवृत्तिस्वभावेन मनोरञ्ज-  
कत्वात् ‘लोहित’व्यपदेशः, सत्त्वगुणस्य प्रकाशात्मकस्वभावेन मनःप्रसादकत्वात् ‘शुक्ल’व्यपदेशः,  
तमोगुणस्य आवरणस्वभावेन मनःकलुषीकरणात् ‘कृष्ण’व्यपदेशः ॥ ब्रह्ममात्रकारणतावादि-  
वेदान्तिमतम् अभावकारणतावादिवौद्धमत्तं च निरसितुमाह-बह्वीः प्रजाः सृजमानामिति ।  
बह्वीः=महदद्वन्द्वकारमनो-ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-तन्मात्र-स्थूलभूत-स्थावर-जंगमाद्यनेकाऽवान्तरजातीयाः ।  
प्रजाः=प्रकर्षेण प्रकृतिविकृतित्वेन धर्मेण केवलविकृतित्वेन च धर्मेण, जायन्ते प्रादुर्भवन्तीति प्रजाः-  
ताः,=महत्तत्त्वादिविकारानित्यर्थः । सृजमानाम् प्रादुर्भावयन्तीम्, -विविधकार्याकारेण परिणममाना-  
मिति यावत् । अनेन कार्यकारणयोस्तादात्म्यं दर्शितम् ॥ ननु कार्यकारणयोस्तादात्म्ये कार्यस्योत्पत्त्या  
कारणस्य मूलप्रकृतेरप्युत्पत्तिमत्त्वं स्याद् ! अत आह-अजामिति । न जायते उत्पद्यते इत्यजा तां;



सुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान् ॥ १ ॥ कपिलाय महामुनये मुनये

उत्पत्त्यात्मकविकारशून्यामित्यर्थः । नमामः=स्वावधिकोत्कर्षवत्तया शापनं कुर्मः, स्वं=नमस्कार-  
कर्तृशरीरविशिष्टात्मा, तदपेक्षया प्रकृतावुत्कर्षः,—पुरुषाय शरीराद्युपकरणसुखादिविविधभोगप्रदातृ-  
त्वस्वः, स च पुरुषे नास्त्यतः पुरुषस्य तादृगंशेऽपकृष्टत्वमिति ॥ “सत्त्वरजस्तमसां साम्याऽवस्था प्रकृतिः”-  
इति सांख्यसूत्रात्, “अकार्यावस्थोपलक्षित-गुणसामान्यत्वं” प्रकृतेर्लक्षणमनुसन्धेयम् ॥ इत्येवं प्रकृतिं  
प्रणम्य संसारिणोऽसंसारिणश्चेत्युभयविधान् पुरुषानपि नमस्करोति—अजा ये तामिति । ये=अहं-  
प्रत्ययविषयत्वेन प्रसिद्धाः, अजाः=न जायन्ते उत्पद्यन्ते इति अजाः आत्मानः अनादिनः संसारिपु-  
रुषाः, तां जुपमाणाम्=सुखादिप्रदानत्वेन सेवमानां मूलप्रकृतिम्, भजन्ते=अविवेकात् भुञ्जन्ते,-  
‘वयं सुखिन’ इत्याद्यभिनिविशन्ते, तान् संसारिपुरुषान्, वयं नुमः । ये च अजाः=प्रकृतिपुरुषवि-  
वेकख्यातिमन्तःपुरुषाः, भुक्तभोगाम्=भुक्तः भोगो यया सा ताम्—पुरुषाय सन्पादितयावद्भोगत्वेन  
सगाप्तभोगदानात्मकाधिकारामिति यावत्, एनाम्=मूलप्रकृतिम्, जहति=परित्यजति, तान्  
विवेकिपुरुषान्—असंसारिपुरुषानिति यावत्, नुमः । अनेन—प्रकृतिभुक्तसुखदुःखादियोगः संसारः, प्रकृ-  
तिकृतदुःखत्रयस्य ऐकान्तिको आत्यन्तिको च निवृत्तिः मोक्षः, मोक्षकारणं च सत्त्वपुरुषाऽभ्यन्तविवेक-  
साक्षात्कारः तत्कारणं च तत्त्वज्ञानमिति सूचितम् ॥ अत्रेदं बोध्यम्—मंगलं नमस्कारः, स च स्वा-  
( मंगला )नुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन आत्मनि वर्तते, एवं चरमवर्णतिरोभावा-  
त्मिका च समाप्तिः, तत्र चरमवर्णतिरोभावो नाम चरमवर्णस्य तिरोभाववस्था, तदाश्रयचरमवर्णः,  
तथा च समाप्तिरपि स्वा ( तिरोभावा ) श्रयचरमवर्णानुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन  
आत्मनि वर्तते, तथा च—“स्वाश्रयचरमवर्णानुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन आत्मनिष्ठां  
चरमवर्णतिरोभावात्मकसमाप्तिं प्रति स्वानुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन आत्मनिष्ठं नम-  
स्कारात्मकं मंगलं कारणमिति कार्यकारणभावः । एवं सांख्यमते विघ्नः अधर्मः बुद्धिधर्मः,  
सांख्यमते ध्वंसोत्पत्त्यपदार्थोऽनङ्गीकारात् विघ्नध्वंसो नाम अधर्मतिरोभावः—स च अधर्मस्य तिरो-  
भाववस्थैवेति, विघ्नतिरोभावोऽपि स्वा ( तिरोभाववस्था ) श्रया ( विघ्ना ) धिकरण ( बुद्धि )—प्रति-  
बिम्बितत्वसम्बन्धेन आत्मनि वर्तते, तथा—च ‘स्वाश्रयाधिकरणप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेनात्मनिष्ठ-  
विघ्नध्वंसं प्रति स्वानुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन आत्मनिष्ठं नमस्कारात्मकं मंगलं  
कारणमिति कार्यकारणभावोऽनुसन्धेयः । एवं स्वाश्रयचरमवर्णानुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्व-  
सम्बन्धेन आत्मनिष्ठसमाप्तिं प्रति स्वाश्रयविघ्नाधिकरणबुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन विघ्नतिरोभावः  
कारणमिति कार्यकारणभावोऽपि बोध्यः ॥ १ ॥

अथ सांख्याऽऽचार्यान् अनुक्रमेणोद्दिश्य प्रणमति—कपिलायेति । एते ( वयम् ) महा-  
मुनये कपिलाय, तस्य शिष्याय ‘आसुरये’ च मुनये, पञ्चशिखाय, तथा ईश्वरकृष्णाय, नमस्यामः—  
इत्यन्वयः । ‘नमस्यामः’ इत्युत्तमपुरुषप्रयोगात्—‘एते’ इत्यत्र ‘वयं’ इत्यप्याह्वार्यम्, एते=अहं  
वाचस्पतिमिश्रः मम शिष्याश्चैते सर्वे वयमित्यर्थः । महामुनय इत्यत्र महत्त्वम्—अप्रतिहताऽनोपदेशि-  
कत्वम्, मुनित्वं च ज्ञानवत्त्वम्, तथा च—अप्रतिहताऽनोपदेशिक-ज्ञानवते—इत्यर्थः । कपि-  
लाय=‘कपिला’ख्यमहर्षये, नमस्याम इत्यन्वयः । कपिलस्य महर्षित्वं ‘ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्त-  
मग्रे ज्ञानैर्विभर्ति’ “महर्षिः कपिलाचार्यः”—इति श्रुति-विष्णुसहस्रनामस्मृतिभ्यां च सिद्धमेवेति  
बोध्यम् ॥ अथ ‘पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविष्णुतम् । प्रोवाचाऽऽसुरये सांख्यं तत्त्वग्राम-

शिष्याय तस्य चासुरये । पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः ॥ २ ॥

इह खलु प्रतिपिस्सितमर्थं प्रतिपादयन् प्रतिपादयिताऽवधेयवचनो भवति प्रेक्षावताम्, अप्रतिपिस्सितमर्थं तु प्रतिपादयन् 'नायं लौकिको नापि परीक्षकः'—इति प्रेक्षावद्विरुद्धमन्त्रवदुपेक्ष्येत । स चैषां प्रतिपिस्सितोऽर्थो, यो ज्ञातः सन् परम-पुरुषार्थाय कल्पते, इति प्रारिप्सितशास्त्रविषयज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनहेतुत्वात् तद्विषयजिज्ञासामवतारयति—

विनिर्णयम्—इति प्रसिद्धमासुरिमुनिं प्रणमति—मुनये शिष्याय तस्य चाऽसुरये । तस्य-क-पिलमुनेः, शिष्याय=प्रथमशिष्याय 'आसुरिसंज्ञकाय' मुनये च, नमस्याम, इत्यन्वयः ॥ अथ—'आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम् । पञ्चश्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः'—इत्यादिना प्रसिद्धम् आसुरिशिष्यं पञ्चशिखं प्रणमति—तथा पञ्चशिखायैति । नमस्याम इत्यनेनान्वयः । 'जटा वह्निशिखाख्या पञ्च सन्ति च मस्तके । तपस्तेजो भवा यस्य स च पञ्चशिखः स्मृतः' इति तन्नामार्थः ॥ अथ—पञ्चशिखस्य शिष्यपरम्परायां सांख्यकारिका निर्मातारम् 'ईश्वरकृष्णं' प्रणमति—'ईश्वरकृष्णा-ये'ति नमस्यामः—इत्यनेनाऽन्वयः ॥ अनेन सांख्यशास्त्रस्य महर्षिप्रवर्तितत्वेन । उपादेयत्वं सूचि-तम् ॥ कपिलायैत्यत्र चतुर्थी तु क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः—'इत्यनेन फलान्याहर्तुं यातः'—त्यर्थः—'फलेभ्यो यातो'तिवत् 'कपिलायैत्यादेः कपिलं प्राणयितुम् अनुकूलयितुं वा नमस्याम इत्यर्थे साधुत्वेनाऽऽश्रयणोयेति बोध्यम् ॥ २ ॥

कपिलोक्तसांख्यशास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वानां ज्ञानमवश्यं सत्त्वपुरुषान्यताविवेकसाक्षात्कारद्वारा मोक्ष-हेतुर्भवति, अतः सांख्यशास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्व(विषयक)ज्ञानस्य मोक्षकारणस्य जिज्ञासामवतारयि-तुम् अवतरणिकामारचयति—इह खल्विति । इह=संसारे, खलु-निश्चयेन, प्रतिपिस्सितम्=प्रतिपत्तु-म्, अवगन्तुम्=ज्ञातुम्, इष्टम्=अभिलषितम्, अर्थम्=वस्तुतत्त्वम्, प्रतिपादयन्=उपदिशन्, प्रति-पादयिता=उपदेष्टा पुरुषः, प्रेक्षावताम्=हेयोपादेयविवेकवताम्, अवधेयवचनः=अवधेयं सादरश्रव-णीयं वचनं वाक्यं यस्य सः, एतादृशो भवति । यः इष्टम् अर्थम् उपदिशेत् तस्यैव वाक्यं ग्राह्यं भवेदिति समुदितार्थः ॥ तद्विपरीतमाह—अप्रतिपिस्सितं त्विति । अप्रतिपिस्सितम्=ज्ञातुम् अनिष्टम् अर्थम्, प्रतिपादयन्=उपदिशन् पुरुषस्तु, प्रेक्षावद्विः=विवेकिभिः, "नाऽयं लौकिकः= न लोकन्यवहारकूरालः, नाऽपि च परोक्षकः=प्रमाणैः ईक्षते निश्चिनोति सः, न शास्त्रीयविचारवा-निति यावत्" इति ज्ञात्वा, उन्मत्तवत्=विचिन्त इव, उपेक्ष्येत=त्यज्येत,—अद्वेयवचनतया न गृह्येते-त्यर्थः । यः अनिष्टम् अर्थम् उपदिशेत् तस्य वाक्यं उन्मत्तवावयवत् न ग्राह्यं भवेदिति भावः ॥ ननु कः इष्टोऽर्थः इत्याकांक्षायामाह—स चैषामिति । यः अर्थः=यः शास्त्रविषयतत्त्वज्ञानात्मको-ऽर्थः, ज्ञातः सन्=अवगतः सन्, मननद्वारा परमपुरुषार्थः=मोक्षाय, कल्पते समर्थो भवति, सः= स एव शास्त्रविषयः शास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वनिर्णयात्मकः, एषां=प्रेक्षावताम्, प्रतिपिस्सितोऽर्थः=ज्ञातुम् इष्टोऽर्थो भवति । यस्य अर्थस्य ज्ञानं मोक्षहेतुर्भवति स अर्थः जिज्ञास्यो भवति—इति भावः ॥ तदेव घटयति—प्रारिप्सितशास्त्रेति । प्रारिप्सितं यत् सांख्यशास्त्रं तस्य विषयाणां=पञ्चविंशतित-त्त्वानां, ज्ञानस्य=तत्त्वज्ञानस्य, परमपुरुषार्थो यो दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपमोक्षस्तस्य साधनं=साक्षा-त्कारणं यां सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिस्तत्र हेतुत्वात् । तद्विषयजिज्ञासाम्=सांख्यशास्त्रप्रतिपाद्यविषयाः यानि पञ्चविंशतितत्त्वानि तेषां ज्ञानस्य-जिज्ञासाम् प्रथमकारिकयाऽवतारयतोत्यर्थः ॥ दुःखत्रयाभि-



दुःखत्रयाऽभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।

दृष्टे साऽपार्था चेत् नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ ६ ॥

एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत यदि दुःखं नाम जगति न स्यात्, सद्वा न

घातादिति । दुःखत्रयाऽभिघातात्, तदपघातके हेतौ जिज्ञासा ( भवति ), दृष्टे, सा अपार्था चेत् !, न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात्, -इत्यन्वयः । मूलस्य संक्षिप्तार्थस्तु-दुःखत्रयाऽभिघातात्=न्यायमते अभिघातो नाम शब्दजनकसंयोगः, सांख्यमते तु अभिघातो नाम-बन्धजनकसंयोगः, दुःखं बुद्धितत्त्वे वर्तते, आत्माऽपि प्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन बुद्धितत्त्वे वर्तते, तत्रात्मप्रतिबिम्बे दुःखं संक्रामति, तद्दुःखम् आत्मनः प्रतिकूलवेदनीयं भवति, अतः प्रतिकूलवेदनीयत्वाऽपराभिधानः बन्धजनकसंयोगः दुःखत्रयेण सह आत्मनः सम्बन्धः, तथाच 'दुःखत्रयाभिघातात्=दुःखत्रयेणसह आत्मनः प्रतिकूलवेदनीयत्वाख्याऽनिष्टसंयोगात् हेतोः, त्रिविधदुःखात्यन्तोच्छेदात्मको मोक्षः सर्वैरभिलष्यते तस्मादिति प्रवृत्त्यर्थः । तदपघातके=त्रिविधदुःखात्यन्तोच्छेदात्मकोऽक्षय जनके । हेतौ=निमित्तकारणे । जिज्ञासा=मोक्षस्य किं निमित्तकारणम् इति-त्रिविधदुःखनाशकमोक्षवन्तरं शतुम् इच्छा । सर्वेषां भवतीति शेषः । ननु दुःखत्रयनाशकारणे दृष्टे=प्रत्यक्ष सिद्धे ओपधिसेवनादिके प्राप्ते सति, तत्रैव जिज्ञासाप्रशमनात् शास्त्रतत्त्वज्ञाने या जिज्ञासा सा=जिज्ञासा; अपार्था=अपगतार्था निरर्थिका भवतीत्यर्थः ॥ प्रत्यक्षसिद्धमोषादिकमेव दुःखत्रयनाशहेतुर्भवति, न तदतिरिक्तं किञ्चिदपि कारणं विद्यते, यदर्थं जिज्ञासा भवेत्, इत्यतो जिज्ञासाप्रदर्शनं व्यर्थमिति चेत् । इत्यांकाऽभिप्रायः ॥ तन्निषेधति-नेति । एकान्ताऽत्यन्ततोऽभावादिति । 'एकान्तात्यन्ततः'- 'अभावादिति' पदद्वयम्, तत्र 'एकान्तात्यन्ततः'-इत्यस्य 'एकान्तात्यन्तयो'रित्यर्थः । 'एकान्तात्यन्ततः'-इत्यत्र 'आधादिभ्य उपसंख्यानम्' ५ । ४ । ४४ । इति सूत्रेण 'एकान्तात्यन्तयो'रितिपठयन्तात् सार्वविभक्तिकृतिसिद्धप्रत्ययकरणात् 'अभावादित्यनेन सह' सन्धिकरणाच्च 'एकान्ताऽत्यन्ततोऽभावादिति निष्पत्तिः । 'एकान्ताऽत्यन्तदुःखनिवृत्तिर्मोक्षः' अतः एकान्तत्वम् अत्यन्तत्वं च दुःखनिवृत्तेर्विशेषः, एकेन=एकेन येन उपायेन सहैवास्ति अन्तः=तदुत्तराऽवश्यं भवनशीलत्वात्मको नियमो यस्य-दुःखनिवृत्त्यात्मकार्यस्य सः दुःखनिवृत्त्यात्मकार्यविशेषः एकान्तः, तस्य भावः एकान्तत्वम्, -इतिव्युत्पत्तिः, तथा च दुःखनिवृत्तौ एकान्तत्वं नाम-उपायाऽनुष्ठानाऽनन्तरम् अवश्यं भवनशीलत्वम् । एवम्-अत्यन्तः-अति=अतिक्रम्य काले-भविष्यत्कालो न इति यावत्, अन्तः=दुःखान्तराऽसमानाधिकरणत्वरूपो नियमो यस्य दुःखनिवृत्त्यात्मकार्यस्य सः दुःखनिवृत्त्यात्मकार्यविशेषः अत्यन्तः, तस्य भावः अत्यन्तत्वम्, -इति व्युत्पत्तिः, तथा च दुःखनिवृत्तौ अत्यन्तत्वं नाम-भविष्यत्कालो न दुःखान्तराऽसमानाधिकरणत्वम् । एवं च-यदुपायाऽनुष्ठानोत्तरम् अवश्यं भाविनी अथ च भविष्यत्कालोत्पन्नदुःखान्तराऽसमानाधिकरणिका या दुःखनिवृत्तिर्भवति तादृशदुःखनिवृत्त्यर्थं स उपायो जिज्ञास्यः, यदुपायाऽनुष्ठानाऽनन्तरं च या दुःखनिवृत्तिर्नोऽवश्यं भाविनी न वा भविष्यत्कालोत्पन्नदुःखान्तराऽसमानाधिकरणिका स उपायो न जिज्ञास्यः-इत्येतदभिप्रायेणोक्तम्-एकान्तात्यन्ततोऽभावादिति । ओपधादिदृष्टोपायाऽनुष्ठानेऽपि कश्चिद् दुःखं न निवर्तते, दुःखनिवृत्तौ वा पुनर्दुःखान्तरमुत्पद्यते-इत्यनुभवात् ओपधादिदृष्टोपायाऽनुष्ठानाऽनन्तरजायमानदुःखनिवृत्तौ एकान्तत्वस्य अत्यन्तत्वस्य चाऽभावात् दृष्टोपायो न जिज्ञास्य इति भावः ॥ जिज्ञासां समर्थयितुं विकल्पान् प्रकल्प्य तान् निराकृत्य च कारिकां योजयितुमुपक्रमते-एवं हीति । हि=तर्हि । तथा च-

जिहासितम्, जिहासितं वा अशक्यसमुच्छेदम् । अशक्यसमुच्छेदता च द्वेधा-दुःखस्य नित्यत्वात्, तदुच्छेदोपायापरिज्ञानाद्वा । शक्यसमुच्छेदत्वेऽपि च शास्त्रविषयस्य ज्ञानस्यानुपायत्वाद्वा, सुकरस्योपायान्तरस्य सद्भावाद्वा ॥ तत्र न तावद् दुःखं नास्ति नाप्यजिहासितमित्युक्तम्-“दुःखत्रयाभिघाताद्” इति । दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम् । तत् खलु आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च । तत्राध्यात्मिकं द्विविधम्, शारीरं मानसं च । तत्र शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । मानसं

यदि दुःखं नाम जगति न स्यात् तर्हि शास्त्रविषयः=शास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वज्ञानं न जिज्ञास्येत-त्यन्वयः । शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत=सांख्यशास्त्रीयतत्त्वज्ञानं न श्रुतमभिलष्येतित्यर्थः ॥ शास्त्रविषयः=दुःखत्रयाऽत्यन्तविषयक-सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारात्मक-विवेकज्ञान-जनकप्रकृतशास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वज्ञानम् इति ॥ द्वितीयं विकल्पमाह-सद्भावाद्वा न जिहासितमिति । सद्भावाद्वा=विद्यमानमपि वा तद्दुःखं, न जिहासितम्=यदि त्यक्तुमभिलषितं न स्यात्, तर्ह्यपि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येतित्यर्थः ॥ तृतीयं विकल्पमाह-जिहासितं वाऽशक्यसमुच्छेदमिति जिहासितम्=हातुम् शप्सितम् । न कर्तुं शक्यः समुच्छेदो नाशो निवृत्तिर्यस्य तत् अशक्यसमुच्छेदम् । त्यक्तुमभीष्टमपि दुःखं यदि प्रयत्नेनापि नाशं निवर्त्य न स्यात् तर्ह्यपि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येतित्यर्थः ॥ दुःखस्याऽशक्यनिवर्त्यत्वे द्विविधं प्रयोजकं दर्शयति-दुःखस्य नित्यत्वाद्देति । सत्कार्यवादि सांख्यमते दुःखस्यापि सतः नाराऽप्रतियोगित्वेन प्रयत्ननिवर्त्यत्वं न स्यादिति भावः ॥ ननु सतोऽपि दुःखस्य तिरोभावः कर्तुं शक्यः, अतः प्रयोजकान्तरमाह-तदुच्छेदोपायाऽपरिज्ञानाद्देति । दुःखोच्छेदस्य य उपायः साधनं तस्य अपरिज्ञानम्, तस्मात् । कारणज्ञानाऽभावाद्वा कार्यं=दुःखोच्छेदः न स्यादिति भावः ॥ चतुर्थं विकल्पमाह-शक्यसमुच्छेदत्वेऽपीति । दुःखस्य शक्यनिवर्त्यत्वेऽपि । शास्त्रविषयस्य ज्ञानस्य=सांख्यशास्त्रीयतत्त्वज्ञानस्य, अनुपायत्वाद्वा=दुःखोच्छेदं प्रति अकारणत्वाद्देत्यर्थः । यदि सांख्यशास्त्रीयतत्त्वज्ञानं दुःखनिवृत्तिसाधनं न स्यात् तर्ह्यपि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येतिति भावः ॥ पञ्चमं विकल्पमाह-सुकरस्येति । तत्त्वज्ञानाऽपेक्षया सरलस्य, उपायान्तरस्य=कारणान्तरस्य, सद्भावाद्वा=विद्यमानत्वात् तेन यदि तत्त्वज्ञानमन्यथासिद्धं स्यात् तर्ह्यपि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येतिति भावः ॥ प्रथमं विकल्पं निषेधति-तत्र न तावदिति । तत्र=पञ्चविकल्पमध्ये । तावत्=वाक्यालंकारः । दुःखं नास्ति=दुःखं नाम जगति न स्यात्-इति प्रथमविकल्पोक्तार्थः, न=न युक्तः, कस्मात्? दुःखस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्-इति शेषः ॥ द्वितीयं विकल्पं निषेधति-नाऽप्यजिहासितमिति । सद्भावाद्वा न जिहासितम् इत्यपि विकल्पः, न=न युक्तः । कस्मात्? सर्वेषां प्रतिकूलवेदनोपत्वात्-इति शेषः ॥ अत उक्तमिति । अतः=आत्मनो दुःखेन सह प्रतिकूलवेदनोपत्वात् सांख्यसम्बन्धसत्त्वात्, तद्दर्शयितुम् उक्तम्=कारिकायां ‘दुःखत्रयाऽभिघातादित्युक्तमित्यर्थः । अत एव च दुःखं जिहास्यमिति भावः ॥ दुःखस्य त्रैविध्यं दर्शयति-तत् खल्विति । तत्=दुःखम्, खलु=निश्चयेन । आध्यात्मिकम्=आत्मानं देहम् अधिकृत्य निमित्तोक्त्य जायमानं स्वाभाविकम् अशानायापिपासादिकं वातपित्तकफादिप्रकोपजं च ज्वरादिकं, तथा-आत्मानम् अन्तःकरणम् मनः-प्रभृति अधिकृत्य जायमानं कामादिविषयकं दुःखम्, तत्सर्वम् आध्यात्मिकमित्यर्थः ॥ आधिभौतिकम्=भूतानि-चौर-वैरि-सिंह-सर्प-वृक्ष-शिलाप्रभृति-चराऽचरजातीयानि अधिकृत्य निमित्तोक्त्य जायमानं दुःखम् ॥ आधिदैविकम्=देवान्-यक्षभूत-ग्रहादीन् देवकृतांश्च अतिवृष्ट्यनावृष्टिवाताऽऽतपादीन् अधिकृत्य जायमानं दुःखमित्यर्थः ॥ आध्यात्मिकस्य त्रैविध्यं दर्शयति-शारीरं मानसं चेति । तत्र शारीरं दुःखं दर्शयति-वातपित्तेति । वातश्च पित्तश्च श्लेष्म चेति वातपित्त-



कामक्रोधलोभमोहभयेत्याविपादविषयविशेषादर्शननिबन्धनम् । सर्वञ्चैतदान्त-  
रोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम् । बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेषा, आधि-  
भौतिकम्, आधिदैविकञ्च । तत्राधिभौतिकम्-मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावर-  
निमित्तम् । आधिदैविकं तु यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम् । तदेतत् प्र-  
त्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम् । तदनेन दुःखत्रये गा-  
न्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलवेदनीयतयाऽभिसम्बन्धोऽभिघात इति । ए-

श्लेष्माणि तेषाम्, वैषम्यनिमित्तम्=न्यूनाधिक्यनिमित्तकम् ॥ मानसं दुःखं दर्शयति-कामक्रोधेति ।  
कामः=स्यादौष्टविषयाभिलाषः, क्रोधः=अनिष्टविषयद्वेषः, लोभः=अधिकप्राप्तिच्छा, मोहः=ग्राह्याऽ-  
ग्राह्यज्ञानाभावः, भयम्=त्रासः, ईर्ष्या=परसम्पदुत्कर्षाऽसहिष्णुता, विपादः=प्रियवस्तुनारो व्याकु-  
लोभावः, विषयविशेषाऽदर्शनम्=विषयाणां विशेषाः-शब्दस्पर्शादिश्रेष्ठविषयाः तेषाम् अदर्शनम्-  
अनुभवः अलाभ इति यावत् ॥ अन्ये तु-विषयविशेषादर्शनम्=अनेकक्रोष्टिकं ज्ञानं संशय इति-  
न्यायमतेन व्याख्यान्ति । तदेतत्सर्वं मनोगतविकारनिबन्धनं दुःखम् मानसमित्यर्थः ॥ शरीरदुःख-  
मानसदुःखयोरध्यात्मिकत्वे हेतुमाह-आन्तरोपायसाध्यत्वादिति । शरीराभ्यन्तरेऽन्तःकरणाऽऽ-  
भ्यन्तरे वा भवाः वर्तमाना उपायाः-आतपित्ताद्याऽभ्यन्तरोपायाः, कामादयोऽभ्यन्तरो-  
पायाः, तत्साध्यत्वात्=तज्जन्यत्वात् तन्निष्पादकादिति यावत् ॥ यथा आध्यात्मिकं दुःखं द्विविधम्,  
तथा बाह्यमपि दुःखं द्विविधमिति दर्शयति-बाह्योपायसाध्यं चेति । शरीराद्विहंभाः वर्तमानाः  
वे उपायाः साधनविशेषाः तैः साध्यं जन्यम् उद्घात्येत्यर्थः । द्वेषा=द्विप्रकारम् ॥ प्रकारद्वयम् उद्दि-  
शति-आधिभौतिकम् आधिदैविकं चेति । तत्राधिभौतिकं दर्शयति-मानुषपथिति । मानुषाः=  
चौरनृपत्यादयः, पशवः=सिंहादयः, सरीसृपाः=सर्पादयः, स्थावराः=वृक्षपर्वतादयः, तन्निमित्तजमि-  
त्यर्थः ॥ आधिदैविकं दुःखं दर्शयति-यक्षराक्षसेति । यक्षाः, राक्षसाः, विनायकाः=गणानां  
प्रत्ययः, ग्रहाः=शनिराहुप्रभृतयः, तेषाम् आवेशाः-स्थानाधिकारः, तन्निबन्धनं दुःखमित्यर्थः ॥  
एतादृशदुःखस्याऽप्रत्याख्यातानां दर्शयति-तदेतदिति । तत्=पूर्वकम्, एतत्=अधिविश्वेन  
विवेचितम्, प्रत्यात्मवेदनीयम्=प्रत्येकव्यक्त्यनुभवसिद्धम्, दुःखम्, रजःपरिणामभेदः=बुद्धिगत-  
जोषुणपरिणामविशेषात्मकम्, प्रत्याख्यातुं=असत् कर्तुम्, 'दुःखं नाम वस्तु नास्तीति निराकर्तुम्-  
अपलपितुमिति यावत्, न शक्यते केनाऽपीत्यर्थः ॥ 'अभिघात'पदार्थमाह-तदनेन दुःखत्रयेणेति ।  
तदनेन=पूर्वदिक्षेचितेन, अन्तःकरणवर्तिना=अन्तःकरणं बुद्धितत्त्वार्थं द्रव्यम्, तत्र तादात्म्यसम्ब-  
न्धेन वर्तिना-वर्तमानेन । दुःखत्रयेण=आध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकेतुःखत्रयेण सह,  
चेतनाशक्तेः=प्रतिविवितत्वसम्बन्धेन बुद्धिबृत्तिपुरुषस्य चेतनस्य, यः प्रतिकूलवेदनीयतया=अनिष्ट-  
तया प्रतिकूलवेदनीयत्वाख्यः बन्धजनकसंयोगरूपः यः, अभिसम्बन्धः=असह्यः सम्बन्धः, स अभि-  
घातपदार्थः । दुःखस्य आत्मधर्मत्वमितिन्यायमतं वारयितुमुक्तम्-अन्तःकरणवर्तिनेति ॥ एतावता=  
'अभिघात'पदेन असह्यदुःखसम्बन्धकथनेन, प्रतिकूलवेदनीयत्वमिति यः सम्बन्धः स एव जिहा-  
साहेतुरुक्तः=यतः दुःखसम्बन्धोऽनिष्टस्तस्मात् दुःखं जिहास्यमिति भावः । तत्र-जिहासा=हातुमि-  
च्छा, दुःखहानेच्छा=दुःखतिरोभावेच्छा, सा च दुःखे स्वविषयतिरोभावयोगित्वसम्बन्धेन वर्तते,  
तत्र च दुःखे प्रतिकूलवेदनीयत्वम्-दुःखं मे प्रतिकूलमितिज्ञानविषयत्वं तु आश्रयतासम्बन्धेन वर्तते,  
तथा-च-स्वविषयतिरोभाववस्थायोगित्वसम्बन्धेन जिहामां प्रति आश्रयतासम्बन्धेन प्रतिकूलवेदनी-

तावता प्रतिकूलवेदनीयत्वं जिहासाहेतुरुक्तः । यद्यपि न सत्-निरुध्यते दुःखम्, तथाऽपि तदभिभवः शक्यः कर्तुमित्युपरिष्ठादुपपादयिष्यते । तस्मादुपपन्नम् “तदपघातके हेतौ” इति । तस्य दुःखत्रयस्य अपघातकः तदपघातकः । उपसर्जनस्यापि बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य ‘तदा’ परामर्शः अपघातकश्च हेतुः शास्त्रप्रतिपाद्यो, नान्य इत्याशयः । अत्राशङ्कते-“दृष्टे साऽपार्था चेत्” इति । अयमर्थः-अस्तु तर्हि दुःखत्रयम्, जिहासितं च तद्भवतु, भवतु च तच्छक्यहानम्, सहतां च शास्त्रगम्य उपायस्तत् उच्छेत्तुम् । तथाऽप्यत्र प्रेक्षावतां जिज्ञासा न युक्ता, दृष्ट्यैवोपायस्य तदुच्छेदकस्य सुकरस्य

यत्वं कारणमिति बोध्यमिति ॥ सतो दुःखस्य नाशाऽसंभवात् तदभिभवं दर्शयति-यद्यपि नेति । यद्यपि दुःखं सांख्यमते सत्-पदार्थः, अतस्तत् न निरुध्यते=समूलमुच्छेत्तुं न पार्यते, तथापि तदभिभवः=तस्य दुःखस्य तिरोभावावस्थापादनरूपः अनाविर्भावः कर्तुं शक्यः, इत्यर्थः । एतच्च निवेदयिष्यते उपरिष्ठात्=अग्रे-‘३कारिकाकौमुद्यां “न पुनरसतामुत्पादः सतां वा निरोधः, यथाह भगवान् कृष्णदैपायनः-“नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः”-इति ग्रन्थेन प्रदर्शयिष्यते इत्यर्थः ॥ उपसंहरति-तस्मादिति । यतो दुःखाभिभवः कर्तुं शक्यः अतः ‘तदपघातके हेतौ’-दुःखापघातके हेतौ जिज्ञासा जायते इति उपपन्नम्=युक्तमिति भावः ॥ ‘तदपघातक’शब्दार्थमाह-तस्येति । अपघातकः=अत्यन्तनिवृत्तिजनकः ॥ ननु ‘तत्’शब्दस्य पूर्वस्थ-प्रधानपदार्थ-परामर्शित्वात् ‘दुःखत्रयस्य’ ‘दुःखत्रयाऽभिघातादि’तिपदान्तःपतितत्वेन गौणत्वात् कथं ‘तत्’शब्देन दुःखत्रयं परावृश्यते ? इत्याशंका निवारणार्थमाह-उपसर्जनस्याऽपीति । अयं भावः-‘तत्’पदस्य प्रधानपदार्थपरामर्शित्वमिति न नियमः, किन्तु ‘तत्’-शब्दस्य बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्नपदार्थं शक्तत्वात् गौणं प्रधानं वा यत् किमपि बुद्धावारोहति तदेव ‘तत्’पदपरामर्शं भवति, अत्र ‘तदपघातके’-इतिपदघट्कत्वं तत्पदेन उपसर्जनस्यापि=समासे विशेषणभूतत्वेन स्वातन्त्र्येणोपस्थित्यविषयस्यापि ( गौणस्यापि ) बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य=बुद्धावाहृतस्य ‘दुःखत्रयस्य’ ‘तदा’=‘तत्’ पदेन, परामर्शः=अव्याहारः-भवतीति बोध्यमित्यर्थः ॥ दुःखोपघातकं हेतुं दर्शयति-शास्त्रप्रतिपाद्य इति । सांख्यशास्त्रप्रतिपाद्य-तत्त्व-ज्ञानमेव सत्त्वगुरुष्वन्यताविवेकसाक्षात्कारद्वारा दुःखोच्छेदको हेतुरित्यर्थः । अनेन-‘शास्त्रविषयस्य ज्ञानस्याऽनुपायत्वादे’ति चतुर्थो विकल्पो निरस्तो वेदितव्यः । ‘सुकरस्योपायान्तरस्य सद्भावादे’-ति पञ्चमं विकल्पं निराकुर्वन्नाह-‘नान्य’ इति । सांख्यशास्त्रोक्तत्त्वज्ञानभिन्नः कश्चिदपि दुःखत्रयाऽत्यन्तोच्छेदको हेतुर्नास्तीत्यर्थः ॥ ‘नान्य’-इति दुष्कार्तुमारंका मुत्थापयति-अत्राऽऽशङ्कते-इति । अत्र=‘नान्यो दुःखोच्छेदकोपाय’-इत्यंशे । आशङ्कते=नास्तिकः प्रत्यक्षवादी दृष्टमन्यमुपायमारंके ॥ कारिकाशमवतारयन्-शंकास्वरूपमाह-‘दृष्टे साऽपार्था चेदिति’ । दृष्टे=लोकप्रसिद्धे औपधादौ सरले दुःखोच्छेदकोपाये उपलब्धे सति, सा=उष्कारे सांख्यशास्त्रोक्तत्त्वज्ञाने जिज्ञासा, अपार्था=निरर्थिका इत्यर्थः ॥ एतदेव स्फुटीकर्तुमाह-अयमर्थ इति । ‘दृष्टे साऽपार्था चेदिति’ ग्रन्थस्याऽयमभिप्राय इत्यर्थः ॥ तदभिप्रायमाह-‘अस्तु’-इत्यादिना । अस्तु=विद्यताम्, दुःखत्रयम् । भवतु च तत्=दुःखत्रयं, जिहासितम्=ज्ञानेच्छाविषयः । भवतु च तत्=दुःखत्रयं, शक्यहानम्=शक्यसमुच्छेदम् । सहतां च=समर्थो भवतु च, शास्त्रगम्यः=सांख्यशास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वज्ञानात्मकः, उपायः=हेतुः, तदुच्छेत्तुम्=दुःखत्रयोच्छेदाय । तथापि अत्र=सांख्यशास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वज्ञाने, प्रेक्षावताम्=बुद्धिमताम्, जिज्ञासा=ज्ञातुमिच्छा, न युक्ता ॥ सांख्यशास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वज्ञाने जिज्ञासाया अयुक्तत्वे अन्यथासिद्धत्वात्मकं हेतुमाह-दृष्ट्यैवोपायस्येति । इ-



विद्यमानत्वात् । तत्त्वज्ञानस्य तु अनेकजन्माभ्यासपरम्पराऽऽयाससाध्यतयाऽति-  
दुष्करत्वात् । तथा च लौकिकानामाभाणकः—“अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पवतं  
ब्रजेत् ॥ इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्” इति ॥ सन्ति चोपायाः  
शतशः शारीरदुःखप्रतीकारायेपत्कराभिपजां वरूपदिष्टाः । मानसस्यापि सन्ता-  
पस्य प्रतीकाराय मनोज्ञस्त्रीपानभोजनविलेपनवस्त्रालङ्कारादिविषयसम्प्राप्तिरूपायः  
सुकरः । एवमाधिभौतिकस्यापि दुःखस्य नीतिशास्त्राभ्यास-कुशलतानिरत्ययस्था-  
नाध्यसनादिः प्रतीकारहेतुरीपत्करः । तथाऽऽधिदैविकस्यापि दुःखस्य मणिमन्त्रौष-  
धाद्युपयोगः सुकरः प्रतीकारोपाय इति ॥ निराकरोति—“न” इति । कुतः ? “एका-

ष्टस्यैव=लोके प्रत्यक्षतयोपलभमानस्यैव, उपायस्य=श्रोपधाद्यात्मकसाधनस्य, तदुच्छेदकस्य=दुःखत्र-  
यनाराकस्य, सुकरस्य=अनायासेन सम्पादनीयस्य, विद्यमानत्वात्=सत्त्वादित्यर्थः ॥ तथा चानुमा-  
नम्—‘शास्त्रविषयो’, न जिज्ञास्यः, दृष्टोपायनिरूपिताऽन्यथासिद्धिमत्त्वात् ॥

सुकरमुपेक्ष्य दुष्काराचरणम् अयोग्यमित्यत्रार्थे लोकसंवादमाह-लौकिकानामिति । लोकव्य-  
वहारविदाम् आभाणकः=प्रवादः ॥ तदाह-अर्के चेदिति । चेत्=यदि, अर्के=‘अर्क’बृत्ते । ‘अक्के-  
चेदि’तिपाठे तु ‘अक्के’-इत्यस्य गृहकोणे-इत्यर्थः । मधु विन्देत=प्राप्येत, तर्हि पवतं प्रति किमर्थं=किंप्र-  
योजनाय, ब्रजेत्=गच्छेत् । तद्वत् इष्टस्य=अभिलाषविषयस्य, अर्थस्य=पदार्थस्य वस्तुनः, संसिद्धौ=अ-  
नायासेन निष्पत्तौ सत्याम्, तन्निष्पत्त्यर्थं यत्नम्=प्रयासम्, कः विद्वान् आचरेत्=अनुतिष्ठेत् ? न कोऽ-  
पीत्यर्थः ॥ सांख्यशास्त्रीयतत्त्वज्ञानाऽपेक्षया सुलभानुपायान् दर्शयति-सन्ति चेति । भिपजांवरैः=  
वैद्यवयैः, उपदिष्टाः=चरकसंहितादौ वर्णिताः, शतशः उपायाः शारीरदुःखप्रतिकाराय=वैवरादिकस्य  
शारीरदुःखस्य निवर्तनाय, ईपत्कराः=अनायाससंग्रहाः सरलाः, सन्ति=विद्यन्ते ॥ एवम्-मानस-  
दुःखोच्छेदाय सुकरं तदुपायमाह-मानसस्यापीति । मनोगतकामक्रोधादिजन्यस्य, सन्तापस्य=दुःखस्य,  
प्रतीकाराय=निवर्तनाय, मनोज्ञा स्त्री च=स्वप्रिययुवतीसम्भोगः, पानं च=मद्यपानं च, भोजनं च=  
मिष्टान्नादिभोजनं च, विलेपनं च=चन्दनादिलेपनं च, वस्त्राणि च=वस्त्रधारणं च, अलङ्काराश्च=आभू-  
षणधारणं चेत्यादयो ये विषयाः तेषां प्राप्तिर्लाभः, तल्लाभात्मकोपायः सुकरः=सुलभ इत्यर्थः ॥ व्याधा-  
दिजन्याऽऽधिभौतिकदुःखप्रतिकारोपायमाह-एवमाधिभौतिकस्येति । नीतिशास्त्राभ्यासः=‘दंष्ट्रिणः  
श्रृंगिणो दूरतः परिवर्ज्याः’ ‘नाऽदण्डो बहिर्गच्छेदित्यादिबोधक-बार्हस्पत्यौशनस-कामन्दकीया-  
दि-नीतिशास्त्राऽभ्यासः । कुशलता=सांसारिकराज्यादिव्यवहारचतुरता । निरत्ययरधानाध्यस-  
नादिः=निर्बाधनिरुपद्रवस्थाने निवासादिः । प्रतीकारहेतुः=आधिभौतिकदुःखनिवृत्तेरुपायः, ईपत्करः  
=सुलभः ॥ यत्नादिजन्याऽऽधिदैविकदुःखनिवर्तनोपायमाह-तथाऽऽधिदैविकस्यापीति । मणेरु-  
पयोगः-‘दोषोपसर्गप्रभवश्च ये ते नोपद्रवास्तं समभिद्रवन्ति । गुणैः समस्यैः सकलैरुपेतं यः प-  
ञ्चरागं प्रयतो विभर्ति’-इत्यादिना मणिधारणस्य उपद्रवविद्रावकत्वकथनात्, एवम्-श्रीस्वामिनारा-  
यणनामजपनात्, तथा श्रीसारंगपुरवासि-हनुमन्मन्त्रस्य ‘नीतिप्रवीणनिगमागमेत्यस्य नववारं स-  
स्वरं जपनात्, तथा ‘ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षा’मित्यादि-‘नारायणकवच’मन्त्रस्य जपनात् यत्न-  
रासन्नभूतप्रेताद्युपद्रवनाशकथनात्, एवम्-‘कृष्णामरोचिसिन्धुदूथ-मधुगोरीचनाकृतम् । अञ्जनं  
सर्वदेवादिकृतोन्मादहरं परमि’त्यादिना श्रोपधस्यापि आधिदैविकोत्पातविद्रावकत्वात् त एते सरलाः  
प्रतिकारोपाया इत्यर्थः ॥ लौकिकोपायेन नाभिलषितदुःखनिवृत्तिरितिप्रदर्शनार्थं कारिकांशमवतार-  
यति-निराकरोति-‘न’-इति । ‘न’इत्यनेन ‘साऽपार्था’इत्यांशं अपनुदतीत्यर्थः ॥ लौकिकोपाधा-

न्तात्यन्ततोऽभावात्” । एकान्तोदुःखनिवृत्तेरवश्यम्भावः, अत्यन्तो-निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः, तयोः एकान्तात्यन्तयोरभावः एकान्तात्यन्ततोऽभावः । पृष्ठीस्थाने सार्वविभक्तिकस्तसिः । एतदुक्तं भवति-यथाविधि रसायनादिकामिनीनीतिशास्त्राभ्या-समन्त्राद्युपयोगेऽपि तस्य तस्याध्यात्मिकादेर्दुःखस्य निवृत्तेरदर्शनात् अनैकान्तिकत्वम्, निवृत्तस्यापि पुनरुत्पत्तिदर्शनात् अनात्यन्तिकत्वम्, इति सुकरोऽपि ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्तेर्न ऽष्ट उपाय इति नापार्था जिज्ञासेत्यर्थः ॥ यद्यपि

दिदृष्टोपायैः प्राप्तोऽपि जिज्ञासायाः प्रशमने हेतुं पृच्छति-कुतः ? इति । कस्माद्धेतोः लौकिकोपाये जिज्ञासा न प्रशाम्यतीत्यर्थः ॥ तं हेतुं कारिकाशात्मकं दर्शयति-एकान्ताऽत्यन्ततोऽभावादिति । ‘एकान्तात्यन्ततः’-इत्यत्र ‘आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्’ ५।४।४४ । इत्यनेन पष्ठयन्तात् ‘तसि’करणात् ‘एकान्तात्यन्तयो’रित्यर्थो बोध्यः । तथा च-एकान्ताऽत्यन्तयोरभावात्-इत्यस्य ( दुःखनिवृत्तौ एकान्तत्वाभावात् अत्यन्तत्वाऽभावाच्चेत्यर्थः । एकेन=येन एकेन उपायेन सदैवास्ति, अन्तः=अवश्यं भवनशीलत्वाख्यनियमः यस्य, तस्य भावः-एकान्तत्वम्, तदभाववत्त्वम्-एकान्तत्वाऽभाववत्त्वमिति, तथा च दृष्टोपाये ओषधादौ नियमेन दुःखनिवर्तकत्वाऽभावात् न तत्र जिज्ञासाप्रशमनम्, अतः शास्त्रविषये जिज्ञासा सार्था इति भावः । एवम्-अत्यन्तः=अति अतिक्रम्य काले-भविष्यत्कालोनेत्यर्थः, अन्तः=दुःखाऽन्तराऽसमानाधिकरणत्वरूपो नियमो यस्य स अत्यन्तः, तस्य भावः, भविष्यत्कालोत्पन्न दुःखाऽसमानाधिकरणत्वम्-अत्यन्तत्वम्, तदभाववत्त्वम्-अत्यन्तत्वाऽभाववत्त्वम्, तच्च दृष्टोपाये नास्त्यर्थः ॥ ‘एकान्त’पदार्थमाह-दुःखनिवृत्तेरवश्यंभावइति अवश्यंभावः=नियमेन जायमानत्वम्-अवश्यं भवनशीलत्वम् ॥ अत्यन्तपदार्थमाह-निवृत्तस्येति । निवृत्तस्य दुःखस्य=दुःखनिवृत्तेरित्यर्थः । पुनरनुत्पादः=पुनरुत्पन्न दुःखाऽसमानाधिकरणत्वमित्यर्थः । तयोः=एकान्ताऽत्यन्तयोः यः अभावः=असद्भावः सः=एकान्ताऽत्यन्ततोभाव इति विग्रहो दर्शितः ॥ पृष्ठीस्थाने इति । ‘एकान्ताऽत्यन्तयो’रिति पृष्ठीस्थाने सार्वविभक्तिकः=सर्वान्तु विभक्तिषु भवः=प्राप्तिशीलः ‘तसि’प्रत्ययो जातः, तेन ‘एकान्ताऽत्यन्ततः’इति रूपं निष्पन्नम्, ततः ‘अभावादित्यनेन समासे सति ‘एकान्ताऽत्यन्ततोऽभावादिति बोध्यम्, अनुमानं तु-‘दृष्टोपायो, न जिज्ञास्यः, ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाऽभाववत्त्वात् । फलितमाह-एतदुक्तं भवतीति । एतत्=दृष्टोपायजन्यदुःखनिवृत्तौ एकान्तत्वाऽभावोऽत्यन्तत्वाऽभावश्चेति यत् कथितं तत्, उक्तं भवति=उच्यते प्रदर्शयते-इत्यर्थः । तदेवप्रदर्शयति-यथाविधीति । विधिमनतिक्रम्येत्यर्थः । रसायनादि च=त्राव्याधिविध्वंसि भेषजं च, कामिनी च=मनोशस्त्रो च, नीतिशास्त्राभ्यासश्च, मन्त्रादयश्चेति, द्वन्द्वः, तेषाम् उपयोगे कृतेऽपि, तस्य=शरीरस्य, तस्य=मानसस्य, आध्यात्मिकादेः=आध्यात्मिकदुःखस्य, आधिभौतिकदुःखस्य आधिदैविकदुःखस्य च, निवृत्तेः=उच्छेदस्य, अदर्शनात्=अजायमानत्वेन अनुभावात्, अनैकान्तिकत्वम्=नियमेन अवश्यंभावित्वाऽभाववत्त्वम् । अथ च निवृत्तस्यापि=ओषधादिना विलीनस्याऽपि-सूक्ष्मावस्थापन्नस्यापि उज्ज्वलादेर्दुःखस्य, पुनरुत्पत्तिदर्शनात्=पुनः उज्ज्वलदर्शनात्-स्थूलावस्थापन्नतादर्शनात्, अनात्यन्तिकत्वम्=भविष्यत्कालोत्पन्नदुःखाऽसह्यवर्तित्वाऽभाववत्त्वम् । तस्मात्-सुकरःअपि=सरलोऽपि, दृष्ट उपायः=ओषध्याद्यल्लौकिकोपायः, ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिजनको न भवति, अतः सांख्यशास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वज्ञानविषयकजिज्ञासा नाऽपार्था=न व्यर्था-इति भावः ॥ ननु शास्त्रादौ मंगलाचरणं विहायेश्वरकृष्णचाचर्येण कथं ‘दुःख’मिति अमंगलमाचरितम्? इत्याशङ्कते-यद्यपि दुःखम् अमंगलमिति । प्रशस्ताऽऽचरणं नित्यमप्रशस्तविबर्जनम् । एतद्धि मंगलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः-



दुःखममङ्गलम्, तथाऽपि तत्परिहारार्थत्वेन तदपघातो मङ्गलमेवेति युक्तं शास्त्रादौ तत्कीर्तनमिति ॥ १ ॥

स्यादेतत् । मा भूद् दृष्ट उपायः, वैदिकस्तु ज्योतिष्टोमादिः सहस्रसंवत्सर-  
पर्यन्तः कर्मकलापस्तापत्रयमेकान्तमत्यन्तञ्चापनेष्यति । श्रुतिश्च,—“स्वर्गकामो य-  
जेत” इति । स्वर्गश्च—यज्ञ दुःखेन सम्भिन्नं न च प्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोप-  
नीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम् ॥ इति । ( तन्त्रवा० ) ॥ दुःखविरोधी सुखवि-

रितिवचनेन प्रशस्ताचरणस्य मंगलपदार्थत्वात् ‘दुःखेत्यप्रशस्ताऽऽचरणं शास्त्रादौ विरुद्धमिति भावः ॥ तत्समाधत्ते—तथापीति । तत्परिहारार्थत्वेन—तस्य—दुःखत्रयस्य, परिहारः—आत्यन्तिकी निवृत्तिः मोक्षः, स एव अर्थः—परमं प्रयोजनम्, तस्यभावस्तत्त्वं—दुःखपरिहारार्थत्वं—मोक्षत्वम्, तेन मोक्षत्वेन धर्मेणेति यावत्, मोक्षत्वावच्छिन्न इति भावः । तदपघातः—‘तदपघातके’—इति पदान्तःपतितः दुःखापघातात्मको मोक्षः, स एवाऽऽर्यायाः प्रथमपादान्तनिरुक्तो मंगलम् मन्तव्यम्, तथा च शास्त्रा-  
दौ—सांख्यकारिकात्मक—शास्त्रप्रारम्भे प्रथमकारिकायाः प्रथमपादे, तत्कोर्तनम्—तस्य—दुःखापघातात्म-  
कमोक्षप्रतियोगिनो दुःखस्य, कोर्तनम्—कथनम्, युक्तम्—अविरुद्धम्, ‘नारायण’शब्दस्थं न‘कारो—यथा नाऽमांगलिकस्तथा दुःखत्रयनिवृत्तिरूपमोक्षैकदेशा दुःखस्य नाऽऽमांगलिकत्वमिति तु परमार्थः ॥ १ ॥

‘दृष्टवानुश्रविक’—इतिकारिकामवतारयितुं मांसासकमतेन शङ्कते—स्यादेतदिति । एतत्—दृष्टः उपायः, माभूत्—न स्याद् दुःखनिवृत्तेर्हेतु—रित्यादिकं यत् नास्तिकमतान्तरसंनतं तत्, स्यात्—युक्तं भवेत् । किन्तु—वैदिकस्तु—‘स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेते’तिवेदप्रतिपादितस्तु, ज्योतिष्टोमादिः—ज्योतिष्टोमयज्ञादिरूपः, संवत्सरपर्यन्तः—अनेकजन्माभ्याससाध्य—तत्त्वविवेकज्ञानाऽपेक्षया संवत्सरे-  
कमात्रसमयाऽनुष्ठेयः, कर्मकलापः—क्रियासमुदायरूपः, उपायः, तापत्रयम्—तापानाम्—आ-  
ध्यात्मिकाधिभौतिकाऽऽधिदैविकानां त्रयम्, त्रिविधं दुःखमित्यर्थः । एकान्तं अत्यन्तं चेति द्वयं ‘अ-  
पनेष्यतीति क्रियाविशेषणम्, अपनेष्यति—अपनयं निवृत्तिं करिष्यति, एकान्तां दुःखत्रयनिवृत्तिम्  
अत्यन्तां च दुःखत्रयनिवृत्तिं करिष्यतात्यर्थः ॥ वैदिककर्मकलापस्य तापत्रयनिवर्तकत्वे वैदिकं प्रमा-  
णमाह—श्रुतिश्च—इति । स्वर्गकामः—स्वर्गाऽभिलाषवान्, यजेत—यागेन दृष्टं ( स्वर्गं ) भावयेत्,—स-  
म्पादयेत् इत्यर्थः । ननूक्तश्रुत्या ‘यागः स्वर्गसाधनमित्यायातम्, न तु दुःखत्रयनिवृत्तिसाधनमिति,  
तथा च कथं यागेन शाखायविषये जिज्ञासाऽन्यथासिद्धतेति चेत् ! न, दुःखत्रयात्यन्तनिवृत्तेरेव वि-  
लक्षणसुखत्वेन अभिमतायाः ‘स्वर्गः’इतिनामान्तरात्, तदेवाह—‘स्वर्गश्च’ इति ॥ भाट्टवार्तिकश्लोक-  
माह—“यज्ञेति । यत् दुःखेन—वर्तमानकालिकेनोत्तरकालिकेन वा दुःखलेशेनापि, न संभिन्नम्—न  
मिलितम्, स्वाऽपूर्वकालानुसुखान्तराऽप्राप्तिनिबन्धन—दुःखाऽऽसर्गिमाश्रयमिति फलितार्थः । तथा च  
यथाऽस्माकं लौकिकं सुखं दुःखमिश्रितं तथेदं सुखं न मिश्रितमिति भावः । न च प्रस्तम्—नाराप्रतियो-  
गि न, अच्युति—इति यावत्, यथाऽस्माकं सुखं अन्ते नष्टं भवति तथा तत् सान्तं न किन्तु निरन्त-  
मिति भावः । अनन्तरम्—अन्तरम्—मध्ये मध्ये विच्छेदभावः स नास्ति यस्येत्यर्थः, यथाऽस्माकं  
सुखमन्तराऽन्तरा तिरोभवति प्राविर्भवति च नेदं सुखं तथाविधमपि तु निरन्तरालप्रवाहमिति भावः ।  
अभिलाषोपनीतम्—अभिलाषया—संकल्पमात्रेण,—उपनीतम्—प्राप्तिविषयम्, न त्वस्माकमिव साधना-  
ऽऽयासलभ्यमिति भावः । एवंविधं यत् सुखं तत् ‘स्वः’पदास्पदम्—‘स्वः’पदस्य—‘स्वर्ग’पदस्य आ-  
स्पदम्—अभिधेयस्थानम् । इति—इत्येतद्भाट्टवार्तिकाऽभिहितः, दुःखविरोधी—दुःखाऽसमानाधिकरणः  
सुखविरोधः स्वर्ग इत्यर्थः ॥ वैदिकेन यज्ञादिनोपायेनैतादृशो स्वर्गं प्राप्ते सत्यात्यन्तिको दुःखनिवृत्तिः

शेषश्च स्वर्गः । स च स्वशक्त्या समूलघातमपहन्ति दुःखम् । न चैष क्षयी । तथा हि श्रूयते—“अपाम सोमममृता अभूम” इति । तत्प्रक्षये कुतोऽस्यामृतत्वसम्भवः ? तस्मैद्वैदिकश्रोत्रपायस्य तापत्रयप्रतीकारहेतोर्मुहूर्तयामाहोरात्रमाससंवत्सरनिर्वर्तनीयस्यानेकजन्मपरम्पराऽऽयाससम्पादनीयात् विवेकज्ञानाद् ईषत्करत्वात् पुनरपि व्यर्था जिज्ञासा इत्याशङ्क्याह—

दृष्टवदानुश्रविकः, स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ॥

तद्विपरीतः श्रेयान्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

सैवाऽर्थात् प्राप्ता भवतीति दर्शयति—स चेति । स च स्वर्गः, स्वसत्तया—स्वपराकाष्ठावस्थया, समूलघातम्—मूलेन अधर्माख्यकारणेन सह दुःखमपहन्तीति न पुनर्दुःखोद्भवसंभावनाऽपीत्यर्थः ॥ ननु ‘तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते’ इति श्रुत्या योगादिकर्मजन्यपुण्यप्राप्तस्य स्वर्गस्य क्षयश्रवणात् कथं ‘न च ग्रस्त’मित्यनेन अक्षयित्वकथनमित्यारांकां निराकरोति—न च एषः इति । एषः स्वर्गः, न क्षयी—न ध्वंसप्रतियोगी । ध्वंसाऽप्रतियोगित्वे श्रुतिप्रमाणमाह—अपामेति । ‘अपाम सोमममृता अभूमाऽगन्म ज्योतिरविदाम देवान् । किन्नमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्येति श्रुतिः, । तदर्थः—वयं सोमम्=अमृतम्, अपाम=पीतवन्तः, तस्मादुपेतोः अमृताः=अमराः, अभूम=भूतवन्तः, किञ्च ज्योतिः=स्वर्गम्, अगन्म=गतवन्तः—लब्धवन्तः, अथ च देवान्=देवान् भोगान्, अविदाम=विदितवन्तः भुक्तवन्तः, एवं च सति—अरातिः=शत्रुः, अस्मान् किं कृणवन्=किं कर्ता ? न किञ्चिदित्यर्थः, एवं धूर्तिः=जरादिकम्, अमृतमर्त्यस्य=अमृतदिव्यं मर्त्यं विग्रहो यस्येत्यमृतमर्त्यः दिव्य( शरीर )विग्रहः तस्य, एतादृशस्य मे, किमु ? कस्माद्भवेत् ? न भवेदित्यर्थः ॥ ननु अनया श्रुत्या स्वर्गिणाममृतत्वमुक्तम्, न तु स्वर्गस्याऽक्षयित्वमित्यत आह—तत्प्रक्षये—इति । तस्य स्वर्गरय प्रक्षये ध्वंसे सति, अत्य=स्वर्गचेतनस्य, कुतोः=कस्मात् !, अमृतत्वसंभवः=अमृतत्वं संभवेत्, अतः स्वर्गिणोऽमृतत्वम् स्वर्गरयाऽमृतत्वं विनाऽनुपपद्यमानं सत् स्वर्गस्याऽप्यमृतत्वं कल्पयति,—( मोमांसकैः अर्थापत्तिप्रमाणाङ्गीकारादिति ) भावः । तथा च ‘अपाम सोममि’त्यमृतत्वश्रुतिविरोधात् ‘तद्यथेह कर्मचित’इत्यादिश्रुतिर्न स्वार्थपरा, अपि तु विधेय—सन्ध्यास—पुरःसरज्ञानफलप्रशंसार्था निन्दार्थवादरूपेति न तयोर्विरोधः ॥ कर्म—मोमांसकः आरांकांमुपसंहरति—‘तस्मादिति । तस्मात्=उपदर्शितश्रुतिप्रमाणाद्धेतोः वैदिकस्य=वेदविहितस्य, तापत्रयप्रतिकारहेतोः=दुःख—त्रय—निवृत्ति—कारणस्य, मुहूर्तमात्रनिर्वर्तनीयस्य=मुहूर्तसमयेन समापनीयस्य सन्ध्यावन्दनादेः, यामनिर्वर्तनीयस्य पिण्डपितृयज्ञादेः, मासनिर्वर्तनीयस्य मासाऽग्निहोत्रादेः, संवत्सरनिर्वर्तनीयस्य ज्योतिष्टोमादेः, उपायस्य ( ईषत्करत्वादित्यनेन अन्वयः ) अनेकजन्मपरम्परायां यो ज्ञानसाधनानुष्ठानाऽभ्यासरूपः आयासः प्रयासः तेन सम्पादनीयात् विवेकज्ञानात्=सांख्यशास्त्रोक्तत्वज्ञानात्=तत्त्वज्ञानपेक्षयेत्यर्थः, ईषत्करत्वात्—सरलत्वात्, वैदिकोपाये जिज्ञासाशान्तेः, पुनरपि शास्त्रविषये जिज्ञासा व्यर्था,—इत्याशङ्क्याह=इत्यांकां निरासार्थमाहेत्यर्थः ॥

दृष्टवदानुश्रविक इति मूलम् । आनुश्रविकः ( अपि ) दृष्टवत् ( वर्तते ), हि सः अविशुद्धि—क्षयाऽतिशययुक्तो ( वर्तते ), ( अतः ) तद्विपरीतः ( उपायः ) श्रेयान् ( भवति ) ( यतः स उपायः ) व्यक्ताऽव्यक्तज्ञ—विज्ञानाद् भवति—इत्यन्वयः ॥ अर्थस्तु—आनुश्रविकः=वैदिकः कर्मकलापोऽपि, दृष्टवत्=श्रोत्रपादिदृष्टोपायवत्, ( वर्तते )=एकान्ताऽत्यन्तदुःखनिवृत्तिजनको न भवति, हि=



“दृष्ट” इति । गुरुपाठादनु श्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः । एतदुक्तं भवति-श्रूयते एव परं न केनापि क्रियते इति । तत्र भव आनुश्रविकः, तत्र प्राप्तो ज्ञात इति यावत् । आनुश्रविकोऽपि कर्मकलापो दृष्टेन तुल्यो वर्तते, ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखत्रयप्रतीकारानुपायत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । यद्यपि च “आनुश्रविकः” इति सामान्याभिधानम्, तथाऽपि कर्मकलापाभिप्रायं द्रष्टव्यम्, विवेकज्ञानस्याप्यानुश्रविकत्वात् ।

यतः, सः=वैदिकोपायः, अविशुद्धिदोषयुक्तो भवति, क्षयदोषयुक्तफलवान् भवति, अतिशयदोषयुक्तफलवांश्च भवति, अतः तद्विपरीतः=तस्मात् आनुश्रविकात् दुःखापघातकात् हेतोः विपरीतः सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः विवेकसाक्षात्कारात्मकः दुःखापघातको हेतुः श्रेयान्=प्रशस्यतरो भवति । ननु एवंविधविवेकसाक्षात्कारस्य किं कारणम् ? अत आह-व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानादिति । व्यवतं च=बुद्ध्यादिपृथिव्यन्तस्थूलभूतपर्यन्तः सर्गः, अव्यक्तं च=मूलप्रकृतिः, ज्ञश्च=पुरुषः, तेषां विज्ञानात्=विवेकेन ज्ञानात् सांख्यशास्त्रीयपदार्थतत्त्वज्ञानादितियावत्, सः=सत्त्वपुरुषान्यताविवेकसाक्षात्कारो भवति, एतादृशसाक्षात्कारद्वारा व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वात् तत्र जिज्ञासा योग्येति भावः ॥

‘आनुश्रविक’शब्दस्य योगार्थमाह-गुरुपाठादिति । आनन्तर्यायिका-‘ऽनू’-पसर्गापेक्षाऽवध्याकांक्षासमानार्थम्-गुरुपाठादित्युक्तम्-गुरुकर्तृकोच्चारणानन्तरमित्यर्थः, अनु-पश्चात् श्रूयते=आवणविषयः क्रियते, इत्यनुश्रवो वेदः=श्रुतिः ॥ तदेव स्पष्टयति-एतदिति । एतत्=‘गुरुपाठादनुश्रूयते’-इति यत् तत्, उक्तं भवति=उच्यते । तदेव दर्शयति-श्रूयते एवेति । विद्यासम्प्रदायप्रवर्तकब्रह्मादिगुरुपरम्परया श्रूयते एव यः स वेद इत्यर्थः ॥ एवकारव्यावर्त्यमाह-परं न केनापीति । परन्तु केनापि व्यक्तिविशेषेण भारतादिवत् न निर्मित इत्यर्थः ॥ तत्र भव-इति ‘भव’पदस्य जन्यार्थकत्वं वारयितुमाह-तत्र प्राप्त इति । तत्र=वेदे, प्राप्तः=उपलब्ध इति यावत् । तदेवाह-ज्ञात इति । वेदबोधित इत्यर्थः ॥ ननु तत्त्वज्ञानस्याऽप्यानुश्रविकत्वेन तस्य दृष्टोपायवत्निरसनमयुक्तमत आह-आनुश्रविकोऽपि कर्मकलाप इति । वैदिको ज्योतिष्टोमादिकर्मकलाप एव दृष्टेन=लौकिकोपायेन तुल्यो वर्तते इत्यर्थः ॥ ननु केन अंशेन तुल्यत्वमित्यत आह-ऐकान्तिकेति । ऐकान्तिकः=यागाद्यनुष्ठानानन्तरम् अवश्यं भार्वा, आत्यन्तिकः=उत्तरकालानन्दः खान्तराऽसमानाधिकरणः, यः दुःखप्रतिकारः=दुःखत्रयनिवृत्त्यात्मकः, तदनुपायत्वस्य=तत्साधनत्वाऽभावस्य, उभयत्रापि-लौकिके वैदिके चोपाये, तुल्यत्वात्=समानदूषणत्वात् ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाऽभावात्मकधर्मेण द्वयोः समानत्वादितियावत् । तथा चानुमानम्-‘वैदिकोपायः-न जिज्ञास्यः, ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाऽभाववत्त्वात्, दृष्टोपायवत्’ ॥

ननु ‘दृष्टवदानुश्रविक’इत्यनेन वैदिकोपायसामान्यस्य दृष्टोपायसामान्यत्वकथनात् तत्त्वज्ञानस्यापि वैदिकोपायसामान्यान्तर्गतत्वात् तत्त्वज्ञानस्यापि अजिज्ञास्यत्वमापद्येत्याशङ्कते-यद्यपीति । आनुश्रविक इति-‘दृष्टवदानुश्रविक’-इति कारिकायामित्यर्थः । सामान्येन=अमुकः कर्मकलापात्मकवैदिकोपायः दृष्टोपाय इव वर्तते अमुकश्च तत्त्वज्ञानाद्युपायो दृष्टोपाय इव न वर्तते-इत्याशयप्रदर्शकस्य ‘दृष्टवदार्थीयकर्म’-इत्यादिविशेषकर्मबोधकपदस्य उपन्यासम् अकृत्वा, ‘आनुश्रविक’इतिसामान्येन अभिहितम्=यावद्वैदिकोपायबोधकं पदं प्रयुक्तम्, अतः वैदिकस्य तत्त्वज्ञानस्याऽपि दृष्टतुल्यत्वात् अजिज्ञास्यत्वमापद्येतेति भावः ॥ तत्समाधत्ते-तथापीति । ‘आनुश्रविक’-इति पदम्, कर्मकलापाभिप्रायम्=वैदिक-यज्ञादिकर्मसमुदायबोधेच्छयोच्चारणविषयं,=कर्मकलापतात्पर्यकम्, दृष्टव्यम्=निर्णेतव्यम् ॥ आनुश्रविकयावदुपायतात्पर्यकत्वे दोषप्रकारानार्थमाह-विवेकज्ञानस्यापीति । आनुश्रविकत्वात्=‘आनुश्रविक’-शब्देन विवेकज्ञानस्यापि ग्रहणात् दृष्टोपायतुल्यत्वेन अजिज्ञास्यत्वं स्यात्, तच्चाऽनिष्टमिति भावः ॥

तथा च श्रूयते “आत्मा वाऽरे ज्ञातव्यः” प्रकृतितो विवेक्तव्यः (२।१।५), “न स पुनरावर्तते” (छा० ८।१।५) इति ॥ अस्यां प्रतिज्ञायां हेतुमाह—“स ह्यविशुद्धिक्षया-  
तिशययुक्तः” इति । “अविशुद्धिः” सोमादियागस्य पशुबीजादिवधसाधनता ।  
यथाऽऽह स्म भगवान् पञ्चशिखाचार्यः “स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः”  
इति । ‘स्वल्पः सङ्करो’ ज्योतिष्टोमादिजन्मनः प्रधानापूर्वस्य पशुहिंसादिजन्मनाऽ-

विवेकज्ञानस्य वैदिकत्वे श्रुतिः प्रमाणमाह—आत्मेति । ‘आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो  
निदिध्यासितव्यः’ इति श्रुतिः । याज्ञवल्क्यः स्वर्णां गार्गिमाह—अरे!—सम्बोधने,=अरे गार्गि! आत्मा=  
चेतनःपुरुषः । ‘द्रष्टव्य’ इति पदस्य सांख्यमतेनार्थमाह—प्रकृतितो विवेक्तव्य इति । प्रकृत्यादिजड-  
वर्गतो विवेकेन ज्ञातव्यः ‘चेतनः प्रकृत्यादिभिन्न’ इति ज्ञानविषयीकर्तव्य इत्यर्थः ॥ एतादृशविवेकज्ञान-  
स्य परमपुरुषार्थं (मोक्ष) हेतुत्वप्रदर्शनार्थं श्रुतिं प्रमाणं प्रदर्शयति—न सेति । सः=तत्त्वज्ञानेन सत्त्वपु-  
रुषान्यताख्यातिद्वारा ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपमोक्षं गतः पुरुषः, पुनः न आवर्तते=पुनः  
संसारं न लभते—इत्यर्थः । एवम्—‘तमेन विद्वानमृतो भवति’ ‘तरति शोकमात्मवित्’ इत्यादिश्रुतयः  
उदाहरायाः ॥ अस्यामिति । ‘दृष्टवदानुश्रविकः’—इति मूलेन लब्धं यत्—‘आनुश्रविकोपायः—न जिज्ञा-  
स्यः,—ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाभावात्, दृष्टवत्—इति अनुमानम्, तत्र या ‘आनुश्र-  
विकोपायः—न जिज्ञास्यः’ इति प्रतिज्ञा, तादृशप्रतिज्ञायाम्, कृतायां सत्यामित्यर्थः । हेतुमाह=प्रति-  
ज्ञातार्थस्य ‘अजिज्ञास्यत्वस्य साधनं यत् ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाभावरूपम्, तत्र स्व-  
रूपाऽसिद्धयारांकां निरासार्थम् हेतुमाह=तादृशहेतोः साधकमाह—स दुःखविशुद्धीति । हि=यतः, सः=  
वैदिककर्मकलापः, अविशुद्धिद्वयातिशययुक्तः, अतः ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाभावेन  
दृष्टोपायतुल्य इत्यर्थः । तथा चानुमानम्—‘वैदिकोपायः—ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाभा-  
ववत्,—अविशुद्धिद्वयातिशययुक्तत्वात्’ इति,—अनेन—वैदिकोपाये ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिव-  
र्तकत्वाभावास्य सिद्धौ सत्यां तादृशाऽभावं हेतुकृत्य वैदिकोपाये अजिज्ञास्यत्वं साधनीयम्—‘वैदि-  
कोपायो—न जिज्ञास्यः,—ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाभावादिति ॥ अविशुद्धिपदार्थमाह—  
सोमादियागस्येति । पशुधर्मो निरूपितत्वम्—तथा च—साध्यं (कार्यं) सोमादियागनिर्हृता या पशु-  
बीजादिवधनिष्ठा साधनता=कारणता सेवाऽशुद्धिरित्यर्थः। होमदेवपूजनदक्षिणादानादिपुण्यक्रियासा-  
ध्यस्य सोमयागादेः पशुहिंसन—बीजवधादिपापक्रियासाध्यत्वमेव अविशुद्धिर्त्वमिति भावः । यथा  
पशुसाधने यागे पशुहिंसा, तथा ब्रह्मादिबीजसाधने यागे अवघातादिसमये पिपीलिकादिवधसंभ-  
वात् अन्ततो बीजादिवधेन स्तम्भादिविशेषोत्पत्तिप्रतिबन्धात् भवति अविशुद्धिरिति । तथा च दुःख-  
मिश्रितसुखजनकदृष्टोपायवत् दुःखसंभिन्नसुखजनको वैदिकोपायो न जिज्ञास्य इति फलितम् ॥  
यागदेरविशुद्धियुक्तत्वे पञ्चशिखाचार्यवचनं प्रमाणयति—यथाहेत्यादिना । योगदर्शनस्य ३ पादस्य  
३ सूत्रस्य भाष्ये—अदृष्टजन्मवेदनीयस्याऽनित्यतत्फलस्य कर्मणस्तिष्ठो गतयः उक्ताः, तत्र ‘कृतस्याऽविप-  
क्वस्य नारा’ इति एका, ‘प्रधानकर्मण्यावापगमनम्’—इति द्वितीया, ‘नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभि-  
भूतस्य वा चिरमवस्थानम्’—इति तृतीया । तत्र ‘प्रधानकर्मण्यावापगमने’ प्रमाणतया—‘स्यात् स्वल्पः  
सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नाऽपकर्षायाऽलमिति’ पञ्चशिखग्रन्थः, तत्रत्यं ग्रन्थमत्रोद्ध-  
रति—‘स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः’ इति । केन कस्य स्वल्पः संकरः ? इति  
दर्शयति—ज्योतिष्टोमादिजन्मन इति । ज्योतिष्टोमजन्यस्य प्रधानाऽपूर्वस्य=प्रधानाभूतधर्मस्य  
यः पशुहिंसादिजन्येन अनर्थहेतुना=अपुरुषार्थात्मक—दुःखहेतुना अपूर्वेण=अप्रधानाभूताऽधर्मेण



नथहेतुनाऽपूर्वम सङ्करः । 'सपरिहारः,' कियताऽपि प्रायश्चित्तेन परिहर्तुं शक्यः । अथ च प्रमादतः प्रायश्चित्तमपि नाचरितम्, प्रधानकर्मविपाकसमये स पच्यते । तथाऽपि यावदसावनर्थं सूते तावत् प्रत्यवमर्षेण सहिष्णुतया सह वर्तते इति सप्रत्यवमर्षः । मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीतस्वर्गसुधामहाद्वादगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितानि दुःखवह्निकणिकाम् ॥ न च "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इति सामान्यशास्त्रं विशेषशास्त्रेण "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यनेन बाध्यते इति युक्तम्, विरोधाभावात् । विरोधे हि बलीयसा दुर्बलं बाध्यते । न चेहास्ति कश्चिद्वि-

सह सहावस्थानरूपः संसर्गः संकरः, स च पुण्याऽपेक्षयाऽल्पत्वात् स्वल्पः, यागे हिंसाजन्यः स्वल्पः प्रत्यवायो विद्यते इत्यर्थः ॥ संकरस्याऽल्पत्वात् अल्पप्रायश्चित्ताऽपनेय इत्याशयेन 'सपरिहारः'पदार्थमाह-कियताऽपीति । अल्पेनेत्यर्थः । प्रायश्चित्तेन-यत्पशुमार्गयुमकृतोरो वा पद्मि-राहते, अग्निमा तस्मादेनसो विश्वान् मुधत्वं हसः इति मन्त्रोदितप्रायश्चित्तेनेत्यर्थः । परिहर्तुं-दूरी-कृतुं शक्य इति ॥ प्रायश्चित्ताऽकरणे तु तत्फलभोगं दर्शयति-अथेति । अथ-यदौत्यर्थः । प्रमादतः-आलस्यात्, गर्वाद्वा, प्रायश्चित्तं नाऽऽचरितम्-नाऽनुष्ठितम्, तर्हि सः-सङ्कराख्यप्रत्यवायः, प्रधानकर्मविपाकसमये-प्रधानकर्मणो ज्योतिष्टोमस्य, विपाकसमये-फलभूत-स्वर्गभोगकाले, विप-च्यते-फलमुखा भवति-भोक्तव्यो भवतीति यावत् । तथापि-एवं सति, असौ-हिंसाजन्योऽधर्मः, यावत्-यत्पर्यन्तम्, अनर्थ-स्व कलं वृत्रासुरादिभयरूपम्, सूते-जनयति, प्रापयति तावत्-तत्पर्यन्तम्, सप्रत्यवमर्षः-अवश्यं सहनोयः । 'सप्रत्यवमर्षं' व्याचष्टे-प्रत्यवमर्षेणेति । तदेव स्पष्टयति-मृ-ष्यन्ते इति । हि-निश्चयेन, पुण्यानां संभारेण-पुञ्जेन उपनीतः-प्राप्तः यः स्वर्गात्मकः सुधायाः-अमृतस्य-सुखस्य महाहृदः तत्रावगाहिनः कुशलाः-इन्द्रादयः, पापमात्रेण-हिंसाजन्यस्वल्पपापेन, उप-पादितम्-जनितम्-समासादितम्-देवासुरसंभ्रामादिरूपम्, दुःखमेव बहिस्तत्कणिकाम्, मृष्य-न्ते-सहन्ते-मुञ्जन्ते इति प्रसिद्धमित्यर्थः ॥

किञ्च-मा हिंस्यात् सर्वाभूतानीति श्रुत्या पापजनिकाया हिंसायाः सर्वथैव निषेधात् वैदिक-कर्मकलापो न दुःखनिवृत्तेः साधनमिति । ननु-'सामान्यशास्त्रं हि विषेयसामान्यद्वारा विशेषमुप-र्पतीति विलम्बेन प्रवृत्तत्वात् तद् दुर्बलम्, विशेषशास्त्रं तु साक्षादेव विशेषमुपसर्पतीति आशुतर-प्रवृत्तत्वात् तत् प्रबलम्, एवं च-अग्नीषोमीयपशुहिंसाविषयेण-अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'-ति विशेष-शास्त्रेण हिंसानिषेधपरस्य 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानीति सामान्यशास्त्रस्य बाधात् सामान्यशास्त्रस्य 'यागोयहिंसातिरिक्तहिंसानिषेधविषयत्वमिति' संकोच आस्थेयः, तथा च यागीयहिंसाया निषेधाऽभा-वात् वैदिकयथादिकर्मकलापस्य दुःखनिवृत्तेः साधनत्वमत्तमिति-मांसासकाभिप्रायमुत्थाप्य निषेध-ति-न च-'मा हिंस्यादिति । 'न च'-'युक्तमित्यन्वयः । सर्वाभूतानि-सर्वाणि भूतानि प्राणि-नः, मा-न, हिंस्यात्-दुःखानुकूलव्याभारः शरारादिना सह प्राणविभोगो वा हिंसा तां कुर्यात् । इ-ति-इत्याकारिका । सामान्यशास्त्रम्-सर्वभूतानां हिंसायाः सामान्यतो निषेधविषयत्वात् सामान्या श्रु-तिः, विशेषशास्त्रेण-अग्नीषोमीयतामकयागे विशेषपश्वालम्भनविषयत्वात् विशेषश्रुत्या, अग्नीषोमीयम्-अग्नीषोमदेवताकाम्, पशुम्, आलभेत-हिंस्यात्, इत्यनेन-एतच्छ्रुत्यात्मकेन वाक्येन बाध्यते-स्वार्थे संकोचं प्राप्यते । संकोचस्तु पूर्व दर्शितः ॥ 'न च'-'युक्त'मित्यत्र हेतुमाह-विरोधाऽभावादिति । नहि प्रबलमेतावता दुर्बलं बाध्यते, किन्तु विरोधे सत्येव प्रबलेन दुर्बलं बाध्यते, न च इह-द्वयोः श्रुत्योः, काश्चिद्विरोधः-अर्थाविरोधोऽस्ति । मित्रविषयत्वात्-मित्रार्थविषयकत्वात् ॥ मित्रविषयत्वमेव स्पष्ट-

रोधः, भिन्नविषयत्वात् । तथा हि “न हिंस्यात्” इति निषेधेन हिंसाया अनर्थहेतु-  
भावो ज्ञाप्यते, न त्वक्रत्वर्थत्वमपि, “अग्नीषोमीयं पशुमालभेत” इत्यनेन तु पशु-  
हिंसायाः क्रत्वर्थत्वमुच्यते, नानर्थहेतुत्वाभावः । तथा सति वाक्यभेदप्रसङ्गात् । न  
चानर्थहेतुत्वक्रतूपकारकत्वयोः कश्चिद्विरोधोऽस्ति । हिंसा हि पुरुषस्य दोषभावश्चरति,  
क्रतोश्चोपकरिष्यतीति ॥ क्षयातिशयौ च फलगतावप्युपाये उपचरितौ । ‘क्षयित्वं

यति- तथाहीति । ‘न हिंस्यादि’ति निषेधेन हिंसायाः अनर्थहेतुभावः=‘हिंसा पुरुषस्याऽनर्थकरी’  
इत्येव ज्ञाप्यते=बोध्यते, न तु अक्रत्वर्थत्वमपि=‘हिंसा न यागोपकारिणी’ इत्येवमपि, एवम्-‘पशु-  
मालभेत’-इत्यनेन वाक्येन च पशुहिंसायाः क्रत्वर्थत्वम्=‘हिंसा यागोपकारिणी’, इत्येव, उच्यते=  
ज्ञाप्यते, न तु अनर्थ तुल्पाऽभावः=‘हिंसा न अनर्थकरी’-इत्येवमपि । एवं च ‘न हिंस्यात्’-इत्यस्य  
‘हिंसायाः पुरुषानर्थकरत्वं’विषयत्वात् ‘पशुमालभेत’त्यस्य च ‘हिंसाया यागोपकारकत्वं’विषयत्वात्  
भिन्नार्थविषयकत्वात् न विरोध इत्यर्थः ॥ ननु-‘न हिंस्यादित्यस्यार्थद्वयम्-‘हिंसा अनर्थहेतु’-  
रित्येकः, ‘हिंसा अक्रत्वार्थ’चेत्यपरः । एवम्-‘पशुमालभेत’त्यस्याऽप्यर्थद्वयम्-‘हिंसा क्रत्वर्थ’त्येकः,  
हिंसा न अनर्थहेतु’रित्यपरः । तथा च सामान्यश्रुतिबोधितेन ‘हिंसा अनर्थहेतु’रित्यनेन सह विरो-  
धश्रुतिबोधितस्य ‘हिंसा न-अनर्थहेतु’रित्यस्य, तथा ‘हिंसा अक्रत्वार्थ’-इत्यनेन सह ‘हिंसा क्रत्वार्थ’-  
इत्यस्य विरोधात् कथं विरोधाऽभाव इत्याशङ्कमानं मीमांसकं प्रति दूषणमाह-तथा सतीति । एकै-  
कश्रुतेरर्थद्वयस्त्वाकारे सति । वाक्यभेदप्रसंगात्=प्रत्येकश्रुतेरर्थद्वयपरत्वे प्रत्येकश्रुतेर्वाक्यद्वयत्वाऽप-  
त्तिरापद्येत, ‘अन्याप्यश्च अनेकार्थ’-इतिन्यायेन मीमांसकैर्वाक्यभेदस्य दुष्टत्वव्यवस्थापनादिति भावः ।  
द्वयोः श्रुत्योः प्रत्येकप्रसिद्धयथाश्रुतैकार्थस्त्वाकारे तु न विरोध-इत्याह-न चाऽनर्थहेतुत्वेति । ‘न  
हिंस्यादि’ति श्रुतिबोधितेन ‘हिंसाया अनर्थहेतुत्वेन’ सह ‘पशुमालभेत’तिश्रुतिबोधितस्य ‘हिंसायाः  
क्रतूपकारकत्व’स्य न चास्ति कश्चिद्विरोध इत्यर्थः ॥ विरोधाऽभावया हिंसायां द्वयोः समावेशमाह-  
हिंसा हीति । पुरुषस्य=हिंसकजनस्य, दोषभावश्चरति=यापं सम्पादयिष्यति । क्रतोश्च=यागस्य च, उप-  
करिष्यति=अङ्गाभूय साधयिष्यतीति ॥ वेदस्याऽपि हिंसायां न तात्पर्यमिति त्वधिकं सविस्तरम्-अग-  
वच्छ्रीस्वामिनारायणशिक्षापश्या-‘देवतापितृयागार्थमप्यजादेश्च हिंसनम् । न कर्तव्यमहिंसैव धर्मः  
प्रोक्तोऽस्ति यन्महान्’ति(१२)द्वादशश्लोकस्य श्रीरघुवीरभाष्येदृष्टव्यम्, तत्केवलमूलाऽनुयुक्तत्वात्  
नोपन्यस्यते इति ॥ ननु ‘यागः-न जिज्ञास्यः,-ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाऽभाववत्त्वादि’-  
त्यत्र हेतोः साधकं यत् अविशुद्धिञ्चयाऽतिशययुक्तत्वम्, तत्र अविशुद्धेः यागधर्मत्वात् यागे ऐकान्ति-  
काऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वं साधयिष्यति-‘यागः-ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाऽभाववान्,  
अविशुद्धियुक्तत्वादि’ति, किन्तु स्वर्गस्थस्य ज्ञेयस्य अतिशयस्य च यागात्मकपक्षेऽसत्त्वात् हेतोः  
स्वरूपाऽसिद्धत्वेन कथं तत् ( साध्यं ) साधयिष्यति-इत्याशङ्कायां यागात्मकपक्षे ज्ञेयाऽतिशययोः  
सत्त्वं दर्शयितुमाह-क्षयातिशयौ च फलगतावप्युपाय उपचरिताविति । ज्ञेयः=नाशः,-नाश-  
प्रतियोगित्वमिति यावत् । अतिशयः=तारतम्यं न्यूनाधिक्यमिति यावत् । तौ च फलगतौ=स्वर्गतौ  
स्वर्गस्य ज्ञेयत्वात् सूर्यचन्द्रतारादीनां न्यूनाधिकस्थितिकत्वाच्च । तथापि उपाये=स्वर्गोपाये यागे,  
उपचरितौ=उपचारेणाऽभिहितौ, उपचारत्वमत्र कार्यं(स्वर्ग)कारणं(याग)योरभेदविवक्षाविष-  
यत्वम्, अथवा-उपचारत्वम्-स्वाश्रयजनकत्वं सम्बन्धः,-स्वं-ज्ञयातिशयौ, तदाश्रयः स्वर्गः, तज्ज-  
नकत्वं-यागे-इति, तथा च-‘यागः-ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवर्तकत्वाऽभाववान्,-स्वाश्रयजनकत्वस-  
म्बन्धेन ज्ञेयवत्त्वात्, अतिशयवत्त्वाच्चे’त्यनुमितम् ॥ स्वर्गस्य ज्ञेयत्वमनुमिनोति-क्षयित्वं चेति ।



च स्वर्गादेः, सत्त्वे सति कार्यत्वात्'अनुमितम् । ज्योतिष्टोमादयः स्वर्गमात्रस्य साधनम्, वाजपेयादयस्तु स्वराज्यस्येत्यतिशययुक्तत्वम् । परसम्पदुत्कर्षो हि हीनसम्पदं पुरुषं दुःखाकरोति ॥ “अपाम सोमममृता अभूम” इति चामृतत्वाभिधानं चिरस्थेमानमुपलक्षयति, यदाहुः “आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते” इति ॥ अत एव च श्रुतिः “न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः । परेण नृकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति” इति । तथा “कर्मणा

क्षयित्वमिति-साध्यम् । क्षयित्वम्-नाशप्रतियोगित्वम्, प्रतियोगितासम्बन्धेन नाशवत्त्वमित्यावत् । स्वर्गादेरिति पक्षः, स्वर्गस्थानकूटस्थ । सत्त्वेसति कार्यत्वादिति हेतुः । सत्त्वे सति=भावपदार्थत्वे सति इत्यर्थः । तथा च-‘स्वर्गः-नाशप्रतियोगी, भावत्वे सति कार्यत्वात्, धृत्वदित्यनुमितमिति भावः । न्यायमतानुसारेण ध्वंसं व्यभिचारवारणाय हेतौ भावत्वे सतीति विरोपणम्, आत्मादौ व्यभिचारवारणाय ‘कार्यत्वादिति विरोध्यदलम् ॥ अतिशयात्मकदोषं दर्शयति-ज्योतिष्टोमादय इति । स्वर्गमात्रस्य=देवत्वप्राप्तिपूर्वकाऽमृतपानाऽप्सरोविहाराद्यात्मकसुखमात्रस्य, साधनम्=प्रयोजकं ज्योतिष्टोमादयो भवन्ति । अथ वाजपेयादयस्तु स्वराज्यस्य=स्वर्गाधिपत्यात्मकदेवेन्द्रभावस्य साधनमिति भवति सातिशयत्वं यागादेरित्यर्थः ॥ सातिशयदोषस्य दुःखमिश्रितसुखप्रयोजकत्वं दर्शयति-परसम्पदुत्कर्ष इति । हि=यतः, परसम्पदुत्कर्षः=परेषां=इन्द्रादीनां सम्पदामुत्कर्षः=प्रेषवर्थाधिक्यम्, हीनसम्पदम्=न्यूनैश्वर्यशालिनं, पुरुषम्=प्रह्वनक्षत्रादिदेवजनम्, दुःखाकरोति=पीडयतीत्यर्थः ॥ ननु स्वर्गस्य क्षयित्वे ‘अमृतत्व’बोधिकायाः श्रुतेः का गतिरित्यत आह-अपाम सोमममृता’ इति । अत्र अमृतत्वकथनं तु-चिरस्थेमानम्=चिरकालस्थायित्वमुपलक्षयति, ‘अमृता’-इत्यत्र नञः अप्रत्ययकत्वात् ‘न=अल्पं=मर्त्याऽपेक्षया न्यूनं मृतं=मरणं येपान्ते-अमृताः=चिरकालस्थायिन इत्यर्थः ॥ एतदेव विष्णुपुराणवाक्येन दृढयति-यदाहुरिति, “आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते । त्रैलोक्यस्थितिकालोऽयमपुनर्मार उच्यते” विष्णुपु० अंश-२ अ०५ श्लोक ६६ । पूर्वत्र ‘देवयानमार्गेण ‘जनप्रभृति’लोकं गताः अमृतत्वं भजन्ते’ इत्युक्तम्, तत्र कीदृशममृतत्वमित्याकांक्षायामुक्तम् ‘आभूतसम्प्लव’मित्यादि, तदर्थः-आभूतसम्प्लवम्=ब्रह्माऽहःपर्यन्तस्थापि, यत् स्थानं तदेव अमृतत्वमुपचारात्, भाष्यते=उच्यते, यतः अयम्=ब्रह्माऽहःपर्यन्तसमयः, त्रैलोक्यस्थितिकालः=चतुर्दशभुवनस्थितिकालः, अपुनर्मारः=पुनर्मृत्युरहितः क्रममुक्तिस्थानत्वाद्वाच्यते इति ॥ किञ्च-यागादेर्न वास्तविकाऽमृतत्वप्रापकत्वमित्यत्र श्रुतिम् प्रनाशयते-अत एव च श्रुतिरिति । अत एव च=यतं न यागादेरमृतत्वोपायत्वमत एव च, श्रुतिरपि तथा शास्ति । न कर्मणा=श्रुतेन स्मार्तेन वा कर्मकलापेन न अमृतत्वमानशुः=प्राप्तवन्तः पूर्वं महात्मानः, एवम् प्रजया=पुत्रेणाऽपि न अमृतत्वमानशुः, एवं धनेन=धनं द्विविधम्-अपरविद्याभिधेयं प्राणोपासनादि दैवम्, पशुवित्तादि मानुषम्, तादृशेन दैवेन मानुषेण वा वित्तेनापि न अमृतत्वमानशुः । किन्तु एके=केचन विवेकिमहात्मानः त्यागेन=अभिमानत्यागेन=अभिमानत्यागसाध्येन तत्त्वज्ञानेनेति यावत्, अमृतत्वम्=रेकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपमोक्षम्, आनशुः=प्रापुः ॥ एतादृशममृतत्वं किमित्याकांक्षायामाह-परेणेति । नाकम्=नाकपदाभिधेयस्वर्गात्, परेण=परम्=उत्कृष्टं भिन्नचेत्यर्थः । स्वर्गात्परत्वे भिन्नत्वे चाऽपि न ब्रह्मलोकवद् दूरम् अपि तु सन्निहितमित्याह-गुहायां निहितमिति । गुहायां=बुद्धौ, बुद्धिसमीपवर्त्यात्मनोतियावत्, निहितम्=येकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्त्यात्मकमोक्षरूपेण उपचारात् स्थितम्, विभ्राजते=सत्तया वर्तते, तत्र सर्वसुलभम्, किन्तु-यतयः=मोक्षार्थं यत्नशीलाः महात्मानः एव, यद्=अमृतत्वम्, विश-

मृत्युमृत्यो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः । तथा परे ऋषयो ये मनीषिणः परं कमभ्योऽमृतत्वमानशुः” इति च ॥ तदेतत् सर्वमभिप्रेत्याह—“तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्” इति । तस्माद् आनुश्रविकात् दुःखापघातकोपायात् सोमपानादेरविशुद्धाद् अनित्यसातिशयफलात् विपरीतः विशुद्धः हिंसादिसङ्कराभावात्, नित्यनिरतिशयफलः, असकृत् अपुनरावृत्तिश्रुतेः । न च कार्यत्वेनानित्यता फलस्य युक्ता, भावकार्यस्य तथात्वात्, दुःखप्रध्वंसस्य तु कार्यस्यापि तद्विपरीत्यात् ।

न्ति=स्वीयतयाऽनुभवन्तौत्यर्थः ॥ श्रुत्यन्तरमाह—“तथा—“कर्मणेति । प्रजावन्तः=ये पुत्रिणः, अथ च द्रविणम्=सुवर्णपशुप्रभृतिसम्पत्तिम्, ईहमानाः=अभिलषन्तः सकामाश्च, ऋषयः=गृहस्था वानप्रस्थाश्च ते सर्वे कर्मणा=शुक्ला-कृष्णादिकर्मणा, मृत्युम्=प्रेत्यभावाख्यं पुनर्जन्मैव, निषेदुः=प्रापुः । तथा=पञ्चान्तरे, अपरे=तेभ्योऽन्ये, ये मनीषिणः=पुत्रवित्तादिभ्यो विरज्य मनःप्रभृत्यन्तःकरणं विजित्य तत्त्वविवेकरालिनः ये, ऋषयः=निष्कामा गृहस्था वानप्रस्थाश्च, ते सर्वे कर्मभ्यः=कर्मलभ्यप्रेत्य-भावाख्यपुनर्जन्मतः’ भिन्नम्=अतिरिक्तम्, अथवा कर्मकलापलभ्यस्वर्गादिस्थानात् उत्कृष्टम्, अमृतत्वम्=मोक्षाल्पम्, आनशुः=प्रापुरित्यर्थः ॥ उपसंहारव्याजेन ‘तद्विपरीतः श्रेयानि’ तिकारिकांशमवतारयितुमाह—तदेतत्सर्वमिति । तत्=दृष्टसाधनस्य मोक्षाहेतुत्वम्, एतत्=आनुश्रविकसाधनस्य मोक्षाहेतुत्वम्, सर्वम्=दृष्टानुश्रविकयोर्मोक्षाहेतुत्वं दृष्टानुश्रविकसाधनलभ्यफलस्य दुःखमिश्रतत्त्व-ज्ञित्वादियुक्तत्वं चेत्येतत्सर्वम्, अभिप्रेत्याह=तात्पर्यविषयीकृत्य ईश्वरकृष्णाचार्यः उक्तवानित्यर्थः । ‘तद्विपरीतः श्रेयान्’=दृष्टानुश्रविकसाधनभिन्नः सत्त्वगुह्यान्यताप्रत्ययः, श्रेयान्=मोक्षसाधनमिति तदर्थः ॥ वाचस्पतिस्तदर्थमाह—तस्मादिति । तस्मात्=पूर्वाक्तात् आनुश्रविकात्=चैदिककर्मकलापात् दुःखापघातकात्=अनैकान्तिकाऽनित्यन्तिकदुःखनाशकात्, अविशुद्धात्=हिंसाफलपापसम्पादकत्वात् अनित्यसातिशयफलात्=क्षणीय-न्यूनाधिकभावान्वित-स्वर्गफलकात् सोमपानाद्यात्मकात् उपायात्=साधनात्, विपरीतः=ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनाशकः, हिंसादिसंकराभावात् विशुद्धः, नित्यनिरतिशयफलः=अविनाशि-न्यूनाधिकभावरहितमोक्षात्मकफलकः सत्त्वगुह्यान्यताप्रत्ययः श्रेयान् इत्यर्थः ॥ नित्यनिरतिशयफलकत्वे हेतुमाह—असकृदिति । ‘न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते’-इति श्रुतौ असकृत्=चैनःपुन्येन मुक्तस्य अनावृत्तित्वश्रवणादित्यर्थः ॥ ननु कार्यत्वं उत्पत्तिमत्त्वम्, अनित्यत्वं च ध्वंसप्रतियोगित्वं तथा च ‘दुःखध्वंसात्मकमोक्षः-अनित्यः, कार्यत्वात्, घटवदिति’-अनुमानेन सत्त्वगुह्यान्यताविवेकस्य कार्यं मोक्षोऽप्यनित्यः-स्यात्-इत्याशंकायामाह—न च कार्यत्वेनेति । फलस्य=मोक्षस्य, कार्यत्वेन हेतुना अनित्यता न युक्त्यर्थः । कुतः ? इत्यत आह—भावकार्यस्य तथात्वादिति । भावकार्यस्य=‘भावत्वे सति कार्यत्वस्य’ हेतोः, तथात्वात्=अनित्यत्वसाधकत्वात्, केवलकार्यत्वं तु न्यायमतानुसारेण ध्वंसेऽपि वर्तते ध्वंसस्य ध्वंसाऽप्रतियोगित्वात् तत्र ‘ध्वंसप्रतियोगित्वा’त्मकस्य अनित्यत्वस्य साध्यस्य अभावात् व्यभिचाराद् व्यभिचारिहेतोश्चाऽऽपेक्षत्वादिति भावः ॥ पक्षे हेत्वभावादेव न साध्यसिद्धिरिति निगमयति—दुःखप्रध्वंसस्येति । कार्यस्यापि=उत्पत्तिमतोऽपि दुःखध्वंसात्मकमोक्षस्य तु, तद्विपरीत्यात्=अभावपदार्थत्वेन ‘भावत्वविशिष्टकार्यत्वानवच्छिन्नतया अनित्यत्वविरुद्धं यत् नित्यत्वं तद्वत्त्वादित्यर्थः ॥ अन्ये तु—‘मोक्षः-अनित्यः, कार्यत्वात्, घटवदित्यत्र ‘भावत्व’मुपाधिः, यत्राऽनित्यत्वं घटादौ तत्र भावत्वस्य सत्त्वात् साध्यव्यापकत्वम्, यत्र च कार्यत्वं घटध्वंसे तत्र भावत्वस्याऽसत्त्वात् साधनाव्यापकत्वम्, तथा च ‘कार्यत्वम्-अनित्यत्व-व्यभिचारि, अनित्यत्वव्यापक-भावत्वव्यभिचारित्वादित्यनुमानेन कार्यत्वेदौ व्यभिचारोन्नयनात्



न च दुःखान्तरोत्पादः, कारणाप्रवृत्तौ कार्यस्यानुत्पादात्, विवेकज्ञानोपजननपर्यन्त-  
त्वाच्च कारणप्रवृत्तेः । एतच्चोपरिष्ठादुपपादयिष्यते । अक्षरार्थस्तु तस्मात्-आनुश्र-  
विकात् दुःखापघातकात् हेतोः, विपरीतः सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः साक्षात्कारो दुःखा-  
पघातको हेतुः, अत एव श्रेयान् । आनुश्रविको हि वेदविहितत्वात् मात्रया दुःखा-  
पघातकत्वाच्च प्रशस्यः । सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययोऽपि प्रशस्यः । तदनयोः प्रशस्ययो-  
र्मध्ये सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः श्रेयान् । कुतः पुनरस्योत्पत्तिः ? इत्यत आह “व्यक्ता-  
व्यक्तज्ञविज्ञानात्” इति । व्यक्तं च अव्यक्तं च ज्ञश्च व्यक्ताव्यक्तज्ञाः, तेषां विज्ञानं

न कार्यत्वेन हेतुना अनित्यत्वसिद्धिर्नोक्ष्येति व्याख्यान्ति ॥ ननु मोक्षे सत्यपि दुःखान्तरोत्पादः  
कथं न ? इत्यारंभ्य निषेधति-न च दुःखान्तरोत्पाद इति । अन्यद् दुःखमपि नोत्पद्यते इत्यर्थः ॥  
तत्र हेतुमाह-कारणाऽप्रवृत्ताविति । कारणस्य=दुःखजनकस्य पुम्प्रकृत्योरविवेकस्य, अप्रवृत्तौ=विवे-  
केन विनाशितत्वात् अनुपस्थितौ सत्याम्, कार्यानुत्पादात्=दुःखात्मककार्योत्पत्त्यसंभवादित्यर्थः ॥  
ननु अविवेकस्य नष्टत्वेऽपि मूलकारणप्रकृतौ नित्यत्वेनाऽनिवृत्तत्वात् प्रकृतेः प्रवृत्तेर्दुर्बलत्वात् तन्नि-  
बन्धनदुःखान्तरोत्पादोऽनिवार्यइत्यारंभायामाह-विवेकज्ञानोपजननेति । कारणप्रवृत्तेः=मूलका-  
रणभूतायाः प्रकृतेः प्रवृत्तेः, विवेकज्ञानोपजननपर्यन्तत्वात्=सत्त्वपुरुषान्यता-साक्षात्कारपर्यन्ताऽभ्यु-  
पगमात् न विवेकज्ञानोत्तरं प्रकृतेः प्रवृत्तिरिति भावः ॥ एतच्च=मूलप्रकृतिचेष्टितं विवेकसाक्षात्कारप-  
र्यन्तमिति सिद्धान्तः, उपरिष्ठात्=‘दृष्टा मयेत्युपेक्षक’-इति (६६) कारिकाभ्याख्यायाम्, निवेदयिष्यते  
इति। कारिकाशब्दार्थं योजयति-अक्षरार्थस्तु-‘तस्मादिति। विपरीतः=अतिरिक्तः, सत्त्वपुरुषान्यताप्र-  
त्ययः=सत्त्वं=बुद्धितत्त्वम् प्रकृतिर्वा, पुरुषः चेतनः, तयोः अन्यताप्रत्ययः=‘जडपरिणामिनी प्रकृतिः’  
‘अजडोऽपरिणामो चेतन’-इत्याकारकः प्रकृत्यवधिक-पुरुषा-यतारूपसाक्षात्कारः, दुःखापघातको  
हेतुः=ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखत्रयनिवर्तको हेतुर्भवति, अत एव=ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखत्रयनि-  
वर्तकत्वादेव, श्रेयान्=श्रेयस्त्वात् जिज्ञासनीय इति ॥ ननु द्वयोर्मध्ये एकस्याऽतिशये बोधनार्थे ‘द्विवचन-  
विभज्योपपदे तरनीयसुना’वितिमुच्येण ‘प्रशस्य’शब्दादीयसुनि सति ‘प्रशस्यस्य श्र’ इत्यनेन ‘श्रा’ऽऽ-  
देशे ‘श्रेयः’शब्दनिष्पत्तेः अत्र कोऽन्यः प्रशस्यः यदपेक्षया विवेकसाक्षात्कारोऽयं प्रशस्यतरो भवती-  
त्याकांक्षायामाह-आनुश्रविक इति । आनुश्रविकः=यागादिः, हि-हेतौ, वेदविहितत्वात्=वैदिकक-  
र्मत्वात्, मात्रया=अंशेन दुःखापघातकत्वाच्च हेतोः, प्रशस्यः, एवं सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययोऽपि=प्रकृ-  
तिपुरुषविवेकसाक्षात्कारोऽपि प्रशस्यः, अनयोः द्वयोः प्रशस्ययोर्मध्ये ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनि-  
वर्तकत्वात् सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारः श्रेयानिति=प्रशस्यतर इत्यर्थः ॥ एतादृशविवेकसाक्षात्कारस्य  
कस्मात्कारणात् उत्पत्तिरिति पृच्छति-कुतः पुनरिति । पुनः=वाक्यालंकारे, कुतः=कस्माद्धेतोः, अस्य=  
विवेकसाक्षात्कारस्य, उत्पत्तिः=अभिव्यक्तिः, इत्यत आह=इत्याकांक्षायामाहेत्यर्थः ॥ व्यक्ताऽव्यक्त-  
ज्ञविज्ञानादीतीति व्यक्तम्=विविच्यते प्रकृतितः कार्यरूपेण भिद्यते इति व्यक्तम्=बुद्ध्यादि-स्थूल-  
भूतपर्यन्तम्, अव्यक्तम्=मूलकारणम् प्रकृतिः, ज्ञः=चेतनः, तेषाम्=प्रकृति-विकृति-पुरुषाणाम्-पञ्च-  
विंशतितत्त्वानामिति यावत्, विवेकेन ज्ञानम्=यथार्थज्ञानमित्यर्थः ॥ ननु ‘ज्ञ’स्य चेतनस्य प्रथमाऽ-  
भ्यहितत्वात् ‘अल्पाच्च पूर्व’ मितिरादिप्रसङ्गेताच्च-‘ज्ञाऽव्यक्तव्यक्तविज्ञानादिति कथं नोक्तमित्यां-  
कानिबृत्त्यर्थमाह-व्यक्तज्ञानेति व्यक्तं यत् बुद्ध्यादि पृथिव्यन्तं कार्यं तज्ज्ञानानन्तरं तत्कारणस्य  
अव्यक्तस्य=प्रकृतेः ज्ञानं भवति, तदुत्तरम् तयोः=व्यक्ताऽव्यक्तयोः, पारार्थ्येन=‘संघातपारार्थत्वा’दिति  
(१७) कारिकाकोटिश्रा ताभ्यां परः भिन्नोभोक्ता यः चेतनः पुरुषः तदर्थत्वेन, आत्मा=पुरुषः, परः=भिन्नो

विवेकेन ज्ञानम्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानम् । व्यक्तज्ञानपूर्वकमव्यक्तस्य तत्कारणस्य ज्ञानम् । तयोश्च पारार्थ्येनात्मा परो ज्ञायते, इति ज्ञानक्रमेणाभिधानम् । एतदुक्तं भवति—श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा, शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारासेवितात् भावनामयात् विज्ञानमिति । तथा च वक्ष्यति—‘एवं तत्त्वाभ्यासाच्चास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् । अविपर्ययादि-  
शुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्’ । (६४) इति ॥ २ ॥

तदेवं प्रेक्षावदपेक्षितार्थत्वेन शास्त्रारम्भं समाधाय शास्त्रसारभमाणः श्रोतृबुद्धि-  
समवधानाय तदर्थं सङ्क्षेपतः प्रतिजानीते—

भोक्ता चः पुरुषः, ज्ञायते, इति ज्ञानानां क्रमेण तद्विषयाणाम् व्यक्ताऽव्यक्तज्ञानाम्, क्रमशोऽभिधानं कृतमिति भावः ॥ अथ ‘आत्मा वाऽरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः’ इति श्रुतौ—आ-  
त्मदर्शनं कार्यमित्युक्तम् आत्मदर्शनकारणं निदिध्यासः, तत्कारणं मननम्, तत्कारणं श्रवणम् अतः प्रथमं—श्रवणम्, ततो मननम्, ततो निदिध्यासः, स एव तत्त्वज्ञानम् अत्रोक्तम्, ततः दर्शनम्= सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारः ततो मोक्षः—इति क्रमेण स्पष्टयति—एतदुक्तं भवतीति । एतत्=ज्ञानक्रमः, उक्तं भवति=उच्यते । श्रुतयश्च=उपनिषदश्च, स्मृतयश्च=मन्वादिप्रणिितस्मृतयः, इतिहासाश्च= भारतरामायणादयश्च, पुराणानि च=भागवतादीनि, तेभ्यः, व्यक्तादीन्=वृथिव्यप्तेजोवाक्काशोति-  
पञ्च—भूत,—गन्ध—रस—रूप—स्पर्श—राब्दात्मकपञ्चतन्मात्र—श्रोत्रत्वक् चक्षुरसनावृणवाक्पाणिपादधा-  
तृपस्थाख्यदशेन्द्रिय—मनोहंकारबुद्धौतित्रयोविंशतितत्त्वसमुदायरूपं यत् व्यक्तम्, आदिना—अव्यक्तं मूलप्रकृतिम्, पुरुषं चेति पञ्चविंशतितत्त्वानांत्यर्थः, विवेकेन=याथाव्येन, श्रुत्वा=श्रवण-विषयान् कृत्वा, ततः शास्त्रयुक्त्या=सांख्यशास्त्रदर्शितलक्षणपरोक्षादिभिः, व्यवस्थाप्य=तन्मननं कृत्वेत्यर्थः । निदिध्यासनस्वरूपमाह=दीर्घकालेति । दीर्घकालं नैरन्तर्येण आदरातिशयेन च सेवितात्= सेव्यमानात् भावनामयात्=संस्कारात्मकात् विज्ञानात्=तत्त्वज्ञानात्, सत्त्वपुरुषान्यता-साक्षात्कारो विवेकख्यात्यात्मको ज्ञायते इति शेषः, स एव मोक्षस्य साक्षात्कारणमिति ॥ एतत् ‘स तु दीर्घकाल-  
नैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमि’ (पाद १—सूत्र १४) रितियोगदर्शनेन वर्णितम् । अदीर्घकालसेवने, दीर्घसेवनेऽपि वा विच्छिद्य विच्छिद्य सेवने, अनैरन्तर्ये, नैरन्तर्येऽपि वा श्रद्धातिशयाऽभावे, च अदृढस्तत्त्वाऽभ्यासो न फलाय प्रभवेत्, अतः—दीर्घकाल—नैरन्तर्या—ऽऽदरेतिविरोपणत्रयमुक्त-  
मिति ॥ कारयेन तत्त्वाभ्यासेन जन्या विवेकसाक्षात्कारोत्पत्तिः मूलकारेण एव (६४) कारिकया दर्शि-  
तेति—स्मास्यति—तथा च वक्ष्यतीति । तदर्थस्तु—एवं=उक्तप्रकारेण, तत्त्वाभ्यासात्=आदरनैरन्तर्यदी-  
र्घकालसेवितात् तत्त्वविषयज्ञानाभ्यासात्, ज्ञानम्=सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारिज्ञानम्, उत्पद्यते । कीदृशं ज्ञानम् ? इत्यत आह—विशुद्धमिति । कुतो विशुद्धम् ? इत्यत आह—अविपर्ययादिति । संश-  
यविपर्ययौ हि ज्ञानस्य अविशुद्धो, तद्रहितं विशुद्धम् । तच्च पुनः केवलम्=विपर्ययेणाऽऽसंमिन्न-  
मिति । ज्ञानस्वरूपमाह—नास्मि न मे नाहमिति । ‘नास्मि’=अनेन आत्मनि क्रियामात्रनिषेधो द-  
र्शितः—‘नाहम्’=अनेन कर्तृव्यापाराऽभावो दर्शितः । ‘न मे’=अनेन स्वस्वामित्वाभावो दर्शितः  
एतादृशं अपरिशेषं ज्ञानव्यापारोपरहितं ‘आत्मा क्रियाकर्तृव्यापारस्वामित्वाऽभाववानिति ज्ञानम्  
उत्पद्यते’ इति ॥ २ ॥

तृतीयकारिकाऽवतरणिकामाह—तदेवमिति । इत्येवंकारिकाद्वयेनेत्यर्थः—प्रेक्षावदपेक्षितार्थत्वेन=  
प्रेक्षावताम्=मतिमताम्, अपेक्षितः=अभीप्सितो यः ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखोच्छेदात्मको मोक्षः



मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

सङ्क्षेपतो हि शास्त्रार्थस्य चतस्रो विधाः । कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थो विकृतिरेव, कश्चिदप्रकृतिविकृतिः, कश्चिदनुभयरूपः । तत्र का प्रकृतिः? इत्युक्तम् “मूलप्रकृतिरविकृतिः” इति । प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानम्, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, सा अविकृतिः, प्रकृतिरेवेत्यर्थः । कुतः? इत्युक्तम्, “मूलेति” मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः । विश्वस्य कार्यसंघातस्य सा मूलम्, न

परमपुरुषार्थः, तत्त्वेन=तद्वत्त्वेन हेतुना, शास्त्रारम्भम्=अनन्यथासिद्धप्रयोजनवत्त्वादेतच्छास्त्रमारम्भणीयमिति, समाधाय=सिद्धान्तीकृत्य, शास्त्रम्=सांख्यशास्त्रम्, आरम्भमाणः=तत्प्रारम्भं कुर्वाणः सन्, श्रोतुबुद्धिसमवधानाय=श्रोतव्यां=एतच्छास्त्रश्रवणकृत्यं शुद्धेः=मनसः समवधानाय=सम्यक् अवधानम् एकाग्र्यं तस्मै, तदर्थम्=तस्य सांख्यशास्त्रस्य अर्थम्=विवेकाऽनुयोगि(पुरुष)प्रतियोगि(प्रकृत्यादि)तत्त्वज्ञातम्=पञ्चविंशतितत्त्वसमुदायमिति यावत्, संचेपतः=प्रकृतित्वेन, प्रकृतिविकृतित्वेन, विकृतित्वेन, पुरुषत्वेन=चेतिधर्मचतुष्टयेन । प्रतिजानीते=प्रतिज्ञाविषयः क्रियते, स्वकार्यन्यताप्रकारकत्रोधानुकूलव्यापारवान्=इति यावत् ॥

मूलप्रकृतिरिति-मूलम् । मूलप्रकृतिः अविकृतिः, महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त, विकारस्तु षोडशकः, पुरुषः न प्रकृतिर्न विकृतिरित्यन्वयः । अर्थः-मूलप्रकृतिः=कारणात्मिका प्रकृतिः, सा च अविकृतिः=न कस्यचित् कार्यमित्यर्थः । महदाद्याः=महत्तत्त्वाऽहंकार-शब्दस्पर्शरूपरसगन्धधनमात्राणीति सप्त, प्रकृतिविकृतयः=कस्यचित् कारणानि कस्यचित् कार्याणि भवन्तीत्यर्थः । विकारस्तु=केवलकार्याणि तु, षोडशकः=षोडशतत्त्वानि-मनः-श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाधारण-बाक्पाणिपादपायूपस्थ-गगनपव-नानलसलिलाऽवनयः सन्तीत्यर्थः । पुरुषस्तु न प्रकृतिः=न कस्यचित् कारणं, न वा विकृतिः=न कस्यचित् कार्यं वा भवतीत्यर्थः ॥

कारिकां व्याख्यास्यन् तत्त्वानामवान्तरविरोपमाह-संक्षेपतइति । हि-निश्चयार्थकः । संचेपतः=समासतः, शास्त्रार्थस्य=एतच्छास्त्रप्रतिपाद्य-पदार्थ-समुदायस्य, चतस्रो विधाः=अवान्तरप्रकाराः चत्वारइत्यर्थः ॥ तानेव प्रकारभेदानाह-कश्चिदर्थः इत्यादिना । कश्चिदर्थः=कश्चित् पदार्थइत्यर्थः ॥ तत्र प्रथमः प्रकारः-प्रकृतिरेव, द्वितीयः प्रकारः-विकृतिरेव, तृतीयः प्रकारः-प्रकृतिविकृतिरेव, चतुर्थः प्रकारः-अनुभयरूपः=न प्रकृतिविकृतिरूपः पुरुष इत्यर्थः । तत्र केति । तेषां चतुर्णां मध्ये प्रकृतिपदवाच्यं किम् ? इत्याकांक्षानिवृत्त्यर्थम् उक्तम्=अभिहितम् ।-मूल-इतीति । मूलस्य प्रकृतिरिति पञ्चोत्पत्त्युपभ्रमवारणाय-कर्मधारयमाह-मूलं चासाविति ॥ कस्य मूलम्? इत्याह-विश्वस्येति । पुरुषस्यापि विश्वाऽन्तःपातित्वात् पुरुषमूलत्वापत्तिवारणाय-कार्यसंघातस्येति । कार्यसंघातात्मकविश्वस्य सा=प्रकृतिः मूलम्=उपादानकारणमित्यर्थः ॥ ननु ‘प्रकृतिशब्दस्यैव कारणार्थकत्वात्तेनैव जगत्कारणत्वे लब्धे पुनः कारणार्थकं ‘मूल’पदोपादानं कथम् ? इत्याशङ्कानिराकरणाय-न त्वस्याइति । अस्याः=प्रकृतेः, मूलान्तरम्=किमपि कारणं नास्तीति बोधनाय ‘मूल’पदोपादानमिति भावः ॥ वस्तुतस्तु-उक्तव्याख्याने ‘मूल’पदेन सकारणतानिषेधादेव प्रकृतेरकार्यत्वलाभे मूलोक्तम् ‘अविकृति’रिति विशेषणं ‘अकार्यत्वार्थकं’ व्यर्थं स्यात् अतः ‘प्रकृति’रितिरुदं नाम, लक्ष्यनिर्देशार्थम् आश्रयणीयम्, ‘मूल’-मिति विशेषणस्य-कारणत्वमर्थः, ‘अविकृति’रित्यस्य च-अकार्यत्वमर्थः, तथा च-‘कारणत्वे सति अ-

त्वस्या मूलान्तरमस्ति, अनवस्थाप्रसङ्गात् । न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः । कतमाः पुनः प्रकृतिविकृतयः, कियत्यश्च ? इत्यत उक्तम् “महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त” इति । प्रकृतयश्च विकृतयश्च ता इति प्रकृतिविकृतयः सप्त । तथा-हि-महत्तत्त्वमहङ्कारस्य प्रकृतिः, विकृतिश्च मूलप्रकृतेः । एवमहङ्कारतत्त्वं तन्मात्राणामिन्द्रियाणां च प्रकृतिः, विकृतिश्च महतः । एवं पञ्चतन्मात्राणि तत्त्वानि भूतानामाकाशादीनां प्रकृतयो विकृतयश्चाहङ्कारस्य । अथ का विकृतिरेव, कियती च ! इत्यत उक्तम् “पोडशकस्तु विकारः” इति । पोडशसंख्यापरिमितो गणः पोडशकः । तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च । पञ्च महाभूतानि एकादश इन्द्रियाणि चेति पोडशको

कार्यत्वम्-प्रकृतित्वम्-इति लक्षणमुपपन्नमिति बोध्यम् ॥ प्रकृतेः सकारणत्वे दोषमाह-अनवस्थेति । प्रकृतेः सकारणत्वे प्रकृतिकारणस्यापि कारणं भव्युपगन्तव्यम्, तस्याऽपि च कारणान्तरमित्येवमनवस्था स्यात् ॥ व्यवस्थायां च सत्याम्-नचअनवस्थायां प्रमाणमस्ति=अनवस्थायाम्प्रामाणिकत्वमित्यर्थः ॥ व्यवस्थातु-‘अजामेका’मित्यादिश्रुत्या ‘प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वदनादी उभावपीति’ सृष्ट्या च प्रकृतेर-जन्यत्वेनाऽनादित्वेन च सिद्धेस्तत्र प्रकृतावेव कारणत्वपरम्परायाः विश्रान्तिरूपव्यवस्थायाः सत्त्वात् अनवस्थाया मूलचयकार्या अनभ्युपगमादित्येवं बोध्या ॥ मूलक्रमप्राप्तं प्रकृतिविकृतितत्त्वम् जिज्ञासते-कतमा इति । प्रकृतिविकृतयः काः ? इति नामजिज्ञासा । कियत्यश्चेति-इयत्ता-जिज्ञासा बोध्या ॥ प्रकृतित्वं नाम-तत्त्वान्तरोपादानत्वम्, विकृतित्वं नाम तत्त्वान्तरोपादेयत्वम्, तथा च ‘तत्त्वान्तरोपादानत्वे सति तत्त्वान्तरोपादेयत्वोत्पत्तिकं लक्षणं निष्पन्नम्, एतल्लक्षणलक्ष्याः-महदाद्याः सप्त=महत्तत्त्वम् अहङ्कारः शब्दः स्पर्शः रूपम् रसो गन्धश्चेति ॥ प्रकृतेर्विकृतय इति पृथितपुरुषभ्रमवारणाय कर्मधारयसमासमाह-प्रकृतयश्च विकृतयश्चेति । सप्तग्रहणम्-‘प्रकृतिविकृतित्वं महदादि सप्तान्यतमत्वव्याप्य’मिति व्याप्तिभाष्यं बोध्यम् ॥ प्रकृतिविकृतित्वसमन्वयं दर्शयति-तथाहीति-महत्तत्त्वम् अहङ्कारस्य प्रकृतिः=कारणम्, मूलप्रकृतेश्च विकृतिः=कार्यम् । एवम्-अहङ्कारतत्त्वम्=अहङ्कारः, तन्मात्राणाम्=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम्, इन्द्रियाणाम्=श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राण-वाक्-पाणि-पाद-पायू-पस्थानां मनसश्च प्रकृतिः=कारणम्, महतः=महत्तत्त्वस्य च, विकृतिः=कार्यम् । एवम् पञ्चतन्मात्राणि=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, भूतानाम्=स्थूलभूतानाम् आकाशादीनाम्=आकाशावायुतेजोजलपृथ्वीनाम् प्रकृतयः=कारणानि, अहङ्कारस्य च विकृतयः=कार्याणीत्यर्थः ॥ मूलक्रमप्राप्तं विकारं जिज्ञासते-अथ केति । ‘का’इति नामजिज्ञासा, ‘कियती’ति इयत्ताजिज्ञासा ॥ ‘पोडशक’इतिपदार्थमाह पोडशसंख्येति । मूलोक्तं तु शब्दार्थमाह-‘तु’शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्चेति । अवधारणे=निश्चयरूपार्थे, पाठस्थानात् अन्यः क्रमः=निवेशस्थानं यस्यासौ भिन्नक्रमः, ‘विकार’इति-पदस्योत्तरस्थाने निश्चयरार्थकं तु शब्दो निवेशनीयइत्यर्थः, तथा च-‘पोडशकः विकारस्तु’=पोडशको विकार एवेत्यर्थः ॥ तदेवाह-‘पञ्चे’त्यादिनामहाभूतानि=स्थूलभूतानीत्यर्थः । एकादशेन्द्रियाणि=श्रोत्रत्वक्चक्षुस्सनाघ्राणेतिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियात्मकं मनश्चेत्येकादशेन्द्रियाणि । पोडशको गणः=पोडशानां समुदायः, विकार एव=कार्यमेव, न प्रकृतिः=न तु कारणमित्यर्थः ॥ ननु गोष्ठवृक्षादीनां पार्थिवविकाराणां बहुत्वात् करकादिजलविकाराणां बहुत्वात् सुवर्णहीरकादितेजोविकाराणां बहुत्वात् कथं ‘पोडशको गण’ एव ‘विकारः’-इत्युच्यते-इत्याशङ्कते-यद्यपीति । पृथिव्यादीनामित्यादिना जलादिपरिग्रहः गोष्ठवृक्षादयः-इत्यादिना-करका-सुवर्णादिपरिग्रहः । विकाराः=कार्याणि । तद्विकारभेदाना-



गणो विकार एव, न प्रकृतिरिति । यद्यपि च पृथिव्यादीनां गोघटवृक्षादयो विकाराः, एवं तद्विकारभेदानां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः, तथाऽपि गवाद्यो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम् । 'तत्त्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वम्' इहामिप्रेतमिति न दोषः । सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरत्वम् । अनुभ-

म्=गोवृक्षादिविकारविशेषाणाम् पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः=पृथिवीविकारो गौः, गोविकारो पयः पयसो विकारो दधि, एवं-पृथिवीविकारो वृक्षः वृक्षविकारो बीजम् बीजविकारोऽङ्कुरः-इति ॥ तत् समाधत्ते-तथापीति । गोवृक्षादयो विकाराः न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्=न पृथिव्यादिभ्यो विजातीयतत्त्वम्, न पदार्थत्वसाक्षाद्वाप्य-पुरुषत्वादि-पृथिवीत्वान्त-पञ्चविंशतिधर्मान्यतमभिन्न-पदार्थत्वसाक्षाद्वाप्य-धर्मवत्त्वमिति यावत् ॥ ननु गा भूत् गोवृक्षादयः पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्, किन्तु गोवृक्षादिविकाराणां प्रकृतयस्तु पृथिव्यादयः स्युः, तथा च-पृथिव्यादिभूतानां विकारे एव न गणना, किन्तु प्रकृतिविकृताविति-आशंका निरासाय-प्रकृतेर्लक्षणमाह-तत्त्वान्तरोपादानत्वमिति । पञ्चविंशत्यनुगत-पदार्थत्वसाक्षाद्वाप्योपाध्यवच्छिन्नोपादानत्वमेव प्रकृतित्वमित्यर्थः । तथाहि-पदार्थत्वसाक्षाद्वाप्यो यः पृथिवीत्वोपाधिः तदवच्छिन्नपृथिव्या उपादानं यत् गन्धतन्मात्रं तत् पृथिव्याः प्रकृतिरित्युच्यते, गोत्ववृत्तत्वादयस्तु न पदार्थत्वसाक्षाद्वाप्याः, अतो न पृथिव्यादीनां तत्त्वान्तरोपादानत्वमिति । पदार्थत्वसाक्षाद्वाप्य-पृथिवीत्वस्यैव गोवृक्षादीं सत्त्वात् गोवृक्षादयः पृथिव्येवेति, पृथिव्यादेः प्रकृतित्वाऽभावात् न प्रकृतिविकृतौ गणना किन्तु विकारे एवेति भावः ॥ ननु- 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरितिसांख्यसूत्रेण 'अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिरिति लक्षणं लभ्यते । तत्र बहूनां सत्त्वादीनाम् अनुगमाय-सामान्येति । पुरुषव्यावर्तनाय-गुणेति । महदादिव्यावर्तनाय च-उपलक्षितान्तम् । किञ्च-प्रकृष्टवाचकः प्रश्न कृतश्च सृष्टिवाचकः । सृष्टौ प्रकृष्टा या देवो प्रकृतिः सा प्रकांतिरे-ति ब्रह्मवैवर्तेयं 'आद्यसृष्टिकर्तृत्वम्' प्रकृतेर्लक्षणं लभ्यते तत्परित्यज्य तद्विन्नं महत्तत्त्वादावतिव्याप्तिप्रस्तं तत्त्वान्तरोपादानत्वरूपं प्रकृतेर्लक्षणं कथं कृतम् ? इत्याशंकावारणाय-आह-इहामिप्रेतमिति । इह=अत्राऽवसरे मूलप्रकृतौ प्रकृतिविकृतौ महादादौ च, प्रकृतित्वलक्षणसमन्वयार्थं तत्त्वान्तरोपादानत्वरूपं लक्षणमाश्रितम्, न तु तत् मूलप्रकृतिमात्रस्य लक्षणमिति भावः ॥ न दोषः=एतादृशप्रकृतित्वस्य पृथिव्यादिस्थूलभूतेष्वसत्त्वात् न स्थूलभूतानां प्रकृतिविकृतिमध्ये 'अपरिगणनात्मकं' दृष्टं संभवतात्यर्थः । किञ्च-'अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं'मिति लक्षणाश्रयणे 'आद्यसृष्टिकर्तृत्व'मिति लक्षणाश्रयणे च महत्तत्त्वादौ प्रकृतित्वव्यवहाराऽभावात्मको दोषोऽपि न भवतीति बोध्यम् ॥ ननु कथं गोघटादीनां पृथिव्यादिभ्यो न तत्त्वान्तरत्वम् ? इत्याकांक्षायामाह-सर्वेषामिति । 'समा'-इति शब्दः हेत्वर्थे, यथा च-यतो घटादीनां स्थूलता इन्द्रियग्राह्यता च पृथिव्यादिभिः समा अतो न घटादीनां पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरत्वमित्यर्थः, असमानस्थूलत्वेन्द्रियग्राह्यत्वयोः तत्त्वान्तरताप्रयोजकत्वम् । यथा गुण-गुणवतोस्तादात्म्यात् शब्दैकगुणकमाकाशमत्यन्तं सूक्ष्मम्, ततः शब्दस्पर्शगुणो वायुः स्थूलः, ततः शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः स्थूलतरम्, ततः शब्दस्पर्शरूपरसगुणा आपः स्थूलतमाः, ततोऽपि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी-अतिस्थूलतमा, इति, एतादृशतारतम्यं पृथिवीतो घटादीनां नाऽनुभूयते, किन्तु स्थूलतासमानत्वात् न पृथिवीतो घटादीनां तत्त्वान्तरत्वम् । एवं-पृथिव्याः पञ्चगुणात्मकत्वात् पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वम्, जलस्य चतुर्गुणात्मकत्वात् चतुरिन्द्रियग्राह्यत्वम्, तेजसस्त्रिगुणात्मकत्वाद् इन्द्रियत्रयग्राह्यत्वम्, वायोऽर्द्धिगुणात्मकत्वाद् द्वीन्द्रियग्राह्यत्वम्, आकाशस्य

यरूपमुक्तं, तदाह—“न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः” इति । एतच्च सर्वमुपरिष्ठादुपपादयिष्यते ॥ ३ ॥

तमिममर्थं प्रामाणिकं कर्तुमभिमतः प्रमाणभेदा लक्षणीयाः, न च सामान्य-लक्षणमन्तरेण शक्यते विशेषलक्षणं कर्तुमिति प्रमाणसामान्यं तावलक्षयति—

दृष्टप्रनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ॥

त्रिविधप्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

अत्र च ‘प्रमाणम्’ इति समाख्या लक्ष्यपदम् । तन्निर्वचनं च लक्षणम् । प्रमी-

शब्दैकगुणात्मकत्वात् एकेन्द्रियग्राह्यत्वमिति, पृथिवीतो घटादीनामेवविधेन्द्रियग्राह्यत्वे तारतम्याऽभावाच्च न पृथिवीतो घटादीनां तत्त्वान्तरतेति भाषः ॥ प्रकारत्रयमभिधाय चतुर्थं प्रकारमभिधातुमाह—अनुभयरूपमाहेति । पुरुषः=पुरि शरीरे शेते=इति पुरुषः चेतनः, स न प्रकृतिः=न कस्यचित् कारणम्, न विकृतिः=न कस्यचित् कार्यम्,—‘तत्त्वान्तराऽनुपादानत्वे सति तत्त्वान्तराऽनुपादेयत्व’मिति पुरुषस्य लक्षणं पर्यवसन्नमिति बोध्यम् ॥ इत्येवं सामान्यतश्चतस्रो विधा उक्ताः, तत्र किं तत्त्वं कस्य प्रकृतिः कस्य च विकृतिरिति—एतत्सर्वम्=विशेषतो विवेकस्तु उपरिष्ठात्=अग्रे ‘प्रकृतेर्महान्’ (२२) इत्यादौ प्रतिपादयिष्यते इति बोध्यम् ॥ ३ ॥

तदेवमुक्तत्वानां प्रामाणिकत्वं दर्शयितुं तुरीयकारिकामवतारयति—तमिममर्थमिति । तमिमम्=तुतोयकारिकोक्तम्, अर्थम्=पदार्थग्रामम्, प्रामाणिकम्=प्रमाणजन्यप्रामिति विषयं कर्तुम्, अभिमताः=सांख्याचार्यैः स्वीकृताः, प्रमाणभेदाः=प्रमाणविशेषाः प्रत्यक्षानुमानाप्तवचनानि,=लक्षणीयाः=तत्त्वलक्षणेन ‘इतरभेदा’नुमिति विषयीकर्तव्याः-यथा-‘प्रत्यक्षम्’-इतरभिन्नम्,—प्रतिविषयाध्यवसायत्वात्, ‘अनुमानम्,—इतरभिन्नम्,—व्याप्यव्यापकभाव-पक्षधर्मताज्ञानपूर्वकत्वात्, ‘आप्तवचनम्,—इतरभिन्नम्, वाक्यजनितवाक्यार्थज्ञानत्वादिति । तदत्र हेत्वात्मकानि विशेषलक्षणानि सामान्यलक्षणं त्यक्त्वा वक्तुं न शक्यानि, अतः—प्रमाणसामान्यलक्षणं तावत् वक्तव्यम्, इत्याशयेनाह—न च सामान्येति । सामान्यलक्षणम्=प्रमाणानां सामान्यं लक्षणम्, अन्तरेण=विना, विशेषलक्षणम्=प्रमाणानां विशेषलक्षणानि, कर्तुं न च शक्यम्=कर्तुं न शक्यानि, इति=इति हेतोः, प्रमाणसामान्यम्=सामान्यलक्षणेन प्रमाणम्, तावत्=अथ-मम्, लक्षयति,—‘प्रमाणमिष्टमि’तीति ॥ मूलकारिकायाः—‘दृष्टम्, अनुमानम्, आप्तवचनं च त्रिविधं प्रमाणम् इष्टम्, (अत्रैव) सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्, हि प्रमाणात् प्रमेयसिद्धिः (भवति) इत्यन्वयः । अक्षरार्थस्तु—दृष्टम्=प्रत्यक्षम्, अनुमानम्=व्याप्यव्यापकभाव-पक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानं=परामर्शः, आप्तवचनम्=वाक्यजन्यवाक्यार्थज्ञानम्, इति त्रिविधम् प्रमाणम् इष्टम्=सांख्याचार्याऽभिमतम् । ननु कथं त्रिविधमेव ? न्यूनम् अधिकं वा कुतो न ? इत्यत आह—सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्—सर्वेषां न्यूनाऽधिकानां प्रमाणानाम् अत्रैव त्रिषु प्रमाणेषु सिद्धत्वात्=अन्तर्भावात् । ननु प्रमेयमेव निरूपणीयम्, कथं प्रमाणं निरूप्यते ? इत्याक्षंकायामाह—प्रमेयसिद्धिरिति । हि—यतः, प्रेमयस्य पथविशतिपदार्थसमुदायस्य, सिद्धिः, प्रमाणाद् भवति, अतः प्रमाणनिरूपणमित्यर्थः ॥

अत्र च प्रमाणमितीति । अत्र=कारिकायाम्, ‘प्रमाणमि’ति—समाख्या=सं=समीचीना—अवयवार्थवतो आख्या-समाख्या,=यौगिकः शब्द इति यावत्, लक्ष्यपदम्=लक्ष्यबोधकं पदमित्यर्थः ॥ ननु लक्ष्यबोधकपदस्य लक्षणबोधकपदप्रयोगसापेक्षत्वात् लक्षणबोधकपदमन्तरेण कथं लक्ष्यबोधक-



यत्तेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते । असन्दिग्धाविपरीतानधिगत-  
विषया चित्तवृत्तिः, बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति । एतेन

पदप्रयोगः ? इत्याशङ्क्य 'प्रमाणपदस्य यौगिकत्वेन तदवयवार्थमादाय लक्षणपदमपि तदेवेत्याह-  
तच्चिर्वचनं चेति । तस्य 'प्रमाण'पदस्य, निर्वचनम्=अवयवभूत-प्रकृति-प्रत्ययार्थश्च लक्षणमित्यर्थः ।  
निर्वचनप्रकारमाह-प्रमीयतेऽनेनेति । विषयः प्रमीयतेऽनेन प्रमाणेनेति, निर्वचनात्=व्युत्पत्तेः,  
प्रमाप्रति=यथार्थज्ञानं प्रति, करणत्वम्=असाधारणकारणत्वम्, अवगम्यते शायते । तथा च-'लक्ष्य'-  
पदं 'प्रमाणम्' लक्षणपदमपि 'प्रमाणमे'वेति बोध्यम् । वस्तुतस्तु-प्रमाणं प्रमाणमिति द्विरावर्त्य-  
"प्रमाणं=प्रमाकरणं यत्, तत्-प्रमाणम्=प्रमाणपदप्रतिपाद्यम्"-इत्येवं प्रमाणपदस्य लक्षणलक्ष्य-  
परत्वमनुसन्धेयम् ॥ अत्र-'प्रमाणमिति-समाख्यया लक्ष्यपर'मिति पाठे तु-समा=तुल्या  
समानानुपूर्वीमती आख्या=उच्चारणं, तया समाख्यया=तुल्योच्चारणेनेत्यर्थः, तथा च सकृदुच्चरितमपि  
'प्रमाण'पदम् तुल्योच्चारणेन लक्ष्यपरं लक्षणपरं च बोध्यमित्यर्थः ॥ प्रमाकरणम्-प्रमाणमित्यत्र  
प्रमाणषट्कप्रमां लक्षयति-असन्दिग्धेति । असन्दिग्धविषया अविपरीतविषया अनधिगतविषया च या  
चित्तवृत्तिः सा प्रमेत्यर्थः, संशय-विपर्यय-विकल्प-स्मृतिरूप-चित्तवृत्तिभिन्ना या चित्तवृत्तिः सा  
प्रमेति यावत् । शब्दार्थस्तु-असन्दिग्धः=सन्दिग्धः-किंरिदिति-(स्थानुर्वा पुरुषो वा इति)  
सन्देह(संशय)विषयः, सन्दिग्धो न भवति इति असन्दिग्धः=सन्देहस्याऽविषयीभूतो विषयो  
यस्याः सा असन्दिग्धविषया=संशयात्मकचित्तवृत्तिभिन्ना चित्तवृत्तिरित्यर्थः । अविपरीतः=विपरो-  
तः-'शुक्तौ-इदं रजत'मिति मिथ्याज्ञानात्मक-विपर्ययज्ञानविषयः, अथ च 'पुरुषश्चैतन्य'मित्यभिन्न-  
पदार्थस्य भेदमारोप्य-'पुरुषस्य चैतन्यमि'तिज्ञानात्मकविकल्पज्ञानविषयोऽपि विपरीतः, विपरीतो  
न भवतीति अविपरीतः=विपर्यय-विकल्पयोरविषयीभूतो विषयो यस्याः सा अविपर्ययविषया=  
विपर्ययात्मकचित्तवृत्तिभिन्ना विकल्पात्मकचित्तवृत्तिभिन्ना च चित्तवृत्तिरित्यर्थः । अनधिगतः=अ-  
धिगतः=इदमेवे'तिनिश्चयात्मकज्ञानविषयः. स न भवतीति अनधिगतः=निश्चयाऽविषयीभूतो विषयो  
यस्याः सा अनधिगतविषया=स्मृत्यात्मकचित्तवृत्तिभिन्ना चित्तवृत्तिरित्यर्थः । इन्द्रियांसन्निकर्षज-  
न्यायाः एतादृशचित्तवृत्तेः प्रमात्वे इन्द्रियाणि प्रत्यक्षप्रमाणमिति बोध्यम् । एवम्-इन्द्रियार्थसन्निक-  
र्षजन्यां चित्तवृत्त्यात्मिकाम् अमुल्यां प्रमामभिधाय मुख्यां प्रमामाह-बोधश्च पौरुषेयः फलं  
प्रमेति । चित्तवृत्तेः फलं यः पौरुषेयः=पुरुषवर्ती बोधः=बुद्धिधर्मोऽपि बोधः स्वाश्रयप्रतिबिम्बित-  
त्वसम्बन्धेन पुरुषे उपचर्यमाणः,-सा मुख्या प्रमेत्यर्थः । एतादृशबोधस्य प्रमात्वे चित्तवृत्तिः प्रमा-  
णमिति बोध्यम् ॥ एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति-'तत्साधनं प्रमाणमिति । तस्याधि-  
तवृत्तेः यत् साधनं=पदार्थेण सह सन्निकृष्टं चक्षुरादि, एवं-तस्य पौरुषेयबोधस्य यत् साधनं=चि-  
त्तवृत्तिः, तदुभयमपि प्रमाणमित्यर्थः ॥ 'असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषया चित्तवृत्ति'रितिप्र-  
मालक्षणे पदकृत्यमाह-एतेनेति । असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगते-ति-विशेषणत्रयदानेनेत्यर्थः ॥  
संशयेति । संशयसाधने विपर्ययसाधने स्मृतिसाधने च नातिव्याप्तिरित्यर्थः, तत्र 'असन्दिग्ध'-  
पदोपादानेन संशयसाधनेऽतिव्याप्तिवारणम्, 'अविपरीत'पदोपादानेन विपर्ययसाधनेऽतिव्याप्ति-  
वारणम्, 'अनधिगत'पदोपादानेन स्मृतिसाधनेऽतिव्याप्तिवारणम् । तथाहि-'असन्दिग्ध'पदानु-  
पादाने-'अविपरीताऽनधिगतविषय-चित्तवृत्तिकरणत्वमेव प्रमाणस्य लक्षणमवशिष्यते,-'स्थानुर्वा-  
'पुरुषो वेति'संशयात्मकचित्तवृत्तेरपि अविपरीताऽनधिगतविषयचित्तवृत्तित्वात् अविपरीताऽनधिगत-  
विषय-चित्तवृत्त्यात्मक-संशयकरणत्वस्य संशयसाधने उच्चैस्त्वादिसाधारणमर्थज्ञाने सत्त्वात् तत्राऽ-

संशयविपर्ययस्मृतिसाधनेष्वप्रसङ्गः । सङ्ख्याविप्रतिपत्तिं निराकरोति—“त्रिविधम्” इति । तिस्रो विधा अस्य प्रमाणसामान्यस्य तत् त्रिविधम्, न न्यूनं, नाप्यधिकमित्यर्थः । विशेषलक्षणानन्तरञ्चैतदुपपादयिष्यामः । कतमा पुनस्ता विधाः ? इत्यत आह—“दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च” इति । एतच्च लौकिकप्रमाणाभिप्रायम्, लोकव्युत्पादनार्थत्वाच्छास्त्रस्य, तस्यैवान्नाधिकारात् । अपि तु विज्ञानं योगिना—

तिव्याप्तिः, ‘असन्दिग्ध’पदोपादाने तु,—संशयात्मिका चित्तवृत्तिः न असन्दिग्धविषया, तथा च असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषयचित्तवृत्तिपदेन संशयात्मकवृत्तेरग्रहणात्, किन्तु घटे—‘अयं घट’ इत्याकारकचित्तवृत्तेः प्रमात्मिकाया ग्रहणात् तत्करणत्वस्य चक्षुरादौ समन्वयः, उच्चैस्तरत्वादिधर्मज्ञाने अप्रमाकरणे च नातिव्याप्तिरिति । एवम्—‘अविपरीत’पदानुपादाने—‘असन्दिग्धाऽनधिगतविषयचित्तवृत्तिकरणत्व’मेव प्रमाणलक्षणमवशिष्यते, शुक्लौ—‘इदं रजत’मिति विपर्ययात्मकचित्तवृत्तेरपि असन्दिग्धाऽनधिगतविषयचित्तवृत्तित्वात् असन्दिग्धाऽनधिगतविषयचित्तवृत्त्यात्मकविपर्ययकरणत्वस्य विपर्ययसाधने दृष्टेन्द्रियसन्निकर्षादौ सत्त्वात् तत्रातिव्याप्तिः, ‘अविपरीत’पदोपादाने तु विपर्ययात्मिका चित्तवृत्तिः न अविपरीतविषया, तथा च—असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषयचित्तवृत्तिपदेन विपर्ययात्मकवृत्तेरग्रहणात्, किन्तु घटे—‘अयं घट’ इत्याकारकचित्तवृत्तेः प्रमात्मिकायां ग्रहणात् तत्करणत्वस्य चक्षुरादौ समन्वयः, दृष्टेन्द्रियसन्निकर्षादौ अप्रमाकरणे च नातिव्याप्तिः । एवम्—‘अनधिगत’पदानुपादाने—‘असन्दिग्धाऽविपरीतविषयचित्तवृत्तिकरणत्व’मेव प्रमाणलक्षणमवशिष्यते, स्मरणात्मकचित्तवृत्तेरपि असन्दिग्धाऽविपरीतविषयचित्तवृत्तित्वात् असन्दिग्धाविपरीतविषयचित्तवृत्त्यात्मकस्मरणकरणत्वस्य संस्कारे संस्कारद्वारकाऽनुभवे वा सत्त्वात् तत्राऽतिव्याप्तिः, ‘अनधिगत’पदोपादाने तु स्मरणात्मिका चित्तवृत्तिः न अनधिगतविषया किन्तु पूर्वमनुभूतविषयैव, तथा च असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषयचित्तवृत्तिपदेन संशयात्मकवृत्तेरग्रहणात् तत्र नातिव्याप्तिरिति । संशयविपर्ययस्मरणात्मकवृत्तीनां प्रमात्वाऽभावात् तत्साधनानां न प्रमाणत्वमिति भावः ॥ **संख्याविप्रतिपत्तिम्**—कियत्संख्याकं प्रमाणमिति वितर्कम्, निराकरोति—श्रमयति ॥ ‘त्रिविधमि’तिपदं व्याख्याति—**तिस्रो विधा** इति । विधाः—प्रकाराः । न न्यूनम्—न एकं प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्, न द्वे वैशेषिकोक्तप्रत्यक्षानुमाने वा प्रमाणे, । नाऽप्यधिकम्—न चत्वारि न्यायमताभिमतप्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दात्मकानि, वेदान्ति-भाट्टमताभिमतानि अर्थापत्त्यनुपलब्धिसहितानि तानि षड्—इत्यपि न, पौराणिकाऽभिमतानि संबैतिस्यसहितानि तानि अष्टौ इत्यपि न, आलंकारिकाभिमतानि चेष्टासहितानि तानि नव इत्यपि न इत्यर्थः ॥ विशेषलक्षणानन्तरम्—प्रत्यक्षस्य अनुमानस्य आप्तवचनस्य च विशेषलक्षणप्रतिपादनानन्तरम्, एतत्—प्रमाणानां न्यूनाऽधिकसंख्यानिरासम्, (५) कारिकाव्याख्यानावसरे उपपादयिष्याम इति ॥ पृच्छति—कतमा इति । काः—इत्यर्थः ॥ ननु-ऋषीणां त्रैकालिकविषयं विधातपःसमाधिजं प्रातिभं प्रमाणज्ञानम् अत्र कथं न संग्रहीतम् ? इत्यत आह—**एतच्चेति** । ‘दृष्टमनुमानमाप्तवचनं’मितिप्रमाणत्रैविध्याभिधानं च । लौकिकप्रमाणाऽभिप्रायम्—लौकिकानां—योगिजनभिन्नसाधारणजनानां यानि प्रमाणानि—प्रमाकरणानि तदभिप्रायम्—तत्तात्पर्यकमित्यर्थः ॥ तत्र हेतुमाह—**लोकेति** । शास्त्रस्य—सांख्यशास्त्रस्य, लोकानां—साधारणजनानां व्युत्पादनार्थत्वात्—बोधजननप्रयोजनकत्वात्, तस्यैव—लौकिकप्रमाणत्रयस्यैव, अत्र—सांख्यशास्त्रे, अधिकारात्—निरूपणयोग्यत्वाधिकृतत्वात् ॥ के पुनः आर्षविज्ञानाधिकारिण ? इत्याकांक्षायामाह—



मूर्ध्वस्रोतसां न लोकव्युत्पादनायालमिति सदपि नाभिहितम्, अनधिकारात् । स्यादेतत्—मा भून्म्यूनम्, अधिकं तु कस्मान्न भवति ? सङ्गिरन्ते हि प्रतिवादिनः उपमानादीन्यपि प्रमाणानि, इत्यत आह—“सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्” इति । एवमेव दृष्टानुमानासवचनेषु सर्वेषां प्रमाणानां सिद्धत्वात्—अन्तर्भावादित्यर्थः । एतच्चोपपादयिष्यत इत्युक्तम् । अथ प्रमेयव्युत्पादनाय प्रवृत्तं शास्त्रं कस्मात् प्रमाणं सामान्यतो विशेषतश्च लक्षयति ? इत्यत आह—“प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि” इति । सिद्धिः—प्रतीतिः । सेयमार्याऽर्थक्रमानुरोधेन पाठक्रममनादृत्यैव व्याख्याता ॥ ४ ॥

आर्षन्तु—इति । वैशेषिकदर्शनस्य गुणग्रन्थे बुद्धयधिकारे प्रथस्तपादभाष्ये “आम्नायविधातृणामुद्यो-  
णामतोताऽनागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयो-  
गात् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभिं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तद् आर्षम् इत्याचक्षते” इति निरूपितं  
ज्ञानन्तु । ‘तु’शब्दः पुनरर्थः, यत्पुनरित्यर्थः, ऊर्ध्वस्रोतसाम्=ऊर्ध्व=विषयेभ्यो वहिः परे ब्रह्मतत्त्वे  
स्रोतः=वृत्तिप्रवाहो येषान्ते, अथवा—ऊर्ध्व=स्थूलविषयेभ्यो वहिरतीन्द्रियेऽर्थं स्रोतो=ज्ञानं येषान्ते  
तेषाम्—देवर्षीणां योगिनां चेत्यर्थः । तद्विज्ञानं तु लोकव्युत्पादनाय=साधारणजनबोधनाय, न अलम्=  
न समर्थम्, इति हेतोः, सदपि=विद्यमानमपि तद् आर्षं विज्ञानम्, अत्र नाऽभिहितम् अनधिकारात्=  
अनुपयुक्तत्वात्=लौकिकप्रमानुत्पादकत्वात् ॥ ननु लोकोपयोगिनामुपमानादीनामनिरूपणाद्ग्रन्थ-  
कारस्य न्यूनतेति—आशङ्कते—स्यादेतदित्यादिना । मा भूत् न्यूनम्=न स्यात् एकं द्वे वा प्रमाणे  
इति । अधिकन्तु=प्रमाणचतुष्टयादिकं कस्माद्धेतोर्न भवति ॥ तत्र प्राचीनानां सम्मतिमाह—सङ्गिरन्ते  
इति । प्रतिजानते इत्यर्थः, ‘समः प्रतिज्ञाने’ १।३।५२ इतिसूत्रेण प्रतिज्ञानार्थं गिरतेस्तद्ध इति बोध्यम् ॥  
प्रतिवादिनः=गोतमभाट्टपौराणिकालंकारिकाः, उपमानादीन्यपि=उपमानम्, अर्थापत्तिः, अनुपल-  
ब्धिः, सम्भवः, ऐतिह्यम्, चेष्टा चेति—प्रमाणाणि । एषु=सांख्याभिमतेषु,—दृष्टानुमानासवचनेष्वेवाऽन्त-  
र्भावादिति,—तथाहि—उपमानस्य शब्दप्रमाणे, अर्थापत्तिप्रमाणास्य व्यतिरेक्यनुमाने, अनुपलब्धिप्र-  
माणस्य प्रत्यक्षे, सम्भवस्य अनुमाने, ऐतिह्यस्य शब्दे, चेष्टाया अनुमाने, अन्तर्भावादिति । एतच्च=  
अधिकप्रमाणानाम् प्रमाणत्रयेऽन्तर्भावप्रतिपादनं च, उपपादयिष्यते=(५) कारिकाव्याख्यानाऽवसरे  
करिष्यते, इत्युक्तम्=(४) कारिकाव्याख्याने “विशेषलक्षणाऽनन्तरं चैतदुपपादयिष्याम” इत्युक्तम् ॥  
ननु पद(व्याकरण) वाक्य(मीमांसा)प्रमाण(न्यायवैशेषिक)प्रमेय(सांख्ययोगवेदान्त)मेदभिन्नेषु विद्या-  
प्रस्थानेषु प्रमेयप्रतिपादकसांख्यस्य प्रमाणप्रतिपादनमयुक्तमित्याशयेन शङ्कते—अथेति ।  
प्रमेयव्युत्पादनाय=प्रमेयपदार्थतत्त्वनिरूपणाय, प्रवृत्तां=रचयितुः प्रवृत्तिविषयतां गतं, शास्त्रम्=सां-  
ख्यशास्त्रम्, कस्मात् ? कस्माद्धेतोः ? प्रमाणम् सामान्यतः=सामान्यलक्षणेन विशेषतः=विशेषलक्षणेन  
च लक्षयति=प्रतिपादयति ॥ हेतुमाह—‘प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि’ इति । प्रमेयसिद्धिः=प्रमेयप्रतीतिः=  
प्रमातुं योयानि यानि पञ्चविंशतितत्त्वानि तेषां प्रतीतिः=यत् प्रमात्मकं ज्ञानम्, तत्, प्रमाणदेव  
भवति, अतः प्रमाणनिरूपणमित्यर्थः । ननु “दृष्टमनुमानासवचनं च, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्,  
त्रिविधं प्रमाणम् दृष्टम्, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि”—इत्येवं यः पाठक्रमः तं परित्यज्य कथं विपरीत-  
क्रमेण इयं कारिका व्याख्याता ? इत्याशंकां निरस्यति—सेयमार्येति । आर्या=आर्याछन्दोबद्धा,  
सप्त इयम् (४) उक्ता चतुर्थी कारिका, पाठक्रममनादृत्य=अननुसृत्य, पाठक्रमाद् अर्थक्रमस्य बली-  
यस्मात् अर्थक्रमानुरोधेन=प्रबलार्थक्रमानुसारेण, एवम्=एवंप्रकारेण, व्याख्याता=व्युत्पादितेति ॥ ४ ॥

सम्प्रति प्रमाणविशेषलक्षणावसरे प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणेषु ज्येष्ठत्वात् तदधीनत्वा-  
चानुमानादीनां सर्ववादिनामविप्रतिपत्तेश्च. तदेव तावद्वक्ष्यति—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानाख्यातम् ।

तल्लिङ्गलिङ्गपूर्वकम्, आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ ५ ॥

“प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्” इति । अत्र “दृष्टम्” इति लक्ष्यनिर्देशः, परि-  
शिष्टं तु लक्षणम् । समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः । अवयवार्थस्तु—विसि-

पथमकारिकाया अवतरणिकामाह—सम्प्रति—इति । इदानीमित्यर्थः, चतुर्थकारिकाव्याख्या-  
ऽनन्तरमिति यावत् ॥ प्रमाणविशेषेति । प्रमाणानां ये विशेषाः—प्रत्यक्षानुमानाप्तवचनात्मकभेदाः  
तेषां वानि लक्षणानि तत्रिरूपणाऽवसरे प्राप्ते सति, प्रत्यक्षस्य प्रमाणेषु=अनुमानादियावत्प्रमाणेषु ज्येष्ठ-  
त्वात्=पूर्ववर्तितया प्रबलत्वात्=निखिलप्रमाणोपजाव्यत्वादिति यावत् । तदेवाह—तदधीनत्वाच्चेति ।  
अनुमानादीनाम्=अनुमानशब्दयोरित्यर्थः, बहुवचनं तु पराभिमतोपमानाद्यभिप्रायेण बोध्यम् ।  
तदधीनत्वात्=प्रत्यक्षसापेक्षत्वात् ॥ हेत्वन्तरमाह—सर्ववादिनामिति । सर्वेषां चार्वाकादीनां  
वादिनामपि, अधिप्रतिपत्तेः=विरुद्धा प्रतिपत्तिः सिद्धिः विप्रतिपत्तिः सा न भवति—इति अविप्रति-  
पत्तिः ततः,=प्रत्यक्षस्य अनङ्गीकारात्मकविरुद्धमताऽभावादित्यर्थः । तदेव=प्रत्यक्षमेव, तावत्=प्रथमम्,  
लक्षयति—लक्षणेन योजयतात्यर्थः ॥

“प्रतिविषयाध्यवसायः”—इति मूलम् । ‘प्रतिविषयाध्यवसायः दृष्टम्, ( यत् ) लिङ्गलिङ्ग-  
पूर्वकम् अनुमानम्,—तत् त्रिविधम् आख्यातम्, आप्तश्रुतिः आप्तवचनन्तु’—इत्यन्वयः ॥ संक्षि-  
प्तार्थस्तु—प्रतिविषयाध्यवसायः=इन्द्रियसन्निकर्षज्ञानत्वम्, दृष्टम्=दृष्टस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्य  
चित्तवृत्त्यात्मकस्य लक्षणमित्यर्थः । लिङ्गलिङ्गपूर्वकम्=व्याप्यव्यापकभाव-पक्षधर्मज्ञानपूर्वकज्ञा-  
नत्वम्, अनुमानम्=अनुमानस्य लक्षणमित्यर्थः, तत् अनुमानं=त्रिविधम्=त्रिधा,=पूर्ववत्, रोप-  
वत्, सामान्यतोदृष्टचेति त्रिप्रकारम्, आख्यातम्=सांख्यनये कथितम् । आप्तश्रुतिः=वाक्यजनि-  
तवाक्यार्थज्ञानत्वम्, आप्तवचनम्=शब्दप्रमाणस्य लक्षणमित्यर्थः ॥

कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते—अत्र ‘दृष्ट’मिति । अत्र=(५) कारिकायाम्, ‘दृष्ट’मिति लक्ष्यस्य=  
प्रत्यक्षप्रमाणस्य निर्देशः=उद्देशः । परिशिष्टन्तु=‘प्रतिविषयाध्यवसाय’इत्यवशिष्टो भागस्तु, लक्षणम्  
=असाधारणधर्मः ॥ लक्षणकरणस्य प्रयोजनमाह—समानाऽसमानेति । लक्ष्यस्य ये समानजा-  
तायाः पदार्थाः अथ च ये असमानजातायाः पदार्थाः तेभ्यो यो व्यवच्छेदः=व्यावर्तनं=वृथक्कृत्य  
लक्ष्यस्य व्यवस्थापनम् सः लक्षणार्थः=लक्षणकरणस्य प्रयोजनमित्यर्थः । तथा च—‘सामानाऽसमा-  
नजाताव्यवच्छेदकत्वमिति’ लक्षणस्य लक्षणं विज्ञापितमिति बोध्यम् । भवति च—‘गन्धवत्त्वमिति’  
पृथिव्या लक्षणं द्रव्यत्वेन, पृथिवीसजातायजलादिभ्यो गुणत्वेन च पृथिवीवजातीयरूपरसादिभ्यः  
पृथिवीव्यावर्तकम्=पृथिव्यामितरभेदानुमितिजनकम्, यथा—‘पृथिवीं,—स्वेतरजलादिरूपरसादिभिन्ना,  
—गन्धवत्त्वादिति’ । लक्षणस्य लक्षणे ‘समान’पदानुपादाने ‘असमानजातीयव्यवच्छेदकत्व’मात्रस्य लक्ष-  
णलक्षणस्य ‘रूपं शुक्ल’मित्यत्र रसत्वेन असमानजातायरसादिव्यवच्छेदकत्वस्य ‘रूप’मिति विशेषण-  
बोध्ये अलक्षणभूते रूपे सत्त्वात् तत्राऽतिव्याप्तिः ( तस्य लक्षणत्वापत्तिः ) स्यात्, ‘समान’पदोपा-  
दाने तु रूपत्वेन शुक्लसमानजातीयनोलादीनां व्यावर्तकत्वाऽभावात् न ‘रूप’मिति ‘शुक्ल’स्य  
लक्षणमिति भावः । ‘असमान’पदानुपादाने ‘समानजातीयव्यवच्छेदकत्व’मात्रस्य लक्षणलक्षणस्य



न्वन्ति-विषयिणमनुबध्नन्ति, स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत् । “विषयाः” पृथिव्यादयः सुखादयश्च । अस्मदादीनामविषयाः तन्मात्रलक्षणाः योगिनामूर्ध्वस्रोतसां च विषयाः । विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रतिविषयम् इन्द्रियम् । वृत्तिश्च सन्निकर्षः । अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थः । तस्मिन् अध्यवसायः, तदाश्रित अध्यवसायः इत्यर्थः । अध्यवसायश्च बुद्धिव्यापारो ज्ञानम्, उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाऽऽख्यायते । इदं तत् प्रमाणम् । अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा

‘नीलमुत्पलमानयेत्यत्र उत्पलत्वेन उत्पलसजातीयश्चेतोत्पलान्तरव्यावर्तकत्वस्य ‘नील’मिति विशेषणबोधे अलक्षणभूते नीलत्वे सत्त्वात् तत्राऽतिव्याप्तिः ( नीलत्वस्य लक्षणत्वापत्तिः ) स्यात्, ‘असमान’पदोपादाने तु घटत्वेन उत्पलाऽसमानजातीयनीलघटादीनां व्यावर्तकत्वाऽभावात् न ‘नीलत्व’मिति ‘उत्पलस्य’ लक्षणमिति भावः ॥ लक्षणपदघटकशब्दार्थमाह-अवयवार्थस्तु-इति । अवयवशक्तिनिरूपितार्थस्त्वित्यर्थः । ‘विसिन्वन्ति’-‘पिञ्-बन्धने’ इत्यस्य रूपम् । तस्य विवरणमाह-विषयिणमनुबध्नन्तीति । विषयिणम्=विषयः विषयितासम्बन्धेन अस्ति अस्त्येति विषयि=ज्ञानम्=चित्तवृत्तिरूपं ज्ञानमित्यर्थः । ‘अनुबध्नन्ति’ इत्यस्याऽर्थमाह-‘स्वेन रूपेणेति । रवेन=स्वकीयेन=स्वात्मकेन ( घटादिविषयात्मकेन ), रूपेण=आकारेण=अवयवसंस्थानाऽनु रूपेण, निरूपणीयम्=निरूपणार्हं=स्वाकारोपरक्तं कुर्वन्तीति यावत् । घटादयो विषयाः इन्द्रियसन्निकर्षद्वारा स्वप्रदेशं प्राप्तां चित्तवृत्तिं स्वाकारेण उपरजयन्ति, एतदुपरजनं स्वाकारसमर्पणात्मकमेव-स्वेन रूपेण निरूपणीयत्वमिति भावः । विषयास्तु स्थूलवस्था बाह्याः पृथिव्यादयः आन्तराश्च सुखदुःखादयः । सूक्ष्मान् विषयानाह-अस्मदादीनामिति । अदिव्यचक्षुषामस्मदादीनाम् अविषयाः-अगोचराः, तन्मात्रलक्षणाः=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकाः भूतसूक्ष्माः, तेऽपि योगिनां=योगाभ्यासजनितधर्मविशेषवताम् ऊर्ध्वस्रोतसाम्=ऊर्ध्व=स्थूलविषयेभ्यो बहिः=अतीन्द्रियेऽर्थे स्रोतो=ज्ञानं येषान्तेषाम्=देवर्षीणाम्, विषयाः=अलौकिकप्रत्यक्षगोचराः, तेऽपि विषयपदेन गृह्यन्ते-इति भावः ॥ एवं ‘विषय’-पदार्थं व्याख्याय-‘प्रतिविषय’पदार्थमाह-‘विषयं विषयं प्रती’ति । ‘वर्तते’ इतिपदघटकावृत्तधत्वार्थरूपा वृत्तिरत्र इन्द्रियसन्निकर्षः । तथा च ‘प्रतिविषय’शब्दस्य निर्गलितार्थमाह-अथसन्निकृष्टमिन्द्रियमिति । अर्थः=घटादिविषयः, तत्सन्निकृष्टं=तत्सम्बद्धम्, -इन्द्रियमित्यर्थः ॥ तस्मिन्नध्यवसाय इति । तस्मिन्=प्रतिविषये=इन्द्रिये, इत्यर्थः । ‘तस्मिन्नि’तिसप्तम्यन्तस्य निर्गलितार्थमाह-तदाश्रित इति । विषयसन्निकृष्टेन्द्रियाधीन इत्यर्थः । ‘अध्यवसाय’शब्दार्थमाह-बुद्धिव्यापारो ज्ञानमिति । बुद्धिव्यापारः=बुद्धिधर्मः ज्ञानम्=बुद्धिवृत्तिरित्यर्थः ॥ तदेव स्फुटं दर्शयति-उपात्तविषयाणामिति । उपात्तः=गृहीतः=प्रतिबिम्बरूपेण स्वायत्ताकृत्य वृत्तावपि तो विषयो=घटादियंस्तेषामिन्द्रियाणाम्, साहाय्येनेतिशेषः । वृत्तौ=विषयप्रतिबिम्बोपरक्तायां बुद्धिवृत्तौ जातायां सत्याम्, बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति=तमोऽभावाऽऽवस्थात्मकवृत्त्यभिभवे सति, यः सत्त्वसमुद्रेकः=सत्त्वात्मकप्रकाशबाहुल्यरूपा वृत्तिः, स अध्यवसायः=अध्यवसाय इति ‘वृत्ति’रिति ‘ज्ञान’मिति च आख्यायते ॥ अत्रेदमपि बोध्यम्-तमोऽभिभवकालीनसत्त्वसमुद्रेकत्वम् प्रमाणं वृत्तेः सामान्यलक्षणं निष्पन्नम् । तत्र ‘इन्द्रियसन्निकर्षद्वाराक-तमोऽभिभवकालीन-सत्त्वसमुद्रेकत्वम्’-प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम्, ‘व्याप्तिज्ञानपक्षधर्मताज्ञानजन्य-तमोऽभिभवकालीन-सत्त्वसमुद्रेकत्वम्’ अनुमानप्रमाणस्य लक्षणम्, वाक्यजन्य-तमोऽभिभवकालीन-सत्त्वसमुद्रेकत्वम्, आगमप्रमाणस्य लक्षणमिति ॥ तदेवाह-इदन्तावदिति ।

बोधः । बुद्धितत्त्वं हि प्राकृतत्वादचेतनमिति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनः, घटा-  
दिवत् । एवं बुद्धितत्त्वस्य सुखादयोऽपि परिणामभेदा अचेतनाः । पुरुषस्तु सुखाद्य-  
ननुपक्षी चेतनः । सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्या  
ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति चेतनोऽनुगृह्यते । चित्तिच्छायापत्याऽचेतनाऽपि बुद्धि-

तावत्-वाक्यालंकारे, इदम्=विषयसन्निकृष्टेन्द्रियज-तमोभिभवकालीन-सत्त्वात्मकप्रकाशबहुलज्ञान-  
त्वम्' इति, प्रमाणम्=प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम् ॥ प्रत्यक्षप्रमाणफलभूतां प्रमामाह-अनेनेति । अनेन=  
एतादृशसत्त्वसमुद्रेकात्मकबुद्धिवृत्तिरूपप्रत्यक्षप्रमाणेन, जायमान इतिशेषः, यः चेतनाशक्तेः=चेतन-  
स्य पुरुषस्य, अनुग्रहः=बुद्धौ प्रतिबिम्बिते चेतने बुद्धिवृत्तिगृहीत-विषयाकाराणां समर्पणम्, तत्=  
समर्पणेनैव, फलम्=अत्यक्षप्रमाणस्य 'फलमि'ति, बोधः='पौरुषेयो बोध' इति 'प्रत्यक्षप्रमा' इति चेत्  
अभिधायते सांख्यैरित्यर्थः ॥ विषयसन्निकृष्टेन्द्रियेण जायमानोऽयं घट' इतिप्रकाशात्मकचित्तवृत्ति-  
रूपो बोधः-प्रत्यक्षं प्रमाणम्, तदनु जायमानो 'घटमहं जानामी'ति-पौरुषेयो बोधः प्रमा इति भावः ॥  
एवमनुमानप्रमाणात्मकचित्तवृत्त्या जायमानः 'वह्निमहमनुमिनोमी'ति पौरुषेयो बोधः फलम् अनुमा ।  
एवम्-शब्दप्रमाणात्मकचित्तवृत्त्या जायमानः 'शब्दयामी'ति पौरुषेयो बोधः शब्दबोधः फलं प्रमा-  
इति बोध्यम् ॥ अनुग्रहस्वरूपं स्पष्टयितुं बुद्धिधर्माणामचेतनत्वं दर्शयति-'बुद्धितत्त्वमित्यादिना । हि  
=यतः बुद्धितत्त्वं=महत्तत्त्वम्, प्राकृतत्वात्=जडप्रकृतिकार्यत्वात्, अचेतनम्=जडम्, इति=अतः, तद-  
ध्यवसायः=तस्य बुद्धितत्त्वस्य धर्मो यः अध्यवसायः सोऽपि अचेतनः=जडः । नाहं दृष्टान्तमाह-घटादि-  
वदिति । घटादिरित्यर्थः ! एवम्=घटादिरिव बुद्धितत्त्वस्य धर्माः परिणामविशेषाः सुखादयः=सुखदुःख-  
ज्ञानाऽज्ञान-धर्माऽधर्मादयोऽपि अचेतनाः-जडाः इति बोध्यम् ॥ चेतनपदार्थं दर्शयति-पुरुषस्त्व-  
ति । पुरि=शरीरे शेते पुरुषः=आत्मा तु, सुखाद्यननुपक्षी=सुखदुःखाद्यन्तःकरणधर्माणां साक्षात्  
संयोगेन अनाधारः, स एव चेतनः ॥ ननु ज्ञानसुखादयो यदि बुद्धिधर्मास्ताहिं 'सुखी चेतनोऽहं  
जानामी'ति-चैतन्यसामानाधिकरूपेण ज्ञानसुखादीनां बोधिकाया प्रतीत्याः अपलापः स्यादित्याशं-  
कायां तादृशप्रतीतेः परम्परयाऽऽत्मनि निर्वाहदर्शनार्थमाह- सोऽयमित्यादिना । सः अयम्=  
साक्षात्संयोगेन सुखाद्यन्तःकरणोऽपि चेतनः । तत्प्रतिबिम्बितः-बुद्धितत्त्वे प्रतिबिम्बितः सन् । त-  
च्छायापत्या=बुद्धितत्त्वस्य या छाया=अविवेकानिवन्धनतादात्म्यं तस्य आपत्त्या, बुद्धिपुरुषयोरभे-  
दग्रहादिति यावत् । बुद्धितत्त्ववर्तिना=साक्षात्संयोगेन बुद्धितत्त्वे वर्तमानैः । ज्ञानसुखादिना=ज्ञानसु-  
खदुःखधर्माऽधर्मात्मक-धर्मैः । ज्ञानसुखादिमानिव=स्वाश्रयप्रतिबिम्बप्रतियोगित्वसम्बन्धेन (स्व-सु-  
खादयः, तदाश्रया बुद्धिः, तत्र यत् आत्मनः प्रतिबिम्बं, तत्प्रतियोगी=तन्निर्भरः आत्मा ) ज्ञानसु-  
खादिमान् भवति, न तु वास्तविकज्ञानसुखादिमान्-इति बोधनाय 'इव'शब्दप्रयोगः । तथा च  
'सुखी चेतनोऽहं जानामी'तिप्रतीतौ सुखज्ञानयोश्चेतनांशे अविवेकानिवन्धना भ्रान्तिरिति भावः ॥  
अनुग्रहमाह-इति चेतनोऽनुगृह्यते-इति । इति=बुद्ध्या सुखादिस्वधर्मा आत्मने समर्प्य,  
चेतनः=आत्मा, अनुगृह्यते=अनुग्रहवान्क्रियते,=अनुग्रहः=सुखादिसमर्पणम्=अध्यवसायः=  
फलं=प्रमा=बोधः, तद्वान् क्रियते इत्यर्थः । अयं बोधः बुद्धेः स्वभाविकोऽपि स्वाश्रयप्रतिबिम्ब-  
प्रतियोगित्वसम्बन्धेन पुरुषे बोध्य इति भावः ॥ जडाया बुद्धेरपि चेतनप्रतिबिम्बाधारत्वात् चेतनत्वा-  
भिमानमिति दर्शयति-चित्तिच्छायापत्येति । अचेतनाऽपि जडापि बुद्धिः, तदध्यवसायः-तस्याः  
बुद्धेः धर्मो यः अध्यवसायः=बोधः सः अचेतनोऽपि, चित्तिच्छायापत्या=चित्तिः=चेतनः तस्य  
छाया=प्रतिबिम्बः तस्य आपत्त्या=आधारतया, चेतनबहु=बुद्धिः चेतना इव, बोधः चेतन इव



स्तदध्यवसायोऽप्यचेतनचेतनवद्भवतीति । तथा च वक्ष्यति—‘तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः’ (२१) इति । अत्राऽध्यवसायग्रहणेन संशयं व्यवच्छिन्नन्ति, संशयस्याऽनवस्थितग्रहणत्वेनाऽनिश्चितरूपत्वात् । निश्चयोऽध्यवसाय इति चानर्थान्तरम् । विषयग्रहणेन चाऽसद्विषयं

भवतीति । चेतनप्रतिबिम्बयोगात् स्वां चेतनां मन्यते इति भावः ॥ ननु अन्योन्यवदचेतनभ्रान्तौ किं प्रमाणमित्याशंकायां मूलकारस्यैव वचनं दर्शयति—तथा च वक्ष्यतीति । तथा च=एतदुक्तप्रकारेण भ्रान्तिम्, वक्ष्यति=ईश्वरकृष्णाचार्यः कथयिष्यतीति । ‘तस्मादिति’ कारिका-र्थस्तु—‘तस्मात्=यतः चेतनत्वम् आत्मधर्मः—कर्तृत्वं च बुद्धिधर्म’ इति अस्मात् हेतोः, अचेतनं लिङ्गम्=संसारस्य बीजं बुद्धितत्त्वम्, तत्संयोगात्=तस्य आत्मनः प्रतिबिम्बद्वारा सन्निधानात्, चेतनावदिव=चेतना इव भवति । तथा=एवम्, गुणकर्तृत्वेऽपि=गुणानां त्रिगुणमय्या बुद्धेः कृतिमत्त्वेऽपि, तत्संयोगात्=तस्या=बुद्धेः प्रतिबिम्बद्वारा सम्बन्धात्, उदासीनः=कर्तृत्वादिरहितः अपि आत्मा, कर्ता इव=कृतिमानिव, भवतीति ॥ तस्मात् द्वयोर्भ्रान्तिरित्यर्थः ॥ ‘प्रतिविषयाध्यवसायत्वम्’—इति यत् मूलोक्तं प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम्—तद्वद्वक्तव्यपदानां कृत्यमाह—अत्राऽध्यवसायेति । अत्रेदं बोध्यम्—पूर्वं (४) कारिकाव्याख्यायां असन्दिग्धाऽविषयपरिताऽनधिगतविषया चित्तवृत्तिः..... एतेन संशयविषयस्मृतिसाधनेषु अप्रसंगः इति—पदकृत्यं तु—चित्तवृत्तिः प्रमा इन्द्रियाणि च प्रमाणम्’ इत्यभिप्रायेण दर्शितम् । इदानीं तु पौर्ण्येयबोधः प्रमा चित्तवृत्तिः प्रमाणमित्यभिप्रायेण ‘प्रतिविषयाध्यवसाय’ इति प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणस्य पदकृत्यं वक्तुं ॥ अत्र=‘प्रतिविषयाध्यवसायत्व’—मिति लक्षणे । अध्यवसायग्रहणेन=‘अध्यवसाय’पदोपादानेन । संशयम्=एकधर्मिकविरुद्धभावाऽभावप्रकारकं अनवधारणात्मकं ज्ञानम्=‘स्थाणुर्वा पुरुषो वेति’ यत् तत् । व्यवच्छिन्नन्ति=व्यावर्तयति ॥ तथाहि—अध्यवसाय’ पदानुपादाने—‘प्रतिविषयज्ञानत्व’मिति प्रमाणलक्षणस्य उच्चैस्तरयत्किञ्चिद्विषयसन्निहृष्टेन्द्रियजन्यसंशयात्मकज्ञाने अप्रमाणभूते सत्त्वात् तत्राऽतिव्याप्तिः, ‘अध्यवसाय’पदोपादाने तु—अध्यवसायः निश्चयः—तथा च ‘प्रतिविषयाध्यवसायत्व’स्य संशयात्मकवृत्तावभावात् नाऽतिव्याप्तिरिति ॥ संशयस्वरूपं दर्शयति—संशयस्याऽनवस्थितेति । संशयस्य=एकधर्मिकविरुद्धभावाऽभावप्रकारकज्ञानस्य ‘स्थाणुर्न वा’ ‘पुरुषो न वे’त्यादिज्ञानात्मकस्य, अनवस्थितग्रहणेन=अवस्थिताः एकत्र स्थिताः अविरुद्धाः धर्माः, अनवस्थिताः=एकत्र अस्थिताः विरुद्धाः धर्माः स्थाणुत्व-स्थाणुत्वाभाव-पुरुषत्व-पुरुषत्वाऽभावरूपाः, तेषां ग्रहणेन=ग्रहणं ज्ञानं तेन=तादृशविरुद्धधर्मविषयकज्ञानात्मकतयेत्यर्थः । अनिश्चितरूपत्वात्=निश्चयः=संशयभिन्नज्ञानम्=‘अयं स्थाणु’रिति ज्ञानम्, तद्विज्ञोऽनिश्चयः=‘स्थाणुर्न वेति’, तादृशानिश्चयविषयो यो धर्मो पदार्थः सः ‘अनिश्चितः’ इत्युच्यते, तादृशः अनिश्चितधर्मो एव रूपं=निरूपको=विषयः=विशेष्यताख्यविषयतानिरूपितविषयितासम्बन्धेन विशेषणं,—यस्य सः तस्मात्=अनिश्चितविषयकत्वादिति यावत् । अनवधारणात्मकत्वादिति तु फलितार्थः । अत्र अनवस्थितग्रहणेनेत्यनेन व्याप्यसंशयो दर्शितः, ततश्च जायमानः—‘अनिश्चितरूपत्वादित्यनेन व्यापकसंशयोऽपि दर्शितः, ‘यत्र स्वरूपसंसर्गेण स्थाणुत्वं तत्र तदात्म्येन स्थाणु’रिति व्याप्यव्यापकभावादिति—सूक्ष्ममीक्षणायम् ॥ लक्षणे ‘निश्चय’-पदभावे कथम् अनिश्चयात्मकसंशयस्य वारणम् ? इत्यत्राऽऽह—निश्चयोऽध्यवसाय इति । अनर्थान्तरम्=अनर्थः अर्थान्तरम्, तत्र भवतीति अनर्थान्तरम्=एकार्थकमिति भावः ॥ ‘विषय’पदव्यावृत्तिमाह—विषयग्रहणेनेति । असद्विषयं=न विद्यते सन् विषयो यस्य तादृशं

विपर्ययमपाकरोति । प्रतिग्रहणेन चेन्द्रियार्थसन्निकर्षसूचनादनुमानस्मृत्यादयश्च पराकृता भवन्ति । तदेवं समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात् “प्रतिविषयाध्यवसायः” इति दृष्टस्य सम्पूर्णं लक्षणम् । तन्त्रान्तरेषु लक्षणान्तराणि तैथिकानां न दूषितानि, विस्तरभयादिति । ‘नाऽनुमानं प्रमाणम्’ इति वदता लोकायतिकेनाऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुषः कथं प्रतिपद्येत ? न च पुरुषान्तरगता अज्ञा-

मिथ्याज्ञानात्मकं, विपर्ययम्=विपर्ययात्मिकां वृत्तिम्, अपाकरोति=व्यावर्तयति, तथाहि-‘विषय’-पदानुपादाने ‘प्रति-वर्तते-अध्यवसाय’ इत्यवशिष्यते, तदर्थः-‘इन्द्रियजन्यनिश्चयत्वम्’-एतादृशप्रत्यक्षलक्षणस्य शुक्तौ-निश्चयरूपं यत् रजतत्वप्रकारकं ज्ञानं ‘इदंरजतम्’-इत्याकारकमसद्रजत-विषयकं तत्राऽतिव्याप्तिः, ‘विषय’पदोपादाने तु-‘सद्विषयसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यनिश्चयत्वस्य’ लक्षणत्वात् रजतस्य चाऽसद्विषयत्वात्-तादृशाऽसद्रजतविषयके ‘इदं रजत’मिति ज्ञाने ‘सद्विषयसन्निकृष्टेन्द्रिय-जन्यनिश्चयत्व’स्याऽभावात्तातिव्याप्तिरिति ॥ ‘प्रति’पदस्य कृत्यमाह-प्रतिग्रहणेनेति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूचनात्=‘प्रति’-इत्यनेन-इन्द्रियेण सहार्थस्य सन्निकर्षः सूचितस्तस्मात्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षं विनाऽपि जायमाना अनुमानस्मृत्यादयो=निश्चयाः, निराकृताः=व्यावर्तिताः, भवन्तीति । तथाहि-‘प्रति’पदानुपादाने-‘विषयाध्यवसायत्वस्य’ लक्षणस्य परार्थानुमानस्थले इन्द्रियाऽसन्निकृष्टवह्निविषयकाऽनुमाने=व्याप्यव्यापकभाव-पक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञाने स्मृतौ च वह्निविषयकनिश्चयत्वस्य सत्त्वादतिव्याप्तिः, ‘प्रति’पदोपादाने तु-वह्निःसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यनिश्चयत्वाऽभावात् अनुमानादौ नातिव्याप्तिरिति भावः ॥ उपसंहरति-तदेवमिति । यस्माद् लक्षणान्तर्गतविरोध-णपदैः अलक्ष्यनिरासस्तत्मादित्यर्थः । तत्र प्रत्यक्षत्वेन समानजातीयाः संशयादयः, अनुमानत्वादिना असमानजातीयाश्च अनुमानस्मृत्यादयः, तेषां व्यवच्छेदकत्वात्=व्यावर्तकत्वात्, ‘प्रतिविषयाध्यवसायत्वम्’-इति दृष्टस्य=प्रत्यक्षप्रमाणस्य सम्पूर्णम्=अव्याप्यतिव्याप्यसंभवदोषरहितम्, लक्षणमित्यर्थः । अव्याप्तिः लक्ष्यैकदेशाऽवृत्तित्वम् । अतिव्याप्तिः-अलक्ष्येऽपि वृत्तिवत् । असंभवः-लक्ष्यमात्रेऽवृत्तित्वमिति । अव्याप्तं तु लक्षणम्-लक्ष्ये-इतरभेदानुमाने हेतुविधया प्रयुज्यमानं सत् भागाऽसिद्धं भवति, अतिव्याप्तं लक्षणं व्यभिचारि भवति, असंभवितं लक्षणं तु स्वस्वभावाऽसिद्धं भवतीति तु ग्रन्थान्तरादवलोकनीयम् ॥ ननु शास्त्रान्तरे-सौगतदिङ्नागाभिहितं-‘प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्त’मिति लक्षणम्, जैमिनिना (सूत्र ४) ‘सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्’ इति लक्षणम्, न्यायसूत्रकारेण गौतमेन-(सूत्र ४) ‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्ष’मिति लक्षणं कृतमिति तानि कथं न गृह्यतानि ? इत्यत आह-तन्त्रान्तरे इति । सांख्यभिन्नशास्त्रेषु तैथिकानाम्=‘तैथी’ स्याद् दर्शने ‘व्यपी’त्युक्तेः तैथी वेत्तारो अध्येतारो वा तैथिकाः दार्शनिकास्तेषाम्, लक्षणान्तराणि=प्रत्यक्षलक्षणानि दुष्टानि अपि, एतद्वशाख्याविस्तरभयाद् न दूषितानीत्यर्थः ॥ अनुमाननिर्वचनपरं कारिकांशं व्याख्यातुकामस्तावदनुमानाप्रामाण्यवादिनं चार्वाकं शिक्षयति-नानुमानं प्रमाणमिति । वदता=कथयता, लोकायतिकेन=लोके आयतं-विस्तीर्णं प्रसिद्धं प्रत्यक्षप्रमाणं यत् तल्लोकायतं, प्रत्यक्षप्रमाणमात्रप्रतिपादकं चार्वाकतन्त्रमपि लोकथतम्, तद् अभीते तद् वेद यः स लोकायतिकस्तेन=प्रत्यक्षातिरिक्तं न प्रमाणमिति वदता चार्वाकेणेत्यर्थः । अप्रतिपन्नः=अज्ञान-युक्तः, सन्दिग्धः=संशययुक्तः, विपर्यस्तः=मिथ्याज्ञानयुक्तः, पुरुषः कथं प्रतिपद्येत=प्रत्यक्षेण ज्ञायेत, न ज्ञायेतेत्यर्थः । ‘न ज्ञायेत-इत्येतत् व्युत्पादयति- न चेति । न च’-प्रतिपत्तुं शक्या इत्यन्वयः । पुरुषान्तरगताः=स्वभिन्नपुरुषवर्तिनः, अज्ञानं सन्देहो विपर्ययश्चेत्येते, अर्वागृहा=नास्त्वस्थलपदार्थविषयक-



नसन्देहविपर्ययाः शक्या अर्वागृहा प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुम्, नाऽपि प्रमाणान्तरेण, अनभ्युपगमात् । अनवधृताज्ञानसंशयविपर्ययस्तु यं कञ्चन पुरुषं प्रति प्रवर्तमानोऽनवधेयवचनतया प्रेक्षावद्भिन्नस्मत्तत्त्वदुपेक्ष्येत । तदनेनाऽज्ञानादयः परपुरुषवर्तिनोऽभिप्रायभेदाद्भचनभेदाद्वा लिङ्गादनुमातव्याः, इत्यकामेनाऽभ्युपमानं प्रमाणमभ्युपेयम् । तत्र प्रत्यक्षकार्यत्वादनुमानं प्रत्यक्षानन्तरं लक्षणीयम् । तत्राऽपि सामान्यलक्षणपूर्वकत्वाद्विशेषलक्षणस्येत्यनुमानसामान्यं तावलक्षयति-“तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्” इति ।

ज्ञानवता अयोगिना चार्वाकेण न प्रतिपत्तुं=ज्ञातुम् शक्याः भवन्ति । परात्मवर्त्यान्तरधर्माणाम् चक्षुरादिना सन्निकर्षाऽसंभवादिति भावः ॥ ननु परपुरुषवचनात् तदज्ञानादयः प्रतिपत्तुं शक्याः ? इत्यत आह- नाऽपि प्रमाणान्तरेणेति । शब्देन अनुमानादिनाऽपि न ज्ञातुं शक्या इत्यर्थः ॥ ज्ञातुम् अशक्यत्वे हेतुमाह-अनभ्युपगमादिति । चार्वाकेण प्रत्यक्षातिरिक्तस्य शब्दस्यानुमानादेर्वाऽनङ्गोकारादित्यर्थः ॥ परपुरुषवर्तिनोऽज्ञानादीन् अशालैव परपुरुषबोधनाय वचनं प्रयुज्जानस्तु उन्मत्त इव उपहसनीयः स्यादिति दर्शयति-अनवधृतेति । अनवधृताः=अपरिज्ञाताः परपुरुषवर्तिनोऽज्ञानसंशयविपर्यया येन सः एतादृशः एव सन्नपि चार्वाकः, यं कंचन पुरुषं प्रति प्रवर्तमानः=वाक्यप्रयोगं कुर्वाणस्तु, अनवधेयवचनतया=अनवधेयं अग्राह्यं वचनं वाक्यं यस्य स तस्य भावस्तथा=अग्राह्य-वाक्यतया, प्रेक्षावद्भिः उन्मत्त इव उपेक्ष्येत=परित्यज्येत । तदनेन=तत्=तस्माद्-यतो न प्रत्यक्ष-ग्राह्या पराज्ञानादयः इति हेतोः अनेन=चार्वाकेण परपुरुषवर्तिनः अज्ञानसंशयविपर्ययाः, अभिप्राय-भेदात्=वक्तृतात्पर्यविशेषात्, वचनभेदात्=वाक्यविशेषाच्च लिङ्गात्=लिङ्गेन हेतुना, अनुमातव्या इति । वाक्यविशेषेण तात्पर्यविशेषमनुमाय अज्ञानादयोऽनुमातव्या इत्यर्थः । अनुमानम्-‘अयं वक्ता-इदृशाऽभिप्रायवान्, एतादृशवचनप्रयोक्तृत्वात्, -संप्रतिपन्नवदित्यनेन अभिप्रायविशेषमनुमाय-ततः-‘अयं वक्ता-एतद्विषयकाऽज्ञानादिमान्, एतादृशाऽभिप्रायवत्त्वात्, -इत्येवम् अज्ञानादिक-मनुमातव्यम्, तथा च अकामेनाऽपि=अनुमानादिकमनिच्छताऽपि, अनुमानं प्रमाणतयाऽभ्युपेयमिति । अथवा-अभिप्रायभेदः=अज्ञानादिविशेषः, तस्माज्ज्ञातो यो वचनभेदस्तस्माद्विज्ञादित्यर्थः । तथा च-‘एतद्वचनम्-एतदीयाऽज्ञानप्रयुक्तम्, -असम्बद्धवचनत्वात्, -मदीयाऽसम्बद्धवचनवत् । ‘एतद्वचनम्-एतदीयसंशय प्रयुक्तम्-अनिश्चितवचनत्वात्, -मदीयाऽनिश्चितवचनवत् । ‘एतद्वचनम्-एतदीयविपर्ययप्रयुक्तम्-भ्रान्तवचनत्वात्, -मदीयभ्रान्तवचनवत्’-इत्येवं अज्ञानादिकमनुमेयमिति ॥ एवमनुमानप्रामाण्यं व्यवस्थाप्य तस्य प्रत्यक्षाऽनन्तरनिरूपणीयत्वे हेतुं दर्शयति-तत्र प्रत्यक्ष-कार्यत्वादिति । तत्र=तस्मिन्=समुत्क्रिततयाऽनुमानस्याऽवश्यऽभ्युपेयत्वे सति, तत्र=तयोः अनुमानशब्दयोर्मध्ये वा-इत्यर्थः । प्रत्यक्षकार्यत्वात्=प्रत्यक्षोपजीवकत्वात्, प्रत्यक्षकार्यमेवानुमानं भवर्तात्यतः प्रत्यक्षकार्यत्वसंगत्याऽनुमाननिरूपणं कर्तव्यमिति भावः । तत्रापीति । तत्रापि-तरिमन् सत्यपि=लक्षणद्वारा अनुमाने निरूपणीये सत्यपीत्यर्थः । विशेषलक्षणस्य=विशेषलक्षणज्ञानस्य, सामान्यलक्षणपूर्वकत्वात्=सामान्यलक्षणज्ञानपूर्वकत्वात्, तावत्=आदौ, अनुमानसामान्यं लक्षयति=अनुमानस्य सामान्यं लक्षणं करोति-लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति । तद्विद्युतेति-लिङ्गमिति । लिङ्गयते गम्यते ज्ञायतेऽप्रत्यक्षोऽर्थोऽनेनेति-लिङ्गम्-हेतुः । असल्लिङ्गपरिहाराय’ल्लिङ्गस्य पर्यायमाह-व्याप्यमिति साध्यनिरूपिताव्याप्तिमदित्यर्थः । व्याप्तिः=आनौपाधिकसम्बन्धो व्याप्तिरिति जरन्तस्तार्किकाः, स्व-भावप्रतिबन्धो व्याप्तिरिति बौद्धाः वस्तुतस्तु ‘साध्याऽभाववदवृत्तित्वे सति साध्यसामानाधिकर-ण्यरूपा-इति फलितार्थः’ यथा ‘पर्वतो-वह्निमान्, धूमादित्यत्र साध्यं वह्निः, साध्याभाववान्=

लिङ्गम्-व्याप्यम् । लिङ्गि-व्यापकम् । शङ्कितसमारोपितोपाधिनिराकरणेन च वस्तु-

बह्व्यभाववान् जलहृदादिः, तत्र जलहृदादौ वृत्तिता मीनादेः वृत्तित्वाभावो धूमे-इति स च धूमः पर्वते बह्व्यात्मक-साध्य-समानाधिकरणी भवति इति बहिः-निरूपितव्याप्तिमान् भवति अतः स व्याप्यः । लिङ्गीति=लिङ्ग-व्याप्यो हेतुः साधकत्वेन यस्य अस्ति तत् लिङ्गि=साध्यम् । बाधित-साध्यवारणाय 'लिङ्गि'शब्दार्थमाह-व्यापकमिति । हेतुव्यापकत्वं=हेत्वधिकरणवृत्त्यभावाऽप्रतियोगित्वम्, यथा 'पर्वतो-बहिमान्, -धूमादित्यत्र हेतुर्धूमः धूमाधिकरणं पर्वतः तत्र वृत्तियोंभावः घटाऽभावः न तु बह्व्यभावः तादृशघटाभावस्य प्रतियोगी घटः अप्रतियोगी च बहिः सः धूमव्यापकः इति ॥ परिष्कृत्य 'व्याप्यं' निर्वृत्ति-शङ्कितेति । अत्र 'शङ्कितसमारोपितोपाधिनिराकरणेने'ति पदेन व्याप्तौ अनौपाधिकत्वं दर्शितम् 'वस्तुत्वभावप्रतिबद्ध'मित्यनेन व्याप्तौ स्वाभाविकसम्बन्धत्वं दर्शितम् । शङ्कितः=शंकाविपर्योक्तः सन्दिग्ध इति यावत्, समारोपितः=सम्यक्-वास्तविकतया आ-समन्तात् रोपितः-स्थापितः,=वास्तविकतया निश्चितः-इति यावत्, इत्येवं यः सन्दिग्धः निश्चितश्चेति द्विविधः उपाधिः हेतुदोषः तस्य निराकरणेन-निरासेन-असत्त्वेनेति यावत्, 'सन्दिग्धोपाधिरहितत्वेन निश्चितोपाधिरहितत्वेन चे'तिसमस्तपदस्य फलितार्थः । सन्दिग्धोपाधिरहितत्वात् निश्चितोपाधिरहितत्वाच्च 'पर्वतो बहिमान् धूमादित्यत्र धूमहेतुः सङ्केतः=व्याप्यो भवति । यत्र हेतौ सन्दिग्धोपाधिः निश्चितोपाधिर्वा वर्तते स हेतुः उपाधिदोषविशिष्टत्वात् व्यभिचारी-असङ्केत-रित्युच्यते, स न साध्यस्य साधको भवति । व्यभिचार-विरोध-सम्यक्पक्षा-ऽसिद्धि-बाधेतिपक्षानाहेतुदोषाणां मध्ये-असिद्धिदोषस्त्रिविधः-स्वरूपाऽसिद्धिः व्याप्यत्वाऽसिद्धिः आश्रयाऽसिद्धिश्चेति । तत्र व्याप्यत्वाऽसिद्धिरेव-उपधिमत्त्वं-दोषः, उपाधिमत्त्वं च-उपाधिरेव, अत उपाधिरेव व्याप्यत्वा-ऽसिद्धिदोषः, अयमुपाधिः-सन्दिग्धः निश्चितश्चेति द्विविधो भवति, द्विविधस्याप्युपाधेः 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्व'मिति साधारणं लक्षणम्, यत्र उपाधौ साध्यव्यापकत्वस्य साधनाऽव्यापकत्वस्य वा सन्देहः सः सन्दिग्धोपाधिः । उपाधौ साध्यव्यापकत्वसन्देहोऽपि तत्र भवति, यत्र उपाधिः साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापको भवति, यथा-'सः-इयामः,-मित्रातनयत्वादि'त्यत्र 'शाकपाकजत्व'मुपाधिः, इयामत्वस्य इयामघटेऽपि सत्त्वात् न केवलसाध्यव्यापकत्वम्, अपि तु 'मित्रातनयत्वविशिष्टइयामत्वव्यापकत्वम्',-यत्र मित्रातनयत्वविशिष्टइयामत्वं तत्र पुत्रे शाकपाकजत्वमिति-साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वम्, यत्र च अष्टमे शुक्ले पुत्रे मित्रातनयत्वं वर्तते तत्र न शाकपाकजन्यत्वमिति साधनाऽव्यापकत्वम्, तथा च साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वात् 'शाकपाकजत्वम्' उपाधिर्भवति, तत्र कश्चित्-केवलसाध्यं 'इयामत्वं' नीलघटे दृष्ट्वा संशयप्रयोजकं विपत्तिपत्तिवाक्यं प्रयुङ्क्ते-'शाकपाकजत्वं इयामत्वव्यापकं न वा ? इति । तादृशविप्रतिपत्तिवाक्यात्-'इयामत्वव्यापकत्व-इयामत्वव्यापकत्वाभावो'ति त्रिरौधिकोद्विगोपस्थितौ सत्यां तादृशविरोधिकोद्विग्यज्ञानं संशयकारणं जायते, तेन ज्ञानेन 'शाकपाकजत्वं इयामत्वव्यापकत्वात् न वे'ति संशयो भवति, साध्यव्यापकत्वप्रकारकसंशयाच्च-'उपाधेः फलं यत्-'मित्रातनयत्वं-साध्यव्यभिचारि, साध्यव्यापकोपाधिः व्यभिचारित्वा'दिति यद् अनुमानं, तत्र 'मित्रातनयत्वं-साध्यव्यभिचारि न वे'तिसंशयो जायते, इत्येवं सन्दिग्धोपाधिः मित्रातनयत्वादिहेतौ व्यभिचारसंशयकत्वेन सन्दिग्धोपाधिदोष इत्युच्यते, स च स्वव्यभिचारित्वसम्बन्धेन मित्रातनयत्वे हेतौ वर्तते, स च हेतुः साध्यव्यभिचारी भवति, अतो न सङ्केतः सः । यत्र च हेतौ उपाधिदोषो नास्ति स हेतुः सङ्केतः-व्याप्य इति भावः । समारोपितो (निश्चितो) पाधिस्थलं यथा--'पर्वतो-धूमवान्, बह्वे'त्यत्र



स्वभावप्रतिबद्धं व्याप्यम्, येन प्रतिबद्धं तद्व्यापकम् । लिङ्गलिङ्गिग्रहणेन विषयवाचिना विषयिणं प्रत्ययमुपलक्षयति । 'धूमादिव्याप्यो वह्न्यादिव्यापकः' इति यः प्रत्ययस्तत्पूर्वकम् । लिङ्गिग्रहणं चाऽऽवर्तनीयम् । तेन च लिङ्गमस्याऽस्तीति पक्षधर्मताज्ञानमपि दर्शितं भवति । तत् 'व्याप्यव्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानम्' इत्यनुमानसामान्यं लक्षितम् । अनुमानविशेषान् तन्त्रान्तरलक्षितान् अभि-

आर्द्रेन्धनसंयोगः' उपाधिः, यत्र यत्र धूमस्तत्र काष्ठादौ आर्द्रेन्धनसंयोग' इति-साध्यव्यापकत्वम् आर्द्रेन्धनसंयोगे, 'यत्र वह्निस्तत्र अयोगोलके न आर्द्रेन्धनसंयोग' इति साधनाऽव्यापकत्वम् आर्द्रेन्धनसंयोगे, इत्येवं निश्चयेन धूमस्य व्यापकः वह्नेरव्यापकश्च आर्द्रेन्धनसंयोगः 'निश्चितोपाधि'रित्युच्यते, अयं हेतो न्यभिचारनिश्चयाऽऽधायको भवति- तथाहि-वह्निः-धूमव्यभिचारो, धूमव्यापकाऽऽर्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वादि'ति । एतादृशनिश्चितोपाधिदोषशून्यो हेतुः सद्धेतुरिति भावः । विस्तरस्तु न्यायशास्त्रादवगन्तव्यः । एतावता अनौपाधिकत्वं व्याप्तौ दर्शितमिति बोध्यम् ॥ स्वभाविकसम्बन्धत्वं दर्शयति-वस्तुस्वभावप्रतिबद्धमिति । वस्तुनः धूमादेर्यः स्वभावः=वह्न्यादिना सह अविनाभावत्वरूपो नियमः, तेन प्रतिबद्धम्=आक्रान्तं विशिष्टमित्यर्थः । अथवा 'वस्तु-स्वभावप्रतिबद्धमितिपदद्वयम्, तथा च-शंकितसमसरोपितोपाधिशून्यत्वात् स्वभावप्रतिबद्धं यद् वस्तु तद्व्याप्यमित्यर्थः, यच्च वस्तु येन वस्तुना सह प्रतिबद्धं भवति 'यत्'पदग्राह्यं तद्वस्तु व्यापकं भवतीति, समुदितार्थोऽनुसन्धेयः । अन्ये तु-वस्तुना=वह्निना सह यः स्वभावः=अविनाभावात्मकः, प्रतिबन्धः=नियमः, तदाश्रयः तद्विशिष्टं व्याप्यमिति-व्याख्यान्ति ॥ तथा च "स्वभाविकसम्बन्धो व्याप्तिः न त्वौपाधिक" इति फलितार्थो बोध्यः ॥ व्याप्यं निरुच्य व्यापकं लक्षयति-येन चेति । येन च=येन वह्न्यादिना सह, प्रतिबद्धं=अविनाभूतसंसर्गवत् भवति धूमादिकम्, तत्=वह्निः, व्यापकम्=व्यापकइत्यर्थः ॥ लिङ्गलिङ्गिनोरनुमित्यहेतुत्वात्, लिङ्गलिङ्गिपदेन अनुमितिहेतुः 'लिङ्गलिङ्गिज्ञानं' ग्राह्यमिति दर्शयति-लिङ्गलिङ्गिग्रहणेन चेति । विषयवाचिना=विषयः हेतुः साध्यं च, तदोपकेन । लिङ्गलिङ्गिग्रहणेन=गृह्यते ज्ञायतेऽनेनेति ग्रहणं शब्दः, 'लिङ्गलिङ्गि'शब्देनेत्यर्थः । विषयिणम्=लिङ्गलिङ्गिविषयकम्, प्रत्ययम्=ज्ञानम्, उपलक्षयति=उपलक्षणविधया बोधयतीत्यर्थः ॥ एवं च सति यत् फलितं तदाह-धूमादिव्याप्य इति । धूमादिव्याप्यः वह्न्यादिश्च व्यापकः-इति यः प्रत्ययः=धूमवह्नयोर्व्याप्यव्यापकभाव(व्याप्ति)ज्ञानमित्यर्थः । तत्पूर्वकम्=तादृशव्याप्यव्यापकभाव(व्याप्ति) ज्ञानकारणकमित्यर्थः ॥ ननु-हेतोः पक्षवृत्तित्वज्ञानमप्यनुमितिहेतुः, तत्कथं नोक्तमि?त्याशंकायां तत्संग्रहोपायमाह-लिङ्गिग्रहणं चेति । आवर्तनीयम्=द्विवारम् उपादेयम्, तथा च 'लिङ्गलिङ्गिलिङ्गिज्ञानपूर्वकत्व'मिति लब्धमिति भावः ॥ आबृत्त'लिङ्गि'पदार्थमाह-लिङ्गमस्याऽस्तीति । लिङ्गं=हेतुः अस्ति धर्मःअस्य=पक्षस्य, पृष्ठर्थो निरूपितत्वम्, तथा च पक्षनिरूपतधर्मता इत्यर्थः फलितः । अत्रापिज्ञानमुपलक्षणीयम् । एतदेवाह-पक्षधर्मताज्ञानमपीति ॥ निर्गलितार्थमाह-तद् व्याप्येति । तत्=तस्माद्धेतोः । व्याप्यव्यापकभावज्ञानपुरःसरं यत् व्याप्यस्य पक्षवृत्तिज्ञानम् तत्पूर्वकं=तत्कारणकं यज् ज्ञानं=चित्तवृत्तिः, तद् अनुमानमिति अनुमानसामान्यं लक्षितमित्यर्थः । वस्तुतस्तु-व्याप्तिज्ञानसहितपक्षज्ञानजन्यज्ञानत्वम्-अनुमानत्व'मिति बोध्यम्-इदं च परामर्शालिका चित्तवृत्तिरिति भावः ॥ 'त्रिविधमनुमानमाख्यातमि'ति कारिकांशवताराय अवतरणिकामाह-अनुमानविशेषानिति । तन्त्रान्तरे=न्यायदर्शने, लक्षितान्=अथ तत्पूर्वकं ( प्रत्यक्षपूर्वकम् ) त्रिविधमनु-

मतान् स्मारयति—“त्रिविधमनुमानमाख्यातम्” इति । तत् सामान्यतो लक्षितमनुमानं विशेषतस्त्रिविधं, पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टञ्चेति । तत् प्रकारान्तरेण तावत् द्विविधम्—वीतमवीतं च । अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम्, व्यति-

मानं ‘पूर्ववत्’ ‘शेषवत्’ ‘सामान्यतोदृष्टं’ चेति सूत्रेण दर्शितान् अनुमानभेदान् स्मारयति—स्मृतिविषयतां नयति ॥ कारिकार्थं ‘तत्’पदार्थं दर्शयति—सामान्यतो लक्षितमप्यनुमानमिति । लिङ्गलिङ्गिलिङ्गिज्ञानजन्यज्ञानत्वमिति सामान्यलक्षणलक्षितमपि, विशेषतः—अवान्तरभेदतः, अनुमानं त्रिविधं भवति ॥ तद्भेदानाह—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टमिति । पूर्ववत्=पूर्वकारणं, तद्वत्=कारणलिङ्गकमित्यर्थः, कारणेन कार्यानुमानमिति फलितार्थः, यथा—‘गगनम्=भविष्यत्कालीनवृष्टिमत्,—गम्भीरध्वान-बलाकादिमन्मेषवत्त्वादिति’ अत्र कारणेन मेघेन कार्यस्य वृष्टेरनुमानम् । शेषवत्=शेषः कार्यम्=तद्वत्=कार्यलिङ्गकमित्यर्थः, कार्येण कारणानुमानमिति फलितार्थः, यथा—उपरिदेशसम्बन्धिनी नदी,—वृष्टिपाती,—वेगवन्मलिन—कचरादिवहनशोल—प्रवाहत्वादि’ति अत्र कार्येण—प्रवाहेण कारणस्य वृष्टेरनुमानम् । सामान्यतोदृष्टम्=सामान्यतः=सामान्यात=कार्यकारणभिन्नात् कस्माच्चिदपि लिङ्गात्, दृष्टम्=अन्यत्र कापि दृष्टं वस्तु, अन्यत्र कुत्रचित् अनुमीयते—यथा—न्यायमतेन—‘घटः—द्रव्यत्ववान्,—पृथिवीत्वात्, पटवदि’ति, अत्र द्रव्यत्व—पृथिवीत्वजात्योर्नित्यत्वात् पृथिवीत्वं न द्रव्यत्वस्य कार्यं न वा कारणम्, इति कार्यकारणभिन्नात् व्याप्यात् पृथिवीत्वात्मकलिङ्गात्—अन्यत्र=पटादौ कचित् सहचरिततया दृष्टं—द्रव्यत्वात्मकं व्यापकं वस्तु—अन्यत्र कुत्रचित्=घटादौ अनुमीयते इति ॥ अथवा—पूर्ववत्=पूर्व=अन्वयव्याप्तिः तद्वत्,—अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वय्यनुमानमित्यर्थः, यथा—‘घटः—अभिधेयः,—प्रमेयत्वात्,—पटवदि’ति, अभिधेयत्वम्—अभिधा—ईश्वरेच्छा=शक्तिः,—तादृषयत्वम्=ईश्वरेच्छाविषयत्वमिति यावत्, प्रमेयत्वम्=ईश्वरज्ञानविषयत्वम् तादृशाभिधेयत्वप्रमेयत्वयोः—‘यत्र अभिधेयत्वं नास्ति तत्र प्रमेयत्वं नास्ती’त्यतिरेकव्याप्तिर्न विद्यते, सर्वपदार्थाज्जातस्य ईश्वरीयाऽभिधेयत्वात् ईश्वरीयप्रमेयत्वाच्चेति । शेषवत्=शेषः=व्यतिरेकव्याप्तिः, तद्वत्,—व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेक्यनुमानमित्यर्थः,—यथा—‘आत्मा—अपरिणामी,—निर्धर्मकत्वात्’ यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति यथा प्रकृतिरिति ( साध्याभाव—व्यापकोभूताऽभाव—प्रतियोगित्वान्मक ) व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकमिदमनुमानम् । सामान्यतोदृष्टम्=अन्वयव्यतिरेकोभयव्याप्तिमदनुमानम् यथा—‘पर्वतो—बहिमान्—धूमादि’ति, अत्र ‘यत्र धूमस्तत्र बह्निर्था महा-समिति—अन्वयव्याप्तिर्विद्यते, एवं—यत्र बह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति’ यथा जलहृद’ इति व्यतिरेकव्याप्तिः, तादृशोभयव्याप्तिकलिङ्गकानुमानमिति ॥ अतिप्राचीनपरिभाषया संक्षेपतोऽनुमानस्य द्वैविध्यं दर्शयति—तत् प्रकारान्तरेणेति । तत्=अनुमानम्, प्रकारान्तरेण=संक्षेपतः, तावदिति—वाक्यालंकारे, द्विविधम्=द्विप्रकारकम्, वीतम्=वीताख्यम्, वि—विशेषेण इतः=ज्ञातं—प्रसिद्धम्=अन्वयव्याप्तिहेतुकमितियावत् । अवीतम्=अवीताख्यं=अन्वयव्याप्तिहेतुकमिदं व्यतिरेकव्याप्तिहेतुकमिति यावत् । वीतं व्युत्पादयति—अन्वयमुखेनेति । अन्वयः=तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमिति योऽन्वयसहचारः’ सः मुखं=कारणं यस्य ( अन्वयव्याप्त्यात्मकनियमस्य ), तेन=अन्वयसहचारजन्यान्यव्याप्या (साध्यसामानाधिकरण्य-रूपया) इत्यर्थः, तादृशव्याप्तिज्ञानेनेति यावत्, प्रवर्तमानं=व्यापार्यमाणजायमानमिति यावत्, विधायकम्=विधेयस्य साध्यस्य साधकं तत्—‘वीत’वदवाच्यमित्यर्थः ॥ अत्र ‘वीताख्ये ‘पूर्ववत्’ ‘सामान्यतोदृष्टस्य’ चाऽन्तर्भावः, तत्र यदि ‘वीत’—‘पूर्ववत्,—तदा ‘अन्वयमुखेने’त्यस्य—अन्वयमात्रव्याप्तिहेतुत्वार्थः । यदि च ‘वीत’—सामान्यतोदृष्टम्,—तदा ‘अन्वयमुखेने’त्यस्य—अन्व-



रेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम् । तत्राऽवीतं शेषवत् । शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः, स एव विषयतया यस्याऽस्त्यनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत् । यदाहुः—“प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राऽप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः” इति (न्यायभा-

यव्यतिरेकव्याप्तिकेनेत्यर्थो बोध्यः ॥ अवीतं व्युत्पादयति—व्यतिरेकमुखेनेति । व्यतिरेकः—‘तदभावो तदभाव’ इति यो व्यतिरेकसहचारः, स एव मुख्यं=कारणं यस्य (व्यतिरेकव्याप्त्यात्मकनियमस्य) तेन=व्यतिरेकसहचारमात्रजन्यव्यतिरेकव्याप्त्या (साध्याभावव्यापकौभूताऽभावप्रतियोगिहेतुत्वरूपया), तादृशव्याप्तिज्ञानेनेति यावत्, प्रवर्तमानम्=व्यापार्यमाणं=जायमानम्—निषेधकम्=आत्मा—अपरिणामी,—निर्धर्मकत्वादि‘त्यत्र यत्र साध्याभावः परिणामित्वं तत्र हेत्वभावः सधर्मकत्वमित्यत्र सधर्मकत्वात्मकव्यापकस्य आत्मनि निवृत्त्या सधर्मकत्वव्याप्यं यत् परिणामित्वं तस्य निषेधकं=निवर्तकं अनुमानम् अवीतमित्यर्थः । अत्र ‘अवीताख्ये’ ‘शेषवतः’ अन्तर्भावः—द्वयोर्व्यतिरेकमात्रव्याप्तिज्ञानजन्यज्ञानत्वात् । अनेनैवाऽभिप्रायेण—प्रथमं ‘अवीते’—‘शेषवद’नुमानमन्तर्भावयति—तत्राऽवीतं शेषवदिति । तत्र=वीताऽवीतयोर्मध्ये । यद्यपि ‘वीतमवीतं चे’तिक्रमानुरोधेन ‘वीत’स्यैव प्रथमं निरूपणं योग्यम्, तथापि स्वल्पाऽऽयाससाध्यं—‘सूचीकटाह’न्यायेन (स्वल्पायाससाध्यं‘सूची’निर्माणाऽनन्तरम् अधिकाऽऽयाससाध्यं‘कटाह’निर्माणवत्) प्रथमं ‘अवीते’ ‘शेषवद’नुमानमन्तर्भावव्यतिरूपितमिति बोध्यम् ॥ ‘शेषवदि’त्यस्य व्युत्पत्तिमाह—शिष्यते इति । परिशिष्यते=साहाय्यकानुमानानां निषेधविषयो यो न भवति सः पदार्थः ‘शेष’—पदग्राह्यः’ विषयतासम्बन्धेन तादृशपदार्थवत् यत्फलितंभवति तत् शेषवदित्युच्यते । तदेवाह—स एवेति । निषेधाऽविषयः पदार्थ एव विषयतया=विषयतासम्बन्धेन यस्य अनुमानज्ञानस्याऽस्ति तदनुमानज्ञानं शेषवदित्यर्थः तत्र न्यायभाष्यप्रमाणमाह—यदाहुरिति । यत्=परिशेषानुमानम्, आहुः=गौतमसूत्रभाष्यकाराः बाल्यायनमहर्षय आहुः । ‘प्रसक्तप्रतिषेधे’ इत्यादिना ‘परिशेष’ इत्यन्तेनेत्यर्थः । यथा—न्यायमते गगनसाधकं ‘शब्दः—अष्टद्रव्यातिरिक्त(गगन)द्रव्याश्रितः,—अष्टद्रव्याऽनाश्रितत्वे सति गुणत्वात्,—यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति यथा गन्धः,—इत्येतदनुमानं परिशेष—पदार्थ—गगन—विषयकतया शेषवदनुमानमुच्यते । कथमिति चेत् ! इत्थम्, आदौ— १ ‘शब्दः—कचिदाश्रितः,—गुणत्वादि’त्यनेन आश्रयतया कचित्पदेन सप्तपदार्थाः प्रसक्ता उपस्थिताः तत्र प्रसक्तप्रतिषेधे=आश्रयतया प्रसक्तानां नवद्रव्याणां, प्रतिषेधे सति=साहाय्यकैः अनुमानैः प्रतिषेधे कृते सति, तथ्या—२ ‘शब्दः—न पृथिव्यप्तेजोवायुविशेषगुणः,—अथावद्द्रव्यभावित्वात्’ यथा स्पर्शादयः पृथिवीजलतेजोवायुगुणाः यावत्त्वाश्रयद्रव्यं वर्तन्ते न तथा शब्दो यावद्द्रव्यं वर्तते, विद्यमानेऽपि शब्दादौ स्वाश्रये अभावदर्शनादिति । ३—‘शब्दः—न कालदिङ्मनसां गुणः,—विशेषगुणत्वात् (दिक्कालमनःसु विशेषगुणा न वर्तन्ते) इति । ४—शब्दः,—नात्मगुणः—बहिर्निद्रयग्राह्यत्वादि’त्यनुमानैः—आश्रयतया प्रसक्तानां अष्टद्रव्याणां निषेधे सति, अन्यत्राऽप्रसङ्गात्=अन्यत्र=गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाऽभावेषु, अप्रसङ्गात्=गुणादौ गुणान्गीकारेण गुणाधिकरणताया एव अप्रसक्तैः, शिष्यमाणे=गगनात्मके द्रव्ये, यः सम्प्रत्ययः=शब्दाधिकरणतानुमानम्,—५—‘शब्दः—अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः, अष्टद्रव्याऽनाश्रितत्वे सति गुणत्वात्’ यत्रैवं तत्रैवं यथा गन्धादिरिति, केवलव्यतिरेक्यनुमानम् । सः परिशेषः=शेषवदनुमानमिति भावः ॥ इदं सिद्धान्तमुक्तावल्यामाकाशनिरूपणे दृष्टव्यम् ॥ सांख्यमतेन—अवीतानुमानप्रदर्शनायाह—अस्य चेति । अस्य च=शेषवदनुमानात्मकस्य, अवीतस्य=अवीतानुमानस्य, व्यतिरेकिणः=केवलव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानजन्यस्य, उदाहरणम्=निदर्शनम्, =अग्रे=६ कारिकाव्या-

प्यम् ) । अस्य चाऽवीतस्य व्यतिरेकिण उदाहरणमग्रेऽभिधास्यते । वीतं द्वेधा-  
पृथक्, सामान्यतोदृष्टं च । तत्रैकं दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत् तत्पूर्ववत्, पूर्वं  
प्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणसामान्यमिति यावत् । तदस्य विषयत्वेनाऽस्त्यनुमानज्ञान-  
स्येति पूर्ववत् । यथा धूमाद्वह्निवसामान्यविशेषः पर्वतोऽनुमीयते, तस्य च वह्नित्वसां-  
मान्यविशेषस्य स्वलक्षणं वह्निविशेषो दृष्टो रसवत्याम् ॥ अपरं च वीतं सामान्यतो-

ख्याने-‘न पदस्तन्तुन्यो भिद्यते,—तद्धर्मत्वात्,—इह वद् यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति  
यथा-गौरश्वस्य, धर्मश्च पदस्तन्तूनां, तस्माद्वार्थान्तर’मित्यादिकम् । अभिधास्यते=कथयिष्यते-इति ॥  
वीतं विभज्यते-वीतं द्वेधा-इति । तत्र ‘पूर्ववत्’-वीतम्-स्पष्टयितुमाह-तत्रैकमिति । तत्र=  
पूर्ववत्-सामान्यतोदृष्टयोर्वीतयोर्मध्ये, एकम्=पूर्ववत्-वीतम्, यत् दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्=दृष्टं पूर्वं  
महानसादौ प्रत्यक्षीकृतं स्वं=स्वात्मकं=बहुधात्मकं अवयवसंस्थानादिकमसाधारणं, लक्षण रूपं=स्वरूपं  
यस्य वह्नित्वसामान्यस्य, तत् वह्नित्वसामान्यं=दृष्टस्वलक्षणसामान्यम् दृष्टविशेषवह्निकवह्नित्वमिति  
फलितार्थः, तादृशवह्नित्वसामान्यं विषयो यस्यानुमानस्य, तत्=अनुमानं पूर्ववत्=दृष्टस्वलक्षणसामा-  
न्यविषयकमित्यर्थः । ‘पूर्वं’वदित्यत्र ‘पूर्वं’पदस्यैव-‘दृष्टस्वलक्षणसामान्य’मित्यर्थः, तदेव दर्शयति-पूर्वं  
=प्रसिद्धं=दृष्टस्वलक्षणसामान्यमिति । ‘पूर्वं’मित्यस्य पर्यायः ‘प्रसिद्ध’मिति, ‘प्रसिद्धमित्यस्य  
च भावार्थः-‘दृष्टस्वलक्षणसामान्यमिति । प्रसिद्धम्=महानसादौ प्रकरणे चक्षुरादिना, सिद्धम्=  
सिद्धिः=प्रत्यक्षप्रमाण, -तद्विषयोऽकृतमिति तदर्थः । ‘वदि’ति-मतुवर्थः-विषयतासम्बन्धेन तद्वानु-  
इति दर्शयति-तदस्येति । तद्=दृष्टस्वलक्षणसामान्यम्=दृष्टविशेषवह्निकवह्नित्वम्, अस्ति विष-  
यत्वेन=विषयितासम्बन्धेन, अस्य अनुमानज्ञानस्य=‘पर्वतो वह्निमान् धूमा’दित्यनुमानज्ञानस्य  
तत् ‘पूर्ववत्’ अनुमानमित्यर्थः । इदं व्याख्याने न ‘कारणेन कार्यानुमान’मित्यर्थाऽभिप्रायेण, न  
वा ‘केवलान्वयित्याप्तिकत्वा’ऽभिप्रायेण, किन्तु-‘इन्द्रियग्राह्यपदार्थविषयकत्वा’भिप्रायेण । अग्रे च  
‘वीतं’=‘सामान्यतोदृष्टं’-अतीन्द्रियपदार्थविषयकत्वाभिप्रायेण विवक्ष्यते इति ॥ पूर्ववदनुमानस्य  
‘दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयकत्व’मिति योऽर्थस्तमुदाहरणेन विशदयति-यथा धूमादिति । वह्नि-  
त्वसामान्यविशेषः=वह्नित्वात्मकः सामान्यविशेषोऽनुमीयते पर्वते इत्यर्थः ॥ ननु कथं वह्नित्वस्य  
सामान्यविशेषोभयात्मकत्वम् ? इति चेत् ! इत्थम्-जातेः द्विधा प्रयोजनम्-एकं-स्वाश्रयस्य अनु-  
वृत्ति( अनुगतप्रतीति )जननम्, द्वितीयं स्वाश्रयस्य व्यावृत्ति( इतरभेदानुमिति )जननम्,  
तत्र सत्ताया इव वह्नित्वस्य यदा सर्वेषां वह्नीनामनुगतप्रतीति( इमे वह्नयःइति प्रतीति )जनकत्वं  
तदा ‘सामान्य’धर्मइत्याख्या, यदा च ‘वह्निः-इतरभिन्नः,—वह्नित्वा’दिति स्वार्थानुमानेन ‘इतर-  
भेदजनकत्वं’ तदा ‘विशेष’धर्म इत्याख्या भवति । “अनुवृत्तेः हेतुत्वात् सामान्यम्, व्यावृत्तेरपि  
हेतुत्वात् सामान्यं सद्दृष्टविशेषाख्यां लभते”-इति काणादसूत्रभाष्यकाराः प्रशस्तपादाः ॥ ‘दृष्टस्वल-  
क्षणसामान्य’ समन्वयति-तस्य चेति । वह्नित्वसामान्यविशेषस्य=सामान्यविशेषात्मकवह्नित्व-  
जातेः । ‘स्वलक्षण’मित्यस्यैव पर्यायः ‘वह्निविशेष’ इति । दृष्टः=प्रत्यक्षीकृतः । कुत्र ? इति चेत् !,  
रसवत्याम्=पाकशालायाम् ॥ अतीन्द्रियवस्तुविषयकं ‘सामान्यतो-दृष्टा’ख्यं ‘वीतं’ निरूपयति-अपरं  
चेति ॥ सामान्यतो-दृष्ट’मित्यस्याऽर्थमाह-अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयमिति । ‘सामान्यतो दृष्ट’मित्यत्र  
‘सामान्यत’इति पदस्य षष्ठ्यन्तप्रकृतिक-तत्सन्तत्वेन ‘सामान्यस्य’इत्यर्थपरत्वम्, ‘दृष्टम्’-इत्यस्य  
च भाव-क्ता-न्तत्वेन ‘दर्शन’मित्यर्थपरत्वम्, तेन ‘सामान्यस्य दर्शनम्’-इत्यर्थलाभात्, अर्था-  
दायातम्-‘विशेषस्याऽदृष्टत्व’मिति-आर्थिकार्थमभिप्रेत्य ‘सामान्यतो-दृष्ट’मित्यस्य, ‘अदृष्टस्वलक्षण-



दृष्टं-अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम् । यथेन्द्रियविषयमनुमानम् । अत्र हि रूपादि-  
विज्ञानानां क्रियात्वेन करणवत्त्वमनुमीयते । यद्यपि करणत्वसामान्यस्य छिदादौ  
वास्यादि स्वलक्षणमुपलब्धम्, तथाऽपि यज्जातीयं रूपादिज्ञाने करणवत्त्वमनुमीयते  
तज्जातीयस्य करणस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण, । इन्द्रियजातीयं हि तत्करणम्, न  
चेन्द्रियत्वसामान्यस्य स्वलक्षणमिन्द्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वाण्डशाम्, यथा  
बह्वित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं बह्विः । सोऽयं पूर्ववतः सामान्यतोदृष्टात् सत्यपि वीत-

सामान्यविषय'मित्यर्थोऽभिहितः, अतः—'दृष्ट'पदस्य तद्विरुद्धा 'दृष्टा'र्थकत्वाऽसंभवेऽपि 'अदृष्टार्थ-  
परत्ववर्णनं कथं कृतमिति न शङ्कनीयमिति । अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्=न दृष्टं स्वलक्षणं  
यस्य सामान्यस्य तत्, तदेव विषयो यस्यानुमानस्य तत्=अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयकत्वमि-  
त्यर्थः । उदाहरति—यथा-इन्द्रियविषयकमिति । 'रूपादिज्ञानानि-करणवन्ति,—क्रियात्वात्,—  
छिदिक्रियावदि'ति अनुमानम् । इन्द्रियाणामतोन्द्रियत्वात् 'करण'त्वेनाऽभिप्रेतेन्द्रियाणामतीन्द्रिय  
पदार्थानां साधकमेतदनुमानमतीन्द्रियविषयकं बोध्यम् । अत्र 'न दृष्टः स्वलक्षणः इन्द्रियविशेषः  
यस्य इन्द्रियजातीयकरणत्वात्मकसामान्यस्य, तत्=अदृष्टविशेषेन्द्रियकेन्द्रियजातीयकरणत्वम्, तदेव  
विषयो यस्य तदिति=अदृष्ट-विशेषेन्द्रियकेन्द्रियजातीयकरणत्वविषयकमनुमानमिति-शब्दार्थसमन्वयः  
कार्यः ॥ अनुमानेन किमनुमीयते इति स्पष्टयति—अत्र हीति । एतदनुमाने-इत्यर्थः । रूपादीति ।  
यथा रूपज्ञानं=रूपप्रत्यक्षम्, क्रियात्वेन=कार्यत्वात्, अवश्यं करणजन्यं भवेत्, अत्र यत् अनुमेयं  
करणत्वं तदाश्रयं चक्षुरिति,—तद्वदन्यान्यपीन्द्रियाणि करणत्वाश्रयतया सिद्धकृत्यार्थः । ननु छेद-  
नक्रियां प्रति स्वलक्षणः कुठारविशेषो दृष्टः करणत्वसामान्यस्य, तथा च कथमदृष्टस्वलक्षणसामान्य-  
विषयकमेतदनुमानमित्याशङ्कते—यद्यपीति । करणत्वसामान्यस्य=इन्द्रियाणां कुठारादीनां च साधा-  
रणो यः करणत्वात्मकः धर्मः तस्य, छिदादौ=छेदनक्रियायां,—छेदनक्रियां प्रति, वास्यादि=कुठारादि,  
स्वलक्षणं=विशेषकरणम्, उपलब्धम्=दृष्टमेवेत्यर्थः ॥ तथा च—दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयकत्वात्  
'पूर्ववदनुमाना'नाऽतिरिक्तत्वमेतदनुमानस्येति शङ्कितुरभिप्रायः । परिहरति—तथापीति । रूपादि-  
ज्ञाने=रूपादिप्रत्यक्षे, यज्जातीयस्य=यादृग्जात्यवच्छिन्नस्य=इन्द्रियत्वावच्छिन्नस्य, करणत्वम्=इन्द्रियत्व-  
विशिष्टकरणत्वस्य, स्वलक्षणम्=इन्द्रियविशेषः, प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षप्रमाणेन, न दृष्टम्=न प्रत्यक्षीकृतमि-  
त्यर्थः ॥ ननु रूपादिज्ञानेषु किं करणम् ? अत आह—इन्द्रियजातीयं हीति । तत्करणं=रूपादिज्ञानानां  
करणम्, यथा रूपज्ञाने इन्द्रियं चक्षुःकरणम्, रसज्ञाने इन्द्रियं रसनाकरणम्, गन्धज्ञाने इन्द्रियं घ्राणं  
करणम्, स्पर्शज्ञाने इन्द्रियं त्वक्करणम्, शब्दज्ञाने इन्द्रियं श्रोत्रं करणमित्येवं रूपादिज्ञानेषु इन्द्रियत्वा-  
वच्छिन्नस्य करणता बोध्येत्यर्थः ॥ इन्द्रियविशेषस्य प्रत्यक्षाऽगोचरतां दर्शयति—न चेति । इन्द्रियत्व-  
सामान्यस्य=इन्द्रियत्वविशिष्टकरणत्वसामान्यस्येत्यर्थः । 'स्वलक्षण'मित्यस्यैव पर्यायः 'इन्द्रियविशेष'-  
इति,—इन्द्रियात्मककरणविशेषइत्यर्थः । अर्वाण्डशाम्=बहिःस्थूलदृशाम्,—अगो गिनामिति यावत् । न  
च प्रत्यक्षगोचरः=नहि प्रत्यक्षप्रमाणजन्यग्रहविषयः, अतोन्द्रियत्वादिति ॥ तत्र व्यतिरेकिदृष्टान्तमाह—  
यथेति । बह्वित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं=विशेषो बह्विः=महानसीयो बह्विः, यथा दृष्टो भवति महा-  
नसे, न तथा किमपीन्द्रियं दृग्गोचरं भवतीत्यर्थः ॥ तदेवं 'पूर्ववतो'ऽनुमानात् 'सामान्यतोदृष्ट'स्या-  
ऽतिरिक्तत्वं सिद्धमिति दर्शयति—सोऽयमिति । वीतत्वेन 'पूर्ववत्-सामान्यतोदृष्टयोः' तुल्यत्वे=  
समानत्वे सत्यपि, सामान्यतोदृष्टात्=अदृष्टविशेषधर्मिकधर्मविषयकत्वात्, पूर्ववतः=दृष्टविशेषधर्मिक-धर्म-  
विषयकानुमानस्य, सः अयम्=अदृष्टविशेषधर्मिकधर्मविषयकत्वात् दृष्टविशेषधर्मिकधर्मविषयकत्वमेव

त्वेन तुल्यत्वे विशेषः । अत्र च दृष्टं दर्शनम्, सामान्यत इति सामान्यस्य, सार्ववि-  
भक्तिकस्तसिः । अदृष्टस्वलक्षणस्य सामान्यविशेषस्य दर्शनं सामान्यतोदृष्टमनुमान-  
मित्यर्थः । सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं  
विस्तरभयात् ॥ प्रयोजकबृद्धशब्दश्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यबृद्धप्रवृत्तिहेतुज्ञानानुमान-  
पूर्वकत्वाच्छब्दार्थसम्बन्धग्रहणस्य, स्वार्थसम्बन्धज्ञानसहकारिणश्च शब्दस्याऽर्थप्र-  
त्यायकत्वादनुमानपूर्वकत्वमित्यनुमानानन्तरं शब्दं लक्षयति—“आप्तश्रुतिरासवचनं

विशेषः—प्रभेद इत्यर्थः ॥ ‘सामान्यतो—दृष्ट’मित्यस्य व्याख्यामाह—अत्र चेति । अत्र—‘सामान्यतो—  
दृष्ट’मिति शब्दे । ‘दृष्ट’मित्यस्य भाव-कान्तत्वेन ‘दर्शन’मर्थः । ‘सामान्यतः’—इत्यस्य पञ्चकन्त-  
प्रकृतिक-तसन्तत्वेन ‘सामान्यस्य’—इत्यर्थः । सार्वविभक्तिकस्तसिः—सर्वांस्तु विभक्तिषु प्राप्तिविषयः  
‘तसि’प्रत्ययः । अदृष्टस्वलक्षणस्य—अदृष्टविशेषधर्मिकस्य, सामान्यविशेषस्य—अनुवृत्ति-व्यावृत्तिजन-  
नकस्य सामान्यविशेषोभयात्मकधर्मस्य, करणत्वादेः दर्शनम्—कचित् कुठारादौ दर्शनम् । तथा  
च विशेषदर्शनस्थले पूर्ववदनुमानम्, सामान्यमात्रदर्शनस्थले सामान्यतोदृष्टानुमानमिति फलि-  
तार्थः ॥ उपसंहरति—सर्वं चैतदिति । न्यायदर्शनस्य चतुर्थसूत्रे वात्स्यायनभाष्यस्य वार्तिके तदी-  
यतात्पर्यटीकायां विवेचितं ततोऽवगन्तव्यमिति ॥

अनुमानाऽनन्तरं शब्दो लक्षणीयः, कथम् ? अनुमान-शब्दयोः उपजीव्योपजीवकभावसंगति-  
मत्त्वात् । भवति हि—अनुमानाऽधीनं शब्दनिष्ठशक्तिज्ञानम्, तेन च शब्दबोध इति, तत्र केन  
अनुमानेन कस्या व्यक्तेः कथं शब्दनिष्ठशक्तिज्ञानं जन्यते—इत्येतत्प्रदर्शनार्थमाह—प्रयोजकबृद्धेति ।  
प्रयोजकबृद्धेन—उक्तम्—‘गामानये’ति, एतादृशशब्दश्रवणाऽनन्तरमेव कश्चित् प्रयोज्यबृद्धः  
‘गवानयन’प्रवृत्तिं करोति, तदानीं पादर्वस्थो व्युत्पत्सुर्बालः—अनुमिनोति—‘प्रयोज्यबृद्धस्य गवान-  
यनप्रवृत्तिः—गवानयनविषयकज्ञानजन्या,—गवानयनगोचरप्रवृत्तित्वात्, या यद्गोचरा प्रवृत्तिः सा  
तद्गोचरज्ञानजन्या, स्वोयस्तन्यपानप्रवृत्तिवदित्यनुमानेन गवानयनगोचरं ज्ञानमनुमाय ‘इदं गवानय-  
नगोचरज्ञानम्—प्रयोजकबृद्धोच्चरितं गामानये’तिवाक्यजन्यम्,—तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, ‘यत्  
यदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं तज्जन्यं यथा दण्डान्वयव्यतिरेकानुविधायी घटः । अन्वयः—वाक्यश्रवणे  
सति गवानयनप्रवृत्तिजनकज्ञानम्, व्यतिरेकः—वाक्यश्रवणाऽभावे सति गवानयनप्रवृत्तिजनकज्ञाना-  
ऽभावः इति । इत्येवमनुमानेन ‘गामानये’—तिशब्दे शक्तिमवधारयति, तादृशशक्तिसहकृतश्च शब्दः  
शब्दबोधं जनयतीति । शब्दार्थस्तु—प्रयोजकबृद्धस्य ‘गाम् आनये’ति शब्दश्रवणाऽनन्तरम्  
प्रयोज्यबृद्धस्य या प्रवृत्तिः—गवानयनविषयकयत्नः तस्य हेतुः—कारणं यत् ज्ञानम्—गवानयनवि-  
षयकज्ञानम् तस्य अनुमानम्—‘प्रयोज्यबृद्धस्य गवानयनप्रवृत्तिः,—गवानयनविषयकज्ञानजन्या,—  
गवानयनगोचरप्रवृत्तित्वात्,—मदोयस्तन्यपानप्रवृत्तिवदिति । इदं गवानयनविषयकं ज्ञानमेव प्रवृत्ति-  
हेतुत्वात् प्रवर्तकज्ञानमित्युच्यते । एतादृशानुमानपूर्वकत्वात्—उक्तानुमानाधीनत्वात् । ननु कस्य  
उक्तानुमानाधीनत्वम् ? अत आह—शब्दार्थसम्बन्धग्रहणस्येति ‘गाम्’ इति शब्दः, ‘गोर्कर्मकेत्यर्थः,  
तयोर्यः सम्बन्धः वाक्यवाचकभावाख्यः शब्दनिष्ठशक्तिरूपः—ईद्वरेच्छापराभिधानः, तस्य ग्रहणं ज्ञानं  
तस्य—पदपदार्थसम्बन्धज्ञानस्येत्यर्थः । तथा च—बालः ‘गवानयनज्ञानम्—‘गामानये’तिवाक्यजन्यम्,  
तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादि’त्यनुमाय शब्दस्यार्थं शक्तिं निर्धारयतीति भावः । स्वार्थसम्बन्धज्ञान-  
सहकारिणश्च—स्वं—शब्दः तदर्थश्च तयोर्यः सम्बन्धः शक्त्याख्यः तत्सहकारिणः शब्दस्य अर्थप्रत्याय-  
कत्वात्—अर्थविषयकः प्रत्ययः शब्दबोधस्तज्जनकत्वादित्यर्थः । अनुमानपूर्वकत्वम्—यतः अनुमानपूर्-



तु” इति । आसवचनमिति लक्ष्यनिर्देशः, परिशिष्टं लक्षणम् । आसा प्रासा युक्तेति यावत् । आसा चाऽसौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः । श्रुतिः—वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम् । तच्च स्वतःप्रमाणम् । अपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्त्युक्तं भवति । एवं वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति । आदिविदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तराधीतश्रुतिस्मरणसम्भवः, सुसप्रबुद्ध-

वकः शब्दः शब्दबोधजनकः अतः अनुमानाऽनन्तरं शब्दं लक्षयति इति योजना ॥ लक्ष्यलक्षणयोर्विभागमाह—तत्राऽऽप्तवचनमितीति । तत्र=आप्तश्रुतिराप्तवचनं त्विति मूलवाक्ये, ‘आप्तवचन’-मिति लक्ष्यस्य शब्दप्रमाणस्य निर्देशः । परिशिष्टम्=‘आप्तश्रुति’रिति, लक्षणम्=असाधारणधर्मः ॥ ‘आसा’ इत्यस्य पर्यायः ‘प्रासा’, ‘प्रासा’-इत्यस्य पर्यायः—‘युक्ता’-इति । युक्ता=यथार्थप्रत्यायनसमर्थतया समीचीना, दोषहीनेति वा, दोषाश्च भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्ता-करणाऽपाटवादयः, भ्रमः—उच्चारणीयवाक्यार्थगोचरो भ्रमः, प्रमादः—वाक्यार्थज्ञानस्वरूपयोग्यस्य वक्तुः उच्चारणीयवाक्यार्थनिश्चयव्यतिरेकात्मिका-अनवधानता । विप्रलिप्ता—अन्यथाप्रतीतार्थस्याऽन्यथाप्रतिपिपादयिषात्मिका प्रतारणा, करणाऽपाटवम्—इच्छाविषयवर्णाऽननुकूलकण्ठतात्वाद्यभिधातः, तद्वहिता श्रुतिरित्यर्थः । सांख्यमते चित्तवृत्तेः प्रमाणत्वात् ‘श्रुति’शब्दस्य लक्षणया चित्तवृत्तिरूपमर्थमाह—वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानमिति । श्रूयते इति श्रुतिः=श्रोत्रग्राह्यं वाक्यमिति वाच्योऽर्थः, तज्ज्ञं ज्ञानमिति लाक्षणिकोऽर्थ इति । एवम्—आप्तवचनमित्यत्राऽपि ‘आप्तवचनजन्यं ज्ञान’मिति लाक्षणिकार्थो बोध्यः । आगमप्रमाणस्य स्वतःप्रामाण्यं दर्शयति—तच्चेति । तच्च—वाक्यजनितवाक्यार्थज्ञानं चेत्यर्थः । स्वतः प्रमाणम्=अन्यानधीनप्रामाण्याश्रयमित्यर्थः, ‘युक्तं भवतीत्यनेनाऽन्वयः । स्वतःप्रामाण्यस्य युक्तत्वे हेतुमाह—अपौरुषेयेति । पौरुषेयत्वम्—पुरुषपरचित्तानुपूर्वांमत्त्वम्, तच्च वेदे नारित, अतः अपौरुषेयाणि यानि वेदवाक्यानि तज्जनितत्वे=तज्जनितज्ञानत्वात् सकला ये पुरुषप्रयुक्ता भ्रमप्रमादविप्रलिप्ताकरणाऽपाटवादयो दोषाः तेषामाशङ्कायाः विनिर्मुक्तेः=विरहात्, स्वतःप्रामाण्यं युक्तं भवतीति । अत्र केचन—कापिलनये जैमिनीयनये चेश्वरानङ्गीकारात् वेदस्य पुरुषविशेषप्रणीतत्वाऽभावेनाऽपौरुषेयत्वं वदन्ति । अपरे तु सेश्वरसांख्यनये पूर्वकल्पीयाऽनुपूर्वांसमानानुपूर्वाधितत्वरूपं पुरुषाऽस्यातन्मयात्रहृषं वा अपौरुषेयत्वं रोचयन्ते । वस्तुतस्तु—असर्वशुपुष्यप्रणीतत्वभिन्नत्वमपौरुषेयत्वम्, तथा च—यदि वेदः सर्वशेश्वरप्रणीतस्तदाऽपि सर्वशुपुष्ये भ्रमादिदोषाणामभावादेव वेदे दोषाऽभावः, यदि चेश्वरेण न प्रणीतः तर्हापि नित्यत्वादेव दोषाऽभाव इति बोध्यम् । तदेवम्—अन्यप्रमाणनिरपेक्षस्वार्थबोधनसमर्थमाम्नायवाक्यजन्यज्ञानं स्वतः प्रमाणमिति प्रदर्श्य आज्ञायात्मकमूलप्रमाणसापेक्षसृष्ट्यादिवाक्यजन्यज्ञानं परतःप्रमाणं तस्यापि युक्तत्वं दर्शयति—एवं वेदेति । वेदः मूलं येषान्तानि पतादृशानि यानि—मन्वादिस्मृतयश्च भारतादय इतिहासाश्च श्रीमद्भगवतादीनि पुराणानि चेति, तेषां वाक्येभ्यो जनितं ज्ञानमपि युक्तं=दोषहीनं भवतीति । ननु ‘ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभक्तिं’ इति—उत्पन्नमात्रस्यैव कपिलस्य ज्ञानसम्पन्नस्य श्रवणात् वेदाध्ययनं विनैव प्रणीतस्य सांख्यशास्त्रस्य कथं प्रामाण्यमित्याशङ्कावारणाय कपिलज्ञानस्यापि वेदमूलकत्वं दर्शयति—आदिविदुषश्चेति । आदिविदुषः=जन्मना यावद्विद्यानिधेः, कपिलमुनेः कल्पादौ=कल्पः—चत्वारिंशद्वर्षद्वान्निश्लोक्तिवर्षसमयात्मकः ब्रह्मणो दिवसः, तस्य आदौ प्रारम्भे=सृष्टिप्रारम्भे इति यावत् । कल्पान्तराऽधीतेति । अन्यः कल्पः कल्पान्तरं तस्मिन्=पूर्वकल्पे=ब्रह्मणः पूर्वदिवसे इत्यर्थः, अधीता या श्रुतिः वेदः तस्य स्मरणस्य सम्भवः=सम्यक्प्रकारेण=यथापूर्वमिति यावत्, भवः=

स्येव पूर्वैद्युरवगतानामर्थानामपरेद्युः । तथा च आवड्यजैगीपव्यसंवादे भगवान् जैगीपव्यो दशमहाकल्पवर्तिजन्मस्मरणमात्मन उवाच “दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्तमानेन मया” इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण । आसग्रहणेनाऽयुक्ताः शाक्य-भिक्षु-निर्ग्रन्थक-संसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति । अयुक्तत्वं चैतेषां विगानात्

भवनं प्रादुर्भावो जातः, अतः कपिलशास्त्रस्य प्रामाण्यमिति । तत्र दृष्टान्तमाह—सुप्तप्रबुद्धस्येवेति । पूर्वं सुप्तस्य पश्चात् प्रबुद्धस्य इव=पथा पूर्वैद्युः=पूर्वस्मिन्नहि अवगतानां अनुभूतानाम् अर्थानां=पदार्थानां अपरेद्युः=अपरस्मिन्नहि स्मरणं भवति तथेत्यर्थः । प्रकृष्टयोगजघर्गवलेन कल्पान्तरानुभूतमपि स्मर्यते—इत्यत्र प्रसिद्धं संवादमाह—तथा चाऽऽवट्येति । आवड्यमुनिः जैगीपव्यमुनिश्च तयोः संवादे भगवान्=भगम् ऐश्वर्याणि-अणिमादीनि तद्वान्, जैगीपव्यमुनिः दशमहाकल्पवर्ति=प्राकृत-सर्गवर्ति, कल्पः ब्रह्मणो दिवसः, महाकल्पः=ब्रह्मणः शतवर्षसमयः=महाविष्णोरेकदिवसात्मकः काल इति यावत् । प्राकृतिकप्रलयान्तःकाल इति भावः ॥ तदन्तर्गतसृष्टिमध्यानुभूतम् आत्मनः=स्वस्य जन्मस्मरणम्=तत्तत्तन्मना अनुभूतानां स्मरणम्, उवाच=स्मरणविषयव्यापारान् उक्तवानित्यर्थः । योगदर्शनस्य (पा-३-सू-१८) भाष्यस्य वचनमाह—‘दशस्वित्यादि । ग्रन्थसन्दर्भेण=भाष्येण । तदिदं भाष्यम्—“अवेदमाख्यानं श्रूयते-भगवतो जैगीपव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणद्वारा महासर्गेण जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत् । अथ भगवान् आवड्यस्तनुषरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्भवं संभवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनःपुनरुपपद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति ? । भगवन्तमावड्यं जैगीपव्य उवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनःपुनरुपपद्यमानेन यत्किंचिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्ययैमि । भगवानावड्य उवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति । भगवाजैगीपव्य उवाच—विषयसुखापेक्षयैर्देवमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तम्, वैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव, बुद्धिसत्त्वस्याऽयं धर्मस्त्रिगुणस्त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति दुःखरूपस्तृणान्तनुः, तृणादुःखसन्तापाऽपगमात् प्रसन्नमवाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति” । ‘आसृतिरित्यत्राऽऽस-पदस्य सार्थक्यमाह—आसग्रहणेनेति । अयुक्ताः—अथार्थप्रत्यायनकत्वादसमोचोनाः सदोपाः, शाक्याः=शुद्धोदननृपतितनयः पञ्चविंशतिबुद्धप्रभेदानामन्यतमः शाक्यसिंहाख्यो यो बौद्धधर्मस्थापकः तन्मत्तानुयायिनो सौत्रान्तिकवैगपिकयोगाचारमाध्यमिकाः ते शाक्यभिक्षवः=बौद्धसन्त्यासिनः, निर्ग्रन्थकाः=ग्रन्थेभ्यो वेदादिसंछास्त्रेभ्यो निष्क्रान्ताः त्रयोवाह्या जैनाः । संसारमोचकाः=संसारः=शरीरयोगः, तन्मोचनं=शरीरवियोगः स एव मोक्ष इति मन्तारो देहात्मवादिनश्चार्वाकाः । तेषामागमाऽऽभासाः=अहिंसाद्यंशेन आगमा इव आभासन्ते इति आगमाऽऽभासाः, वेदविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वाद् दृष्टागमाः । परिहृताः=व्यावृत्ताः भवन्ति=रान्द्रप्रमाणेऽस्वीकृता भवन्तीत्यर्थः । ननु कथमेतेषामयुक्तत्वम् ? अत आह—अयुक्तत्वं चैतेषामिति । एतेषाम्=उक्तगमाऽऽभासानाम् । विगानात्=वि=विरुद्धं गानं=शब्दनं तस्मात्=सर्वंऽस्तित्व-विज्ञानमात्राऽस्तित्वादि-पूर्वापरविरुद्धार्थकथनात् । वस्तुतस्तु—वेदविरुद्धार्थबोधनं विगानं तस्मादिति । ननु सांख्ययोगवेदान्तादिष्वपि विगानं तुल्यम्, तत्र ‘ईश्वराऽसिद्धेः’ (सां. सू.) ‘छेदकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः’ (यो.सू.) ‘प्लेन योगः प्रत्युक्तः’ (वे. सू.) इत्येवं विगानस्य सत्त्वादित्यतो हेत्व-



विच्छिन्नमूलत्वात् प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानाच्च, कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद्बोद्धव्यम् । तुशब्देनाऽनुमानाद्व्यवच्छिनत्ति । वाक्यार्थो हि प्रमेयः,

न्तरमाह-विच्छिन्नमूलत्वादिति । विच्छिन्नं=विच्छेदः तथ्यार्थविरोधिदोषाः भ्रमप्रमादविप्रलि-  
प्ताप्रभृतयः तद्विशिष्टं विच्छिन्नं, तादृशं विच्छिन्नं मूलं कर्ता यस्य तत्त्वात्,=प्रामाणिकमूलकत्वाऽ-  
भावादित्यर्थः, अविच्छिन्नं मूलं यो वेदस्तत्कत्वाऽभावादिति भावः । ननु सर्वशुद्धिप्रणीतत्वाच्च  
विच्छिन्नमूलत्वमित्यतो हेत्वन्तरमाह-प्रमाणविरुद्धार्थाऽभिधानाच्चेति । प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञादि-  
प्रमाणसिद्धं यत् घटादित्यर्थं तद्विरुद्धाणिकत्वाद्यर्थाऽभिधानाच्चेत्यर्थः । तादृशविरुद्धार्थोपदेष्टृत्वेन  
बुद्धस्याऽप्यसर्वश्रुत्वात् अत एव च तत्कृताऽऽगमानां विच्छिन्नमूलत्वादयुक्तत्वमिति भावः । ननु  
प्रत्यक्षप्रमाणेन प्रत्यभिज्ञादिना वा सिद्धोऽर्थो यदि अविरुद्धस्तव, तदा 'बौद्धाद्यागमोऽपि बहुभिर्वि-  
ज्ञानिभिर्मुक्ततया गृह्यते'-इत्येतदपि तव प्रत्यक्षसिद्धं, प्रत्यक्षसिद्धं च-बहुकृतग्रहणं तवाऽविरुद्धम्,  
अत एव च युक्ततया प्राप्नो बुद्धाद्यागमः,-इत्यत आह-कैश्चिदेवेति । म्लेच्छादिभिः=म्लेच्छसदृ-  
शैरित्यर्थः, म्लेच्छश्चोक्तो बौधायनेन-'गोमांसखादकोऽयुस्तु विरुद्धं बहु भाषते । सर्वाचारविहीनश्च  
'म्लेच्छ'-इत्यभिधीयते'-इति । पुरुषापसदैः=पुरुषेषु अपसदैः नीचैः, अत एव पशुकल्पैः=शृंग-  
पुच्छविहीनैः पशुसमैः, कैश्चिदेव परिग्रहात् बुद्धाद्यागमानाम् अयुक्तत्वं बोद्धव्यमिति । एवम्-जैन-  
चार्वाकादिप्रणीतागमानामप्ययुक्तत्वं बोध्यम् ॥ बौद्धा वैशेषिकाश्च शब्दस्याऽनुमानेऽन्तर्भावं कुर्व-  
न्ति, तन्मतं निरसितुमाह-'तु' शब्देनेति । 'आप्तवचनन्तु' इति 'तु' शब्देन, अनुमानात्=अनु-  
मानप्रमाणात्, व्यवच्छिनत्ति=आगमप्रमाणं पृथक्करोति ॥ कथमनुमानाद् व्यवच्छेदः ? इत्यत  
आह-वाक्यार्थो हीति । अयं भावः-'गौरस्ती'तिवाक्येन परस्परगवाऽस्तित्वसंसर्गबोधो यो जा-  
यते सः शब्दबोधः-इति सर्वजनानुभवसिद्धम्, स चाऽयं परस्परपदार्थसंसर्गबोधोऽनुमितिरूप  
प्वेति-बौद्धैः वैशेषिकैश्चाङ्गीक्रियते, तथाहि-'गौरस्ती'तिवाक्यश्रवणाऽनन्तरं-'गौः-अस्तितावान्,-  
'अस्ति'पदसमभिव्याहृत'गौ'रितिपदस्मारितत्वादिति । तत्र पदैः स्वार्थस्मरणद्वारा शाब्दबोधो  
जन्यतेऽतः 'अस्तिपदसमभिव्याहृतगौरितिपदवत्त्वस्यैव लिङ्गविषयाऽनुमितौ कारणत्वमङ्गीकृत्या-  
नुमानेऽतर्भावस्तैर्व्यवस्थापनीयः, स च न संगच्छते, कुतः ? 'अस्तिपदसमभिव्याहृतगौःपदवत्त्वाऽऽ-  
त्मकहेतोः पक्षेऽवर्तमानत्वात् स्वरूपाऽसिद्धेः, तथाहि-अनुमानेन साध्यविशिष्टधर्मो साधनीयो भव-  
ति, अत्र च प्रकृते अस्तित्वविशिष्टगौरूपवाक्यार्थः साधनीयः, तत्र च गोःपक्षत्वेन अस्तित्वस्य च  
साध्यत्वेन सिद्धिर्वक्तव्या, तत्र यः साध्यविशिष्टगौः अनुमेयपदार्थः तदात्मके गोरूपेऽर्थे पक्षे धर्मिणि  
'अस्तिपदसमभिव्याहृतगौःपदा'त्मकहेतोः न कश्चित् सम्बन्धोऽस्ति, क्रियाकारकादिसम्बन्धो मिथः  
शब्दानामेव भवति, नतु पदार्थैः सह पदानाम्, येन शब्दस्य पक्षधर्मता स्यादिति । ननु यथा  
अनुपलब्धिः अभावविषया, तथा शब्दोऽर्थविषयो भवतीति अर्थेन सह शब्दस्य विषयतास्यः सम्ब-  
न्धो वक्तव्यः इति चेन्न । अर्थशुद्धिजनने सति अर्थविषयता शब्दे भवति न तु पूर्वम्, अर्थविष-  
यतात्मकसम्बन्धे सति शब्दे पक्षधर्मता भवति नतु प्राग्, तथा च शब्दे पक्षधर्मत्वस्य वाक्यार्थ-  
बोधप्रतीत्युत्तरकालीनत्वाच्च अनुमात्मकवाक्यार्थप्रतीतेरङ्गता स्यात्, एवं अनुमात्मकवाक्यार्थ-  
प्रतीतिरपि शब्दे पक्षधर्मत्वाऽनादरेण प्रागेवोपजाताऽतो न साऽनुमितिरपि स्यात् । ननु पदस्य  
धाचकत्वात् अर्थेन सह पदस्य शक्तिरूपः सम्बन्धः स्वीकार्यः, शक्तिसम्बन्धाधीना च शब्दे पक्षध-  
र्मताऽभ्युपेयते चेन्न । तत्राऽपि स्वाभाविकशक्तिसम्बन्धेनैव अर्थप्रतीतौ सत्याम् किम् अनौपयो-  
गिकपक्षधर्मत्वकरूपनयेति । किञ्च-पदार्थे पदानां शक्तिः, पदार्थः शक्यः, न तु वाक्यार्थे पदानां

न तु तद्धर्मो वाक्यम्, येन तत्र लिङ्गं भवेत् । न च वाक्यं वाक्यार्थं बोधयत् सम्बन्ध-  
ग्रहणमपेक्षते अभिनवकविरचितस्य वाक्यस्याऽदृष्टपूर्वस्याऽननुभूतचरवाक्यार्थबोधक-  
त्वादिति । एवं प्रमाणसामान्यलक्षणेषु तद्विशेषलक्षणेषु च सत्सु, यानि प्रमाणान्तरा-

शक्तिः, अतो वाक्यार्थो न शक्यः, प्रकृते च गवास्तिवत्संसर्गात्मक-वाक्यार्थस्यानुमेयतया तत्र वाक्यार्था-  
त्मके अस्तिवसमभिव्याहृतगोरूपार्थे पदस्य वाक्यस्य च शक्तेरभावात् शक्तिसम्बन्धेन तत्र हेतोरभा-  
वात् (स्मारितत्वस्य) स्वजन्यस्मरणविषयपदार्थसंसर्गत्वात्मकपरम्परासम्बन्धादेश्च वृत्त्यनियामकत्वेन  
पक्षधर्मत्वमेव न भवतीत्यभिप्रायेण-उक्तम्-‘वाक्यार्थो हि प्रमेयः न तु तद्धर्मो  
वाक्यम्, येन तत्र लिङ्गं भवेदिति । शब्दार्थस्तु-वाक्यार्थः=गौरस्तीति वाक्यजन्यः ‘अस्तिव-  
विशिष्टगो’रूपवाक्यार्थः, प्रमेयः=अनुमेयपदार्थः । हिः-अवधारणे । तद्धर्मः=तस्य साध्यविशिष्टतया  
साधनीयस्य पक्षस्य ‘अस्तिवविशिष्टगो’रूपवाक्यार्थस्य धर्मः=आधेयः । विषयतासम्बन्धेन शक्ति-  
सम्बन्धेन (स्मारितत्वेन) स्वजन्यस्मरणविषयपदार्थसंसर्गत्वसम्बन्धेन वा वाक्यम्=गौरस्तीति वाक्यं  
न भवति । येन=येन विषयतासम्बन्धेन शक्तिसम्बन्धेन (स्मारितत्वेन) स्वजन्यस्मरणविषयपदार्थ-  
संसर्गत्वसम्बन्धेन वा, तत्र=वाक्यार्थानुमितौ, लिङ्गम्=पक्षधर्मः सन् अनुमापकं, वाक्यं भवेदिति ॥  
अनुमाने हेतोः साध्यनिरूपितव्याप्त्यात्मकसम्बन्धाश्रयस्येव अनुमापकत्वं भवति, वाक्यं तु व्याप्या-  
त्मकसम्बन्धग्रहणं विनाऽपि वाक्यार्थबोधं जनयति, अतः व्याप्तिज्ञानाऽनधीनशब्दजन्यबोधो  
नाऽनुमारूप इति दर्शयति-न च वाक्यं वाक्यार्थं बोधयत् सम्बन्धग्रहणमपेक्षते-इति ।  
वाक्यम्=‘गौरस्ती’त्यादिवाक्यम् । वाक्यार्थं बोधयत्=अस्तिवविशिष्टगौरिति वाक्यार्थविषयकबोधं  
जनयत् सत् । सम्बन्धग्रहणम्=व्याप्तिज्ञानम् । न च अपेक्षते, यथा धूमः (गृहीतव्याप्तिकः सन्)  
साध्यनिरूपितव्याप्तिज्ञानविषयः सन् वह्निमनुमापयति, तथा शब्दो न (गृहीतव्याप्तिकः सन्)  
साध्यनिरूपितव्याप्तिज्ञानविषयः सन् शाब्दबोधं जनयति, किन्तु व्याप्यात्मकसम्बन्धनियममन्तरेणैव  
शाब्दबोधं जनयति अतो न शब्दस्यानुमानेऽन्तर्भावः, अत एव च न शाब्दबोधस्य अनुमाप्यमन्त-  
र्भाव इति ॥ ननु सम्बन्धनियममन्तरेणैव शब्दः शाब्दबोधं जनयतीति कुत्र दृष्टम् ? इत्याकांक्षायां  
तत्त्वत्वं दर्शयति-अभिनवेति । यस्य वाक्यस्य पूर्वं स्वार्थेन सह सम्बन्धो न गृहीतस्तादृशस्य  
अभिनवस्य=नूतनस्य=अन्याऽननु रूपस्य, कविविरचितस्य=कविकृतिविषयाऽनुपूर्वकस्य, वा-  
क्यस्य=साकांक्षादिपदसमूहस्य, अदृष्ट पूर्वस्य=अश्रुतपूर्वस्य=पूर्वम् अश्रुतस्येत्यर्थः, अननुभूत-  
चरवाक्यार्थबोधकत्वात्=अनुभूतचरः=प्रागनुभूतपदार्थविषयकः, अननुभूतचरः=प्रागनुभूतपदार्थ-  
विषयकः, यतादृशो यः वाक्यार्थबोधः तज्जनकत्वात् । यथा ‘पर्वते’ वह्न्यनुमितिपूर्वं महानसे वह्निः  
धूमेन सह दृष्टः, अतः धूमो महानसीयवह्निव्याप्तिवलात् पर्वते वह्निम् अनुमापयति, तथा अभिनव-  
वाक्यार्थबोधपूर्वं कुत्राऽपि अभिनववाक्यार्थो वाक्येन सह न दृष्टः, येन वाक्यार्थनिरूपितव्याप्तिव-  
लात् वाक्यं अनुमितिं जनयेदिति भावः । एवम् आकांक्षायोग्यतादिसामग्रीवैलक्षण्यात्, ‘शब्दाद-  
मुमर्थं प्रत्येमी’ति विलक्षणाऽनुभववलाच्च नाऽऽगमस्याऽनुमानविषया प्रामाण्यमिति सूक्ष्ममीक्ष-  
णीयम् ॥ अथ प्रमाणसामान्यतद्विशेषनिर्वचननिरूपणप्रकरणमुपसंहरन् ‘सर्वप्रमाणसिद्धत्वा’-  
दित्यत्रोक्तं प्रमाणत्रयेऽन्यप्रमाणानामन्तर्भावं स्मारयति-एवं प्रमाणेति । प्रमाणानां सामान्यलक्ष-  
णेषु अथ च तेषां प्रमाणानां विशेषलक्षणेषु च निरूपितेषु सत्त्वित्यर्थः । प्रतिवादिभिः=नैयायिक-  
भाट्टवेदान्ति-पौराणिकाऽऽलंकारिकैः यानि उपमानादीनि=उपमानाऽर्थापत्त्यनुपलब्धिबन्धमवैतिह्य-  
चेष्टात्मकानि, प्रमाणान्तराणि अभ्युपेयन्ते तानि उक्तलक्षणेभ्येव प्रत्यक्षानुमानशब्दात्मकेषु प्रमाणेषु



प्युपमानादीनि प्रतिवादिभिरभ्युपेयन्ते तान्युक्तलक्षणेष्वेव प्रमाणेष्वन्तर्भवन्ति । तथा हि—उपमानं तावत् 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यम् । तज्जनिता धीरागम एव । योऽप्ययं 'गवयशब्दो गौसदृशस्य वाचकः' इति प्रत्ययः, सोऽप्यनुमानमेव । यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते, सोऽसति वृत्त्यन्तरे, तस्य वाचकः, यथा गोशब्दो गोत्वस्य । प्रयुज्यते चैवं गवयशब्दो गौसदृशे, इति तस्यैव वाचक इति तत् ज्ञानमनुमानमेव ।

अन्तर्भवन्तीति ॥ तत्र प्रथममुपमानन्तर्भावयितुमुपक्रमते—तथाहीति । नैयायिकाः— नागरिकेण 'कौदृशो गवयः'—इति पृष्ठ आरण्यकः प्रसिद्धेन गवा साधन्यात् अप्रसिद्धं गवयं येन 'यथा गौस्तथा गवयः'—इति वाक्येन बोधयति—'गवयो गवयपदवाच्य' इति बोधं उपमिति जनयति,—तद् वाक्यम् उपमानम्,—इत्येवमुपमानं वर्णयन्ति, तन्मतं दर्शयति—उपमानमिति । तावत्—वाक्याऽलंकारे । उपमानस्वरूपं दर्शयति—'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यमुपमानमिति । सांख्यनवे चित्तवृत्तेः प्रमाणत्वात् वाक्यस्य उपमानात्मकतादृशवाक्यजन्यवाक्यार्थज्ञानात्मकतां दर्शयितुमाह—तज्जनिता धीरिति । वाक्यजनिता या चित्तवृत्तिरूपा धीः—वाक्यार्थज्ञानं सा आगम एव—आगम-प्रमाणमेवेत्यर्थः । 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानमेवोपमानम्, तज्जन्त्यं फलं च 'गवयपदवाच्यत्वेन गवयं जानामी'ति पौरुषेयो बोधः शब्दप्रमा फलमिति भावः ॥ अन्ये तार्किकाः—संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं—'गवयशब्दो गौसदृशस्य वाचक' इत्याकारकम्—उपमिति, तत्र 'गौसदृशो गवयपदवाच्य' इत्युपदेशवाक्यार्थस्मरणद्वारा तादृशवाक्यजन्यं 'गौसदृशो गवयः'—इति सादृश्यज्ञानं करणम्, तदेवोपमानमिति वदन्ति, तन्मतं दूषयितुमाह—योऽप्ययमिति । योऽपि 'गवयशब्दः गौसदृशस्य वाचकः'—इति—इत्ययं प्रत्ययः—उपमितिप्रमा, सोऽपि—सा प्रमाऽपि, अनुमानसाध्या भवति अतः तत्करणम्—अनुमानमेव न तूपमानमित्यर्थः । अनुमानन्तु—'गवयपदं—गौसदृशपिण्डवाचकम्,—असति लक्षणादिवृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वादिति । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानात्मकस्योपमानफलस्याऽनुमानेनैव निष्पन्नत्वाच्च तदर्थं पृथगुपमानं मानान्तरमुपेयमिति भावः ॥ उक्तानुमानप्रयोगसामग्रीमाह—यो हि शब्द इति । अत्र व्याप्तिस्वरूपोपदर्शनमुखेन 'असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वादिति हेतुस्वरूपं दाशितम् । 'यो हि शब्दः असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैर्यत्र प्रयुज्यते स तस्य वाचकः' इत्यन्वयः । वृत्त्यन्तरे—वृत्तिर्द्विविधा—'शक्तिः' 'लक्षणा' च, केचन 'गौरी' अपि मन्यन्ते, अतः वृत्त्यन्तरे—लक्षणादिवृत्त्यन्तरे इत्यर्थः । हेतो 'असति वृत्त्यन्तरे'—इति पदानुपादाने 'गङ्गायां घोष'—इत्यत्र लक्षणावृत्त्या वृद्धैः तीरादौ प्रयुज्यमानत्वस्य हेतोः 'गङ्गा'पदे सत्त्वात् तत्र तीरवाचकत्वात्मकसाध्यस्याऽभावाद्द्वयमिचारः स्यादतः 'असति वृत्त्यन्तरे'—इति हेता-नुपात्तम् । शब्दार्थस्तु—यो हि शब्दः—यः गवयशब्दः, असति वृत्त्यन्तरे—लक्षणादिवृत्तिमानाश्रित्य, वृद्धैः—आतैः, यत्र—गौसदृशे-गवयपिण्डे, प्रयुज्यते अतः सः—गवयशब्दः, तस्य—गौसदृश(गवय)-पिण्डस्य, वाचकः—शक्तिमान् भवतीति । उदाहरणमाह—यथा गोशब्दो गोत्वस्येति । यथा गोशब्दः लक्षणादिवृत्तिमानाश्रित्य वृद्धैः गोत्वसामान्यविशेषे गवि प्रयुज्यते अतः गोत्वस्य—गोत्व-सामान्यविशेषगोपिण्डस्य वाचको भवति तथेत्यर्थः ॥ उपनयमाह—प्रयुज्यते चैव गवयशब्दो गौसदृशे इति । गवयशब्दः असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैः गौसदृशे पिण्डे प्रयुज्यते इत्यर्थः ॥ निगमन-माह—इति तस्यैव वाचकः । इति—तस्मात्, तस्यैव—गौसदृशपिण्डस्यैव, वाचकः—शक्त्या बो-धकः ॥ उपसंहरति—इति तज्ज्ञानमिति । इति—इत्येवम्, तज्ज्ञानम्—संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानम्, अनुमानमेव—अनुमानफलमेव—अनुमैवेत्यर्थः ॥ अथ मीमांसकाः—वृष्टगोपिण्डस्य नागरिकस्यारण्यं

यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत् प्रत्यक्षमेव । अत एव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम् । न त्वन्यद्गवि सादृश्यम् । अन्यच्च गवये । भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते । सामान्ययोगश्चैकः । स चेद्गवये प्रत्यक्षः, गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति, यत्र प्रमाणान्तरमुपमानं भवेत्, इति न प्रमाणान्तरमुपमानम् । एवमर्थापत्तिरपि न प्रमाणान्तरम् । तथा हि—जीवितश्चैत्रस्य गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्याऽदृष्टस्य कल्पनमर्था-

प्राप्तस्य साक्षाद्गवयमीक्षमाणस्य प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टाऽसन्निकृष्टगोपिण्डग्रहणात्मकं 'अनेन सदृशो मदीया गौ'रिति ज्ञानं जायते, तत्र 'गोसदृशो गवय' इतिज्ञानमुपमानम्, 'गौः गवयसदृशो' इति ज्ञानम् उपमितिः फलमिति मन्यन्ते, तद् दूषयति—यत्तु इति । चक्षुःसन्निकृष्टस्य=अरण्ये चाक्षुषप्रत्यक्षविषयस्य, गवयस्य=गवयपिण्डस्य, गोसादृश्यज्ञानम्='गोसदृशो गवय' इति ज्ञानं, तत् प्रत्यक्षमेव, कुतः ? गवयेन चक्षुःसंयोगे सति जायमानत्वात् तत्र गवये गोसादृश्यं नाम गोगतभूयोऽवयवधर्मयोगः, ते च धर्माः लाङ्गलत्वश्चन्द्रत्वादयः चक्षुःसन्निकर्षेण संयुक्तसमवायादिना प्रत्यक्षा भवन्तीति ॥ ननु भवतु गवयनिष्ठ-गोसादृश्यस्य प्रत्यक्षम्, गोनिष्ठ-गवयसादृश्यस्य ज्ञानम् उपमित्यात्मकं कथं प्रत्यक्षं स्यात्, तत्र गवा सन्निकर्षाऽभावादत आह—अत एवेति । ये गोगता धर्माः त एव गवयगताः, ये च गवयगतास्त एव गोगताः, तथा च गवये यदि प्रत्यक्षास्तहि असन्निकृष्टे गव्यपि प्रत्यक्षा एव एकधृते प्रत्यक्षस्य घटत्वस्य सर्वेषु धृतेषु प्रयक्षवत्,—इति वक्ष्यमाण-हेतोर्वित्थः । स्मर्यमाण्यायाम्=स्मृत्यारूढायाम् प्रत्यक्षायामिति यावत्, गवि गतं यत् गवयसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षप्रमात्मकमेव, अतो नोपमानस्य प्रमाणान्तरतेति भावः । 'अत एव'त्यनेन दर्शितं हेतुमाह—न ह्यन्यदिति । हि=यतः, गवि अन्यत् सादृश्यम्, गवये च अन्यत् सादृश्यम्,—इति नास्ति, अतः उभयोः सादृश्यस्यैकत्वेन गवये सादृश्यस्य प्रत्यक्षात् गव्यपि प्रत्यक्षमेवेति ॥ कथमुभयगतसादृश्यैकत्वमत आह—भूयोऽवयवेति । गवयसकाशत् जात्यन्तरे=गोपदार्थे, वर्तमानो यो भूयोऽवयवसामान्ययोगः=भूयसामवयवानां यानि सामान्यानि खुरत्वलाङ्गलत्वश्चन्द्रत्वादीनि तेषां यः सम्बन्धः स एव जात्यन्तरवर्ती=गवयवर्तो सादृश्यमुच्यते, स च भूयोऽवयवानां सामान्ययोगः=धर्मयोगः गोत्वादिवदेकः, स चेत् गवये प्रत्यक्षः ? तर्हि गव्यपि प्रत्यक्ष एवेति भावः ॥ उपसंहरति—इति नोपमानस्येति । इति=इत्येवं, प्रत्यक्षसिद्धे सादृश्यज्ञाने सति, नोपमानस्य=उपमानात्मककरणस्य, प्रमेयान्तरम्=प्रत्यक्षप्रमेयातिरिक्तं=उपमेयं वस्तु किञ्चिदस्ति, यत्र=उपमेये, उपमानम् प्रमाणान्तरम्=प्रत्यक्षातिरिक्तं प्रमाणम् भवेदिति । इत्यस्माद् हेतोः न उपमानं प्रमाणान्तरमित्यर्थः ॥ अथ भाट्टाः वेदान्तिनश्च अर्थापत्तिं प्रमाणान्तरं मन्यन्ते, तामनुमानेऽन्तर्भावितुमुपक्रमते—एवमर्थापत्तिरपीति । न प्रमाणान्तरम्=न अनुमानाऽतिरिक्तं प्रमाणमित्यर्थः । 'जीवैश्चैत्रो गृहे नास्तीति' दृष्टे सति जीवितश्चैत्रस्य गृहाऽभावदर्शनेन=गृहाऽसत्त्वप्रत्यक्षेण अदृष्टस्य=अप्रत्यक्षस्य बहिर्भावस्य=बहिःसत्त्वस्य कल्पनम् अर्थापत्तिः प्रमा बृद्धानां=मीमांसकानाम् अभिमता इति । तत्र अर्थस्य=अप्रत्यक्षस्य बहिःसत्त्वस्य आपत्तिः कल्पना सा अर्थापत्तिः प्रमा=उपपादकज्ञानमिति यावत् । अर्थस्य=अप्रत्यक्षाऽर्थस्य=बहिःसत्त्वात्मकस्य आपत्तिः यस्मात्=प्रत्यक्षविषयजीवित्व-चैत्रीय-गृहासत्त्वात्मकात् अर्थात् तत् जीवित्वैत्रगृहाऽसत्त्वज्ञानम् अर्थापत्तिप्रमाणम्=उपपाद्यज्ञानमित्यर्थः । येन विना यदनुपपन्नं तत् तदुपपादकम्, बहिःसत्त्वं विना जीवित्वैत्रस्य गृहाऽसत्त्वमनुपपन्नमिति बहिःसत्त्वम् उपपादकम्, गृहाऽसत्त्वमुपपाद्यमिति । उपपाद्यज्ञानं प्रमाणम्, उपपादक-



पत्तिरभिमतता वृद्धानाम् । साऽप्यनुमानमेव । यदा खल्वव्यापकः सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति । यदाऽव्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति, इति सुकरः स्वशरीरे व्याप्तिग्रहः । तथा च सतो गृहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानमेव । न च चैत्रस्य क्वचित्सत्त्वेन गृहाभावः शक्योऽपह्नोतुम्, येनाऽसिद्धो गृहाभावो बहिर्भावे न हेतुः स्यात् । न च गृहाभावेन वा सत्त्वमपह्न्यते, येन सत्त्वमेवाऽनुपपद्यमानमात्मानं न बहिरवस्थापयेत् । तथा हि—चैत्रस्य गृहासत्त्वेन सत्त्वमात्रं विरुध्यते, गृहसत्त्वं वा ?

ज्ञानम् फलमिति ॥ तदनुमानेऽन्तर्भावयति—साऽप्यनुमानमेवेति । अनुमानप्रयोगश्च—‘चैत्रः—बहिरस्तितावान्,—जीवित्वे सति गृहाऽसत्त्वात्,—त्वशरीरवत्’ इति । तत्र ‘गृहासत्त्वात्मकस्य उपपाद्यज्ञानस्य लिङ्गविधयाऽनुमानेऽन्तर्भावः, तन्न्यायाः बहिःसत्त्वप्रमाया अनुमितित्वमेवेति ॥ उक्तानुमानेऽन्वयव्याप्तिं दर्शयति—यदा खल्विति । खलु—निश्चयार्थकः । ‘योहि—अव्यापकः=परिच्छिन्नः, सन्=विद्यमानश्च, एकत्र=एकस्थले, नास्ति तदा अन्यत्र=अन्यस्थले अस्ति’—इति अन्वयव्याप्तिः ॥ व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति—यदाऽव्यापक इति । ‘यदा अव्यापकः अन्यत्र नास्ति तदा एकत्राऽस्ती’—त्यन्वयः, अर्थस्तु=यः अव्यापकः=परिच्छिन्नः विद्यमानश्च सन्,—अन्यत्र नास्ति=बहिःसत्त्वाऽभाववान् सः एकत्राऽस्ति=गृहाऽसत्त्वाऽभाववान्=गृहसत्त्ववान्’—इति ॥ वृद्धान्तं दर्शयति—स्वशरीरे इति । व्याप्तिग्रहः सुकरः ॥ उपसंहरति—तथा चेति । तथा च=उक्तप्रकारेण व्याप्तिज्ञाने सति । सतः=जीवतश्चैत्रस्य । गृहाभावदर्शनेन=गृहासत्त्वज्ञानात्मकेन लिङ्गेन=जीवित्वे सति गृहासत्त्वादिति हेतुना । बहिर्भावदर्शनम्=बहिःसत्त्वज्ञानम्, तत् अनुमानमेव=अनुमानसाध्या अनुमाप्रमैवेत्यर्थः ॥ निरुक्तानुमाने हेतोः पक्षधर्मतां दर्शयितुं स्वरूपाऽसिद्धिमाशंक्य निरस्यति—न च चैत्रस्येति । अयमाशंकाऽस्मिन्नायः—‘चैत्रः—कचित्दस्ति,—जीवित्वे सति गृहाऽसत्त्वादिति यदनुमानं, तत्र पक्षे चैत्रे ‘कचित्सत्त्व’रूपो धर्मो वर्तते, तत्र ‘कचित्’पदेन देशो ग्राह्यः, तेन देशसत्त्वमिति—आयातम्, देशश्च गृहात्मकोऽपि भवितुमर्हति, तथा च ‘गृहसत्त्व’मिति आयातम्, एवं च—यदि चैत्रे गृहसत्त्वं वर्तते तर्हि गृहसत्त्वेन सह गृहाऽसत्त्वस्य विरोधात् ‘गृहाऽसत्त्वा’दिति यो हेतुः स चैत्रे पक्षे न वर्तते, इत्येवं स्वरूपाऽसिद्धो हेतुः बहिःसत्त्वात्मकं साध्यं कथं साधयेदिति । तत्र यदि साध्यं वर्तते तर्हि हेत्वसिद्धिः, यदि हेतुर्वर्तते, तर्हि साध्यासिद्धिरिति । उत्तरं तु—‘विरोधाऽभावादित्यग्रे वक्ष्यते, तथाहि—‘कचित्सत्त्वा’त्मकसाध्यस्य गृहमिन्न प्रदेशो विषयः अतः गृहमिन्नदेशसत्त्वेन सह गृहाऽसत्त्वस्याऽविरोधात् ‘गृहाऽसत्त्वादिति’ न असिद्धो हेतुरिति । शब्दार्थस्तु—चैत्रस्य=पक्षपदार्थस्य, कचित्सत्त्वेन=कचित्सत्त्वमिति—साध्यात्मकधर्मेण सह, गृहाऽसत्त्वस्य विरोधं कल्पयित्वा गृहाऽभावः=गृहाऽसत्त्वमिति हेत्वशः, अपह्नोतुम्=अपनेतुम्=असिद्धं कर्तुं, न च शक्यः । यतः=येन गृहाऽसत्त्वाऽपनयनात्मकेन कारणेन, गृहाऽभावः=गृहासत्त्वादिति हेतुः, असिद्धः=स्वरूपाऽसिद्धः सन्, बहिर्भावे=बहिःसत्त्ववानिति साध्ये, हेतुः=सद्वेतुः, न स्यादिति ॥ एवम्—चैत्रे हेतोः सत्त्वे आशङ्कितां साध्याऽसिद्धिं निरस्यति—न च गृहाऽभावेनेति । गृहाऽभावेन=गृहाऽसत्त्वेन चैत्रवृत्तिधर्मेण वा, सत्त्वम्=बहिरस्ती’तिसाध्यैकदेशः सत्त्वम्, न च अपह्न्यते=न च अपनीयते, न च असिद्धं क्रियते, येन=सत्त्वाऽपनयनात्मकारणेन, सत्त्वमेव=कचित्सत्त्वात्मकं साध्यमेव, अनुपपद्यमानम्=अनिष्पन्नं=असिद्धं सत्, आत्मानं=त्वं नीजं (सत्त्वमेव), बहिः=बहिर्देशस्थचैत्रे, न अवस्थापयेत्=न अवस्थापयितुं शक्नुयादित्यर्थः । तथा च बहिःसत्त्वात्मकसाध्यस्य चैत्रे सत्त्वान्न साध्याऽप्रसिद्धिशङ्केति भावः ॥ कचित्सत्त्वगृहाऽस-

न तावद्यत्र क्वचन सत्त्वस्याऽस्ति विरोधो गृहासत्त्वेन, भिन्नविषयत्वात् । देशसामान्येन गृहविशेषाक्षेपोऽपि पाक्षिक इति समानविषयतया विरोध इति चेत्, प्रमाण-  
विनिश्चितस्य गृहेऽसत्त्वस्य पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगात् ।  
नाऽपि प्रमाणनिश्चितो गृहाभावः पाक्षिकमस्य गृहसत्त्वं प्रतिक्षिपन् सत्त्वमपि प्रति-

त्त्वयोर्विरोधाऽभावं स्पष्टयितुं द्वेधा विकल्पयति-तथाहि चैत्रस्येति । चैत्रस्य=चैत्रवृत्तिना, गृहाऽ-  
सत्त्वेन=गृहाऽसत्त्वेन सह, सत्त्वमात्रम्=यत्र कचन सत्त्वम्, विरुद्धयते ? इत्येको विकल्पः ।  
गृहसत्त्वं वा विरुद्धयते-इति द्वितीयो विकल्पः ॥ आद्यं विकल्पं निराकरोति-न तावदिति । ताव-  
दिति-वाक्यालंकारे । गृहाऽसत्त्वेन सह यत्र कचन सत्त्वस्य विरोधो नास्ति ॥ अत्रार्थं हेतुमाह-  
भिन्नविषयत्वादिति । भिन्ननिरूपकत्वादित्यर्थः । यन्निरूपितं चैत्रे सत्त्वं असत्त्वं च तत् सत्त्वस्य  
असत्त्वस्य च विषयो निरूपकं भवति, चैत्रे असत्त्वं गृहनिरूपितमिति असत्त्वस्य गृहात्मकप्रदेशो  
विषयः निरूपकः, सत्त्वस्य बाह्यप्रदेशो विषयः निरूपकः, तथा च भिन्ननिरूपित-सत्त्वाऽसत्त्वयोर्न-  
विरोध इति भावः ॥ गृहाऽसत्त्वं वा=विरुद्धयते-इतिद्वितीयविकल्पानुसारेण विरोधमापादयितुं  
मीमांसकः गृहाऽसत्त्वं-कचित्सत्त्वयोरेकविषयत्वं सम्पादयति-देशसामान्येनेति । जीवो चैत्रः  
कचिदस्तांत्पत्र कचित्पदप्राप्तेन सत्त्वनिरूपकेन देशसामान्येन तन्मध्यपातिनः ( तादृशदेश-  
सामान्यान्तःपातिनः ) गृहात्मकदेशविशेषस्यापि आक्षेपः=अर्थाह्नाभोऽपि, पाक्षिकः=पक्षे  
प्राप्तः=देशकभागे प्राप्तः, इति=अतः, समानविषयतया=एकनिरूपकतया=गृहनिरूपकतया, चैत्र-  
वृत्तिसत्त्वाऽसत्त्वयोर्विरोधः, एवं च पूर्वोक्ता स्वरूपासिद्धिः साध्याऽप्रसिद्धिर्वेति भावः ॥ दर्शितं विरोधं  
निपेधति-नेति । प्रमाणविनिश्चितस्य=प्रत्यक्षादिप्रमाणेन निश्चितस्य, गृहेऽसत्त्वस्य=गृहनिरूपिताऽ-  
सत्त्वस्य । पाक्षिकतया=संभावनामात्रेण पक्षे देशकभागे प्राप्ततया, न तु वस्तुतः-इति हेतोः । सां-  
शयिकेन=संशयमापन्नेन-‘चैत्रवृत्तिसत्त्वं गृहनिरूपितं नवे’तिसंशयविषयेण । गृहसत्त्वेन=गृहनिरू-  
पितसत्त्वेन । प्रतिक्षेपाऽयोगात्=गृहाऽसत्त्वात्मकहेतोः प्रतिक्षेपस्य अपनयस्य स्वरूपाऽसिद्धेः कर्तुं-  
मशक्यत्वादित्यर्थः । प्रमिताऽप्रमितयोरेकत्र प्राप्नो प्रमितेनाऽप्रमितस्य प्रतिक्षेपो भवति न त्वप्रमितेन  
प्रमितस्य, तथा च स न असद्वस्तुरिति भावः ॥ ननु यथा प्रत्यक्षसिद्धं (प्रमितं) गृहाऽसत्त्वं गृहसत्त्वं  
प्रतिक्षिपति तथा सत्त्वमात्रमपि प्रतिक्षिपेदित्याशंकायामाह-नाऽपीति । प्रमाणविनिश्चितः=प्रत्यक्ष-  
प्रमाणसिद्धः, गृहाऽभावः=गृहाऽसत्त्वम्, अस्य=चैत्रस्य, पाक्षिकम्=पक्षे, आक्षेपात् प्राप्तं गृहसत्त्व-  
म्, प्रतिक्षिपन्=अपनुदन् सन्, सत्त्वमपि=यत्र क्वचन सत्त्वमपि, प्रतिक्षेपमुम्=अपनेतुम्, अर्ह-  
ताति न युक्तम् । एवम्-गृहसत्त्वस्य सांशयिकत्वम्=चैत्रवृत्तिसत्त्वं गृहनिरूपितं न वे’तिसंशयवि-  
षयत्वं च व्यपनेतुं=दुरीकर्तुम् अर्हताति च न युक्तमित्यर्थः । यद्यपि यत्र भावाऽभावेति कोटिद्वये एक-  
कोटिनिश्चयस्तत्राऽपरकोटिबाधो भवति, यत्र च कोटिद्वयेऽप्येकतरस्य न निश्चयस्तत्रैव संशयो भव-  
ति, अत्र च प्रत्यक्षेण गृहाऽसत्त्वं (गृहनिरूपितसत्त्वाऽभावः) निश्चितमेवेति गृहसत्त्वं बाधितं भवेत्  
न तु संशयितम्, तथापि-प्रत्यक्षसिद्धवस्तुविरोधितया ज्ञातेऽप्यर्थे आक्षेपात् आहार्यसंशयजनने  
बाधकाऽभावादित्यभिप्रायेण गृहसत्त्वस्य सांशयिकत्वमभिहितम् । वस्तुतस्तु-‘सांशयिकत्व’मि-  
त्यस्य ‘सामविकत्व’मित्यर्थः-आक्षेपात् संभावनाविषयतामात्रमिति यावत्, एवं च गृहाऽसत्त्वस्य  
प्रबलतयाऽनुमापकत्वमव्याहतमिति सूक्ष्ममीक्षणीयम् । तन्निष्ठावच्छेदकताकतन्निष्ठप्रकारताकतदभाव-  
वत्ताबुद्धिः तन्निष्ठावच्छेदकताकतन्निष्ठप्रकारताकतदत्ताबुद्धिं प्रति प्रतिबन्धिका भवति, न तु केवलां  
तदत्ताबुद्धिं प्रति, तथा च निरूपितत्वसम्बन्धेन गृहनिष्ठावच्छेदकताक-सत्त्वनिरूपकप्रकारताकसत्त्वा-



क्षेप्तुं सांशयिकत्वं च व्यपनेतुमर्हतीति युक्तम् । गृहावच्छिन्नेन चैत्राभावेन गृहसत्त्व विरुध्यते, न तु सत्त्वमात्रम्, तस्य तत्रौदासीन्यात् । तस्माद्गृहाभावेन लिङ्गेन सिद्धेन संतो बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तम् । एतेन—“विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थयाऽविरोधापादनमर्थापत्तेर्विषयः” इति निरस्तम्, अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोर्विरोधाभावात् । उदाहरणान्तराणि चार्थापत्तेरेवमेवानुमानेऽन्तर्भावनीयानि । तस्मान्नाऽनुमानात्प्रमाणान्तरमर्थापत्तिरिति सिद्धम् । एवमभावोऽपि प्रत्यक्षमेव । न हि भूतलस्य

ऽभाववत्तादुद्धिः (गृहनिरूपितसत्त्वाभावर्वाश्चैत्र’इत्याकारिका) गृहनिष्ठाऽवच्छेदकताक—सत्त्वनिष्ठप्रकारताकसत्त्ववत्तादुद्धिः (गृहनिरूपितसत्त्वर्वाश्चैत्र’—इत्याकारिका)प्रति प्रतिबन्धिका भवति न तु सत्त्वर्वाश्चैत्र इति बुद्धिः प्रति, सर्वत्र तत्सत्त्वमानाऽपलापाऽपत्तेः, तथा च सत्त्वेन सह गृहाऽसत्त्वस्य विरोधाऽभावात् न स्वरूपाऽसिद्ध्यादयः, इत्यभिप्रायेणाह—गृहाऽवच्छिन्नेनेति । गृहावच्छिन्नेन=साक्षात्कृतेन गृहावच्छेद्येन =गृहवृत्तिताविशिष्टेन,=गृहनिष्ठेनेति यावत्, चैत्राऽभावेन=चैत्रप्रतियोगिताकाऽभावेन, विरोधिना गृहनिरूपितसत्त्वाऽभावेन चैत्रनिष्ठेनेति फलितार्थः । गृहसत्त्वं=गृहनिरूपितसत्त्वं, विरुद्धत्वात्=विरोधवत्त्वात्, विरोधः—तदभावत्वं—गृहसत्त्वाभावाऽभावत्वं, तद्वत् गृहसत्त्वं गृहसत्त्वाभावस्य विरुद्धमिति हेतोरित्यर्थः । प्रतिक्रियते=वाध्यते । सत्त्वमात्रं तु न प्रतिक्रियते, कुतः ? तत्र तस्यौदासीन्यात्=तत्र=सत्त्वमात्रवाधने, तस्य गृहाऽसत्त्वस्य, औदासीन्यात्=विरोधाऽभावेन निर्व्यापारत्वादित्यर्थः ॥ उपसंहरति—तस्मादिति । यतो गृहाऽसत्त्वं सिद्धं तस्मादित्यर्थः । सिद्धेन गृहाऽभावेन लिङ्गेन=प्रत्यक्षसिद्धगृहाऽसत्त्वात्मकहेतुना, सतः=जीवतश्चैत्रस्य, बहिर्भावः=बहिःसत्त्वम् अनुमीयते—‘चैत्रः—बहिःसत्त्ववान्,—जीवित्वे सति गृहाऽसत्त्वादि’ति युक्तम् ॥ ये तु—‘जीवो चैत्रः क्वचिदस्ती’ति सामान्येन सत्त्वबोधकस्य ज्योतिःशास्त्रात्मकागमप्रमाणस्य गृहाऽसत्त्वावेदकेन प्रत्यक्षप्रमाणेन सह विरोधः तत्परिहारायाऽऽगमस्य अविरुद्ध—बहिर्देशसत्त्वविषयकत्वकल्पनम् अर्थापत्तिप्रमाणकार्यमिति मन्यन्ते, तन्मतमपि एतेन...निरस्तमिति दर्शयति—एतेनेति । सत्त्व—गृहाऽसत्त्वयोर्विरोधाऽभावप्रतिपादनेन, वक्ष्यमाणेन ‘अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोर्विरोधाऽभावादि’ति हेतुना वेत्यर्थः । निरस्तमित्यनेनाऽवयवः ॥ किं निरस्तम् ? इत्यतस्तन्मतमाह—विरुद्धयोरिति । सत्त्व—गृहाऽसत्त्वात्मकविरुद्धार्थसाधकयोः । प्रमाणयोः—आगम—प्रत्यक्षयोः । विषयव्यवस्थया=आगमस्य बहिःसत्त्वं विषयः, प्रत्यक्षस्य तु गृहाऽसत्त्वं विषयः,—इति व्यवस्थया, अविरोधाऽऽपादनम्=अविरुद्ध(भिन्न)विषयकत्वाऽऽपादनम्, अर्थापत्तिप्रमाणस्य विषयः=फलमिति मतं, तन्निरस्तमिति ॥ तत्र हेतुमाह—अवच्छिन्नेति । गेहावच्छिन्नम् असत्त्वम् प्रत्यक्षसिद्धम्, गेहाऽनवच्छिन्नं च सत्त्वम् आगमसिद्धम्, तयोः विरोधाऽभावात्, तच्छमनार्थं अर्थापत्तिप्रमाणान्तरस्वीकारो निरर्थक एवेति भावः ॥ उदाहरणान्तराणीति । ‘पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते’—इति वाक्यावगतेन पीनत्वेन यद्वा रात्रिभोजनकरूपनात्मकं श्रुतार्थाऽऽपत्तेः फलम्, एतदप्यर्थापत्तिप्रमाणम् अनुमानेऽन्तर्भावनीयम्,—व्यतिरेकानुमानं—‘देवदत्तः—रात्रौ भुङ्क्ते,—दिवाऽमुजानत्वे सति पीनत्वादि’ति, ‘यः नक्तं न भुङ्क्ते स दिवाऽमुजानः सन् पीनोऽपि न भवति, यथा नवरात्रौ पद्मासीति ॥ उपसंहरति—तस्मादिति । अनुमानप्रमाणात् अर्थापत्तिप्रमाणं न भिन्नमित्यर्थः ॥ एवं भाट्टा वेदान्तिनश्च—‘यच्च घटः स्यात् तर्ह्युपलभ्येत, यतो नोपलभ्यतेऽतो नास्ती’ति—योग्यवस्तुपलम्भाभावजन्यम् ‘अत्र घटो नास्ती’ति—अभावज्ञानम् अनुपलब्धिप्रमाणफलमिति मन्यन्ते, तन्मतं खण्डयति—एवमभावोऽपीति । एवम्=यथा अर्थापत्तिः अनुमानेऽन्तर्भूता तथा, अभावोऽपि=अभावज्ञानजन-

परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम । प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे एव भावाः, ऋते चित्तिशक्तेः । स च परिणामभेद ऐन्द्रियक इति नास्ति प्रत्यक्षान्वरुद्धो विषयो यत्राऽभावाद्ध्यं प्रमाणान्तरमभ्युपेयेतेति । सम्भवस्तु, यथा खार्यां द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगमः । स चाऽनुमानमेव । खारीत्वं हि द्रोणाद्यविनाभूतं प्रतीतं

कम् अनुपलब्धिप्रमाणमपि, प्रत्यक्षमेव=प्रत्यक्षप्रमाणान्तर्गतमेवेत्यर्थः ॥ ननु अभावेन सह इन्द्रियसन्निकर्षाऽभावात् अभावो नेन्द्रियप्रत्यक्षः स्यात् इत्याशंकायाम् अभावस्य भूतलाधात्मकत्वं दर्शयति—न हीति । हि=यतः । 'भूतले घटाऽभाव' इत्यादौ भूतलस्य परिणामविशेषात्=परिणामस्त्रिविधः—धर्मपरिणामः, लक्षणपरिणामः, अवस्थापरिणामश्च, अत्र च 'भूतले घटवत्ता'दशयां यः सद्भितीयत्वाख्यधर्मस्तस्य घटाऽभाववत्तादशयां परिणामः 'केवलं भूतल'मिति—कैवल्यात्मकधर्मान्तरपरिणामः स एवाऽभावपदार्थः स च अधिकरणभूतलात्मक एवेति—तादृशात्, कैवल्यलक्षणात्=कैवल्यं=प्रतियोग्यात्मकभावाऽसंस्पृष्टत्वरूपं केवलत्वमेव लक्षणं=स्वरूपं यस्य तस्मात्, अन्यः=पदार्थान्तरम्, न=नास्ति, घटाभावः । अभावोऽधिकराणात्मकः, अधिकरणस्य चेन्द्रियग्राह्यत्वात्—अधिकराणात्मकाऽभावस्यापिन्द्रियग्राह्यत्वात् तदर्थमनुपलब्धिस्वीकरणमनर्थकम् एवेति भावः ॥ भूतलस्य परिणामान्तरप्राप्तौ सांख्यसिद्धान्तं दर्शयति—प्रतिक्षणेति । सर्वे एव भावाः=‘इदं सत् इदं सत्’ इति प्रतीतिविषयतया भावत्वेन अभिमताः सर्वे प्रकृतिमहत्त्वादिस्थूलभूतान्ताः पदार्थाः, प्रतिक्षणपरिणामिनः=क्षणं क्षणं प्रति परिणामं प्राप्नुवन्तीति, तेषां त्रिगुणात्मकत्वेन परिणामप्रयोजकस्य चलधर्मस्य रजस्तत्राऽन्वयादिति ॥ ननु भावपदार्थस्य आत्मनोऽपि परिणामाऽऽपत्तिः एषा ? अत आह—ऋते चित्तिशक्तेरिति । चित्तिशक्तिः=चेतनः, तद्धिनेत्यर्थः, आत्मा तु निर्धर्मकः इति भावः । एतेन—‘आत्मापि बोधात्मकः क्षणिकः—इति सर्वक्षणिकतावादिबोद्धमतात्—’स्वमतं भिन्नं दर्शितमिति बोध्यम् ॥ नन्वस्तु अभावस्य भूतलपरिणामाऽऽत्मकत्वम्, एतावता अनुपलब्धेः कथं न मानान्तरता ? इत्यत्राह—स च परिणामभेद इति । सः=कैवल्यात्मकः धर्मपरिणामविशेषः ऐन्द्रियकः=इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषय एव, इति=अतः, प्रत्यक्षाऽनवरुद्धः=इन्द्रियात्मकप्रत्यक्षप्रमाणाऽग्राह्यः, विषयः=अभावाख्यः कश्चित् पदार्थः, नास्ति=न विद्यते, यत्र=अभावविषयकज्ञाने, अभावाख्यम्=अभावज्ञानजनकाऽनुपलब्ध्याख्यं, प्रमाणान्तरम्=प्रत्यक्षप्रमाणातिरिक्तं प्रमाणम्, अभ्युपेयेतेति' तथा च अनुपलब्धिग्राह्यत्वेनाऽभिमतस्य प्रमेयस्य ऐन्द्रियकत्वात् नानुपलब्धेः मानान्तरत्वमिति भावः ॥ पौराणिकाः—‘संभवम्’प्रमाणान्तरं वदन्ति—तद्यथा—‘खार्या द्रोणाऽऽढकप्रस्थाद्यवगमः’ तत्र ‘खारी’ल्युक्ते द्रोणाऽऽढकप्रस्थादिसमावेशोऽप्युक्तो भवतीति, ‘शतवानि’ल्युक्ते ‘पञ्चाशद्धानि’त्यप्युक्तं भवति, तदुभयत्र खार्या द्रोणादीनां संभवः, शते पञ्चाशत्संभवश्चेति प्रमाणान्तरमिति वदन्ति,—तन्मतं दर्शयति—सम्भवस्तु—यथा खार्या द्रोणाऽऽढकप्रस्थाद्यवगम इति । द्रोणचतुष्टयं खारो, चतुराढकश्च द्रोणः, चतुःप्रस्थं चाऽऽढकम्, चत्वारः कुडवाश्च प्रस्थम्, मुष्टिचतुष्टयं च कुडव इति, परिमाणविशेषाः, तत्र खार्याख्ये महापरिमाणेऽल्पपरिमाणा द्रोणादयोऽन्तःसंभवन्तीत्येवंविधो योऽवगमः=अवबोधः स सम्भव इत्यर्थः, द्रोणाद्यविनाभूतखारीत्वनिश्चयः संभवप्रमाणमिति फलितार्थः । संभाव्याख्यप्रमाणात् द्रोणादिज्ञानं संभवप्रमाणफलं संभवप्रमितिरिति ॥ तदप्यनुमानेऽन्तर्भावयति—स चानुमानमेवेति । सः=संभवः, अनुमानमेव, न प्रमाणान्तरमित्यर्थः ॥ अनुमानाऽन्तर्भावप्रकारं दर्शयति—खारीत्वमिति—यद् अनुमानं न, न तत् अविनाभावत्वेन अर्थप्रतिपादकं, यच्च अविनाभाव—(व्याप्ति)त्वेन अर्थप्रतिपा-



खार्थां द्रोणादिसत्त्वमवगमयति । यच्चाऽनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमात्रम्—‘इति-होचुर्वृद्धाः’—इत्येतिहम् । यथा ‘इह वटे यक्षः प्रतिवसति’ इति, न तत् प्रमाणान्तरम् । अनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांयधिकत्वात् । आस्रवक्तृकत्वेनश्चये त्वागम एव, इत्युपपन्नं “त्रिविधप्रमाणम्” इति ॥ ५ ॥

एवं तावदव्यक्ताव्यक्तज्ञलक्षणप्रमेयसिद्धयर्थं प्रमाणानि लक्षितानि । तत्र व्यक्तं पृथिव्यादि स्वरूपतः पांशुलपादो हालिकोऽपि प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, पूर्ववता चाऽनुमानेन धूमादिदर्शनात् बहुधादीनि चेति, तद्व्युत्पादनाय मन्दप्रयोजनं शास्त्रमिति

दकं तत् अनुमानमेवेति न्यायात्—खारीत्वं द्रोणाद्यविनाभूतं=द्रोणादिव्याप्यं सत् प्रतीतं भवति—यत्र यत्र खारीत्वं तत्र तत्र द्रोणादिघटितत्वमिति’ द्रोणादिव्याप्यत्वेन प्रतीतं सदेव द्रोणादिसत्त्वमवगमयति यथा वह्निव्याप्यत्वेन प्रतीतो धूमो वह्निसत्त्वं गमयतीति । अतोऽनुमानेऽन्तर्भावः—तथाहि—‘खारी-द्रोणादिघटिता-खारीत्वात्’—इत्यनुमानेन ‘द्रोणादिघटितत्वव्याप्यखारीत्ववत्’—परामर्शेन ‘खारो द्रोणादिघटिते’त्यनुमितिर्भवतीति, द्रोणादिघटितत्वं नाम घटितत्वसंसर्गेण द्रोणादिप्रत्यक्षमिति । एवम्—‘शतं-पञ्चाशद्वटितम्,—यत्तत्त्वादित्यनुमानेन ‘पञ्चाशद्वटितत्वव्याप्यशतत्ववच्चत’मिति—परामर्शेन ‘शतं पञ्चाशद्वटितमि’त्यनुमितिर्भवतीति, पञ्चाशद्वटितत्वं नाम-घटितत्वसंसर्गेण पञ्चाशद्वत्त्वमिति । द्रोणवत्ताज्ञानं पञ्चाशद्वत्ताज्ञानं चानुमैवेति, तदर्थं खारीत्वात्मकसंभवस्य न प्रमाणान्तरेति भावः ॥ ऐतिहासिकानामभिर्मतमैतिह्यास्यप्रमाणं तन्निरासार्थं तत्स्वरूपं दर्शयति—यच्चाऽनिर्दिष्टेति । असौ उच्चारयिता एतदुगोचरप्रमावाङ्मन्येवं विशेषेण न निर्दिष्टः=निश्चितः प्रवक्ता यस्य तत् अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमात्रं=बहुजनपरम्पराप्रवादमात्रं ‘वृद्धा इति ह ऊचुः’—इति वचनम् ऐतिह्यं प्रमाणम्, ‘पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाऽव्ययम्’इत्यमरकोशात् ‘इति ह’—इतिनिपातसमुदायः पारम्पर्योपदेशार्थकः तस्मात् ‘अनन्तावसथेतिहमेपजाञ्ज्यः’इति स्वायं व्यप्रत्यये ऐतिह्यमिति । किमुचुर्वृद्धा इत्याकांक्षायां तदुदाहरणमाह—यथा इह वटे यक्षः प्रतिवसती’ति वाक्यम् । वाक्यजन्यं यच्चनिवासज्ञानं फलं प्रमितिरिति ॥ तदेतन्निषेधति—न तत् प्रमाणमिति ॥ प्रमाणस्य सतः प्रमाणान्तर्भावविचारो युक्तः न त्वप्रमाणस्येति भावः । अप्रमाणत्वे हेतुमाह—अनिर्दिष्टेति । अनिश्चितोच्चारयितृकत्वेन सांयधिकत्वात्=सन्दिग्धत्वात् संशयजनकवाक्यत्वादित्यर्थः । ननु आप्तपरम्परागतप्रवादरूपत्वेनैवेतिह्यस्य प्रमाणत्वमित्यत आह—आसेति । आप्तः—यथार्थवक्ता, तादृश‘यथार्थवक्तृकमिदं वाक्य’मिति वाक्ये यथार्थवक्तृकत्वप्रकारकनिश्चये सति तु आगम एव=तदाक्यं शब्दप्रमाणेऽन्तर्भूतमिति न मानान्तरमैतिह्यमिति भावः । प्रमाणनिरूपणमुपसंहरन् मूलं संगमयति—इत्युपपन्नमिति । इति=यतः अन्यप्रमाणानां प्रमाणत्रये एवाऽन्तर्भावस्तस्मात् । प्रमाणं प्रत्यक्षानुमानागममेदेन त्रिविधमित्युपपन्नमित्यर्थः ॥ ५ ॥

पष्ठ्याः कारिकाया अवतरणाय भूमिकामारचयति—एवं तावदिति । तावत्—वाक्यालंकारे । व्यक्तम्—बुद्धयर्थंकारमनइन्द्रियतन्मात्रस्थूलभूतानां ‘व्यक्त’मिति संज्ञेति (१०) कारिकया निर्दिष्टम् । अव्यक्तं—मूलप्रकृतिः, ज्ञः-आत्मा, एतन्नयस्वरूपप्रमेयसिद्धयर्थं प्रमाणानि-प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमात्मकानि लक्षितानि, तत्र=त्रिविधप्रमेयमध्ये, व्यक्तं=व्यक्तान्तर्गतं यत् सेन्द्रियं स्थूलं पृथिव्यादि, तत् स्वरूपतः=घटपटाद्यात्मकस्थूलस्वरूपेण, पांशुलपादः=पांशुलौ पादौ यस्य सः धूलिधूसरितचरणः, हालिकः=हलबहनशीलः साधारणोऽपि नरः, प्रत्यक्षतः=प्रत्यक्षप्रमाणेन, प्रतिपद्यते=ज्ञानाति । एवं पूर्ववता=पूर्ववत्संज्ञकेन दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयेणाऽनुमानेन धूमादिदर्शनात्=धूमप्रत्यक्षाऽनन्तरं व्याप्ति-

दुरधिगममनेन व्युत्पाद्यम् । तत्र यत् प्रमाणं यत्र शक्तं तदुक्तलक्षणेभ्यः प्रमाणेभ्यो निष्कृत्य दर्शयति—

सामान्यतस्तु दृष्टात्, अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ॥

तस्मादपि चाऽसिद्धम्, परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥ ६ ॥

“सामान्यतः” इति । तुशब्दः प्रत्यक्षपूर्ववद्भयां विशिनष्टि । सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां प्रधानपुरुषादीनां प्रतीतिः—चित्तिच्छायापत्तिर्बुद्धेरध्यवसाय इत्यर्थः । उपलक्षणं चैतत्, शेषवत् इत्यपि द्रष्टव्यम् । तत् किं सर्व्वेन्द्रतीन्द्रियेषु सामान्य-

स्मरणेन बहुधादीनि व्यवहितान्यपि जानाति, इति=अतः, तद्व्युत्पादनाय=स्थूलपृथिव्यादिव्युत्पादनाय यथेतच्छास्त्रं स्यात् तर्हि मन्दप्रयोजनं=अत्यल्पफलमेतच्छास्त्रं भवेत्, इति=अतः, अनेन=सांख्यशास्त्रेण दुरधिगमं=दुरवबोधं=हालिकादिनराऽविदितम् अतीन्द्रियं स्थूलातिरिक्तं सूक्ष्म-तन्मात्रादिव्यक्ताऽव्यक्तचेतनात्मकं प्रमेयम्, व्युत्पादनीयम्=बोधनीयम् । तत्र=सूक्ष्मतन्मात्रादिव्यक्ताऽव्यक्तचेतनेषु मध्ये, यत्र=यस्मिन् प्रमेये, यत् प्रमाणं शक्तम्=व्युत्पादनाहं, तत्=तत् प्रमाणम्, उक्तलक्षणेभ्यः=दर्शितलक्षणेभ्यः द्रव्यज्ञानुमानागमेभ्यः प्रमाणेभ्यः, निष्कृत्य=पृथक्कृत्य, दर्शयति—सामान्यतस्त्विति मूलम् । ‘सामान्यतोदृष्टात् तु अनुमानात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिः, तस्मादपि असिद्धं च परोक्षं आप्तागमात् सिद्धमित्यन्वयः । ‘सामान्यतोदृष्टादित्येतत् शेषवत् इत्यस्यानुपलक्षणम्, तथा च शेषवताऽनुमानेन स्थूलभूतत्वात्मकदृष्टकार्य—लिङ्गेन अतीन्द्रियाणामनुमितिर्भवति यथा—‘स्थूलभूतानि,—स्वविरोपगुणवद्ब्रह्म(तन्मात्रा)कारणकानि,—स्थूलभूतत्वात्, घटवदिति । एवम्—‘प्रत्यक्षकार्यत्व’लिङ्गेनेन्द्रियानुमानं—यथा—‘रूपादिज्ञानानि,—सकरण-(इन्द्रिय)कानि,—प्रत्यक्षत्वे सति कार्यत्वादिति । एवं प्रत्यक्षलिङ्गेन साधितान् पदार्थान् पक्षोक्त्य अहंकारादेः सिद्धिः सामान्यतोदृष्टानुमानेन भवति—यथा—‘तन्मात्रेन्द्रियाणि,—अभिमानवद्द्रव्यो-(अहंकारो)पादानकानि,—अभिमानकार्यत्वे सति द्रव्यत्वादिति, यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति यथा पुरुषे । एवम्—‘अहंकार—द्रव्यम्,—निश्चयवृत्तिमद्द्रव्यो(बुद्धि)पादानकम्,—निश्चयकार्यत्वे सति द्रव्यत्वात् । एवम्—‘सुखदुःखमोहधर्मिणी बुद्धिः—सुखदुःखमोहात्मककारण(प्रकृति)जन्या,—सुखादिमत्कार्यत्वात् । एवम्—‘विवादास्पदं भोग्यं प्रकृत्यादिकम्,—परार्थम्(आत्मार्थम्), संहतत्वात्,—शयनादिवत्,—इति । यत्र न दृष्टं न चानुमानं, तेषां सृष्टिक्रमस्वर्गब्रह्मधामादीनां आगमात् सिद्धिर्बोध्यः यथा ‘प्रकृतेर्महोत्ततोऽहंकार’—इत्यादि प्रमाणं सृष्टिक्रमे, इत्येवं बोध्यमिति ॥ कारिका व्याचक्षणाः ‘सामान्यतस्तु’—इति ‘तु’शब्दस्य कृत्यं दर्शयति—‘तु’ शब्दः प्रत्यक्षपूर्ववद्भयामिति । ‘तु’शब्दः प्रत्यक्षप्रमाणात् सामान्यतोदृष्टानुमानं विशिनष्टि=व्यवच्छिनत्ति, अथ च पूर्ववन्नामकादनुमानात् सामान्यतोदृष्टं व्यवच्छिनत्तीत्यर्थः ॥ सामान्यतोदृष्टादनुमानादित्यस्यार्थमाह—अध्यवसायादिति । सांख्यमते लिङ्गज्ञानजन्यचित्तवृत्तेरनुमानप्रमाणत्वादिति भावः । अतीन्द्रियाणाम्=इन्द्रियाऽग्राह्याणाम्, प्रधानं मूलप्रकृतिःपुरुषश्चेतनः आदिना बुद्धयहंकारमनइन्द्रियाणि ग्राह्याणि,—तेषाम् ॥ प्रतीति’शब्दार्थमाह—चिच्छायापत्तिरिति । आत्मप्रतिबिम्बेन बुद्धेश्चेतनतादालयापत्तिः, तद्वलात् बुद्धिस्थप्रमात्मकव्यापार इत्यर्थः ॥ एनमर्थमाह—बुद्धेरध्यवसाय इति । बुद्ध्या गृहीतानां विषयाणां स्वप्रतिबिम्बिते चेतने समर्पणं फलबोधः प्रमा अनुमितिरित्यर्थः ॥ ‘सामान्यतो दृष्टादिति उपलक्षणम्, तेन ‘शेषवतो’ऽनुमानादप्यतीन्द्रियाणां प्रतीतिर्भवतीति दर्शनार्थमाह—उपलक्षणं चैतदिति । एतत्=‘सामा-



तोदृष्टमेव प्रवर्तते ? तथा च यत्र तन्नास्ति, -महदाद्यारम्भक्रमे स्वर्गापूर्वदेवतादौ च, तत्र तेषामभावः प्राप्त इत्यत आह—“तस्मादपि” इति । तस्मादपीत्येतावतैव सिद्धे चकारेण शेषवत् इत्यपि समुचितम् ॥ ६ ॥

स्यादेतत्, यथा गगनकुसुमकूर्मरोमशशविषाणादिषु प्रत्यक्षमप्रवर्तमानं तदभावमवगमयति, एवं प्रधानादिविषयि । तत्कथं तेषां सामान्यतोदृष्टादिभ्यः सिद्धिः ? इत्यत आह—

न्यतोदृष्टादिति कथनम् । तथा च शेषवदनुमानेन स्थूलभूतात्मकदृष्टकार्यलिङ्गकेन अतोन्द्रियाणि तन्मात्रेन्द्रियाणि साधयित्वा तन्मात्रादानि पक्षोक्त्य च सामान्यतोदृष्टानुमानेन अहंकारबुद्धिप्रकृतिपुरुषाणां सिद्धिर्बोधेति भावः, -अनुमानप्रणाली तु मूलार्थसमये उपर्येव दर्शिता । अधिकं तु ‘श्रीकृष्णवल्लभाचार्यस्वामिनारायण’भाष्येऽवलोकनीयम् ॥ आयोत्तरार्धमुत्थापयितुं शक्ते-तत्किमिति । तत्=तर्हि, किमिति आशङ्कयाम् । अतोन्द्रिययावत्प्रमेय-तद्वधवस्थादिषु सामान्यतोदृष्टानुमानमेव प्रवर्तते=प्रमां जनयति ? तत्र ओमितिवदन्तं प्रत्याह-तथा चेति । तथा च=एवं सति, यत्र महत्तत्त्वाहंकाराद्यारम्भक्रमे स्वर्गादिपरलोके धर्माऽधर्माख्याऽपूर्वे इन्द्रादिदेवतासु आदिना स्वर्गसाधनयागादिषु च, तत्=सामान्यतोदृष्टमनुमानम्, नास्ति=न प्रवर्तते, तेषाम्=स्वर्गादीनाम्, अभावः=असद्भाव एव प्राप्तः । इत्यतः=असद्भावत्वापत्तिरूपहेतोः सत्त्वात्, तन्निरासाय आह-तस्मादपीतीति ॥ सामान्यतोदृष्टानुमानादपीतीत्यर्थः ॥ ननु ‘तस्मादपि यदसिद्धमिति पाठेनैव सामञ्जस्ये ‘चकारः कथं गृहीतः ? इत्याशङ्कां वारयन् न्यूनतां परिहरति—“तस्मादपि” इत्येतावतैव सिद्धे चकारेणेति । तथा च सामान्यतोदृष्टानुमानात् शेषवदनुमानाच्च यदतोन्द्रियं न सिद्धयति तत्र आगमप्रमाणमनुसन्धेयमिति भावः ॥ ६ ॥

प्रधानपुरुषादीनामपदार्थतां शक्ते-स्यादेतदित्यादिना । एतत्=वक्ष्यमाणम् भवेदिति । यथा गगनकुसुमे कूर्मरोमे, शशविषाणे, आदिना काकदन्तादौ, -इत्याद्यवस्तुषु प्रत्यक्षम्=इन्द्रियम् अप्रवर्तमानसत्=साक्षात्कारजनकव्यापारात्मकसन्निकर्षमूलभूतं सत् तदभावम्=गगनकुसुमाद्यभावम् अवगमयति=प्रमापयतीत्यर्थः ॥ यद्यपि अलोकप्रतियोगिकाऽभावोऽप्यलोक एवेति ‘तदभावमवगमयति-’ इतिकथनमयुक्तम्, तथापि प्रसिद्धे कुसुमे गगनीयत्वाऽभावं रोमे कूर्मीयत्वाऽभावं विषाणे शशीयत्वाऽभावं दन्ते काकीयत्वाऽभावम् अवगमयति-अर्थात्-कुसुमसत्तायां गगनोपादानतानिरूपितत्वाऽभावं रोमसत्तायां कूर्मोपादानतानिरूपितत्वाऽभावं विषाणसत्तायां शशोपादानतानिरूपितत्वाऽभावं दन्तसत्तायां च काकोपादानतानिरूपितत्वाऽभावमवगमयति इति । एवम् प्रधानादिविषयि=प्रधाने पुरुषे महत्तत्त्वादौ च प्रत्यक्षात्मकेन्द्रियमप्रवर्तमानं सत् प्रधानाऽऽद्यभावम् अवगमयेत्-अर्थात्-दृष्टान्ते इव दार्ष्टान्तेऽप्यत्र-प्रधाने पुरुषादौ च प्रत्यक्षनिरूपितसत्त्वाऽभावम् अवगमयेदिति तदर्थः । प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपितसत्त्वाऽभावात् ‘असदेव प्रधान’मित्येवमवगमयेदिति भावः ॥ तत्कथमिति । तथा च तत्=तस्मात् असत्त्वादेवेति हेतोः, कथं=केन प्रकारेण, तेषाम्=अप्रामाणिकानाम् अवस्तुभूतानां प्रधानादीनाम्, सामान्यतोदृष्टादिभ्यः=सामान्यतोदृष्टेन, शेषवत्ता, आगमेन च, सिद्धिः ?=प्रमितिविषयता ? । तथा च अलोकस्य प्रमाणाऽविषयतया अनुमानागमयोरप्यप्रवृत्तिरिति शङ्कार्थः । समाधानं तु विद्यमानेऽपि वस्तुनि दोषबलादिन्द्रियाऽप्रवृत्तिर्भवतीति, नैतावता तदभावनिर्धारणं युक्तं, येन तत्रानुमानाऽऽगमयोरप्रवृत्तिराशङ्क्येत, -इत्यभिप्रायेण दोषपरिचयं मूले दर्शयति-अतिदूरादिति । अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनव-

अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ॥

सौक्ष्म्याद्व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

“अतिदूरात्” इति । अनुपलब्धिरिति वक्ष्यमाणं सिंहावलोकनन्यायेनाऽनुपजनीयम् । यथा उत्पतन् वियति पतत्री अतिदूरतया सन्नपि प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते । सामीप्यादित्यत्राऽप्यतिरनुवर्तनीयः । यथा लोचनस्थमङ्जनमतिसामीप्याच्च दृश्यते । इन्द्रियघातोऽन्धत्ववधिरत्वादिः । मनोऽनवस्थानात्—यथा कामाद्युपहतमनाः स्फीतालोकोमध्यवर्तिनमिन्द्रियसन्निकृष्टमप्यर्थं न पश्यति । सौक्ष्म्यात्—यथेन्द्रियसन्निकृष्टं परमाण्वादिं प्रणिहितमना अपि न पश्यति । व्यवधानात्—यथा कुड्यादिव्यवहितं राजद्वारादिकं न पश्यति । अभिभवात्—यथाऽहनि सोरीभिर्भाभिरभिभूतं ग्रहनक्षत्रमण्डलं न पश्यति । समानाभिहारात्—यथा तोयद्विमुक्तानुदविन्दून् जलाशये न पश्यति । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेनाऽनुद्भवोऽपि सङ्गृहीतः । तद्यथा क्षीराद्यव-

स्थानात्, सौक्ष्म्यात्, व्यवधानात्, अभिभवात्, समानाभिहारात्, ‘च’कारेण—अनुद्भवात् (अनुपलब्धि)रित्यन्वयः स्फुट एव । संक्षिप्तार्थस्तु तत्त्वकौमुद्या गतार्थत्वाच्च पृथक् क्रियते ॥ तत्त्वकौमुद्याम् ‘अनुपलब्धि’रितिपदं उत्तर(=)कारिकास्थमत्र वाक्ययोजनापूरणावाऽनुपजनीयं सिंहावलोकनन्यायेन,=सिंहो यथारण्ये ब्रजन् सन्नन्तराऽन्तरा हिंसकभीत्या पृष्ठदेशमवलोकयति तथोत्तरवाक्यस्थपदानां पूर्ववाक्येऽप्यनुसन्धानं भवतीति भावः ॥ अनुपलब्धिः=अप्रत्यक्षमित्यर्थः । ‘अतिदूरादनुपलब्धि’रित्यस्योदाहरणमाह—यथोत्पतन्ति । यथा सन्नपि=विषयमानोऽपि पतत्री=पक्षी, वियति=आकाशे, उत्पतन्=अत्युर्ध्वम् उड्डयन् सन्, अतिदूरतया प्रत्यक्षेण=इन्द्रियेण नोपलभ्यते, अतिदूरत्वं नाम=इन्द्रियसन्निकर्षाऽयोग्यत्वम्, अयं च विषयगतो दोषः ॥ सामीप्यादित्यत्राऽप्यतिरनुवर्तनीयः=अतिदूरादितिपदपूर्वस्थम् ‘अति’, सामीप्यादितिपदत्रयेऽनुपजनीयमित्यर्थः ॥ यथा लोचनस्थमङ्जनं अतिसामीप्याच्च दृश्यते इति, अतिसामीप्यच=इन्द्रियसन्निकर्षयोग्यत्वे सत्यपीन्द्रियवृत्त्यविषयत्वम्, अयमपि विषयगतो दोषः ॥ इन्द्रियघात इति । इन्द्रिय=घातात् अन्धत्वात् रूपं न पश्यति, वधिरत्वात् शब्दं न शृणोति इत्यादिकं बोध्यम्, इन्द्रियघातत्वं=स्वकारणतिरोभावत्वम्, अयमिन्द्रियगतो दोषः ॥ मनोऽनवस्थानात्=इतरव्यासङ्गेन इन्द्रियसंयोगाऽभावात्, कामादिविकारेण उपहतं दूषितं मनो यस्य स तथाविधः पुरुषः, स्फीतः=प्रचण्डतया व्याप्तो य आलोकः सूर्यप्रकाशादिस्तदभ्यन्तरे वर्तिनं इन्द्रियसम्बद्धमपि अर्थम् पट्टादिकं न पश्यति, अयं मनोयोगाऽभावात्मकः इन्द्रियगतो दोषः ॥ सौक्ष्म्यादिति । सौक्ष्म्यम्=निरवयवद्रव्यत्वम्, तस्य च परमाण्वादौ सत्त्वात् प्रणिहितमनाः=सावधानचित्तः सन्नपि जनः इन्द्रियसन्निकृष्टं परमाण्वादिं न पश्यति ॥ व्यवधानादिति । व्यवधानत्वम्=इन्द्रियार्थसन्निकर्षविषयकत्वम्, यथा कुण्डादिव्यवहितं भित्तिप्रभृतिव्यवहितं राजद्वारादिकं न दृश्यते, अयं सन्निकर्षगतो दोषः ॥ अभिभवादिति । अभिभवत्वं चात्र=स्वसजातीयोत्कटवस्त्वन्तर्गतत्वम्, यथा अहनि=दिवसे सोरीभिः=सूर्यसम्बन्धिनीभिः, भाभिः=किरणदोषिभिः, अभिभूतं चन्द्रमित्रं ग्रहाणां नक्षत्राणां च मण्डलं न पश्यति जनः । अयं विषयगतो दोषः ॥ समानाभिहारादिति । समानाभिहारत्वं=स्वसजातीयवस्त्वन्तरमिश्रणत्वम्, यथा तोयदेन=मेघेन विमुक्तान् उदविन्दून्=जलकणान् जलाशये=तडागादौ न पश्यति जनः । अयं विषयगतो दोषः ॥ चकार इति । ‘समानाभिहाराच्च’त्यत्रोक्तं ‘च’-



स्थायां दध्याद्यनुद्भवान्न पश्यति । एतदुक्तं भवति । न प्रत्यक्षनिवृत्तिमात्राद्वस्त्वभावो भवति, अतिप्रसङ्गात् । तथा हि-गृहाद्विनिर्गतो गृहजनमपश्यंस्तदभावं विनिश्चिन्यात्, न त्वेवम् । अपि तु योग्यप्रत्यक्षनिवृत्तेरयमभावं विनिश्चिनोति । न च प्रधानपुरुषादीनामस्ति प्रत्यक्षयोग्यता, इति न तन्निवृत्तिमात्रात्तदभावनिश्चयो युक्तः प्रामाणिकानामिति ॥ ७ ॥

कतमनुनरेतेषु कारणं प्रधानादीनामनुपलब्धौ ? इत्यत आह-

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात्, कार्यतस्तदुपलब्धेः ॥

महादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥

कारेण अनुक्तमपि संग्राह्यम्, तथा च अनुद्वादपि क्षीराद्यवस्थायां=द्रव्यावस्थायां दध्यादि न पश्यति जनः । अनुद्भवत्वं नाम-कारणाऽवस्थात्मकत्वम्, अयं विषयगतो दोष इति । 'भगन-कुनुमादिवत्प्रधानादीनामभावात् अलीकत्वम् एव कथं न स्यादित्याशंकायाः समाधानमाह-एतदुक्तं भवतीति । न प्रत्यक्षप्रमाणस्य निवृत्तिमात्रात् वस्तुनः अभावः=अभावे सिद्धे सति असत्त्वं भवति । कुतः ? अतिप्रसंगादिति ॥ 'यस्मात्प्रत्यक्षनिवृत्तिः तत् असदि'ति व्याप्तौ अतिप्रसंगं= ( आपत्तिं ) दर्शयति-गृहाद्विनिर्गत इति । यदि उक्ता व्याप्तिः स्यात् तर्हि गृहाद्विनिर्गतः पुरुषः गृहाऽन्तःस्थजनम् अनवलोकयन् सन् तदभावम्=गृहाऽन्तःस्थजनाऽसत्त्वं गृहाऽवच्छेदेन विनिश्चिन्यात् । न त्वेवम्=एवम्=गृहाद्विनिर्गतो गृहजनाऽसत्त्वनिश्चयं न तु=नहिकरोति । तथा च गृहान्तःस्थजनेषु तदानीन्तनप्रत्यक्षनिवृत्त्यात्मको हेतुर्वर्तते असत्त्वात्मकं सार्थं च नास्तीति व्यभिचारो भवति, अतः योग्यप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावग्राहकत्वम् अभ्युपेयमित्याह-अपि तु योग्यप्रत्यक्षनिवृत्तेरिति । योग्यप्रत्यक्षनिवृत्तिः=योग्यताविशिष्टप्रत्यक्षनिवृत्तिः, योग्यता च 'यद्यत्र घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येत' त्यापादनविषयतैव, सा च घटादौ गृहजने च वर्तते, योग्यतावैशिष्ट्यं=स्वा- (योग्यता) श्रयविषयकप्रत्यक्षनिष्ठप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन निवृत्तौ बोध्यम्, तथा च गृहात्मकदेशवच्छेदेन गृहजनेषु तादृशयोग्यताविशिष्टप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावात् न गृहजनानाम् अभावनिश्चयापत्तिः, देशान्तरावच्छेदेन तु गृहजनस्य योग्यताविशिष्टप्रत्यक्षनिवृत्तिसत्त्वात् गृहजनानां देशान्तरावच्छेदेन अभावनिश्चये विरोधो नास्ति, एवम् देशान्तरे तेषाम् अभावनिश्चयेऽपि नैतावता तेषाम् असत्त्वं सिद्धयति, प्रधानादीनां तु अभावस्यैवासिद्धेः सुतराम् असत्त्वं न सिद्धयतीति । कुतः ? इति चेत् । तेषां योग्यताया अभावात् योग्यता-विशिष्टप्रत्यक्षनिवृत्तेरेव विरहादित्याह- न च प्रधानपुरुषादीनामस्ति प्रत्यक्षयोग्यतेति । प्रधानादीनां 'यद्यत्र प्रधानं स्यात् तर्हि उपलभ्येत्येत्यापादनविषयतैव नास्ति, तादृशविषयतात्मकयोग्यताया अप्रसिद्धत्वात् योग्यताविशिष्टप्रत्यक्षनिवृत्तेरप्यप्रसिद्धत्वात् न प्रधानादीनाम् अभावनिश्चयो भवितुमर्हति येनाऽलीकत्वमापद्येतेति भावः ॥ एतेनैवार्थं दर्शयति-न तन्निवृत्तिमात्रादिति । योग्यताविशिष्टप्रत्यक्षनिवृत्तिमात्रात्, तदभावनिश्चयः तेषां=प्रधानपुरुषादीनाम् अभावनिश्चयः प्रामाणिकानां=प्रमाणकुशलजनानां न युक्तः इत्यर्थः ॥ वस्तुतस्तु-"यस्मात् प्रमाणसामान्यनिवृत्तिस्तत् असदि'ति नियमात् प्रधानपुरुषादीनाम् अनुमानादिप्रमाणसामान्यनिवृत्त्यभावान्नाऽसत्त्वमिति सूक्ष्ममीक्षणायम् ॥ ७ ॥

प्रधानादीनामनुपलब्धौ=अप्रत्यक्षे कतमत् कारणं? मिति प्रश्नव्याजेन अष्टमो कारिकावतारयति-कतमनुनरिति । एतेषु=अनुपलब्धेः पूर्वोक्तातिदूरत्वाद्यकारणानाम् मध्ये, प्रधानादीनामनुपलब्धौ=

“सौक्ष्म्यात्” इति । अथाऽभावादेव सप्तमरसवदेतेषामनुपलब्धिः कस्मात् भवति ? इत्यत आह—“नाऽभावात्” इति । कुतः ? “कार्यतस्तदुपलब्धेः” “तत्” इति प्रधानं परामृशति । पुरुषोपलब्धौ तु प्रमाणं वक्ष्यति, “सङ्घातपरार्थत्वात्”-(का० १७) इति । दृढतरप्रमाणावधारिते हि प्रत्यक्षमप्रवर्तमानमयोग्यत्वान्न प्रवर्तते इति कल्प्यते । सप्तमस्तु रसो न प्रमाणेनाऽवधारित इति न तत्र प्रत्यक्षस्य योग्यता शक्याऽध्यवसानुमित्यभिप्रायः । किं पुनस्तत्कार्यं यतः प्रधानानुमानम् ? इत्यत आह—“महदादि तच्च

अप्रत्यक्षे कतमतः=किं, कारणमिति । इत्यत आह—सौक्ष्म्यादितीति । तदनुपलब्धिः सौक्ष्म्यात्, न अभावात्, कार्यतः तदुपलब्धेः, तच्च कार्यम्—प्रकृतिसरूपं विरूपं च महदादि—इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थस्तु—तेषां=प्रधानपुरुषादीनाम् अनुपलब्धिः=अप्रत्यक्षम् सौक्ष्म्यात्=सौक्ष्म्याख्यदोषात्—निरवयवत्वाद्—भवति, न तु अभावात्=तेषाम् असत्त्वादेव अनुपलब्धिर्भवतीति नास्ति । तेषां सत्त्वे किं प्रमाणम् ? अत आह—कार्यतः इति । महत्तत्त्वादिकं पृथिव्यन्तं यत् कार्यं तस्मात् हेतोः, कार्यलिङ्गकेनाऽनुमानेन, तदुपलब्धेः=प्रधानस्य प्रमितेः, तच्च महदादिकं कार्यं प्रकृतेः सजातीयं प्रकृतेर्विजातीयं च भवतीति । साजात्यं वैजात्यं च १४।१५। इति कारिकाभ्यां व्याख्यास्येते । “सूक्ष्मत्वात् प्रधानादीनामनुपलब्धिर्भवती” तिमूलेनाऽभिहितं, तत्र शङ्कते तत्त्वकौमुद्यां=अथाऽभावादेवेति । यथा मधुराऽम्ललवण—कटु—कषाय—तिक्तेतिपट्विधरसातिरिक्तः सप्तमो रसोऽभावादेव न प्रत्यक्षो भवति,—न तु सौक्ष्म्यात्, तथा पुतेषां=प्रधानादीनाम् अभावादेव कस्मात् अनुपलब्धिः=अप्रत्यक्षं न भवतीत्याशङ्कार्थः ॥ कारिकांशेन समाधत्ते—नाऽभावादिति । न सप्तमरसवत् अभावाद् अप्रत्यक्षमित्यर्थः ॥ अभावाद्वाऽनुपलब्धिरपि तु सौक्ष्म्यादित्यत्र हेतुं पृच्छति—कुत इति ॥ समाधत्ते—कार्यतस्तदुपलब्धेरिति । महत्तत्त्वादिकार्यलिङ्गकेन अनुमानेन प्रधानस्य प्रमितेरित्यर्थः ॥ “तदुपलब्धेरित्यत्र ‘तत्’पदेन प्रधानमेव ग्राह्यं, न तु पुरुषः, तस्याऽकारणतया कार्यलिङ्गकानुमानाऽसंभवादित्याशयेनाह—तदिति प्रधानं परामृशतीति । अनुमानाकारस्तु—‘सुखदुःखमोहात्मकमहदादिपृथिव्यन्तं जगत्,—सुखदुःखमोहात्मककारणकम्,—कारणतादात्म्यकार्यत्वात्, यत्रैवं तत्रैवं यथा आत्मा,—इत्यनुमानेन प्रधानस्य सिद्धेरिति ॥ ननु पुरुषोपलब्धिः कुतः ? अत आह—पुरुषोपलब्धाविति । पुरुषसिद्धौ तु प्रमाणं=अनुमानं ‘संघातपरार्थत्वा’दिति १७ कारिकया मूलकार एव वक्ष्यतीत्यर्थः ॥ तत्रत्यम् अनुमानम्—‘भूतेन्द्रियप्राणतन्मात्राऽहंकारमहदव्यक्तानि,—परार्थानि,—संघातत्वात्,—शयनाऽऽसनादिवत् । परत्वं चाऽत्र भोक्तृत्वं, यो हि भोक्तृतया परो भवति स आत्मा इति ॥ कारिकाऽभिप्रायं दर्शयति—दृढतरिति । दृढतरं=प्रबलं यत् अनुमानादि=प्रमाणं तेन अवधारिते=निर्णीते प्रधानादौ हि अप्रवर्तमानम् प्रत्यक्षं=इन्द्रियम् अयोग्यत्वात्=यद्यत्र प्रधानं स्यात् तर्हि उपलब्ध्येते’ त्यापादनविषयत्वाऽभावात् न तत्र प्रवर्तते इति कल्प्यते=अनुमीयते=‘प्रत्यक्षं,—प्रधानादौ न प्रवर्तते,—प्रधानादिगताऽयोग्यतानिरस्तत्त्वादिति’ । न तु प्रधानादीनाम् असत्त्वात् न प्रवर्तते इति भावः ॥ दृष्टान्तवैषम्यं दर्शयति—सप्तमस्त्विति । सप्तमस्तु कश्चिदपि रसो न केनाऽपि प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमन्यतमेन प्रमाणेन अवधारितः=निश्चितः, इति=अतः, न तत्र=सप्तमे रसे प्रत्यक्षस्य अयोग्यताऽपि अध्यवसानुम्=निश्चेतुं शक्येत्यर्थः । असत्त्वादेव सप्तमे रसे प्रत्यक्षं न प्रवर्तते न तु अयोग्यत्वादिति वैषम्यमिति भावः ॥ प्रधानस्य कार्यं पृच्छति—किं पुनस्तदिति । तत्=प्रधानानुमापकं कार्यं किं=किं नामकम्, यतः=यस्मात् कार्यात् लिङ्गात्मकात्, प्रधानस्याऽनुमानं भवेदित्यत आह—महदादि तच्च कार्यमिति । एतच्च=महदादिकार्यं च,



कार्यम्” इति । एतच्च यथा गमकं तथोपरिष्टादुपपादयिष्यते । तस्य च कार्यस्य विवेकज्ञानोपयोगिनी सारूप्यवैरूप्ये आह—“प्रकृतिसरूपं विरूपं च” इति । एते तूप-  
रिष्टाद्विभजनीये इति । ॥ ८ ॥

कार्यात् कारणमात्रं गम्यते । सन्ति चाऽत्र वादिनां विप्रतिपत्तयः । तथा हि केचि-  
दाहुः—‘असतः सत् जायते’ इति, । ‘एकस्य सतो चिवर्तः कार्यजातं न वस्तुसत्’  
इत्यपरे । अन्ये तु ‘सतः असत् जायते’ इति । ‘सतः सत् जायते’ इति वृद्धाः । तत्र

यथा—येन प्रकारेण, गमकम्=अनुमापकं, भवति, तथा—तेन प्रकारेण, उपरिष्टात्=१४ । १५ कारि-  
काव्याख्यानासमये मया ( वाचस्पतिना ) उपपादयिष्यते इति । तस्य च महदादिस्वरूपात्मकका-  
र्यस्य, विवेकज्ञानोपयोगिनी=विवेकज्ञानम्=सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानं तदुपयोगिनी=स्वा (साधर्म्यवैधर्म्या)  
भयानुयोगिकेतरभेदज्ञानद्वारा प्रयोजकीभूते, सारूप्यवैरूप्ये=साधर्म्यवैधर्म्ये । प्रकृतिसरूपं=प्रकृतिग-  
तधर्मवत्त्वम्, विरूपं च=प्रकृत्यगतधर्मवत्त्वम् । एते=साधर्म्य-वैधर्म्ये । उपरिष्टात्=अग्रे १०।११  
कारिकयोः । विभजनीये=विवेचनीये तत्रैवावलोकनीयेति ॥ ८ ॥

अन्यवादिनां विप्रतिपत्तिप्रदर्शनपुरःसरं सांख्यमते सत्कार्यतास्थापनार्थं ‘असदकरणादि’-  
( ९ ) त्यादिकारिकाया भूमिकामारचयति—कार्यात् कारणमात्रमिति । कार्यस्य दर्शनवलात्  
‘अस्य किञ्चित्कारणमस्ती’त्येवं सामान्यतः कारणं प्रतीयते, न तु विशेषतः ‘अस्य इदमेव कारण’-  
मिति, तथा च ‘वृथिव्यादीनां परम्परया प्रधानमेव कारण’ मिति निश्चयो न भवतीति भावः ॥ ननु  
सामान्यतो निश्चिते सति विशेषतः प्रधानमेव कारणं निश्चेतव्यं ‘अज्ञामेकाभित्यादिश्रुतिवलादित्य-  
त्राऽऽह—सन्ति चाऽत्रेति । अत्र=विशेषतः कारणविषये, वादिनाम्=विभिन्नदार्शनिकानाम्,  
विप्रतिपत्तयः=विभिन्ना विभिन्ना मतयः सन्तात्यर्थः । अतः ‘प्रधानस्यैव कारणत्व’मिति न निर्णय  
इति भावः ॥ विप्रतिपत्तीर्दर्शयितुमाह—तथाहीति । ताः अनेन प्रकारेण सन्तात्यर्थः ॥ ‘तत्र न्याय-  
दर्शने ‘बौद्धमतेन पूर्वपक्षसूत्रेण ‘अभावाद्भावोत्पत्तिर्नाऽनुपपद्यते प्रादुर्भावादि’ ( अ४ आ१ सू १४ )  
त्यनेन दर्शितम् ‘अभावाद् भावोत्पत्तिरिति सिद्धान्तं मन्वानानां ‘शून्यतैव जगतः परमार्थतैव तिवदतां  
बौद्धानां मतं दर्शयति—केचिदाहुः—असतः सत् जायते इति । बौद्धा आहुः—असतः अभावात्  
विनष्टाद्विजादेः, सत्=भावः अङ्कुरादिकमुत्पद्यते इत्यर्थः ॥ विनष्टाद्विजादङ्कुरमुत्पद्यते, विनष्टाच्च  
मृत्पिण्डात् घट उत्पद्यते, इति । कूटस्थाच्चैव । कारणात् कार्यमुत्पद्यते । तदा सर्वं सर्वस्माज्जायेत,  
अतः अभावादेव भावकार्योत्पत्तिः, अत एव ‘सर्वे कार्यरूपा भावाः—अभावकारणकाः,—कार्यत्वात्  
बीजनाशोत्तरोत्पन्नाङ्कुरादिवदि’ति बौद्धमतमिति भावः ॥ अथ ‘सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति श्रुतेः—  
सृष्टेः प्राक् सत् वक्ष्येवाऽऽसीत्, तद् अनिर्वचनीयाऽनाद्यविद्योपाधिब्रह्मात् नामरूपप्रपञ्चात्मना वि-  
वर्तते,—यथा सर्पात्मना रज्जुरिति, अत एव ‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति,—विकारो घटादि-  
र्वाचाऽरभ्यते न वस्तु सदिति—अद्वैतवेदान्तिनां मतं दर्शयति—एकस्य सत इति । एकस्य=अदि-  
तो यस्य, सतः=त्रैकालिकवाधरहितस्य ब्रह्मणः, विवर्तः=अतात्त्विकोऽन्यथाभावः,—रज्ज्वाः सर्प इव,  
कार्यजातम्=कार्याणां जातं समूहः,—यावज्जगद्रूपं कार्यमिति यावत् । अस्तांति शेषः । न वस्तुसत्=  
वस्तुतः परमार्थतः सत् न अस्तात्यर्थः । अपरे=वेदान्तिनः आहुः ॥ अत एव ‘नेह नानास्ति किञ्चन’ सर्वं  
छत्विदं ब्रह्म’ ‘एकविंशतेन सर्वं विशातं भवतीति श्रुतयोऽपि उपपद्येरन्निति । अधिकं भाष्येऽवलोक-  
नीयम् ॥ अथ ‘परमाणुभ्यो नित्येभ्यः सूक्ष्मेभ्य एव जगत् अनित्यम् द्रव्यकादिक्रमेणोत्पद्यते—इति  
न्यायवैशेषिकमतं दर्शयति—अन्ये तु—‘सतः असत् जायते’ इति । अन्ये तु=नैयायिका वैशेषिकाश्च

पूर्वस्मिन् कल्पत्रये प्रधानं न सिद्ध्यति । सुखदुःखमोहभेदस्वरूपपरिणामशब्दाद्यात्मकं हि जगत् स्वरकारणस्य प्रधानत्वं सत्त्वरजस्तमःस्वभावत्वमवगमयति । यदि पुनरसतः सज्जायेत असत् निरुपाख्यं कारणं सुखादिरूपशब्दाद्यात्मकं कथं स्यात् ? सदसतोस्तादात्म्यानुपपत्तेः । अथैकस्य सतो विवर्तः शब्दादिप्रपञ्चः, तथाऽपि सतः

आहुरिति । सतः=नित्यपरमाणुतः, असत्=अनित्यं द्रव्यणुकादिकम्, जायते इत्यर्थः । नित्यपरमाणुतामकारणत्वे तु जगत् आकस्मिकत्वापत्तिः स्यादिति भावः ॥ अथ—सांख्यमतमाह—‘सतः सज् जायते’ इति । सतः=भावात्मकनित्यप्रकृतितः, सत्=अनागतावस्थया कारणे विद्यमानमेव कार्यम्, जायते=कारकव्यापारेणाऽभिव्यक्तं भवतीत्यर्थः । शब्दाः=कपिलमुनिप्रवृत्तिसांख्याचार्या आहुरिति । तत्र सांख्यमतमिन्ने मतत्रये कार्यकारणयोस्तादात्म्याऽसंभवात् प्रधानं न सिद्ध्यतीति दर्शयति—तत्र पूर्वस्मिन्निति ॥ तत्र=कल्पचतुष्टयमध्ये, पूर्वस्मिन्=प्रथमत उक्ते, कल्पत्रये=असतः सज्जायते’ । एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सद् । ‘सतोऽसज्जायते’—इतिकल्पत्रये । प्रधानं=प्रकृतिः । न सिद्ध्यति । कार्यकारणयोरभेदाऽसंभवादिति भावः ॥ कार्यलिङ्गेन स्वसज्जातीयं कारणं सांख्यमते कथं सिद्ध्यतीत्याकांक्षायां सांख्यमतेन जगत्स्वभावकत्वं प्रकृतेरपि दर्शयति—सुखदुःखेति । सुखदुःखमोहात्मका ये भेदाः=विशेषास्ते विद्यन्ते ये तु तानि सुखदुःखमोहभेदवन्ति तादृशानि स्वरूपाणि येषान्ते सुखदुःखमोहभेदवत्स्वरूपाः, एवंविधा ये परिणामाः=कार्यविशेषाः शब्दाद्याः=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकाः पृथिव्यादौ स्थूलाः सूक्ष्मेषु सूक्ष्माः, त एव आत्मा=स्वरूपं यस्य तत्=सुखदुःखमोहभेदवत्स्वरूपपरिणामशब्दाद्यात्मकम्, एतादृशं कार्यं यत् जगत्, तत्, स्वरकारणस्य=प्रधानस्य, प्रधानत्वम्=प्र=प्रकरणे=अवैषम्याऽवस्थया धीयन्ते=वर्तन्ते सत्त्वादिगुणा यस्मिन् तत् प्रधानं तस्य भावः प्रधानत्वम् । अस्य विवरणमाह—सत्त्वरजस्तमःस्वभावत्वमिति । सुखदुःखमोहात्मक-सत्त्वरजस्तमःस्वरूपत्वमित्यर्थः । अवगमयति=अनुमापयतीत्यर्थः । अनुमानं यथा—‘सुखदुःखमोहभेदवत्स्वरूपपरिणामशब्दाद्यात्मकजगत्, सुखदुःखमोहात्मकारणकम्, सुखदुःखमोहान्वितकार्यत्वात्’ इति ॥ इत्येवं सांख्यमते कार्येण स्वतादात्म्यात् प्रधानसिद्धिर्भवतीति भावः ॥ बौद्धमतेन तु प्रधानस्य सिद्धिर्न भवतीति दर्शयति—यदि पुनरसत इति । बौद्धमतानुसारेण यदि असतः=अभावात् सत्=भावः जायते=उत्पद्येत, अर्थात् ‘असत् सज् जायते’ इति मतं स्वीक्रियेत ॥ तर्हि सदसतोः=भावाभावयोः, तादात्म्यानुपपत्तेः=अभेदाऽसंभवात्, असत्=अभावात्मकम्, अत एव निरुपाख्यम् उपाख्या=‘इदं सदि’ति—वर्णना, ततो निष्क्रान्तं निरुपाख्यम्=‘सदिदमेतादृगिति’वक्तुमशक्यं, ‘क्वचिदपि सत्त्वेन प्रतीयमानत्वाऽनधिकरणमिति—यावत् । कारणम्=उपादानकारणम्, कथं स्यात्=कथमुपपद्येत, नोपपद्येतेत्यर्थः । असत्कारणत्वाद्भेदाद्विद्येत तर्हि असत् निरुपाख्यं कारणं सुखदुःखाद्यात्मकं न सिद्ध्येदिति भावः ॥ अद्वैतवेदान्तिमतेनापि प्रधानस्य सिद्धिर्न भवतीति दर्शयति—अथैकस्येति । एकस्य=अद्वितीयस्य, सतः=त्रिकालाऽबाधितस्य ब्रह्मणः, शब्दादिप्रपञ्चः=नामरूपात्मकं कार्यं जगत् भवतीत्यर्थः । एतन्मते सतो ब्रह्मणः कार्यं जगत् सद्यपि न भवति, बाधात् । असद्यपि न भवति, अपरोक्षाऽवभासात् । सदसद्रूपमपि न भवति, विरोधात् । अतश्चतुर्थः प्रकार एव मिथ्यात्वमिति, मिथ्याभूतस्य कार्यस्य ब्रह्मणा सह कल्पिततादात्म्यसत्त्वेऽपि वास्तव—तादात्म्याऽसंभवात् नैतेन मतेन प्रधानस्य सिद्धिरिति भावः ॥ एतदेवाह—तथापीति । कारणस्य सद्रूपत्वेऽपि कार्यस्य मिथ्यात्वात् ‘सतः सज्जायते’—इति मतं न स्यात्, अतः प्रधानसिद्धिरपि न स्यादिति भावः ॥ ननु ‘तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः’ ( अ-२ पा-



सजायत इति न स्यात् । न चाऽस्याऽद्वयस्य प्रपञ्चात्मकत्वम्, अपि त्वप्रपञ्चस्य प्रपञ्चात्मकतया प्रतीतिर्भ्रम एव । येषामपि कणभक्षाक्षचरणादीनां सत् एव कारणादसतो जन्म, तेषामपि सदसतोरैकत्वानुपपत्तेर्न कार्यात्मकं कारणमिति न तन्मते प्रधानसिद्धिः । अतः प्रधानसिद्ध्यर्थं प्रथमं तावत्सत्कार्यं प्रतिजानीते ।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ॥

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥ ९ ॥

२ सू-१४) इति सूत्रेण व्यासमुनिना "तस्मात्=कारणात् ब्रह्मणः, अनन्यत्वम्=अन्यत्वाऽभावः अभेदः कार्यस्य । कथम् ? 'वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतेः"-इति प्रतिपादितत्वात् कथं अद्वैतवेदान्तिमते कार्यकारणयोस्तादात्म्यं न ? इत्याशंकायामाह-न चास्येति । अस्य अद्वयस्य=ब्रह्मणः, प्रपञ्चात्मकत्वं=शब्दादिप्रपञ्चात्मकता, न च=नाऽभ्युपगम्यते वेदान्तिमिरिति । अपितु=किन्तु-अप्रपञ्चस्य=अशब्दमस्पर्शमित्यादिश्रुत्या शब्दादिप्रपञ्चरहितस्य ब्रह्मणः, प्रपञ्चात्मकतया=अविद्याकल्पितो यः प्रपञ्चस्तदात्मकतया, प्रतीतिः=भानम्, भ्रम एवेति मन्यते । तथा च 'तदनन्यत्वमिति सूत्रांशेन न 'अभेदः' उच्यते, किन्तु 'तस्मात्=कारणात् ब्रह्मणः परमार्थतः अनन्यत्वम्=व्यतिरेकेण कार्यस्याऽभावः' इत्येवं कार्यस्याऽसत्त्वं प्रतिपाद्यते । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतौ वाचया केवलमारभ्यते विकारजातं न तु तत्त्वतोऽस्ति, यतो नामधेयमात्रमेतत्, तथा च अवस्तुतया विकारजातम् अनृतमिति अनुतामकत्वं ब्रह्मणो नास्त्येव, किन्तु तत्र घटादिकार्यस्य मिथ्यात्वप्रतिपादनेन मृत्तिकयाः सत्यत्वावधारणेन च विद्यतवादात्रमाश्रित्य जगतो ब्रह्मव्यतिरेकेण परमार्थतः असत्त्वं प्रतिपादितमिति नैतन्मते कार्यकारणतादात्म्यमिति भावः ॥ अथ न्याय-वैशेषिकमतेनाऽपि प्रधानस्य सिद्धिर्न भवतीति दर्शयति-येषामपि । कणभक्षः=वैशेषिकदर्शनकर्ता कणादः, अक्षचरणः=न्यायदर्शनकर्ता गोतमः । आदिना=सतः=शब्दब्रह्मतः असत् जगत् जायते' इति वदन्तो वैयाकरणाः 'नित्यपरमाणुतः अनित्यं जगज्जायते' इति वादिनो माध्वाश्च ब्राह्माः, तेषाम् यत् 'सतः=ध्वंसाऽप्रतियोगिनः-नित्यात्, -परमाणुतः-शब्दब्रह्मतो वा । असतः=द्वयणुकादेः अनित्यस्य जगतः जन्म भवतीति मतम्, तेषामपि मते सदसतोः=नित्याऽनित्ययोः, एकत्वानुपपत्तेः=तादात्म्याऽभावात्, कार्यात्मकं=कार्याऽभिन्नं, कारणं न स्यादिति, न तन्मते प्रधानसिद्धिरित्यर्थः' ॥ अथ सांख्यमते प्रधानं साधयितुं प्रधानसिद्धशुपयोगिसत्कार्यसाधनार्थं कारिकामवतारयति-अतः प्रधानसिद्ध्यर्थमिति । अतः=यतः सत्कार्यवादभिन्ने वादे न प्रधानसिद्धिरत इत्यर्थः । प्रधानस्य=मूलप्रकृतेः सिद्ध्यर्थम्, प्रथमम्=आदौ, तावत्=वाक्यालंकारे, 'सत्कार्यमिति प्रतिजानीते=प्रतिज्ञां करोतीत्यर्थः ॥ अन्वयः-कार्यं, सत्-असदकरणात्, उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्चेति ॥ संक्षिप्तार्थः-कारणव्यापारात्प्रागपि कारणे-कार्यं-सत्, कुतः ? असदकरणात्=असतो नृशृंगतुल्यस्य प्रागविद्यमानस्य अकरणात् उत्पादनाऽसंभवात्, व्यतिरेकव्याप्तिमन्तर्भाव्य प्रयुक्तोऽत्र हेतुः-यद् असत् तत् अकरणम् (अनुत्पन्नम्) यथा नृशृंगम्, यच्चोत्पद्यमानं तत् सत् यथा घटः, तथा च उत्पद्यमानत्वात्=क्रियमाणत्वादिति हेतुः फलितः, तेन 'कार्यम्-सत्, -क्रियमाणत्वादित्यनुमानं फलितम् ॥ 'कार्यं-सत्, -उपादानग्रहणात्=कार्याधिना दध्यधिना उपादानस्य क्षीरस्य ग्रहणं क्रियते, नान्यस्य, अतः उपादानग्रहणादपि कारणे कार्यमस्तीति सिद्ध्यति, अत्र 'उपादान-

“असदकरणात्” इति । “सत् कार्यम्” कारणव्यापारात् प्रागपीति शेषः । तथा च न सिद्धसाधनं नैयायिकतनयैरुद्धावनीयम् । यद्यपि बीजमृत्पिण्डादिप्रध्वंसानन्तर-  
मङ्कुरघटाद्युत्पत्तिरुपलभ्यते, तथाऽपि न प्रध्वंसस्य कारणत्वम्, अपि तु भावस्यैव

ग्रहणादिति तु न हेतुः, किन्तु कार्यस्य सत्त्वे प्रयोजकं वाक्यम् । अनुमानन्तु—‘उपादानानि,—  
कारणव्यापारात् प्रागपि कार्यवन्ति,—कार्यसम्बन्धानुयोगित्वात्, यो यत्सम्बन्धानुयोगी सं तद्वानिति॥  
‘कार्यं—सत्,—सर्वसंभवाऽभावात्,—सर्वेषां कार्याणां सर्वत्र संभवाऽभावात् कारणैः सह सम्ब-  
द्धमेव कार्यमुत्पद्यते, सम्बन्धश्चाऽसतोर्न संभवतीति सत्कार्यं सिद्धम्, अनुमानन्तु—‘कार्यं,—कारणेन  
सम्बद्धम्,—कारणे—नियमेनाऽभिव्यज्यमानत्वादि’ति फलितम्, ‘कार्यंकारणसम्बन्धबोधनाय—सर्व-  
संभवाऽभावादि’त्यभिहितमिति । ‘कार्यं—सत्,—शक्तस्य शक्यकरणात्,—यस्मिन् कार्यं यत् कारणं  
शक्तं भवति तस्य शक्तस्य कारणस्य तदेव शक्यं करणं=कार्यं भवति नान्यत्, असत्कार्यं शक्तेर-  
भावात् कार्यं सदिति, तथा चानुमानम्—‘कारणगता शक्तिः,—अनागताऽवस्थकार्यसम्बद्धा,—विद्य-  
मानसत्पदार्थविषयकत्वात्, ज्ञानवदि’ति फलितम्, एतद्वोधनाय—‘शक्तस्य शक्यकरणादित्युक्तम् ॥  
‘कार्यं—सत्,—कारणभावात्,—कारणस्य भावः=तादात्म्यम्, तस्मात् कारणाऽभिन्नत्वादिति यावत् ।

तत्त्वकौमुद्यां—सत्कार्यमिति । अत्र ‘कार्य’मिति पक्षः, ‘सदि’ति—सत्त्वम्—साध्यम् । ननु  
न्यायमतेऽपि कारणव्यापारोत्तरं कार्यं सदेवेति न्यायमतेन सिद्धसाधनमित्यत आह—कारणव्यापा-  
रात्प्रागपीति । कारणानां मृत्तिकादण्डादीनां व्यापारात् चक्रभ्रमणादितः पूर्वमपीत्यर्थः । कारण-  
व्यापारोत्तरमपि कार्यं सत् यथाऽस्ति तथा कारणव्यापारात् प्रागपि कारणे कार्यं सत् इति साध्ये  
इत्यर्थः । इति शेषः=शिष्यते—इति शेषः,—कारिकायां वक्तुं युक्तोऽपि ‘कारणव्यापारात्प्रागपीति  
पाठः स्थानाऽभावान्नोक्तः स चाऽनुपजनीय इति भावः ॥ तथा चेति । साध्ये ‘कारणव्यापारात्प्रा-  
गपीति’शेषपूरणेनेत्यर्थः । नैयायिकतनयैः=न्यायो युक्तिः—प्रमाणैरर्थपरीक्षणमिति यावत्, तत्प्रतिपाद-  
कोऽप्युपचाराभ्यायस्तमधीयन्ते विदन्ति वेत्यर्थे ‘उक्’ ‘क्रतुवधादी’त्यादिपदप्राकृतत्वात् ‘न न्येत्यैच्-  
नैयायिकाः=न्यायशास्त्राशा इति यावत्, तेषां तनयाः=तनयवत् शिष्याः तैः । सिद्धसाधनम्=कारणव्या-  
पारोत्तरं कार्यं सद्वर्तत एव, तस्य सिद्धस्याऽनुमानेन पुनः साधनं सिद्धसाधनमिति दोषः । न उद्भा-  
वनीयम्=न प्रयोक्तव्यः, येन दोषेण ‘सत्त्व’स्य निश्चयात् सदिग्नसाध्यवत्त्वाऽभावात् पक्षताहानिः  
स्यात् । कारणव्यापारात् पूर्वं नैयायिकैः कार्यस्य सत्त्वाऽनङ्गीकारात् तदानींतनसत्त्वस्याऽसिद्धस्य सा-  
ध्यत्वात् तस्य च ‘कार्यं कारणव्यापारात्पूर्वं सत् न वे’ति विप्रतिपत्तिवाक्यजन्यसन्देहविषयतया सन्धि-  
न्धसाध्यवत्तया ‘कार्य’स्य पक्षत्वे क्षत्यभावादिति भावः ॥ सांख्यमतस्य निर्दोषताप्रतिपादनाय अन्यम-  
तानां दुष्टतादर्शनाय प्रथमं बौद्धमतं दूषयति—यद्यपीति । ‘यद्यपी’ति अनास्थां सूचयति । क्वचित्स्थले  
बीजस्य प्रध्वंसाऽनन्तरम् अङ्कुरोत्पत्तिः दृश्यते, अथ च मृत्पिण्डप्रध्वंसाऽनन्तरं घटोत्पत्तिरुपलभ्यते=  
दृश्यते इत्यर्थः । तथापीति । तथापि पटोत्पादने अध्वस्तानामेव तन्तूनां भावानां कारणत्वात्,  
द्वयणुक्तं प्रति च अध्वस्तयोरेव परमाण्वोः भावयोः कारणत्वात् सर्वत्र प्रध्वंसदर्शनाऽभावात् न  
कारणप्रध्वंसस्य सामान्यतः कार्यं प्रति कारणत्वमित्याह—न प्रध्वंसस्येति, तथा चाङ्कुरादिसत्त्वेऽपि  
बीजाद्यवयवानामेव भावानां कारणता लाघवादुपस्थितत्वाच्च, प्रध्वंसस्य तु अन्यथासिद्धत्वमित्याह—  
अपि स्विति । भावस्य=भावपदार्थस्यैव, कारणत्वमित्यन्वयः । द्रव्यत्वस्य भावकार्यसमवायिकार-  
णतावच्छेदकत्वादिति भावः । तत्र च बीजावयवाः कुतश्चिन्निमित्तात् प्रादुर्भूतक्रियाः पूर्वव्यूहं  
जहति व्यूहान्तरं चाऽऽपन्नान्ते व्यूहान्तरादङ्कुर उत्पद्यते, दृश्यन्ते खलु अवयवास्तत्संयोगाश्चाऽ-



बीजाद्यवयवस्य । अभावात्तु भावोत्पत्तौ तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वदा सर्वकार्यो-  
त्पादप्रसङ्ग इत्यादि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः प्रतिपादितम् । प्रपञ्चप्रत्य-  
यश्चाऽसति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुमिति कणभक्षाक्षचरणमतमवशिष्यते ।  
तत्रेदं प्रतिज्ञातं, “सत् कार्यं”मिति । अत्र हेतुमाह-असदकरणादिति । असत् चेत्  
कारणव्यापारात् पूर्वं कार्यम्, नाऽस्य सत्त्वं कर्तुं केनाऽपि शक्यम् । न हि नीलं शिल्पि-

कूरोत्पत्तिहेतवः, न चाऽन्यत् बीजावयवभ्योऽङ्कूरोत्पत्तिकारणमित्युपपद्यते बीजोपादाननियम  
इति ॥ अभावत्वेन अभावाद्भावोत्पत्तावापत्तिमपि दर्शयति-अभावात्त्विति । अभावाऽऽख्यात्  
कारणात् भावात्मककार्योत्पत्तौ तु तस्य=अभावस्य यस्य कस्याऽप्यभावस्य, सर्वत्र=सर्वस्थले,  
सुलभत्वात्=सत्त्वात्, सर्वत्र=सर्वस्थले, सर्वकार्योत्पादप्रसङ्गः=सर्वेषां-कार्याणाम् उत्पत्तिः आपद्येते-  
त्यर्थः । अभावाद्भावोत्पत्तौ बीजादिभावानामानर्थक्यं स्यात्, अभावत्वेनाऽविशेषात् यद्यविपाणादि-  
भ्योऽप्यङ्कूरोत्पत्तिः स्यात् अतो नाऽभावाद्भावोत्पत्तिरिति भावः ॥ इत्यादीति । इत्यादियुक्तिजातं  
न्यायदर्शनस्य अ-४, आ-१, सू-१८ वात्स्यायनमाध्यस्य वार्तिकानां या तात्पर्याख्या टीका तस्याम्  
अस्माभिः=वाचस्पतिमित्रैः प्रतिपादितमित्यर्थः ॥ अद्वैतवेदान्तिमतमसङ्गतं कर्तुमाह- प्रपञ्चेति ।  
प्रपञ्चस्य=शब्दादिप्रपञ्चस्य प्रत्ययः=प्रत्यक्षानुभवः, असति बाधके=दृढतरं तदुबाधके प्रमाणेऽसति,  
‘अयं प्रपञ्चप्रत्ययः मिथ्या’-इति वदितुं न शक्यो भवतीति । यथा दोषाधीनः शुक्तौ रजतप्रत्ययः  
अनुष्टेन्द्रियात्मकप्रबलप्रमाणेन बाधितः नेदं रजतमिति विरोधिज्ञानेन नष्टो भवति, तथा ‘अयं शब्दा-  
दिप्रपञ्चप्रत्ययो न हि केनाऽपि प्रबलप्रमाणेन बाधितो भवति अतो न मिथ्या=स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ता-  
ऽभावप्रतियोगीति । एवं ‘वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य’मिति श्रुतिरपि-‘वा-  
ग्विषय’घटपटनामादिकं विकारः=विभिन्नाऽवस्थावाचक एव, घटो मृत्तिकात्मकतयैव सत्यमिति-  
कार्यस्य कार्यस्य कारणात्मकतया सत्यत्वं वक्तोति भावः ॥ इत्येवं मतद्वयं निरस्तम्, न्यायवैशेषि-  
कमतं तु कारिकाकार एव खण्डयतीति-कणभक्षाक्षचरणमतमवशिष्यते, तत्रेदं प्रतिज्ञा-  
तमिति । कणभवः कणादः, अक्षचरणः गोतमः, तस्य मतम्=सतः असत्ज्ञायते’इति, तत् खण्डना-  
र्थम् अवशिष्यते, अतः तत्र=निमित्तो सप्तमी, न्यायवैशेषिकमतनिरासार्थम् । इदं=‘कार्यं-सदि’ति ।  
प्रतिज्ञातम्=साध्यविशिष्ट-पक्षबोधकवाक्यम् मूलकारणोपन्यस्तमित्यर्थः ॥ प्रतिज्ञातमर्थं साधयितुं तत्र  
हेतुमाह-असदकरणादिति । ‘कार्यं-सत्=असदकरणात्, असतो नृशृंगतुल्यस्य प्राग्विद्यमा-  
नस्य अकरणात्=उत्पादनाऽसंभवात् । व्यतिरेकव्याप्तिमन्तर्भाव्यं प्रयुक्तमिदं वाक्यम् । व्यतिरेकव्या-  
प्तिरत्र-‘यद् असत् तत् अकरणं कृष्टं यथा नृशृंगम्, यच्च उत्पद्यमानं तत् सत् यथा घट इति, तथा  
उत्पद्यमानत्वं (क्रियमाणत्वमेव) हेतुः-‘कार्यं सत्-’, क्रियमाणत्वादिति । अथवा ‘कार्यम्-’, स्वोपादान-  
निष्ठातादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभावाऽप्रतियोगि, तादात्म्येन कारणेऽभिव्यज्यमानत्वा-  
दिति ॥ व्यतिरेकव्याप्तिं स्पष्टयन् हेतुमुपपादयति- असत्त्वेदिति । कारणव्यापारात् पूर्वं कार्यं अ-  
सत् स्यात् चेत् !, तदा अस्य=असतः कार्यस्य सत्त्वं कर्तुं केनाऽपि न शक्येतेत्यर्थः । अत्र-यत्  
असत् तत् अकार्यं (अकरणम्) इति व्यतिरेकव्याप्तिः । यत् करणं (कार्यं) तत् सत्-इति अन्यव्यव्याप्तिः ।  
क्रियते तत् करणं, न करणम्-अकरणम्, असत्त्वं तत् अकरणं च तस्मादिति भावः ॥ ननु नृशृंग-  
वत् कार्यस्य न असत्त्वम्, किन्तु यथा घटे पाकात्पूर्वं इयामता पाकोत्तरं च रक्ता धर्मविशेषौ, तथा  
उत्पत्तेः प्राक्घटस्य असत्त्वं धर्मः, उत्पत्त्युत्तरं च सत्त्वं धर्मः, तेन च पूर्वमसत् घटः पश्चात् सत् घट  
इति व्यवहारः-इत्यभिप्रायेण शङ्कते-सदसत्त्वे-इति । उत्पत्तेः प्राग् घटस्य असत्त्वं धर्मः, पश्चात्

सहस्रेणाऽपि पीतं कर्तुं शक्यते । 'सदसत्त्वे घटस्य धर्मौ' इति चेत्, तथाऽपि असति धर्मिणि न तस्य धर्म इति सत्त्वं तदवस्थमेव, तथा च नासत्त्वम् । असम्बद्धेनाऽतदात्मना चाऽसत्त्वेन कथमसन् घटः ? तस्मात् कारणव्यापाराद्धर्ममिव ततः प्रागपि सदेव कार्यमिति । कारणाच्चाऽस्य सतोऽभिव्यक्तिरेवाऽवशिष्यते । सतश्चाऽभिव्यक्तिरूपपन्ना । यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, अवघातेन धान्येषु तण्डुलानाम्, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः । असतः करणे तु न निदर्शनं किञ्चिदस्ति । न खल्वभिव्यज्यमानं चोत्पद्यमानं वा कचिदसत् दृष्टम् । इतश्च कारणव्यापारात् प्राक् सदेव कार्यम्—'उपा-

सत्त्वं धर्म इत्यर्थः॥ शंकां निरस्यति—तथापीति । तथापि=सदसत्त्वयोर्धर्मयोरङ्गीकारेऽपि, उत्पत्तेः प्राग्धर्मिणि अस्ति=घटादावविद्यमाने=धर्मिणो घटादेरसत्त्वे, तस्य=असतोऽविद्यमानस्य घटस्य धर्मिणोऽभावादेव, सत्त्वं न भवेत् धर्मः, इति=इत्यस्माद्धेतोः, तदवस्थसत्त्वम्=घटस्य प्रागुत्पत्तेरपि सत्त्वं स्वाकार्यम्, तथा च घटस्य प्रागुत्पत्तेः न असत्त्वमित्यर्थः । धर्मगतं धर्मत्वं सत्त्वं धर्मितामन्तरेणाऽनिरूप्यमाणं सत् स्वनिरूपिकां धर्मितां अनुमापयति, धर्मिता च धर्मिणो विद्यमानतां विनाऽनुपपन्ना सती विद्यमानतां (सत्त्वं) अनुमापयतीति सत्त्वं धर्मिणः प्रागुत्पत्तेरपि सिद्धमेवेति भावः ॥ 'घटस्य उत्पत्तेः प्राग् असत्त्वं धर्म' इति यदुक्तं तदपि न संभवतीत्याह—असम्बद्धेनेति । न्यायमते धर्म—धर्मिणोर्भेदात् समवायादिना सम्बद्धेन धर्मेण धर्मिण आश्रयाश्रयिभावो भवति, सांख्यमते तु तादात्म्येन धर्मेणेति, तथा च अतदात्मना=अघटात्मना=घटभिन्नेन, घटस्य तदानीमविद्यमानत्वाच्च असम्बद्धेन=घटाऽसमवेतेन, असत्त्वेन=असत्त्वाख्यधर्मेण, कथमसत्त्वटः=घटः असन् कथं स्यात् !, नहि कस्यचित्पदार्थस्य अवृत्तिधर्मेण धर्मिताया निरूप्यनिरूपकभावो, न चाऽऽश्रयाऽऽश्रयिभाव इति भावः ॥ फलितमाह—तस्मादिति । कारणव्यापारोत्तरं यथा कार्यं सत् तथा ततः=कारणव्यापारात्पूर्वमपि कार्यं सदेवेत्यर्थः ॥ ननु कारणव्यापारात्पूर्वमपि कार्यं यदि सत्, तदा कारणानां किं प्रयोजनमित्यत आह—कारणाच्चेति । कारणात्=इण्डकुलालचक्रकपालादिना, अस्य मतः=कारणव्यापारात्प्रागपि उदकाऽऽहरणयोग्यस्थूलवस्था एव, अवशिष्यते=साध्यत्वेन विपर्याक्रियते, न तत्पाद्यते—इत्यर्थः ॥ एतदेवोपपादयति—सतश्चाभिव्यक्तिरिति । पूर्वं सत एव वस्तुनः पश्चात् अभिव्यक्त्युक्ता भवति नत्वसत इत्यर्थः ॥ सत अभिव्यक्तौ दृष्टान्तमाह—यथा पीडनेनेति । कारणेषु तौलेषु कार्यस्य पूर्वं सत एव तैलस्य पीडनेन=पीडनात्मकव्यापारेण अभिव्यक्तिर्भवति, कारणेषु च धान्येषु पूर्वं सतामेव कार्याणां तण्डुलानाम् अभिव्यक्तिर्भवति, एवं कारणेषु सौरभेयीषु=तुरभेः गोः अपत्यभूतासु गोषु प्राक् सतः कार्यस्य पयसः अभिव्यक्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ पूर्वम् असतः अभिव्यक्तौ दृष्टान्ताऽभावं दर्शयति—असतः करणे त्विति । कारणव्यापारात्प्रागसतः करणे=अभिव्यक्तौ तु किञ्चिदपि निदर्शनं=दृष्टान्तः न अस्तात्यर्थः ॥ एतदेव स्पष्टयति—न खल्विति । खलु=अवधारणार्थः प्राग् यत् असद्वस्तु तत् सांख्यमतेन अभिव्यज्यमानं न्यायमतेन वा उत्पद्यमानं कचिदपि नैव दृष्टमित्यर्थः । 'नाऽसदुत्पादो नृशृंगवदि'ति भावः ॥ कार्यस्य सत्त्वे हेत्वन्तरमवतारयति—इतश्च कारणेति । इतश्च=वक्ष्यमाणहेतोरपि । 'कार्यं=कारणव्यापारात्प्राक् सदेव, उपादानग्रहणादि'त्यनुमितम् । हेतुं व्याख्याति—उपादानानीति । तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणानात्यर्थः । तेषाम्=कारणानाम् । ग्रहणं नाम आदानं, यथा दध्यर्थो उपादानस्य दुग्धस्य ग्रहणं आदानं करोति न तु जलस्य, अतः कारणे कार्यं वर्तते एवेति, एतादृशं ग्रहणं कार्यकारणयोः अम-



दानग्रहणात्”, उपादानानि-कारणानि, तेषां ग्रहण-कार्येण सम्बन्धः । उपादानैः कार्यस्य सम्बन्धादिति यावत् । एतदुक्तं भवति-कार्येण सम्बद्धं कारणं कार्यस्य जनकम्, सम्बन्धश्च कार्यस्याऽसतो न सम्भवति, तस्मादिति । स्यादेतत्-असम्बद्धमेव कारणैः कार्यं कस्मात् जन्यते ? तथा चाऽसदेवोत्पत्स्यत इत्यत आह-“सर्वसम्भवाभावात्” इति । असम्बद्धस्य जन्यत्वे असम्बद्धत्वाविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्मान्नवेत् । न चैतदस्ति, तस्मान्नाऽसम्बद्धमसम्बद्धेन जन्यते, अपि तु सम्बद्धं सम्बद्धेन जन्यत इति । यथाऽऽहुः सांख्यबृद्धाः-“असत्त्वे नाऽस्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः । असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः-”इति । स्यादेतत्-असम्बद्धमपि सत् तदेव करोति यत्र यत् कारणं शक्तं, शक्तिश्च कार्यदर्शनादवगम्यते । तेन

म्बन्धे सति न संभवति अतः ‘ग्रहण’पदमेव ‘सम्बन्ध’परतया व्याख्याति-कार्येण सम्बन्ध इति ॥ निर्गलितार्थमाह-उपादानैरिति । तथा च-‘उपादानानि,-कारणव्यापारात्प्रागपि कार्यवन्ति,-कार्यसम्बन्धाऽनुयोगित्वात्,-यो यत्सम्बन्धानुयोगी सः तद्वान् यथा घटसम्बन्धाऽनुयोगि भूतलं घटवदित्यनुमानं फलितम् । यथा वा-‘कार्यम्-कारणव्यापारात्प्रागपि सत्,-उपादानसम्बन्धवत्त्वात्, यत् यत्र न सत्, तत् न तेन सम्बद्धं, यथा कंकरेण सह तैलमिति । अत्र सम्बन्धमुपपादयन् हेतोरदुष्टतां स्पष्टयति-एतदुक्तं भवतीत्यादिना । कार्येण घटादिना सह सम्बद्धमेव कारणं कपालादिकं कार्यस्य घटादेः जनकम्-उत्पादकं भवति, सम्बन्धश्च तादात्म्याख्यः सत्कारणस्य असत्ता कार्येण सह न संभवतीति कार्यं सदेवाऽभ्युपेयमिति भावः, अनुमानं तु-‘कार्यम्,-उत्पत्तेः प्रागप्युपादानसम्बद्धम्,-उपादानजन्यत्वात्, यत्रोपादानसम्बद्धं तत्रोपादानजन्यं यथा कपालात् पट इति बोध्यम् । ननु उपादानजन्यत्वं भवतु कार्यं, न तूपादानसम्बद्धत्वमित्याशङ्कते-स्यादेतदित्यादिना ॥ कारणैः=उपादानकारणैः कपालादिभिः सह, असम्बद्धमेव कार्यं कस्मात्=कस्मात् बाधकात् न जन्यते ? अर्थात्-बाधकमेव नास्ति, तथा च सम्बन्धाऽभावात् असतोऽपि कार्यस्योत्पत्तौ न त्रिरोधः-तस्मात् कार्यमसदित्यर्थः ॥ अत आह । उक्तार्शं कानिराकरणागमाहेत्यर्थः ॥ सर्वसंभवाऽभावादिति । कपालादिकारणाऽतिरिक्ते सर्वस्मिन् घटादिकार्यस्य यः संभवः प्राविर्भावः तदभावात्, असम्बद्धं कार्यं न भवतीति भावः । अनुमानं तु-‘कार्यम्,-कारणेन सम्बद्धम्,-कारणे नियमेनाऽभिव्यज्यमानत्वात्, यद्वा-‘कारणानि-कार्यसम्बद्धानि,-स्वसम्बद्धकार्यवत्त्वादिति ॥ ‘सर्वसंभवाऽभावादिति’-व्याचष्टे-असम्बद्धस्येति । कारणे असम्बद्धस्य कार्यस्य जन्यत्वे=प्राविर्भावे सति तु घटादिना सह पटादेः असम्बद्धत्वस्य अविशेषेण=समानधर्मतया, सर्वं कार्यजातं=यत् यस्य कार्यं न भवति तदपि, सर्वस्मात्=यत् यस्य कारणं न भवति तस्मादपि, भवेत्=प्राविर्भवेत् । एतच्च=एतादृशं च न दृष्टं भवति, तस्मात् असम्बद्धं कार्यम् असम्बद्धेन कारणेन न जन्यते, किन्तु सम्बद्धं कार्यं सम्बद्धेन कारणेन जन्यते इत्यर्थः ॥ उक्तार्थे बृद्धसम्मतिमाह-असत्त्वे-इति । असत्त्वे=कार्याणाम् उत्पत्तेः प्राग् अविद्यमानत्वे सति, तेषां कार्याणां सत्त्वसङ्गिभिः=सत्त्वधर्मावच्छिन्नैः कारणैः सह सम्बन्धः=तादात्म्याख्यः, नास्ति=न भवेदेव । कारणैः सह असम्बद्धस्य च कार्यस्योत्पत्तिमिच्छतो मते न व्यवस्थितिः=कपालाभ्यामेव घटः तन्तुभिरेव पट इत्यादि व्यवस्था न स्यादित्यर्थः ॥ ननु असम्बद्धमपि सत् कारणं तदेव कार्यमुत्पादयिष्यति यत्र यत् कारणं शक्तं यथा पटशक्तिमन्तस्तन्वः पटोत्पादका इति तथा चाऽसत्कार्योपगमेऽपि न क्षतिरित्याशङ्कते-स्यादेतत्-असम्बद्धमपि सदिति । शक्तौ प्रमाणमाह-शक्तिश्चेति । कारणस्य शक्तिः कार्यदर्शनेन=प्रत्यक्षविषयकार्येण, अवगम्यते=अनुमोयते-‘कपालं-घटोत्पादनशक्तिमत्’-घटजनकत्वादिति ।

नाऽव्यवस्थेत्यत आह—“शक्तस्य शक्यकरणात्” इति । सा शक्तिः शक्तकारणाश्रया, सर्वत्र वा स्यात्, शक्ये एव वा ? सर्वत्र चेत्, तदवस्थैवाऽव्यवस्था । शक्ये चेत्, कथमसति शक्ये तत्र ? इति वक्तव्यम् । शक्तिभेद एव एतादृशो यतः किञ्चिदेव कार्यं जनयेत् न सर्वमिति चेत्, हन्त भोः ! शक्तिविशेषः कार्यसम्बद्धो वाऽसम्बद्धो वा ?, सम्बद्धत्वे नाऽसता सम्बन्ध इति सत् कार्यम् । असम्बद्धत्वे सैवाऽव्यवस्था, इति सुष्ठूक्तं “शक्तस्य शक्यकरणात्” इति । इतश्च सत् कार्यमित्याह—“कारणभावाच्च”, कार्यस्य कारणात्मकत्वात् । न हि कारणाद्भिन्नं कार्यं, कारणं च सदिति कथं

तेन=शक्तकारणस्यैव कार्योत्पादकत्वेन, ‘सर्वं कार्यं जातं सर्वस्माद्भवेदिति’ अन्वयवस्थाऽपि न स्यादिति-  
खण्डनायाऽऽह—शक्तस्य शक्यकरणादिति । यस्मिन् कार्ये यत् कारणं शक्तं भवति तस्य शक्तस्य कारणस्य तदेव करणं=कार्यं भवति नान्यत्, असत्कार्यं शक्तेरभावात् कार्यं सदित्यभिप्रायः ।  
तथा चानुमानम्—‘कारणगता शक्तिः,—अनागताऽवस्थकार्यसम्बद्धा,—विद्यमानसत्पदार्थविषयकत्वात्,—शानवदिति । ‘शक्तस्य शक्यकरणादिति’ हेतुना कार्यस्य सत्त्वं दृढयितुं शक्तौ विकल्पान् प्रयुञ्जते—सा शक्तिरित्यादिना । शक्तकारणाऽऽश्रया=शक्तं=कार्यजननसमर्थं कारणम् आश्रयो यस्याः सा, एतादृशो या शक्तिः सा, सर्वत्र वा स्यात् ?=किं सर्वेषु कार्येषु स्यात् ?=किं सर्वकार्यनिरूपिता स्यादिति यावत् । शक्ये एव वा ?=उत शक्ये कार्ये एव स्यात् ?=शक्यं यत् कार्यं तन्निरूपितैव वा स्यादिति यावत् । यदि सर्वकार्यनिरूपितेति पक्षस्वीकारः क्रियते तदा । तदवस्थैवाऽव्यवस्था=सर्वकार्यजातं सर्वस्माद् भवेदिति या अव्यवस्था उक्ता सा प्रसज्येत । शक्ये चेत्=यदि शक्यकार्यनिरूपितेति पक्षः स्वीक्रियते तदा । कथमसति शक्ये तत्र इति वक्तव्यम्=कारणव्यापारात्प्राग् असति तत्र कार्यं कथं शक्तिः स्यात्, असत्कार्यनिरूपितत्वं शक्तौ कथं भवेत्, अतः सत्कार्यं वक्तव्यमित्यभिप्रायः । सतोरेव निरूप्यनिरूपकभावो भवतीति भावः ॥ तार्किकः शङ्कते—शक्तिभेद एवेति । शक्तिभेदः=शक्तिविशेष एव तादृशः=कार्याऽनिरूपितोऽपि किञ्चित्कार्यजनकः, यतः=यस्मात् कार्याऽनिरूपितत्वे सत्यपि किञ्चित्कार्यजनकत्वाद्धेतोः, किञ्चिदेव कार्यं जनयेत् न तु सर्वं तथा च नाऽव्यवस्था, अतः कार्यस्य सत्त्वम् अनावश्यकमित्याशङ्कितुरभिप्रायः ॥ उत्तरयति—हन्त भोरित्यादिना । तार्किकाऽभिप्रायस्य दुर्बलत्वसूचनार्थं—हर्षार्थकं ‘हन्त’ इत्यव्ययपदम् । सः=कार्याऽनिरूपितोऽपि किञ्चित्कार्यजनकः, कारणस्थः शक्तिविशेषः इत्यर्थः ॥ तत्र विकल्प्य दूषयति—कार्यसम्बद्धो वेति । निरूपितत्वाख्यसम्बन्धाऽनङ्गीकारात् अन्येन केनचित् जन्यजनकत्वादिसम्बन्धेन कार्येण सह सः शक्तिविशेषः सम्बद्धो न वेत्यर्थः ॥ सम्बद्धत्वपक्षे सांख्यमतसिद्धिरित्याह—सम्बद्धत्वे—इति । असता कार्येण सह न भवति शक्तौ सम्बन्धः अतः सत्कार्यं सिद्धमिति ॥ असम्बद्धत्वपक्षे दूषणमाह=असम्बद्धत्वे सैवाऽव्यवस्थेति । ‘सर्वं कार्यं जातं सर्वस्माद्भवेदिति’ या अव्यवस्था उक्ता सैवेत्यर्थः ॥ उपसंहरति—इति सुष्ठूक्तमिति । यतः शक्तं कारणं शक्तिसम्बद्धमेव शक्यं कार्यं जनयति अतः ‘शक्तस्य शक्यकरणादिति’ हेतुः सुष्ठूक्त इत्यर्थः ॥ हेत्वन्तरमवतारयति—इतश्चेति । कारणभावादिति हेतोरपीत्यर्थः । तथा च—‘कार्यं, उत्पत्तेः प्रागपि सत्,—कारणात्मकत्वादित्यनुमितम् ॥ हेतुं व्याख्याति—कार्यस्य कारणात्मकत्वादिति । तदेवोपपादयति—नहीति । कारणाद्भिन्नं कार्यं न भवति, कारणं च सत् अतः तदभिन्नं कार्यमपि सदेवेत्यर्थः । ननु ‘कारणभावा’दिति हेतुः स्वरूपाऽसिद्धइत्याशङ्कायां—कार्यस्य



तदभिन्नं कार्यमसद्भवेत् । कार्यस्य कारणाभेदसाधनानि चे प्रमाणानि—‘न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते तन्तुधर्मत्वात् । इह यद्यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति, यथा गौर-  
श्वस्य । धर्मश्च पटस्तन्तूनां, तस्मान्नाऽर्थान्तरम् । उपादानोपादेयभावाच्च नाऽर्थ-  
न्तरत्वं तन्तुपटयोः । ययोरर्थान्तरत्वं न तथोरुपादानोपादेयभावः, यथा घटपटयोः ।  
उपादानोपादेयभावश्च तन्तुपटयोः । तस्मान्नाऽर्थान्तरत्वम् । इतश्च नाऽर्थान्तरत्वं  
तन्तुपटयोः, संयोगाप्राप्त्यभावात् । अर्थान्तरत्वे हि संयोगो दृष्टो यथा कुण्डबदरयोः, अ-  
प्राप्तिर्वा यथा हिमवद्विन्ध्ययोः । न चेह संयोगाप्राप्ती, तस्मान्नाऽर्थान्तरत्वमिति ।

कारणाऽभेदसाधकानि प्रमाणानि दर्शयितुमाह—कार्यस्येति । कार्यस्य कारणाऽभेदसाधनानि= ‘कार्य-पक्षक-कारणाऽभेदसाध्यकाऽनुमितिजनकानि अवीतप्रमाणानोत्तर्यः ॥ अनुमानाकारं दर्शयति—न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यत इत्यादिना । पटः-पञ्चः, न तन्तुभ्यो भिद्यते—इति साध्यम् । तद्धर्मत्वादिति हेतुः,—अस्य तन्तुधर्मत्वादित्यर्थः ॥ सामान्यतया व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयन्नुदाहरणमाह—इह यदिति । इह=अत्रानुमाने । यत्=गौः, यतः=अश्वतः, भिद्यते, तत्=गौः, तस्य अश्वस्य धर्मो न भवति, अतो गवाश्वयोर्नाऽभेदः । ‘यत् यतो भिद्यते’—इति साध्याभाव-निर्देशः, ‘तत् तस्य धर्मो न भवती’ति हेत्वभावनिर्देशः ॥ तथा च व्यापकस्य तन्तुधर्मत्वाऽभावस्य पटे निवृत्त्या व्याप्यस्य तन्तुभेदस्य निवृत्तेः अमेदसिद्धिरिति भावः । उपनयवाक्यमाह—धर्मश्च पटस्तन्तूना-  
मिति । अत्र—‘न चाऽयं तथेत्युपनयवाक्यमनुसन्धेयम्, तस्य च ‘अयं पटः तन्तुभेदव्यापको यस्त-  
न्तुधर्मत्वाऽभावस्तद्वान्नेत्यर्थः, किन्तु तन्तुधर्मत्ववानिति यावत् ॥ तस्मान्नार्थान्तरमिति । अन्यः भिन्नः अर्थः इति अर्थान्तरम् । तस्मात्=तन्तुधर्मत्वाऽभावाऽभाववत्त्वात्, तन्तुधर्मत्वादिति यावत् । न अर्थान्तरम्=न तन्तुभिन्न इत्यर्थः ॥ अवीताऽनुमानान्तरमाह—उपादानोपादेयभावा-  
च्चेति । कार्यार्थं यत् उपादीयते गृह्यते तत् उपादानं-कारणम्, कारणव्यापारोत्तरं यत् उपात्तं प्रापं योग्यं भवति तत् उपादेयं-कार्यम्, तयोर्भावः=कार्यकारणभाववत्त्वादित्यर्थः । नाऽर्थान्तरत्वम्= न भिन्नत्वम् । तथा चानुमानम्—‘पटः,—न तन्तुभिन्नः,—तन्तुनिर्हृषितकार्यतावत्त्वादिति ॥ अथवा—  
तन्तुपटौ—परस्परभेदाऽननुयोगिनी,—कार्यकारणभाववत्त्वादिति ॥ उदाहरणं दर्शयन् व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति—ययोरर्थान्तरत्वमिति । यथा घटपटयोः अर्थान्तरत्वं=भेदः, अतो न तथोरुपादानोपादे-  
यभाव इति ॥ उपनय-वाक्यं दर्शयति—उपादानोपादेयभावश्च तन्तुपटयोरिति । अत्राऽपि ‘नेमौ तथेत्युपनयवाक्यमनुसन्धेयम्, तस्य—‘इमौ=तन्तुपटौ, अर्थान्तरत्व-व्यापको यः उपादानोपादे-  
यभावाऽभावस्तद्वन्तौ नेत्यर्थः । किन्तु उपादानोपादेयभाववन्ताविति भावः । निगमनवाक्यमाह—  
तस्मान्नाऽर्थान्तरत्वमिति । तस्मात्=उपादानोपादेयभावाऽभावाऽभाववत्त्वात्, उपादानोपादेय-  
भाववत्त्वादिति यावत् । नार्थान्तरत्वं=न भिन्नतेत्यर्थः । हेत्वन्तरमाह—संयोगाऽप्राप्त्यभावादिति । ‘तन्तुपटौ,—परस्परभेदाऽननुयोगिनी, संयोगाऽप्राप्त्यभावादित्यनुमानम् । अत्र संयोगः—अप्राप्तयोः प्राप्तिः । अप्राप्तिः—विभागः, तथा च—तादृशसंयोगानाश्रितत्वात् विभागाऽनाश्रितत्वाच्चेतिहेतुद्वयं बोध्यम् । एतदभिप्रायेण संयोगं दृष्टान्तमाह—अर्थान्तरत्वे हि—संयोगो दृष्टो यथा कुण्डबदर-  
योरिति । विभागं दृष्टान्तमाह—अप्राप्तिर्वा यथा हिमवद्विन्ध्ययोरिति । सर्वदा हिमाचल-  
विन्ध्याचलयोरप्राप्तिरित्यर्थः ॥ उपनयति—न चेह संयोगाऽप्राप्तीति । इह=तन्तुपटयोः, अप्राप्ति-  
पूर्वकप्राप्तिरूपः संयोगो नास्ति, न वा विभागो वर्तते इत्यर्थः ॥ निगमयति—तस्मान्नार्थान्तरत्व-  
मिति । तस्मात्=संयोगाऽभावात् विभागाऽभावाच्च तन्तुपटयोर्न भेद इत्यर्थः ॥ प्रयोगान्तरमाह

इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात् । इह यद्यस्मान्निबन्धम्, तस्मात् तस्य गुरुत्वान्तरकार्यं गृह्यते, यथैकपलिकस्य स्वस्तिकस्य यो गुरुत्वकार्योऽवनतिविशेषस्तस्माद्द्विपलिकस्य स्वस्तिकस्य गुरुत्वकार्योऽवनतिभेदोऽधिकः । न च तथा तन्तुगुरुत्वकार्यात् पटगुरुत्वकार्यान्तरं दृश्यते । तस्मादभिन्नस्तन्तुभ्यः पट इति । तान्येतान्यभेदसाधनान्यवीतानि । एवमभेदे सिद्धे, तन्तव एव तेन तेन संस्थानभेदेन परिणताः पटः, न तन्तुभ्योऽर्थान्तरं पटः । स्वात्मनि क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशा-

इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरुत्वाऽन्तरकार्याऽग्रहणादिति । गुरुत्वं=भारविशेषः, गुरुत्वान्तरम्=भारभेदः, तस्य यत् कार्यं अधोनमनाद् तस्याऽनुपलम्भात् तन्तुपटयोर्न भेद इत्यर्थः ॥ उदाहरणं दर्शयितुं व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति-इह यादिति । घटः तन्तुभ्यो भिन्नः तस्मात् घटस्य गुरुत्वान्तरकार्यं नमनं तन्तुतोऽधिकं गृह्यते=तुलायां प्रत्यक्षं भवतात् तौ नाऽभिन्नौ । व्यातिरेकि-दृष्टान्तामाह-यथैकपलिकस्येति । अशातिरक्तिकाया एकं तोलकं, तोलकचतुष्टयं चैकं पलम्, तद्गुरुत्वपरिमितगुरुत्ववद्वस्तु-एकपलिकं तस्य । स्वस्तिकस्य=स्वस्तिकसमानाकारस्य देवसदनतया कण्ठे धार्यस्य सुवर्णानमिताऽऽभूषणस्य तुला-छिन्नस्थापितस्य । गुरुत्वकार्यः=गुरुत्वं जन्यः यः अवनतिविशेषः=अधोनमनात्मककार्यविशेषः, तस्मात्=तदपेक्षया, द्विपलिकस्य=पलद्वयगुरुत्वपरिमितगुरुत्ववतः, स्वस्तिकस्य=स्वस्तिकाख्यसुवर्णाऽऽभूषणस्य, गुरुत्वकार्यः अवनतिविशेषः अधिको दृश्यते, अतस्तौ स्वस्तिकौ भिन्नावित्यर्थः ॥ उपनयति-न च तथेति । तन्तुगुरुत्वकार्यं यत् अवनमनात्मकं तदपेक्षया पटगुरुत्वस्य अवनमनात्मककार्यान्तरं न दृश्यते इत्यर्थः ॥ निगमयति-तस्मादभिन्नस्तन्तुभ्यः पट इति । तस्मात्=गुरुत्वान्तरकार्याऽग्रहणादित्यर्थः ॥ गुरुत्वस्य अतान्द्रियपदा-यंतया 'समान'गुरुत्ववत्त्वादित्यनुक्त्वा 'गुरुत्वान्तरकार्याऽग्रहणत्वादिति हेतुनुधावनम् ॥ 'अस्य च व्यतिरेकिण उदाहरणमग्रेऽभिधास्यते'-इत्यनेन पूर्वं (५) कारिकाव्याख्यायां यत् प्रतिज्ञातं तन्मयाऽनुष्ठितमित्याह-तान्येतानीति । अभेदसाधनानि=कार्यकारणयोरभेदसाधकानि, अवीतानि=व्यतिरेक्यनुमानानीति ॥ ननु यदि तन्तव एव पटस्तदा कथं नामादिव्यवहारभेद इत्याशंकायामाह-एवमभेदे सिद्धे इति । एवम् अनुमानैः कारणकार्ययोरभेदे सिद्धे सति तन्तव एव संस्थानभेदेन=आतानवितानात्मकाऽवयवसंयोगभेदेन परिणताः=अवस्थान्तरं प्राप्ताः एव 'पट' इति व्यपदेशाहोः, अतः पटो न तन्तुभ्यो भिन्न इत्यर्थः । अवस्थाभेदात् नामादिभेदव्यवहार इति भावः ॥ अथ नैयायिकाः-'पटः-तन्तुभिन्नः,-तदीयोत्पत्त्याख्यक्रियाभेदात् । हेतुः स्वप्रतियोग्याश्रयतासम्बन्धेन बोध्यः । एवम्-'पटः-तन्तुभिन्नः,-तदीयविनाशात्मक-निरोधभेदात् । एवम्-'पटः-तन्तुभिन्नः,-अयं पट'-इतिबुद्धिभेदात् । 'पटः,-तन्तुभिन्नः,-'पट'-इतिव्यपदेश (शब्दव्यवहार) भेदात् । 'पटः,-तन्तुभिन्नः,-, प्रावरणाद्यात्मकार्यक्रियाभेदात् । इत्याद्यनुमानैः पूर्वोक्तान् अभेदसाधकान् अवीतानुमानप्रयोगानुसृत्यपि पक्षान्प्राहुः तात्पर्याह-स्वात्मनि क्रियेति । स्वात्मनि=अभिन्ने वस्तुनि पटादौ । क्रियाभेदाः='पटउत्पद्यते'इति 'तन्तुरुत्पद्यते'इति च उत्पत्त्यात्मकक्रियाविशेषाः । निरोधभेदाः='पटो नश्यतीति तन्तुर्नश्यतीति च ध्वंसात्मकनिरोधविशेषाः । बुद्धिभेदाः='अयं पटः' 'इमे तन्तव' इतिज्ञानविशेषाः । अथवा-'क्रियानिरोधबुद्धिभेदा'-इत्येक एव हेतुः, अग्रिमव्याख्यानुलोपात् । व्यपदेशभेदाः='पटः-तन्तवः'-इति शब्दभेदाः । अर्थक्रियाभेदाः=प्रावरणाऽप्रावरणात्मकसामर्थ्यविशेषाः । कच्चित्पुस्तके-व्यवस्था' इत्यधिकः पाठः, तेन व्यवस्थाभेदोऽपि हेतुः, भेदपदस्य द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य प्रत्येकेन क्रियादिनाऽन्वयात् । तथा च त एते औपाधिकाः=नैमित्तिकाः क्रियादिभेदाः हेतवः कार्यस्य कार



यत्क्रियाभेदाश्च नैकान्तिकं-भेदं साधयितुमर्हन्ति । एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामेतेषामविरोधात् । यथा हि कूर्मस्याऽङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाऽऽविर्भवन्ति, न तु कूर्मेऽङ्गान्युत्पद्यन्ते प्रध्वंसन्ते वा । एवमेकस्या मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते, निविशमानास्तिरोभवन्ति विनश्यन्तीत्युच्यन्ते । न पुनरसतामुत्पादः सतां वा निरोधः । यथाऽऽह भगवान् कृष्णद्वैपायनः-“नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः-”गी०२-१६ इति । यथा कूमः स्वावयवेभ्यः सङ्कोचविकासिभ्यो न भिन्नः, एवं घटमुकुटादयोऽपि मृत्सुवर्णादिभ्यो न भिन्नाः ।

णतः औपाधिकां भिन्नतां यद्यपि साधयन्ति, तथापि ते ऐकान्तिकम्=पारमार्थिकं वास्तविकं भेदं साधयितुं न अर्हन्तीत्यर्थः ॥ वास्तविकत्वेन परस्परमत्यन्तं विरुद्धा धर्मा एव स्वाश्रयस्य भेदका भवन्ति, औपाधिकानां ( नैमित्तिकानां ) तु धर्माणाम् अवस्थाभेदेन एकस्मिन्नेव पदार्थे क्रमशः समावेशेन विरोधाऽभावात् नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्तीत्याह-एकस्मिन्नपि । एकस्मिन्नपि=अभिन्नेऽपि वस्तुनि तत्त्वात्मकपृथिव्यां, तुरीयापाराशुपाधिना तत्तद्विशेषाणां=क्रियादिप्रावरणान्तविशेषधर्माणाम् आविर्भावेन पूर्वस्थधर्माणां च तिरोभावेन एतेषाम्=क्रिया-निरोध-बुद्धिव्यपदेशाऽर्थक्रियाभेदानाम् अविरोधात्=विरोधाऽभावात् न पारमार्थिकाऽभेदसाधने सामर्थ्यम्, औपाधिकभेदसाधने तेषां चरितार्थत्वेऽपि अनौपाधिके स्वाधिकरणे तत्रैव द्रव्ये व्यभिचारशंका निवर्तकतकशून्यत्वात् न्यूनबलवत्तया तैः ‘पटः-न तन्तुभ्यो भिद्यते’-इत्याद्यनुमानप्रयोगाः न सत्प्रतिपक्षिता भवन्तीति भावः ॥ व्यभिचारशंका तु-हेतुरस्तु=तुरीयापारादिलभ्यस्थूलवस्थाविर्भावात्मकोत्पत्तिविशेषोऽस्तु साध्यं=तन्तुभेदश्च माऽस्त्विति । एवम् सर्वत्रोद्भयम् । तन्निवर्तकतकशून्यत्वात् औपाधिकास्ते हेतवोऽसद्वेत इति हृदयम् ॥ औपाधिकानां ( नैमित्तिकानां ) उत्पत्त्यादीनां सांख्यनयेन आविर्भावाद्यात्मकत्वव्यवस्थापनेन विरोधाऽभावं दर्शयितुमुपक्रमते-यथा हीत्यादिना । तत्र प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह-कूर्मस्याऽङ्गानीति । यथा सतामेव कूर्माङ्गानां तिरोभावाऽऽविर्भावौ न विरुध्येते तथा सत्या एव मृदः घटस्य तिरोभावाऽऽविर्भावौ न विरुध्येते तथा सत एव सुवर्णतो मुकुटतिरोभावाऽऽविर्भावौ न विरुध्येते, तत्र तिरोभवन्तः=अतीतावस्थां सूक्ष्मावस्थां प्राप्ता इत्युच्यन्ते, आविर्भवन्तश्च-वर्तमानावस्थां स्थूलावस्थां प्राप्ता इत्युच्यन्ते इति भावः । ‘अत्रार्थे’वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतिः प्रमाणमुन्नेयम् । नहि नृशृंगवत् असताम्-अलोकानाम् कारणव्यापारेण उत्पत्तिर्भवति, न च सतां पदार्थानां निरोधः=ध्वंसो भवतीति । अत्रार्थे-भगवद्गीतावाक्यं प्रमाणयति-नाऽसत् इति । असत्ः=शशशृंगवदलीकस्याऽर्थस्य भावः=सत्त्वं न विद्यते सतः=सत्पदार्थस्य चाऽसत्त्वं न भवतीत्यर्थः । ननु मा भवताम् उत्पत्तिध्वंसौ, एतावता अभेदे किमायातमित्यतो दृष्टान्तेन भेदाभावमुपपादयति-यथा कूर्म इति । कूर्मो यथा संकुचितेभ्यो विकसितेभ्यश्चाऽवयवेभ्यो न भिन्नः, तथा घटः अतीतावस्थापन्नमृदः वर्तमानाऽवरथापन्नमृदश्च न भिन्नः, मुकुटोऽपि अतीतावस्थापन्नसुवर्णतो वर्तमानाऽवस्थापन्नसुवर्णतश्च न भिन्न इति । विभिन्नाऽवस्थसुवर्णस्यैव भेदाऽभावात् मुकुटाद्यवस्थापन्नस्य कथं भेद इति भावः ॥ एवम्-पटोऽपि नागताऽवस्थावत्सु तन्तुषु ‘तन्तव इमे’-इति बुद्धिः, पटोऽयवर्तमानावस्थावत्सु च तन्तुषु ‘पटोऽयमिति बुद्धिरित्येकस्मिन्नपि तथानुद्धेरोविरोधात् बुद्धिभेदा अपि न भेदसाधका इत्यपि बोध्यम् ॥ व्यपदेशभेदोऽपि न भेदसाधको भवति विरोधाऽभावादित्याह-एवं चेति । यथा ‘इह वने तिलका’इत्यत्र ‘तिलक’नामकतत्समूहस्यैव वनत्वेन

एवञ्च 'इह तन्तुपु पटः' इति व्यपदेशो यथा 'इह वने तिलकाः' इत्युपपन्नः । न चाऽर्थक्रियाभेदोऽपि भेदमापादयति, एकस्याऽपि नानार्थक्रियादर्शनात् । यथैक एव बह्वि-  
दाहकः पाचकः प्रकाशकश्चेति । नाऽप्यर्थक्रियाव्यवस्था वस्तुभेदे हेतुः, तेपामेव सम-  
स्तव्यस्तानामर्थक्रियाव्यवस्थादर्शनात् । यथा प्रत्येकं विष्टयो वत्सं दर्शनलक्षणामर्थ-  
क्रियां कुर्वन्ति न तु शिविकावहनम्, मिलितास्तु शिविकामुद्बहन्ति, एवं तन्त्रवः  
प्रत्येकं प्रावरणमकुर्वाणा अपि मिलिता आविर्भूतपटभावाः प्रावरण्यन्ति । स्यादेतत्-

तिलकवनयोरभेदोऽपि भवत्याधाराभेदव्यपदेशस्तथा 'इह तन्तुपु पटः'-इत्यत्राऽपि एकस्मिन्नेव द्रव्ये  
आधाराभेदभावव्यपदेशः विभिन्नानुपूर्वमच्छब्दप्रयोगश्च भवतीति तदविरोधात् न भेदसिद्धिः, एवम्  
'बहुपु तन्तुपु'-'एकः पटः'-इति व्यवहारोऽपि प्रावरणात्मकैकक्रियापाधिकतया संप्रत्यये गहनस्थ-  
लात्सम्पादनैककार्योपाधिकतया बहुपु तरुपु-एकं वनमितिवदित्यपि दृष्टव्यम् ॥ विभिन्नार्थक्रिया-  
भेदानामपि विरोधाऽभावात् न भेदसाधकत्वमिति दर्शयति-न चाऽर्थक्रियाभेदोपाति । न भेद-  
मापादयति-कारणतः कार्यस्य भेदं न साधयति व्यभिचारादित्यर्थः ॥ व्यभिचारं दर्शयति-नानार्थ-  
क्रियादर्शनादिति । एकस्य वस्तुनः विजातीयक्रियावत्तया दर्शनादित्यर्थः । यथा एक एव बह्विः  
दाहकः=दहनक्रियावान्, स एव च तदानीमेव पाचकः=पाचनक्रियावान्, स एव च तदानीमेव  
प्रकाशकः=प्रकाशक्रियावान् भवति, तथाच भेदात्मकसाध्याऽभाववति बह्वौ क्रियाभेदात्मकहेतोः  
सत्त्वाद् व्यभिचार इति भावः ॥ ननु नारित व्यभिचारः, अर्थ-क्रियाव्यवस्थासत्त्वात्, व्यव-  
स्थाऽत्र व्याप्तिः, व्याप्यार्थक्रियाविशेषश्च हेतुः, तथाहि-सौवनं तन्तोः कार्यं न पटस्य, प्रावरणं  
च पटस्य कार्यं न तन्तोः, तथा च प्रावरणावच्छेदकं पटत्वं सौवनावच्छेदकं च तन्तुवमिति,  
पटत्वव्याप्यं प्रावरणम्, तन्तुत्वव्याप्यं च सौवनम्, एवं च-'तन्तुः-पटमिन्नः',-सौवनात्,  
तन्वन्तरवत्, -'पटः-तन्तुमिन्नः',-प्रावरणात्, पटान्तरवदित्यव्यभिचरितहेतुना भेदसिद्धिः  
स्यादेवेत्याशयेनाऽऽशंकमानं नैयायिकं समादधाति-नाऽप्यर्थक्रियाव्यवस्थेति । व्यवस्थिताऽर्थ-  
क्रियेत्यर्थः, पक्षतावच्छेदकव्याप्याऽर्थक्रियेति यावत् । सा च वस्तुभेदे=स्वाश्रयपदार्थानुयोगिके स्वा-  
ऽनाश्रयपदार्थप्रतियोगिके भेदे, तादृशभेदविधेयकाऽनुमिताविति यावत् । न हेतुः=न लिङ्गमित्यर्थः,  
न सद्भेदुरिति यावत् ॥ असद्भेदुत्वे बीजं दर्शयति-तेपामेवेति । तेपामेव तन्तूनां समस्तानां=  
परस्परसंयुक्तानाम् प्रावरणात्मकाऽर्थक्रियादर्शनात्, तेपामेव च तन्तूनां व्यस्तानां=परस्पराऽसंयुक्ता-  
नां सौवनात्मकाऽर्थक्रियादर्शनात्, व्यस्ततन्तुपु प्रावरणाऽभावात् समस्ततन्तुपु च सौवनाऽभावात्  
पटान्तरत्वेनाऽभिमत-'पटः'-इतिव्यवहार्यं-समस्ततन्तुपु तन्तुभेदात्मकसाध्यस्याऽभावेन तन्वन्तरे च  
पटभेदात्मकसाध्यस्याऽभावेन तत्र च तत्तदीयहेतोः सत्त्वेन तव व्यभिचारात् न वस्तुभेदे हेतुरिति  
भावः ॥ एकस्यैव वस्तुनः समस्तस्य व्यस्तस्य च अर्थक्रियान्तरवत्त्वं दृष्टान्तेनोपपादयति-यथा प्र-  
त्येकमिति । विष्टयः=कर्षकरा भृत्याः, प्रत्येकभृत्य इत्यर्थः । वरुणः=मार्गः, तरय अन्यस्मै प्रदर्शनम्, -तद्-  
पाम् अर्थक्रियां कुर्वन्ति, न तु शिविकायाः=शिलाख्यविमानविशेषस्य वहनं कुर्वन्ति, मिलितास्तु=  
एककार्यकारित्वेन व्यापृतास्तु, ते विष्टयः, शिविकां वहन्ति तत्र विष्टित्वव्याप्या व्यवस्थिता अप्यर्थ-  
क्रिया न विष्टिभेदमापादयन्ति, एवं तन्त्रोऽपि प्रत्येकम् अनाविर्भूतप्रावरणधर्मका अपि मिलिताः  
सन्तः आविर्भूतपटभावाः=आविर्भूतप्रावरणधर्मकाः प्रावरणं करिष्यन्ति, सत्कार्यवादिनये प्रावरण-  
धर्मस्यापि तत्र स्थूलसूक्ष्मान्यतरावस्थया सर्वदा सत्त्वात् प्रत्युताऽभेदसाधकत्वमेव न्याय्यमिति भावः ।  
अर्थक्रियाविशेषैः स्वाश्रये पटावस्थाभेदसाधनं त्वस्मत्संस्मर्तमेव न त्वैकारितिकभेदसाधनमिति हृदयम् ॥



आविर्भावः पटस्य कारणव्यापारात् प्राक् सन् असन् वा ?, असञ्चेत्, प्राप्तं तर्ह्यसदुत्पादनम् । अथ सन्, कृतं तर्हि कारणव्यापारेण । न हि सति कार्ये कारणव्यापारप्रयोजनं पश्यामः । आविर्भावे चाऽऽविर्भावान्तरकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गः । तस्मादाविर्भूतपटभावास्तन्तवः क्रियन्ते इति रिक्तं वचः । मैवम् । अथाऽसदुत्पद्यत इति मते क्रेयमसदुत्पत्तिः ? सती, असती वा ? सती चेत्, कृतं तर्हि कारणैः । असती चेत्, तस्या अप्युत्पत्त्यन्तरमित्यनवस्था । अथ-उत्पत्तिः पटान्नाऽर्थान्तरम्, अपि तु पट एवाऽसौ, तथाऽपि यावदुक्तं भवति 'पटः' इति, तावदुक्तं भवति 'उत्पद्यते' इति ।

“सतश्चाभिभ्यां कुरूपपञ्चा, यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, अवघातनेन धान्येषु तण्डुलानाम्, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः” इति पूर्वं यदुक्तं, तत्र अभिव्यक्तिः सती असती वेति विकल्प्य सांख्यमतं दूषयितुं नैयायिकः उपक्रमते—स्यादेतदित्यादिना—“रिक्तं वचः इत्यन्तेन । स्यादेतदिति । एतदाभिधीयमानं दूषणं स्यादित्यर्थः । तथाहि—सांख्यसिद्धान्तिना पटस्य यस्तन्तुषु आविर्भावः सः तुरावेमादिरूपकारणव्यापारात्पूर्वं सन् मन्यते ? असन् वा मन्यते ? यदि असन् मन्यते, तदा असत्कार्यस्योत्पत्तिर्भवतीति न्यायमतं सिद्धम् । अथ सन् एवाऽऽविर्भाव इति मन्यते, तर्हि = तदा कृतम् = अलम्, कारणव्यापारेण, सतः साध्यत्वाऽभावात् व्यर्थः तुर्यादिकारणव्यापार इति ॥ कारणव्यापारस्य व्यर्थत्वे प्रत्यक्षं प्रमाणमाह—नहि सतीति । कार्ये सति=विद्यमाने सति, कारणव्यापारस्य प्रयोजनं कुत्रापि नहि पश्याम इत्यर्थः । अतस्तद्व्यापारेणाऽलमिति भावः ॥ अथ वाविर्भावोऽपि पूर्वमनभिव्यक्तः कारणव्यापारेणाऽभिव्यज्यतेऽतः आविर्भावस्याऽऽविर्भावाय कारणव्यापारः सप्रयोजन इत्युच्यते चेत् । तत्रापि अनवस्थादोषो भवतीत्याह—आविर्भावे चेति । अनभिव्यक्ताऽऽविर्भावस्याऽऽविर्भावोऽपि पूर्वमनभिव्यक्त इति तस्याऽप्यन्य आविर्भावोऽपेक्षणीय एवं तस्याऽप्यन्य इत्येवमनवस्था प्रसज्येत, तस्मात्=उभयपक्षेऽपि दोषात् । कारणव्यापारेण 'तन्तवः आविर्भूतपटभावाः क्रियन्ते' इति यद् उक्तं वचः तत् रिक्तम्=अप्रामाणिकम्, अतः असत्कार्यवादोऽभ्युपेय इति भावः ॥ अथ सांख्यसिद्धान्ति—“यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः । नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृशार्थविचारणे” इतिन्यायेन तार्किकं तूष्णीं कर्तुं प्रतिबन्दी गृह्णाति—मैवम अथाऽसदुत्पद्यते—इत्यादिनामित्यनवस्थे' इत्यन्तेन । तव न्यायमतेऽपि 'कार्ये कारणव्यापारात्पूर्वं यदसत् सदुत्पद्यते'—इत्यत्राऽपि उत्पत्तिः सती ? असती वा ? । यदि सती मन्यते, तदा कारणैस्तुरावेमादिभिः कृतम्=अलम्, यदि असती सा उत्पत्तिः, तदा असत्युत्पत्तेरुत्पत्त्यन्तरमपि पूर्वमसदिति तस्याऽप्यन्यदुत्पत्त्यन्तरं वक्तव्यमेवं तस्याऽप्यन्यदित्येवमनवस्था प्रसज्येत, एतादृश्यनवस्थापरिहारार्थं यदि किञ्चिदुत्तरमुपलभ्यते तर्हि तदेव ममाऽप्युत्तरम्, यदि नोपलभ्यते ! तदा द्वयोस्तूष्णींभाव इति भावः । अथ नैयायिकः उत्पत्तिं पटात्मिकां मत्वाऽनवस्थापरिहारयोपक्रमते—अथोत्पत्तिरिति । उत्पत्तिः पटात् नार्थान्तरम्=न भिन्ना, किन्तु पटात्मिकैव, तथाहि—उत्पत्तिर्नाम—आद्यक्षणसम्बन्धः, स च स्वरूपसम्बन्धविशेषः, न तु संयोगः—ध्वंसादावसंभवात्, स्वरूपसम्बन्धश्चाऽनुयोगिरूपः, अनुयोगी चाऽत्र पटः, स च कारणव्यापारात् प्रागनुत्पन्न इति पटात्मिका उत्पत्तिरप्यनुत्पन्ना, तथा चाऽनुत्पन्नपटाऽनतिरेकोत्पत्त्युपपत्तये कारणव्यापारः सार्थक इति, तत्र चोत्पत्त्यन्तराऽनङ्गीकारान्नाऽनवस्थाऽपीति भावः ॥ तर्हि सांख्यमतेऽपि आविर्भावस्य पटात्मकतया तत्राविर्भावान्तराऽनङ्गीकारान्नाऽनवस्थेति समानः परिहारः, प्रत्युत तव सिद्धान्ते दूषणान्तरं जागर्तीति सांख्यसिद्धान्ती दर्शयति—तथापीति । पटोत्पत्त्योरेकार्थतया योऽर्थः 'पट' इत्यनेनाऽभिधीयते स एवार्थः 'उत्पद्यते'—इत्यनेनाऽप्यभि-

ततश्च 'पटः' इत्युक्ते 'उत्पद्यते' इति न वाच्यम्, 'पोनरुक्त्यात्', 'विनश्यति' इत्यपि न वाच्यम्, उत्पत्तिविनाशयोर्गुणपदैक्यत्र विरोधात् । तस्मादियं पटोत्पत्तिः स्वकारणसमवायो वा, स्वसत्तासमवायो वा ?, उभयथाऽपि नोत्पद्यते, अथ च तदर्थानि कारणानि व्यापार्यन्ते । एवं सत एव पटादेराविर्भावाय कारणपेक्षेत्युपपन्नम् । न च

धीयेत, तथा च सति 'पटः' इति उक्ते सति 'उत्पद्यते' इत्यप्युक्तमेव भवति, 'उत्पद्यते' इत्युक्ते वा 'पटः' इत्युक्तं भवति, ततश्च 'पटः' इत्युक्ते 'उत्पद्यते' इति न वाच्यम्=न वक्तुं योग्यं भवेत्, कुतः ? पोनरुक्त्यात्=पुनरुक्तरीपाऽऽपत्तेरित्यर्थः । यथा 'घटो घटः' इति प्रयोगः शाब्दबोधाऽनुद्यादनुपपन्नस्तथा 'पटः' 'उत्पद्यते' इत्यपि प्रयोगोऽनुपपन्नस्तव मते=इति, न चाऽयमनुवादो येन पुनरुक्तता न प्रसज्येतेति भावः ॥ दूषणान्तरमाह-विनश्यतीति । तव मते पटोत्पत्त्योरेकपदार्थतया उत्पत्तिविरोधिनो विनाशस्य पटाऽत्मकत्वाऽसंभवात् 'पटो विनश्यतीत्यपि न वक्तुं योग्यं भवेत्, कुतः ? उत्पत्तिविनाशयोः विरुद्धयोरेकत्र युगपत्=एककालेऽसंभवात्, भवति हि-वर्तमानकालिकोत्पत्त्यात्मकस्य पटस्य वर्तमानकालिकध्वंसात्मकत्वे विरोध इति भावः ॥ तस्मात् नैयायिकेन पटोत्पत्तिः पटाऽतिरिक्ता काचिद्वक्तव्येत्याह-तस्मादियमिति । सा पटोत्पत्तिः स्वकारणसमवायात्मिका वक्तव्या, -स्वस्थ=उत्पत्त्य कारणेषु यः समवायः=समवायाख्यसम्बन्धस्तदात्मिकेत्यर्थः ॥ एतादृशोत्पत्तेस्तन्तावपि वृत्तेः पट्यमता न स्यादत आह-स्वसत्तासमवायो वेति । स्वस्मिन् पटात्मकायै वा सत्ताजातिवर्तते तस्याः यः समवायस्तदात्मिका वक्तव्येत्यर्थः । तदंतत् उभयथाऽपि=प्रकारद्वयेऽपि उत्पत्तिः नोत्पद्यते=समवायस्य नित्यत्वात् समवायात्मकोत्पत्तेरपि नित्यतया उत्पत्तेः उत्पत्तिर्नोत्पद्यते इत्यर्थः । किञ्च समवायस्य नित्यत्वे पटस्य च असत्त्वे असतः पटस्य कथं कारणे समवायः, कथं वा असति पटे सत्तासमवायः, सदसतोः सम्बन्धाऽसंभवात्, अतः पटोऽपि सन् वक्तव्यः, अथ च=तथा च तदर्थानि=उत्पत्तिप्रयोजनानि कारणानि तुर्यादीनि व्यापार्यन्ते=व्याप्रियमाणानि क्रियन्ते कार्याधिभिरित्यायातं तव मते, एवं=तथा मम मतेऽपि कारणव्यापारात्प्रागपि सत एव पटादेराविर्भावाय कारणऽपेक्षा=कारणव्यापाराऽपेक्षेति उपपन्नम्=सिद्धमित्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम्-प्रतिबन्धा तार्किको मानाकृतः, न तु दोषोद्धारणे, तथा च "असंश्चेत् ! प्राप्तं तद्वत्सदुत्पादनम्, अथ सन्, कृतं तर्हि कारणव्यापारेण" त्यापत्तेः क उद्धार इति चेद् ! अयम्-सब-वस्तुषु सत्त्वं द्विविधं सूक्ष्मं स्थूलं चाऽविरुद्धम्, तत्र कारणव्यापारः सूक्ष्ममावायते स्थूलं च प्रकाशयते, तमसाऽऽवृतघटस्य तेजसा प्रकाशनवत् अतो न कारणव्यापारो निष्प्रयोजनः । अत एव नाऽनवस्थापि, अभिव्यक्तेरेव स्थूलसत्त्वाऽपरपर्यायत्वात्, अनभिव्यक्तेश्च सूक्ष्मसत्त्वाऽपरपर्यायत्वात्, प्रतिक्षणपरिणामकैः कारणैः सूक्ष्मसत्त्वानुवर्तनं यावत्, तावत् अभिव्यक्तिरावृता, स्वकारणव्यापारैश्च प्रकाशिता भवताति । नन्वावरणे आवरणान्तरात्मकं सत्त्वम् अङ्गाकार्यं प्रकाशे च प्रकाशान्तरात्मकं सत्त्वमङ्गाकार्यम्, इत्यनवस्थेति चेत् ! अत्राहुः सांख्यसूत्रकाराः-"पारम्पर्यतोऽन्वेषणा वाजाङ्कुरवत्" (अ. १, सू. १२२) यथा बाजार्थमङ्कुरम् अङ्कुरार्थं च बीजमपेक्षितमितिक्रमिकाऽनवस्था न दोषाय तथा अभिव्यक्त्यादौ एककालेन पारम्पर्यतोऽनवस्था न दोषायेति । अथवा-सांख्यसूत्रम् 'उत्पत्तिवद्वाऽदोषः' (अ. १, सू. १२३) यथा उत्पत्तेरुत्पत्त्यन्तराऽनभ्युपगमेन परमते नाऽनवस्था तथा अभिव्यक्त्यादेरभिव्यक्त्यन्तराऽनभ्युपगमेन नाऽनवस्थेति ॥ अथ स्वकारणसमवायात्मकोत्पत्तेः नित्यस्य न कारणव्यापाराऽपेक्षा अपि तु पटस्य रूपं=स्वरूपं यत् विशालपरिमाणदिकं तदर्थं कारणव्यापाराऽपेक्षेति नैयायिकः उत्तरयेत् तत्राऽऽह- न च पटरूपेण कारणानां सम्बन्ध इति । पटस्य



पटरूपेण कारणानां सम्बन्धः, तद्रूपस्याऽक्रियात्वात्, क्रियासम्बन्धित्वाच्च कारकाणाम्, अन्यथा कारणत्वाभावात् । तस्मात् सत् कायमिति पुष्कलम् ॥ ९ ॥

तदेवं प्रधानसाधनानुगुणं सत्कार्यमुपपाद्य यादृशं तत् प्रधानं साधनीयं तादृशमादशयितुं विवेकज्ञानोपयोगिनी व्यक्ताव्यक्तसाहचर्यवैरूप्ये तावदाह—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

स्वरूपं यत् विशालपरिमाणादिकं तेन सह कारणानां जन्यजनकभावः सम्बन्धो नास्ति, अतो नाऽसम्बन्धार्थं कारणव्यापारसाधन्यमिति भावः ॥ ननु कुतः पट्रूपेण सह कारणानां न सम्बन्धः ? इत्याकांक्षायाम् आह—तद्रूपस्याऽक्रियात्वादिति । तस्य पटस्य यद्द्रूपं स्वरूपं परिमाणादिकं तस्य गुणत्वेन अक्रियात्वात्=क्रियाऽनात्मकत्वात्=पटात्मकं यत् स्वकार्यं तद्विन्नत्वादितियावत्, न कारणानां तेन सह सम्बन्धइत्यर्थः ॥ स्वकारणकारणस्य स्वं प्रत्यन्यथासिद्धत्वादिति भावः । ननु व्यापारेण व्यापारिणो नाऽन्यथासिद्धिः, तुर्यादिव्यापारिणा पटादिव्यापार(द्वार)कं पटादिस्वरूपं पारिमाणादिकमुत्पाद्येतेति नाऽसम्बन्धमित्यत आह—क्रियासम्बन्धित्वाच्चेति । कारणानां तुर्यादीनां क्रियायां=स्वकार्येण पटेन सहैव सम्बन्धित्वात्=जन्यजनकभावसम्बन्धात् न तु स्वस्य अकायोत्मकेन कार्यकार्येण सहापि सम्बन्धः इत्यर्थः । 'क्रियासम्बन्धित्वं कारकत्वमिति' शब्दकानां सिद्धान्तात् पट्रूपादेशं तदभिमतक्रियात्वाऽभावात् सम्बन्धो नापपद्यत एवेति भावः ॥ 'क्रियासम्बन्धित्वाच्चेति चकारो व्यासमूचकः, 'यत् कारकं तत् क्रियासम्बन्धीति, तथा च कारकत्वादेव क्रियासम्बन्धित्वं तत्र घटते—इति हृदयम् ॥ यत्र क्रियासम्बन्धित्वं न स्यात् तत्र कारकत्वमेव न भवतीत्याह—अन्यथेति । अन्यथा=क्रियासम्बन्धित्वाभावे सति, कारणत्वाऽभावात्=कारकत्वमेव भज्येतेत्यर्थः ॥ उपसंहरति—तस्मादिति । तस्मात्=सत्कार्यवादस्य निवृत्त्यात्, कारणव्यापारात्प्रागपि कार्यं सत्—इति मतं पुष्कलम्—प्रमाणैराकलितं वृढाकृतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

दशमकारिकामवतारयति—तदेवमिति । तदेवम्=नवमकारिकोक्तप्रकारेण, प्रधानस्य=मूलप्रकृतेः साधनस्य=अनुमित्यात्मकसिद्धेः अनुगुणम्=परम्परया प्रयोजकम् सत्कार्यम्=कार्यस्य सत्त्वम् उपपाद्य=उपपत्तिभिः युक्तिभिः स्थिरीकृत्य, इदानीं यादृशं=पुरुषबुद्ध्यादिविलक्षणं तत् प्रधानं साधनीयम् भवति तादृशम् आदर्शयितुम्=अनुमापयितुम्, अनुमात्मकं यत् विवेकज्ञानं—'अव्यक्तम्—इतरभिन्नम्—'इत्याकारकं तत्र इतरपदेन व्यक्तावस्था चेतनाश्च गृह्यन्ते, अतः—'अव्यक्तावस्था,—व्यक्तावस्थाभिन्ना,—अहेतुमत्त्वात्, 'अव्यक्तम्—चेतनभिन्नम्—त्रिगुणात्वादि'त्यादिप्रणाल्या हेतुविधया उपयोगिनी साहचर्यवैरूप्ये=साधर्म्यवैधर्म्ये तावत्=प्रथमम् आह—हेतुमदित्यनेनेत्यर्थः ॥ व्यक्तम्—हेतुमत्, अनित्यम्, अव्यापि, सक्रियम्, अनेकम्, आश्रितम्, लिङ्गम्, सावयवम्, परतन्त्रम् । अव्यक्तं विपरीतम् इत्यन्वयः । सर्वत्र भावप्रधाननिर्देशेन हेतुमत्त्वम्—अनित्यत्वम्—इत्येवमादि साधर्म्यं बोध्यम् । संक्षिप्तार्थस्तु—व्यक्तं=बुद्धयर्हकारमनःश्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाभ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थ—शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध—मृथ्वोजलतेजोवाय्वाकाशेति त्रयोविंशति तत्त्वात्मकं पदार्थांजातम्, हेतुमत्=कारणजन्यत्ववत् आविर्भावशीलमितियावत् । अनित्यम्=तिरोभवनशीलम् अव्यापि=कारणव्याप्यत्ववत्—असर्वगतमितियावत्, सक्रियम्=अध्यवसायादिस्वस्वनियतकार्यकारित्ववत्, अनेकम्=सर्गभेदेन भिन्नत्ववत्, आश्रितम्=स्वकारणनिरूपिताऽऽश्रयतावत्, लिङ्गम्=स्व-

“हेतुमत्” इति । व्यक्तं हेतुमत्, हेतुः कारणम्, तद्वत्, यस्य च यो हेतुस्त-  
मुपरिष्ठाद्वक्ष्यति । “अनित्यम्,” विनाशि, तिरोभावीति यावत् । “अव्यापि,”  
सर्वं परिणामिनं न व्याप्नोति । कारणेन हि कार्यमाविष्टम्, न कार्येण कारणम् ।

कारणानुमापकत्ववत्, सावयवम्—अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगानुयोगिताप्रतियोगितान्यतरवत्, पर-  
तन्त्रम्—स्वकार्यजननप्रयोजक—स्वकारणाऽपेक्षकत्ववत्, तत्त्वं बुद्ध्यादीनां साधर्म्यमित्यर्थः । अव्यक्तम्=  
मूलप्रकृतेस्तु, ततो विपरीतम्—तद्वैधर्म्यमित्यर्थः तद्विरुद्धधर्मवत्त्वमिति यावत् । तथाहि—जन्यत्वाऽनधि-  
करणत्वम्, तिरोभवनाऽशीलत्वम्, सर्वगतत्वम्, अध्यवसायादि साक्षान्नियतकार्याऽकारित्वम्, सर्ग-  
भेदप्रयोज्यस्वभेदाऽनधिकरणत्वम्, कारणनिरूपिताऽऽधेयत्वाऽनधिकरणत्वम्, स्वकारणाऽनुमाप-  
कत्वम्, गुणत्रयस्य परस्परम् अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मक संयोगानुयोगिताप्रतियोगितान्यतरवत्त्वाऽनधि-  
करणत्वम्, कार्यजननप्रयोजक—स्वकारणाऽनपेक्षत्वम् । इत्येवं व्यक्तगतधर्मविरुद्धधर्मवत्त्वमव्यक्तस्य  
बोध्यमिति भावः ॥ कारिकां विवृणोति—व्यक्तं—हेतुमदिति । व्यक्तमितिलक्ष्यम्, बुद्ध्यादि-  
पृथिव्यन्तं त्रयोविंशतिपदार्थजातमित्यर्थः ॥ ‘हेतुमदि’त्यादीनि विशेषणानि लक्षणानि धर्मा इति  
यावत् ॥ ‘हेतुमत्’—पदं व्याख्याति—हेतुः कारणं तद्वदिति । उपादानकारणवदित्यर्थः । बुद्ध्या-  
दीनां धर्मः आविर्भावस्वभाववत्त्वमिति यावत् । यस्य च यो हेतुरिति उपरिष्ठाद्—‘प्रकृते-  
र्महानिति (२२) कारिकाया वक्ष्यति मूलकारः, तथाहि—पृथिवीप्रभृतभूतानां कारणं तन्मात्राणि,  
तन्मात्राणामिन्द्रियाणां च कारणमहंकारः, अहंकारस्य कारणं महत्तत्त्वम्, महत्तत्त्वस्य तु मूलप्रकृ-  
तिरिति । तत्र कार्यस्य प्राविर्भावस्य तादात्म्यसम्बन्धेन स्वस्वोपादानकारणवत्त्वमिति फलितार्थः ।  
नन्वप्रादुर्भूतानां तिरोभूतानां वा घटादीनां प्राविर्भावस्य तादात्म्यसम्बन्धेन कारणवत्त्वाऽभावत्  
तत्राऽव्याप्तिरिति चेन्न, प्राविर्भावस्य तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नस्वकारणवदुत्तिव्यक्तत्वव्याप्यधर्म-  
वत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, अप्राविर्भूतघटादौ व्यक्तत्वव्याप्य—तत्त्वविभाजकपृथिवीत्वादिधर्ममादाय  
लक्षणसमन्वयात् ॥ ‘अनित्यम्’ व्याख्याति—विनाशीति । सांख्यमते नाशस्य—ध्वंसस्याऽनङ्गी-  
कारात् पर्यायमाह—तिरोभावीति । अत्र—‘अनित्य’मित्यत्र नित्यत्वं—तिरोभावादिव्यवहारहितत्वे  
सति सत्त्वम्, खपुष्पादिवारणाय विशेष्यदलम्, घटादिवारणाय विशेषणदलम्, तादृशनित्यत्वाऽ-  
भाववद् अनित्यमिति । पृष्ठादृशनित्यत्वघटिताऽनित्यत्वाऽपेक्षया—लाघवात् ‘तिरोभावस्वभाववत्त्वे  
सति सत्त्वमिति साधर्म्यं वक्तव्यमित्यभिप्रायेण ‘तिरोभावी’त्युक्तमिति बोध्यम् । यद्यपि स्थूला-  
वस्थायां घटस्य तिरोभावस्वभाववत्त्वाऽभावात् तदानीं घटेऽव्याप्तिस्तथापि—तिरोभावस्वभावविशि-  
ष्ट—सत्त्ववद्भुक्ति—व्यक्तत्वव्याप्य—पदार्थतत्त्वविभाजक—धर्मवत्त्वस्य विवक्षितत्वात् तिरोभूतवटपटादि-  
मादाय लक्षणसमन्वयात् ॥ वस्तुतस्तु—सत्त्वविशिष्टतिरोभावस्वहृत्पञ्चगव्यत्वमेव साधर्म्यं वक्तव्य-  
मिति ॥ ‘अव्यापि’ पदं व्याख्याति—सर्वमिति । परिणामिनम्—परिणामः=कार्यम्, तदस्त्यस्येति  
परिणामि=कारणम्, सर्वकारणम्=यावत्कारणमिति फलितार्थः,—कारणत्वावच्छेदेनेति यावत् । न-  
व्याप्नोति=व्याप्तिमन्न भवति अव्यापकं,—व्याप्यमितियावत्, तथाहि यथा घटः पृथिवीत्वावच्छेदेन  
(पृथिवीत्ववच्छिन्नस्य) व्यापको न भवति, तथा पृथिवी गन्धतन्मात्रत्वावच्छिन्नस्य व्यापिका न  
भवतीति सर्वत्र बोध्यम् ॥ अव्यापकत्वमुपपादयति—कारणेन हीति । कारणेन—तन्मात्रादिना  
कार्यं=पृथिव्यादिकम् आविष्टम्=व्याप्तं भवति, न तु कार्येण=पृथिव्यादिना कारणम्=तन्मात्रादिकं  
व्याप्तं भवतीति, अतो न बुद्ध्यादिकार्याणि स्वकारणं प्रधानं=मूलप्रकृतिं वेविवन्ति=व्याप्नुवन्तीति  
बुद्ध्यादयोऽव्यापका अविभवः=व्याप्या इति यावत् । व्याप्यत्वमत्र—स्वकारणसत्तातिरिक्तसत्ताश्च-



न च बुद्ध्यादयः प्रधानं वेविपतीत्यव्यापकाः । “सक्रियम्,” परिस्पन्दवत् । तथा हि बुद्ध्यादयः उपात्तमुपात्तं देहं त्यजन्ति, देहान्तरं चोपाददते, इति तेषां परिस्पन्दः । शरीरपृथिव्यादीनां च परिस्पन्दः प्रसिद्ध एव । “अनेकम्,” प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादीनां भेदात् । पृथिव्याद्यपि शरीरघटादिभेदेनाऽनेकमेव । “आश्रितम्” स्वकारणमाश्रितम् । बुद्ध्यादिकार्याणामभेदेऽपि कथञ्चिद्भेदविवक्षयाऽऽश्रयाश्रयिभावः, यथा ‘इह वने तिलकाः’ इत्युक्तम् । “लिङ्गम्,” प्रधानस्य । यथा चैते बुद्ध्यादयः प्रधा-

न्यत्वे सति स्वकारणतादात्म्यत्वम्, तच्च बुद्ध्यादीनामेव ननु प्रधानस्येति भावः ॥ बुद्ध्यादीनाम् असर्वगतत्वं साधर्म्यमिति तु हृदयम् ॥ ‘सक्रियं’ व्याख्याति—परिस्पन्दवदिति । परिस्पन्दः—प्रवेशनिःसरणरूपा क्रिया तद्वदित्यर्थः, तदेवोपपादयति—तथाहीति । बुद्ध्यादयः—बुद्ध्यादि-तन्मात्रान्तानि तत्त्वानि उपात्तमुपात्तम्—गृहीतं गृहीतं स्थूलं देहं त्यजन्ति अन्यं च देहमुपाददते इति तेषां—सूक्ष्मशरीरात्मक—बुद्ध्यादीनां प्रवेशनिःसरणात्मकपरिस्पन्दवत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः । स्थूलशरीरस्य स्थूलपृथिव्यादिभूतानां तु संयोगवियोगानुकूलक्रियावत्त्वं स्फुटमेव साधर्म्यमित्यर्थः ॥ वस्तुतस्तु परिस्पन्दः—तत्तत्तत्त्वानां विशेषव्यापारः, यथा बुद्धेरध्यवसायः, अहंकारस्याऽभिमानम्, मनस्तु संकल्पः, श्रोत्रादीनां शब्दादयः तन्मात्राणां च भूतानीति, नियतस्वत्वव्यापारात्मकविशेषकार्यकारित्वं साधर्म्यमित्यर्थः, प्रधानस्य तु सर्वक्रियासाधारणतया नियतैकक्रियाकारित्वाऽभावा-न्नातिव्याप्तिरिति ध्येयम् ॥ ‘अनेक’मित्युपपादयति—प्रतिपुरुषमिति । पुरुषं पुरुषं प्रति बुद्ध्यादीनां—बुद्ध्यादि-तन्मात्रान्तानां सूक्ष्मशरीराणां भेदात्—भिन्नत्वात् अनेकत्वमित्यर्थः, एवम्—पृथिव्यादि—पञ्चभूतान्यपि पार्थिव—जलीय—तैजस—वायवीयजरायुजाऽण्डजस्वेदजोद्भिज्जादिशरीरभेदेन घट—करकानुवर्णादिभेदेन चानेकमेवेति । तथा च अनेकत्वमत्र—स्वसजातीयस्वभिन्नव्यक्तिकत्वम्, साजात्यं च स्ववृत्तिविशेषधर्मेण ग्राह्यम् । न च सत्त्वादिगुणानामनेकत्वात् सत्त्वत्वधर्मेण स्वसजातीयस्वभिन्नव्यक्तिकत्वात् प्रकृतित्वस्वसत्त्वगुणादावतिव्याप्तिरिति वाच्यम् । स्वसजातीयस्वभिन्नव्यक्तिकत्ववृत्ति—व्यक्तत्वव्याप्यपदार्थतत्त्वविभाजकधर्मवत्त्वस्य विवक्षितत्वाच्च दोषः । अथवा—स्वप्रतियोगिकभेदसमानाधिकरण-स्ववृत्तिव्यक्तत्वव्याप्यपदार्थतत्त्वविभाजकधर्मवत्त्वं वक्तव्यम् । प्रकृतौ तु स्वभेदाऽभावेनैव नातिव्याप्तिरिति ॥ अथ ‘आश्रितम्’ उपपादयति—स्वकारणमाश्रितमिति । स्वकारणनिरूपिताऽऽधेयतावत्त्वमित्यर्थः । बुद्धिः स्वकारणं प्रधानम् आश्रिता, अहंकारः स्वकारणं महत्तत्त्वमाश्रितः, इत्येवं सर्वं व्यक्तमाश्रितं बोध्यम् । ननु कार्यकारणयोस्तादात्म्यात् कः कस्याऽऽश्रयः किं च कस्याश्रितं ? न किञ्चिदित्यत आह—कार्याणामभेदेऽपीति । कारणेन सह कार्याणां तादात्म्येऽपि कथञ्चिद् भेदविवक्षया वनवृक्षयोरभिन्नयोरपि ‘इह वने तिलका’ इत्यत्र वन-स्याऽऽश्रयत्वं तिलकानां चाऽऽश्रितत्वं तथा आश्रयाश्रयिभावः—आधाराधेयभावो मन्तव्य इति । वस्तुतस्तु—कारणावस्थातो कार्यावस्थाया भेदात् आश्रयाश्रयिभावो मन्तव्य इति हृदयम् ॥ ‘लिङ्गमिति’ । कस्येत्याकांक्षायां शेषं पूरयति—‘प्रधानस्ये’ति । प्रधानस्य—मूलप्रकृतेः लिङ्गम्—अनुमापकं भवति बुद्ध्यादिरित्यर्थः ॥ ननु कया रीत्या लिङ्गं भवतीत्याकांक्षायामाह—यथा चैतेश्च । बुद्ध्यादयो यथा प्रधानस्य लिङ्गं—अनुमापका भवन्ति तथा उपरिष्ठात्—पश्चात्तत्त्वान्ये ‘भेदानां परिमाणा’ दि ( १५ ) तिकारिकया मूलकार एव वक्ष्यतीत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम्—बुद्ध्यादयो न भवन्ति प्रधानानुमापकाः, किन्तु—पक्षीभूताः प्रधानादयः स्वधर्मैः हेतुभूतैः प्रधानमनुमापयन्तीति, तथाहि—‘विवादास्पदा महदादयः,—अव्यक्तकारणवन्तः,—परिमितत्वात्, बदादिवत् ।’ विवादास्पदा महदादयः,

नस्य लिङ्गम्, तथोपरिष्ठाद्वक्ष्यति । प्रधानं तु न प्रधानस्य लिङ्गं पुरुषस्य लिङ्गं भवदपीति भावः । “सावयवम्” अवयवनमवयवः, अवयवानामवयविनां मिथः संश्लेषो मिश्रणं संयोग इति यावत् । अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः । तेन सह वर्तत इति सावयवम् । तथा हि-पृथिव्यादयः परस्परं संयुज्यन्ते, एवमन्येऽपि, न तु प्रधानस्य बुद्ध्यादिभिः संयोगः, तादात्म्यात् । नाऽपि सत्त्वरजस्तमसां परस्परं संयोगः, अप्राप्तेरभावात् । “परतन्त्रम्” बुद्ध्यादि । बुद्ध्या स्वकार्येऽहङ्कारे जनयितव्ये प्रकृत्यापूरोऽपेक्ष्यते, अन्यथा क्षीणा सती नाऽलमहङ्कारं जनयितुमिति स्थितिः । एवमहङ्कारादिभिरपि स्वकार्यजनने,—इति सर्वं स्वकार्येषु प्रकृत्याऽऽपूरमपेक्षते । तेन परां

अव्यक्तकारणवन्तः,—समन्वयात्, घटादिवत् । इत्यादिकं बोध्यमिति ॥ ‘प्रधानस्य लिङ्ग’मिति कथनात् प्रधाने नातिव्याप्तिरित्याह—प्रधानं त्विति । ‘प्रधानस्ये’ति शेषाऽपूरणे सति ‘लिङ्गत्व’मात्रस्य साधर्म्यत्वे—प्रधानमपि पक्षीभूय स्वधर्मेण हेतुभूतेन पुरुषानुमितौ लिङ्गं भवतीत्यतिव्याप्तिः स्यात् । ‘प्रधानादयः—परांशः,—संघातत्वात्—अयनासनादिवदिति । ‘प्रधानस्ये’तिशेषपूरणे तु प्रधानं न प्रधानस्य लिङ्गं भवतीति नातिव्याप्तिरिति भावः ॥ ‘सावयवम्’—उपपादयति—अवयवनमिति । अवपूर्वकात् ‘यु’मिश्रण-इतिधातोर्लुटि रूपमिदम् । तदर्थमाह—अवयव इति । ‘अवयव’स्य पर्यायमाह—मिथः संश्लेष इति । ‘संश्लेष’पदार्थमाह—मिश्रणमिति । मिश्रणपर्यायमाह—संयोग इति । संयोगोऽत्र नित्यो न ग्राह्यः, साम्यावस्थात्मकगुणत्रयेऽतिव्याप्यापत्तेः । तर्हि कीदृशो ग्राह्य इत्यत आह—अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिरिति । तेन सह—तादृशसंयोगेन सह । सावयवम्=संयोगमित्यर्थः, अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगाऽनुयोगिताप्रतियोगितान्यतरवत्त्वमिति यावत् । तदेव घटयति—तथाहीत्यादिना । पृथिवीजलादयः स्थूलभूताः पूर्वम् अप्राप्ताः पश्चात् प्राप्ता भवन्ति । एवमन्येऽपि=तन्मानादयोऽपि पूर्वम् अप्राप्ताः पश्चात् परस्परं संयुज्यन्ते=प्राप्ता भवन्ति, भूताऽऽवेद्यादिस्थले बुद्ध्यादिकमपि बुद्ध्यादिकान्तरेण मानसादिना वा अप्राप्तेन प्राप्तं भवति, अतः संयोगत्वमुपपन्नम् । ‘अप्राप्तिपूर्विके’तिपदस्य कृत्यमाह— न तु प्रधानस्येति । मूलप्रकृतेः बुद्ध्यादि-कार्येण सह तादात्म्यसम्बन्धात् उक्तसंयोगो नास्तीति तत्र नातिव्याप्तिरिति भावः ॥ ननु सत्त्वरजस्तमसां परस्परसंयोगवत्त्वात्प्रधानेऽतिव्याप्तिः स्यादित्यत आह—नाऽपीति । सत्त्वरजस्तमसां नित्यप्राप्तत्वात् परस्परम् अप्राप्तेरभावादेव निरुक्तसंयोगवत्त्वाऽभावान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः ॥ पुरुषान्तरेण पुरुषस्य तथाविधसंयोगवत्त्वेऽपि—‘असंयुक्ते क्वचित्परमाण्वादावव्याप्तिवारणाय—निरुक्तसंयोगद्ववृत्ति—व्यक्तवन्व्याप्यतत्त्वविभाजकधर्मवत्त्वविवक्षणात्नातिव्याप्तिरिति । ‘परतन्त्रम्’ इत्यस्योपपादनार्थं शेषं पूरयति—बुद्ध्यादीति । परतन्त्रत्वमुपपादयति—बुद्धयेति । अहंकारात्मककार्यजनने बुद्धिः प्रकृत्यापूरम्=प्रकृतिसाहाय्यम् अपेक्षते । यथा वृक्षः फलजनने पृथिवीसाहाय्यम् स्थूलांशाऽऽदानतया अपेक्षते—अर्थात्—पृथिवी स्वांशदानेन वृक्षं पूरयति फलजननार्थम्, तथा प्रकृतिस्वरूपत्रिगुणानां साहाय्येन बुद्धिः त्रिगुणात्मकाहंकारं जनयतीति भावः ॥ अन्यथा=प्रकृतिसाहाय्याऽभावे तु क्षीणा=अजीवना सती स्वकार्यम् अहंकारमपि जनयितुं नाऽलम्=न समर्था भवेदिति वस्तुस्थितिवोधेति ॥ एवम् अहंकारादिभिरपि स्वकार्ये तन्मात्रेन्द्रियादौ जननीये बुद्ध्यादेः साहाय्यमपेक्षते, इत्येवं सर्वम्=सर्वमपि कार्यपदवाच्यं स्वकार्यजनने स्वप्रकृत्यापूरमपेक्षते इति नियमात्, तेन=तादृशानियमात्मकहेतुना, परां प्रकृतिम्=मूलां प्रकृतिं स्वसाहाय्यकतया अपेक्षमाणं यत् संसारस्याऽङ्कुरात्मकं कारणं=व्यक्तं बुद्धितत्त्वमपि अहंकारात्मकस्वकार्यजनने परतन्त्रमिति=स्वप्रकृत्यधीनं स्व-रूपपरिणा-



प्रकृतिमपेक्षमाणं कारणमपि स्वकार्यजनने परतन्त्रं व्यक्तम् । “विपरीतमव्यक्तम्,” व्यक्तात् । अहेतुमत्, नित्यं, व्यापि, निष्क्रियम्, यद्यप्यव्यक्तस्याऽस्ति परिणामलक्षणा क्रिया, तथाऽपि परिस्पन्दो नाऽस्ति । एकम्, अनाश्रितम्, अलिङ्गम्, अनवयवम्, स्वतन्त्रम्, अव्यक्तम् ॥ १० ॥

तदनेन प्रबन्धेन व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तम् । सम्प्रति तयोः साधर्म्यम्, पुरुषाच्च वैधर्म्यमाह—

मकत्वं साधर्म्यवदित्यर्थः ॥ व्यक्तत्वेनाऽभिमतपदार्थं जातस्य साधर्म्यं मभिधाय प्रकृतेस्तद्विरुद्धधर्मवत्त्वमाह—  
विपरीतमव्यक्तमिति । कस्माद्विपरीतमित्याकांक्षायां शेषं पूरयति—व्यक्तादिति ॥ विपरीतान् धर्मानाह—अहेतुमदित्यादिना । अहेतुमत्त्वम्=प्राविर्भावख्यतादातृभ्यसम्बन्धेन स्वोपादानकारणवत् यत् यत् स्वं तद्विन्नत्वमित्यर्थः । नित्यमिति । नित्यत्वम्=तिरोभावस्वभावविशिष्टसत्त्ववत् यत् यत् तद्विन्नत्वम् ॥ व्यापीति । व्यापकत्वम्=स्वकारणसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यत्वविशिष्टस्वकारणतादात्म्यं यत् यत् स्वं तद्विन्नत्वम् । सर्वगतत्वमिति वा ॥ निष्क्रियमिति । निष्क्रियत्वम्=नियतस्व-स्वव्यापारात्मकविशेषकार्यकारि यत् यत् स्वं तद्विन्नत्वमित्यर्थः ॥ “क्रिया” बहुविधा—परिणामात्मिका, संयोगानुकूलकर्मात्मिका, स्वाऽसाधारणव्यापारात्मिका चेति । तत्र परिणामात्मकक्रियावत्त्वस्य प्रकृतौ सत्त्वाद् निष्क्रियत्वस्याऽव्याप्तिरित्याशङ्कते—यद्यप्यव्यक्तस्यापीति । परिणामलक्षणा=महत्तत्त्वात्मकाऽन्यथाभावात्मिका क्रियेत्यर्थः ॥ समापत्ते—तथापीति । निष्क्रियत्वमित्यत्र क्रिया न परिणामात्मिका, किन्तु परिस्पन्दः=अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगाऽनुकूला क्रिया ग्राह्या, सा च प्रकृतौ नास्तीति नातिव्याप्तिरिति भावः ॥ एकमिति । एकत्ववत्त्वम्=स्वसजातीयव्यभिन्नव्यक्तिकं यत् यत् स्वं तद्विन्नत्वमित्यर्थः ॥ अनाश्रितमिति । अनाश्रितत्वम्=स्वकारणनिर्मुक्ताऽऽधेयतावत् यत् यत् स्वं तद्विन्नत्वमित्यर्थः अलिङ्गमिति । अलिङ्गत्वम्=स्वकारणानुमापकं यत् यत् स्वं तद्विन्नत्वमित्यर्थः ॥ अनवयवमिति । अनवयवत्वम्=अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगाऽनुयोगिता-प्रतियोगितान्यतरवत् यत् यत् स्वं तद्विन्नत्वमित्यर्थः ॥ स्वतन्त्रमिति । स्वतन्त्रत्वम्=स्वप्रकृत्य-धोन-स्व-रूप-परिणामकं यत् यत् स्वं तद्विन्नत्वमित्यर्थः ॥ अव्यक्तमिति । एतैर्धर्मैर्युक्तमव्यक्तम्=मूलप्रकृतिरित्यर्थः ॥ शब्दार्थस्तु—अहेतुमत्=अजम्, यत् न कुतश्चिदाविर्भवति । नित्यम्=निरन्तरसत्त्वाद् अतिरोभावि । व्यापि=परिणामजातस्य व्यापकम् । निष्क्रियम्=परिस्पन्दशून्यम् । एकम्=सजातीयभेदरहितम् । अनाश्रितम् । कापि कारणे न वृत्तिमत् । अलिङ्गम्=कारणाऽननुमापकम् । अनवयवम्=असंयोगि । स्वतन्त्रम्=अन्याऽनपेक्षस्वकार्यशक्तमिति ॥ १० ॥

वृत्तमनुकीर्त्योत्तरकारिकामवतारयति—तदनेन प्रबन्धेनेति । ‘हेतुमदनित्यमव्यापी’ति—कारिकेत्यर्थः । व्यक्ताऽव्यक्तयोर्वैधर्म्यम्=व्यक्तस्य यत्साधर्म्यं तद् अव्यक्तस्य वैधर्म्यम्, यच्चाऽव्यक्तस्य साधर्म्यं तद् व्यक्तस्य वैधर्म्यमिति—अभिहितम् । सम्प्रति=इदानीम्, तयोः=व्यक्ताऽव्यक्तयोः साधर्म्यम्, पुरुषाच्च तयोर्वैधर्म्यमाह—‘त्रिगुण’मित्यादिनेत्यर्थः ॥ अन्वयः—व्यक्तं तथा प्रधानं, त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः, सामान्यम्, अचेतनम्, प्रसवधर्मि, (भवति) तद्विपरीतः तथा च पुमान् (भवति) इति ॥ संक्षिप्तार्थस्तु व्यक्तस्य अव्यक्तस्य च साधर्म्यम्—त्रिगुणम्=सुखदुःखमोहात्मकत्वं साधर्म्यम् । अविवेकित्वम्=परस्परसम्मिश्रणपुरःसरकार्यकरणशीलत्वम् । विषयत्वम्=उपभोगसाधनत्वम् । सामान्यत्वम्=अनेकपुरुषभोग्यत्वम् । अचेतनत्वम्=जडत्वम्,—स्वतःप्रकाशत्वाऽनधिकरणत्वम् । प्रसवधर्मित्वम्=सत्त्व-विरूपान्यतरपरिणामशीलत्वम् ॥ इति ॥ तदेतत् प्रत्येकमपि-

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।

व्यक्तं, तथा प्रधानम्, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

“त्रिगुणम्” इति । त्रयो गुणाः सुखदुःखमोहा अयेति त्रिगुणम् । तदनेन सुखा दीनात्मगुणत्वं पराभिमतमपाकृतम् । “अविवेकि” । यथा प्रधानं न स्वतो विविच्यते, एवं महदादयोऽपि न प्रधानात् विविच्यन्ते, तदात्मकत्वात् । अथवा सम्भूयकारिताऽत्राऽविवेकिता । न हि किञ्चिदेकं पर्याप्तं स्वकार्ये, अपि तु सम्भूय । तत्र नैकस्मात् यस्यकस्यचित् केनचित्सम्भव इति । ये त्वाहुः—विज्ञानमेव हर्षविपादमो-

पुरुषस्य वैधर्म्यमित्याह—तद्विपरीतःपुमान्=त्रिगुणत्वादिविपरीतधर्मवान् पुरुष इत्यर्थः ( निर्धर्म-के पुरुषे एते धर्माः कल्पिता इति बोध्यम् ) तथा च सुखदुःखमोहाऽनात्मकत्वम्, परस्परसंमिश्रणपुरःसरकार्यकरणशीलं यत् यत् तद्विभक्तत्वम् । उपभोगसाधनभिन्नत्वम् । भोग्यत्वाऽनधिकरणत्वम् । जडत्वाऽनधिकरणत्वम् । परिणामाऽनधिकरणत्वम् । इति ॥ एवम् ‘तथा च’=‘हेतुमदनित्यमव्यापी’ति ( १० ) ‘कारिकोक्तधर्मरहितश्च पुमानित्यर्थः—अहेतु-मध्वम्, नित्यत्वम्, व्यापकत्वम्, निष्क्रियत्वम्, अनाश्रितत्वम्, अलिङ्ग्यत्वम्, निरवयवत्वम्, स्वतन्त्रत्वं चेति पुरुषसाधर्म्यं बोध्यमिति । कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते—त्रय इति । गुणपदार्थमाह—सुखदुःखमोहा इति । सत्त्वरजस्तमसां त्रिगुणानां धर्माः सुखदुःखमोहा अपि धर्मधर्मिणो-रभेदविक्षया गुणत्वेन गृहीता इति बोध्यम् । अयमभिप्रायः—सुखादयः द्विविधाः कचित्स्थूलवस्थाः कचित्सूक्ष्मावस्थाश्च, तत्र—प्रकृतिसहृदङ्कारमनस्तन्मात्रेन्द्रियेषु सूक्ष्मावस्थाः, स्थूलभूतेषु च स्थूला-वस्था इति तत्र लक्षणसमन्वयः ॥ ‘अविवेको’त्युपपादयति—यथा प्रधानमिति । विवेकः=कारणात् पृथग्भावः, स यस्य न विद्यते तदविवेकि=स्वकारणाऽभिन्नत्वमिति यावत् । यथा प्रधानं स्वतः=प्रधानात्, न विविच्यते=न भिद्यते, स्वस्मिन् स्वस्य भेदाभावात् । एवम्—महत्त्वादयोऽपि न स्वकारणात् प्रधानात् भिद्यन्ते, तदात्मकत्वात्=प्रधानात्मकत्वात्, कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति भावः । ननु—प्रधानं यथा न प्रधानाद्विद्यते, तथा पुरुषोऽपि न स्वस्माद्विद्यते—इति पुरुषेऽतिव्याप्तिरित्यस्वरसात् व्याख्यानाऽन्तरमाह—अथवेति । सम्भूयकारिता=परस्परसंमिश्रणपुरःसरकार्यकरणशीलता, सैवात्र अविवेकिता । तदेवोपपादयति—नहीति । किञ्चित् नुद्धयादिकं एकं=अन्याऽसहायं सत् न स्वकार्येऽहंकारादौ जननाये पर्याप्तं=समर्थं भवति, अपि तु सम्भूय—स्वप्रकृतिसहाय्यमपेक्षयैवेति ॥ तथा च—कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति समुदितकारणानामेव जनकत्वमिति फलितम्, तत्र=एतादृशे नियमे च सति, केनचिदपि प्रकारेण, एकरमात्=अन्याऽसहायकात् कस्मादपि कारणात्, न कस्यचिदपि कार्यस्य संभवः=प्रादुर्भाव इत्यर्थः ॥ विज्ञानवादिनो योगाचाराः ( बौद्धाः ), यथा बाह्यार्थमन्तरेणाऽपि स्वप्नज्ञानं ग्राह्यग्राहकाकारं भवति, यथा च जाग्रदवस्थायाम् बाह्यानालम्बनं मरुमरीचिकादिविज्ञानं भवति तथा घटपटादिज्ञानमपि विज्ञानत्वाविशेषात् बाह्यालम्बनरहितमेव, अतः सर्वमेव क्षणिकविज्ञानात्मकं, तथाहि—‘घटादयः—ज्ञानरूपाः, ज्ञानाऽविषयकप्रतीत्यविषयत्वे सति ज्ञानविषयकप्रतीतिविषयत्वात्, ज्ञानवदिति । न ततोऽन्यत्—किञ्चिदस्तीति, मन्यन्ते—तन्मतखण्डनाय ‘विषयग्रहणप्रयोजनं दर्शयितुं योगाचारमतमाह—ये, त्वाहुरिति । ये=बाह्यार्थज्ञान्यत्ववादिनो योगाचाराः । हर्षः—सुखम्, विपादः—दुःखम्, मोहः—मूढता तदात्मका ये शब्दस्पर्शादयः, ते आकारा यस्य तत्—हर्षविपादमोहशब्दाबाकारं, तादृशं विज्ञानमेव । न पुनः इतः=विज्ञानात् अन्यः=



हृशब्दाद्यात्मकम्, न पुनरितोऽन्यस्तद्धर्मेति, तान् प्रत्याह—“विषय” इति । विषयः—  
ग्राह्यः, विज्ञानाद्बहिरितियावत् । यत् एव “साधारणम्” घटादिवदनेकैः पुरुषैर्गृ-  
हीतमित्यर्थः । विज्ञानाकारत्वे तु असाधारण्याद्विज्ञानानां वृत्तिरूपाणां तेऽप्यसाधा-  
रणाः स्युः, विज्ञानं यथा परेण न गृह्यते, परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादित्यभिप्रायः । तथा च  
नर्तकीभ्रूलताभङ्गे एकस्मिन् बहूनां प्रतिसन्धानं युक्तम् । अन्यथा तच्च स्यादिति  
भावः । “अचेतनम्” । सर्वे एव प्रधानबुद्ध्यादयोऽचेतनाः, न तु वैनाशिकवत् चैत-

बाह्यो घटादिशब्दादिप्रपञ्चः, तद्धर्मा=सुखादिधर्मवान् । तदुक्तम्—“सहोपलम्भनियमादभेदो नीलत-  
द्वियोः । भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाऽद्वये” इति, ‘यत् येन नियतसहोपलम्भनं तत् ततो न  
भिद्यते यथा एकस्माच्चन्द्रमसो द्वितीयश्चन्द्रमाः, नियतसहोपलम्भश्चाऽर्थो ज्ञानेनेति न ज्ञानात् अर्थो  
भिद्यते इति तेषामाशयः ॥ तान् प्रत्याह—विषय इति । विसिनोति विषयिणमनुबध्नाति—इति व्यु-  
त्पत्तिमभिप्रेत्य तदर्थमाह—ग्राह्य इति । ज्ञानविषय इत्यर्थः ॥ ज्ञानस्याऽपि ज्ञानविषयत्वाच्च योगाचा-  
रमतखण्डनं स्यादतस्तदर्थम् आह—विज्ञानाद्बहिरिति । विज्ञानाऽनात्मकत्वमिति भावः । तथा च  
—“घटादिकम्,—विज्ञानभिन्नम्,—सर्वसाधारणगृहीतत्वात्, इति प्रतिप्रयोगो बोध्यः ॥ हेतुमुपपाद-  
यति—यत् एव सामान्यमिति । यतः=यस्माद्धेतोः, घटादिकम् अनेकपुरुषप्रत्यक्षविषयं भवति  
अतोविज्ञानभिन्नमिति,—व्याप्येन व्यापकस्य सिद्धिर्भवतीति भावः ॥ ‘यत्र विज्ञानभेदाऽभा-  
वः—(विज्ञानाकारत्वं) तत्र असाधारण्य’मित्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयन् घटादीनां विज्ञानाकारत्वे घटा-  
दीनां लोकप्रसिद्धयनुपपत्तिं दर्शयति—विज्ञानाकारत्वे—इति । घटादीनां विज्ञानात्मकत्वे तु, वृत्ति-  
रूपाणां विज्ञानानाम् असाधारण्यात्—यथा बुद्धिवृत्तीनां प्रतिपुरुषाऽसाधारण्यात् न तत्पुरुषभिन्नेन  
ताः ग्राह्या भवन्ति तथा, तेऽपि=विज्ञानात्मका घटादयोऽपि, असाधारणाः स्युः=प्रतिपुरुषं भिन्नाः  
स्युः, सर्वसाधारणग्राह्यप्रश्नं न स्युः, सन्ति च प्रतिपुरुषमभिन्नाः बहुपुरुषग्राह्याश्च  
अतो न विज्ञानात्मका इति भावः ॥ उक्तार्थं विशदयति—विज्ञानं यथेति । यथा देवदत्तीयं वि-  
ज्ञानं यशदत्तेन न गृह्यते तथा तदभिन्नोऽपि घटादिः परेण न गृह्येत्यर्थः ॥ ननु कुतो न गृह्येते-  
त्यत आह—परबुद्धेरिति । परविज्ञानस्य अन्यव्यक्तिप्रत्यक्षाऽविषयत्वादित्यर्थः ॥ घटादिविषयाणां  
विज्ञानभिन्नत्वे सर्वजनप्रसिद्धं दृष्टान्तं युक्तं प्रतिपादयन् भावार्थमाह—तथा चेति । एकस्मिन्-  
अभिन्ने, नर्तकी=नर्तनकर्त्री या स्त्री, तस्याः भ्रूः एव लता=भ्रुकुटिकटाक्षः, तस्य भङ्गे=विमोहकचे-  
ष्टायां, तदाधारभागे वा बहूनां=अनेकेषां दृष्टृणां युगापत् प्रतिसन्धानं=समनस्कदर्शनम् युक्तम्=नि-  
राबाधमुपपद्यते, अन्यथा=नर्तकीभ्रूलताभङ्गस्य विज्ञानाऽभिन्नत्वे तु विज्ञानवृत्तेः प्रतिपुरुषभिन्न-  
त्वात् तत्=अनेकद्रष्टृकर्तृकप्रतिसन्धानम्, न स्याद्=निराबाधं नोपपद्येतेति भावः ॥ “अचेतनम्”—  
उपपादयति । सर्व एवेति । प्रधानबुद्धश्चकारमनस्तन्मात्रेन्द्रियभूतानि सर्वे एव विषया अचे-  
तनाः=जडा इत्यर्थः । तत्र बुद्धिश्चेतनेति बौद्धा मन्यन्ते तन्निषेधति—न त्विति । वैनाशिकवत्=बौद्ध-  
मते यथा बुद्धिश्चेतना तथा नाऽस्माकं मते चेतना किन्तु जडा इत्यर्थः । ‘प्रसवधर्मि’—व्याख्या-  
ति—प्रसवरूप इति । प्रसवः=कार्याऽऽविर्भावजनकत्वाख्यो धर्मपरिणामः तद्वत्त्वमिति साधर्म्यम् ॥  
ननु ‘न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत् । तदर्थप्रतिपत्तिकर’ इति नियमात्—प्रसवो धर्मो यस्ये-  
ति बहुव्रीहौ ‘धर्मादनिच् केवला’दिति समासान्तेऽनिचि—‘प्रसवधर्मे’—तिसिद्धम्, तत्कथनादेव प्रस-  
वधर्मवत्तालामात् कथं ‘प्रसवश्चासौ धर्मः प्रसवधर्मः स अस्याऽस्ती’तिकर्मधारयान्मत्वर्थ—इतिप्रत्य-  
यान्तस्य ‘प्रसवधर्मि—’ इत्यस्य प्रयोगः कृतः ? इत्याकांक्षायामाह—प्रसवधर्मेति । ‘प्रसवधर्मा’—

न्यं बुद्धेरित्यर्थः । प्रसवधर्मि”-प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्याऽस्तीति प्रसवधर्मि । प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातुम् । सरूपविरूपपरिणाभाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यते इत्यर्थः । व्यक्तवृत्तमव्यक्तेऽतिदिशति-“तथा प्रधानम्” इति । यथा व्यक्तं तथाऽव्यक्तमित्यर्थः । ताभ्यां वैधर्म्यं पुरुषस्याऽऽह-“तद्विपरीतः पुमान्” इति । स्यादेतत्-अहेतुमत्त्वनित्यत्वादि प्रधानसाधर्म्यमस्ति पुरुषस्य, एवमनेकत्वं व्यक्तसाधर्म्यम्, तत्कथमुच्यते ‘तद्विपरीतः पुमान्’ इति ? अत आह-“तथा च” इति । चकारोऽप्यर्थः । यद्यप्यहेतुमत्त्वादिकं साधर्म्यम्, तथाऽप्यत्रैगुण्यादिवैपरीत्यमस्येवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

त्रिगुणमित्युक्तम्, तत्र के ते त्रयो गुणाः ? किं च तल्लक्षणम् ? इत्यत आह-

इति वक्तुं योग्यत्वेऽपि, प्रसवधर्मस्य प्रकृत्यादिधर्मिणा सह नित्ययोगं=नित्यसम्बन्धम् आख्यातुं-कथयितुं मत्वर्थीय-इतिप्रत्ययः कृत इति बोध्यमित्यर्थः ॥ उक्तन्यायस्य-योऽर्थो बहुव्रीहिणा शायते स एव यदि कर्मधारयान्मत्वर्थीयेन बोध्येत तदा कर्मधारयान्मत्वर्थीयो न युक्तः यदि तु विशेषार्थबोधार्थं प्रयुज्यते तत्र कर्मधारयात् स मत्वर्थीयो युक्त इत्यर्थः इति ॥ भावार्थमाह-सरूपेति । सरूपपरिणामः-त्रिगुणसाम्यावस्थात्मकः कारणवस्थात्मकश्चित्तिर्वावत् । विरूपपरिणामः-त्रिगुणवैषम्यावस्थात्मकः-कार्यावस्थात्मकः-इति यावत् । ताभ्यां प्रकृत्यादयो कदाचिदपि न वियुज्यन्ते, स्वाभाविकधर्मत्वादितिभावः । व्यक्तवृत्तमिति । व्यक्तस्य=महदादिपृथिव्यन्तवि-कारजातस्य वृत्त-साधर्म्यं यत् त्रिगुणत्वादिकं तत् अव्यक्ते=मूलप्रकृतावतिदिशति=निर्दिशति-तथा प्रधानमिति । त्रिगुणत्वादिकं प्रधानस्यापि साधर्म्यमित्यर्थः ॥ तदेवाह-यथा व्यक्तं तथाऽव्यक्तमिति ॥ ताभ्याम्=व्यक्ताऽव्यक्ताभ्यां, वैधर्म्यं=विरुद्धधर्मः, व्यक्ताऽव्यक्तवृत्तिधर्मविरुद्धधर्मवत्त्वं पुरुषस्येत्याहेत्यर्थः ॥ तद्विपरीतः पुमानिति । त्रिगुणत्वादिधर्मविपरीतधर्मवान् पुमानित्यर्थः ॥ तथाहि-अत्रिगुणः=त्रिगुणात्मकं यत् यत् तद्विपरीतः । विवेकी=असंहतः । अविषय=अभोग्यो भोक्तेति । असाधारणः=स्वतन्त्रः, प्रतिसंघातं भिन्न इति वा । चेतनः=स्वयंप्रकाशः । अप्रसवधर्मः=अकारणः, परिणामरहित इति यावत् । इत्येवं व्यक्ताऽव्यक्तवैधर्म्यं बोध्यम् ॥ ननु-‘हेतुमदनित्य’-(१०)मित्यादिकारिकोक्तव्यक्तविरुद्धधर्मवत्त्वमपि यथा प्रकृतौ तथा पुरुषे संभवतीति तत् कथं नोक्तमित्याशङ्कते-स्यादेतदिति । अहेतुमत्त्वम्, नित्यत्वम्, व्यापकत्वम्, निश्चयत्वम्, अनाश्रित्वम्, अलिङ्गत्वम्, निरवयवत्वम्, स्वतन्त्रत्वम्, इति-यत् प्रधानसाधर्म्यं तत् पुरुषस्याऽप्यस्तीति, एवम्-अनेकत्वम् यत् व्यक्तस्य साधर्म्यं तदपि पुरुषस्याऽस्तीति तदनुक्त्वा कथमुच्यते केवलं ‘तद्विपरीतः पुमानिति’ ? इत्याशङ्कायां तन्निरुच्यर्थम् अव्यक्तसाधर्म्यं व्यक्तस्य च साधर्म्यं प्रतिपादनायोक्तं तथा चेति । चकारस्य ‘अपि’-अर्थः, तथापि पुमानित्यर्थः । यथा व्यक्ताऽव्यक्तधर्मविपरीतधर्मवान् पुरुषः, तथा अव्यक्तधर्मवान्, किञ्चिद्व्यक्तधर्मवानपि पुरुषः इति भावः । तदेवाह यद्यप्यहेतुमत्त्वादिकमिति । अहेतुमत्त्वाऽनेकत्वादिना अव्यक्तव्यक्तसरूपोऽपि पुरुषः त्रिगुणत्वादितस्तु वैपरीत्यम् विपरीता ये अत्रिगुणत्वादयस्तद्वान् पुरुष इत्युक्तिर्नाऽसंगता इति भावः ॥ ११ ॥

‘प्रोत्यभ्रीतिविषादात्मका’-इत्याद्यामवतारयति-त्रिगुणमित्युक्तमिति । ‘त्रिगुणमविवेकि(११) इति कारिकायां ‘त्रिगुणमिति व्यक्ताऽव्यक्तसाधर्म्यमुक्तम्, ते त्रयो गुणाः के? =किमात्मकाः ?, किञ्च=



प्रोत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।

अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥

“गुणाः” इति परार्थाः । “सत्त्वं लघु प्रकाशकम्-” (का १३) इत्यत्र च सत्त्वा-  
दयः क्रमेण निर्देक्ष्यन्ते । तदनागतावेक्षणने तन्त्रयुक्त्या वा प्रीत्यादीनां यथासङ्ख्यं  
वेदितव्यम् । एतदुक्तं भवति-प्रीतिः-सुखम्, प्रीत्यात्मकः सत्त्वगुणः । अप्रीतिः दुःखम्  
अप्रीत्यात्मको रजोगुणः । विषादः-मोहः, विषादात्मकस्तमोगुण इत्यर्थः । ये तु मन्य-  
न्ते “न प्रीतिर्दुःखाभावादतिरिच्यते, एवं दुःखमपि न प्रीत्यभावादप्यदिति, तान्

कोदृशं च तेषां लक्षणम् ? इत्याकांक्षायामाहेत्यर्थः ॥ प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका इति मूलम् । गुणाः-  
प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च (भवन्ति)  
इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थस्तु-गुणाः=सत्त्वजस्तमांसि, प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः=सत्त्वगुणः प्रीतिः  
सुखं तदात्मकः, रजोगुणः अप्रीतिर्दुःखं तदात्मकः, तमोगुणः विषादो मोहस्तदात्मक इति स्वरूपं  
दक्षितम् । तेषां प्रयोजनमाह-प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्था इति । प्रकाशकरणं सत्त्वस्य प्रयोजनम्,  
प्रवृत्तिकरणं रजोगुणस्य प्रयोजनम्, नियमनकरणं तमोगुणस्य प्रयोजनमिति । तेषां वृत्तीराह-  
अन्योन्येति । अन्योन्याभिभववृत्तयः, अन्योन्याश्रयवृत्तयः, अन्योन्यजननवृत्तयः, अन्योन्यमिथुन-  
वृत्तयश्च भवन्तीति । स्फुटार्थस्तु तत्त्वकौमुदीव्याख्यायां दृष्टव्यः ॥ कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते-  
गुणाः-इति । अत्र ‘गुणा’ इत्यनेन नैयायिकादिवत् द्रव्यस्य धर्मविशेषा न गृह्यन्ते किन्तु सुखादि-  
धर्मका धर्मिण एवेति सूचनायाह-परार्था इति । यथा नृपस्य कार्यनिर्वाहका अमात्यादयो गुणा-  
स्तथा परार्थत्वात्=पुरुषाय सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारात्मकमोगात्मककार्यसम्पादकत्वात् सत्त्वाद-  
यो ‘गुण’ शब्दन्यपदेस्या इति भावः ॥ के ते गुणा इत्यत्राह-सत्त्वं लघु प्रकाशकमिति । इत्यत्र  
(१३) कारिकायां ये प्रत्येकं निर्देक्ष्यन्ते ते सत्त्वादयोऽत्र ग्राह्या इत्यर्थः ॥ ननु तत्र निर्देक्ष्यमाणानां  
कथमत्र भानमन्त्रयो वा ? इत्यत आह-तन् अनागताऽवेक्षणेनेति । तत्=गुणत्रयम् । अनागता-  
वेक्षणेन=अनागतस्य=पश्चाद्भाविनोऽपि पदार्थस्य, अवेक्षणेन=बुद्ध्या समाकृष्य स्मरणेन, वा=अथवा,  
तन्त्रयुक्त्या=तन्त्रस्य=पञ्चतन्त्रशास्त्रस्य युक्त्या=‘गुणशब्दस्य सत्त्वजस्तमःस्वेव संकेतितत्त्व’-  
मिति निर्णयेन, अथवा-तन्त्रस्य-मीमांसाशास्त्रस्य युक्तिः-स्थानाख्या क्रमाख्या तथा, प्रीत्यादीनाम्=  
प्रीत्यप्रीतिविषादात्मक इत्यादीनां लक्षणानां यथासंख्यं लक्ष्यं वेदितव्यमित्यर्थः ॥ ‘प्रीत्यप्रीतिविषादा-  
त्मका’ इत्युपपादयति-प्रीतिः=सुखमिति । ‘आत्म’ पदस्य द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वेन प्रत्येके सम्बद्धयाह-  
प्रीत्यात्मक इति । प्रीतिः आत्मा=स्वभावः स्वरूपं वा यस्य सः, सुखमेव सत्त्वगुणस्य स्वरूप ल-  
क्षणमित्यर्थः । दुःखमेव रजोगुणस्य लक्षणम् । मोह एव तमोगुणस्य लक्षणमित्यर्थः ॥ अत्र सुखप-  
देन-सरलता-मार्दव-ह्री-श्रद्धा-ज्ञानाऽनुकम्पा-ज्ञान-प्रसाद-लघुता-तितिक्षा-सन्तोषादयो ग्राह्याः,  
ते सर्वे सुखस्यावस्थारूपा एवेति । दुःखपदेन-प्रद्वेष-द्रोह-मत्सर-निन्दा-पराभव-शोकादयो ग्रा-  
ह्याः । मोहपदेन च-वञ्चन-भय-नास्तिक्य-कौटिल्य-कार्पण्या-ऽज्ञान-निद्रादयो ग्राह्या इति ॥  
अथ ‘आत्म’ग्रहणेन चार्वाकाणां ‘सुखाभावो दुःखं दुःखाभावो वा सुखमिति’ मतं तन्निरसितमिति-  
दर्शनाय-प्रथमं चार्वाकमतं दर्शयति-ये तु मन्यन्ते इति । ये तु चार्वाकाः प्रीतिर्न दुःखाऽभावात्  
अतिरिच्यते=अन्यद्भवति, अपि-वाकारार्थः, अथवा दुःखं न प्रीत्यभावादप्यतः=भिन्नं भवति, इति  
मन्यन्ते, तान्=चार्वाकाप्रति, ‘आत्म’ग्रहणम्=तन्मतनिरासायात्मग्रहणमित्यर्थः । ‘आत्मग्रहणाऽभि-

प्रति “आत्म”ग्रहणम् । नेतरेतराभावाः सुखादयः, अपि तु भावाः, आत्मशब्द-  
स्य भाववचनत्वात्, प्रीतिरात्मा-भावो येषां ते प्रीत्यात्मानः । एवमन्यदपि व्याख्ये-  
यम् । भावरूपता चैषामनुभवसिद्धा । परस्परभावात्मकत्वे तु परस्परश्रयापत्तरेक-  
स्याऽप्यसिद्धेरुभयासिद्धिरिति भावः । स्वरूपमेषामुक्त्वा प्रयोजनमाह-“प्रकाशप्र-  
वृत्तिनियमार्थाः” इति । अत्राऽपि यथासङ्ख्यमेव । रजः प्रवर्तकत्वात् सर्वत्र लघु  
सत्त्वं प्रवर्तयेत्, यदि तमसा गुरुणा न नियम्येत, तमोनियतं तु क्वचिदेव प्रवर्तय-  
तीति भवति तमो नियमार्थम् । प्रयोजनमुक्त्वा क्रियामाह-“अन्योन्याभिभवश्रय-  
जननमिधुनवृत्तयश्च” इति । वृत्तिः-क्रिया, सा च प्रत्येकमभिसम्बध्यते । “अन्यो-  
न्याभिभववृत्तयः”, एषामन्यतमेनार्थवशादुद्भूतेनान्यदभिभूयते । तथा हि-सत्त्वं

प्रायनाह-नेतरेतराऽभावा-इति । सुखं न दुःखाभावः, न वा दुःखं सुखाभावः, अपितु भावपदार्थः ।  
कुतः ? आत्मशब्दस्य भाववचनत्वात्=सद्रूपवाचकत्वात् । तदेव दर्शयति-प्रीतिरात्मा भावो-  
येषामिति । प्रीतिः सद्रूपं यस्य, अप्रीतिः सद्रूपं यस्य, मोहः सद्रूपं यस्येति व्याख्येयमिति ॥ भाव-  
रूपत्वेऽनुभवमाह-भावरूपतेति । एषाम्-सुखदुःखानाम्, भावात्मकता च ‘अहं सुखवाने’-  
त्याधुनुभवसिद्धेर्वेति ॥ ननु सुखकाले ‘दुःखाभाववानहं’मित्यप्यनुभवःसुखस्य दुःखाभावत्वेऽपि समानं  
प्रमाणमत आह-परस्परेति । सुखदुःखयोः परस्पराऽभावपदार्थत्वे तु, परस्पराऽऽश्रयापत्तेः=अभाव-  
ज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानसापेक्षत्वात् दुःखे ज्ञाते तदभावात्मकसुखज्ञानं सुखे ज्ञाते च तदभावात्मक-  
दुःखज्ञानमित्यन्योन्याश्रयापत्तेः । अन्योन्याश्रये सति द्वयोरभावयोरपि तवाभिमतता सिद्धिर्न भवेदित्याह-  
एकस्येति । तत्र मते दुःखस्य भावाऽनात्मकतया अलोकत्वात् तत्प्रतियोगिकाऽभावस्य एकस्य असि-  
द्धेः=दुःखाभावात्मकसुखस्यैव असिद्धेः, तादृशाऽलोकसुख(दुःखाभावात्मक)प्रतियोगिकाऽभावस्या-  
ऽप्यलोकत्वात् सुखाभावात्मकं दुःखमपि न सिद्धयेदित्येवम् उभयाऽसिद्धिः=दुःखाभावस्य सु-  
खाभावस्य चाऽसिद्धिरिति भावः ॥ स्वरूपमेषामुक्तत्वेति । गुणानां स्वरूपलक्षणमुक्तत्वेत्यर्थः । प्रयो-  
जनमाह=यदर्थं ते गुणाः सद्रूपतया वर्तन्ते तदर्थमाह-प्रकाशेति । प्रकाशश्च प्रवृत्तिश्च नियम-  
श्चेति ते अर्थाः प्रयोजनानि येषान्ते इति । अत्रापि यथासंख्यम्=सत्त्वगुणस्य प्रकाशः=कार्यभासने बु-  
द्धिवृत्त्यात्मक आलोकः प्रयोजनम्, रजोगुणस्य प्रवृत्तिः=कार्यकरणे यत्नः चालनं वा प्रयोजनम्, तमो-  
गुणस्य कार्यनिरोधार्थं नियमः=प्रकाशप्रवृत्तिप्रतिबन्धः प्रयोजनमिति ॥ तमसः प्रयोजनोपपादने सत्त्व-  
रजसोः प्रयोजनस्थोपपादनस्याऽर्थतो लाभात् तमसः प्रयोजनमुपपादयति-रजः प्रवर्तकत्वादिति ।  
यदि गुरुणा=आवरणकेन तमसा रजो न नियम्येत=स्वकार्यात्प्रवृत्तेर्न प्रच्यव्येत तर्हि प्रवर्तकत्वात्=  
प्रवर्तकत्वभावत्वात् रजः=रजोगुणः सर्वत्र कार्यं लघु=प्रकाशशीलं सत्त्वगुणं प्रवर्तयेत्=स्वकार्यप्रवृ-  
त्त्या प्रकाशे उपकुर्यात्, यदि तु तमोनियतं=तमसा प्रतिबद्धं तु रजः क्वचिदेव=क्वचित्  
किञ्चिन्मात्रं प्रवर्तयति=प्रवृत्त्या उपकरोति सत्त्वगुणम्, एवम्-सत्त्वमपि तमसाऽपराभूतमेव प्रकाशेन  
रजसः प्रवृत्तिकार्यं उपकुर्यात् नत्वभिभूतं सदिति भवति तमोगुणः नियमार्थम्, रजोगुणः  
प्रवृत्त्यर्थं सत्त्वगुणश्च प्रकाशार्थमिति भावः ॥ स्वस्वप्रयोजनमुक्त्वा क्रियाम्=असाधारणवृत्तिम्- आ-  
ह-अन्योन्येति । ‘वृत्ति’ पदं प्रत्येके सम्बध्यते-इत्याह-सा चेति । क्रिया चेत्यर्थः । अन्योन्यपद-  
मपि प्रत्येके सम्बध्यते इति बोध्यम् । तथा च-अन्योन्याभिभववृत्तयः, अन्योन्याश्रयवृत्तयः, अन्योन्य-  
जननवृत्तयः, अन्योन्यमिधुनवृत्तयश्चेत्यन्वयः ॥ तत्र ‘अन्योन्याऽभिभववृत्तयः’ इति व्याख्याति-  
एषामिति । सत्त्वरजस्तमसां मध्ये अर्थवशात्=स्वप्रयोजनवशात्, उद्भूतेन=स्वकार्योन्मुखेन, अन्य-



रजस्तमसी अभिभूय शान्तामात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते, एवं रजः सत्त्वतमसी अभिभूय घोराम्, एवं तमः सत्त्वरजसी अभिभूय मृदामिति । ‘अन्योन्याश्रयवृत्तयः’ । यद्यप्याधाराधेयभावेन नाऽप्यमर्थो घटते, तथाऽपि यदपेक्षया यस्य क्रिया स तस्याऽऽश्रयः । तथाहि सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्या इतरयोः, तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयोरिति । “अन्योन्यजननवृत्तयः” । अन्यतमोऽन्यतमं जनयति । जननं च परिणामः, स च गुणानां सदृशरूपः । अत एव न हेतुमत्त्वम्, तत्त्वान्तरस्य हेतोरभावात् । नाऽप्यनित्यत्वम्,

तमेन=त्रयाणां मध्यतः एकेन, अन्यत=स्वमित्रं द्वयं अभिभूयते,—इत्यर्थः ॥ तदुपपादयति—तथाहि-सत्त्वरजस्तमसीति । सत्त्वगुणः रजस्तमसी अभिभूय=निर्वलीकृत्य-गौणीकृत्य, आत्मनः स्वस्य (सत्त्वस्य) शान्तां=सुखां प्रकाशात्मिकां वृत्तिं प्रतिलभते=अन्यवृत्त्योः प्रतिद्वन्द्वित्वेन प्रबलतया लभते । एवं रजोगुणः स्वप्रयोजनवशात्कार्यार्थमुत्थितः सन् सत्त्वतमसी निर्वलीकृत्य स्वस्य घोरां=दुःखां, वृत्तिम् अन्यवृत्त्योः प्रतिद्वन्द्वित्वेन लभते । एवं तमोगुणः स्वप्रयोजनवशात्कार्यार्थमुत्थितः सन् सत्त्वरजसी निर्वलीकृत्य स्वस्य मृदां=विषण्णां वृत्तिम् अन्यवृत्त्योः प्रतिद्वन्द्वित्वेन लभते इति ॥ अन्योन्याश्रयवृत्तयः’ इति । अत्र आश्रयाश्रयिभावस्त्रिगुणानां नास्ति घटभूतलवदित्याशङ्कते—यद्यपीति । अत्राऽऽश्रयपदार्थः आधाराऽधेयभावेन न घटते इत्यर्थः ॥ समाधत्ते—तथापीति । यदपेक्षया यस्य क्रिया=यत्र क्रियायां यं सहकारित्वेन गृह्णाति स सहकारी एव सहकार्यस्य आश्रय इति तदर्थः ॥ तदेवोपपादयति—तथाहि सत्त्वं प्रवृत्तिनियमाविति । सत्त्वगुणः रजस्तमः कार्यभूतौ प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य=सहकारित्वेन स्वीकृत्य स्वकार्येण प्रकाशेन रजस्तमसोः=(कर्मणि षष्ठौ) रजस्तमसी उपकरोति=साहाय्यं करोति, एवम्—रजोगुणः प्रकाशनियमावाश्रित्य स्वधर्मेण प्रवृत्त्या इतरयोः=सत्त्वतमसोः=सत्त्वतमसी उपकरोति, एवं तमोगुणः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य स्वधर्मेण नियमनेन इतरयोः=सत्त्वरजसोः उपकरोतीत्यर्थः ॥ अन्योन्यजननवृत्तय इति । यथा प्रतिसर्गावस्थायां अन्यतमः सत्त्वगुणः स्वाऽपेक्षया गौरवं अन्यतमं रजोगुणं तमोगुणं वाऽपेक्ष्य यः स्वस्य स्थूलपरिणाममस्तं विहाय स्वगौणगुणसमानपरिणामवान् भवति, तथा च सत्त्वं प्रकाशपरिणामं संकुच्य रजस्तमसोः प्रवृत्तिनियमौ संकोचयति, रजः प्रवृत्तिपरिणामं संकुच्य सत्त्वतमसोः प्रकाशनियमनौ संकोचयति, तमोगुणः नियमनं संकुच्य सत्त्वरजसोः प्रकाशप्रवृत्ती संकोचयतीति भावः ॥ ‘जनयतो’त्यत्र जननशब्दार्थमाह—जननं चेति । स च=परिणामश्च । गुणानां सदृशपरिणामः—साम्यावस्थात्मकः परिणाम इत्यर्थः । ननु त्रिगुणानां परिणामरूपत्वात् तैः हेतुमत्तया भाव्यं तथा च प्रकृतेर्हेतुमत्त्वापत्तिरित्याशङ्कां निवारयति—अतएवेति । यतः सदृशपरिणामः प्रधानमेव, अत एव न तस्य हेतुमत्त्वम् । अयं भावः—यत्र विसदृशपरिणामस्तत्र हेतुमत्त्वमिति व्याप्तिः, यथा विसदृशपरिणामः पृथिवी गन्धतन्मात्रात्मकहेतुमती, एवं सर्वत्र । यत्र च सदृशपरिणामस्तत्र हेतुमत्त्वं नास्ति, कुतः ? हेतुत्वस्यैव परित्यागात्, तथाहि पृथिव्याः सदृशपरिणामः तन्मात्रात्मकत्वं, तदानीं कार्यं लयं गच्छत् सत् कारणमपि कारणत्वादिरहस्य लीनं करोति, अर्थात् कारणं कारणतां विहाय अकारणतां गच्छत् सत् स्वकारणे लीनं भवति एवं बुद्धिरपि लयं गच्छन्ती सती स्वकारणं विसदृशपरिणामं लीनं करोति, सदृशपरिणामस्तु तत्प्रतिद्वन्द्वी न लीनो न वा हेतुमत्त्वव्याप्तः, अत एव प्रकृत्यात्मकः सः प्रकृतावेव विश्रान्तश्चि स्रक्ष्म-मीक्षणीयम् ॥ तत्र हेतुमाह—तत्त्वान्तरस्येति । यत्र हि तत्त्वान्तरं=विजातीयतत्त्वं तत्त्वान्तरेण जन्यते तत्र हि विसदृशपरिणामो हेतुमत्ताव्याप्तो भवति, अत्र तु गुणा एव विसदृशपरिणामप्रतिद्वन्दि-

तत्त्वान्तरे लयाभावात् । ‘अन्योन्यमिथुनवृत्तयः’ । अन्योन्यसहचराः, अविनाभाव-  
वृत्तय इति यावत् । ‘चः’ समुच्चये । भवति चाऽत्राऽऽगमः—“अन्याऽन्यमिथुनाः  
सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिनः । रजसा मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ॥ तमसश्चाऽपि  
मिथुने ते सत्त्वरजसोऽभिधुनं तम उच्यते ॥ नैषामादिः  
सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते”—इति ( दे. भा. ३ । ८ ) ॥ १२ ॥

“प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः” इत्युक्तम्, तत्र के ते इत्यभ्यूताः, कुतश्चेत्यत आह—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।

गुरु वरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चाऽर्थता वृत्तिः ॥ १३ ॥

सदृशपरिणामात्मकाः प्रधानमिति विजातीयतत्त्वान्तरात्मकपरिणामाऽभावात् तं प्रति तत्त्वान्तरस्य  
हेतोश्चाऽभावात् न हेतुमत्त्वमिति ॥ ननु तथापि सर्गकाले गुणक्षेत्रे, सति साम्यावस्थात्मकपरिणा-  
मस्य विलयेन प्रधानस्याऽनित्यत्वं स्यात् तथा च सति लयापत्तिरित्याशंकायामाह—नाऽप्यनि-  
त्यत्वमिति । ‘तत्त्वान्तरे तिरोभवनशीलत्वमेव अनित्यत्वमभिप्रेतम्, नास्ति च गुणत्रयात् साम्याव-  
स्थात्मकपरिणामो ह्यतिरिक्तं तत्त्वं, तस्य च तत्त्वान्तरे तिरोभवनशीलत्वाऽभावात् न अनित्यत्वम्,  
इति भावः । अन्योन्यमिथुनवृत्तय इति । परस्परं मिथुनीभूताः । तदेवाह—अन्योन्यसहचरा  
इति । सहचारपदार्थमाह—अविनाभाववर्तिन इति । नित्याऽनित्यता इति यावत् । ‘च’कारेण स-  
मुच्चितमर्थमाह—भवति चात्रागम—इति । देवीभागवतोक्तिः । सर्वे=त्रयोऽपिगुणाः । अन्योन्यमि-  
थुनाः=परस्परसहचराः, अतएव च सर्वे=त्रयोऽपिगुणाः, सर्वत्र=सर्वजडवर्गेषु, गामिनः=अनुस्यूताः ।  
परस्परं मिथुनीभावं स्पष्टयति—रजसः मिथुनं सत्त्वं मिति । यथा रजोगुणस्य स्वकार्ये प्रवृत्तौ जननी-  
यायां सत्त्वगुणोऽर्थं प्रकाशय ततो गौणधर्मा सन् उपकारकत्वात् सहचरो भवति । एवम्—सत्त्वस्य  
मिथुनं रजः—सत्त्वगुणस्य स्वकार्यं प्रकाशे जननाये रजोगुणः प्रवृत्त्या तम् अर्थसन्मुखीकृत्य  
ततो गौणधर्मा सन् उपकारकत्वात् सहचरो भवति । एवम्—तमसश्चापि सत्त्वरजसोऽभिधुनं  
मिथुने=सत्त्वेन प्रकाश्य रजसा प्रवृत्तौ कृतायां सत्यां तन्निधनमनाय तमसोऽधिकारो भवति  
नाऽन्यथा, अतः तमसो नियमनवृत्तिलाभार्थमेव सत्त्वरजस्योऽभ्यां प्रकाशप्रयत्नौ नियम्यौ प्रथममुपस्था-  
प्येते, तथा च सत्त्वगुणरजोगुणौ प्रथमं प्रकाशप्रयत्नाबुपस्थाप्य ततो गौणतया तमसो निरोधकार्ये  
सहचरो भवति इति भावः । एवम्—उभयोः सत्त्वरजसोः तमः मिथुनं=तमसा नियमिते सत्त्वेव  
पुनः सत्त्वरजसोः प्रकाशप्रवृत्तौ उपपद्येते नाऽन्यथा, अतः तमोगुणः नियमनं कृत्वा ततो गौणतया  
सत्त्वरजसोः प्रकाशप्रवृत्त्यात्मके कार्ये सहचरो भवतीति भावः ॥ तेषां त्रयाणामविनाभावसम्बन्ध-  
माह—नैषामादिंरांत । एषाम्=त्रिगुणानाम्, न आदिः सम्प्रयोगः=अत्राप्तपूर्वकप्राप्त्यात्मक-  
संयोगोऽपि न भवति, न वा वियोगो=संयोगनाशानुकूलधर्मोऽपि न उपलभ्यते—इति देवीभाग-  
वते तृतायस्कन्धेऽष्टमाध्याये कथितं सर्वमिति ततोऽवगन्तव्यम् ॥ १२ ॥

‘सत्त्वं लघ्वित्याद्यग्रिमकारिकामवतारयति—“प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः”-(गुणा) इत्युक्त-  
मिति । (१२) कारिकायामुक्तम् । तत्र=त्रिगुणेषु मध्ये, के ते गुणाः, इत्थंभूताः=प्रकाशार्थः कः,  
प्रवृत्त्यर्थः कः, नियमार्थः कः—इति तदर्थः ॥ कुतश्च=कस्माच्च प्रयोजनात् तस्य तस्य गुणस्य तत्तदा-  
त्मकत्वमित्याकांक्षायामाह—‘सत्त्वं लघ्वित्यादि । अन्वयः—सत्त्वं—लघु प्रकाशकम् (सांख्याचार्यैः)  
इष्टम्, रजः—उपष्टम्भकं चलं च—इष्टम्, तमः—गुरु वरणकमेव इष्टम्, प्रदीपवच्च अर्थतो वृत्तिः (भवति) ॥



“सत्त्वम्” इति । सत्त्वमेव लघु प्रकाशकमिष्टं साङ्ख्याचार्यैः । तत्र कार्याद्गमने हेतुधर्मो लाघवं गौरवप्रतिद्वन्द्वि, यतोऽग्नेरुर्ध्वज्वलनं भवति । तदेव लाघवं कस्यचित्तिर्यग्गमने हेतुर्भवति, यथा वायोः । एवं करणानां वृत्तिपटुत्वहेतुर्लाघवम्, गुरुत्वे हि मन्दानि स्युरिति सत्त्वस्य प्रकाशात्मकत्वमुक्तम् । सत्त्वतमसी स्वयमाक्रियतया स्वकार्यप्रवृत्तिं प्रत्यवसीदन्ती रजसोपष्टभ्येते-अवसादात् प्रच्याव्य स्वकार्ये उत्साहं-प्रयत्नं कार्येते । तदिदमुक्तम्-“उपष्टम्भकम्” इति । कस्मात् ? इत्यत उक्तम्-“चलम्”

संक्षिप्तार्थस्तु-सत्त्वं सत्त्वगुणः । लघु=कार्यपटुतावान्, कार्यं प्रकाशवाँश्च भवति । रजः=रजो-गुणः-उपष्टम्भकम्=सत्त्वतमसोः उत्तेजकः, चलम्=प्रवृत्तिमाँश्च भवति । तमोगुणः-गुरु=जाड्य-भावः, वरणकम्=नियमनशीलश्च भवति । तेषां त्रिगुणानां परस्परं विरुद्धत्वेपि प्रदोषवत्= यथा वृत्तितेले वह्निविरोधनी अपि वह्निना सह मिलिते सति घटादिप्रकाशात्मकं कार्यं कुरुतः, तथा-सत्त्वरजस्तमसां परस्परविरुद्धानामपि अर्थतः=पुरुषार्थवशात् वृत्तिः=मिलित्वा स्ववृत्तिमन्तो भवन्ताति॥कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते-सत्त्वमेवेति । सत्त्वगुण एव लघुतावान्=कार्यपटुतावान् प्रकाशवाँश्च भवति, नाऽन्यतगुणद्वयम्-इति-इष्टम्, तथा च-कार्यपटुतावत्त्वं सत्त्वगुणानां साधर्म्यं, तदेव रजस्तमसां वैधर्म्यमिति भावः ॥ ननु कैरिष्टम्-इत्याकांक्षायां शेषं पूरयति-सांख्याचार्यैरिति । कपिलमहर्षि-पञ्चशिखादिप्रभृतिभिरित्यर्थः ॥ लघुत्वम्-उपपादयति-तत्र कार्याद्गमने-इति । तत्र=लघुता-प्रकाशयोर्मध्ये, कार्याद्गमने=कार्यस्य-वस्तुनः उद्गमने-ऊर्ध्वगमने अविर्भावे च, हेतुः=कारणोभूतो यो धर्मः स लाघवम्=लघुत्वमित्यर्थः ॥ ननु गुरुत्वाभावेनैव उद्गमनं भवेत्, कृतं लाघवात्मकगुणकल्पनेनेत्यत आह-गौरवप्रतिद्वन्द्वीति । गौरवस्य-गुरुत्वस्य जलपृथिव्योःपतन-कारणोभूतस्य गुणस्य, प्रतिद्वन्द्वि=विरोधि, लघुताख्यः गुरुत्वविरोधिगुणविशेषोऽनुमेयपदार्थ इति भावः ॥ तदुदाहरणमाह-यत् इति । यस्मात् लघुताख्यगुणात् स्वाश्रयस्य अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं=ऊर्ध्वगमनं भवति, तदेव च-तत्सजातायमेव लाघवं कस्यचित्=वायोःतिर्यग्गमने=वक्रगमने हेतुः=कारणं भवति । ‘कस्यचिदि’त्यनेन लघुताश्रयं यदभिप्रेतं तदेवाह-यथा वायोरिति ॥ तथा च-‘वह्निः-लघुतावान्-ऊर्ध्वगमनात् । ‘वायुः-लघुतावान्,-तिर्यग्गमनादिति-लाघवमनुमितम् ॥ स्थूले उदाहृत्य सूक्ष्मे इन्द्रियादीं निगमयति-पूर्वं करणानामिति । बाह्यकरणानामिन्द्रियाणां अन्तःकरणानां मनोऽहंकारबुद्ध्यानां च या याः सात्त्विक्यो वृत्तयः=विषयसन्मुखाःसन्निकर्षाः ज्ञानविशेषाः तन्निष्ठस्य पटुत्वस्य=झटिति विषयाकारनैपुण्यस्य हेतुभूतो धर्मः=इन्द्रियादिकरणनिष्ठं पटुत्वात्मकं लाघवम् । तथा च-‘करणानि-लघुत्ववन्ति,-झटिति विषयाकाराऽकारितवृत्तिमत्त्वादित्यनुमितम् ॥ अत्र साध्यहेत्वोः समनियतत्वं बोध्यम् ॥ तस्य व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति-गुरुत्वे हीति । हि=यतः, गुरुत्वे=लघुत्वविरोधिनि गुरुत्वे सति तानि करणानि मन्दानि=झटिति स्वविषयप्रकाशनाऽसम-र्थानि स्युरित्यर्थः । तथा च-‘यत्र लघुत्वं नास्ति तत्र विषयाकाराऽऽकारितवृत्तिमत्त्वं नास्ति यथा निद्रतचक्षुरिति-अनुमितम् ॥ सत्त्वगुणं पटादृशलाघवे सिद्धे सति लाघवात् प्रकाशकत्वं सिद्ध्यति-‘सत्त्वं-प्रकाशवत्, लाघवात्, इत्याह-इति सत्त्वस्येति । इति=अतः=लघुत्वादिति यावत् । सत्त्वस्य प्रकाशकत्वं=प्रकाशधर्मवत्त्वं कारिकायामुक्तमित्यर्थः । प्रकाशकत्वमत्र-याथार्थ्येन अर्थावमा-सकत्वमिति ॥ । ‘उपष्टम्भकं चलं च रजः’ इत्यत्र यद् रजसःउपष्टम्भकत्वमुक्तं तदुपपादयति-सत्त्वतमसीति । इदं ‘रजसः’ इत्यस्यस्य कर्म । रजसा सत्त्वतमसी उपष्टभ्येते-इत्यन्वयः । स्वयं=सत्त्वतमसी, अक्रियतया=प्रवृत्त्यात्मकधर्मरहिततया स्वस्वकार्यप्रवृत्तिं प्रति=प्रकाशनियमनात्मकस्व-

इति । तदनेन रजसः प्रवृत्त्यर्थत्वं दर्शितम् । रजस्तु चलतया परितस्त्रैगुण्यं चालयत्  
गुरुणाऽऽवृण्वता च तमसा तत्र तत्र प्रवृत्तिप्रतिबन्धकेन कचिदेव प्रवर्त्यत इति तत-  
स्ततो व्यावृत्त्या तमो नियामकमुक्तम्—“गुरु वरणकमेव तमः” इति । एवकारः प्रत्येकं  
भिन्नक्रमः सम्बध्यत, सत्त्वमेव, रज एव, तम एवेति । ननु एते परस्परविरोध-  
शीला गुणाः सुन्दोपसुन्दवत् परस्परं ध्वंसन्त इत्येव युक्तं प्रागेव तेषामेकक्रियाकर्तृ-  
ताया इत्यत आह—“प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः” इति । दृष्टमेतत्, यथा वर्तितैलेऽनर्लाव-

स्वकार्योपयोगिनां प्रवृत्तिं प्रति, अवसादन्ती=असमर्थे-अनधिकृते-कारणत्वविधूरे-इति यावत्,  
एतादृशे सत्त्वतमसा, रजसा उपपद्यते=रजोगुणेन स्वप्रवृत्त्या तदोपकारार्थम् उच्चेजयेते इत्यर्थः ॥  
उपपन्नानि-उपोद्भवन्ति-उच्चेजयन्ति-उत्थापयन्ति-प्रोत्साहयन्ति प्रवर्तयन्ति-इत्युपपद्यमानमित्याशयः-  
‘उपपद्यते’ इत्यस्यार्थमाह- अवसादादिति । अवसादात्=शैथिल्यात् प्रचान्वय=प्रपात्य, शैथिल्यं  
निरस्येति यावत् । स्वकार्ये=सत्त्वस्य प्रकाशात्मके कार्ये तमसश्च नियमनात्मके कार्ये । उत्साहं=उच्चे-  
जनं । उत्साहस्य पर्यायमाह-प्रयत्नमिति । उच्चेजनमित्यर्थः, कार्येते । तदिदमुक्तम्=तत्=तस्मात्  
उच्चेजकत्वात्माद्धेतोः, इदं=‘उपपन्नम्’ मति=उच्चेजकत्वं रजसां साधर्म्यमुक्तम् ॥ उपपन्नकत्वे हेतुं दृ-  
च्छति-कस्मादिति । कस्माद्धेतोः रजसः उपपन्नकत्वमित्यर्थः ॥ उत्तरमाह-चलमिति । सक्रियं  
प्रवृत्तिशीलमिति यावत् । यतश्चलम् अत एवोपपद्यमानमिति व्याप्तिरिति भावः ॥ तदनेन=‘चलम्’-  
इतिपदेन रजसः प्रवृत्त्यर्थत्वं=प्रवृत्त्यात्मकप्रयोजनवत्त्वं दर्शितमित्यर्थः ॥ “गुरु वरणकमेव तमः”  
इत्यत्र यत् तमसो वरणकत्वमुक्तं तदुपपादयति-रजस्त्विति ‘रजः’ इति कर्म, ‘तमसा रजः क्वचित्  
प्रवर्त्यते’-इत्यन्वयः । तथा च-रजोगुणः चलतया=प्रवृत्तिशीलतया, परितः=सर्वतः, त्रैगुण्यं=त्रिगु-  
णात्मकमिन्द्रियादिकं स्वघटितगुणसमुदायं वा, चालयत्=स्वस्वकार्यं प्रवर्तयत्सत्, मध्ये कदाचित्  
कदाचित् गुरुणा=जाड्यभाववता, आवृण्वता च=नियमनशीलेन च, तमसा=तमोगुणेन, तत्र तत्र=  
कुत्रचित्कुत्रचित्कार्ये, प्रवृत्तिप्रतिबन्धकेन=रजोगुणस्य प्रवृत्तेर्निरोधकारकतया, क्वचिदेव प्रवर्त्यते=  
क्वचिदेव समये प्रवृत्तिं प्रति निरोधो न क्रियते इत्यर्थः ॥ ‘क्वचिदेव प्रवर्त्यते’-इत्यस्य भावार्थमाह-  
ततस्ततो व्यावृत्त्येति । रजोगुणस्य तस्मात् तस्मात् स्वकार्यात् व्यावृत्तिः=प्रतिबन्धः क्रियते इत्ये-  
तद्धेतोः, तमः नियामकमुक्तमिति भावः ॥ एवकार इति । ‘वरणकमेव’ इत्येवकारः-‘सत्त्व-  
मेव लघुत्वात्प्रकाशकम्, रज एव चलत्वात् उपपन्नकम्, तम एव च गुरुत्वात् वरणकम्, इत्येवं  
भिन्नक्रमः=यत्र पाठस्ततोऽन्यत्राऽप्यन्वयो भिन्नक्रमः, सम्बध्यते=प्रत्येकेऽन्वीयते-इत्याशयः ॥ पर-  
स्परविरुद्धानां ध्वंसो युक्तः न त्वेकक्रियाकर्तृत्वमित्याशङ्कते-ननु परस्परं इति । लघुता चलतागुरु-  
तेति विरुद्धस्वभावाः, गुणाः-परस्परं ध्वंसन्ते-इति युक्तम्-इत्यन्वयः ॥ तत्र दृष्टान्तमाह-सुन्दोपसु-  
न्दवदिति । ‘सुन्दोपसुन्दनामानौ द्वावसुरौ सहोदरौ समाराधिताव पितामहाव ब्रह्मणः ‘त्रिपुलोकेषु  
यद्भूतं किञ्चित्स्थावरजंगमम् । सर्वैरसान्नी भयं न स्यादृतेऽन्योन्यं पितामह” इतिवर्णनं कदा-  
चिदेकां तिलोत्तमानां सुन्दरीं कामयमानो परस्परं युद्धेन हतौ, तत्र बरोऽपि नाऽन्यथाजातः मरणं  
च द्वयोः परपरं सम्पन्नमिति महाभारते आदिपर्वणि २०६...२१२ अध्यायेपुनश्चाऽनुसन्धेया । तथा  
च विरोधशीलानां परस्परं ध्वंससंभवात् तेषां=विरुद्धानां गुणानां एकक्रियाकर्तृतायाः=मिलित्वा  
एकार्थानुष्ठानस्य तु, प्रागेव=प्रथमत एव-पुरत एव-सुतरामिति यावत्, दूरतो निरासः-इति भावः ।  
इत्यत आह=इत्यांशकार्या समादधौ-प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिरिति । दृष्टमेतत् । वृत्तिः=अन्योन्या-  
नुवर्तनम् । एतत्-विरुद्धानामपि मिलित्वैककार्यकारित्वं दृष्टं=प्रसिद्धमित्यर्थः कुत्र दृष्टम् ? अत आह



रोधिनी, अथ मिलिते सहाऽनलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुतः । यथा च वात-  
पित्तश्लेष्माणः परस्परविरोधिनः शरीरधारणलक्षणकार्यकारिणः । एवं सत्त्वरजस्त-  
मांसि मिथो विरुद्धान्यप्यनुवर्त्यन्ति स्वकार्यं करिष्यन्ति च ॥ “अथेतः” इति । पुरु-  
षार्थत इति यावत्, यथा च वक्ष्यति—“पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्”  
—इति ( का ३१ ) अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुख-  
दुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति । तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावक-

यथेति । वार्तिः=कार्पासादिनिर्मिता दशा, तैलं=स्नेहादि, एतेऽनलविरोधिनी=अनलेन सहविरोध-  
वती, केवलवर्त्याः वह्निदाहत्वात्, केवलवह्नेश्च तैलशाम्यत्वात् विरोधवती स्तः, अथ च=तथापि, अन-  
लेन सह मिलिते सती रूपप्रकाशलक्षणं=रूपेप्रत्यक्षयोग्यतात्मकं कार्यं कुरुत इति ॥ वार्तितैलयोर्वि-  
रोधात् न निखिलांशे समानोदाहरणमित्यतो निखिलांशे समानोदाहरणमाह—यथा वेति । यथा  
वातः पित्तः श्लेष्मा चेति परस्परविरोधिनीऽपि मिलित्वा शरीरस्य धारणं=पोषणं स्थितिं च निष्पा-  
दयन्ति, यथा सत्त्वरजस्तमांसि मिथः स्वस्वधर्मेभ्यो विरुद्धान्यपि अनुवर्त्यन्ति=परस्परमानुगुण्येन  
वर्त्यन्ति स्वस्वकार्यं च करिष्यन्तीत्यर्थः ॥ कारिकावतरणिकायामुक्तं—‘इत्थंभूता कुतः’—इत्यस्यो-  
त्तरं कारिकायामुक्तम्—“अर्थत” इति, तद्व्याख्याति—पुरुषार्थत इति । पुरुषार्थादित्यर्थः । भोगापव-  
गाख्यो यः पुरुषार्थः—तदात्मकप्रयोजनात् प्रेरकात् गुणाः प्रदीपवत् वृत्ताभूय प्रवर्तन्ते इत्यर्थः ॥  
एतच्चाग्रे वक्ष्यतीत्याह—यथा वक्ष्यतीति । ‘पुरुषार्थ’ इति । पुरुषार्थः=भोगापवगात्मकः  
पुरुषार्थः एवाऽनागतावस्थः, हेतुः=त्रिगुणानुस्यूतकरणानां प्रवर्तको भवति, यथा वत्सविवृद्धयर्थं  
क्षीरमचेतनमपि प्रवर्तते तथा प्रकृतिरचेतनाऽपि पुरुषार्थाय प्रवर्तिष्यते, अतो न केनचित्=न अन्येन  
केनचित् कर्त्रा, करणं=त्रिगुणात्मकमिन्द्रियादिकम्, कार्यते=प्रेर्यते इत्यर्थः ॥ ननु यदि परस्परवि-  
रोधिनी गुणाः सर्वत्र कार्येषु अनुवर्त्यन्ति तदा सर्वत्रैकदैव सुखदुःखमोहोपलब्ध्या भाव्यम्,  
तच्च प्रत्यक्षविरुद्धमित्यतो निमित्तभेदात्तद्व्यवस्थामाह—अत्र चेति । अत्र=गुणस्वभावनिर्गुणप्रस्तावे,  
परस्परविरोधिनः परस्परविरुद्धधर्मात्मकाः, ये सुखदुःखमोहाः, प्रीत्यप्रीतिविषादाः, ते, यथासमयं  
यथापेक्षं च स्वस्वोद्भावने स्वस्वानुरूपाणि=स्वस्वप्रादुर्भावप्रयोजकानि सुखदुःखमोहात्मकानि,  
निमित्तानि=निमित्त(सहकारि)कारणसहितानि उपादानधारणानि, कल्पयन्ति=अपेक्षन्ते,  
तद्यथा—सुखं स्वप्रादुर्भावे धर्माऽऽपेक्षं सुखात्मकं सत्त्वगुणमपेक्षते, दुःखं स्वप्रादुर्भावेऽधर्मा-  
ऽपेक्षं दुःखात्मकं रजोगुणमपेक्षते, मोहश्च स्वप्रादुर्भावे उत्कटाऽधर्मापेक्षं मोहात्मकं  
तमोगुणमपेक्षते इति, यस्य यत्र प्रसक्तिस्तत्र तस्य भिन्नभिन्नतन्निमित्तोद्भव इति  
नैकदा सर्वेषामापत्तिरिति भावः ॥ ननु धर्मादीनां विभिन्नत्वे किं मानमत आह—  
तेषां चेति । तेषाम्=धर्माधर्मात्मकनिमित्तानाम्, नानात्वम्=बहुत्वम्, प्रतिपुरुषमपि बहु-  
विधत्वमिति यावत् । कुतः ? परस्परम् अभिभाव्याऽभिभावकभावात्=यत् उत्तिष्ठत् सत् अन्येऽभि-  
भाव्य स्वकार्यजनकं तत् अभिभावकम्, यच्च अनुसृतं सत् स्वकार्याऽऽद्यत् तत् अभिभाव्यम्, त्रिगु-  
णात्मकसुखादीनां तादृशाभिभाव्याभिभावकस्वभावात् नानात्वम्, सर्वस्य प्रतिक्षणपरिणमित्वात्  
कदाचित् धर्मस्योत्कृष्टत्वे तत्सहकृतं सत्त्वमुत्कर्षं सत् रजस्तमश्च तिरस्कृत्य सुखं जनयति, कदा-  
चिच्चोत्कटोऽधर्मः रजःसहकारी सन् दुःखं तमःसहकारी सन् वा मोहं जनयतीति नैकदा तेषामा-  
पत्तिरिति भावः ॥ केचित्तु—चित्ते सुखाद्युत्पत्तौ सुखाद्यात्मका विषया एव धर्मादिसापेक्षा निमि-  
त्तानि, नहि विषयगतसुखादिकमन्तरेण चित्ते सुखादिकमुदेतुमर्हति, अव्यवस्थानात्, अतश्चित्तग-

भावान्नानात्वम् । तद्यथा—एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति तत्कस्य हेतोः ? स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात् । सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति, तत् कस्य हेतोः ? ताः प्रति तस्या दुःखरूपसमुद्भवात् । एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत् कस्य हेतोः ? तत् प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवात् । अनया च स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः । तत्र यत् सुखहेतुः तत् सुखात्मकं सत्त्वम्, यत् दुःखहेतुस्तत् दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः । सुखप्रकाशलाघवानां त्वेकस्मिन् युगपदुद्भूतावविरोधः, सहदर्शनात् । तस्मात् सुखदुः-

तसुखादिनियामकतया विषयगतं सुखादिकं धर्मादिसहितं निमित्तं भवतीति व्याख्यान्ति ॥ वस्तु-  
साम्येऽपि धर्मादिसहितस्य चित्तस्यैव सुखादिभेदे कारणत्वं प्रसिद्धदृष्टान्तेन उपपादयति—एकैव स्त्रीति । ह्येण यौवनेन कुलेन शीलेन च सम्पन्ना एकैव स्त्री स्वस्वामिनं=स्वपतिं सुखाकरोति=आनु-  
कूल्येन आनन्दयति, “सुखप्रियादानुलोभ्ये” (५।४।६३) इत्यनेन करोति=योगे ङाञि-सुखाकरोति ॥  
पृच्छति—तत्कस्य हेतोरिति । यत् कामिन्याः कान्तं प्रति सुखजनकत्वं तत् कस्माद्धेतोरित्यर्थः ॥  
उत्तरमाह—स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवादिति । पतिचित्तोद्भूतधर्मात्मकनिमित्त-  
वशात् सुखात्मकसत्त्वगुणात्मकचित्तवृत्तिसम्पादकत्वेन पतिं प्रति पत्न्याः प्रादुर्भावादिति भावः ॥  
तस्या एव स्त्रियः दुःखात्मकचित्तवृत्तिसम्पादकत्वं दर्शयति—सैव स्त्री सपत्नीरिति । सैव स्व-  
पत्नीर्दुःखाकरोति=प्रातिकूल्येन पीडयति, “दुःखाप्रातिलोभ्ये”—इति ङाञ् । पृच्छति—तत्कस्य  
हेतोरिति । यत् कामिन्याः सपत्नीः प्रति दुःखजनकत्वं तत् कस्मात्कारणमित्यर्थः ॥ उत्तरमाह—  
ताः प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवादिति । सपत्नीचित्तोत्पन्नाऽधर्मात्मकनिमित्तवशात् दुः-  
खात्मकजोगुणात्मकचित्तवृत्तिसम्पादकत्वेन सपत्नीः प्रति तस्याः प्रादुर्भावादिति भावः ॥ तस्या  
एव स्त्रियो मोहात्मकचित्तवृत्तिसम्पादकत्वं दर्शयति—एवं पुरुषान्तरमिति । सैव=उक्तैव स्त्री,  
तां=स्वाम्, अविन्दमानं=अलभमानं, पुरुषान्तरं=अपतिं, मोहयति=मोहं जनयतीत्यर्थः ॥ पृच्छति-  
तत् कस्य हेतोरिति । यत् कामिन्याः अपतिं प्रति मोहजनकत्वं तत् कस्मात्कारणमित्यर्थः ॥  
उत्तरमाह—तं प्रति तस्याः मोहरूपसमुद्भवादिति । तं=अपतिं प्रति, तस्याः=उक्तायाः  
स्त्रियः,—अपतिचित्तोत्पन्नोत्कृष्टाऽधर्मात्मकनिमित्तवशात् मोहात्मकतमोगुणात्मकचित्तवृत्तिसम्पाद-  
कत्वेन प्रादुर्भावादिति भावः ॥ उक्तार्थमन्यत्र भावेष्टपदिशति—अनयेति । अनया=उक्तया सुख-  
दुःखमोहोत्पादिकया स्त्रिया दृष्टान्तभूतया, सर्वेऽपि भावपदार्थाः सुखदुःखमोहात्मकचित्तवृत्तिसम्पाद-  
काः सुखदुःखमोहात्मकाश्चेति व्याख्याता वेदितव्या इत्यर्थः ॥ नन्वेकस्मात् कामिन्यात्मकात्  
अविलक्षणत्वात् कारणात् सुखदुःखमोहानां वैलक्षण्येन कथं परिज्ञानं स्यादित्याकांक्षायामाह—तत्र  
यदिति । तत्र=पतस्मिन् कामिन्युदाहरणे, यत् पतिचित्तवृत्तिसुखस्य हेतुः=कारणं तत्=चित्तानु-  
स्यूतं सुखात्मकं=सुखधर्मकं सत्त्वम्=सत्त्वगुणः । यच्च सपत्नीचित्तवृत्तिदुःखस्य हेतुस्तत्=चित्ता-  
नुस्यूतं दुःखात्मकं=दुःखधर्मकं रजः=रजोगुणः । यच्च अपतिचित्तवृत्तिमोहस्य=हेतुस्तत्=चित्तानु-  
स्यूतं मोहात्मकं=मोहधर्मकं तमः=तमोगुण इत्यर्थः ॥ ननु धर्मा-ऽधर्मो-त्कृष्टाऽधर्मात्मकनिमित्त-  
भेदात् यथा सत्त्वस्य रजस्तमसश्च वैलक्षण्योपपादनेन गुणत्रयं यथा सिद्धं तथा सत्त्वस्यापि सुख-  
प्रकाशलाघवैर्धर्मैः त्रिविधत्वं स्यात्, एवं रजसः दुःखोपष्टम्भकत्वप्रवर्तकत्वैः त्रिविधत्वम्, एवं तमसः  
मोहगुल्फाऽऽवरणैस्त्रिविधत्वं, तथा च नव गुणा भवेयुरित्याशंकायामाह—सुखप्रकाशलाघवा-  
नां त्वेकस्मिन्निति । ‘यत्र निमित्तधर्मादिनानात्वप्रयुक्तगुणनानात्वं महोत्पत्तौ विरोधश्च तत्रैव



खमोहैरिव विरोधिभिः अविरोधिभिरेकैर्गुणवृत्तिभिः सुखप्रकाशलाघवैर्न निमित्त-  
भेदा उच्यीयन्ते । एवं दुःखोपष्टम्भकत्वप्रवर्तकत्वैः, एवं मोहगुरुत्वावरणैः,—इति सिद्धं  
त्रैगुण्यमिति ॥ १३ ॥

स्यादेतत्—अनुभूयमानेषु पृथिव्यादिष्वनुभवसिद्धा भवन्वविवेकित्वादयः । ये  
पुनः सत्त्वादयो जाऽनुभवपथमधिरोहन्ति, तेषां कुतस्त्यमविवेकित्वं विषयत्वं सामा-  
न्यत्वमचेतनत्वं प्रसवधर्मित्वं च ? इत्यत आह—

संख्यावैलक्षण्यं कल्प्यते, यत्र च न निमित्तधर्मादिनानात्वं प्रयोजकं सहोत्पत्तो चाऽविरोधस्तत्र न  
संख्यावैलक्षण्यकल्पनमिति नियमात् सुखप्रकाशलाघवादीनां न सत्त्वाद्यतिरिक्तगुणत्वमिति भावः ।  
अक्षरार्थस्तु सुखस्य=अनुकूलवेदनीयस्य, प्रकाशस्य=नैर्मल्यस्य 'लाघवस्य=करणपटुत्वस्य च एक-  
स्मिन्=सत्त्वगुणे युगपत्=समानकाले उत्पत्तौ=प्राविभावे अविरोधः, कस्मात् ?—सहदर्शनात्=एक-  
दैव सह उत्पद्यन्ते इति प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । तस्मात्=अविरोधादेव, इव=यथा, विरोधिभिः=परस्परं  
युगपत्स्थूलभावे विरोधवद्भिः सुखदुःखमोहैः=सुखाद्यात्मकसत्त्वरजस्तमोगुणवृत्तिभिः सुखादिधर्मैः  
निमित्तभेदाः=स्वनिमित्तकारणधर्मादिभेदात् स्वात्मकसत्त्वादिगुणत्रयस्य परस्परवैलक्षण्यात्मकवि-  
शेषाः, उच्यीयन्ते=प्रमाविषयाः क्रियन्ते, तथा अविरोधिभिः=युगपदुत्पत्तावविरोधिभिः एकस्मिन्नेक-  
स्मिन् गुणे च वर्तमानैः सुखप्रकाशलाघवात्मकधर्मैः निमित्तभेदाः नोच्यीयन्ते=स्वनिमित्तभेदाऽभा-  
वात् स्वात्मकाः सुखात्मकाः प्रकाशात्मकाः लाघवात्मकाश्च भेदाः=विलक्षणगुणाः न प्रमाविषयतां  
नियन्ते इत्यर्थः ॥ एवम्—रजोगुणत्रयैः अविरोधिभिः दुःखोपष्टम्भकत्वप्रवर्तकत्वैरपि=दुःखं=प्रतिकूल-  
वेदनीयम्, उपष्टम्भकत्वम्=उत्तेजकत्वम्,—प्रवर्तकत्वम्=प्रवृत्तिः,—तदात्मकैरपि धर्मैः निमित्तभेदाः  
नोच्यीयन्ते=स्वनिमित्तभेदाऽभावात् दुःखात्मकाः उपष्टम्भकत्वात्मकाः प्रवृत्त्यात्मकाश्च विलक्षणगुणाः  
न प्रमाविषयतां नियन्ते—इत्यर्थः ॥ एवम्—तमोगुणस्थैः अविरोधिभिः मोहगुरुत्वावरणैरपि=मोहः=  
अस्मिताममताख्यो रागः, गुरुत्वम्=जाड्यम्, आवरणं=नियमनं, तदात्मकैरपि धर्मैः निमित्तभेदा-  
नोच्यीयन्ते=स्वनिमित्तभेदाऽभावात् मोहात्मका गुरुत्वात्मका आवरणत्वकाश्च विलक्षणगुणा न प्रमा-  
विषयतां नियन्ते इत्यर्थः ॥ उपसंहरति—इति सिद्धं त्रैगुण्यमिति । सुखप्रकाशादीनामनतिरिक्त-  
त्वात् गुणत्रयमेव सिद्धं नाऽऽधिकगुणत्वमिति ॥ १३ ॥

‘अविवेक्यादेरिति सिद्धिः’—रित्याचार्यामवतारयितुमाह—स्यादेतदित्यादि । एतत्=अनुभूयमाने-  
ष्वित्यादिना वक्ष्यमाणं स्यात्=घटते, युक्तं भवतीति ॥ किं तदित्यत्राह—अनुभूयमानेष्विति ।  
प्रत्यक्षविषयेषु पृथिव्यादिस्थूलभूतेषु प्रत्यक्षात्मकानुभवसिद्धा अविवेकित्वादयः=‘त्रिगुणमविवेकि  
विषयः’—इति (११) कारिकोक्ताः संहत्यकारित्वादयो धर्माः, भवन्ति । ये पुनः सत्त्वादयः=प्रधान-  
महत्तत्त्वादयो, न अनुभवपथम् अधिरोहन्ति=न प्रत्यक्षविषया भवन्ति, तेषां=सूक्ष्माणां पदार्थानां,  
कुतस्त्यम्=कस्मात्प्रमाणात् अवगतम्, अविवेकित्वम्=परस्परसंमिश्रणपुरःसरकार्यकरणशीलत्वम्,  
विषयत्वम्=उपभोगसाधनत्वम्, सामान्यत्वम्=अनेकपुरुषभोग्यत्वम्, अचेतनत्वम्=जडत्वम्,  
प्रसवधर्मित्वम्=रूप-विरूपाऽन्यतरपरिणामशालित्वं चेत्याकांक्षायामाह—अविवेक्यादेरिति ।  
अविवेक्यादेः सिद्धिः, त्रैगुण्यात्, तद्विपर्ययाऽभावात्, कार्यस्य कारणगुणात्मकत्वात् अव्यक्तमपि  
सिद्धमित्यन्वयः ॥ संक्षिप्तार्थस्तु—प्रधानमहदादौ अविवेकित्वादिकस्य सिद्धिरनुमितिः ‘त्रैगु-  
ण्यादिति’—हेतुना भवति,—तथाहि—‘प्रधानं—अविवेकित्वादियोगि,—त्रिगुणत्वात्,—घटादिवदिति ।  
अथवा—व्यक्ताव्यक्ते पक्षीकार्ये—तथा च ‘प्रधानमहदादीनि,—अविवेकित्वादिधर्मवन्ति,—त्रिगुणत्वात्

**अविवेक्यादेः सिद्धिर्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् ।**

**कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याऽव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥**

“अविवेक्यादेः” इति । अविवेकित्वमविवेकि । यथा ‘द्वेकयोर्द्विवचने’ ( पा. सूत्र. १।४।२२ ) इत्यत्र द्वित्वैकत्वयोरिति, अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यात् । कुतः पुनरविवेकित्वादेः सिद्धिरित्यत आह—“त्रैगुण्यात्” इति । “यद्यत् सुखदुःखमोहात्मकं तत्तदविवेकित्वादियोगि, यथेदमनुभूयमानं व्यक्तम्—” इति स्फुटत्वादन्वयो नोक्तः । व्यतिरेकमाह—“तद्विपर्ययाभावात्” इति । अविवेक्यादिविपर्यये पुरुषे त्रैगुण्या-

यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति ॥ तामेव व्यतिरेकव्याप्तिमाह—तद्विपर्ययाभावादिति । अविवेकित्वादेः विपर्ययः अभावो यत्राऽसौ आत्मा, तत्र त्रैगुण्यस्याऽभावात्, तथा च यत्र अविवेकित्वादिकं नास्ति तत्र त्रिगुणत्वमपि नास्ति यथा आत्मा इति ॥ ननु धर्मिणः प्रधानस्य सिद्धिमन्तरेण धर्मोणां सिद्धिर्युक्तेत्यत आह—कार्यस्येति । कार्यस्य=पृथिव्यादिमहत्तत्त्वान्तस्य, कारणगुणात्मकत्वात्=स्वकारणगतसुखदुःखमोहात्मना भवितव्यत्वात्, अन्यक्तं=प्रधानमपि सिद्धयति=अनुमितं भवति—तद्यथा—घटादयः,—स्वसमानगुणकारणजन्याः,—जन्यत्वात्-पटवत् । ‘महदादयोऽपि—स्वसमानगुणकारणजन्याः, कार्यत्वात् घटवदिति ॥ अत्र यत्स्वसमानगुणं कारणं तदेव प्रधानमिति सिद्धिः ॥ कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते—अविवेकित्वमविवेकीति । अत्र कारिकायाम् ‘अविवेक्यादेः’ इतिपदं भाव-प्रधाननिर्देशेन ‘अविवेकित्वा’ धर्मकम् तत्र दृष्टान्तं पाणिनीयसूत्रमाह—यथा—द्वेकयो’रिति । यथा ‘द्वेकयो’रित्यस्य द्वित्वैकत्वयोरित्यर्थः, तथा ‘अविवेक्यादेः’ इत्यस्य—‘अविवेकित्वादेः’ इत्यर्थ इति भावः ॥ ननु तत्रापि द्वित्वविशिष्टैकत्वविशिष्टपरतैव किं न स्यादित्यत्राह—अन्यथेति । अन्यथा=द्वित्वैकत्वपरत्वाऽनङ्गीकारे दिशब्देन द्वित्वविशिष्टद्वयोः एकशब्देन चैकत्वविशिष्टैकस्य ग्रहणेन तयोर्द्वन्द्वे सति ‘द्वेक’शब्दस्य बहुसंख्याकावेन ‘द्वेकेषु’ इति बहुवचनान्तमेव निर्दिष्टं स्यात्, तत्तु न निर्दिष्टम्, अतो द्वित्वैकत्वपरतेति बोध्यम् ॥ पृच्छति—कुतरिति । कुतः=कस्माद्धेतोः, अविवेक्यादेः=अविवेकित्वादेः, सिद्धिः=अनुमितिः ? ॥ तत्रान्वयव्यतिरेकिहेतुमाह—त्रैगुण्यादिति । तथा च ‘प्रधानं—अविवेकित्वादियोगि,—त्रिगुणत्वात्,—घटवदित्यनुमितम् ॥ तत्रान्वयव्याप्तिं दर्शयति—यद्यदिति । यत् यत् सुखदुःखमोहात्मकं=त्रिगुणात्मकम्, तत् तत् अविवेकित्वादियोगि यथेदमनुभूयमानं=प्रत्यक्षविषयं व्यक्तम्=देहगेष्वदादिस्थूलम्, इति स्फुटत्वात्=इत्याकारिकाया अन्वयव्याप्ते-र्घटादौ सरलतयोष्णत्वात्, अन्वयो नोक्तः=अन्वयिदृष्टान्तो न कारिकायां प्रदर्शित इति भावः ॥ व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति—व्यतिरेकमाहेति । यत्र व्यतिरेकसहचारजन्यव्यतिरेकव्याप्तिस्तादृशं दृष्टान्तमाहेत्यर्थः ॥ तद्विपर्ययाऽभावात्=तस्य व्यतिरेकित्वादेः विपर्ययोऽभावो यत्राऽसौ तद्विपर्ययः=पुरुषः, तस्मिन्, अभावस्तस्मात् ॥ एतादृशीं व्युत्पत्तिमाश्रित्य तदर्थमाह—अविवेक्यादिविपर्यये पुरुषे इति । ‘तद्विपर्यय’पदग्राह्यः ‘पुरुषः’ एव व्यतिरेकिदृष्टान्तः कारिकाया उक्तः, तत्र साध्याभाववति त्रैगुण्यात्मकहेतोरभावादित्यर्थः ॥ अत्रेदं बोध्यम्—यदि ‘प्रधान’मात्रं पक्षस्तदा—महदादिकमन्वयिदृष्टान्तम् पुरुषश्च व्यतिरेकिदृष्टान्तम्, यदि च ‘अतीन्द्रियं प्रधानमहदादिकं पक्षस्तदा स्थूलघटादिकमन्वयिदृष्टान्तं पुरुषश्च व्यतिरेकिदृष्टान्तम् । यदि च—‘स्थूलसूक्ष्मोभयविधं व्यक्तं प्रधानं चेत्युभयं पक्षस्तदाऽन्वयिदृष्टान्ताऽभावात्—अवीतः=व्यतिरेकी हेतुः त्रैगुण्यादिति वक्तव्य इत्ये-



भावात् । अथ वा व्यक्ताव्यक्ते पक्षीकृत्याऽन्वयाभावेनाऽवीत एव हेतुत्रैगुण्यादिति वक्तव्यः । स्यादेतत्-अव्यक्तसिद्धौ सत्यां तस्याऽविवेकित्वादयो धर्माः सिद्ध्यन्ति, अव्यक्तमेव त्वद्याऽपि न सिद्ध्यति, तत्कथमविवेकित्वादिसिद्धिरत आह-“कारणगुणात्मकत्वात्” इति । अयमभिसन्धिः-कार्यं हि कारणगुणात्मकं दृष्टम्, यथा तन्त्वादिगुणात्मकं पटादि । तथा महदादिलक्षणेनाऽपि कार्येण सुखदुःखमोहरूपेण स्वकारणं सुखदुःखमोहात्मकं प्रधानमव्यक्तं सिद्धं भवति ॥ १४ ॥

स्यादेतत्-‘व्यक्तात् व्यक्तमुत्पद्यते’ इति कणभक्षाक्षचरणतनयाः । परमाणवो हि व्यक्ताः, तेभ्यो व्यणुकादिक्रमेण पृथिव्यादिलक्षणं कार्यं व्यक्तमारभ्यते । पृथिव्या-

तदाशयेनाह-अथवेति । व्यक्ताऽव्यक्ते=व्यक्तं-महदादिपृथिव्यन्तं त्रयोविंशतितत्त्वसमुदायः, अव्यक्तं प्रधानं, तत्सर्वं जडवर्गं पक्षीकृत्य, अन्वयाऽभावेन=अन्वयव्याप्तिमद्दृष्टान्ताऽभावेन अवीत एव=व्यतिरेक्येव, हेतुः=‘त्रैगुण्यादि’ति लिङ्गम्, वक्तव्यम्, तथा चानुमानम्-‘व्यक्ताऽव्यक्ते, अविवेकित्वादियोगिनी-त्रिगुणत्वात्, यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति, इति ॥ ‘कारणगुणात्मकत्वादिति कारिकांशस्याऽवतरणाय-शङ्कते-स्यादेतदिति । एतत्-‘अव्यक्तसिद्धा’वित्यादिनावक्ष्यमाणाऽऽशङ्का स्यात्=उपपद्येतेत्यर्थः ॥ तामेवाशङ्कामाह-अव्यक्तसिद्धाविति । प्रथमम् अव्यक्तस्य प्रधानस्य सिद्धौ सत्यामेव ततः तस्य=प्रधानस्य अविवेकित्वादयो धर्माः सिद्ध्यन्ति, धर्मसिद्धौ तदाश्रयधर्मिण प्रथममपेक्षणीयत्वात्, अद्यापि त्वव्यक्तमेव न सिद्ध्यति=अव्यक्तस्य सिद्धिरेव नास्ति, तत्=तस्मात् पक्षाऽसिद्धेः-इति दोषात्मकहेतोः सत्त्वात्, कथम्=केन निर्दुष्टेन प्रकारेण, अविवेकित्वादिसिद्धिः=अविवेकित्वादिविधेयकानुमितिः स्यात् ? इत्याकांक्षायामाह-कारणगुणात्मकत्वादिति । कारणानां ये गुणाः सुखदुःखादयः तदात्मकत्वात् कार्यस्य घटादेरित्यर्थः ॥ तथा च ‘घटादयः-स्वगुणसमानगुणवत्कारणजन्याः, कार्यत्वात्, -पटवदित्यनुमानेन सुखदुःखमोहात्मकत्वं महदादेः प्रसाध्य-‘महदादिकार्यम्, -स्वोपहितत्रिगुणात्मकवस्तुपादानोपादेयम्, -त्रिगुणात्मकार्यं-त्वात्, -इत्यनेनाऽव्यक्तस्य सिद्धिर्बोध्यते भावः ॥ एनमभिप्रायमाह-अयमभिसन्धिरिति । अभिसन्धिः=अभिप्रायः । कार्यं=पटादिकं, कारणगुणात्मकम्=तन्त्वात्मककारणवृत्तिगुणशुक्लसजातीयगुणवद्, दृष्टम्=साक्षात् क्रियते । तदेवाह-यथा तन्त्वादिगुणात्मकं पटादि । प्रकृतौ घट्यति तथा महदादिति । महत्तत्त्वाद्यात्मकेनापि कार्येण सुखदुःखमोहरूपेण=सुखदुःखमोहगुणेन लिङ्गभूतेन, स्वकारणं=महत्तत्त्वादिकारणम्, सुखदुःखमोहात्मकं=सुखदुःखमोहगुणकम्, अव्यक्तं प्रधानमेव सिद्धं=सिद्धिरनुमितिरतद्विषयम्, भवतीत्यर्थः “स्वकारणगतसुखदुःखमोहात्मना भवितव्यं तथा च तत्कारण”मित्यधिकः पाठोऽन्यपुस्तके प्रक्षिप्तो दृश्यते ॥ १४ ॥

‘भेदानां परिमाणानि’त्यादिकारिकायमकमवतारयितुं शङ्कते-स्यादेतदिति । एतत्=वक्ष्यमाणं ‘व्यक्तात् व्यक्तमुत्पद्यते’-इत्याद्याशङ्कमानं, स्यात्-उपपद्येतेत्यर्थः ॥ आशङ्काबीजमाह-व्यक्तादित्यादि । कणभक्षः-कणादः, अक्षचरणः=गोत्तमः, तयोस्तनया इव शिष्याः । व्यक्तात्=परमाणुभ्यः, इयं परमाणूनां ‘व्यक्तादित्युक्तिः सांख्यमतानुसारेण, सांख्यं प्रति शङ्कायाः प्रयुक्तत्वात्, नैयायिकानां तु परमाणूनां ‘व्यक्तादित्युक्तिस्तु-‘वि’पूर्वकस्य ‘अणु’ धातोः व्यक्तब्रह्मण्यन्तिगत्यर्थत्वात्, अत्र ‘व्यक्तत्वं’=सक्रियत्वम्, क्रिया च-अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगानुकूला ग्राह्या, परमाणुप्रभृतिद्रव्याणां तादृशक्रियावत्त्वात् व्यक्तत्वमुपपन्नम्, मूलप्रकृतेश्च तादृशक्रियावत्त्वाऽभावात् अव्यक्तत्वमिति । तथा च न्यायसांख्योभयमतसिद्धात् व्यक्तात्=संयोगानुकूलक्रियावद्द्रव्यात् परमाणुतः, व्यक्तं=तादृशसक्रियं द्रव्यणुकादिमहापृथिव्याद्यन्तं उत्पद्यते-इतिमन्यन्ते इत्यर्थो बोध्यः ॥ तदेव घट-

दिषु च कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः । तस्मात् व्यक्तात् व्यक्तस्य तद्गुणस्य चोत्पत्तिः  
कृतमदृष्टचरेणाऽव्यक्तेनेत्यत आह—

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।

कारणकार्यविभागाद्विभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥

कारणमस्त्यव्यक्तम्, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुद्रयाच्च ।

परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

यति—परमाणवो हीति । परमाणवो व्यक्ताः=अप्राप्तिपूर्वकप्रस्थात्मकसंयोगानुकूल-क्रियावन्तः, तेभ्यः=परमाणुभ्यः, द्व्यणुकत्रसरेणादिक्रमेण पृथिवीघटादिलक्षणं कार्यं व्यक्तम्=अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्या-त्मकसंयोगानुकूलक्रियाधर्मकम्, आरभ्यते=जन्यते, तत्र कार्येण पृथिव्यादिषु कारणगुणक्रमेण=कारणे परमाणवादी ये गुणास्ते कार्येऽपि उत्पद्यन्ते=इति क्रमेण रूपरसगन्धाद्युत्पत्तिः भवत्येव, तस्मात्=व्यक्तपरमाणुकारणवादे यावदभिमतनिर्वाहाद्धेतोः सत्त्वात्, व्यक्तात्=परमाणुभ्यः महत्तत्त्वतो वा व्यक्तस्य=सक्रिययावत्कार्यद्रव्यस्य, तद्गुणस्य च=व्यक्तगतरूपरसादिगुणानां च, उत्पत्तेर्निर्वाहात्, अदृष्टचरेण=अप्रामाणिकेन, अव्यक्तेन=कल्पितप्रधानेन, कृतम्=अलमिति, तथा च निष्प्रयोजनं प्रधानं न मन्वत्येवेति भावः ॥ अत आह=इत्याशंका निरासार्थमाह—‘भेदानां परिमाणादिति’ (१५।१६) कारिकायमकम् । अन्वयः—भेदानां=कारणम् अव्यक्तमस्ति, कारणकार्यविभागात्, वैश्वरूप्यस्याऽविभागात्, शक्तितः प्रवृत्तेः, परिमाणात्, समन्वयाच्च । त्रिगुणतः समुद्रयाच्च प्रवर्तते । प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवत्=इति ॥ संक्षिप्तार्थस्तु—भेदानां=महदादिकार्य-विशेषाणां, कारणम्=उपादानम्, अव्यक्तम्=प्रधानमस्ति=इत्येषा प्रतिज्ञा । कुतः ? कारणकार्यवि-भागात्=कारणात्=परमाऽव्यक्तात्, कार्यं=महदादिभूम्यन्तानां विभागादाविर्भावात्, तथा चानु-मानम्—‘कार्याविर्भावः, तिरोभावपूर्वकः,—आविर्भावत्वात्,—कूर्मांगाऽऽविर्भाववदि’ति, अत्र—कार्य-तिरोभावविशिष्टं वस्तु एव अव्यक्तमिति सिद्धयतीति ॥ एवं प्रतिसर्गं वैश्वरूप्यस्य=विश्वत्मकना-नाविधकार्यस्य स्वस्वकारणे अविभागात्=तिरोभावात् महदादीनां यत्र तिरोभावस्तत् प्रधानम्,—तथा चानुमानम्—‘प्रलयकालः—तिरोभूतकार्यवान्,—कालत्वादि’ति, अत्र तदानीं यस्तिरोभूतकार्य-वान् तदेव प्रधानमिति सिद्धिर्बोध्येति ॥ एवम्—शक्तितः प्रवृत्तेः=कारणशक्तितः कार्यस्य प्रवृत्तिः प्रादुर्भावो भवति, सा च शक्तिः कार्यस्याऽव्यक्तत्वरूपा, अतः कार्यस्य अव्यक्तं कारणमस्त्येत्यर्थः तथा चानुमानम्—‘कार्यं—अव्यक्तत्वात्मकशक्तिजन्यम्,—कार्यत्वात्, घटादिवत् ॥ एवम्—परिमाणात्=परिमितत्वात् अव्यापित्वात् कार्यस्य व्यापकं कारणमभ्युपेयम्—अनुमानम्—‘परिमिता महदादयः,—व्यापककारणवन्तः,—परिच्छिन्नत्वात्,—घटादिवदिति, अत्र यत् व्यापकं कारणं तदेव प्रधानमिति ॥ एवम्—समन्वयात्=सुखदुःखमोहात्मकसमानरूपवत्त्वात् महदादयः स्वसमानरूपवत्कारणका भवितुमर्हन्तीति, ‘अनुमानं तु—‘व्यक्ताः महदादयः—स्वसमानगुणवद्वस्तुप्रकृतिकाः,—समानरूप-त्वात्,—घटादिवदिति । अत्र यत् स्वसमानगुणवद्वस्तु तदेव प्रधानमिति ॥ एतादृशप्रधानं कार्यं कथं प्रवर्तते ? इत्यत्राह—त्रिगुणतः=परिणामस्वभावा गुणा नाऽपरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्तेऽतः स्वभा-वादेव त्रिगुणं प्रधानं प्रतिप्रतिगुणाश्रयां त्रिगुणसाम्यावस्थायां प्रवर्तते इत्यर्थः ॥ अथ सृष्ट्यर्थं समु-द्रयाच्च=समेत्य उदयात्—गुणप्रधानभावमासाद्य प्रवर्तते इत्यर्थः । ननु एकरूपाणां गुणानामनेकरूपेण कथं प्रवृत्तिरत आह—प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवदिति । प्रतिगुणं प्रत्या-



“भेदानाम्” इति । भेदानां—विशेषाणां महदादीनां भूम्यन्तानां कार्याणां कारणं मूलकारणमस्त्यव्यक्तम् । कुतः ? “कारणकार्यविभागादविभागाद्द्वयव्यक्त्यस्य” । कारणे सत् कार्यमिति स्थितम् । तथा च यथा कूर्मशरीरे सन्त्येवाङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते—इदं कूर्मशरीरम्, एतान्येतस्याङ्गानि—इति । एवं निविशमानानि तस्मिन् अव्यक्तीभवन्ति । एवं कारणान्मृत्पिण्डाद्धेमपिण्डाद्वा कार्याणि घटमुकुटादीनि सन्त्येवाऽऽविर्भवन्ति विभज्यन्ते । सन्त्येव पृथिव्यादीनि कारणान्मात्राद्वा विर्भवन्ति विभज्यन्ते, सन्त्येव च तन्मात्राण्यहङ्कारात् कारणात्, सत्त्वाऽहङ्कारः

अथभेदात् प्रवर्तते—यथा जलं नारिकेल—ताल—विल्वप्रभृत्याश्रयभेदेन मधुराऽम्ल—तिक्तादिरसवत्तथा विकल्प्यते तथा विषयभेदेन एकैकगुणस्य प्राधान्येनाऽऽविर्भावात् विभिन्नपरिणामतया प्रवर्तते इत्यर्थः ॥ अथ कारिकां व्याख्यातुं प्रवर्तते—“भेदानामितीति । भिद्यन्ते पस्परं व्यावृत्ताः प्रतीयन्ते इति भेदाः=व्यावृत्तपदार्थविशेषा महदादयः कार्याणोत्पत्त्यर्थः, तेषां—“कारणमस्त्यव्यक्त”मित्यनेनोत्तरायाऽऽव्यपादेनाऽन्वयः । महदादीनां भूम्यन्तानाम्=महदहंकारमनःश्रोत्रत्वक्चक्षूरसनावान्वाक्पाणिपादपायूपस्थ—शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध—पृथ्वीजलतेजोवाय्वाकाशानामित्यर्थः । कार्याणाम्—तिरोभावप्रतियोगिनाम्, कारणम्—उपादानकारणम्,—मूलकारणम्=अकार्यत्वे सति कारणम्, अव्यक्तं=प्रधानमस्ति, महदादयः—अव्यक्तकारणवन्त इति प्रतिष्ठा बोध्या । तत्र हेतुं पृच्छति—कुत इति । परिमाणद्वित्वादपि हेतूनां पाठक्रममुपेक्ष्याऽऽकांक्षाक्रमेण हेतुद्वयमाह—“कारणकार्यविभागात्, अविभागाद्धैतव्यस्येति । कारणात् सत एव कार्यस्य विभागात्=आविर्भावादिति प्रथमहेत्वर्थः । विश्वरूपगेव वैश्वरूप्यं तस्य, “चतुर्वर्णादीनां स्वार्थं उपसंख्यानामि”तिवार्तिकेन स्वार्थिकः स्यात्, विश्वात्मकस्य कार्यस्य संहारकाले कारणेऽविभागात् तिरोभावादिति द्वितीयहेत्वर्थः ॥ तत्र प्रथमं हेतुमुपपादयिष्यन् अत्रौपयोगिकं सांख्यसिद्धान्तं स्मारयति—कारणे सत्कार्यमिति स्थितमिति । उपादानकारणे कारणव्यापारात् प्रागपि कार्यं सति (१) कारिकया सिद्धान्तितमित्यर्थः ॥ प्रथमं हेतुमुपपादयति—तथा च यथेति ॥ ‘यत् आविर्भवति तत् अव्यक्ताऽवस्थापूर्वकमेव भवति, यथा कूर्माङ्गानीति, व्याप्तिमभिप्रेत्याह—यथा कूर्मशरीरे इति । यथा कच्छपस्य शरीरे सन्ति एव अङ्गानि पादादीनि शरीरात् बहिः निस्सरन्ति विभज्यन्ते च=विभक्तत्वेन प्रतीयन्ते चेत्यर्थः ॥ विभागप्रत्ययमाह—इदं कूर्मशरीरम्, एतान्यस्याऽङ्गानो’ति । अस्य=कूर्मस्य । एतानि=हस्तपादादीनि ॥ अङ्गानीति । ननु कूर्मोऽवयवी कार्यं तदङ्गानि च कारणानीति दृष्टान्तस्य कार्यात् कारणस्याऽऽविर्भावदर्शनपरत्वं तथा च कथमेन विपरीतदृष्टान्तेन कारणात् कार्याऽऽविर्भाव उपपाद्यते—इति चेन्न, आविर्भावांशमात्रे इदं प्रसिद्धं दृष्टान्तम्, ननु ‘कार्यात् कारणस्याऽऽविर्भाव’इति यावदंशेति, अथवा ‘कूर्मशरीर’पदस्य ‘स्नाय्वस्थिमज्जारोमलोहितमांसा’त्मकपट्टकोपसमुदायपरतया तादृशसमुदायस्य कार्यम् पादाद्यवयवा भवन्तीति कृत्वा कारणात् कार्याऽऽविर्भावनिर्देशनं सङ्गमनीयमिति ध्येयम् ॥ ‘यत् तिरोभवति तत् कारणावस्थान्तं’ यथा कूर्माङ्गानीति व्याप्यभिप्रायेणाह—एवं निविशमानानीति । कारणे निविशमानानि तस्मिन्=कारणे अव्यक्तीभवन्ति=अव्यक्तावस्थां गच्छन्तीत्यर्थः ॥ दृष्टान्तं व्याख्याय दृष्टान्तिकान्याह—एवं कारणान्मृत्पिण्डादित्यादि । उपादानकारणात् मृत्पिण्डात् घटादीनि सन्त्येवाऽऽविर्भवन्ति विभज्यन्ते च, उपादानकारणाच्च हेमपिण्डात् कार्याणि मुकुटादीनि सन्त्येव आविर्भवन्ति विभज्यन्ते च, सन्त्येव च पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशानि कारणात्=उपादानात् तन्मात्रात्=मूक्षमग्न्यरसरूपस्पर्शशब्दात्मकात् आविर्भवन्ति विभज्यन्ते, सन्त्येव च तन्मात्राणि कार्याणि उपादान-

कारणान्महतः, सन्नेव च महान् परमाव्यक्तात् । सोऽयं कारणात् परमाव्यक्तात् साक्षात्पारम्पर्येणाऽन्वितस्य विश्वस्य कार्यस्य विभागः । प्रतिसर्गे तु मृत्पिण्डं सुवर्णपिण्डं वा घटमुकुटादयो विशान्तोऽव्यक्तीभवन्ति । तत्कारणरूपमेवाऽनभिव्यक्तं कार्यमपेक्ष्याऽव्यक्तं भवति । एवं पृथिव्यादयस्तन्मात्राणि विशान्तः स्वापेक्षया तन्मात्राण्यव्यक्तयन्ति । एवं तन्मात्राण्यहङ्कारं विशान्त्यहङ्कारमव्यक्तयन्ति, एवमहङ्कारो महान्तमाविशान् महान्तमव्यक्तयति, महान् प्रकृतिं स्वकारणमाविशान् प्रकृतिमव्यक्तयति । प्रकृतेस्तु न क्वचिन्निवेश इति सा सर्वकार्याणामव्य-

कारणादहङ्कारादाविर्भवन्ति विभज्यन्ते च, सन्नेव चाहङ्कारः कार्यं उपादानकारणात् महतः=महत्तत्त्वत आविर्भवति विभज्यते च, सन्नेव च महान्=महत्तत्त्वं उपादानकारणात् परमाऽव्यक्तात्=मूलप्रकृतित आविर्भवति विभज्यते चेत्यर्थः ॥ प्रथमहेत्वर्थमुपसंहरति-सोऽयमिति । दर्शितोयं कारणादुपादानात्मकात् परमाऽव्यक्तात्=मूलाऽव्यक्ताख्यात् मूलप्रकृतेरिति यावत्, साक्षात्=साक्षात्सम्बन्धेन तादात्म्येन महत्तत्त्वस्य, पारम्पर्येण=स्वजन्यजन्यत्वादिना स्वतादात्म्यतादात्म्यादिना वा सम्बन्धेन, अन्वितस्य=सम्बद्धस्य, विश्वस्य=सर्गात्मकस्य, कार्यस्य=आविर्भावप्रतियोगिवस्तुजातस्य, विभागः=विभक्तत्वेन व्यवस्था दर्शितेति ॥ द्वितीयं हेतुं व्याख्यातुमुपक्रमते-प्रतिसर्गे खिति । संहारकाले तु, घटादयो मृत्पिण्डं कारणं विशान्तः सन्तः मुकुटादयश्च सुवर्णपिण्डं विशान्तः सन्तः अव्यक्तीभवन्ति, -घटत्वाद्यवस्थां विहाय मृदाद्यात्मनाऽव्यक्ता भवन्तीति भावः ॥ ननु अस्मिन्पूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगानुकूलक्रियाशून्यत्वात् प्रधानमेवाऽव्यक्तपदवाच्यम्, तत्कथं मृदादीनामव्यक्तत्वमुच्यते ? इत्याशङ्कायाः समाधानायाऽन्येनापेक्षिकमव्यक्तत्वमाह-तत्कारणरूपमेवेति । कार्यवैस्थापेक्षया कारणाऽवस्थात्मना अनभिव्यक्तत्वात् कारणस्याऽत्र अव्यक्तत्वोपचारः, तथा च तत्तत्कार्यायसूक्ष्मावस्थात्मकमनभिव्यक्तत्वं तिरोभावाद्युपेक्षात्मकमेवाऽत्र 'अव्यक्त'पदेन अभिप्रेतम्, न तु अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगाऽनुकूलक्रियाशून्यत्वात्मकं प्रधानमात्रगतमव्यक्तमिति भावः ॥ तत्कारणरूपमेव=तत्=मृत्पिण्डादिकं यत् कारणरूपं=कारणस्वरूपं तदेव, स्वकार्यं घटादिकं अनभिव्यक्तम् अपेक्ष्य=अनभिव्यक्तघटापेक्षयेत्यर्थः, अव्यक्तं भवति=अव्यक्तमित्युपचर्यते इत्यर्थः । मृत्पिण्डात्मकपृथिव्यादिभूतानां स्वकारणेऽविभागमाह-एवं पृथिव्यादय इति । पृथिव्येसजोवाय्वाकाशानि, तन्मात्राणि=गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानि प्रति विशान्तः=तिरोभवन्तः सन्तः, स्वापेक्षया=स्वं-पृथिव्यादयः, स्वीयाऽनभिव्यक्तावस्थापेक्षया, तन्मात्राणि=व्यक्तान्यपि गन्धादीनि, अव्यक्तयन्ति=अव्यक्तानि कुर्वन्ति तन्मात्राणामव्यक्तत्वं सम्पादयन्तीति यावत्, अतः औपचारिकं गन्धादीनामव्यक्तत्वमिति भावः । एवम्-कार्याणि तन्मात्राणि स्वकारणमहङ्कारं प्रति विशन्ति सन्ति व्यक्तमप्यहङ्कारं स्वापेक्षया अव्यक्तयन्ति=अव्यक्तत्वं सम्पादयन्ति । एवम्-कार्यमहङ्कारः, स्वकारणं महान्तं=महत्तत्त्वं प्रति, आविशान्=तिरोभवन् सन्, महान्तं=महत्तत्त्वं, स्वाऽपेक्षयाऽव्यक्तयति अव्यक्तत्वं सम्पादयति, एवम् महान्=महत्तत्त्वमपि, स्वकारणं प्रकृतिं प्रति आविशान्=तिरोभवन् सन्, प्रकृतिं अव्यक्तयति=स्वीयाऽनभिव्यक्ताऽपेक्षया अव्यक्तां करोतीत्यर्थः ॥ प्रकृतेस्तु स्वाभाविकमव्यक्तत्वं सद्युक्तिकं दर्शयति-प्रकृतेस्तु न क्वचिन्निवेश इति । कारणशून्यत्वात् कुत्रापि निवेशः=तिरोभावो न भवतीत्यर्थः । इति=क्वचिदनिवेशाद्धेतोरेव, सा=प्रकृतिः, सर्वकार्याणाम्=महदादिभूयन्तानां यावत्कार्याणाम्, अव्यक्तमेव=वास्तविकं संयोगानुकूलक्रियाशून्यत्वात्मकं यद् नित्यं अव्यक्तत्वं तद्वदित्यर्थः ।



क्तमेव । सोऽयमविभागः प्रकृतौ वैश्वरूप्यस्य-नानारूपस्य कार्यस्य, स्वार्थिकः प्यञ्ज, तस्मात् कारणे कार्यस्य सत एव विभागाविभागाभ्यामव्यक्तं कारणमस्ति । इतश्चाऽव्यक्तमस्तीत्याह-“शक्तितः प्रवृत्तेश्च” इति । कारणशक्तिः कार्यं प्रवर्तत इति सिद्धम्, अशक्तात् कारणात् कार्यस्याऽनुपपत्तः, शक्तिश्च कारणगता न कार्यस्याऽव्यक्तत्वादन्या । न हि सत्कार्यपक्षे कार्यस्याऽव्यक्तताया अन्यस्यां शक्तौ प्रमाणमस्ति, अयमेव हि सिकताभ्यस्तिलानां तैलोपादानानां भेदो यदेतेष्वेव तैलमस्त्यनागतावस्थं न सिकतास्त्विति ॥ स्यादेतत्-शक्तिः प्रवृत्तिः कारणकार्यवि-

उपसंहरति-सोऽयमविभागः प्रकृताविति । वैश्वरूप्यस्येत्यस्यार्थमाह-नानारूपस्य कार्यस्येति । विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यम्-अत्र स्वार्थिकः प्यञ्ज इति । ‘चतुर्वर्णादीनां स्वार्थं उपसंख्यान’-मिति वार्तिकेन स्वार्थिकः प्यञ्ज-इत्यर्थः ॥ सर्वेषां कार्याणाम् अव्यक्तपूर्वकत्वम् अव्यक्तान्तत्वं चेति साधितं निगमयति-तस्मादिति । कारणतः कार्यस्य विभागात् अविभागाच्चेत्यर्थः । तदेवाह-कारणे इति । कारणे=उपादानाख्ये, कार्यस्य सतः=कारणव्यापारात्प्रागपि सत एव कार्यस्य, विभागः=आविर्भावः अविभागः=तिरोभावः ताभ्यामेव अव्यक्तं प्रधानं कारणमस्त्येति सिद्धमिति बोध्यम् ॥ हेत्वन्तरमवतारयति-इतश्चाऽव्यक्तमस्तीति । इतश्च=‘शक्तितः प्रवृत्तेश्च’ति हेतोः, अव्यक्तमस्ति=अव्यक्तं सिद्धयति ॥ तथा चानुमानम्-‘कार्यं-अव्यक्तत्वात्मकशक्तिजन्यम्-कार्यत्वादिति, शक्तिः प्रवृत्तेश्चेति विवृणोति-कारणशक्तिः कार्यं प्रवर्तते इति सिद्धमिति । ‘शक्तस्य शक्यकरणा’दिति (६) कारिकया पूर्वं साधितमेवेत्यर्थः ॥ साधितमप्यर्थं दृढीकरणायऽऽह अशक्ताकारणादिति । कार्याऽनुकूलशक्तिशून्यात् उपादानकारणात् कार्यस्योत्पत्तिर्न भवत्येवेति कारणं शक्तिमतं भवतीत्यर्थः ॥ सा च शक्तिं किं स्वरूपेत्यत आह-शक्तिश्चेति । उपादानकारणगता शक्तिः, न कार्यस्याऽव्यक्तत्वादन्या=कार्यस्य महदादेः या अव्यक्तावस्था कारणावस्था प्रधानावस्था ततो न अन्या=न अतिरिक्ता किन्तु अव्यक्तावस्थास्मिन्नेवेत्यर्थः ॥ अव्यक्तावस्थातोऽतिरिक्तायां शक्तावप्रामाणिकत्वं दर्शयति-न हीति । हि=यतः । ‘सत्कार्यपक्षे,’ इत्येतद् अतिरिक्तशक्यभावे वीजं, तथाहि-असत्कार्यवादे तु कारणे कार्यस्याऽसत्त्वात् तन्त्वादितः पटादिकमेव जायेतेत्यत्र नियामकाऽभावात् पटानुकूल शक्तिः स्वतन्त्रा शक्तिवादिनां कल्पनाया भवेत्, अस्मत्सत्कार्यवादे तु-कार्यस्यऽव्यक्तावस्थस्य कारणे सत्त्वात् तदेव कार्यं तस्मात् कारणाद्भवित्यति नाऽन्यदिति-अव्यक्तावस्थात एव व्यवस्थोपपत्तेस्तदर्थं शक्यन्तरं न कल्पनीयमिति भावः । अत एव कार्यस्य अव्यक्ततायाः=अव्यक्तावस्थातः, अन्यस्यां=पदार्थान्तरे, शक्तौ न प्रमाणमनुमानादिकमस्ति, किन्तु अव्यक्तावस्थात्मकावे प्रमाणं विधत्ते-‘कारणशक्तिः-न अव्यक्तत्वावस्थातो भिद्यते, -कारणव्यापारात्माक् सत्कार्यसम्बद्धत्वात् । कारणे च कार्यस्य सम्बद्धत्वं नाम सूक्ष्मावस्थात्मकत्वम्=अव्यक्तावस्थात्मकत्वमिति यावत् । कारणशक्तिः कार्यस्याऽनागतावस्थात्मिकैवेति विशेषतो दृष्टान्तेन दृढयति-अयमेव हीति । हि=निश्चये । तैलोपादानानां तिलानां सिकताभ्यः अयमेव=अव्यक्तावस्थैव भेदः=विशेषः व्यावर्तक इति यावत्, यत् एतेषु=तिलेषु एव अनागतावस्थं तैलं वर्तते, न तु सिकतास्त्विति, तथा च प्रयोगः-‘सिकताः-तैलस्याऽव्यक्तावस्थात्मकशक्तिशून्याः,-तैलाऽनभिव्य-अकत्वादिति ॥ परिभाषा’ दिति हेतोरवतरणाय पुनः प्रधानेऽकारणत्वं महत्तत्त्वस्यैव कारणत्वमिति शक्ते-स्यादेतदिति । एतद्वक्ष्यमाणं-‘शक्तिः प्रवृत्तिरित्यादिकं युक्तं भवेदित्यर्थः ॥ महत्तत्त्वमेव पर्याऽव्यक्तं जगत्कारणं न तु ततोऽन्यादिकश्चिद्वदतीत्यस्मिन्नर्थं हेतुवर्थं प्रदर्शयति-शक्तिः प्रवृ-

भागाविभागौ च महत् एव परमाव्यक्तत्वं साधयिष्यतः, कृतं ततः परेणाऽव्यक्तेन-  
त्यत आह—“परिमाणात्” इति । परिमितत्वात्, अन्यापित्वादिति यावत् ।  
विवादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः, परिमितत्वात् घटादिवत् ।  
घटादयो हि परिमिताः मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः । उक्तमेतद्यथा कार्यस्याऽव्य-

क्तिः,—कारणकायविभागाविभागौ चेति । एते त्रयो हेतवः महत्=महत्तत्त्वस्यैव परमा-  
व्यक्तत्वं=मूलकारणत्वं=कार्यजातस्य शक्त्यात्मकाऽव्यक्तावस्थात्मकत्वमिति यावत्, साधयिष्यतः=  
अनुमापयिष्यतः । तत्र—“शक्तिः प्रवृत्तिरित्यस्य शक्त्याऽव्यक्तावस्थात्मिकया वा प्रवृत्तिः=कार्य-  
स्याऽभिव्यक्तिः, सा—अव्यक्तावस्थात्मकशक्तिजन्या हेतुभूता सती स्वकारणं शक्तिम् अव्यक्तावस्था-  
त्मिका महत्तत्त्वे साधयिष्यतीत्यर्थः,—तथा चानुमानम्—“महत्तत्त्वम्,—जगदव्यक्तावस्थानुयोगि, स्व-  
जनकत्वसम्बन्धेन अभिव्यक्ताऽहंकारादिजगद्रूपकार्यवत्त्वादिति । एवं ‘कारणात् कार्यस्य विभागः’  
‘कारणे कार्यस्य चाऽविभागः’ इति हेतुद्वये प्रथमे हेतौ कारणे महत्तत्त्वे कार्यविभागात्मकहेतुना  
अव्यक्तत्वं साधनीयमित्यर्थः, तथा चानुमानम्—“महत्तत्त्वम्—जगदव्यक्तावस्थानुयोगि,—स्वजन-  
कत्वसम्बन्धेन विभक्त्यावत्कार्यवत्त्वादिति । एवम्—‘कारणे कार्यस्य चाऽविभागः’—इति हेतावपि  
कारणे महत्तत्त्वे कार्याऽविभागात्मकहेतुना अव्यक्तत्वं साधनीयमित्यर्थः । तथा चानुमानम्—“मह-  
त्तत्त्वम्, जगदव्यक्तावस्थानुयोगि,—अविभक्त्यावत्कार्यवत्त्वादिति भावः ॥ अव्यक्तम् अन्यथासिद्धयति  
—कृतं ततः परेणाऽव्यक्तेनेति । ततः=महत्तत्त्वतः, परेण=भिन्नेन कारणत्वेनाऽभिमतेन, अव्य-  
क्तेन=प्रधानेन, कृतम्=अलमित्यर्थः ॥ इत्यत आह=इत्याशङ्कानिराकरणार्थमाह,—परिमाणा-  
दिति । परिमाणं=परिमितिः, भावे ल्युट्, परिच्छेद इति यावत् । तदेवाह—परिमितत्वादिति ।  
परिच्छिन्नत्वादित्यर्थः ॥ अथ परिच्छिन्नत्वं त्रिविधं—देशतः कालतो वस्तुतश्च । तत्र देशतः परि-  
च्छिन्नत्वादिति यदि हेतुस्तदा—‘विवादाध्यासिनो महदादिभेदाः, अव्यक्तकारणवन्तः,—परिमितत्वा’  
दित्यग्निमानुमाने हेतोर्भागासिद्धिप्रसंगः, पक्षैकदेशस्य गगनस्य सार्वत्रिकतया देशतः परिच्छि-  
न्नत्वाऽभावात् । कालस्याऽनन्युपगमात् ‘कालतःपरिच्छिन्नत्वादिति हेतोः स्वरूपाऽसिद्धत्वात् ।  
‘वस्तुतः परिच्छिन्नत्वादिति हेतोस्तु ‘अव्यक्तकारणवत्त्वात्मकसाध्याभाववति विभिन्ने सत्त्वादि-  
गुणत्रये सत्त्वात्तत्र व्यभिचारः, इत्यतः ‘परिमितत्वादि’त्यस्यार्थमाह—अन्यापित्वादिति । स्वका-  
रणं परिणामिनं न व्याप्नोतीत्यव्यापि तस्य भावस्तत्त्वात्, व्यस्यत्वादिति तु फलितार्थः,—स्वकार-  
णसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यकार्यत्वादिति परमार्थः । एतादृशम् अन्यापित्वं न भागाऽसिद्धं स्वरूपाऽ-  
सिद्धं व्यभिचरितं वेति भावः ॥ फलितमनुमानमाह—‘विवादाध्यासिता इत्यादि । विवादा-  
ध्यासिताः=विवादविषयीभूताः, महदादिभेदाः=महत्तत्त्वादिपृथिव्यन्ताः पदार्थाः, इति पक्षः ॥ सा-  
ध्यम्—अव्यक्तकारणवन्तः=प्राविर्भावाख्यतादात्म्यसम्बन्धेन अव्यक्तकारणवन्त इत्यर्थः । हेतुः—परि-  
मितत्वात्=स्वकारणसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यकार्यत्वादित्यर्थः । ‘घटादिव’दिति दृष्टान्तः ॥ दृष्टान्ते  
साध्यसमन्वयमाह—घटादयो हीति । हि=निश्चये । दृष्टान्तं घटादयः परिमिताः=स्वकारणसत्ताति-  
रिक्तसत्ताशून्याः, मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः=स्वापेक्षया औपचारिकतया अव्यक्ताऽभिधाना ये  
मृदादयस्तत्कारणं येषान्ते एतादृशा दृष्टा भवन्ति, तथैव महत्तत्त्वमपि अव्यक्तकारणत्वं भवेदिति  
अनुपपन्नः ॥ अव्यक्तकारणकत्वस्य दाढ्यार्थं पूर्वोक्तं स्मारयति—उक्तमेतदिति । एतत्=अव्यवहित-  
तया वक्ष्यमाणम्=‘यथा कार्यस्याऽव्यक्तावस्था कारणमेवेत्येतत्, उक्तम्=‘प्रतिसर्गं’—तत्कारणरूपमेवा-  
ऽनभिध्यक्तं कार्यमपेक्षयाऽव्यक्तं भवतीत्यादिग्रन्थेनाऽत्रैव कारिकाव्याख्याभ्यामुक्तमित्यर्थः ॥ कार्यस्य



कावस्था कारणमेवेति, यन्महतः कारणं तत् परमाव्यक्तम्, ततः परतरा-  
व्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात् । इतश्च विवादाध्यासिता भेदाः अव्यक्तकारणवन्तः  
“समन्वयात्” । भिन्नानां समानरूपता समन्वयः । सुखदुःखमोहसमन्विता हि  
बुद्ध्यादयोऽध्यवसायादिरुक्षणाः प्रतीयन्ते । यानि च यद्रूपसमनुगतानि, तानि  
तत्त्वभावव्यक्तकारणकानि, यथा मृद्धेमपिण्डसमनुगता घटमुकुटादयो  
मृद्धेमपिण्डाव्यक्तकारणकाः, इति कारणमस्यव्यक्तं भेदानामिति सिद्धम् ।

—महदादेः, अव्यक्तावस्था=तिरोभावात्मिका सूक्ष्मावस्था, एव कारणम्=उपादानमिति । तथा च  
महतः=महत्तत्त्वस्य यत् कारणं=कारणत्वेन सिद्धं प्रधानाख्यमुपादानम्, तदेव परमाव्यक्तम्=  
परमं=पराकाष्ठां गतम् अव्यक्तम्, अव्यक्तत्वस्य पराकाष्ठेति यावत् ॥ ननु—‘प्रधानम्—किंचिदव्य-  
क्तकारणम्,—अव्यक्तत्वात्,—महद्वदिति चेत् ! न, तत्र ‘अव्यापित्वस्य’ उपाधित्वात्, महदादौ  
साध्यव्यापकत्वात् प्रधाने च साधनाऽव्यापकत्वात्, इत्याशयेनाह—ततः परतराऽव्यक्तकल्पनायां  
प्रमाणाऽभावादिति । ततः=प्रधानात्, परतरस्य=अतिरिक्तस्य अव्यक्तत्वपराकाष्ठ्याः कल्पनायां  
प्रमाणाऽभावात्=अनुमानादेरसत्त्वादित्यर्थः ॥ ननु तथापि अव्यक्ताख्यं ब्रह्मैव कारणं कस्यताम्  
कृतं प्रधानकारणतयेत्याशंकायां हेतुगतरभवतारयति—इतश्च विवादाध्यासिता इति । इतश्च=  
वक्ष्यमाणहेतोरपीत्यर्थः । विवादाध्यासिताः=विवादविषयाः, भेदाः=महदादिविकाराः, अयं पक्षः ।  
अव्यक्तकारणवन्तः=प्राविर्भावाख्यतादात्म्यसम्बन्धेन स्वकारणाऽव्यक्तवन्तः, इति साध्यम् । समन्व-  
यात्=सुखाद्यात्मकसामान्यान्वितत्वात्, अयं हेतुः ॥ हेतुमुपपादयति—भिन्नानामिति । अध्यवसाया-  
ऽभिमानसंकल्पादिविशेषधर्मवत्तया परस्परं भिन्नानां बुद्धबर्हकारमनःप्रभृतीनां वा सुखादिसाधा-  
रणधर्मवत्तया समानरूपता=एकरूपता सः समन्वय इत्यर्थः ॥ एतादृशार्थकहेतोः  
पक्षधर्मतामुपपादयति—सुखदुःखमोहसमन्विताइति । सुखदुःखमोहादिसाधारणधर्मवच्छिन्नाः  
सन्त एव बुद्ध्यादयः अध्यवसायाभिमानाद्यसाधारणधर्मकाः प्रतीयन्ते न तु सामान्यधर्मं विहाय  
विशेषधर्मवत्तया, अतः ‘समन्वयात्=सुखाद्यात्मकसामान्यान्वितत्वादि’ति हेतुः बुद्ध्यादिपक्षे वर्तते  
इति ॥ तत्र सामान्यव्याप्तिं दर्शयति—यानि चेति । यानि=घटादीनि, यद्रूपसमनुगतानि=यत्स्पर्-  
शादिमनूत्सामान्यरूपसमनुगतानि तानि घटादीनि तत्स्पर्शादिस्वभावमृदात्मकसामान्याऽव्यक्तोपा-  
दानकानोत्यर्थः ॥ एनमर्थमभिप्रेत्योदाहरणमाह—यथेति । घटे तु समन्विता व्याप्तिः, मुकुटादौ  
यथा—‘मुकुटादयः यत्पीतिमगुरुत्वाश्रयनुवर्णपिण्डसमनुगताः ते मुकुटादयस्तत्पीतिमगुरुत्वस्वभाव-  
नुवर्णपिण्डात्मकाऽव्यक्तोपादानका भवन्तीति’ समन्वयः, इति व्याप्तेः भेदानाम्=महदादीनां  
अव्यक्तमेव कारणमस्तीति सिद्धं, निर्गुणस्य ब्रह्मणस्तत्त्वभावविरहादिति भावः ॥ अत्र केचित्  
—यत् येन द्रव्यसामान्येन अनुगतं तत् तदव्यक्तरूपद्रव्यसामान्योपादानकमिति व्याप्तिर्विध्या,  
गुणगुणिनोरभेदेन सुखाद्यात्मकसत्त्वादीनां द्रव्यत्वान्महत्तत्त्वादौ पक्षे समन्वयात् ॥ अपरे तु—ये  
भावाः—यदनेकवृत्तिभिः प्रत्येकमन्वीयन्ते ते तत्प्रकृतिकाः यथा मृदन्विताः शरावादयः,—तथा च—  
‘सुखदुःखमोहाः—कार्याणां प्रकृतयः,—तेषु प्रत्येकमन्वितत्वे सति अनेकवृत्तिस्त्वात्,—मृदादिवदिति  
वदन्ति ॥ वस्तुतस्तु—सांख्यनये अनाविर्भूतकार्याणां प्रकृत्यभिन्नतया कार्यस्य सर्वधर्माः प्रकृतौ  
सूक्ष्मरूपेण कार्याभिन्नतया सन्त्येवेति व्यभिचाराद्यभावात् वाचस्पत्युक्ता सामान्या व्याप्तिरेव गरी-  
यसीति बोध्यम् ॥ तथा प्रधानं कदाचित् स्थित्या प्रवर्तते कदाचिच्च गत्या प्रवर्तते तत्र स्थित्या

अव्यक्तं साधयित्वा अस्य प्रवृत्तिप्रकारमाह—“प्रवर्तते त्रिगुणतः” इति । प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति । परैरिण्यस्वभावा हि गुणानां परिणाम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते । तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया, रजो रजोरूपतया, तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते । तदिदमुक्तं—“त्रिगुणतः” इति । प्रवृत्त्यन्तरमाह—“समुदयाच्च” इति । समेत्य उदयः—“समुदयः” समवायः । समुदयश्च गुणानां न गुणप्रधानभावमन्तरेण सम्भवति, न च गुणप्रधानभावो वैषम्यं विना, न च वैषम्यमुपमर्द्योपमर्दकभावाद्दते, इति महदादिभावेन प्रवृत्तिर्द्वितीया । स्यादेतत्—कथमेकरूपाणां गुणानामनेकरूपा प्रवृत्तिरित्यत आह—“परिणामतः सलिलवत्” इति । यथा हि वारिद्विमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूवि-

प्रवृत्तिं दर्शयितुमाह—अव्यक्तं साधयित्वाऽस्य प्रवृत्तिप्रकारमाहेति । अस्य=प्रधानस्य, प्रधीयते निधीयते लीयते विकारजातमस्मिन्निति प्रधानं तस्य । एतादृशां व्युत्पत्तिमाश्रित्य प्रवृत्तिप्रकारमाह—स्थित्यात्मकप्रवृत्तिप्रकारमाहेत्यर्थः ॥ “प्रवर्तते त्रिगुणतः” इति । त्रिगुणसाम्यावस्थारिमिका भवतात्यर्थः । प्रतिसर्गावस्थायामिति=प्रलयावस्थायामित्यर्थः । सत्त्वं=सत्त्वगुणः, रजः=रजोगुणः, तमः=तमोगुणश्चेति त्रीणि सदृशपरिणामानि=अन्यूनाधिकपरिणामानि भवन्तीति ॥ ननु साम्यावस्थायाः परिणामत्वकथनं निष्फलमित्यत आह—परिणामस्वभावा इति । हि=निश्चये । सर्वदा परिणामस्वभावा गुणाः क्षणमपि अपरिणाम्य=विना परिणामं नैव तिष्ठन्ति, न च स्वभावोऽयं फलमपेक्षते, अथवा प्रलयसंरक्षणमेव फलमिति भावः ॥ तस्मात्=परिणामस्वभाववत्त्वात्, सत्त्वं सत्त्वरूपतया=तिरोभूतलघुप्रकाशात्मकतया, रजः रजोरूपतया=तिरोभूतचलोपष्टमालमकतया, तमः तमोरूपतया=तिरोभूतगुरुवरात्मकतया, प्रतिसर्गावस्थायामपि=प्रलयावस्थायामपि, प्रवर्तते इत्यर्थः ॥ अथ गत्यात्मिकां प्रवृत्तिमाह—प्रवृत्त्यन्तरमाह—समुदयाच्चेतीति । समुदयपदार्थमाह—समेत्य उदय इति । परस्परं मिलित्वाऽऽविर्भाव इत्यर्थः ॥ समुदयपर्यायमाह—समवाय इति । परस्परसम्मिश्रणमित्यर्थः । न तु नैयायिकानामिव सम्बन्धविशेषः कश्चित्समवाय इति बोध्यम् ॥ हेतुमुपपादयति—समुदयश्च गुणानामिति । परस्परविरुद्धानां समबलानां च गुणानां समुदयः गुणप्रधानभावमन्तरेण=उपकारकोपकार्यभावं विना, न संभवतीति । एवं गुणप्रधानभावोऽपि वैषम्यं विना=न्यूनाऽऽधिक्यं विना न संभवति, वैषम्यं च उपमर्द्योपमर्दकभावाद्दकृते=अभिभाव्याऽभिभावकभावं विना, न संभवति, इति हेतोः पुरुषार्थवशात् प्रथमं द्योमः, ततः कश्चिद्गुणोऽभिभावकोऽन्यो चाऽभिभाव्यौ, ततः साम्यावस्थाच्युतिरूपं वैषम्यं, ततः गुणप्रधानभावेन मिलित्वा महदादिरूपेण परिणाम इतीयं प्रवृत्तिर्द्वितीया=गतिरूपेत्यर्थः ॥ शङ्कते—स्यादेतदिति । एतत्=कथमेकरूपाणां...प्रवृत्तिरित्येषा आशङ्का, स्यात्=उपपद्येत । एकरूपाणाम्=गुणद्वयोपसर्जनैकैक(प्रधान)स्वरूपस्य गुणस्य सत्त्वस्य रजस्तमसो वा, एकरूपाऽपि कथम् अनेकरूपा ब्रह्मादेरूपा उत्तमसात्त्विकी पित्राद्यात्मिका मध्यमसात्त्विकी नक्षत्राद्यात्मिकाऽधमसात्त्विकी प्रवृत्तिः, गन्धब्राह्मिका उत्तमराजसी क्षत्रियात्मिका मध्यमराजसी नटाद्यात्मिकाऽधमराजसी, राक्षसात्मिका उत्तमतामसी, हस्त्याद्यात्मिका मध्यमतामसी कीटसर्पाद्यात्मिकाऽधमतामसी इत्येवंविधा कथं भवतीत्याशङ्कार्थः ॥ तत्र विभिन्नात्मोयविभिन्नपुरुषार्थात्मकनिमित्तभेदाद्भिद्यते प्रवृत्तिरिति दृष्टान्तमुखेनाह—परिणामतः सलिलवदिति । परिणामतः=विभिन्नात्मोयविभिन्नपुरुषार्थप्रयुक्तो विभिन्नो विभिन्नः सत्त्वादिरत्येकस्यापि परिणामो भवति तादृशपरिणामतोविभिन्नोत्तममध्यमादिप्रवृत्तिर्भवति, एवं गत्यात्मिका स्थित्यात्मिकाऽपि बोध्या ॥ सलि-



कारानासाद्य नारिकेलतालतालीबिल्वचिरबिल्वतिन्दुकामलकप्राचीनामलककपित्थ-  
फलरसतया पारणमन्मथुराम्ललवणतित्तकपायकटुतया विकल्प्यते, एवमेकैकगुणस-  
मुद्भवात् प्रधानगुणानाश्रित्याऽप्रधानगुणाः परिणामभेदान् प्रवर्तयन्ति । तदिदमुक्तम्-  
“प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्” एकैकगुणाश्रयेण यो विशेषस्तस्मादित्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥

ये तु तौष्टिका अव्यक्तं वा महान्तं वाऽहङ्कारं वा इन्द्रियाणि वा भूतानि वाऽऽ-  
त्मानभिमन्यमानास्तान्येवोपासते तान् प्रत्याह-

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

लवदिति । दृष्टान्तमुपपादयति-यथा हीति । वारिदो मेवस्तद्विमुक्तमुदकंजलं, एकरसमपि= मधुरैकरसवपि, तत्तद्भूविकारान् नारिकेलविश्वक्षाल्मकान् पृथिवीविकारान् आसाद्य=जीवनसह-  
कारितया उपसंक्रम्य, नारिकेलो=लाङ्गली तत्फलरसतया परिणमत् मधुरतमं, तालः=तृणराजस्तत्फ-  
लरसतया परिणमत् अम्लम्, ताली=खजूरौ तत्फलरसतया परिणमत् लवणम्, बिल्वः=विल्ववृक्ष-  
स्तत्फलरसतया परिणमत् तित्तम्, चिरबिल्वः=नक्तमालस्तत्फलरसतया परिणमत् कपायं, तिन्दुकः= स्फूर्जकस्तस्य फलरसतया परिणमत् कटु, इत्येवं यथा विकल्प्यते=विभिन्नत्वादतयाऽनुभूयते, “आमलक प्राचीनामलककपित्थेत्यधिकवृक्षोद्देशस्तु निष्प्रयोजनो बोध्यः, तत्र आमलकस्य कपायः, प्राचीना-  
मलकस्य कटुः, कपित्थस्य तित्तः, रसो बोध्यः ॥ एवम्=तद्वत्, एकैकगुणस्य समुद्भवात्=प्रधानभा-  
वात्, प्रधानगुणान्=क्वचित् प्रधानं सत्त्वं क्वचित्प्रधानं रजः क्वचित्प्रधानं तमः, इत्येवमनन्तवारं  
प्रधानभावमापन्नान् प्रत्येकगुणान् आश्रित्य=गुणीभूय, अप्रधानगुणाः स्वप्रयोजनसम्पादनार्थं प्रधानभावं  
लभन्तः सन्तः परिणामभेदान्=कार्यभेदान् प्रवर्तयन्ति=विभिन्नपरिणामान् प्रति प्रवर्तन्ते इत्यर्थः ॥  
तदिदमुक्तम्=उक्तं तादृशार्थमुपदर्शितुमुक्तम् ॥ प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषादिति । बोधार्थमाह-  
एकैकगुणाश्रयेणेति । एकस्य एकस्य प्रधान- गुणस्याश्रयः एव अप्रधानगुणस्य स्वप्रयोजनसम्पाद-  
नार्थविशेषः=स्वाधिकारः, तस्मात्, पूर्वम् अन्यस्मै प्रधानतां दत्त्वा पश्चात् स्वाधिकारं विशेषं प्राप्नोति,  
एवं त्रयाणामपि क्रमशो विशेषोपि विपरिवर्तते तद्भेदात् प्रवृत्तिभेदो भवतीति भावः ॥ १५ ॥ १६ ॥

यदर्थं प्रधानस्य प्रवृत्तिस्तं पुरुषं जडवर्गातिरिक्तं साधयितुं जडवर्गान्तर्गतत्वेनात्मानमभिमन्य-  
मानान् खण्डयितुं च ‘संघातपरार्थत्वा’दित्यार्यामवतारयति-ये तु तौष्टिका इति । तुष्टिः=अव्यक्तादिषु  
आत्मसु लयमात्रेण कृतकृत्यतात्मिका तृप्तिः, सैव प्रयोजनं फलं येषान्ते तौष्टिकाः । ‘बाह्या विषयोपरमात्पथ’  
(५०) कारिकया निर्दिष्टाः ‘बाह्यास्तुष्टयः पञ्चविषयोपरमात् पथ, या खल्वनात्मनः प्रकृतिमहदहं-  
कारादीनामैवभिमन्यमानस्य ताः भवन्तीति शब्दादिपञ्चविषयाणामुपरमात् पञ्चतुष्टयः प्रत्येकात्म-  
वादिनो भवन्ति इति बोध्यम् ॥ तौष्टिकानां भेदानाह-अव्यक्तं वेति । ये अव्यक्तात्मानमभि-  
मन्यमाना अव्यक्तेभवाऽऽत्मानमुपासते, ये च महत्तत्त्वमेवात्मानमभिमन्यमाना महान्तेमेवात्मान-  
मुपासते, ये चाहंकारमेवात्मानमभिमन्यमानाऽहंकारमेवात्मानमुपासते, ये चेन्द्रियाण्येवात्मानम-  
भिमन्यमाना इन्द्रियाण्येवात्मानमुपासते, ये च पृथिव्यादिस्थूलभूतान्येवात्मानमभिमन्यमाना भूता-  
न्येवात्मानमुपासते, तान् सर्वान् प्रति आह-“संघातपरार्थत्वादि”त्यादीति । ‘पुरुषः अस्ति,  
संघातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययात्, अधिष्ठानात्, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च’त्यन्वयः ॥  
संक्षिप्तार्थस्तु-प्रकृत्यादिजडवर्गभिन्नः पुरुषः सिद्ध्यति, कुतः संघातपरार्थत्वात्=संघातानां जडव-  
र्गानां परप्रयोजनत्वात् यः परः=तेभ्यो भिन्नः स आत्मा, एवम्-त्रिगुणादिविपर्ययात्=संघातेष्वेव

“सङ्घातपरार्थत्वात्” इति । पुरुषोऽस्ति, अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्तः । कुतः ? “सङ्घातपरार्थत्वात्” । अव्यक्तमहदहङ्कारादयः परार्थाः, सङ्घातत्वात्, शयनासनाभ्यङ्गादिवत्, सुखदुःखमोहात्मकतयाऽव्यक्तादयः सर्वे सङ्घाताः । स्यादेतत्-शयनासनादयः सङ्घाताः संहतशरीराद्यर्था दृष्टाः, न त्वात्मानमव्यक्ताद्यतिरिक्तं प्रति परार्थाः, तस्मात् सङ्घातान्तरमेव परं गमयेयुः, न त्वसंहतमात्मानमित्यत आह—“त्रिगुणादिविपर्ययात्” इति । अयमभिप्रायः—सङ्घातान्तरार्थत्वे हि तस्याऽपि सङ्घातत्वात् तेनाऽपि सङ्घातान्तरार्थेन भवतिव्यम् । एवं तेन तेनेत्यनवस्था स्यात् । न

त्रिगुणत्वादयो वर्तन्ते नाऽन्यत्र, यत्र त्रिगुणत्वादीनां विपर्ययोऽभावः सः जडवर्गभिन्नः आत्मेति । अधिष्ठानात्=सुखदुःखमोहात्मकजडवर्गो येनाऽधिष्ठीयमानः स आत्मेति । भोक्तृभावात्=भोग्ये सुखदुःखे यस्य भोग्ये भवतः स भोक्ता बुद्ध्याद्यतिरिक्त आत्मेति । कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च=शास्त्राणां महर्षीणां च मोक्षार्थं प्रवृत्तिस्य कृते भवति स मोक्षाधिकृतः आत्मा दुःखादिधर्मकप्रकृत्यादिभिन्नतया सिद्ध इत्यर्थः ॥ कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते—“संघातपरार्थत्वादि”तीति । ‘अहंप्रत्यय’विपर्ययया सिद्धोऽपि पुरुषः अव्यक्ताद्यतिरिक्ततया साध्यते=इत्यभिप्रेत्याह—पुरुषोऽस्ति, अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्त इति । जडवर्गभिन्नः आत्मा अस्तीत्यर्थः ॥ हेतुं पृच्छति—कुतः इति । हेतुमाह “संघातपरार्थत्वा”दिति । संहन्यन्ते मिश्रीभवन्त्यनेके सुखदुःखमोहादयो यत्राऽसौ संघातः प्रधानादिजडवर्गः तस्य, परार्थत्वात्=परः असंघातः कश्चित्पदार्थः (आत्मा) तस्मै अर्थः प्रयोजनं भोग रूपं तत्त्वादित्यर्थः ॥ अनुमानाकारमाह—अव्यक्तेति । ‘अव्यक्तमहदहङ्कारादयः’—इति पञ्च, आदिना तन्मात्रेन्द्रियभूतानि ग्राह्याणि । परार्थाः—इति साध्यम्,—अव्यक्ताद्यतिरिक्तचेतनार्थाः इत्यर्थः । ‘संघातत्वा’दिति हेतुः,—संहन्यन्ते मिश्रीभवन्त्यनेके सुखादयो यत्रेति संघातः, सुखाद्यात्मकजडवर्गः, तस्य भावस्तत्त्वात् । ‘शयनाऽऽसनाऽभ्यङ्गादिवदि’ति दृष्टान्तः, यथा शयनासनाभ्यङ्गादिकं सुखाद्यात्मकमुपकरणं परार्थं=पुरुषार्थं भवति तथा अव्यक्तादयोऽपि पुरुषार्था भवन्ति इति तदतिरिक्तः—पुरुषः सिद्ध इति ॥ ‘संघातत्वादि’ति हेतोः पञ्चधर्मतादर्शनाय अव्यक्तादीनां संघातत्वमुपपादयति—सुखेति । सुखदुःखमोहात्मकत्वात् अव्यक्तादयः संघाता भवन्तीत्यर्थः ॥ दृष्टान्तवलेनाऽर्थान्तरतामाशङ्कते—स्यादेतदिति । एतत्=अव्यवहितोत्तरोक्तं ‘शयनासनादय इत्यारभ्यः...न त्वसंहतमात्मान’मित्यन्ताऽऽशङ्का स्यात्=उपपद्येतेत्यर्थः ॥ शयनासनादयः=दृष्टान्तत्वेन गृहीताः संघाताः=सुखाद्यात्मकाः शयनादयः, संहतशरीरार्थाः=संहतसुखाद्यात्मकं यच्छरीरं तदर्थं दृष्टाः=दृश्यन्ते, न तु अव्यक्ताद्यतिरिक्तमात्मानं प्रति परार्थाः=स्वभिन्नात्मार्थाः, तस्माद्धेतोः ‘परार्था’—इति साध्यस्थ-‘पर’शब्देन संघातान्तरमेव परपदार्थं गमयेयुः=अनुमापयेयुः । ‘संघाताः=संघातपरार्थाः,—संघातत्वादिति । न त्वसंहतमात्मानम्=न संहतप्रकृत्यादिभिन्नात्मानम्, गमयेयुरित्यर्थः ॥ इत्यारं कामपनेतुं हेत्वन्तरमवतारयति—त्रिगुणादिविपर्ययादिति । ‘त्रिगुणादो’त्यादिना । ‘त्रिगुणमत्रिवेको’त्यादि(११)कारिकयोक्ताऽत्रिवेकित्वादिधर्माणां संग्रहः, त्रिगुणत्वादेर्विपर्ययः=अभावो यत्राऽसौ त्रिगुणादिविपर्ययस्तस्मात्,=अत्रिगुणात्मकत्वादित्यर्थः । तथा च—‘आत्मा,—असंहतः—अत्रिगुणत्वात्, यत्र असंहतं तत्र अत्रिगुणं यथा महदादीत्यनुमितम् । एतदेवाह—अयमभिप्राय इति । संघातस्य संघातान्तरप्रयोजनकत्वे तस्यापि=संघातान्तरस्यापि संघातत्वात् तेनापि=संघातान्तरत्वेनाऽभिमतानापि, संघातान्तरार्थत्वेन=तद्विन्नसंघातप्रयोजनकत्वेन, भवितव्यम्, एवम्—तेन=तद्विन्नसंघातेन अन्यसंघातार्थं, तेन=अन्यसंघातेन च अपरसंघातार्थमित्यनवस्था=अप्रामाणिककरूप-



च व्यवस्थायां सत्यामनवस्था युक्ता, कल्पनागौरवप्रसङ्गात् । न च 'प्रमाणबलेन कल्पनागौरवमपि मृष्यते' इति युक्तम्, संहतत्वस्य पारार्थ्यमात्रेणाऽन्वयात् । दृष्टान्तदृष्टसवधमानुरोधेन त्वनुमानमिच्छतः सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्ग इत्युपपादितं न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः । तस्मादनवस्थाभियाऽस्यासङ्घातत्वमिच्छताऽत्रि-

नाऽसमाप्तिः स्यादित्यर्थः ॥ ननु गत्यन्तराऽभावात् अनवस्थाऽप्यास्येवेत्यत आह-न च व्यवस्था-यामिति । व्यवस्थायां सत्याम्=संघातत्वादि'तिहेतुना 'संहतपारार्थ्यत्व'साधनाऽपेक्षया लाघवात् 'पारार्थ्य'साधने सति परस्य (आत्मनः) परार्थत्वाऽभावात् व्यवस्थायां संभवन्त्यां सत्याम्, अनवस्था=संघातस्य संघातान्तरार्थत्वे तस्यापि पुनस्तेनेत्येवमनवस्था न युक्तेति भावः ॥ ननु कुतोऽनवस्था न युक्ता ? इत्यत आह-कल्पनागौरवप्रसंगादिति । साध्ये शरीरकृतगुरुत्वकल्पनाधीनाऽनवस्था-त्मककल्पनागौरवापत्तेरित्यर्थः । 'पारार्थ्यत्वा'त्मकसाध्याऽपेक्षया यत् 'संघातपारार्थ्यत्वा'त्मकं साध्यं शरीरगुरु तत्कल्पनाधीना या संघातान्तरं तदर्थकः पुनः संघातः तदर्थकश्च पुनः संघात इतिकल्पनाऽनैक्यात्मकगुरुत्वं तत्प्रसंगादिति भावः । प्रकृतेरपि संघातत्वात् तस्याः कृते पुनः संघातान्तरार्थकत्वे पदार्थान्तरकल्पनापत्तिरूपं गौरवमपि स्यादित्यपि बोध्यम् ॥ ननु दृष्टान्ते संघातत्वस्य संघातान्तरार्थत्वेन व्याप्तत्वं दर्शनात् प्रामाणिकं 'संहतपारार्थ्य'साध्यकल्पनमित्यत आह-न च प्रमाणवत्त्वेनेति । प्रमाणवत्त्वेन=दृष्टान्ते शयनासनादौ प्रत्यक्षसिद्धव्याख्यात्मकप्रमाणवत्त्वात्, कल्पनागौरवम्=संघातपारार्थ्यत्वात्मकसाध्यस्य 'पारार्थ्यत्वा'त्मकसाध्याऽपेक्षया यत् गुरुत्वं तदधीना च या संघातान्तरार्थत्वादिकल्पनागौरवं, तदपि मृष्यते=सङ्गते=स्वीक्रियते,-इत्यपि न युक्तमित्यर्थः ॥ अमर्षणे हेतुमाह-संहतत्वस्येति । संहतत्वस्य=संघातत्वस्य, पारार्थ्यमात्रेण साध्येनाऽन्वयात्=व्याप्तिरूपसम्बन्धसत्त्वात्, न तु संघातपारार्थ्येन सह, तत्र संहतत्वस्य व्यर्थत्वेनानवच्छेदकत्वादिति भावः ॥ ननु यथा भूयहेतुः साध्यं बहिः साधयन् तदव्यभिचारि-संयोगप्रकाशबहिर्वादीनविधेयानपि संसर्गत्वप्रकारत्वादिविधया अनुमापयेत्, तथा 'संघातत्वादि'ति हेतुरपि दृष्टान्तगतपारार्थाऽव्यभिचारिसंघातत्वमप्यनुमापयेदित्यत्राह-दृष्टान्तदृष्टेति । दृष्टान्ते दृष्टा ये सर्वे धर्माः=अविधेया "अपि साध्यसमानाधिकरणाः पदार्थाः, तेषामनुरोधेन=तेषामपि विज्ञेयेन सह संग्रहं कृत्वा, अनुमानमिच्छतः=अनुमितिं कर्तुमभिलषतः अनुमातुः, सर्वानुमानोच्छेदप्रसंगः स्यात्=सर्वाणि यानि अनुमानानि तेषामुच्छेदः=अनुत्थानं तदापत्तिः स्यात्, अनुमानप्रमाणमेव विलुप्येतेति भावः । यथा 'पर्वतो बहिमान् धूमादित्यत्र धूनेन महानसे दृष्टान्ते बहिसमानाधिकरणतया दृष्टा ये जल-चूडिका-महानसत्त्वादिधर्माः तेषामनुमितिमिच्छतोऽनुमातुः बाधितमेवानुमानं स्यादित्युच्छेद इति सर्वत्र बोध्यमित्याशयः ॥ इत्युपपादितमिति । इति=पारार्थ्यश्रुत्वाद्यः, संघातत्वात् शयनासनादिवदित्यादिकम् । उपपादितम्=साधितम् ॥ कुत्र ? इत्यत आह-न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामिति । न्यायदर्शनीयतुरीयाध्यायी-याचाऽऽहिकोवैकविंशतिसूत्रांयाम्यवार्तिकतात्पर्यटीकायामित्यर्थः,-तद्यथा-'पारमेश्वरं ज्ञानं नित्यमिति...प्रकृत्य...न च शरीरादिसहभावेन ज्ञानस्य तत्र तत्रोपलब्धेः शरीरादीनां ज्ञानं व्याप्यमिति युक्तम्...इत्यभिधाय...यथाऽनित्यः शब्दः उत्पत्तिमत्त्वात् घटवदिति प्रयुक्ते'...यदि घट-साधर्म्यादुत्पत्तिमत्त्वादित्यतः शब्दो हन्त तस्मादेव रूपादिमता तेन भाव्यं,...इति जाल्युत्तरप्रदर्थं...साधर्म्यमात्रेणाऽप्रयोजकेन प्रत्यवस्थानात्, तस्य च सर्वानुमानेषु सुलभतया सर्वानुमानोच्छेदाऽऽपादकत्वादि"त्याद्यभिहितमिति ॥ अथ-न्यायदर्शनीयतुरीयाध्यायीयाचाहिकभूमिकायामपि वार्तिके-

गुणत्वं विवेकित्वमविषयत्वमसामान्यत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वञ्चाऽऽभ्युपेयम् । त्रिगुणत्वादयो हि धर्माः संहतत्वेन व्याप्ताः । तत्संहतत्वमस्मिन् परे व्यावर्तमानं त्रैगुण्यादि व्यावर्तयति, ब्राह्मणत्वमिव व्यावर्तमानं कठत्वादिकम् । तस्मादाचार्येण 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' इति वदताऽसंहतः परो विवक्षितः, स चाऽऽत्मेति सिद्धम् । इतश्च परः पुरुषोऽस्ति—“अधिष्ठाता” । त्रिगुणात्मकानामधिष्ठीयमानत्वात् । यद्यत्सुखदुःखमोहात्मकं तत्सर्वं परेणाऽधिष्ठीयमानं दृष्टम्, यथा रथादि यन्त्रादिभिः । सुखदुःखमोहात्मकं चेदं बुद्ध्यादि, तस्मादेतदपि परेणाधिष्ठातव्यम् । स च परस्त्रैगु-

“पराधीनधुरादयः संघातत्वाच्चयनासनादिवदिति, अथ मन्यसे सत्त्वं संघाताः पदार्थाः भवन्ति ते तु संघातान्तरार्थाः यथा शयनासनादयः... इत्यारभ्य.. यदि विवक्षितार्थव्यतिरेकेणाऽनुमानस्याऽ- विवक्षितमपि विपर्यस्तैतस्यां कृपायां सर्वगनुमानं व्याहृत्येत... इत्यभिप्राय... यच्चापि भवान् संघातान्तरं प्रतिपद्यते तत्राऽप्यनिवृत्तं संघातत्वमिति तेनाऽपि संघातान्तरार्थं भवितव्यमित्येवमन- वस्था, न चैनां शक्तः कश्चिदतिपादयितुं, इति यत् एषा निवर्तते तत् असंहतमि”-ति श्रम्येन बार्तिककारेण प्रतिपादितमिति चानुसन्धेयम् ॥ “त्रिगुणादिविपर्ययादिति हेतुं योजयितुं स्फुटार्थमाह तस्मादनवस्थाभित्येत्यादि । तस्मात्=परस्याऽसंहतत्वात्=अभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसंगस्य दुर्बलत्वात्, अनवस्थाभित्या अत्य=परस्य ( आत्मनः ) असंघातत्वमिच्छता भवता 'त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मः' इति ( ११ ) कारिकोक्तधर्मवैपरीत्यं अत्रिगुणत्वम्=सुखदुःखमोहानात्मक- त्वम्, अविवेकित्वम्=परस्परसंमिश्रणपुरःसरकार्यकरणशोलं यद्यत् तद्विज्ञत्वम्, अविषयत्वम्=उप- भोगसाधनभिन्नत्वम्, असामान्यत्वम्=भोग्यत्वाऽनधिकरणत्वम्, चेतनत्वम्=बुद्धत्वादनधिकरण- त्वम्, प्रसवधर्मित्वम्=परिणामाऽनधिकरणत्वम्, चेत्यभ्युपेयमित्यर्थः ॥ अभ्युपेयत्वे व्याप्तिरूपं हेतुमाह—त्रिगुणादय इति । यत्र यत्र त्रिगुणत्वादयो धर्माः तत्र तत्र संहतत्वमिति महदादौ व्याप्ता भवन्ति, तत्=अतः संहतत्वं व्यापकम् अरिमन्परे ( आत्मनि ) व्यावर्तमानं=अगच्छत् सत् स्वव्याप्यं त्रैगुण्यादि व्यावर्तयति=निवर्तयति, यथा च त्रियादौ ब्राह्मणत्वं व्यापकं निवर्तमानं सत् कठत्वादि व्याप्यं निवर्तयति तद्वदित्यर्थः ॥ उपसंहरति—तस्मादिति । व्यापकानिवृत्त्या व्याप्य- स्यापि निवृत्तेर्हेतोरित्यर्थः । 'त्रिगुणादिविपर्ययादिति' वदता आचार्येण=कारिकाकारेश्वरकृष्णाचार्येण, परः ( आत्मा ) असंहतः विवक्षितः=वक्तुमभिप्रेतः,—तथा चानुमानम्,—परः=असंहतः,—अत्रिगुणत्वा- दि'ति । स च=पर'शब्दग्राह्यः, आत्मेति सिद्धमित्यर्थः ॥ 'अधिष्ठाना'दिति हेतुमवतारयति—इत- श्चेति । इतश्च=अधिष्ठानादिति हेतोः । परः पुरुषोऽस्ति—इति प्रतिज्ञा । हेतोरर्थमाह—त्रिगुणात्म- कानामिति । सुखदुःखमोहात्मकमहदादीनां येन केनचित् अधिष्ठायमानत्वात्=प्रेर्यमाणत्वादित्यर्थः । अनुमानन्तु—महदादिकं,—केनचित्चेतनेन परेणाऽधिष्ठीयमानं,—सुखाद्यात्मकत्वादिति । अत्र व्याप्तिमाह—यद्यदिति । यद्यत्=बुद्ध्यादिकं सुखाद्यात्मकं तत्=बुद्ध्यादिकं सर्वं जडजातम्, परेण=चेतनेन केनापि, अधिष्ठायमानं=प्रेर्यमाणं दृष्टमिति ॥ प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—यथा रथा- दीति । यन्ता=सूतः—अथ चालकः सारथिस्तदादिभिः ॥ निगमयति—सुखेति । सुखदुःखाद्यात्मकं चेदं=प्रकृतप्रस्तुतं बुद्ध्यादि, तस्मात्=सुखदुःखाद्यात्मकत्वात्, एतदपि=बुद्ध्यादिकमपि, परेण=चेतनेन आत्मना, अधिष्ठातव्यम्=प्रेरितव्यम्, स च=अधिष्ठाता, परः=परत्वेनाऽभिमतः, त्रैगुण्या- दन्यः=त्रिगुणकं यद्यच्छिन्नः आत्मा सिद्ध इति । निर्गुणस्याऽप्यात्मनोऽधिष्ठातृत्वं तु “तत्सन्निधाना- दधिष्ठातृत्वं मणिवदि” ( अ० १ सू० ६६ ) ति सूत्रेण प्रतिपादितं वेदितव्यम्, यथा अथस्कान्तम-



प्यादन्य आत्मेति । इतश्चाऽस्ति पुरुषः—“भोक्तृभावात्” भोक्तृभावेन भोग्ये सुखदुःखे उपलक्षयति, भोग्ये हि सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूलवेदनीये प्रत्यात्मनुभूयेते । तेनाऽनयोः अनुकूलनीयेन प्रतिकूलनीयेन च केनचिदप्यन्येन भवितव्यम् । नचाऽनुकूलनीयाः प्रतिकूलनीया वा बुद्ध्यादयः, तेषां सुखदुःखात्मकत्वेन स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । तस्मात् योऽसुखाद्यात्मा सोऽनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयो वा, स चाऽऽत्मेति अन्ये त्वाहुः—भोग्या दृश्याबुद्ध्यादयः । न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यता युक्ता तेषाम् । तस्मादस्ति द्रष्टा दृश्यबुद्ध्याद्यतिरिक्तः, स चाऽऽत्मेति । भोक्तृभावात्—दृष्टभावात्, दृश्यत्वेन द्रष्टरनुमानादित्यर्थः । दृश्यत्वं च बुद्ध्यादीनां सुखाद्यात्मकतया पृथिव्यादिवदनुमितम् । इतश्चाऽस्ति पुरुष इत्याह—“कैवल्याथ प्रवृत्तेश्च” इति । शास्त्राणां महर्षीणां च दिव्यलोच-

णिलोहं प्रवर्तयति तथा बुद्धितत्त्वमात्मानं प्रवर्तयति सांनिध्यादिति भावः ॥ हेत्वन्तरमवतारयति—इतश्चेति । ‘भोक्तृभावादि’ति हेतोरित्यर्थः ॥ पुरुषोऽस्ति=असंहतः परः पुरुषोऽस्ति ॥ हेतुमुपपादयति—भोक्तृभावेनेति । भोक्तृत्वेन धर्मेण भोग्ये=भोग्यत्वाश्रये सुखदुःखे उपलक्षयति, ‘भोक्तृभावादि’ति हेतुरिति शेषः । हि = निश्चये । भोग्ये सुखदुःखे=साक्षात्कारात्मकभोगविषयं सुखं दुःखं च । प्रत्यात्मम्=प्रतिपुरुषम् । अनुकूलप्रतिकूलवेदनीये=अनुकूलवेदनीयं=‘इदं मेऽनुकूलमिति ( वेदना ) शानविषयं, प्रतिकूलवेदनीयं=‘इदं मे प्रतिकूल’ मिति शानविषयं चेति, अनुभूयेते=अनुव्यवसायविषये भवतः । ‘इदं मेऽनुकूलमिति-वेदनाविषयं सुख’मिति योऽनुव्यवसायात्मकोऽनुभवस्तद्विषयं भवतीति भावः ॥ वस्तुतस्तु—‘अनुकूलप्रतिकूले प्रत्यात्ममनुभूयेते’—इति पाठः साधुः, तथा च—‘इदं मेऽनुकूलं’—‘इदं मे प्रतिकूल’मिति अनुभूयेते=प्रत्यक्षीयेते इत्यर्थः संगत इति ध्येयम् । तेन=तादृशानुभवेन प्रयोजकेन । अनयोः=सुखदुःखयोः, अनुकूलनीयेन=अनुकूलतयाऽनुभवित्रा, प्रतिकूलनीयेन=प्रतिकूलतयाऽनुभवित्रा, केनचिदप्यन्येन=सुखदुःखादिमद्भिन्नेन, भवितव्यमित्यर्थः । ननु बुद्ध्यादय एव अनुकूलतयाऽनुभवितारः स्युरत आह—न चानुकूलनीया इति । अनुकूलतयाऽनुभवितारः, प्रतिकूलनीयाः=प्रतिकूलतयाऽनुभवितारः, बुद्ध्यादयो न भवन्तीत्यर्थः ॥ कुतः ? इत्यत आह—तेषामिति । तेषाम्=बुद्ध्यादीनां सुखाद्यात्मकतया भोग्यकर्मात्मके स्वात्मनि=स्वस्मिन् भोक्तृत्वात्मककर्तृत्वस्य वृत्तित्वे विरोधात्, एकस्मिन् कर्मकर्तृविरोधादिति भावः । तस्मात्=एकस्मिन् कर्मकर्तृविरोधादेव । यः असुखाद्यात्मा=असुखाद्यात्मकः सुखाद्यात्मकभिन्नः, स एव अनुकूलनीयः=अनुकूलत्वप्रकारकानुभववान्, प्रतिकूलनीयः=प्रतिकूलत्वप्रकारकानुभववांश्च भवेत् स एव परः आत्मेति भावः ॥ असंगतस्यात्मनो भोक्तृत्वमसंभवीति मन्यमानानां मतेन व्याख्यानमाह—अन्ये त्वाहुरिति । ‘भोग्या’—इत्यस्यार्थमाह—दृश्या इति ॥ दृश्यत्वं च दृष्टृत्वसापेक्षमित्याह—न च द्रष्टारमन्तरेणेति । द्रष्टारमात्मानं विना तेषां बुद्ध्यादीनां दृश्यता नोपपद्यते । तस्मात्=दृश्यत्वस्य दृष्टृत्वसापेक्षत्वात् । दृश्यबुद्ध्याद्यतिरिक्तः दृष्टा=प्रेक्षकः सिद्ध्यति स च आत्मेति ॥ एतन्मतेन ‘भोक्तृभावा’दित्यस्यार्थमाह—द्रष्टृभावादिति, तदर्थं चाह—दृश्यत्वेन द्रष्टरनुमानादिति । ‘बुद्ध्यादयः’—द्रष्टृपूर्वकाः,—दृश्यत्वात्,—घटादिवदित्यनुमानादित्यर्थः, तथा च यो द्रष्टा स आत्मेत्यर्थः ॥ ननु बुद्ध्यादीनां दृश्यत्वमेव नेत्यत आह—दृश्यत्वं चेति । ‘बुद्ध्यादयो,—दृश्याः,—सुखाद्यात्मकत्वात्,—पृथिव्यादिवदित्यनुमितम् ॥ हेत्वन्तरमवतारयति—इतश्चेति । ‘कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च’ ति हेतोरित्यर्थः । पुरुषोऽस्ति = बुद्ध्याद्यतिरिक्तः पुरुषोऽस्ति ॥ कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्चेति हेतुमुपपादयति—शास्त्राणामिति । अष्टादशविद्यास्थानानां शास्त्राणां, दिव्यलोचनानाम्=अलौ-

नानाम् । कैवल्यमात्यन्तिकदुःखत्रयप्रशमनलक्षणं न बुद्ध्यादीनां सम्भवति । ते हि दुःखाद्यात्मकाः कथं हि स्वभावाद्विभोजयितुं शक्यन्ते । तदतिरिक्तस्य त्वतदात्मनस्ततो वियोगः शक्यसम्पादः । तस्मात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेरागमानां महाधियां चाऽस्ति बुद्ध्या-  
दिव्यतिरिक्त आत्मेति सिद्धम् ॥ १७ ॥

तदेवं पुरुषास्तित्वं प्रतिपाद्य, स किं सर्वशरीरेष्वेकः किमनेकः प्रतिक्षत्रमिति संशये, तस्य प्रतिक्षेत्रमनेकत्वमुपपादयति—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद्युगपत्प्रवृत्तेश्च ।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

किंकटिष्ठिमतां महर्षीणाम् आत्यन्तिकदुःखत्रयप्रशमनलक्षणं,=आत्यन्तिकत्वम्-स्वसमानाधिकरण-  
दुःखप्रागभावाऽसमानकालीनत्वम्, स्वं-अस्मदादिदुःखध्वंसः तत्समानाधिकरणो यो दुःखप्राग-  
भावस्तदसमानकालीनदुःखध्वंसः मुक्तानामिति । अथवा-ऐकान्तिकाऽत्यन्तिकदुःखध्वंसः । स च  
बुद्ध्यादीनां न संभवति ॥ कथं न संभवतीत्यत आह-ते हीति । ते=बुद्ध्यादयः, दुःखाद्यात्मकाः  
कथं=कथारोत्या हि स्वभावात्=स्वेषां भावः धर्मः दुःखाद्यात्मकत्वं तस्मात् वियोजयितुं शक्यन्ते,  
न शक्यन्ते इत्यर्थः । अतस्तदतिरिक्तस्य=बुद्ध्याद्यतिरिक्तस्य अतदात्मनः=सुखदुःखाद्यनात्मकस्य  
कस्यचित्, ततः=दुःखादितः, वियोगः=आत्यन्तिकनिवृत्तिः, शक्यसम्पादः=सम्पादयितुं शक्या,  
औपाधिकधर्मस्य उपाधिवियोगे वियोगसंभवादिति भावः ॥ उपसंहरति-तस्मात्कैवल्यार्थमिति ।  
तस्मात्=दुःखादिवियोगस्य बुद्ध्याद्यतिरिक्तस्यैव शक्यसम्पादनत्वादिति हेतोः । कैवल्यार्थम्=  
आत्यन्तिकदुःखध्वंसात्मकमोक्षार्थम् । आगमानां शास्त्राणां, महाधियां च सर्वैशसमानानां मह-  
र्षीणां च प्रवृत्तेः, अस्ति बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तः आत्मेति सिद्धयतीति बोध्यम् ॥ १७ ॥

“जननमरणकरणानां”मितिकारिकामवतारयति-तदेवमिति । सप्तदशकारिकोक्तप्रकारेण  
पुरुषास्तित्वं=पुरुषस्य प्रकृत्यादिव्यतिरिक्तत्वे सत्यस्तित्वं, प्रतिपाद्य=साधयित्वा, सः=आत्मा, किं=  
प्रश्ने, सर्वशरीरेषु=जरायुजाऽण्डजस्वेदजोद्भिज्जाख्यचतुर्विधशरीरेषु एकः=स्वसजातीयप्रतियोगिक-  
भेदशून्यः ?, किम्=प्रश्नान्तरे, प्रतिक्षेत्रम्=प्रतिशरीरम् शरीरभेदेनेति यावत्, अनेकः=भिन्नः=  
स्वप्रतियोगिवृत्तित्व-स्वानुयोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टाऽसाधारणधर्मवानिति यावत् ।  
स्वं=आत्मभेदः । इति संशये=एकधमिणि विरुद्धकोटिद्वयप्रकारकज्ञाने सति, ‘आत्मा क्षेत्रभेदनि-  
यतस्वसजातीयप्रतियोगिकभेदवान्नवेति’ यावत् । आत्मभेदः स्वप्रतियोगिवृत्तित्व-स्वानुयोगिवृ-  
त्तित्वोभयसम्बन्धवाचिञ्च-स्वविशिष्टात्मत्ववत्त्वसम्बन्धेनात्मनि वर्तते तत्र च स्वप्रतियोगिशरीरा-  
वच्छेद्यबुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन शरीरभेदोऽपि वर्तते,=इति क्षेत्रभेदव्याप्यत्वं आत्मभेदे समु-  
पपन्नमिति । अत्र ‘किमेकः-किमनेकः’ इतिवाक्यद्वयेनाऽपि ‘अनेको (भिन्नो) न वेत्येक एव संश-  
यो बोध्यः, अधिकस्य स्पष्टार्थत्वादिति ध्येयम् ॥ तस्य=आत्मनः, प्रतिक्षेत्रम्=शरीरं शरीरं प्रति,  
अनेकत्वम्=भिन्नत्वम्, उपपादयति=उपपत्त्या अनुमानात्मकयुक्त्या साधयतीत्यर्थः ॥ जननमरण-  
करणानामिति । पुरुषबहुत्वं सिद्धम्, जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्, अयुगपत्प्रवृत्तेश्च, त्रगु-  
ण्यविपर्ययाच्चैवेत्यन्वयः ॥ संक्षिप्तार्थस्तु-पुरुषस्य बहुत्वं=प्रतिशरीरभिन्नत्वम्, सिद्धं भवति ।  
कुतः ? जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्, एकस्य जननं जन्म भवति, तदानीम् अपरस्य मरणं  
भवति, इत्येवं प्रतिशरीरं नियमो दृश्यते अतः, करणानां च चक्षुरादीनां अन्तःकरणानां च प्रति-  
शरीरं भिन्नभिन्नता नियमो दृश्यते अतश्च आत्मा प्रतिशरीरं भिन्न इति । एवम्-सर्वे शरीरिणो



“जनन” इत्यादिना । “पुरुषबहुत्वं सिद्धम्” । कस्मात् ? “जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्” । निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिवेदानाभिः पुरुषस्थाऽभिसम्बन्धो जन्म, न तु पुरुषस्य परिणामः, तस्याऽपरिणामित्वात् । तेषामेव च देहादीनामुपात्तानां परित्यागो मरणम्, न त्वात्मनो विनाशः, तस्य कूटस्थनित्यत्वात् । करणानि बुद्ध्यादीनि त्रयोदश । तेषां जननमरणकरणानां प्रति-

युगपत् न प्रवर्तन्ते क्रियास्तु किन्तु भिन्नप्रवृत्तिमन्तो भवन्ति अतः प्रतिशरीरमात्मा भिन्नः । एवम्-केचित्सात्त्विकाः साधवः केचन राजसाः क्षत्रियाः केचन तामसाः सर्पादय इति त्रिगुणानां असमानरीत्या व्यवस्थानादपि प्रतिशरीरमात्मा भिन्न इति ॥ कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते-  
‘पुरुषबहुत्वं सिद्धमिति । अयं प्रतिशतार्थः । पुरं शरीरं तरिमन् शेते इति पुरुषः, अथवा पुरुष भूरिपु उत्कर्षशालिषु सत्त्वेषु सीदतीति, पुरुषि फलानि सनोतीति वा पुरुषः आत्मा, तस्य बहुत्वम्=शरीरं शरीरं प्रति भिन्नत्वम्, सिद्धम्=अनुमितं भवतीत्यर्थः ॥ हेतुं पृच्छति-कस्मादिति । केन हेतुनेत्यर्थः । हेतुमाह-जननमरणकरणानां प्रतिनियमादिति । अनुमानं यथा-पुरुषः, स्वानुयो गिवृत्तित्वस्वप्रतियोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टाऽसाधारणधर्मवान्, स्वप्रतियोगिताश्रयाऽवच्छेद्यबुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन शरीरभेदवत्त्वात् जन्म-मरणकरणभेदवत्त्वाच्चेति । जननं-जन्म, मरणं-निधनं, करणानि चक्षुरादीनि, तेषां प्रतिशरीरं नियमात्=व्यवस्थादर्शनादित्यर्थः ॥ आत्मनः जनिविकारप्रयुक्तपरिणामित्वाऽयोगात् जन्मपदार्थमाह-निकायेति । निकायः=तत्तदात्माऽदृष्टप्रयोज्यो भाविभोगाऽनुकूलो विलक्षणः समुदायः, परस्परसापेक्षः सम्बन्ध इति यावत्, तद्विशिष्टाभिः=तादृशविलक्षणपरस्परसापेक्षसम्बन्धात्मक-समुदायभावमापन्नैरित्यर्थः । देहः-रोमलोहितमांस-स्नाय्वस्थिमज्जात्मकपटुकोशात्मकं स्थूलभौतिकं शरीरम्, इन्द्रियाणि-श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राण-वाक्पाणिपादपायूपस्थान्यतमानि, केषां चिन्मूनेन्द्रियवत्त्वदर्शनात् । मनोहंकारबुद्धयश्चेत्यन्तःकरणानि । वेदना=प्राप्तिपरिहाराद्यनुकूला बुद्धिवृत्तिश्च । ताभिः=तत्तददृष्टेन भोगानुकूलसमुदायभावं प्रापितैर्देहादिभिः सहेति समुदितार्थः । पुरुषस्य=आत्मनः, अभिसम्बन्धः विलक्षणः संयोगः । समुदितदेहादिविशेषितबुद्ध्या सह प्रतिबिम्बाख्यः यः सम्बन्धः स जन्म इति तु फलितार्थः ॥ न तु चार्वाकादिवत् पुरुषस्य आत्मनः परिणामः=तात्त्विकोऽन्यथाभावो जन्म, कुतः ? तस्य=पुरुषस्य अपरिणामित्वात्=परिणामधर्मरहितत्वादिति । आत्मनो विमुक्तया मृतावस्थायां देहादिभिः सम्बन्धसत्त्वात् तद्वारणाय-निकायविशिष्टाभिरित्युक्तम्, प्रतिक्षणमेव देहेन्द्रियादिभिः सम्बन्धस्य जायमानत्वात्तद्वारणाय-अपूर्वाभिरित्युक्तम्-स्वसजातीयनिकायाऽनुत्तराभिरित्यर्थः, स्वं-एतद्देहाऽऽद्यनिकायः, तत्सजातीयः द्वितीयादिक्षणीयनिकायः तदनुत्तराभिः=तत्पूर्वै-क्षणमात्रावच्छिन्नाभिरित्यर्थः, नवाभिरिति तु फलितार्थः ॥ मरणपदार्थमाह-तेषामेवेति । तेषामेवोपात्तानाम्=आत्मना सह सम्बद्धानां देहेन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिवेदानां परित्यागः=विलक्षणसंयोग-लयः, तत्स्थूलशरीरोपभोगापादकप्रतिबिम्बाधिकारसमाप्तिरिति यावत् । प्रतिबिम्बाधिकाशश्च स्थूलशरीरभेदादनेके इति बोध्यम् । न तु आत्मनः पुरुषस्य विनाशः श्वंसस्तिरोभावो वा मरणमिति । कुतः ? तस्य=आत्मनः, कूटस्थनित्यत्वात्=कूटः लोहकाराऽऽपणस्था लोहानां कूटानां लोहौ च पेरिणो, तद्वत् सर्वदा तिष्ठतीति कूटस्थः=एकरूपतया कालव्यापी, एतादृशनित्यत्वात्=सर्वकालव्याप्येकरूपतया तिरोभावाऽप्रतियोगित्वात् ध्वंसाऽप्रतियोगित्वाद्वेत्यर्थः ॥ करणानि दर्शयति-बुद्ध्यादीनीति । बुद्धयर्हंकारमनइतित्रयमान्तरं करणं श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थान्यतमानि दशविधं

नियमो व्यवस्था । सा खल्वियं सर्वशरीरेष्वेकस्मिन् पुरुषे नोपपद्यते । तदा खल्वे-  
कस्मिन् पुरुषे जायमाने सर्वे जायेरन्, त्रियमाणे च त्रियेरन्, अन्धादौ चैकस्मिन्  
सर्व एव अन्धादयः, विचित्ते चैकस्मिन् सर्व एव विचिताः स्युरित्यव्यवस्था स्यात्,  
प्रतिक्षेत्रं तु पुरुषभेदे भवति व्यवस्था । न च 'एकस्याऽपि पुरुषस्य देहोपपन्नभेदाद्-  
व्यवस्था' इति युक्तम्, पाणिस्तनाद्युपाधिभेदेनाऽपि जन्ममरणादिव्यवस्थाप्रसङ्गात् ।  
न हि पाणौ वृक्षे, जाते वा स्तनादौ महत्यवयवे युवतिर्मृता जाता वा भवतीति ।  
इतश्च प्रतिक्षेत्रं पुरुषभेद इत्याह—“अयुगपत्प्रवृत्तेश्च” इति । प्रवृत्तिः प्रयत्नलक्षणा

वाक्यं करणं, मिलित्वा त्रयोदशेति । 'तेषा'मितिसमस्तमाह—जननमरणकरणानामिति । 'प्रति-  
नियम'शब्दार्थमाह—व्यवस्थेति । प्रतिशरीरं भिन्ना भिन्ना व्यवहारस्थितिरित्यर्थः ॥ सर्वशरीरे-  
ष्वेकत्ववादे तदनुपपत्तिं दर्शयति—सा खल्विति । सर्वशरीरेषु एकास्मिन् पुरुषेऽङ्गीक्रियमाणे  
सति तु सर्वे—व्यवस्था नोपपद्यते, तद्यथा,—तदा—एकात्मस्वीकारे, एकास्मिन् पुरुषे जायमाने—पुरुषस्यैक-  
शरीरेण जन्मनि सति, सर्वे—सर्वशरीराणि जायेरन्—जन्मान्वितानि स्युः । एकास्मिन् पुरुषे च  
त्रियमाणे—पुरुषस्यैकशरीरेण मरणे सति, सर्वशरीराणि त्रियेरन्—मरणान्वितानि स्युः । एकास्मिन्  
पुरुषे चाऽन्धादौ—पुरुषस्यैकशरीरे दर्शनशक्तिरिरोभावे सति, सर्वे—सर्वशरीरेषु दर्शनशक्ति-  
रहितत्वं स्यात् । विचित्ते चैकस्मिन्—पुरुषस्यैकशरीरे वित्तमुपसौ सत्यां, सर्व एव—सर्वशरीराणि  
विचिताः—वित्तमुपसिमन्ति भवेयुः । विचिताः—विगतवृत्तिकं विपर्ययाद्युक्तं वा चित्तं येषाम्ने  
विचिताः । एवं बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिरप्यनुसन्धेयेति ॥ अनेकपुरुषाऽङ्गीकारे व्यवस्थायाह—  
प्रतिक्षेत्रं त्विति । शरीरं शरीरं प्रति पुरुषस्य भिन्नत्वे तु एकस्य जन्मनि सर्वेषामजन्मा-  
त्मिका एकस्य मरणे सति सर्वेषाममरणात्मिका एकस्याऽप्येति सर्वेषामनन्धात्मिका-  
एकस्य विचित्ते सति सर्वेषामविचितात्मिका च व्यवस्था उपपद्येत्यर्थः ॥ अथाऽद्वै-  
तवादिनः 'सर्वेषु शरीरेष्वेकस्यापि पुरुषस्य—आत्मनः देहोपपन्नभेदात्—उपपन्नं उपाधिः,  
देहाद्युपाधिभेदात् जन्ममरणादिव्यवस्था भवेदिति मतमाशङ्क्य निषेधति—नचैकस्यापीति । तन्मतं  
न युक्तमित्यन्वयः ॥ उपाधिभेदेन व्यवस्थाया युक्तत्वे आपत्तिं दर्शयति—पाणीति । पाणिः—हस्तः,  
स्तनः—कुचः । एकस्मिन्नपि शरीरे हस्तस्तनपादाद्युपाधिभेदेनाऽपि आत्मन एकास्मिन्नेव शरीरे हस्ते  
वृक्षे मृते युवतिर्मृता भवेत् रतने च जायमाने वर्धमाने जनिता भवेदित्यपि लोकेऽसम्भ-  
ताऽपि व्यवस्था समापद्येत्यर्थः ॥ ननु अवयवनाशात् अवयविनाश इष्ट इत्याशङ्क्य  
तत्र लोकविद्वद्भां दर्शयन् परिहरति—न हीति । हि—निश्चये । पाणौ—हस्ते वृक्षे—भगने सति,  
युवतिर्न मृता भवति । स्तनादौ जाते—उदभूते सति, अवयवे च—पादादौ महति—स्थूले सति, न  
युवतिर्जाता वा भवतीति लोकसिद्धमित्यर्थः । अतः उपाधिभेदान्न भेदः किन्त्वात्मभेदाद्भेद इति  
भावः ॥ हेतुन्तरमवतारयति—इतश्च प्रतिक्षेत्रमिति । इतश्च—अयुगपत्प्रवृत्तेश्चेतिहेतुना । तथा  
चानुमानम्—'प्रत्येकं शरीराणि,—विभिन्नपुरुषाधिष्ठेयानि, अयुगपत्प्रवृत्तिमत्त्वादिति । बुद्धिधर्मस्यापि  
प्रवृत्त्याः पुरुषधर्मत्वमुपचारेण दर्शयति—प्रवृत्तिश्चेति । प्रयत्नलक्षणा—इच्छाजन्मगुणात्मिका  
यद्यप्यन्तःकरणं बुद्धिस्तद्वर्तिनी वास्तविकी, तथापि पुरुषे उपचर्यते—उपचारेण पुरुषीयतया व्यवहो-  
यते, अतद्व्यपि नैमित्तिकस्तद्व्यवहारः उपचारः, बुद्ध्या सह यः स्वस्वामिभावसम्बन्धः स एव  
निमित्तोऽत्र प्रवृत्तौ पुरुषीयत्वव्यवहारे इति भावः ॥ एकात्मवादे अयुगपत्प्रवृत्त्यापत्तिं दर्शयति—  
तथा चेति । तस्मिन्—एकात्मविशिष्टे, एकत्र—एकास्मिन् शरीरे, प्रयत्नमाने सति—चलमाने सति—



यद्यप्यन्तःकरणवर्तिनी, तथाऽपि पुरुष उपचर्यते । तथा च तस्मिन्नेकत्र शरीरे प्रयतमाने, स एव सर्वशरीरेष्वेक इति सर्वत्र प्रयतेत, ततश्च सर्वाण्येव शरीराणि युगपच्छालयेत् । नानात्वे तु नाऽयं दोष इति । इतश्च पुरुषभेद इत्याह—“त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव” इति । एवकारो भिन्नक्रमः ‘सिद्धम्’ इत्यस्याऽनन्तरं द्रष्टव्यः । सिद्धमेव नाऽसिद्धम् । त्रयो गुणास्त्रैगुण्यं, तस्य विपर्ययः—अन्यथात्वम् । केचित्खलु सत्त्वनिकायाः सत्त्वबहुलाः, यथोर्ध्वस्रोतसः । केचिद्वज्रोबहुलाः, यथा मनुष्याः केचित्तमोबहुलाः । यथा तिर्यग्योनयः । सोऽयमीदृशस्त्रैगुण्यविपर्ययः—अन्यथाभावस्तेषु तेषु सत्त्वनिकायेषु न भवेत्, यद्येकः पुरुषः स्यात्, पुरुषभेदे त्वयमदोष इति ॥ १८ ॥

एवं पुरुषबहुत्वं प्रसाध्य विवेकज्ञानोपयोगितया तस्य धर्मानाह—

स एव—एकात्मवादाभिमतः स्वसजातीयभेदशून्यो यः स एव, सर्वशरीरेषु एको वर्ततेऽतः सर्वत्र—सर्वेषु शरीरेषु प्रयतेत—चालनं कुर्यात्,—ततश्च—युगपच्छालनाच्च सर्वाणि शरीराणि युगपत्—एककालावच्छेदेन, चालयेत्—चलनक्रियावन्ति कुर्यात् इत्यापत्तिः । नानात्वे तु—प्रतिशरीरं पुरुषस्य भिन्नत्वे तु, नायं दोषः—युगपच्छालनापत्तिरूपो दोषो नास्तीत्यर्थः ॥ हेत्वन्तरमवतारयति—इतश्चेति । त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैवेति हेतोः प्रतिशरीरं पुरुषभेद इत्याहेत्यर्थः । सत्त्वस्य साधुषु रजसः राजसु तमसश्च राक्षसादिषु विपर्ययः—विशेषेण परितः—प्रायश्चस्तत्तज्ज्ञात्ववच्छेदेन प्राधान्येन अयनं स्थितिस्तस्मादपि प्रतिशरीरं पुरुषभेद इति हेत्यर्थः । एवकारः भिन्नक्रमः—‘त्रैगुण्यविपर्ययादि’ तिपदभिन्नं यत् ‘सिद्ध’मिति पदं तादृशेन भिन्नेनापि पदेन सह क्रमते—क्रममन्वयं लभते इति भिन्नक्रमः, । ‘सिद्ध’मिति यत्कारिकायां पदं तस्याऽनन्तरं अन्वयाय, दृष्टव्यः—नेतव्यः, तथा च—सिद्धमेव—पुरुषबहुत्वं सिद्धमिति निश्चयवृत्त्यर्थः ॥ न च असिद्धस्यापि अवकाशः—इत्याह—नाऽसिद्धमिति । संशये हि सिद्धत्व-सिद्धत्वाऽभावयोः स्थानं भवेत्, निश्चये तु सिद्धत्वस्यैव स्थानात् असिद्धत्वं स्थिति न लभते इति एवकारेण दर्शितमिति भावः ॥ हेतुं स्पष्टयति—त्रय-इति । त्रैगुण्यमिति स्वायंऽणु,—सत्त्वरजस्तमांसोत्यर्थः । तस्य—सत्त्वरजस्तमस्त्वावच्छिन्नान्यतमस्य । विपर्ययः—अन्यथात्वम्—प्रत्येकं प्राधान्येन स्थितिरित्यर्थः ॥ अन्यथात्वं धृत्यति—केचिदिति । केचन सत्त्वनिकायाः—सत्त्वानां प्राणिनां निकायाः समूहाः, यथा ऊर्ध्वस्रोतसः—ऊर्ध्वं—ब्रह्मरन्ध्रेण स्रोतः प्रवाहो गमनं येषान्ते, ऊर्ध्वं आत्मानं प्रति स्रोतः वृत्तिप्रवाहो येषान्ते इति वा, ते ऊर्ध्वस्रोतसः देवादयः सत्पुरुषाश्च । सत्त्वबहुलाः—सत्त्वं बहुतया लान्ति गृह्णन्ति, सत्त्वप्रधाना इति यावत् । केचित्—प्राणिसमूहाः, यथा मनुष्याः रजोबहुलाः—रजोगुणप्रधानाः । केचित् प्राणिसमूहाः यथा तिर्यग्योनयः—पशुपक्षिसर्पादयः तमोबहुलाः—तमःप्रधानाः वर्तन्ते—तदुक्तम्—‘ऊर्ध्वं सत्त्वविशाल-स्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः । मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः’ (५४ कारिकायां) । सर्वशरीरेष्वेकात्मपक्षेऽयं त्रैगुण्यविपर्ययो न संभवेदिति दर्शयति—सोऽयमित्यादिना स्यादित्यन्तेन । सर्वशरीरेषु यदि एकः पुरुषः स्यात्, तदा सोऽयमीदृशः—दर्शितप्रकारः एषः विभिन्नव्यवस्थात्मकः, त्रैगुण्यस्य विपर्ययः—अन्यथाभावः—प्रत्येकस्य प्राधान्येन व्यवस्थानं तेषु तेषु—तत्तज्ज्ञातोयेषु सत्त्वनिकायेषु—प्राणिसमूहेषु, न भवेत्—नोपपद्येत । पुरुषभेदे तु—प्रतिशरीरं पुरुषभेदे तु अयम्—अव्यवस्थानात्मकः दोषो नास्तीति बोध्यम् ॥ तथा चानुमानम्—पुरुषः प्रतिशरीरं भिन्नः, एकदैव प्रत्येकप्रधानगुणान्यतमाधिकरणतयोपचर्यमाणत्वादिति ॥ १८ ॥

‘तस्माच्च विपर्ययादि’तिकारिकामवतारयति—एवं पुरुषबहुत्वमिति । प्रतिशरीरं पुरुषभेदं

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

“तस्माच्च” इति । ‘च’ शब्दः पुरुषस्य बहुत्वेन सह धर्मान्तराणि समुच्चिनोति । ‘विपर्यासादस्मात्’ इत्युक्ते ‘त्रैगुण्यविपर्ययात्’ इत्यनन्तरोक्तं सम्बध्यते, अतस्तन्निरासाय ‘तस्मात्’ इत्युक्तम् । अनन्तरोक्तं हि सन्निधानादिदमो विषयः, विप्रकृष्टं च तदः इति विप्रकृष्टं त्रिगुणमविवेकीत्यादि सम्बध्यते । तस्माच्च त्रिगुणत्वादेः यो विपर्यासः

प्रसाध्य=अनुमाय, अनन्तरं विवेकज्ञानस्य=‘पुरुषः,—प्रकृत्यादिभिन्नः’—इत्याकारकानुमित्यात्मकभेदप्रकारकज्ञानस्य, उपयोगितया=‘साक्षित्वा’दित्येवं हेतुविधयोपयोगित्वेन, तस्य=पुरुषस्य, धर्मान्=साक्षित्वादीनाहेत्यर्थः ॥ तस्मात् विपर्यासाच्च अस्य पुरुषस्य साक्षित्वं कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वम् अकर्तृत्वं च सिद्धमित्यन्वयः । संक्षिप्तार्थस्तु—तस्मात्=त्रिगुणमविवेकि विषयः (११) इति कारिकाोक्तधर्मेभ्यः विपर्ययात् अत्रिगुणत्वात्, विवेकित्वात्, अविषयत्वात्, असाधारणत्वात्, चेतनत्वात्, अप्रसवधर्मित्वाच्चेत्यर्थः । तत्र चेतनत्वेन धर्मेणाऽस्य पुरुषस्य साक्षित्वं सिद्धं भवति, अविषयत्वेन द्रष्टृत्वं, अत्रैगुण्येन कैवल्यं माध्यस्थ्यं च, विवेकित्वेनाऽप्रसवधर्मित्वेन च अकर्तृत्वं सिद्धमिति ॥ कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते—तस्माच्चेतीति । मूलस्य ‘तस्माद्विपर्यासा’च्चेत्यन्वयः । त्रैगुण्यविपर्ययादित्यर्थः । ‘च’ शब्दः=‘तस्माच्चेति चकारः । पुरुषस्य बहुत्वेन=‘जननमरणकरणानां (१८) भित्ति कारिकाया साधितो यः बहुत्वाख्यो धर्मः अनेकत्वं प्रतिशरीरभेदः, तेन सह धर्मान्तराणि—विवेकित्वाऽविषयत्वाऽसाधारणत्वचेतनत्वाऽप्रसवधर्मित्वानि समुच्चिनोतीत्यर्थः ॥ अत्र मूले ‘तस्माच्चेति पदेन पूर्वकारिकोक्तं ‘त्रैगुण्यविपर्ययाच्चेति न परामृष्टव्यम्, किन्तु ‘त्रिगुणमविवेकि विषयः’ (११) इति कारिकाोक्तं त्रिगुणं चकारेण च अविवेकित्वादिकमिति प्रदर्शनार्थमाह—विपर्यासादस्मादि’त्युक्ते इति । ‘तस्माच्च विपर्यासादि’त्यत्र ‘तस्मा’दित्यनेन यदि अव्यवहितपूर्वकारिकोक्तं ‘त्रैगुण्यविपर्ययाच्चेति ग्रहणे मूलकारस्य तात्पर्यं भवेत् तर्हि ‘तस्माच्च विपर्यासा’दित्यनभिधाय ‘विपर्यासादस्मादि’त्युच्येत, एवमुच्चारणे च सति ‘त्रैगुण्यविपर्ययाच्चेति यत् अनन्तरोक्तम्=अव्यवहितपूर्वकारिकोक्तं तदेव सम्बध्यते=अन्वयं लभेत, तथा च सति अत्रैगुण्यात् कैवल्यं माध्यस्थ्यं च सिद्धयेत् न तु साक्षित्वद्रष्टृत्वादिकमिति, अतः=साक्षित्वावसिद्धिः स्यादिति कारणात्, तन्निरासाय=अव्यवहितपूर्वकारिकोक्तं ‘त्रैगुण्यविपर्ययाच्चेति पदेन सहाऽन्वयनिरासाय, ‘त्रिगुणमविवेकी’ (११) तिकारिकाोक्तत्रिगुणत्वादिपरामर्शाय ‘तस्माच्चे’त्युक्तमिति भावः । ननु ‘अस्मादि’त्यनेन सन्निकृष्टोक्तमेव सम्बध्यते ‘तस्मादि’त्यनेन च परोक्षमपि सम्बध्यतेति कथं गम्यते—इत्यत आह—अनन्तरोक्तमिति । “इदमस्तु सन्निकृष्टे, समीपतरवर्तित्येतदो रूपम् । अदस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयादि”त्यभियुक्तोक्तः, अनन्तरोक्तं वस्तु सन्निधानात्=सन्निकृष्टत्वात्, इदमः=इदंशब्दजन्योपस्थितेः, विषयः, विप्रकृष्टं च=व्यवहितं परोक्षमपि, तदः=‘तत्’शब्दन्योपस्थितेर्विषयः । इत्यतो विप्रकृष्टं ‘त्रिगुणमविवेकी’ (११) त्यायां दूरस्थितमपि ‘त्रिगुणत्वादि’ ‘विपर्यासा’दिति शब्देन सह सम्बध्यतेत्यर्थः ॥ फलितमन्वयप्रदर्शयति—तस्माच्चेति । ‘तस्माच्चेति पदेन परामृष्टमाह—त्रिगुणत्वादेरिति । पञ्चम्यन्तमिदम् । षष्ठ्यर्थे पञ्चमी । त्रिगुणत्वस्य विपर्यासः—अभावः—अत्रिगुणत्वम्, ‘चाऽर्थेन आदिना ग्राह्यस्य अविवेकित्वस्य विपर्यासो विवेकित्वम्, विषयत्वस्य विपर्यासः अविषयित्वम्, सामान्यस्य विषयोसार्थः—असाधारणत्वम्, अचेतनस्य विपर्यासः—



स पुरुषस्याऽत्रिगुणत्वं, विवेकित्वं, अविषयत्वं, असाधारणत्वं, चेतनत्वं, अप्रसवध-  
मित्वञ्च । तत्र चेतनत्वेनाऽविषयत्वेन च साक्षित्वद्रष्टृत्वे दर्शिते । चेतनो हि द्रष्टा  
भवति, नाऽचेतनः । साक्षी च दर्शितविषयो भवति, यस्मै प्रदर्श्यते विषयः स  
साक्षी । यथा हि लोकेऽर्थिप्रत्यर्थिनौ विवादविषयं साक्षिणे दर्शयतः एवं प्रकृतिरपि  
स्वचरितं विषयं पुरुषाय दर्शयतीति पुरुषः साक्षी । न चाऽचेतनो विषयो वा शक्यो  
विषयं दर्शयितुम्, इति चैतन्यादविषयत्वाच्च भवति साक्षी । अत एव द्रष्टाऽपि भवति ।  
अत्रैगुण्याच्चाऽस्य कैवल्यम् । आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम् । तच्च तस्य स्वा-

चेतनत्वम्, प्रसवधमित्वस्य विपर्यासः अप्रसवधमित्वमित्यर्थः ॥ तन्मध्यतो येन धर्मेण यस्य धर्मस्य  
सिद्धिस्तद्दर्शयति-तन्नेति । तेष्वत्रिगुणत्वादिषु चेतनत्वेन द्रष्टृत्वं दर्शितम् अविषयत्वेन च पुरुष-  
स्य साक्षित्वं दर्शितमित्यर्थः ॥ तदेवोपपादयति-चेतनो हीति । यदचेतनः स एव द्रष्टा = दृग्शक्ति-  
मान् भवति, न तु अचेतनः = जडः । यश्च दर्शितविषयः = दर्शितो विषयो यस्मै सः दर्शितविषयः  
पुरुषः, स एव भवति साक्षी = 'साक्षात्सम्बन्धात्साक्षित्व' (अ, १, सू. १६१) मिति सांख्यसूत्रात् ॥  
तदेव विवृणोति-यस्मै-इति । यस्मै = पुरुषाय, प्रकृतिः (कर्म) विषयः = स्वचरितं, प्रदर्श्यते = भो-  
गार्थं दीयते, सः पुरुषः साक्षीति ॥ एतदेव द्रष्टृत्वेन स्पष्टयति-यथा हीति । अर्थिप्रत्यर्थिनौ = अर्थ्यते  
इत्यर्थः साध्य इष्टविषयः सोऽस्याऽस्तीति अर्था = ज्ञादी, तत्प्रतिपक्षः प्रत्यर्थी = प्रतिवादी, तौ, विवाद-  
विषयम् = विवादास्पदं वस्तु, विजिगिषुकथाविषयं साध्यपदार्थं वा, साक्षिणे = साक्षाद्द्रष्ट्रे मध्यस्थाय,  
दर्शयतः = निवेदयतः इति, एवं प्रकृतिरपि = बुद्धिरूपेण परिणता प्रकृतिरपि, स्वचरितं = स्वचेष्टितं  
विषयजातं पुरुषाय = सन्नहितपुरुषप्रतिविम्बाय, दर्शयति = भोगार्थं समर्पयति, अतः पुरुषः साक्षी =  
समर्पितगृहीतेति ॥ महदादौ साक्षित्वाऽसंभवमाह-नेचाऽचेतनइति । अचेतनः = जडवर्गो, विषयः =  
भोग्यश्च, महदादिः विषयः = स्वचरितं दर्शयितुं = स्वदर्शनविषयतां नेतुं न शक्यः = नाऽधिकारवान्  
भवति, किन्तु यश्चेतनोऽविषयश्च स एव विषयं स्वोयदर्शनविषयतां नेतुं अधिकारवान्, अतश्चेत-  
न्यात् = स्वतः प्रकाशत्वात्, अविषयत्वात् = भोग्यत्वानधिकरणत्वाच्च भवति पुरुषः साक्षी, यत्र च  
साक्षित्वं तत्र द्रष्टृत्वमिति व्याप्तेः अतएव = साक्षित्वादेव द्रष्टापि भवति पुरुष इत्यर्थः, चिन्मात्रः पुरुषः  
बुद्धिवृत्तिमनुपदयन् सन् द्रष्टा भवतीति भावः, तथा च- 'पुरुषः-साक्षी, चेतनत्वात्, पुरुषः-द्रष्टा-  
अविषयत्वादित्यनुमितमिति बोध्यम् । धर्मान्तरं साधयति-अत्रैगुण्याच्चेति । अस्य = पुरुषस्य ।  
तथा च 'पुरुषः-कैवल्ययोगी, -अत्रिगुणत्वादित्यनुमितम् ॥ कैवल्यं कोऽदृशमित्याकांक्षायामाह-आत्य-  
न्तिकइति । आत्यन्तिकत्वं-स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसमानकालीनत्वम्, एतच्च 'दुःख-  
त्रयाऽभावः-दुःखत्रयतिरोभावात्मिका निवृत्तिः, इत्यस्य विशेषणम्, प्रागभावः-अनादिर्भावः ध्वंसः  
तिरोभावः । तथा च 'स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसमानकालीनदुःखध्वंसः' कैवल्यमिति समु-  
दितोऽर्थः । स्वपदेन मुक्तपुरुषीयदुःखध्वंसोपादाने तदधिकरणवृत्तिदुःखप्रागभावस्यैवाऽप्रसिद्धयाऽसं-  
भवः स्यात्, अतः स्वं-अस्मदादिदुःखध्वंसः तत्समानाधिकरणो यो दुःखप्रागभावः तत्समानकालीनो  
यो यः (स्वपदग्राह्यः) दुःखध्वंसस्तदन्यदुःखध्वंसो मोक्षइति तदर्थः ॥ दुःखध्वंसमात्रस्य मुक्तिर्वेऽस्मदा-  
दीनामपि मुक्तापत्तिः स्यादतः आत्यन्तिकत्वं-कालीनान्तार्थकं स्वपदार्थविशेषणमुक्तम्, मुक्त्याऽभक-  
दुःखध्वंसस्याऽन्यदीयदुःखप्रागभावसमानकालीनत्वात् व्यासादीनाममुक्तापत्तिवारणाय-स्वसमाना-  
धिकरणेति प्रागभावविशेषणम्, 'दुःख'-पदानुपादाने मुक्तामवष्टसंयोगध्वंसस्यापि स्वसमानाधि-  
करणदुःखप्रागभावसमानकालीनाऽन्यध्वंसत्वान्मोक्षस्वरूपत्वप्राप्त्या तादृशध्वंसवतो वटदेरपि मोक्षा-

भाविकादेवाऽत्रैगुण्यात्-सुखदुःखमोहरहितत्वात्सिद्धम् । अत एवाऽत्रैगुण्यान्माध्य-  
स्थम् । सुखी हि सुखेन तृप्यन् दुःखी हि दुःखं द्विपन् मध्यस्थो न भवति । तदुभय-  
रहितस्तु मध्यस्थ इत्युदासीन इति चाऽऽख्यायते । विवेकित्वादप्रसवधर्मित्वाच्चाऽक-  
र्तैति सिद्धम् ॥ १९ ॥

स्यादेतत्-प्रमाणेन कर्तव्यमर्थमवगम्य 'चेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमि' इति कृति-  
चैतन्ययोः सामानाधिकरण्यमनुभवसिद्धम्, तदेतस्मिन्मते नाऽवकल्पते, चेतनस्या-  
ऽकर्तृत्वात्, कर्तृश्चाऽचैतन्यात्, इत्यत आह-

पत्तिवारणाय दुःखध्वंसेत्युक्तम् । अनुगमस्तु- 'दुःखध्वंसविशिष्टान्यदुःखध्वंसो मुक्तिः, वैशिष्ट्यं च-  
स्वतादात्म्य-स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावकालीनत्वोभयसम्बन्धेन, स्वं-अस्मादादिदुःखध्वंसः,  
निरुक्तोभयसम्बन्धेन तद्विशिष्टः स एव, तदग्न्यः आत्यन्तिकदुःखध्वंस इति ॥ दुःखत्रयाऽभावः=  
आध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकेति त्रिविधस्य दुःखस्य निवृत्तिरित्यर्थः । तच्च=कैवल्यं च, तस्य=  
पुरुषस्य, स्वाभाविकादेव=स्वरूपतः स्वभावसिद्धादेव, अत्रैगुण्यात्=सुखदुःखमोहात्मकगुणत्रयशून्य-  
त्वादेव सिद्धम्=अनुमितमिति । अत एव=यतः स्वाभाविकम् अत्रैगुण्यमत एव अत्रैगुण्यात् धर्मान्त-  
रमाध्यस्थं तादृश्यमपि सिद्धयतीत्यर्थः ॥ यत्र त्रैगुण्यं तत्र न माध्यस्थ्यमिति दर्शयति-सुखी हीति ।  
सुखवान् सुखेन तृप्यन्=तृप्तिं गच्छन् सन् सुखग्रहणपक्षपाती भवति, दुःखवैश्वदुःखेन द्विपन्=  
दुःखसाधनादौ दुःखे च द्वेपं कुर्वन् सन् दुःखदूरीकरणपक्षपाती भवति, अतो न मध्यस्थो भवति,  
सुखदुःखरहितस्तु सुखानुशयिरागरहितत्वात् दुःखानुशयिद्वेषरहितत्वाच्च मध्यस्थः=तदस्थः इत्या-  
ख्यायते । मध्यस्थस्यापि माध्यस्थ्यं=विवदमानयोः समानपक्षपातित्वं रागप्रयुक्तं संभवति, तच्च ना-  
ऽऽत्मनि संभवति रागाऽभावात्ततः 'मध्यस्थ'पर्यायमाह-उदासीन इति । उपेक्षक इत्यर्थः ॥ एतच्च  
'दृष्ट्वा मयेत्युपेक्षक एक' (६६) इत्यनेन दर्शयिष्यते ॥ विवेकित्वेन अप्रसवधर्मित्वेन च पुरुषस्य  
अकर्तृत्वं साधयति-विवेकित्वादिति । सम्भूयकारित्वशून्यत्वात्, अप्रसवधर्मित्वात्=परिणामशून्य-  
त्वाच्च, अकर्तृत्वं=अकारणत्वं=कृतिशून्यत्वमिति यावत् । यत्र सम्भूयकारित्वं परिणामशीलत्वं च  
तत्रैव परिणामानुकूलकृतिमत्तया स्वसमानाधिकरणशीला कारणता भवति, आत्मनि तु सम्भूयका-  
रित्वपरिणामयोरभावात् कारणतैव नास्तीति भावः ॥ औपाधिकं कर्तृत्वादिकं तु 'कर्तव्यं भवत्युदा-  
सीन' (२०) इत्यत्र वक्ष्यते । तथा च- 'पुरुषः-अकर्ता-विवेकित्वात् अप्रसवधर्मित्वाच्च' ति फलितम् ॥ १९ ॥

'तस्मात्तत्संयोगादित्कारिकाऽवताराय शंक्ते-स्यादेतदिति । 'प्रमाणेनेत्यादिनाऽऽशं-  
क्यमानं युक्तं भवेदित्यर्थः । आशंकां दर्शयति-प्रमाणेनेत्यादिना । प्रमाणेन प्रत्यक्षेणानुमानेन  
शब्देन वा, कर्तव्यं=स्वेन कर्तुं योग्यम्, अर्थ-घटादिकम्, अवगम्य-निश्चित्य-घटो मत्कृतिसाध्य'  
इत्यध्यवस्य "अहं चेतनः चिकीर्षन् = कर्तुमिच्छन् सन् करोमि"-इति=श्लोकारकाणुभवे, कृतिः-क-  
रोमी'त्यनेन बोध्यो व्यापारानुकूलप्रयत्नः, चैतन्यं=चेतनत्वं, तयोः-सामानाधिकरण्यं,=समानम् एकम्  
अधिकरणं ययोस्ते सामानाधिकरणे तयोर्भावः सामानाधिकरण्यं=एकाधिकरणवृत्तित्वमितियावत्,  
अनुभवसिद्धम्='अहं चेतनः चिकीर्षन् करोमी'ति योऽनुभवस्तेनैव सिद्धं भवति । तत्र 'अवगम्ये'  
त्यनेन ज्ञानं दर्शितम्, 'चिकीर्षन्'-इत्यनेन कृतिसाध्यत्वप्रकारिकेच्छा दर्शिता, 'करोमी'-त्यनेन  
व्यापारानुकूलः प्रयत्नः=कृतिः दर्शिता, 'चेतनोह'मित्यनेन ज्ञानादीनामेकाधिकरणं दर्शितं, तथा  
च चेतनत्व-ज्ञानेच्छाकृतीनां सामानाधिकरणत्वात् आत्मन्येव ज्ञानादिकं सिद्धमिति भावः ॥ तच्च  
सांख्यमतेऽनुपपद्यते इति दर्शयति-तदेतस्मिन्मते नावकल्पते-इति । तदु=चेतनत्वेन सह



तस्मात्तत्संयोगाद्चेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।

गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

“तस्मात्” इति । यतश्चेतन्यकर्तृत्वे भिन्नाधिकरणे युक्तिः सिद्धेस्तः, तस्मात् भ्रान्तिरियमित्यर्थः । भ्रान्तिबीजं ‘तत्संयोगः=तत्सन्निधानम् । ‘लिङ्गम्’-महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं वक्ष्यति । अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ २० ॥

ज्ञानादीनां सामानाधिकरण्यम्, एतस्मिन्मते=‘बुद्धिः कर्त्री ज्ञानादिमती पुरुषस्त्वकर्ता’-इत्येतत्सामान्यमते, नाऽवकल्पते=न युज्यते ॥ अयुक्तत्वे हेतुमाह-चेतनस्येति । चेतनत्वाधिकरणस्य पुरुषस्य अकर्तृत्वात्=कृत्यनधिकरणत्वात्, कर्तृश्च=कृतिमत्या बुद्धेश्च अचैतन्यात्=चेतनत्वाऽभावात्, कृतिचेतनत्वयोर्व्यधिकरणत्वादिति भावः । इत्यत आह-इत्यांकां समाधातुमाह-तस्मात्तत्संयोगादित्यादीति । तस्मात् तत्संयोगात् अचेतनं लिङ्गं चेतनावदिव, तथा गुणकर्तृत्वेऽपि उदासीनः कर्तेव भवतीत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थस्तु-तस्मात्=यतः त्रिगुणत्वेन परिणामित्वेन च बुद्धेः कर्तृत्वं-कृतिमत्त्वं सिद्धं, अत्रिगुणत्वेन अपरिणामित्वेन चात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टत्वादिकं च युक्तिभिः सिद्धम् अस्माद्धेतोरित्यर्थः । तत्संयोगात्=तस्य आत्मनः संयोगात्=सन्निधानात्, तत्प्रतिबिम्बवत्त्वादिति यावत् । अचेतनम्=जडमपि, चेतनत्वविधूरमपि । लिङ्गम्=लिङ्गशरीरं, बुद्ध्यादिकमिति यावत्, तन्मात्रेन्द्रियमनोऽहंकाराग्नितुष्टिरिति तु भावः । चेतनावदिव=चेतनत्ववतीव भवति । तथा च चेतनत्वाऽभाववति-‘अहं’ पदार्थेलिङ्गे चेतनत्वप्रकारकं ‘चेतनोऽहं’मितिज्ञानं भ्रमः इत्यर्थः ॥ तथा=तद्वत्, तत्संयोगात्-आत्मनः संयोगात् ! गुणकर्तृत्वेऽपि=सत्त्वरजस्तमसां गुणानां कर्तृत्वधर्मवत्त्वे कृतिमत्त्वे स्वाभाविकेऽपि । उदासीनः=उपेक्षकः कृतिरहितः आत्मा । कर्ता इव=कृतिमानिव भवति । तथा च-कृत्यभाववति चेतने कृतिप्रकारकं ‘चेतनः करोमी’तिज्ञानं भ्रम इत्यर्थः ॥ ‘चेतनोऽहं करोमी’तिप्रतीतिं ‘चेतनत्वांश-‘अहंकरोमी’त्यंशयोरेकत्र भ्रमोऽवश्यमङ्गीकार्यः, चेतनत्वाधिकरणे पुरुषे अहंकृत्योर्भ्रमः, अथवा अहं-कृतिमति लिङ्गे चेतनत्वस्य भ्रम इति भावः ॥ ‘मूलस्थ-‘तस्मादि’ त्यनेन अपेक्षितमर्थं पूरयति-तत्त्वकौमुद्यां-यतश्चेतन्येति । चैतन्यं=चेतनत्वमात्मधर्मः, कर्तृत्वं च कृतिः सा च बुद्धिधर्मः ते, भिन्नाऽधिकरणे=भिन्नम् अधिकरणं ययोस्ते । युक्तिः=“प्रवर्तते त्रिगुणतः”(१६)कारिकादश्रितयुक्त्या प्रवृत्तेर्बुद्धिधर्मत्वं, “तस्माच्च विपर्यासा”दि(१६) त्यनेन च पुरुषस्य चेतनस्याकर्तृत्वं, इति । सिद्धे=साधिते स्तः=भवतः । तस्मात्=भिन्नाधिकरणतया साधितत्वादिति हेतोः । इयम्=‘चेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमी’तिसामानाधिकरण्यप्रतीतिः । भ्रान्तिः=अथार्थं ज्ञानम्, बुद्धिपुरुषयोरेकात्मतेव ज्ञानम् अस्मिताख्यवलेक्षण्यं विकल्पवृत्तिरूपमिति भावः ॥ भ्रान्ती निमित्तमाह-भ्रान्तिबीजं तत्संयोग इति । तस्य चेतनस्य यो बुद्ध्या सह संयोगः-इत्यर्थः ॥ ननु-असंगस्य चेतनस्य कथं संयोगः इत्यत्राह-तत्सन्निधानमिति । तस्य चेतनस्य प्रतिबिम्बवत्त्वमित्यर्थः । तथा च कृतिचेतनत्वयोर्धर्मयोर्भिन्नाधिकरणकत्वेऽपि धर्मिणोर्बुद्धिपुरुषयोर्विवेकाऽग्रहात् तद्वर्गयोः कृतिचेतनत्वयोरपि सामानाधिकरण्यं भ्रान्त्या भातीति भावः ॥ ‘लिङ्ग’व्याचष्टे-महदादिसूक्ष्मपर्यन्तमिति । महत्तत्त्वाहंकारमनइन्द्रियतन्मात्रात्मकाऽष्टादशतत्त्वसमुदायात्मकमित्यर्थः । सूक्ष्मं-सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राणि । वक्ष्यति=‘महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्’ (४०) कारिकाया दर्शयिष्यति । अतिरोहितार्थमन्यत्=अवशिष्टः कारिकांशः, न तिरोहितोऽयं यस्य तादृशः सरलार्थ इत्यर्थः ॥ २० ॥

‘तत्संयोगाद्’इत्युक्तम्, न च भिन्नयोः संयोगोऽपेक्षां विना, न चैयमुपकार्योपकारभावं विनैत्यपेक्षाहेतुमुपकारमाह-

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।

पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

“पुरुषस्य” इति । प्रधानस्येति कर्मणि षष्ठी । प्रधानस्य सर्वकारणस्य यद्दर्शनं पुरुषेण तदर्थम् । तदनेन भोग्यता प्रधानस्य दर्शिता । ततश्च भोग्यं प्रधानं भोक्तारमन्तरेण न सम्भवतीति युक्ताऽस्य भोक्त्रपेक्षा । पुरुषस्याऽपेक्षां दर्शयति-“पुरुषस्य

‘पुरुषस्य दर्शनार्थं’मितिकारिकामवतारयति-‘तत्संयोगादि’त्युक्तमित्यादिना । भिन्नयोः-बुद्धिपुरुषयोः, संयोगः=सन्निधानं, बुद्धौ प्रतिबिम्बवत्तेति यावत् । अपेक्षां विना=परस्पराऽऽकांक्षामन्तरेण, परस्परागाद्वृत्ते-इति यावत् । न च संभवतीत्यर्थः । इयम्=अपेक्षा च, उपकार्योपकारभावं विना=उपकार्यत्वम्-अन्यद्वारा साधनीयप्रयोजनवत्त्वम्, उपकारकत्वं-अन्यदीयप्रयोजनसंसाधकत्वम्, उपकार्यत्वोपकारकत्वान्यतरं विना, न च संभवतीत्यर्थः । इति=यत एवम्, अतः संयोगप्रयोजिकाया अपेक्षाया हेतुं=संयोगं प्रति करणरूपाया अविद्याया अवान्तरव्यापारम् उपकारम्=बुद्धिपुरुषयोः परस्परमुपकारकत्वमाह-‘पुरुषस्य दर्शनार्थमि’त्यादीत्यर्थः । पुरुषस्य दर्शनार्थम्, तथा प्रधानस्य कैवल्यार्थम्, उभयोरपि संयोगः, पङ्ग्वन्धवत्, तत्कृतश्च सर्गः-इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थस्तु-पुरुषस्य प्रधानस्येत्युभयत्र कर्मणि षष्ठी । कर्तृपदे चाऽध्याहार्ये । तथा च-प्रधानेन, पुरुषः, दर्शनार्थम्-स्वस्य भोग्यतार्थम्, अपेक्षयते । तथा पुरुषेण, प्रधानं, कैवल्यार्थम्=स्वस्य मोक्षार्थम्, अपेक्षयते । इत्येवमपेक्षया उभयोरपि=प्रधानपुरुषयोरपि, संयोगो भवति । तत्र दृष्टान्तं-पङ्ग्वन्धवदिति, यथा पक्षः पङ्कुरेकश्चान्धः, तत्र गमनाऽऽशक्तपङ्कनाऽभीष्टदेशप्राप्तये गतिशक्तिमानन्धोऽपेक्षयते, दर्शनाऽऽशक्ताऽन्धेन मार्गप्रदर्शनार्थं दर्शकः पङ्कुरपेक्षयते, अपेक्षया च तयोः संयोगः=पङ्कुरन्धस्त्वन्धारोहणम्, तेन च प्रदेशान्तरप्राप्तिरूपं कार्यं भवति तद्वदित्यर्थः । तत्कृतः=प्रकृतिपुरुषसंयोगकृतः, सर्गः=‘लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद्बुद्धिविधः प्रवर्तते सर्गः’-(५२) इति कारिकोक्ता सृष्टिर्भवतीत्यर्थः ॥ ‘उभयोरपि संयोगः’इत्यत्रापि कर्मणि यदि षष्ठी, तदा-‘उभाम्याम् उभौ संयुज्येते’ इति वाक्यार्थः ॥ कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते-‘प्रधानस्येतिकर्मणि षष्ठीति । प्रधानस्य पुरुषस्य-इत्युभयत्र कर्मणी’तिसूत्रेण षष्ठी । कर्माऽऽकांक्षितां दर्शनात्मिकां गौणक्रियां दर्शयितुमाह-प्रधानस्य सर्वकारणस्य यद्दर्शनमिति । प्रधानस्य=बुद्ध्यात्मककार्यरूपेण परिणतस्य प्रकृतेः, सर्वकारणस्य=संसारोपादानस्य । यद्दर्शनं=स्वस्य या दृश्यता-भोग्यता ॥ किकर्तृकं स्वदर्शनमित्याकांक्षायामाह-पुरुषेणेति । पुरुषकर्तृकमित्यर्थः । तदर्थम्=स्वदर्शनार्थं=स्वभोग्यतार्थं पुरुषः प्रधानेनाऽपेक्षयते-इति भावः ॥ तदेव स्पष्टयति-तदनेनेति । तेनाऽनेन=पुरुषकर्तृकदर्शनविषयत्वकथनेन, प्रधानस्य भोग्यता दर्शिता, ततश्च=भोग्यतासिद्धौ च, भोग्यं=भोग्यताश्रयं प्रधानं, भोक्तारं=भोक्तृत्वाश्रयं पुरुषमन्तरेण=विना न संभवतीति अस्य=प्रधानस्य भोक्त्रपेक्षा=पुरुषापेक्षा युक्ताभवतीत्यर्थः । स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् स्वातिरिक्तो भोक्ताऽपेक्षयते प्रधानेनेति भावः ॥ पुरुषस्याऽपेक्षामिति । पुरुषेण किमर्थं प्रधानमपेक्षयते इत्याकांक्षायां पुरुषस्य प्रधानापेक्षां दर्शयतीत्यर्थः ॥ तथाहि=साऽपेक्षाऽनेन प्रकारेण भवति । भोग्येन प्रधानेन = प्रकृत्या सह, संभिन्नः = एकात्मतामिवापन्नः, -विचिन्तामनुष्यमानः इति यावत्, पुरुषः = चेतनः, तदुगतं =



कैवल्यार्थम्”इति । तथा हि-भोग्येन प्रधानेन सम्भिन्नः पुरुषस्तदगतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यं प्रार्थयते । तच्च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनिबन्धनम् । न च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः प्रधानमन्तरेणेति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते । अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यत इति युक्तम् । ननु भवत्वन्तयोः संयोगः, महदादिसर्गस्तु कुत इत्यत आह-“तत्कृतः सर्गः” इति । संयोगो हि न महदादिसर्गमन्तरेण भोगाय कैवल्याय च पर्याप्त इति संयोग एव भोगापवर्गार्थं सर्गं करोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

सर्गक्रममाह-

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गुणश्च षोडशकः

तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ २२ ॥

प्रकृतिगतम् आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकेतिदुःखत्रयम्, स्वात्मनि = स्वस्मिन्, अभिमन्यमानः-‘अहं दुःखी’ति साभिमानमध्यस्थमानः सन्, कैवल्यम् = सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानद्वारिकां आत्यन्तिकदुःखत्रयनिवृत्तिम्, प्रार्थयते = प्रकर्षेण अर्थयते-इच्छतीत्यर्थः ॥ तच्च = आत्यन्तिकदुःखत्रयनिवृत्तिरूपं कैवल्यं च, सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनिबन्धनम् = सत्त्वं बुद्धितत्त्वं, पुरुषश्चेतनस्तयोरन्यताख्यातिभेदज्ञानं तन्निबन्धनं तद्द्वारकं भवति । सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिश्च = प्रकृतिपुरुषभेदज्ञानं, च, प्रधानमन्तरेण = प्रकृतिं विना न भवति, ‘पुरुषः प्रकृतिभिन्न’-इतिविवेकज्ञाने साध्यांशभेदज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानाऽधीनत्वात्, परिणामात्मकज्ञानोपादानकारणत्वाद्वा’ इति भावः । कैवल्यार्थम् = प्रधानसापेक्षविवेकज्ञानसम्पाद्य-मोक्षार्थं पुरुषः प्रधानम् = विषयतया उपादानतया वा प्रयोजकं प्रधानम्, अपेक्षते = अपेक्षया च परस्परं संयुज्येते इत्यर्थः ॥ प्रतिक्षणपरिणामिनां भावानां परिणामविशेष एव संयोगः, स च प्रकृतिपुरुषयोरपि प्रकृतेः परिणामरूपः संयोगपरम्परायाः अनादित्वात् संयोगोऽप्यनादित्वव्यवहारः, संयोगास्त्वापेक्षिका भिद्यन्ते तद्वत् भोगार्थं संयोगः कैवल्यार्थं संयोगोऽपीति दर्शयितुमाह-अनादित्वाच्चेति । संयोगपरम्परायाः = परः परः इत्येवं जायमाना ये संयोगास्तेषां धर्मः पारम्पर्यं, सन्तानो-धारा-अव्यवहितोत्तरत्वमिति यावत्, अनुत्तरसंयोगस्यैवाऽभावान्न परम्पराया अव्याप्ति-शंकावकाश इति हृदयम् । अनादित्वात् = अविच्छिन्नत्वात्, -विच्छेदोऽत्र-अप्राप्तिप्रतिद्वन्द्विविशिष्टोत्तरत्वरूपः, तथा च संयोगपरम्पराया अनादित्वं नाम्नाप्राप्तिप्रतिद्वन्द्वित्वोत्तरत्वोभयविशिष्टं यद्यत् पारम्पर्यं तद्विन्नपारम्पर्यत्वम्, -एतदेव प्रकृतिपुरुषसंयोगपरम्पराया अनादित्वमिति । तादृशपरम्परावच्छिन्न-भोगप्रयुक्तसंयोगवत्ता पुरुषे वर्तते एव, भोगः-सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः तस्मै तदर्थं संयुक्तोऽपि पुरुषः, -भोगापेक्षिकसंयोगवत्त्वेऽपीति यावत्, कैवल्याय = कैवल्यापेक्षिकसंयोगवत्तया भवतीति युक्तमिति भावः ॥ ‘तत्कृतः सर्गः’ इत्यंशमवतारयितुं शङ्कते-नन्विति । अनयोः प्रकृतिपुरुषयोः, संयोगः-भोगापेक्षिकः कैवल्यापेक्षिकश्च संयोगो भवतु-अनादितयाऽस्तु, एतावता महदादिसर्गः-महत्तत्त्वादिलिङ्गाख्यः, धर्माऽधर्मादिभावाख्यः पृथिव्यादिभूताख्यश्चेति विविधः सर्गः, कुतः ? = कस्माद् भवेदित्यत आह-तत्कृतः सर्ग इति । संयोगकृतः सर्गो भवतीत्यर्थः । एतदेव व्याख्याति-संयोगो होति । हि-निश्चये । महत्तत्त्वादिसर्गं विना = साधनं विना, भोगाय-भोगसम्पादनाय, कैवल्याय = कैवल्यनिर्वर्तनाय च न पर्याप्तः = न समर्थः, अतः उक्तसंयोग एव भोगाऽपवर्गनिष्पत्तये सर्गो = सृष्टिं साधनभूतां करोति = निमित्तीभूय प्राविर्भावयतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

‘प्रकृतेर्महानि’त्यादिकारिकाभवतारयति-सर्गक्रममाहेति । तत्तरीयसर्गस्य क्रमं दर्शयतीत्यर्थः ॥

“प्रकृतेः” इति । प्रकृतिः—अव्यक्तम् । महदहङ्कारौ वक्ष्यमाणलक्षणौ । एकादशेन्द्रियाणि—वक्ष्यमाणानि, तन्मात्राणि च पञ्च, सोऽयं षोडशसङ्ख्यापरिमितो गणः षोडशकः । तस्मादपि षोडशकादपकृष्टेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्याकाशादीनि । तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद्गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायते इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अव्यक्तं सामान्यतो लक्षितं “तद्विपरीतमव्यक्तम्” (का१०) इत्यनेन, विशेष-

प्रकृतेः महान्, ततः अहङ्कारः, तस्मात् षोडशकः गणश्च, तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि (प्राविर्भवन्ति) इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—प्रकृतेः=प्रधानात्, महान्=महत्तत्त्वं प्राविर्भवति, ततः=महत्तत्त्वात् अहङ्कारः प्राविर्भवति, तस्मात्=अहङ्कारात्, षोडशको गणः=मनः श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धा प्राविर्भवन्ति—इत्यर्थः । तस्मादपि षोडशकात्=पञ्चादृषोडशपदार्थमध्यतः, पञ्चभ्यः=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्यस्तन्मात्रेभ्यः, पञ्च भूतानि—गगन—पवना—ऽनल—सलिला—ऽवनयः प्राविर्भवन्तीत्यर्थः ॥ कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते—प्रकृतिः=अव्यक्तमिति । मूलप्रकृतिरित्यर्थः । महदहङ्कारौ वक्ष्यमाणलक्षणौ,=अध्यवसायो बुद्धिरिति (२३) तिकाधिकयोक्तं यत्—अध्यवसायात्मकं लक्षणं तल्लक्षितं महत्तत्त्वम्, ‘अभिमानोऽहङ्कार’ (२४) इतिकारिकयोक्तं यत्—‘अभिमानात्मकं लक्षणं तल्लक्षितोऽहङ्कारश्चेतिबोध्यौ । एकादशेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि=“बुद्धीन्द्रियाणि” चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः”रिति (२६) कारिकोक्तानि दृष्ट “उभयात्मकमत्र मन” (२७) इतिकारिकोक्तं मनश्च । तन्मात्राणि च पञ्च—‘तन्मात्राण्यविशेषा—’ (३८) इतिकारिकोक्तानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि । षोडशपरिमाणमस्येत्यर्थे ‘तदस्य परिमाणम्’ (५।१।५७) इत्यनेन कनि ‘षोडशक’ इति साधुरित्यभिप्रेत्याह—‘सोऽयमित्यादि । सोऽयम्—सन्निकृष्टदर्शितः षोडशसंख्यापरिमितः गणः=समुदायः, एते तस्मादहङ्कारात्प्राविर्भवन्तीत्यर्थः ॥ तस्मादपि षोडशकात्=निरुक्तषोडशकमध्यात्पृथक्कृतेभ्यः,—‘षोडशकं प्राप्य स्थितेभ्यः पञ्चभ्य इति वेत्यर्थः ॥ ‘षोडशकात्’—इत्यस्य ‘पञ्चभ्य’—इत्यनेन सामानाधिकरण्यानाऽन्यथाऽसंभवात् अपेक्षितं पदं पूरयति—‘अपकृष्टेभ्य’ इति । पृथक्कृतेभ्य इत्यर्थः । पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्यः, पञ्च भूतान्याकाशादीनि=आकाशपवनाऽनलसलिलावनयः प्राविर्भवन्तीत्यर्थः ॥ क्रममाह—तत्रेति । तत्र=पञ्चभूतेषु मध्ये, शब्दतन्मात्रात्=सूक्ष्माकाशाख्यशब्दतन्मात्रात्, आकाशं=स्थूलमाकाशम्, शब्दगुणम्=स्थूलशब्दगुणं प्राविर्भवति । शब्दतन्मात्रसहितात्=सूक्ष्मशब्दतन्मात्रसहितात्, स्पर्शतन्मात्रात्=सूक्ष्मवाय्वाख्यस्पर्शतन्मात्रात् वायुः=स्थूलवायुः, शब्दस्पर्शगुणः=स्थूलशब्दस्पर्शगुणः प्राविर्भवति । शब्दस्पर्शतन्मात्रसहितात्=सूक्ष्मशब्दस्पर्शतन्मात्रसहितात्, रूपतन्मात्रात्=सूक्ष्माऽनलाख्यरूपतन्मात्रात्, तेजः=स्थूलतेजः, शब्दस्पर्शरूपगुणम्=स्थूलशब्दस्पर्शरूपगुणं प्राविर्भवति । एवं सूक्ष्मशब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहितात् सूक्ष्मरसतन्मात्रात् स्थूला आपः स्थूलशब्दस्पर्शरूपरसगुणाः प्राविर्भवन्ति । एवम्—सूक्ष्मशब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहितात् सूक्ष्मगन्धतन्मात्रात् स्थूला पृथिवी स्थूलशब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा प्राविर्भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

‘अध्यवसायो बुद्धिरिति कारिकामवतारयितुं लक्षितान् स्मारयति—अव्यक्तमिति ।



तश्च “सत्त्वं लघु प्रकाशकम्” (का १३) इत्यनेन । व्यक्तमपि सामान्यतो लक्षितं “हेतुमत्” (का १०) इत्यादिना । सम्प्रति विवेकज्ञानोपयोगितया व्यक्तविशेषं बुद्धिं लक्षयति-

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।

सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

“अध्यवसायः” इति । “अध्यवसायो बुद्धिः” क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षया । सर्वो व्यवहर्ताऽऽलोच्य मत्वा ‘अहमत्राऽधिकृतः’ इत्यभिमत्य ‘कर्तव्यमेतन्मया’ इत्यध्यवस्यति, ततश्च प्रवर्तत इति लोकसिद्धम् । योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चित्ति-सन्निधानादापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायः-बुद्धेरसाधारणो व्यापारः, तदभेदा बुद्धिः । स च बुद्धेर्लक्षणं, समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात् । तदेवं बुद्धिं लक्ष-

‘अव्यक्तं=प्रधानं मूलप्रकृतिः, ‘तद्विपरीतमव्यक्त’ (१०) मितिकारिकया सामान्यतो=अहेतुमत्त्व-नित्यत्वादिसामान्यलक्षणैर्लक्षितम्, ‘सत्त्वं लघु प्रकाशक’ (१३) मितिकारिकया च विशेषतः=लघु-त्वादिधर्मैः प्रत्येकं गुणा लक्षिताः । व्यक्तमपि=बुद्ध्यादिपृथिव्यन्तं तत्त्वजातमपि, ‘हेतुमदनित्य’ (१०) मितिकारिकया सामान्यतः=हेतुमत्त्वादिसामान्यलक्षणैर्लक्षितमिति, अतः सम्प्रति-अधुना, विवेकज्ञानोपयोगितया=‘पुरुषः प्रकृत्यादिभिन्नः-इतिविवेकज्ञानप्रयोजकं यत् प्रतियोगिज्ञानं तत्र विषयविधयौपयिकतया, व्यक्तविशेषं=व्यक्तत्वाश्रयान्यतमां बुद्धिं लक्षयति=अध्यवसायो बुद्धि-रिति । अध्यवसायो बुद्धिः, एतद्रूपं धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्, सात्त्विकम् । अस्माद्विपर्यस्तम् तामसम्=इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-अध्यवसायः निश्चयः, अध्यवसायत्वं बुद्धेर्लक्षणम् । एतस्याः बुद्धेः-धर्मः ज्ञानं वैराग्यः ऐश्वर्यं चेति चतुर्विधं सत्त्वांशप्रधानं रूपं=सात्त्विका धर्माः । अस्मात् सात्त्विकाद्रूपात् विपर्यस्तं=विरुद्धम्-अधर्मः अज्ञानम्, अवैराग्यः, अनैश्वर्यं चेति चतुर्विधं, तामसं, तमःप्रधाना धर्मा इत्यर्थः ॥ कारिकां व्याख्यातुं प्रतीकमुपादत्ते-‘अध्यवसायां बुद्धि-रिति । अध्यवसानमध्यवसायः, यथा ‘घटोऽयं पटोऽयं’मित्येवमध्यवस्यति निश्चिनोति या सा बुद्धिरिति अध्यवसायवत्त्वं बुद्धेर्लक्षणमित्यर्थः । अत्र ‘अध्यवसायो बुद्धि-रितिकथनन्तु क्रियायाः-धर्मस्य अध्यवसायस्य क्रियावतश्च=धर्मिणः अध्यवसायवत्याश्च बुद्धेः, अभेदस्तादात्म्यं तद्विवक्षया बोध्यम् । बुद्धेर्व्यापारं निरूपयितुं क्रमशो व्यापारानाह-सर्वो व्यवहर्तेति । हानोपादानादिव्यवहारकर्ताऽ-खिलो जनः, पूर्वमालोच्य=ज्ञानेन्द्रियव्यापारैर्वस्तु प्रत्यक्षोक्त्य, ततः मत्वा=‘इदं एवं-नैवं वेति मनसा संकल्प्य, ततः ‘अहम् अत्र=एतस्मिन् विषये अधिकृतः=अधिकारो-’अस्मीति-अभिमत्य, -अहंकारं कृत्वा, ततः ‘मया एतत्=अयं विषयः कर्तव्यम्=कार्यमेवेत्यध्यवस्यति-निश्चिनोति, ततश्च=निश्चयानन्तरं च, प्रवर्तते=तदनुकूलकृतिमान् भवतीति लोके प्रसिद्धं विद्यते । तत्र=तेषु आलोचन-मननाभिमानाध्यवसायेषु मध्ये, योऽयं=‘ततश्च प्रवर्तते’-इत्यस्य पूर्वमुक्तः-“कर्तव्यमेतन्मये”ति विनिश्चयः, सः=तादृशनिश्चयः एव, चितिसन्निधानात्=चेतनस्यात्मनः प्रतिबिम्बवत्त्वात्, आपन्न-चैतन्यायाः=आपन्नं प्राप्तम् औपाधिकं चैतन्यं चेतनत्वं यया सा तस्याः, जडाया अपि चेतनप्रतिबिम्बवत्तया चैतन्याभिमानवत्याः बुद्धेः अध्यवसायः । स च बुद्धेः असाधारणः-मुख्यः-लक्ष्यतावच्छे-दक (बुद्धित्व) समनियतः, व्यापारः=क्रिया-धर्मः । तदभेदा=अध्यवसायाऽभिन्ना च बुद्धिः-महत्त-त्त्वम् । स च=निश्चितोध्यवसायश्च, बुद्धेर्लक्षणम्=अव्याप्यतित्वस्याप्यसंभवदोषत्रयशून्यधर्म इति ।

यित्वा विवेकज्ञानोपयोगिनस्तस्या धर्मान् सात्त्विकतामसानाह—“धर्मो ज्ञानं विराग  
ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्” इति । धर्मः—अभ्युदयनिःश्रेय-  
सहेतुः । तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतुः । अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनि-  
तश्च निःश्रेयसहेतुः । गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम् । विरागः—वैराग्यं—रागाभावः ।  
तस्य—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा—इति चतस्रः  
संज्ञाः । रागादयः कषायाश्चित्तवर्तिनः, तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्यन्ते ।

लक्षणस्य लक्षणं समानाऽसमानजातीयव्यवच्छेदकधर्मत्वम्, अध्यवसायस्य समानजातीयेभ्यो मन  
आदीन्द्रियेभ्योऽसमानजातीयेभ्यश्च तन्मात्रादिभ्यो बुद्धेर्व्यवच्छेदकत्वात्—व्यावर्तकत्वात्—बुद्धिः—  
इतरभिन्ना—अध्यवसायात्—इत्येवमितरभेदानुमितिजनकत्वात्, लक्षणमुपपन्नमिति भावः ॥ तदेवम्  
‘अध्यवसायवत्त्वं बुद्धेर्लक्षणं’मित्येवम्, बुद्धिः—महत्तत्त्वं, लक्षयित्वा तस्याः—बुद्धेः, विवेकज्ञानोपयो-  
गिनः—‘आत्मा—प्रकृत्यादिभिन्न’—इतिविवेकज्ञाने प्रकृत्यादिभेदज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न-  
प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात् तत्र विषयतावच्छेदकतया धर्मोणां प्रयोजकत्वात् विवेकज्ञाने उपयोगिनः,  
धर्मान् = गुणान्, सात्त्विकतामसान् = सत्त्वगुणमात्रांशजन्यान् तमोगुणमात्रांशजन्यांश्च, आह ।  
‘धर्मः—धार्यतेऽनेन जगदिति धर्मः, शायते विषयोऽनेनेति ज्ञानं वृत्तिः, विरागः—रज्यते इति रागः विगतः  
रागो विरागः—रागाभावः । ईष्टे—इतीश्वरः तस्य भावः ऐश्वर्यम्—सामर्थ्यम्, एतत् = एतच्चतुष्टयं  
सात्त्विकं = सत्त्वांशमात्रजन्यम्, रूपं = रूपत्वावच्छिन्नं गुणः ॥ अस्मात् = सात्त्विकरूपाद्विपर्यस्तं  
विरुद्धं तामसम्—तमोऽंशमात्रजन्यमितिप्रतीकस्यार्थः ॥ स्वातन्त्र्येण राजसधर्मोऽभावात् राजसधर्मा-  
नोक्ताः । धर्मस्य लक्षणमाह—धर्मः—अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरिति । अभ्युदयः—ऐश्वर्यस्य लौकि-  
कमहत्ताया अभितः—सर्वतोभावेन उदयः—उत्कर्षः—सोऽभ्युदयः—स्वाराज्यसाम्राज्यादिरूपः, तस्य  
हेतुत्वं—निमित्तकारणत्वम् । अथ च—निःशेषेण श्रेयः कल्याणं निःश्रेयसं—कैवल्यं तस्य हेतुत्वं, धर्मस्य  
लक्षणमित्यर्थः ‘यतोऽभ्युदयसिद्धिर्निःश्रेयससिद्धिश्च स धर्मः’ इत्यर्थः ॥ अभ्युदयहेतुं धर्ममाह—तत्र  
यागेति । यागः—‘ज्योतिष्टोमेन यजेते’त्यादियज्ञाः । दानम्—स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनं,  
विद्यादानमन्नदानादिकम् । आदिना तपश्चर्याऽनुष्ठानं । अनुष्ठानं—नाम यथाविधिकरणम् । तज्जनितो  
यः धर्मः—पुण्यम्, सः अभ्युदयस्य—लौकिकश्रेष्ठताया हेतुः—निमित्तमिति ॥ निःश्रेयसहेतुं धर्ममाह—  
अष्टांगेति । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावङ्गानि, तत्र—अहिंसासत्याऽ-  
स्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहाः यमाः, शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः, स्थिरसुखमा-  
सनम् पद्मासनादिकं, श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायामः, इन्द्रियवृत्तीनां प्रत्यावर्तनं चित्ते  
प्रत्याहारः, देशबन्धश्चित्तस्य धारणा, देशे ज्ञानैकतानता ध्यानम्, ध्यानमेव ध्येयाकारमात्रनिर्मासं  
समाधिरिति । एतेषां अष्टांगानां योगः—मुख्यः समाधिविशेषः समुदायो वा, तदनुष्ठानजनितश्च धर्मः—  
अशुक्लकृष्णाख्यः, स निःश्रेयसहेतुरिति ॥ ज्ञानमाह—गुणेति । गुणाः—सत्त्वरजस्तमआत्मको जडवर्गः  
तत्रप्रतियोगिकम् । पुरुषः—चेतनस्तदनुयोगिकं यत् अन्यतायाः—भेदस्य, ख्यातिः—ज्ञानं, अनुमितिः,  
‘आत्मा—प्रकृत्यादिभिन्नः’—इत्याकारकम् ॥ वैराग्यमाह—विराग इति ॥ तस्य तात्त्विकीं संज्ञामाह—  
तस्येति । वैराग्यस्येत्यर्थः । एका यतमानसंज्ञा, प्रयत्नारंभणात् । द्वितीया व्यतिरेकसंज्ञा, कति  
जीताः कति न—इत्यवलोकनात् । तृतीया—एकेन्द्रियसंज्ञा,—मनोवृत्तिमात्रव्यापारात् । चतुर्थी वशि-  
कारसंज्ञा,—इन्द्रियान्तःकरणवृत्तिमात्राणां विलयात् । तत्राद्यां लक्षयति—रागादय इति । रागादयः—  
अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्याः, कषायाः = मज्जिष्ठादिकषायवत् चित्तरंजकत्वात्कषाया मल्लः—



तन्मा प्रवर्तिषत विषयेष्विन्द्रियाणीति तत्परिपाचनायाऽऽरम्भः—प्रयत्नो यतमान-  
संज्ञा । परिपाचने चानुष्ठीयमाने केचित्कपायाः पक्वाः, पक्ष्यन्ते च केचित्, तत्रैवं  
पूर्वापरीभावे सति पक्ष्यमाणेभ्यः कपायेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकेणाऽवधारणं व्यतिरेक-  
संज्ञा । इन्द्रियप्रवर्तनाऽसमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थापनमेकेन्द्रि-  
यसंज्ञा । औत्सुक्यमात्रस्याऽपि निवृत्तिरुपस्थितेष्वपि दृष्टानुश्रविकविषयेषु या  
संज्ञात्रयात् पराचीना सा वशीकारसंज्ञा । यामत्रभवान् पतञ्जलिर्वर्णयान्चकार—  
“दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्” इति (यो०सू०१।१६) ।  
सोऽयं बुद्धिधर्मो विराग इति । ऐश्वर्यमपि बुद्धिधर्मः, यतोऽणिमादिप्रादुर्भावः ।

क्लेषाः । ते च निते एव वर्तन्ते इति चित्तवर्तिनः चित्तधर्माः, तैः—कपायैः, यथास्वं = स्वीयमन-  
तिक्रम्य वर्तते इति यथास्वं, स्वकीयस्वकीयेषु । विषयेषु = शब्दस्पर्शरूप—रसादिषु, इन्द्रियाणि—  
श्रोत्रादीनि, प्रवर्त्यन्ते—अभिमुखोक्रियन्ते । तत् = यथा स्यात् तथा, अत्र विषयेषु, इन्द्रियाणि मा  
प्रवर्तिषतः = तैः प्रवृत्तानि मा कारिषत, रागादयः इन्द्रियाणि मा प्रवर्तयन्ति इति यावत् । इति—  
इत्येवमिन्द्रियप्रवृत्त्यभावमभिलष्य, तत्परिपाचनाय = तेषां रागादीनां क्षालनाय तनूकरणाय, यः  
आरम्भः—‘मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्याऽपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनं’(योग-  
सूत्रं ३३)तदुक्तानुष्ठानरूपःप्रयत्नः स यतमानसंज्ञकवैराग्यइत्यर्थः ॥ द्वितीयां व्यतिरेकसंज्ञामुपपाद-  
यति—परिपाचने इति । परिपाचने चानुष्ठीयमाने = रागादिमलप्रक्षालनाय मैत्र्यादिभावनायामनु-  
ष्ठीयमानायां सत्यां केचित् कपायाः = मलाः पक्वाः = नष्टाः, केचिच्च पक्ष्यन्ते = निवर्तिष्यन्ते, तत्र =  
तेषु—नष्टेषु अनेषु च, एवं—उक्तरीत्या, पूर्वापरीभावे सति = पूर्वं तनूकृता इत्यालोचितं पश्चात्  
शेषाः अतनूकृताः इत्यालोचितं—इत्येवं पूर्वापरीभावेन आलोचने कृते सति । पक्ष्यमाणेभ्यः = भवि-  
ष्यत्प्राकानुयोगिभ्यः कपायेभ्यो रागादिभ्यः, पक्वानां—तनूकृतानां कपायानां, व्यतिरेकेण = पृथक्कृत्य  
यदवधारणं—पृथक्कृत्य तेषां परिपाचनाय यदनुष्ठानं तत्—व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्यमित्यर्थः ॥ तृतीयां  
एकेन्द्रियसंज्ञामुपपादयति—इन्द्रियप्रवर्तनेति । कुण्ठतीकृतानां दशेन्द्रियाणां प्रवर्तनायां = विषयं  
प्रति वृत्तिप्रसारणायाम् असमर्थतया = अशक्ततया—समाप्ताधिकारतया, पक्वानां = तनूकृतानां रागा-  
दीनां, यद् औत्सुक्यमात्रेण = उत्कण्ठामात्रेण तृष्णारूपेण मनस्यवस्थानं, रागादीनाम् एतस्या उत्सु-  
कावस्थाया अपि नाशाय प्रयत्नः—एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्यम् इत्यर्थः ॥ चतुर्थां वशीकारसंज्ञामाह—  
औत्सुक्यमात्रस्यापीति । दृष्टाः—स्वक्चन्दनस्त्रियोऽन्नपानादयो विषयाः, आनुश्रविकाः = वेदादि-  
भ्योऽधिगताः स्वर्गादयो विषयाः तेषु उपस्थितेष्वपि प्राप्तेष्वपि, औत्सुक्यमात्रस्यापि उत्कण्ठया-  
स्तृष्णया अपि निवृत्तिः,—अतीवोपेक्षाबुद्धिः,—सा संज्ञात्रयात्—यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियेति संज्ञात्रयात्,  
पराचीना = पश्चाद्भाविनी, वशीकारसंज्ञकवैराग्यमित्यर्थः ॥ अत्र चतुर्थ्यां संज्ञायां योगदर्शनकारं  
प्रमाणयति—यामत्रेति । याम् = वशीकारसंज्ञाम्, अत्रभवान् = ‘हेमचन्द्रकोशे’—‘अत्रभवान्’ तत्र  
भवानिति पूजार्थः प्रयोगः इति । पतञ्जलिः=पतन्त्यः अजलयो यत्रेति पतञ्जलिः तन्नामा महर्षिः  
शेषावतारः, वर्णयांचकार = सूत्रयांचकार ॥ तदेव सूत्रमाह—‘दृष्टेति । दृष्टेषु लौकिकेषु, आनुश्रविकेषु  
च स्वर्गादिषु विषयेषु वितृष्णस्य—लुप्ततृष्णस्य पुरुषस्य ‘वशीकारसंज्ञकवैराग्यं’बोधमिति तदर्थः ॥  
उपसंहरति—सोऽयं = चतुर्विधः, बुद्धिधर्मो विरागइत्यपि ॥ ऐश्वर्यं व्याख्यातुमुपक्रमते—ऐश्वर्यम-  
पीति । यतः = यस्मात् ऐश्वर्याख्याद्बुद्धिधर्मात्, अणिमादिसिद्धीनां प्रादुर्भावो भवति । अणिमा-  
दिपदार्थमाह—तन्नाणिमेति । तत्र = अणिमादिषुमध्ये । अणुभावः = गुप्तरकलेवरोऽप्यणुर्भवती-

(१) तत्राऽणिमा-अणुभावः, यतः शिलामपि प्रविशति । (२) लघिमा-लघुभावः, यतः सूर्यमरीचीनालम्ब्य सूर्यलोकं याति । (३) गरिमा-गुरुभावः, यतो गुरुर्भवति । (४) महिमा-महतो भावः, यतो महान् भवति । (५) प्राप्तिः, यतोऽङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम् । (६) प्राकाश्यं इच्छानभिवातः, यतो भूमाबुन्मज्जति निमज्जति च, यथोदके । (७) वशित्वम्, यतो भूतभौतिकं वशीभवत्यवश्यम् । (८) ईशित्वम्, यतो भूतभौतिकानां प्रभवस्थितिलयानामीष्टे । यच्च कामावसायित्वं, सा सत्यसङ्कल्पता, येन यथाऽस्य सङ्कल्पो भवति भूतेषु, तथैव भूतानि भवन्ति । अन्येषां मनुष्याणां निश्चयाः निश्चेतव्यमनुविधीयन्ते, योगिनस्तु निश्चेतव्या पदार्थाः निश्चयम् । इति चत्वारः सात्त्विका बुद्धिधर्माः । तामसास्तु तद्विपरीता बुद्धिधर्माः । अधर्मान्जानावैराग्यानैश्वर्याभिधानाश्चत्वार इत्यर्थः ॥२३॥

त्यर्थः । यतः = यदणिमाप्रभावात्, शिलामपि = अस्मिन् पाषाणमपि प्रविशति ॥ लघिमापदार्थमाह-लघुभाव इति । यतः-लघिमाप्रभावात्, सूर्यमरीचीन् = सूर्यकिरणान् आलम्ब्य = हस्ताभ्यां गृहीत्वा, सूर्यलोकं-स्वर्गं यातीति ॥ महिमापदार्थमाह-महतो भावः-यतः-यत्प्रभावात्, तनुपरिमाणोऽपि महान् = पर्वतादिसमशरीरो भवति ॥ प्राप्तिरिति । सर्वेषां भावानां सन्निधानं, अत एव भूमिष्ठोऽपि यत्प्रभावात् स्वस्य अङ्गुल्याः अग्रेण चन्द्रमसं स्पृशतीति ॥ प्राकाश्यपदार्थमाह-इच्छानभिघात इति । यतः = प्राकाश्यप्रतापात्, अस्य योगिनः स्वरूपं भूमिधर्मकाठिन्यादिभिर्नाऽभिहन्त्यतेऽत एव जले इव भूमौ निमज्जति-प्रविशति = उन्मज्जति = निःसरति च ॥ वशित्वपदार्थमाह-भूतेति । यतः = यत्प्रभावात् । भूतानि = पृथिव्यादीनि भौतिकानि गोषटादीनि तेषु वशी स्वतन्त्रो भवति यानि यथावस्थापयति तथा तान्यवतिष्ठन्ते ॥ ईशित्वं व्याख्याति-यतो भूतभौतिकानामिति । भूतानां पृथिव्यादीनां भौतिकानां च षटादिविकाराणां ये प्रभवः-उत्पत्तिः स्थितिः-रक्षणं लयः-विनाशस्तेषां ईष्टे = सामर्थ्यवान् भवतीति । ईशित्वस्यैवाऽभिधानान्तरमाह-यच्च कामावसायित्वमिति । कामावसायिता एव सत्यसंकल्पता येन = यत्प्रभावात्, अस्य = योगिनः, भूतेषु = भूतप्रकृतीषु, यथा संकल्पो भवति = विषमप्यमृतकार्यं करोतु-इति संकल्पयति चेत् ! तथैव भूतानि = भूतप्रकृत्यादयः, भवन्ति, विषमप्यमृतं भवतीति । ननु शक्तोऽपि कथं न विपर्ययं करोति चन्द्रमसमादित्यं कुहूँ च सिनीवालीमिति ! चेत् ! न, शक्तत्वेऽप्येते परमेश्वरस्याऽऽज्ञात्मिकमितुं नोत्सहन्ते इति ॥ अयोगिनां योगिनां च भेदमाह-अन्येषामिति । योगिभिन्नमनुष्याणां निश्चयाः = ज्ञानानि, निश्चेतव्यं-निश्चितं ज्ञातुं योग्यं पदार्थम्, यथा वस्तु भवेत् तथा तद्वस्तु आलम्ब्येति यावत्, अनुविधीयन्ते = तदनुकूला भवन्ति, अयोगिनां तु विषयाधीनं ज्ञानं भवतीति भावः । योगिनां तु निश्चयम् अनुधावन्ति अनुवर्तन्ते, निश्चेतव्याः विषयाः, योगिनां ज्ञानं यथा गवति तथा विषयाः परिवर्तन्ते इति ज्ञानाधीना विषयाः, यथा विषं अमृतं निश्चिनोति तद्वर्त्यमृतमेव भवति इति भावः ॥ उपसंहरति-इति चत्वारः इति । एते चत्वारः धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यमिति, सत्त्वांशमात्रजन्या बुद्धिधर्मा बुद्धिगुणाः ॥ तामसान् धर्मानाह-तामसास्त्विति । तमोऽशमात्रजन्याः, तद्विपरीताः=धर्मविपरीतः-अधर्मः, ज्ञानविपरीतम्-अज्ञानम्, विरागविपरीतः-अविरागः, ऐश्वर्यविपरीतानि-अनैश्वर्याणीति ॥ तानेवाह-अधर्मेति । अधर्मः-अवनतिप्रदः चौर्यादिः, नरकप्रदश्च व्यभिचारादिः । अज्ञानम्=विवेकाऽग्रहः, विपर्ययविकल्पाद्यात्मकम् । अविरागः-रागाऽभावः-विषय-तृष्णा । अनैश्वर्यम् । एते तामसा धर्मा बोध्याः ॥ २३ ॥



## अहङ्कारस्य लक्षणमाह-

अभिमानोऽहङ्कारः, तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।

एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

“अभिमानः” इति । ‘अभिमानोऽहङ्कारः’ । यत् खल्वालोचितं मतं च ‘ततस्तत्र अहमधिकृतः’ ‘शक्तः खल्वहमत्र’ ‘मदर्थं एवाऽमी विषयाः, भक्तो नाऽन्योऽत्राऽधिकृतः कश्चिदस्ति, ‘अतोऽहमस्मि’ इति योऽभिमानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कार-लक्षणम् । तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति-‘कर्तव्यमेतन्मया’ इति । तस्य कार्यभेदमाह-“तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः” इति । प्रकारद्वयमाह-“एकादशकश्च गणः” इन्द्रियाङ्ग्यः, तन्मात्रपञ्चकश्चैव । द्विविध एव सर्गोऽहङ्कारात्, न त्वन्य इति ‘एव’-कारेणाऽवधारयति । ॥ २४ ॥

‘अभिमानोऽहङ्कारः’-इतिकारिकामवतारयति-‘अहङ्कारस्य लक्षणमाहेति । अभिमानः-अहङ्कारः, तस्मात् द्विविधः सर्गः प्रवर्तते, एकादशकश्चगणः, तन्मात्रपञ्चकश्चैव’ इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-धर्मस्य अभिमानस्य धर्मिणश्चाहङ्कारस्याऽभेदविवक्षया ‘अभिमानोऽहङ्कारः’ इत्युक्तम्, अभिमानवान्-अहङ्कार इत्यर्थः, अभिमानवत्त्वम् अहङ्कारस्य लक्षणमिति बोध्यम् । तस्मात् अहङ्कारात् उपादानकारणात्, द्विविधः प्रत्येकं धर्मदयावच्छिन्नः, इन्द्रियत्वावच्छिन्नः, तन्मात्रत्वावच्छिन्नश्चेत्येवं द्विजातीयकः सर्गः-सृष्टितत्त्वं प्रवर्तते-प्राविर्भवति । तदेवाह-एकादशको गणः मनःश्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थान्येकादशेन्द्रियाणि । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि सूक्ष्माणि तन्मात्राणि पञ्चैति चेत्यर्थः ॥ कारिकां व्याख्यातुं प्रतीकमुपादत्ते-अभिमान इति । अभिमानवत्त्वं अहङ्कारस्य लक्षणमित्यर्थः ॥ अभिमानात्मकं व्यापारस्पष्टयितुं व्यापाराणां क्रममाह-यदिति । यद्वस्तु कार्यं वा, बाह्येन्द्रियैरालोचितं-प्रत्यक्षीकृतम्, मनसा मतं-इदमेवं नैवंचेति संकल्पितं च । ततः संकल्पाऽनन्तरम्, ‘तत्र=वस्तुनि कार्ये वा अहमधिकृतः’-इत्याकारको योऽभिमानस्तद्वत्त्वं लक्षणम् अयमभिमानः स्वस्याधिकारिताविषयः । अभिमानस्यैव प्रकारान्तराणि दर्शयति-‘शक्त’-इत्यादिना ‘अत्र-कार्ये वस्तु’ वा अहमेव शक्तः-समर्थः-इत्यभिमानवत्त्वं लक्षणम् अयमभिमानः-कार्यनिष्पादनसामर्थ्यविषयकः ‘अमी विषयाः-वस्तुनि कार्याणि वा, मदर्थं एव=मत्प्रयोजनार्थैव सन्ति’ इत्यभिमानवत्त्वं लक्षणम्, अयमभिमानः ममकारप्रयोगेण स्वप्रयोजनविषयकः । अत्र-कार्ये वस्तुनि वा मत्तोऽन्यः-मदन्यो न कश्चिदधिकृतोऽस्तीत्यभिमानवत्त्वं लक्षणम्, अयमभिमानः-ममकारप्रयोगेण स्वतिरिक्तस्याऽधिकाङ्गनिषेधविषयकः । ‘अतः-मदन्ये न सन्त्यत एव अहमस्मि-अत्रकार्ये प्राप्तोऽस्मि’-इत्यभिमानवत्त्वं लक्षणम्, अयमभिमानः सर्वोत्कृष्टः केवलोऽस्तित्वमात्रविषयक इति ॥ तदेतान् अभिमानभेदान् अभेदेनाह-इति योऽभिमान इति । इत्येवं विविधविशेष्यको योऽभिमानः सः बुद्धेः असाधारणव्यापारत्वात्-लक्ष्यतावच्छेदकाहङ्कारत्वसमनियतधर्मत्वात्, अहङ्कारस्य लक्षणं, तदभिन्नोऽहङ्कार इति भावः ‘अहमिति’ प्रत्ययः क्रियतेऽनेनेत्यहङ्कारः । तमुपजीव्य=अभिमानवृत्तिकमहङ्कारं कारणीकृत्य, आश्रित्य, निमित्तीकृत्य । हि-निश्चये । बुद्धिः अध्यवस्यति-स्वव्यापारमध्यवसानं करोतीति ॥ अध्यवसायस्वरूपमाह-कर्तव्यमिति । एतत्कार्यं मया कर्तव्यम् मत्कृतिविषयमेतदिति यावत् ॥ तस्याहङ्कारस्य कार्यभेदान्-सर्गभेदेनाह-तस्मादित्यादि । तस्मात्-अहङ्कारात्, द्विविधः-द्विजातीयः इन्द्रियजातीयस्तन्मात्रजातीयश्च । सर्गः-कार्यजातः प्रवर्तते-

स्यादेतत्-अहंकारादेकरूपात्कथं जडप्रकाशकौ गणौ विलक्षणौ भवत इत्यत आह-  
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् ।

भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः, तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

“सात्त्विकः” इति । प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विको वैकृ-  
तात् सात्त्विकादहंकारात्प्रवर्तते । भूतादेस्त्वहंकारात्तामसात्तन्मात्रो गणः प्रवर्तते ।  
कस्मात् ? यतः ‘स तामसः’ । एतदुक्तम्भवति, यद्यप्येकोऽहंकारस्तथाऽपि गुणभेदो-

प्रादुर्भवति ॥ एकादशक इति एकादश परिमाणमस्येति एकादशकः, गणः-समुदायः, इन्द्रियाह्वयः  
मनःश्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघाणवाक्पाणिपादपायूपस्थारव्यः ॥ तन्मात्रपञ्चकश्चैवेति । तन्मात्राणां  
पञ्चकः-पञ्चपरिमाणवान् गणः सूक्ष्मशब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मक इत्यर्थः । एवकारार्थमाह-द्विविध  
एवेति । अन्ययोगव्यवच्छेदार्थकः एवकारः, इन्द्रियजातीयतन्मात्रजातीयतिरिक्तसमैऽहंकारनि-  
ष्टोपादानतानिरूपितसाक्षादुपादेयत्वं नास्तीति भावः ॥ २४ ॥

‘सात्त्विक एकादशकः’-इति कारिकामवतारयितुं शक्ते-स्यादेतदिति । एतत्-‘अहंकारादेकरूपा-  
दित्यादिना वक्ष्यमाणाशंका, स्यात्-उपपद्येत्यर्थः ॥ एकरूपात्-अहंकारात्तामसकैकधर्मावच्छिन्नात्  
कारणात्-उपादानात्, अहंकारात्, कथं-केन प्रकारेण, केन हेतुना, विलक्षणौ-विरुद्धभ्रमवन्तौ,  
जडप्रकाशकौ-जडत्ववन्ति तन्मात्राणि,-प्रकाशकत्ववन्ति इन्द्रियाणि, तदात्मकौ गणौ-समूहद्वयं,  
भवतः?-प्राविर्भवतः ? ॥ तत्र अहंकारत्वस्यैकधर्मत्वेऽपि सात्त्विकाहंकारस्य तामसाहंकारस्यैव-  
वान्तरेभेदभिन्नस्य कार्यभेदो भवतीत्युत्तराशयेन कारिकामाह-सात्त्विक एकादशक इति ।  
वैकृतादहंकारात् सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते । भूतादेः तन्मात्रः प्रवर्तते, सः तामसो (भवति),  
तैजसात् उभयं (प्रवर्तते) इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-वैकृतात्=सात्त्विकात् सत्त्वगुणविशिष्टात्  
अहंकारात् सत्त्वांशमात्रकः एकादशेन्द्रियसमुदायः प्राविर्भवति । भूतादेः-तामसात् तमोगुणविशि-  
ष्टादहंकारात् तन्मात्रगणः प्राविर्भवति, यतः सः तामसोऽस्ति, अतस्तामसाहंकारजन्य इति । राज-  
साहंकारस्य स्वतन्त्रं कार्यं नास्ति, अतः-तैजसात्-राजसाहंकारात्, उभयम्=सात्त्विकादशेन्द्रि-  
याणि तामसतन्मात्राणि चेत्युभयं कार्यं प्राविर्भवति इति योजनीयमिति ॥ कारिकां व्याख्यातुं-  
प्रतीकमुपादत्ते-सात्त्विक इतीति । इन्द्रियगणस्य सात्त्विकत्वे हेतुमाह-प्रकाशलाघवाभ्या-  
मिति । सत्त्वस्य लघुत्वात् प्रकाशकत्वाच्च यत्र प्रकाशलाघवे वर्तते, तत् सात्त्विकमनुमीयते,  
प्रकाशः-कार्यभासने बुद्धिवृत्त्यात्मकाऽऽलोकः, लाघवम्-करणपटुता, ताभ्यां प्रकाशलाघवाभ्यां  
सत्त्वधर्माभ्यामनुमीयते,-एकादशकः-एकादशपरिमाणमस्यैकादशकः, इन्द्रियगणः-मनःश्रोत्रत्वक्-  
चक्षूरसनाघाणवाक्पाणिपादपायूपस्थानां समूहः । सात्त्विकः=सत्त्वांशमात्रजन्यः । तथा चानुमा-  
नम्-इन्द्रियगणः सात्त्विकः, प्रकाशलाघववत्त्वात्, सत्त्ववदिति ॥ वैकृतादिति । प्रकृततन्त्रपरिभाषया  
‘वैकृत’ इति सात्त्विकाहंकारस्य संज्ञा, अतस्तदर्थमाह-सात्त्विकादिति । सत्त्वांशमात्रादहंकारात्  
प्रवर्तते-प्राविर्भवतीत्यर्थः ॥ भूतादेस्त्विति । तामसाहंकारस्य ‘भूतादि’रिति परिभाषा, अतस्तद-  
र्थमाह-अहंकारात्तामसात्त्विति । तन्मात्रो गणः-पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मशब्दस्पर्शरूपरसगन्धा-  
त्मकानि सन्त्यस्मिन्नागेति तन्मात्रः । प्रवर्तते प्राविर्भवति । गुरुत्ववरणकत्ववत्त्वात् तन्मात्राणां  
तामसांशमात्रादहंकारादुत्पत्तिरित्यनुमीयते-‘तन्मात्राणि-तामसानि,-गुरुत्ववरणकत्ववत्त्वात् तमो-  
गुणवदिति ॥ ननु कथमयं तामसादहंकाराज्जात इति निश्चयः ? इति वृच्छति-कस्मादिति ।  
उत्तरयति-यतः ‘सः तामसः’ इति । तामसः-तमोगुणधर्माः ये गुरुत्वावरणकत्वमौज्यादयस्त-



ज्ञवाभिभवाभ्यां भिन्नं कार्यं करोतीति । ननु यदि सत्त्वतमोभ्यामेव सर्वं कार्यं जन्यते तदा कृतमकिञ्चित्करणे रजसेत्यत आह—“तैजसादुभयम्” इति । तैजसात्—राजसादुभयं—गणद्वयं भवति । यद्यपि रजसो न कार्यान्तरमस्ति, तथाऽपि सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये समर्थे अपि न स्वस्वकार्यं कुरुतः, रजस्तु चलतया ते यदा चालयति तदा स्वकार्यं कुरुत इति, तदुभयस्मिन्नपि कार्ये सत्त्वतमसोः क्रियोत्पादनद्वारेणाऽस्ति रजसः कारणत्वमिति न व्यर्थं रज इति ॥ २५ ॥

सात्त्विकमेकादशमाख्यातुं बाह्येन्द्रियदशकं तावदाह—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।

वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

“बुद्धीन्द्रियाणि” इति । सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम् । तच्च द्विविधं—

द्रान् भवति यतः, अतः सः तामस इत्यर्थः ॥ एकजातीयादहंकारात् कथं भिन्नजातीयं कार्यमित्याशङ्क्य समापत्ते—एतदुक्तं भवतीत्यादिना करोतीत्यन्तेन । यद्यपि एकोऽहंकारः कारणमहंकारत्वावच्छिन्नमेकजातीयं कथं विभिन्नजातीयं कार्यं कुर्यादित्याशङ्क्यः । तथापि गुणभेदेति । गुणभेदः— गुणविशेषः, सत्त्वगुणविशेषस्य उद्भवेन तमोगुणविशेषस्याऽभिभवेन सात्त्विकमिन्द्रियसमुदायात्मकं कार्यं प्रवर्तते, तमोगुणविशेषस्य उद्भवेन सत्त्वगुणविशेषस्याऽभिभवेन तामसतन्मात्रगणात्मकं कार्यं प्रवर्तते,—इत्येवमेकजातीयोऽप्यहंकारः तत्तद्गुणप्राधान्यविशेषविशिष्टः सन् भिन्नं=भिन्नजातीयं कार्यं करोति—सृजति । अत्रोभयपक्षेऽपि रजसोऽपि गौणत्वं कल्पनीयम् ॥ रजसोऽन्यथासिद्धत्वं शङ्कते—नन्विति । सत्त्वतमोभ्यां द्वाभ्यामेव आहंकारिकं सर्वं कार्यं—इन्द्रियतन्मात्रात्मकं जन्यते यदि ? तर्हि ‘अकिञ्चित्करणे किञ्चिदपि न करोतीत्यकिञ्चित्करः—अकारणः अन्यथासिद्ध इति यावत्, तादृशेन रजसा कृतं—अलम्,—अहंकारे राजसांशस्वीकारो निरर्थक इति भावः ॥ उत्तरयति—तैजसादुभयमिति । ‘तैजस’ इति रजोगुणस्य पारिभाषिको संज्ञा, अतरतदर्थमाह—**राजसादिति** । ‘उभय’पदार्थमाह—**गणद्वयमिति** । इन्द्रियगणस्तन्मात्रगणक्षेत्यर्थः ॥ रजसः राजसस्वतन्त्रकार्यजनकत्वाऽभावेऽपि गणद्वये प्रयोजकत्वाच्चाऽन्यथासिद्धत्वमिति दर्शयति—**यद्यपीति** । रजसः न कार्यान्तरमस्ति=राजसत्वावच्छिन्नं सात्त्विकतामसगणभिन्नं कार्यं नैवाऽस्ति । तथापि सत्त्वतमसी=सत्त्वगुणः तमोगुणश्च, स्वयमक्रिये=प्रवृत्तिस्वभाववत्त्वाभावात्, समर्थे अपि=स्वकार्यानुकूलशक्तिमत्त्यपि, रजसः सहायाऽभावे न स्वस्वकार्यं कुरुतः—निष्पादयतः । रजोगुणस्तु चलत्वभावतया यदा ते=सत्त्वतमसी चालयति—प्रवर्तयति तदा स्वस्वकार्यं=सात्त्विकं तामसं वा कुरुतः । तत्=तस्मात् प्रवर्तकत्वाद्धेतोः । उभयस्मिन्नपि=सात्त्विके तामसे च कार्ये, सत्त्वगुणतमोगुणयोः क्रिया—प्रवृत्तिः तदुत्पादनद्वारा रजसः कारणत्वं—प्रयोजकत्वं निमित्तकत्वमस्तीति, न व्यर्थं नान्यथासिद्धं रज इति ॥ अन्येतु—सात्त्विकाहंकारात् एकादशकं मनः जातम् । राजसाहंकारात् उभयं— कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि च । तामसाहंकारात् तन्मात्राणीति व्याख्यान्ति २५ ॥

‘बुद्धीन्द्रियाणी’तिकारिकामवतारयति—**सात्त्विकमिति** । सात्त्विकाहंकारकार्यमेकादशेन्द्रियात्मकम् आख्यातुं व्याख्यातुं, तावत्=प्रथमम्, बाह्येन्द्रियदशकमाह—**बुद्धीन्द्रियाणीति** । चक्षुः—श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि बुद्धीन्द्रियाणि, आहुः, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः—**सन्वयः** । अर्थस्तु स्फुटः ॥ कारिकां व्याख्यातुं प्रतीकमुपादत्ते **बुद्धीन्द्रियाणी**’तीति । सांख्यप्रणा

बुद्धीन्द्रियं, कर्मेन्द्रियं च । उभयमप्येतत् इन्द्रस्याऽऽत्मनश्चिह्नत्वादिन्द्रियमुच्यते । तानि च स्वसंज्ञाभिश्चक्षुरादिभिरुक्तानि । तत्र रूपग्रहणलिङ्गं चक्षुः, शब्दग्रहणलिङ्गं श्रोत्रम्, गन्धग्रहणलिङ्गं घ्राणम्, रसग्रहणलिङ्गं रसनम्, स्पर्शग्रहणलिङ्गं त्वक्, इति ज्ञानेन्द्रियाणां संज्ञा । एवं वागादीनां कार्यं वक्ष्यति ( का २८ ) ॥ २६ ॥

एकादशमिन्द्रियमाह—

उभयात्मकमत्र मनः, सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।

गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

“उभयात्मकम्, इति । अत्र= एकादशस्विन्द्रियेषु मध्ये मन उभयात्मकम्,

एवा इन्द्रियलक्षणमाह-सात्त्विकेति । सत्त्वप्रधानोऽहंकारः उपादानकारणं यस्य तत्त्वमित्यर्थः । तद्विभजते-द्विविधमिति बुद्धीन्द्रियम्-ज्ञानेन्द्रियम्, कर्मेन्द्रियं-आदानादिक्रियाकरणमिन्द्रियम् ॥ ‘इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रद्रष्टृमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्ररत्तमिति चे’ति सूत्रेणेन्द्रियमिति साधु-स्त्वभि-प्रेत्य व्युत्पत्तिमाह-उभयमप्येतदिति । ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं चेत्युभयमपि । इन्द्रस्य-स्वामिनः, आत्मनः पुरुषस्य, चिह्नत्वात् = लिङ्गत्वात्-अनुमापकत्वात्, ‘शरीरं-आत्मवत्, सक्रियेन्द्रिय-वत्त्वादिति, अथवा चिह्नत्वात्-भोगस्य साधनत्वात् ‘इन्द्रिय’मिति उच्यते । तानि च दश चक्षुरादिभिः स्वसंज्ञाभिर्दिष्टानि । तत्र-तेषु दससु मध्ये । रूपग्रहणलिङ्गत्वं-रूपविषयकज्ञानजनकत्वं चक्षुषो लक्षणम्, शब्दविषयकज्ञानजनकत्वं श्रोत्रस्य लक्षणम्, गन्धविषयकज्ञानजनकत्वं घ्राणस्य लक्षणम्, रसविषयकज्ञानजनकत्वं रसनाया लक्षणम्, स्पर्शविषयकज्ञानजनकत्वं त्वचो लक्षणम्, तथा च ‘रूपग्रहणं-करणजन्यम्, क्रियात्वात्, ‘छिदिक्रियावदि’ त्वेवमनुमानान्यपि बोध्यानि, एवं वागादिकर्मेन्द्रियाणां कार्यं ‘वचनादानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्दाश्च पञ्चानां’(का.२८) मिति वक्ष्य-ति ‘लक्षणान्यपि कर्मेन्द्रियाणां तत्रैव ज्ञेयानि ॥ व्युत्पत्तिस्तु-चष्टेऽनेनेति चक्षुः, शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्, जिघृत्यनेनेति घ्राणम्, रसयत्यनेनेति रसनम्, स्पृशत्यनेनेति स्पर्शं त्वक्, उच्यतेऽनेनेति वचनं वाक्, पण्यतेऽनेनेति पाणिः, पथतेऽनेनेति पादः, पिबन्ति जलादिकमनेन योगिन इति पायुः, उपतिष्ठते विषयार्थमिति-उपस्थमिति ॥ २६ ॥

“उभयात्मकम्”तिकारिकामवतारयति- एकादशमिति । पञ्चज्ञानेन्द्रियपञ्चकर्मेन्द्रियभिन्न-मिन्द्रियं ‘मनः’ संज्ञकमाहेत्यर्थः ॥ अत्र संकल्पकमनः, उभयात्मकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्, नानात्वं गुणपरिणामविशेषात्, बाह्यभेदाश्चेत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-अत्र-एकादशेन्द्रियमध्ये मनः, संकल्पकम्, ‘इदमेव नैव’मिति संकल्पयतीति, संकल्पवत्त्वं मनसो लक्षणम् । तच्च मनः उभयात्मकज्ञानेन्द्रियाणां प्रवर्तकत्वात् ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियाणां प्रवर्तकत्वाच्च कर्मेन्द्रियं च । नन्विन्द्रियत्वमेव कथं सिद्धयतीत्यत आह-साधर्म्यादिति, सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वस्य समानधर्मस्य मनसि सत्त्वादिन्द्रियत्वं सिद्धमिति । ननु कथं सात्त्विकाहंकारादेकस्मात् एकादशेन्द्रियाणीत्यत आह-गुणपरिणामविशेषान्नानात्वमिति, गुणानां परिणामः-अदृष्टविशेषः, तस्य नानात्वात्-बहुविधत्वात्, अदृष्टसहितशब्दबलादहंकारेण श्रोत्रं जनितम्, अदृष्टसहितस्पर्शबलात् त्वक् जनिता, इत्येवं गुणपरिणामेन अदृष्टविशेषेण विशिष्टशब्दाद्यर्थविशेषबलात् एकस्मादप्यनेकविधानि इन्द्रियाणि जातानीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तं-बाह्यभेदाश्चेति । यथा एकस्या पद्मस्य अदृष्टभेदात् घटपटादयो विभिन्ना जायन्ते तथेत्यर्थः ॥ कारिकां व्याख्यातुं प्रतीकमुपादत्ते-‘उभयात्मकमि’तीति । ‘अत्र’पदार्थमाह-एकादशस्विन्द्रियेषु मध्ये इति ।



बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः । तदसाधारणेन रूपेण लक्षयति—“संकल्पकमत्र मनः” इति । संकल्पेन रूपेण मनो लक्षयते । आलोचितमिन्द्रियेण वस्तु ‘इदम्’ इति सम्मुखम् ‘इदमेवं, नैवम्’ इति सम्यक्कल्पयति—विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति यावत् । यदाहुः—“सम्मुखं वस्तुमात्रं तु प्राग्गृह्यन्त्यविकल्पितम् । तत् सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः”—इति । तथा हि—“अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालम्, कादिविज्ञानसदृशं मुखवस्तुजम्”—इति । “ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यथा” । ( इलो. वा० प्रत्यक्षसूत्रम् ११२ ) ‘बुद्ध्याऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ।

उभयात्मकमित्यस्यार्थमाह—बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं चेति । तत्र हेतुमाह—चक्षुरादीनामिति । चक्षुरसनाघ्राणश्रोत्रत्वचाम्, वाक्पाणिपादपायूपस्थानां च मनोधिष्ठितानामनःसंयुक्तानामेव, स्वस्वविषयेषु—क्रमशः रूपरसगन्धश्चक्षुस्पर्शेषु,—वचनादानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्देषु च, प्रवृत्तेः—वृत्तिमत्त्वोपपत्तोरित्यर्थः ॥ तत्—मनः, असाधारणेन रूपेण—लक्ष्यतावच्छेदकमनस्त्वसमनियतेन—संकल्पात्मकरूपेण लक्षयति—“संकल्पकं मनः” इतीत्यर्थः । एतदर्थमाह—संकल्पेन रूपेणेत्यादि । संक्षेपः—‘इदमेवं नैवमिति’ सम्यक् कल्पयति यत् तन्मन इत्यर्थः । संकल्पवत्त्वं मनसो लक्षणमिति यावत् । लक्षयते=प्रतीयते, इतरभेदानुमितिविषयीक्रियते—‘मनः=इतरभिन्नम्,—संकल्पवत्त्वादिति ॥ व्यापारक्रमेण तदुपपादयति—आलोचितमिति । इन्द्रियेण=बाह्येन्द्रियेण, आलोचितं=प्रत्यक्षीकृतं, ‘वस्तु’=पदार्थः । यदा प्रथमं वस्तु गृह्यते इन्द्रियेण, तदा तद्वस्तुज्ञानं प्रथमं ‘इदं किञ्चिदित्याकारकं सम्मुखं=अनुवृत्तव्यावृत्तरूपेण (सामान्यविशेषधर्मेण) अविविक्तमेव भवति । तदनन्तरे द्वितीयक्षणे “इदम् एवम्=घटः घटत्ववान्, इदं नैवम्=घटः पटत्ववान्”, इत्येवं सम्यक् कल्पयति । ‘सम्यक्’=इत्यस्यार्थमाह—विशेषण—विशेष्यभावेनेति । धर्मधर्मिभावेनेत्यर्थः । ‘कल्पयतीत्यस्यार्थमाह—विवेचयतीति । विशिष्टवृत्तिः (सविकल्पकज्ञानं) विषयं करोति, इत्यर्थः । प्रथमं निर्विकल्पकं पश्चात् सविकल्पकं भवतीत्यत्र प्राचां सम्मतिमाह—यदाहुरिति । प्राक्=मनोव्यापारात्परा, चेवलमनोऽधिष्ठितचक्षुःपातानन्तरं द्रव्येण अविकल्पितं=सामान्यविशेषरूपेणाऽनाकलितं, अतएव सम्मुखम्=अविविक्तं, वस्तुमात्रं ‘इदं’ मिति पदार्थमात्रं प्रतिपत्तारो गृह्णन्ति, पुनश्च मनीषिणः=मनोव्यापारवन्तः सन्तः, सामान्यविशेषाभ्यां=अनुवृत्तव्यावृत्तधर्माभ्यां, तत्=वस्तु, कल्पयन्ति=विविच्यवगच्छन्ति, विशिष्टवृत्तिविषयतां नयन्तीत्यर्थः ॥ एतदेव विशदयितुं जैमिनोयदराने चतुर्थसूत्रायशावरभाष्यायकौमारिलश्लोकवार्तिके पठति—अस्तीति । प्रथमं=चक्षुःसंयोगे सति प्रथमक्षणवच्छेदेन, मुखवस्तुजं=अविविक्तवस्तुविषयकं, यद् आलोचनज्ञानं=प्रत्यक्षज्ञानं, जायते, तत् निर्विकल्पकं=प्रकारताविरोध्यतासंसर्गतान्यतमविषयतानिरूपकताशून्यं, अस्ति ॥ तत्र प्रसिद्धनिर्विकल्पकज्ञानान्तरं दृष्टव्यमिति—बालम्, कादिविज्ञानसदृशमिति । वर्णभ्यूनवयस्कस्य बालस्य जन्मतो बधिरमूकस्य प्रचण्डतमोमूढस्य च यद्विज्ञानं धर्मधर्मिविवेकरहितं भवति तत्सदृशमित्यर्थः । ‘मुखवस्तुजं’ मिति स्थाने ‘शुद्धवस्तुजं’ मित्यपि केचित्पठन्ति । पुनस्ततः परम्=निर्विकल्पकज्ञानोत्तरम्, यथा बुद्ध्या—विशिष्टप्रत्यक्षात्मिकया बुद्धिबुद्ध्या, जात्यादिभिर्धर्मैः=जातिविशिष्टतया गुणविशिष्टतया, कर्मविशिष्टतया,—इत्येवं विशेषणविशेष्यसंसर्गान्यतमविशिष्टतया, वस्तु=पदार्थः, अवसीयते=प्रमोयते, सापि=सा च विशिष्टबुद्धिवृत्तिः, प्रत्यक्षत्वेन=विशिष्टप्रत्यक्षात्मिका, सविकल्पिका, सम्मता=स्वीकृता प्रतिपत्तिभिः ॥ एवं संकल्पं व्या-

(श्लो० वा० प्रत्यक्षसूत्रम् १२०) सोऽयं सङ्कल्पलक्षणो व्यापारो मनसः समाना-  
समानजातीयाभ्यां व्यवच्छिन्दन् मनो लक्षयति । स्यादेतत्-असाधारणव्यापारयो-  
गिनौ यथा-महदहङ्कारौ, नेन्द्रियम्, एवं मनोऽप्यसाधारणव्यापारयोगि नेन्द्रियं  
भवेतुमर्हतीत्यत आह-“इन्द्रियं च” इति । कुतः ? “साधर्म्यात्” । इन्द्रियान्तरेः  
सात्त्विकाहङ्कारोपादानत्वं च साधर्म्यम्, न त्विन्द्रलिङ्गत्वम्, महदहङ्कारयोरप्यात्म-  
लिङ्गत्वेनेन्द्रियत्वप्रसङ्गात् । तस्मादव्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रलिङ्गत्वम्, न तु प्रवृत्तिनिमि-  
त्तम् । अथ कथं सात्त्विकाहङ्कारादेकस्मादेकादशेन्द्रियाणीत्यत आह-“गुणपरिणाम-

ख्याय लक्षणसमन्वयमाह-सोऽयमिति । अयं=पूर्वप्रपञ्चितः यः मनसः संकल्पलक्ष्णो व्यापारः  
सः समानजातीयात्-अन्तःकरणत्वेन सजातीयबुद्ध्यादितः बाह्यकरणत्वेन विजातीयचक्षुरादितश्च,  
व्यवच्छिन्दन्=आवर्तयन् सन् मनो लक्षयति=व्यावृत्तरूपेणाऽनुमापयति-‘मनः-इतरमित्रम्,-  
संकल्पवत्त्वा’दिति भावः ॥ मनसोऽनिन्द्रियत्वं शङ्कते-स्यादेतदिति । ‘असाधारणे’त्यादिना  
प्रदर्शयमाणशंका उपपद्येत्यर्थः ॥ शंकामाह-असाधारणेत्यादिना । अयमाशयः-मनस इन्द्रि-  
यत्वे किं प्रमाणमिति ? प्रश्ने सति यथुच्येत-‘मनः,-इन्द्रियम्,-असाधारणव्यापारवत्त्वात्, चक्षुर्व-  
दि’ति चेत् । तत्र युक्तं, महत्तत्त्वेऽहंकारे च इन्द्रियात्मकसाध्याभाववति स्वस्याऽसाधारणव्यापारवत्त्व-  
स्य हेतोः सत्त्वात् व्यभिचारात्, तथा च स्वस्याऽसाधारणव्यापारवन्तावपि महदहंकारौ यथा ने-  
न्द्रियं भवतः तथा असाधारणव्यापारयोगित्वात्मकव्यभिचारिहेतुमन्मनोऽपि न तेन हेतुना इन्द्रियं  
भवेतुमर्हतीत्याशङ्कितुराशयः । महत्तत्त्वस्याऽसाधारणव्यापारः-अध्यवसायः, अहंकारस्य चाऽभि-  
मानः ॥ तत्रोत्तरमाह-“इन्द्रियं च” इति । कुतः ? “साधर्म्यात्” इति । दृष्टान्तचक्षुर्निष्ठेन  
असाधारणव्यापारवत्त्वेन धर्मेण हेतुना नेन्द्रियत्वं मनसः साध्यते किन्तु चक्षुर्निष्ठेन ‘सात्त्विकाहं-  
कारोपादानकत्वेन’-साधर्म्येण हेतुना मनसः इन्द्रियत्वं साध्यते इति भावः । तदेवाह-इन्द्रियान्तरे-  
रिति । चक्षुरादोग्निर्यैः सह, मनसः यत् सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वात्मकं साधर्म्यं तस्मादित्यर्थः ॥  
ननु पूर्वमुक्तम् इन्द्रस्य-आत्मनः लिङ्गत्वात्-“इदंशरीरम्,-आत्मवत्,-सक्रियेन्द्रियवत्त्वादित्येव-  
अनुमापकत्वादपीन्द्रियत्वमुच्यते इति, तथा च चक्षुरादिवत् ‘मनोऽपीन्द्रियं-इन्द्रलिङ्गत्वा’दिति  
कथं न साध्यते ? इत्यत्राह-न त्विन्द्रलिङ्गत्वमिति । इन्द्रलिङ्गत्वं नेन्द्रियत्वसाधकं भवति,  
बुद्धयहंकारयोर्व्यभिचारादित्यर्थः ॥ यदि च व्यभिचारिहेतोरपि साध्यसाधकत्वं स्वीक्रियेत तदाऽऽ-  
पत्तिं दर्शयति-महदहंकारयोरिति । महत्तत्त्वस्य अहंकारस्य च आत्मनः लिङ्गत्वेन-“इदं शरीरम्-  
आत्मवत्,-अहंकारवत्त्वात्, बुद्धिमत्त्वाद्वा, इत्येवमात्मनश्चिह्नत्वात्, अहंकारस्य बुद्धेश्चेन्द्रियत्वापत्तिः  
स्यादिति भावः ॥ कथं तर्हि पूर्वमात्मनश्चिह्नत्वादुभयमिन्द्रियमुक्तमित्यत आह-तस्मादिति । यतः  
इन्द्रलिङ्गत्वस्य व्यभिचारित्वं तस्मात्, व्युत्पत्तिमात्रं=प्रकृतिप्रत्ययार्थान्वाख्यानमात्रमिन्द्रलिङ्गत्वमिति,  
न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्,-न प्रवृत्तेर्निमित्तम् । वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्र-  
कारत्वं प्रवृत्तिनिमित्तत्वं, यथा घटपदप्रवृत्तिनिमित्तं घटत्वं, तस्य घटपदवाच्यत्वात् घटपदवाच्य-  
‘घटा’मकार्थं समवायेन वत्तित्वात् घटपदजन्यघटोपस्थितिप्रकारत्वाच्च । एवम्-“इन्द्रिय”पदप्रवृत्ति-  
निमित्तमिन्द्रियत्वं भवति, तच्च सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वमिति । इन्द्रलिङ्गत्वस्य तु न प्रवृत्तिनि-  
मित्तत्वमिति भावः ॥ अविलक्षणादहंकारात्कथं त्रिलक्ष्णानीन्द्रियाणीत्याशङ्कते-अथेति । एकस्मा-  
त्-एकविधास्तात्त्विकाहंकारात्, एकादशेन्द्रियाणि-पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति  
कथमुत्पद्यते ? कारणभेदस्य कार्यभेदप्रयोजकत्वादिति भावः ॥ उत्तरयति कारिकाशेन-गुणपरि-



विशेषाज्ञानात्वं बाह्यभेदाश्च” इति । शब्दाद्युपभोगसम्प्रवर्तकादृष्टसहकारिभेदात्का-  
यभेदः । अदृष्टभेदोऽपि गुणपरिणाम एव । ‘बाह्यभेदाश्च’ इति दृष्टान्तार्थम्, यथा  
बाह्यभेदास्तथैतदपीत्यर्थः ॥ २७ ॥

तदेवमेकादशेन्द्रियाणि स्वरूपत उक्त्वा दशानामप्यसाधारणीवृत्तीराह-

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

नामविशेषान्नानात्वमिति । गुणानां=सत्त्वरजरतमसां बुद्धश्चरश्चागतानां यः परिणामः-  
धर्मः अदृष्ट, पुण्याऽपुण्ये, तयोर्विशेषः-वैचित्र्यं तस्मात्, कार्यस्य इन्द्रियाल्यस्य नानात्वमित्यर्थः ।  
एतदेवार्थमाह-शब्दाद्युपेति । शब्दस्पर्शादीनां यः उपभोगः-सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः तस्य  
प्रवर्तकं सम्पादकं यत् विभिन्नम् अदृष्टं सहकारिकारणं तस्य भेदात्=भिन्नत्वात्, कार्यस्य-इन्द्रिय-  
जातीयस्य भेदः-भिन्नता, तथा च-शब्दोपभोगसम्पादकाऽदृष्टप्रयोज्यगुणविमर्दवैचित्र्यविशिष्टाऽहं-  
कारस्य श्रोत्रजनकत्वम्, स्पर्शोपभोगसम्पादकाऽदृष्टप्रयोज्यगुणविमर्दवैचित्र्यविशिष्टाहंकारस्य  
त्वक्जनकत्वमित्येवमेकादशेन्द्रियाणां विशिष्टकारणनानात्वान्नानात्वमिति भावः ॥ ननुगुणपरिणामः-  
न्यूनाधिक्यं, तद्वद्वात्कार्यभेदमित्यनुक्त्वा अदृष्टात्मकसहकारिभेदात्कार्यभेद इति कथमुच्यते इत्या-  
शंका निरासायाह-अदृष्टभेदोऽपीति । अत्र गुणपरिणामशब्देन अदृष्टमेव सहकारि ग्राह्यतस्या-  
पि गुणपरिणामत्वादिति भावः ॥ दृष्टान्तमाह-बाह्यभेदाश्चेति । यथा बाह्यभेदाः=यथा निमित्त-  
भेदात् पृथिव्यैवापि तद्वन्त्या बाह्याः-सर्वानुभवविषयाः घटपटदण्डादयो भिद्यन्ते, यथा जलमेकमपि  
निमित्तान् भूविकारानासाद्य नारिकेलतालतालीप्रभृतिफलरसतया मधुराम्ललवणादितया भिद्यते,  
तद्वत् अदृष्टात्मकसहकारिविशिष्टशब्दस्पर्शादिविभिन्नविषयकार्यबलात् अहंकारस्य परिणामभेदात्  
भिन्नानिन्द्रियाणि तन्मात्राणि च समुत्पद्यन्ते इति भावः । एतदेवाह,-तथा-एतदपि । बाह्यभेदवत्  
इन्द्रियाण्यपि भिन्नानि स्युरित्यर्थः ॥ ‘बाह्यभेदाश्च’-यति पाठान्तरम्, तथा च अदृष्टभेदात्  
बाह्यानां शब्दाद्यात्मकविषयाणां च प्रयोजकानां भेदात् इन्द्रियात्मककार्यभेद इत्यर्थो बोध्यः ॥ २८ ॥

‘रूपादिष्विति’ कारिकामवतारयति-तदेवमिति । (२६) (२७) कारिकाभ्यामेकादशेन्द्रियाणि  
स्वरूपतः उक्त्वा मनश्च सलक्षणमुक्त्वा, इदानीं दशानां-ज्ञानेन्द्रियकर्मिन्द्रियाणाम् असाधारणीवृत्तीः=  
तत्तत्लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतधर्मान् लक्षणातीति यावत्, आहेत्यर्थः ॥ रूपादिष्विति । पञ्चानां  
रूपादिषु आलोचनमात्रं वृत्तिरिष्यते, पञ्चानां वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च (वृत्त्यः इष्यन्ते)  
इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-पञ्चानां चक्षुरसनघ्राणत्वक्कर्णानां क्रमशः रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु  
सन्निहितेषु सत्सु यत् आलोचनमात्रं=आलोचनमेव, निर्विकल्पकवृत्तिर्जायते इति यावत् । तदिद-  
मालोचनं वृत्तिः-असाधारणव्यापारः, तथा च रूपविषयकालोचनवत्त्वं चक्षुषः लक्षणम्, रसविषय-  
कालोचनवत्त्वं रसनाया लक्षणम्, गन्धविषयकालोचनवत्त्वं घ्राणस्य लक्षणम्, स्पर्शविषयकालोच-  
नवत्त्वं त्वको लक्षणम्, शब्दविषयकालोचनवत्त्वं श्रोत्रस्य लक्षणम् ॥ एवम्-पञ्चानाम्=वाक्पाणि-  
पादपायूपस्थानां क्रमशः वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्चेति वृत्तिः-असाधारणव्यापारा बोध्या इति ।  
तत्र वचनं शब्दनं क्रिया, माषणात्मकाऽसाधारणव्यापारवत्त्वं वाचो लक्षणम्, आदानं-वस्तुनो  
ग्रहणं ग्रहणात्मकाऽसाधारणव्यापारवत्त्वं पाणेः हस्तस्य लक्षणम् । विहरणं गमनं, गमनात्मकाऽसा-  
धारणव्यापारवत्त्वं पादस्य चरणस्य लक्षणम् । उत्सर्गः-मलत्यागः, उत्सर्गात्मकाऽसाधारणक्रियाव-

बुद्धीन्द्रियाणां सम्मुखवस्तुदर्शनमालोचनमुक्तम् । “वचनादानविहरणोत्सर्गा-  
नन्दाश्च पञ्चानाम्”-कर्मन्द्रियाणाम् । कण्ठतात्त्वाद्विस्थानमिन्द्रियं वाक्, तस्या  
वृत्तिर्व्यापारः वचनम्, ज्ञानेन्द्रियाणां वृत्तयः स्पष्टाः ॥ २८ ॥

अन्तःकरणत्रयस्य वृत्तिमाह—

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

“स्वालक्षण्यम्” इति । स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य । स्वमसाधारणं लक्षणं येषां  
तानि स्वालक्षणानि-महदहङ्कारमनांसि, तेषां भावः स्वालक्षण्यम्, तच्च स्वानि स्वानि  
लक्षणान्येव । तद्यथा-महतोऽध्यवसायः, अहङ्कारस्याऽभिमानः, सङ्कल्पो मनसो

त्वं पायोः गुदाया लक्षणम् । आनन्दः-रतिः, रत्यात्मकाऽसाधारणव्यापारवत्त्वं उपस्थस्य लिङ्गेन्द्रि-  
यस्य लक्षणम् इति बोध्यम् ॥ तत्त्वकौमुद्यां बुद्धीन्द्रियाणामिति । ज्ञानेन्द्रियाणां सम्मुखं-  
अविविक्तं, वस्तुमात्रस्य, मात्रपदेन धर्मो व्यावर्त्यन्ते-धर्मधर्मिभावश्च तस्य पदार्थस्येति भावः,  
दर्शनं-निर्विकल्पकज्ञानं, आलोचनम् उक्तम्-पूर्वकारिकाव्याख्याने ‘अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं’-  
मित्यादिना ॥ उत्तरार्धां व्याख्याति-वचनादानेत्यादिना । उच्यते तत् वचनं आ समन्तात्  
दीयते गृह्यते तत् आदानं ग्रहणम् । विहिते तत् विहरणम्, उत्सृज्यते स उत्सर्गः, आनन्द्यते-  
इत्यानन्दः ॥ कारिकास्थस्य द्वितीयपञ्चानामिति पदस्याऽर्थमाह-कर्मन्द्रियाणामिति । क्रियते-  
नेनेति कर्म, कर्म च तदिन्द्रियं कर्मन्द्रियमिति । ‘कर्मन्द्रियाणामित्यत्र’ वृत्तय इति विपरिणमस्य  
योज्यम् । वागिन्द्रियाऽधिष्ठानमाह-कण्ठेति । ‘अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।  
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च’ इत्युक्तानि कण्ठतात्त्वादीनि स्थानानि यस्मैन्द्रियस्य  
तत् कण्ठतात्त्वाद्विस्थानमिन्द्रियं वाक्, तस्या=वाचः, वृत्तिः=असाधारणव्यापारः, वचनम्-भाषणम्,  
शब्दनमिति ॥ स्पष्टमन्यदिति । पाणीन्द्रियस्य अधिष्ठानं करौ । पादेन्द्रियस्याधिष्ठानं चरणे ।  
पाथ्विन्द्रियस्याधिष्ठानं गुदागोलकः । उपस्थेन्द्रियस्याधिष्ठानं लिङ्गमिति । आदानं पाणेर्वृत्तिः । विहरणं  
पादयोर्वृत्तिः । उत्सर्गः पायोर्वृत्तिः । आनन्दः उपस्थस्य वृत्तिरिति स्पष्टमित्यर्थः ॥ २९ ॥

‘स्वालक्षण्यमिति कारिकाभवतारयति-अन्तःकरणत्रयस्येति । बुद्ध्यहङ्कारमनसां साधारणो  
वृत्तिमाहेत्यर्थः ॥ स्वालक्षण्यमिति मूलम् । त्रयस्य स्वालक्षण्यं वृत्तिः, सा एषा सामान्या भवति  
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्याः पञ्च वायवः (भवन्ति) इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-त्रयस्य-त्रिविध-  
स्यान्तःकरणस्य, स्वालक्षण्यं-स्वत्वाऽसाधारणलक्षणमेव, वृत्तिः-व्यापारः, सा च असाधारणवृत्तिः-  
असाधारणव्यापारः, भवति, तत्र मनसः संकल्पः, अहङ्कारस्याऽभिमानः, बुद्ध्यध्यवसाय इति । अथ  
च सामान्या साधारणो त्रिविधकरणस्य जीवनवृत्तिस्तु प्राणापानसमानोदानव्यानाख्याः पञ्च वायवो  
बोद्ध्याः, अन्तःकरणानां वियोगे प्राणवियोगादिति ॥ तत्त्वकौमुद्यां-‘स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्येति व्या-  
ख्याति । स्वमिति । ‘स्वम्’-इत्यस्यार्थमाह-असाधारणमिति । लक्ष्यतावच्छेदकमनस्त्वादि-  
समनियतमित्यर्थः । लक्षणं-धर्मः-संकल्पाद्यात्मकव्यापारः, येषां=मनोऽहङ्कारबुद्धीनां, तानि स्वा-  
लक्षणाणि=असाधारणलक्षणवन्तीत्यर्थः । कानि तानीत्यपेक्षायां-तदर्थमाह-महदहङ्कारमनांसितीति ।  
तेषाम्=महदहङ्कारमनसां, भावः-धर्मः, स्वार्थेऽण् । ननु कोऽयं धर्मः? इत्याकांक्षायामाह-तच्चेति  
स्वालक्षण्यं चेत्यर्थः । स्वानि स्वानि=स्वकीयानि स्वकीयानि, लक्षणान्येव=असाधारणव्यापाराएव  
बोद्ध्याः, । तदेव दर्शयति-तद्यथेति । महतः=बुद्धेः, अध्यवसायः=निश्चयः असाधारणव्यापारः ।



वृत्तिः-व्यापारः ॥ वृत्तिर्द्वैविध्यं साधारणासाधारणत्वाभ्यामाह-‘सैषा भवत्यसामान्या’ ॥ असाधारणी । ‘सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च’ । सामान्या चाऽसौ करणवृत्तिश्चेति । त्रयाणामपि करणानां पञ्च वायवो जीवनं वृत्तिः, तद्भावे भावात् तदभावे चाऽभावात् । तत्र प्राणो नासाग्रहन्नाभिपादाङ्गुष्ठवृत्तिः, अपानः कृकाटिका-पृष्ठपादपाथूपस्थपाद्वर्ध्ववृत्तिः, समानो हन्नाभिसर्वसन्धिवृत्तिः, उदानो हृक्कण्ठतालु-मूर्धभ्रूमध्यवृत्तिः, व्यानस्त्ववृत्तिरिति पञ्च वायवः ॥ २९ ॥

चतुर्विधकरणस्याऽसाधारणीषु वृत्तिषु क्रमाक्रमौ सप्रकारावाह-

अहंकारतत्त्वस्य अभिमानोऽसाधारणव्यापारः । मनसश्च संकल्पोऽसाधारणव्यापारः इति ॥ साधारणत्वं=लक्ष्यतावच्छेदकाऽसमनियतत्वं, असाधारणत्वं=लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वम्, ताभ्यां, वृत्तेर्द्वैविध्यं । तत्राऽसाधारणवृत्तिमाह-‘सैषा भवत्यसामान्येति । सैषा=अध्यवसायाधामिका । ‘असामान्या’-इत्यस्यार्थमाह-‘असाधारणीति । महत्तत्त्वसमनियतत्वात् अध्यवसायः अहंकारत्वसमनियतत्वादभिमानः मनस्त्वसमनियतत्वाच्च संकल्पः-असाधारणीवृत्तिरित्यर्थः ॥ अथ सामान्यां त्रिविधान्तःकरणस्य वृत्तिमाह-सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्यावायवः पञ्च’ इति । ‘सामान्यकरणवृत्ति’रिति व्याख्याति-सामान्या चासाविति । सामान्यत्वं कथमिति चेदित्थं,-अहंकारमहत्तत्त्वयोरपि वृत्तित्वेन लक्ष्यतावच्छेदकमनस्त्वाऽसमनियतत्वात्, एवं मनोऽहंकारयोरपि वृत्तित्वेन लक्ष्यतावच्छेदकमहत्तत्त्वाऽसमनियतत्वात्, एवं मनोमहत्तत्त्वयोरपि वृत्तित्वेन लक्ष्यतावच्छेदकाऽहंकारत्वाऽसमनियतत्वात् पञ्चविधः प्राणः साधारणी वृत्तिरिति भावः ॥ करणवृत्तिः करणानां त्रयाणां-मनोऽहंकारमहतां वृत्तिरिति करणवृत्तिः । पञ्च वायवः=प्राणः अपानः समानः व्यान उदानश्चेति । जीवनम्=जीव्यते=स्थूलशरीरावच्छेदेन स्वं स्थायते अथवा खाऽसाधारणं व्यापारो लभ्यतेऽनेन-सहायभूतप्राणेनेति जीवनं वृत्तिः प्राण इत्यर्थः । यथा पञ्जरकम्पनरूपो व्यापारः संहतानां पक्षिणां साधारणो व्यापारस्तथा शरीरधारणरूपो जीवनाख्यः प्राणनव्यापारः मिलितानां व्यन्तःकरणानां साधारणो व्यापार इति भावः ॥ जीवनवृत्तेरन्तःकरणधर्मत्वेऽन्यव्यतिरेकावाह-‘तद्भावे-इत्यादिः । अन्तःकरणसत्त्वे प्राणसत्ता, अन्तःकरणाऽभावे च पापाणादौ प्राणानाऽभावादित्यर्थः । जीवनवृत्तेः प्राणस्यैकस्यापि स्थानभेदेन पञ्चविधत्वं दर्शयति-तत्र प्राण इति । प्राणनात्=अन्नाश-नादिना शरीरधारणाप्राणः । स च नासाग्रे हृदि नाभौ पादयोरङ्गुष्ठेषु च वृत्तिः-वर्तते । मलमूत्रादेरपनयनादपानः, स च कृकाटिकायां-कृकं कण्ठं अरति व्याप्नोतीति कृकाटिका-पाठा तस्यां, पृष्ठे पादयोः पाथौ उपस्थे पाद्वर्ध्वोश्च वर्तते । समम् अनुरूपं नाड्योप रसानां नयनात्समानः, स च हृदि नाभौ सर्वासु सन्धिषु च वर्तते । रसाद्यध्वनयनादुदानः, स च हृदि कण्ठे तालौ मूर्ध्नि भ्रूमध्ये वर्तते । बलवत्कर्महेतुत्वात् सर्वशरीरव्यापित्वाच्च व्यानः, स च त्वचि वर्तते इति स्थानभेदात् क्रियभेदाच्च प्राणस्य पञ्च संज्ञेति । एवं नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जयेतिपञ्चाऽधिका अपि वायवो भवन्तीति बोध्यम् । प्राणादयः स्थूलवायुरेवेति न तत्त्वान्तरमिति बोध्यम् ॥ २९ ॥

युगपच्चतुष्टयस्येति कारिकामवतारयति-चतुर्विधकरणस्येति । बाह्येन्द्रियाणि दशेति बाह्यसमूहत्वेन बाह्यमेकं करणं, मनोऽहंकार बुद्ध्यश्चेति त्रीणि करणानि, मिलित्वा चतुर्विधकरणस्येत्यर्थः त्रयोदशकरणानामिति यावत् । असाधारणीषु वृत्तिषु=शब्दाद्यालोचन-वचनादि-संकल्पाभिमानाध्यवसायेषु । क्रमः-क्रमेण वृत्तिजननं, अक्रमः-अक्रमेण-युगपत् वृत्तिजननं च, सप्रकारी=एकः प्रकारः दृष्टे पदार्थं त्रयोदशानामपि वृत्तिः युगपत् अयुगपच्चेति, द्वितीयः प्रकारः-अष्टे पदार्थे

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।

दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

“युगपत्” इति । दृष्टे यथा—यदा सन्तमसान्धकारे विद्युत्सम्पातमात्राद्याग्रम-  
भिमुखमतिसन्निहितं पश्यति, तदा खल्वस्याऽऽलोचनसङ्कल्पमभिमानाध्यवसाया  
युगपदेव प्रादुर्भवन्ति, यतस्तत् उत्प्लुत्य तत्स्थानादेकपदेऽपसरति । “क्रमशश्च”  
यदा मन्दालोके प्रथमं तावद्वस्तुमात्रं सम्मुखमालोचयति । अथ प्रणिहितमनाः ‘क-  
र्णान्ताकृष्टसशरशिञ्जितमण्डलीकृतकोदण्डः प्रचण्डतरः पाटच्चरोऽयम्’ इति निश्चि-

आलोचनपूर्वकं अन्तःकरणत्रयस्यैव वृत्तिः युगपदयुगपच्चेत्यर्थः ॥ युगपच्चतुष्टयस्येति मूलम् । दृष्टे तु  
तस्य चतुष्टयस्य वृत्तिः युगपत् निर्दिष्टा, क्रमशश्च निर्दिष्टा । तथा अदृष्टेऽपि तत्पूर्विका त्रयस्य वृत्तिः  
युगपत् क्रमशश्च निर्दिष्टा—इत्यन्वयः । सक्षिसार्थः—दृष्टे=अकरमात् सिद्धे दृष्टे सति तु, तस्य  
चतुष्टयस्य—बाह्यकरणमनोऽहंकारबुद्धीनां, त्रयोदशकरणानामिति यावत्, वृत्तिः—व्यापाराः युगपत्=  
एकक्षणादच्छेदेन, निर्दिष्टाः कथिताः भवन्तीति । अथ अन्धकारे क्रमशः धानुष्कदर्शनादौ सति  
क्रमशः—प्रथममालोचनं ततः संकल्पस्ततोऽभिमानस्ततोऽध्यवसाय इति वृत्तयो भवन्ति, यथोक्तं  
माषकाव्ये—“चयस्त्विवामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विमाविताकृतिम् । विभुर्विभक्तावयवं  
पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः” इति ॥ तथा—दृष्टवत्, अदृष्टेऽपि अप्रत्यक्षेऽपि पर्वतनिकुंजगत-  
सिंहादौ तत्पूर्विकाः—दृष्टपूर्विकाः—सिंहजनाशब्दाद्यालोचनपूर्विका त्रयस्य=मनोहंकारमहतां वृत्त  
यो युगपद्भवन्ति । अथ अदृष्टे पर्वतीयबहुयादौ तु महानसीयबहिर्भूमादिदर्शनपूर्विका पर्वतीयभूमा-  
द्यालोचनपूर्विका वा क्रमशोऽन्तःकरणानां वृत्तयो जायन्ते इत्यर्थः ॥ कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते—  
दृष्टे यथेति । दृष्टे—प्रत्यक्षविषये पदार्थे । सन्तमसाऽन्धकारे=सन्ततं तमः सन्तमसं—सर्वतो व्याप्तं  
तमः, ‘सन्तमस’ शब्देनैवाऽन्धकारलभसम्भवात् अन्धकारप्रयोगोऽनतिप्रयोजनक इति, बोध्यम् ।  
निबिडान्धकारे इति तदर्थः । विद्युतः संपातः=सम्यक् पातः—प्रादुर्भावः तन्मात्रात्, अभिमुखं—स्वस-  
न्मुखं, अतिसन्निहितं=स्वस्यान्तिके एव स्थितम्, व्याघ्रं, यदा कश्चित् पश्यति तदा खलु=निश्चयेन,  
अस्य दर्शकस्य ‘किञ्चिदिति’ दर्शनात्मकाऽऽलोचनं किञ्चिदिति—संकल्पाभिमानाध्यवसायाश्च भयं  
च निर्विकल्पका युगपद्भवन्ति, द्वितीयक्षणे च सविकल्पका भवन्ति । यतः—युगपद्भवनाद्धेतोः, ततः=  
तदुत्तरं,—तृतीयक्षणे एव, उत्प्लुत्य=कूर्दनं कृत्वा, \* तत्स्थानात्—एकपदे=एकस्मिन्नेव काले, तत्क्षणं  
सहसा भटित्येवेति यावत्, अपसरति—विप्रकृष्टं देशमभिधावतीति ॥ अनेन युगपद्विभिन्नज्ञानानुत्प-  
त्तिरिति न्यायसिद्धान्तः खण्डित इति बोध्यम् ॥ दृष्टे विषये क्रमशो वृत्तीरुपपादयति—यद्वा मन्दा-  
लोके इति । यथा यदा मन्दे आलोके प्रकाशे सति, प्रथमं=प्रथमक्षणे, वस्तुमात्रं धर्मधर्माभावाना-  
पन्नं पदार्थमेव, सम्मुखं—अविविक्तं, आलोचयति बाह्येन्द्रियेण चक्षुषा । अथ=तदनन्तरं द्वितीयपक्षणे  
प्रणिहितमनाः—प्रकर्षेण निहितं दत्तं मनो येन सः—दत्तमना दर्शकः, ‘अयं पाटच्चरः—चौरः’ इति  
निश्चिनोति—संकल्पयति, स्थाण्वादिभ्यो विवेचयति ॥ पाटच्चरः कोदृशः ! इत्यत आह—कर्णान्तेति  
कर्णस्य अन्तः—प्रान्तः, तत्पर्यन्तम् आकृष्टं—आतानितं सशरं=शरेण सहितं, शिञ्जितं=मौर्वीता-  
ननेन शब्दीकृतं, मण्डलीकृतं—ताननेन गोलाकारीकृतं,—कर्णान्ताकृष्टं च सशरशिञ्जितं च मण्ड-  
लीकृतं च कोदण्डं धनुर्येन सः तथाविधः पाटच्चरः इत्यर्थः ॥ अथ च=संकल्पोत्तरक्षणे च, ‘मां प्रति पति-  
आगच्छति’—इत्यभिमुख्यते । अथ—अभिमानोत्तरक्षणे च,—‘इतः=एतस्मात्, स्थानात्, स्थानान्तरं प्रति



नोति, अथ च 'मां प्रत्येति' इत्यभिमन्यते, अथाऽध्यवस्यति- 'अपसरामीतः स्थानात्' इति । परोक्षे त्वन्तःकरणत्रयस्य बाह्येन्द्रियवर्जं वृत्तिरित्याह- "अदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः" इति । अन्तःकरणत्रयस्य युगपत्क्रमेण च वृत्तिर्दृष्टपूर्विकेति, अनुमानागमस्मृतयो हि परोक्षेऽर्थं दर्शनपूर्वाः प्रवर्तन्ते, नाऽन्यथा । यथा दृष्टे तथाऽदृष्टेऽपीति योजना ॥ ३० ॥

स्यादेतत्-चतुर्णां त्रयाणां वा वृत्तयो न तावत्तन्मात्राधीनाः, तेषां सदातनत्वेन वृत्तीनां सदोत्पादप्रसङ्गात्, आकस्मिकत्वे तु वृत्तिसङ्करप्रसङ्गो नियमहेतोरभावादित्यत आह-

अपसराभिः=वाच्छाभिः, -गतव्यमिति=अध्यवस्यति-निश्चिनोतीति ॥ इत्येकः प्रकारः ॥ अथ-अपरेण प्रकारेण क्रमाक्रमावाह-परोक्षे त्विति । अप्रत्यक्षे-पर्वतनिबुद्धगते सिंहादौ तु, बाह्येन्द्रियवर्जं=बाह्येन्द्रियाणि वर्जयित्वा, अन्तःकरणत्रयस्य=मनोहंकारमहतां, वृत्तीः=व्यापारान्=युगपत् क्रमशश्चाहेत्यर्थः ॥ अदृष्टे=अप्रत्यक्षे सिंहादौ, त्रयस्य=मनोहंकारमहतां, तत्पूर्विकाः=आलोचनपूर्विका, वृत्तिः=व्यापाराः भवन्तीत्यर्थः ॥ एतदेव मूलं व्याख्याति-अन्तःकरणत्रयस्येति । युगपत्=समानक्षणावच्छेदेन क्रमेण=अव्यवहितोत्तरोत्तरक्षणावच्छेदेन, दृष्टपूर्विका=आलोचनपूर्विका वृत्तिर्भवतीति । अनुमानं अनुमितिवृत्तिः, आगमः=शाब्दबोधवृत्तिः, स्मृतिः=स्मरणात्मकवृत्तिः, परोक्षेऽर्थं=अप्रत्यक्षे पदार्थं, दर्शनपूर्वाः=आलोचनपूर्वाः एव, प्रवर्तन्ते=जायन्ते, नाऽन्यथा=आलोचनं विहाय नैव जायन्ते इत्यर्थः । तत्र अनुमानस्य दृष्टान्तं यथा-गुहास्थसिंहगर्जनाऽऽलोचनोत्तरं श्रोतुः 'अयं देशः सिंहवान्' इति संकल्पाभिमानाध्यवसायवृत्तयोऽनुमित्यात्मिका युगपद्भवन्तीति । आगमस्य दृष्टान्तं-चिरविरहिण्याः कान्तायाः कुड्यव्यवहिते स्वकान्तोच्चरिताऽ'हमागतोऽस्मी' इति शब्दश्रवणे सति तस्या द्रगेव संकल्पाभिमानाध्यवसायात्मिका वृत्तयो वाक्यबोधात्मिका युगपत् भवन्तीति । स्मरणस्य दृष्टान्तं-यथा दाहणयुद्धप्रवृत्तानां प्रतियोद्धुः शस्त्रे दृष्टे सति तत्प्रतिकाराय द्रागेव युगपत् प्रतिशस्त्रस्मरणवृत्तिः संकल्पाभिमानाध्यवसायात्मिका भवतीति ॥ एवम् अदृष्टेऽर्थं क्रमशो यथा प्रकाशदर्शनेन अदृष्टवह्नेः पर्वते व्याप्यात्मकसंकल्प-परामर्शात्मिकाऽभिमानाऽनुमित्यात्मकाध्यवसायाः क्रमशो भवन्तीति । 'परब्रह्म भगवान् श्रीस्वामिनारायणः एक एव अन्ये तु तदवतारा' इति वाक्यश्रवणे सति क्रमशः संकल्पाभिमानाध्यवसायात्मिका शाब्दबोधवृत्तिर्भवतीति । पुनस्तस्यैव श्रेष्ठविषयस्य योगे सति क्रमशस्तत्संकल्पाभिमानाध्यवसायात्मिका स्मृतिर्भवतीति भावः ॥ दृष्टान्तौ योजयति-यथा दृष्टे तथाऽदृष्टेऽपीति । यथा दृष्टे पदार्थे चतुर्विधकरणानां युगपत् क्रमशश्च वृत्तयो भवन्ति । तथाऽदृष्टे पदार्थे बाह्यकरणवृत्तिपूर्विकाऽन्तःकरणत्रयस्यैव युगपत् क्रमशश्च वृत्तयो भवन्तीत्यर्थः ॥ रङ्गभूमौ शतवेधादिक्रियायां सर्वविधान्युदाहरणान्यनुसन्धेयानीति ॥ ३० ॥

"त्वां स्वामि" तिकारिकां शंकाव्याजेनाऽवतारयति-स्यादेतदिति । एतत्-चतुर्णामित्यादिनाऽऽशङ्क्यमानमुपपद्येत्यर्थः ॥ चतुर्णां-बाह्येन्द्रियमनोहंकारमहत्त्वानां, त्रयाणां-मनोहंकारमहत्त्वानाम्, वृत्तयः=स्वस्वाऽसाधारणवृत्तयः साधारणवृत्तयश्च, न तन्मात्राऽधीनाः=नेतरनिमित्तनैरपेक्ष्येण करणमात्राऽधीनाः । तत्र हेतुमाह-तेषामिति । चतुर्णां त्रयाणां वा करणानामित्यर्थः । सदातनत्वेन=सर्वकालस्थायित्वेन, वृत्तीनां-तत्कार्यात्मकवृत्तिरूपधर्माणाम्, सदोत्पादप्रसङ्गात्=सर्वदोषलम्भप्रसङ्गात्, तथा च सर्ववृत्तिलयात्मकमुपपद्यनुपपत्तिरिति भावः । अथ निनिमित्ता कारणानुपेक्षा एव भवन्तु' इति चेत् । तदपि न, वृत्तिसंकरप्रसंगादिति दूषणमाह-आकस्मिकत्वे

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकृतहेतुकां वृत्तिम् ।  
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

“स्वाम्” इति । करणानीति-शेषः । यथा हि बहवः पुरुषाः शाक्तीकयाष्टीक-  
धानुष्ककार्पाणिकाः कृतसङ्केताः परावस्कन्दनाय प्रवृत्ताः, तत्राऽन्यतमस्याऽऽकृतमन्त्र-  
गम्याऽन्यतमः प्रवर्तते, प्रवर्तमानस्तु शाक्तीकः शक्तिमेवाऽऽदत्ते, न तु यत्पञ्चादिकम्  
एवं याष्टीकोऽपि यष्टिमेव, न शक्त्यादिकम् । तथाऽन्यतमस्य करणस्याऽऽकृतात्

तु वृत्तिसंकरप्रसङ्ग इति । आकस्मिकत्वे=कस्मादपि न भवति तत् आकस्मिकं=कारणाऽनियन्तो-  
त्पत्तिकत्वे, इत्यर्थः । वृत्तिसंकरप्रसङ्गः=संकल्पात्मिका वृत्तिरहंकारात् स्यात् अहंकारस्य वृत्तिर्गह-  
त्तत्वात्स्यात् महत्तत्त्वस्य वृत्तिर्वा मनसः स्यात् बाह्यकरणानां वृत्तयोऽन्तःकरणैरूपन्नाः स्युः अन्तः-  
करणानां वा वृत्तयो बाह्यकरणैरुद्भवेयुरिति=यत् प्राविर्भावसार्क्यं, अथवा संकल्पात्मिका वृत्तिः  
कचित् मनसः कचिदहंकारात् कचिदाख्येन्द्रियात्-इत्येवं यत् सार्क्यं तत्प्रसङ्गः स्यादिति । तत्र  
हेतुमाह-नियमहेतोरभावादिति । नियमस्य=कार्यकारणभावाख्यस्य ‘एनां वृत्तिं प्रति इदमेव  
कारणं’ मिति नियमात्मकस्य, हेतोः=निरूपकस्य, नियामकस्येति यावत्, अभावात्=असत्त्वात्  
अनिर्धारणादिति यावत् । इत्यतस्तत्र नियामकं दर्शयितुमियं कारिकेति भावः ॥ स्वां स्वामिति  
मूलम् । परस्पराकृतहेतुकां स्वां स्वां वृत्तिं प्रतिपद्यन्ते, पुरुषार्थ एव हेतुः, केनचित्करणं न कार्यते-  
इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः करणानि परस्पराकृतहेतुकाम्=परस्परसंकेतनियमितां, परस्परेषां करणानां  
सृष्टिकाले यः आकृतं संकेतः-“अध्यवसायः बुद्धेरेव, अभिमानस्त्वहंकाररथैव, संकल्पस्तु मनस एव,  
रूपालोचनं चक्षुष एव, आदानं हस्तयोरेव, त्यादिसंकेतः-प्रकृतिसमापतिक-करणसदस्यकपरिपदि  
थो जातनीर्णय, इति यावत्, ‘हेतु’पदं नियमार्थकं, तादृशसंकेत एव हेतुः नियमो यस्याः सा इति  
परस्पराऽऽकृतहेतुका ताम् । हेतुपदस्य हेत्वर्थकत्वे तु ‘पुरुषार्थ एव हेतु’ रित्यत्र एवकारेण पुरुषार्थाऽ-  
तिरिक्तस्याऽहेतुत्वकथनात्तेन सह विरोधः स्यादिति बोध्यम् । स्वां स्वां-स्वकीयां त्वकीयाम् असा-  
धारणी वृत्तिं प्रतिपद्यन्ते=स्थूलां वृत्तिं प्राप्नुवन्तीति । वृत्तीनामुद्भवे तु पुरुषार्थः=भोगापवर्गात्मकः  
पुमर्थः एव हेतुः-प्रयोजकः निमित्तं, नान्यत् । न नु चेतनः प्रयोजको भवतु इत्यत आह-न केन-  
चित् कार्यते करणमिति । पुरुषार्थाऽतिरिक्तेन अन्येन चेतनेन केनचिदपि कारणं=उभयविधमपि  
करणं न कार्यते=न प्रेर्यते, न स्थूलवृत्तिमत् क्रियते इति यावत् ॥ कारिकां व्याख्यातुमुपक्रमते-  
करणानीति-शेष इति । बाह्यकरणानि अन्तःकरणानि चेत्यर्थः । एतच्छेषं ग्रहणेन कारिकास्थं  
‘करणं’ न कर्तुर्निर्वाहकमिति ज्ञापितम् । दृष्टान्तेन स्पष्टयति-यथाहीत्यादिना । बहवः पुरुषाः,  
=एकपक्षस्था एव योद्धार इत्यर्थः । शक्तिः प्रहरणमायुधं यस्याऽसौ शाक्तीकः, यष्टिः प्रहरणमस्याऽ-  
सौ याष्टीकः, धनुः प्रहरणं यस्याऽसौ धानुष्कः, कृपाणः प्रहरणं यस्याऽसौ कार्पाणिकः, शक्तिपाणयः,  
यष्टिपाणयः, धनुष्याणयः, कृपाणपाणयश्चेति यावत् । कृतसंकेताः=कृतः संकेतः-‘आक्रमणसमये त्वया  
यष्ट्यात्मकमायुधं ग्रहणीयं अनेन खड्गात्मकमायुधं ग्रहणीयं’मित्येवं प्रथममेव कृतनियमाः, यदा  
परेषां=शत्रूणां, अवस्कन्दनाय=दमनाय, प्रवृत्ताः,=युद्धप्रारम्भे इति शेषः । तदानीं काले तत्र=  
एकपक्षीययोद्धूप मध्ये, अन्यतमस्य=अन्यानाम्,=संकेतकतृणामित्यर्थः । आकृतं=अभिप्रायं-संकेत-  
नियममिति यावत् । अवगम्य=यथासंकेतं संस्पृष्ट्य, अन्यतमः=तन्मण्डलीकः प्रत्येकव्यक्तिः, प्रवर्त-  
ते=युद्धाय प्रवर्तन्ते । तत्र प्रवर्तमानः व्यक्तिः शाक्तीकः=शक्त्यायुधस्वामी, शक्तिमेव आदत्ते न



स्वकार्यकरणाभिमुख्यादन्यतमं करणं प्रवर्तते । तत्प्रवृत्तेश्च हेतुमत्त्वाच्च वृत्तिसङ्करप्रसङ्ग इत्युक्तम्—“स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते” इति । स्यादेतत्—याष्टीकादयश्चेतनत्वात् परस्परकृतमवगम्य प्रवर्तन्ते इति युक्तम् । करणानि त्वचेतनानि, तस्मान्नैवं प्रवर्तितुमुत्सहन्ते । तेनैवामधिष्ठात्रा करणानां स्वरूपसामर्थ्योपयोगाभिज्ञेन भवितव्यमित्यत आह—“पुरुषार्थ एव हेतुः, न केनचित्कार्यते करणम्” इति । भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थ एवाऽनागतावस्थः प्रवर्तयति करणानि, कृतमत्र तत्स्वरूपाभिज्ञेन कर्त्रा । एतच्च “वत्सविवृद्धिनिमित्तम्” (का ५७) इत्यत्रोपपादयिष्यते ॥ ३१ ॥

तु यष्टयादि, यष्टस्वामी च यष्टमेव गृह्णाति न शक्त्यादीत्यर्थः ॥ दृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—तथेति । अन्यतमस्य करणस्य=अन्येषां करणानाम् ॥ ‘आकृत’शब्दस्य संकेतार्थकत्वात् लाज्जिकमर्थमाह—स्वकार्येति । स्वस्य—करणस्य कार्यं—वृत्तिस्तस्य करणं—सम्पादनं तस्याऽऽभिमुख्यं—सन्मुखता, तस्मात्, तत्तत्करणस्य तत्तद्वृत्त्यभिमुखताया अधोनीभूयेति यावत्, अन्यतमं करणं=तत्तत्करणं प्रवर्तते=वृत्तिं जनयतीत्यर्थः ॥ फलितमाह—तत्प्रवृत्तेश्चेति । तत्तद्वृत्तौ या प्रवृत्तिः तस्याः, हेतुमत्त्वात्=प्रागेव संकेतेन ‘इयमस्य वृत्ति’ रिति नियमितत्वात् न वृत्तिसंकरप्रसंगः=वृत्तीनां सांकर्यं—कारणाऽनियम्योत्पत्तिकत्वम् आकारिमकत्वं च तस्य प्रसंगः—आपत्तिर्न स्यादिति भावः ॥ उत्तरार्थस्याऽवताराय शंकेते—स्यादेतदिति । दृष्टान्तदार्ष्टान्त्योर्वैषम्यमाह—याष्टीकादयश्चेति । यष्टयाद्यायुधवन्तो हि जनाः चेतनत्वात् परस्परकृतं=परस्परभिप्रायम् अवगम्य=ज्ञात्वा—स्मृत्वा प्रवर्तन्ते इति युक्तं भवति, चेतनस्य पराभिप्रायं ज्ञातुं शक्तत्वादिति भावः । बाह्यन्तःकरणानि तु अचेतनानि=जडानि, तस्मात्=अचेतनत्वादेव, एवं=शक्तीकादिवत्, प्रवर्तितुं न उत्सहन्ते=न उद्युक्ता भवन्ति, तेन=स्वयं प्रवर्तितुमक्षमत्वेन, एषां=करणानाम्, अधिष्ठात्रा=प्रयोजकेन केनचित्, बह्यन्तरोभयविधकरणानां स्वरूपं=व्यक्तिः ‘इयं बुद्धिव्यक्तिः इयमहंकारव्यक्तिः इत्येवं स्वरूपाणामभिज्ञेन,—तथा—अध्यवसायद्वारा भोगदानं ‘बुद्धेः सामर्थ्यं,—अभिमानोहंकारस्य सामर्थ्यं बुद्धेरुपजीवकत्वायेति सामर्थ्यस्य यः उपयोगः—तस्याऽभिज्ञेन—ज्ञात्रा चेतनेन, भवितव्यमित्यर्थः ॥ इत्याशंकायामुत्तरमाह—“पुरुषार्थ एवेत्यादिः । पुरुषार्थः—भोगापवर्गात्मकः पुरुषस्य अर्थः प्रयोजनमेव, हेतुः=करणस्वरूपसामर्थ्याभिज्ञस्थानापन्नः प्रयोजको मन्तव्यः पुरुषार्थातिरिक्तेन केनचित् चेतनेन करणं न कार्यते=न वृत्तौ प्रेर्यते इत्यर्थः ॥ यद्यपि करणानामभिज्ञः पुरुषोऽधिष्ठाताऽस्त्येव, तथापि असंगत्वाच्चिर्विकारवाच्च तस्य प्रेरकत्वसम्भवः, अतः भोगापवर्गां भाविनावपि प्रकृतिगतौ तावेव प्रवर्तकौ भवतः, तावदेव हि गुणाः प्रवर्तन्ते न यावद् भोगमपवर्गं वा जनयन्ति निर्वर्तित-भोगापवर्गान्तु समाप्ताधिकाराः सन्तो निवर्तन्ते—इति हृदयम् ॥ ‘पुरुषार्थ एवे’ति व्याख्याति—भोगेति । भोगः—सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः, अपवर्गः—अप्रवृत्त्यतेऽनेन—केवलीभवत्यनेनेत्यपवर्गः—विवेकज्ञानं,—आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिर्वा, तल्लक्षणः—तदात्मकः, पुरुषार्थः—पुरुषस्य प्रयोजनं, स एव, अनागतावस्थः=अनागतस्थूललवस्थः,—कारणे सूक्ष्मतया स्थितः एव, करणानि=सुखाद्यनुकूलवृत्तिमत्करणानि, प्रवर्तयति=स्थूलवृत्तिमन्ति करोति ॥ अत्र=करणानां प्रेरणे, पुरुषार्थातिरिक्तेन केनचित् कर्त्रा,—चेतनेन, कृतम्=अलम्, चेतनस्य किमपि साध्यं नास्ति अतो व्यर्थमेव वृत्तिव्यापारार्थं तत्कल्पनमिति भावः ॥ एतच्च=न केनचित् चेतनेन प्रवर्त्यते करणमित्येतत् “वत्सविवृद्धिनिमित्तं—क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरक्षस्य । पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्ये”ति (५७) कारिकाया प्रद-शयिष्यते—इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

“न केनचित् कार्यते कारणम्” इत्युक्तम् । तत्र करणं विभजते-

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।

कार्यं च तस्य दशधाऽऽचार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ ३२ ॥

“करणं त्रयोदशविधम्” इति । इन्द्रियाण्येकादश बुद्धिरहङ्कारश्चेति त्रयोदशप्रकारं करणम् । कारकविशेषः करणम् । न च व्यापारावेशं विना कारकत्वमिति व्यापारावेशमाह-“तदाहरणधारणप्रकाशकरम्” इति यथायथम् । तत्र कर्मेन्द्रियाणि वागादीन्याहरन्ति-यथास्वमुपाददते, स्वव्यापारेण व्याप्नुवन्तीति यावत् । बुद्धयह-

“करणं त्रयोदशविधम्” इति कारिकावतारयति-“न केनचित् कार्यते करणमित्यादिना । इत्युक्तं (३१) कारिकाया । तत्र करणं कतिविधमित्याकांक्षायां करणं विभजते-करणत्वसामान्यधर्माऽ-वान्तरधर्मवद्धमिति पादनानुकूलव्यापारवान् भवतीत्यर्थः । करणमिति मूलम् । करणं त्रयोदशविधं, तत् आहरण-धारण-प्रकाशकरं, तस्य च कार्यम् आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च दशधा-इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-करणं=व्यापारवत्कारणं, त्रयोदशविधं=श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाग्राण-वाक्पाणिपाद-पायूपस्थ-मनोहंकारमहत्तत्त्वेति त्रयोदशसंख्याकं भवति । तत्=बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च मनोऽहंकारबुद्ध्यश्च । आहरण-धारण-प्रकाशकरम्=बुद्धीन्द्रियाणां प्रकाश(ज्ञाना)त्मकक्रिया-करत्वम्, कर्मेन्द्रियाणाम् आहरण(ग्रहणा)त्मकक्रियाकरत्वम्, मनोऽहंकारबुद्धीनां प्राणादिद्वारा शरीरधारणात्मकक्रियाकरत्वम् । तस्य=त्रयोदशविधकरणस्य, कार्यं=कर्म, दशधा भवति, बुद्धीन्द्रियाणां प्रकाशः शब्दादयः पञ्च विषया दिव्याऽदिव्यतया दश, कर्मेन्द्रियाणां वचनादस्योऽपि आहार्याः वृत्तिव्याप्याः दिव्याऽदिव्यतया दश, मनोऽहंकारमनसप्रं च धार्याः शरीरात्मकानि पञ्चभूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि दिव्यादिव्यतया दशविधानीति ॥ तत्त्वकौमुद्यां-इन्द्रियाण्येकादशेति । श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाग्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनःसमाख्यानि, बुद्धिः-महत्तत्त्वम्, अहंकारश्चेति त्रयोदशसंख्याकं करणं=व्यापारवत्कारणं भवति ॥ करणव्याख्यामाह-कारकविशेष इति । कर्त्रादिपट्टकारकमध्ये साधकतमरूपः । कारकत्वं च व्यापारावेशं विना=व्यापारस्य क्रियाया आवेशो योगस्तं विना, न च भवितुमर्हति, व्यापाराश्रयस्यैव कारकत्वादिति भावः । व्यापारावेशमाह=क्रियाश्रयत्वमाह-तत्=त्रयोदशविधं करणम् । आहरणकरं धारणकरं प्रकाशकरं चेति । तत्र किं प्रत्येकमेवाहरणादिव. ? , नेत्याह-यथायथमिति । यथाऽऽस्मीयमित्यर्थः ॥ तदेव विभज्याह-तत्रेति । त्रयोदशकरणेषु-इत्यर्थः । कर्मेन्द्रियाणि-क्रियते एभिरिति कर्माणि, कर्माणि च तानीन्द्रियाणीति कर्मेन्द्रियाणि । वागादीनि-वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि । ‘आहरन्ति-पदार्थमाह यथास्वमुपाददते इति । स्वं-स्वकीयां वृत्तिमनतिक्रम्य वर्तते इति यथास्वं, स्वक्रियया वा स्ववृत्त्येति यावत् । उवापदते-विषयान् वचनादीन् वाच्यादीन्वा गृह्णन्ति । ‘यथास्वमुपाददते’-इत्यस्य भावार्थमाह-स्वव्यापारेण व्याप्नुवन्तीति यावत् । व्यापारः-क्रिया, स्वक्रियया व्याप्नुवन्ति, यथा-वाक् उच्चारणक्रियया वचनं शब्दं व्याप्नोति, हस्तः-अञ्जलिप्रसारणक्रियया आदानं व्याप्नोति, चरणः विक्रमणक्रियया विहरणं व्याप्नोति, पायुः विकासक्रियया उत्सर्गं व्याप्नोति, उपस्थः जात्राक्रियया आनन्दं व्याप्नोतीति ॥ अथवा-स्वकीयेनाऽसाधारणेन व्यापारेण व्याप्नुवन्ति, यथा वाक् स्वव्यापारेण वचनेन-शब्देन-शब्दद्वारा, वाच्यमर्थं व्याप्नोतीति । पाणिः-आदानेन-ग्रहणेन, धारणेनेति यावत्, धार्यं पदार्थं व्याप्नोति, पादः-विहरणेन भूतलादिकं व्याप्नोति, पायुः-उत्सर्जनेन मलं व्याप्नोति, उपस्थः आनन्देन कामं-सुरतं व्याप्नोतीति । बुद्धयहंकारमनासीति । स्ववृत्त्या=



ङ्कारमनोसि तु स्ववृत्त्या प्राणादिलक्षणया धारयन्ति । बुद्धीन्द्रियाणि च प्रकाशयन्ति । आहरणधारणादिक्रियाणां सकर्मकतया किं कर्म कतिविधं चेत्यत आह-  
 “कार्यं च तस्य” इति । कार्यं तस्य त्रयोदशविधस्य करणस्य दशधा, आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च । आहार्यं व्याप्यम् । कर्मेन्द्रियाणां वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः यथायथं व्याप्याः, ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दशोत्पाहार्यं दशधा । एवं धार्यमप्यन्तःकरणस्य प्राणादिलक्षणया वृत्त्या शरीरम्, तच्च पार्थिवादिपाञ्चभौतिकम् । शब्दादीनां पञ्चानां समूहः पृथिवी, ते च पञ्च दिव्यादिव्यतया दशेति धार्यमपि दशधा । एवं बुद्धीन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा यथायथं व्याप्याः, ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दशेति प्रकाश्यमपि दशधेति ॥ ३२ ॥

त्रयोदशविधकरणेऽवान्तरविभागं करोति-

स्वकीयया साधारण्या, प्राणापानसमानव्यानोदानात्मिकया जीवनवृत्त्या स्थूलं शरीरं धारयन्ति=आमरणं निरुपद्रवं यथा स्यात् तथा रक्षयन्ति । बुद्धीन्द्रियाणि=श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाष्णानि, प्रकाशयन्ति=प्रकाशं ज्ञानं कुर्वन्ति, यथा श्रोत्रं शब्दज्ञानं करोति, त्वक् स्पर्शज्ञानं करोति, चक्षुः रूपज्ञानं करोति, रसना रसज्ञानं करोति, घ्राणं-गन्धज्ञानं करोतीति ॥ ‘कार्यं च तस्येत्युत्तरार्धमवतारयति-आहरणेति । आहरणस्य-व्यापनस्य, धारणस्य-रक्षणस्य, आदिना-प्रकाशस्य चेति-क्रियाणां, सकर्मकतया=सकर्मकभावार्थतया, तत्र भवत्याकांक्षा-अस्याः क्रियायाः किं कर्म कतिविधं चेति, तन्निरुपद्रवमाह-कार्यं च तस्येति । कार्यं=कर्म । ‘तस्य’-पदार्थमाह-त्रयोदशविधस्य करणस्येति । त्रयोदशषट्ति तत्समुदायस्येत्यर्थः । दशधा=प्रत्येकं दशविधम् । आहार्यं=आहृतं-व्याप्तुं योग्यं वचनादिकं, वस्तु वा । धार्यं=धर्तुं रक्षितुं योग्यं शरीरं, प्रकाश्यं-प्रकाशितुं ज्ञातुं समालोचितुं योग्याः शब्दादयः । कार्यम्=कर्म ॥ ‘आहार्य’पदार्थमाह-व्याप्यमिति व्याप्तिकर्म ॥ तदेव दर्शयति-कर्मेन्द्रियाणामिति । वाक्पाणिपादपायूपस्थानां, यथायथं=क्रमशः, वचनादानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्दाः व्याप्याः, ते च पञ्चापि देवादीनां दिव्याः वचनादयः, दिव्यत्वमत्र-अस्मद्वचनाद्यपेक्षया विशेषसत्तांशप्रधानत्वं विशेषसुखकारत्वं, । ते च पञ्चाऽऽमदादीनामदिव्याः-न्यूनसत्तांशप्रधानाः न्यूनसुखकाराः, इत्येवं मिलित्वाऽऽहार्यं दशोक्तम् । एवं-तद्वत्, अन्तःकरणत्रयस्य मनोहंकारबुद्धीनां, प्राणादिलक्षणया=प्राणापानसमानव्यानोदानात्मिकया, वृत्त्या=साधारणेन व्यापारेण, धार्यं धारणकर्म शरीरम् । तस्यैकत्वेऽपि दशधात्वं दर्शयितुमाह-तच्च पार्थिवादिपाञ्चभौतिकमिति । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेति पञ्चभूतानां विकारात्मकं, तत्र पृथिव्येव शब्दादीनां=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेति पञ्चतन्मात्राणां समुदायः, ते च=सूक्ष्मा शब्दादयः पञ्च, दिव्याः-पञ्चसूक्ष्मतन्मात्राणि, अदिव्याः स्थूलाः पञ्चशब्दादयः, मिलित्वा दश, तद्वती पृथिव्यपि दशधा, तत्परिणामत्वाच्च शरीरमपि दशधेत्यर्थः । एवं बुद्धीन्द्रियाणां=श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाष्णानां, यथायथं=यथाक्रमम्, स्थूलाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, व्याप्याः=प्रकाश्याः, आलोचनविषया इति यावत् । ते च=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, देवानां दिव्याः, अस्मदादीनाम् अदिव्याः इति प्रकाश्यं-प्रकाशकमपि दशधा भवति ॥ संक्षेपात् पञ्चधाऽऽहार्यं पञ्चधा धार्यं पञ्चधा प्रकाश्यं चेति बोध्यम् ॥ ३२ ॥

अन्तःकरणं त्रिविधमिति कारिकावतारयति-त्रयोदशविधे-इति । श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाष्णवाक्पाणिपादपायूपस्थमनोहंकारबुद्धिषु, अवान्तरविभागं=वाह्याऽऽन्तरभेदेन विभागं करोती-

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।  
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

“अन्तःकरणम्” इति । अन्तःकरणं त्रिविधम्—‘बुद्धिरहङ्कारो मनः’ इति, शरीराभ्यन्तरवर्तित्वादन्तःकरणम् । “दशधा बाह्यं”—करणं, “त्रयस्य”—अन्तःकरणस्य “विषयाख्यम्”—विषयमाख्याति—विषयसङ्कल्पाभिमानाध्यवसायेषु कर्तव्येषु द्वारीभवति । तत्र बुद्धीन्द्रियाण्यालोचनेन, कर्मेन्द्रियाणि तु यथास्वं व्यापारेण । बाह्यान्तरयोः करणयोर्विशेषान्तरमाह—“साम्प्रतकालम्” इति । वर्तमानकालं बाह्यमिन्द्रि-

त्यर्थः । अन्तःकरणमिति । मूलम् । त्रिविधम् अन्तःकरणं, दशधा बाह्यं, त्रयस्य विषयाख्यम्, बाह्यं साम्प्रतकालम्, आभ्यन्तरं करणं त्रिकालं भवति—इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—त्रिविधं—मनो-हंकारबुद्धयः, अन्तःकरणानि उच्यन्ते । दशधा—श्रोत्रत्वक् चक्षुरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थानि, बाह्यकरणानि उच्यन्ते । बाह्यकरणं बाह्यविषयानादाय त्रयस्याऽन्तःकरणस्य विषयाख्यम्—आख्या-तीति आख्यं विषयाणामाख्यं विषयाख्यं, अन्तःकरणत्रयाय विषयं ददातीत्यर्थः । बाह्यं करणं=साम्प्रतकालं=साम्प्रतः कालो=विषयो यस्य तत् वर्तमानकालीनसन्निकृष्टविषयग्राहकं भवति, बाह्यकरणस्याऽसन्निकृष्टाऽतीतमविष्यत्कालीनविषयग्राहणाऽसामर्थ्यात् । आभ्यन्तरं करणं=अन्तः-करणान्तु त्रिकालं=त्रयःकाला विषया यस्य तत् । त्रिकालीनविषयग्राहणसमर्थं भवतीति विशेषः ॥ तत्त्वकौमुद्याम् अन्तःकरणं त्रिविधमिति । त्रिविधं नाम्ना स्फुटयति—बुद्धिरहंकारो मन इति । अन्तःकरणत्वे हेतुमाह—शरीराभ्यन्तरवर्तित्वादिति । स्थूलशरीरस्य आभ्यन्तरं हृत्पद्मं तत्र वर्तमानत्वात् । अन्तः वर्तमानं करणमन्तःकरणमिति भावः ॥ “दशधा बाह्यं” इत्यत्र शेषं पूरयति—करणमिति । बाह्यकरणं दशविधं श्रोत्रत्वक् चक्षुरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थानि विषयाख्यमिति बोध्यम् ॥ बाह्याभ्यन्तरकरणयोर्द्वारद्वारिभावमाह—“त्रयस्य” अन्तःकरणस्य “विषयाख्य” मिति । आख्याति—कथयति—ददातीति यावत्—आख्यम्, विषयाणामाख्यं विषयाख्यम्, बाह्यकरणमेव विषयदानेन मनःप्रभृत्यन्तःकरणानि सव्यापाराणि कुर्वन्ति इति भावः । एनमेवार्थमाह—विषयेति । विषयाणां मनसा संकल्पेषु कर्तव्येषु अहंकारेण अभिमानेषु कर्तव्येषु बुद्ध्या अध्ववसायेषु च कर्तव्येषु=प्राविर्भाव्येषु । द्वारीभवति—द्वारं—विषयसमर्पकं भवतीत्यर्थः ॥ समर्पकत्वं स्फुटयति—तत्रेति । दशकरणेषु मध्ये इत्यर्थः । बुद्धीन्द्रियाणि आलोचनेन व्यापारेण,=आलोचकत्वात् द्वाराणि भवन्ति । कर्मेन्द्रियाणि तु यथास्वं=स्वकीयेन स्वकीयेन व्यापारेण,=त्राक वचनकत्वात् द्वारं भवति, हस्तः आदानकत्वात् द्वारं भवति, पादः विहरणकत्वात् द्वारं भवति, पायुक्तसर्जनकत्वात् द्वारं भवति, उपरथः आनन्दकत्वात् द्वारं भवतीत्यर्थः ॥ द्वारत्वद्वारित्वाख्यं भेदं प्रदर्श्य बाह्यकरणस्य आभ्यन्तरकरणस्य च विशेषान्तरम्=अन्यमपि भेदमाह—“साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करण” मिति । साम्प्रतः कालो विषयो यस्य तत् इति व्युत्पत्त्या “साम्प्रतकाल” पदार्थमाह—वर्तमानकालमिति । “बाह्यं” पदार्थमाह—इन्द्रियमिति । दशेन्द्रियमित्यर्थः । लौकिकं दशेन्द्रियं वर्तमानकालस्थितिकं सन्निकृष्टं विषयं गृह्णाति । तत्र प्रथमक्षणे शब्दोत्पत्तिः-द्वितीयक्षणे स्थितिस्तदानीं कालीनः सः श्रोत्रेण गृह्यते, न तु उत्पत्तिक्षणे, एवं वचनं विहाय अन्ये व्यापारा विषयाश्च समानकालस्थितिका एव बाह्येन्द्रियग्राह्या भवन्तीति; योगिनामलौकिकशक्तिशालीन्द्रियाणामयं नियमो नास्तीति भावः ॥ ननु वागिन्द्रियस्य शब्दोच्चारणं विषयः स तु वागि-



यम् । वर्तमानसमीपमनागतमतीतमपि वर्तमानम्, अतो वागपि वर्तमानकालवि-  
पया भवति । “त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्” इति । तद्यथा-नदीपूरभेदाद्भूदृष्टिः;  
अस्ति धूमादग्निरिह नगनिकुञ्जे, असत्युपघातके पिपीलिकाण्डसञ्चरणाद्भवत्यति

न्द्रियेणैव ज्येत्ये न तु पूर्वं सिद्धः तथा च वागिन्द्रियस्याऽनागतविषयकत्वात् कथं वर्तमानकालो-  
विषयग्राहकत्वं भवेदित्याशंकायामाह-वर्तमानेति । वर्तमानसमीपस्याऽनागतस्यापि वर्तमानत्वाऽ-  
भ्युपगमात्, अतः शब्दोच्चारणविषयकस्य वागिन्द्रियस्यापि वर्तमानकालविषयत्वं भवत्यवेतिभावः ।  
एवं प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावाः, अतः सतां सर्वविषयाणां करणनिमित्ताऽपि त्रिधाऽवस्था  
भवति,—आहार्याकारावस्था, वृत्तिधार्याकारावस्था, चैतन्यभोग्याकारावस्था च । तत्र वृत्तिसन्निकर्ष-  
योग्यो बहिर्घटः आहार्याकारावस्थः, तस्य य आकारो वृत्तावाहितः स धार्याकारावस्थः, चैतन्यप्रतिविम्बे-  
समारोहति य आकारः स भोग्याकारावस्थ इति । तत्र आहार्याकारावस्थे वृत्तिसन्निकर्षाधिकरणः एकः  
क्षणः, वृत्त्याहितधार्याकारावस्थाधिकरणो द्वितीयः क्षणः,—तदत्र द्वितीयक्षणे चक्षुरादीन्द्रियम् आहा-  
र्याकारावस्थं प्रथमक्षणवच्छिन्नं घटादिकं रूपादिकं च गृह्णाति, तत्र द्वितीयक्षणे प्रथमक्षणयोग्या आहा-  
र्याकारावस्थया विगमेऽपि आहार्याकारावस्थं द्वितीयक्षणे गृह्णत् वृत्तिधार्याकारावस्था विपरिणम-  
यति, तथा च प्रथमद्वितीयक्षणयोर्मिन्नकालत्वात् प्रथमक्षणयोग्याऽवस्थां द्वितीयक्षणे गृह्णत् चक्षुरादिकं  
वर्तमानकालविषयकं न स्यात्-इत्यत उक्तं—वर्तमानसमीपम् अतीतमपि वर्तमानमिति ।  
अतीतं=आहार्यक्षणीयावस्थावच्छिन्नमपि वस्तु, वर्तमानसमीपम्=वृत्तिधार्याऽऽकार-क्षणात्मकव-  
र्तमानकालाऽव्यवहितप्राक्क्षणवच्छिन्नमपि वस्तु, वर्तमानम्=वर्तमानकालोन्मित्युपचर्यते इत्य-  
र्थः । तथा च ‘वर्तमानसमीप्ये वर्तमानवद्वे’-तिपाणिनिसूत्रात् क्षणत्रयस्य वर्तमानताव्यवहारात्  
प्रथमक्षणोपनृतीयक्षणीयपदार्थयोरपि वर्तमान (मध्य)क्षणीयतायाः स्वीकारात् वर्तमानक्षणीयेन्द्रि-  
यस्य साक्षात्प्राक्क्षणोपविषयस्य च समानकालीनतास्वीकारात् चक्षुरादीनां वर्तमानविषयकत्वं  
निराबाधमिति सूक्ष्ममोक्षणीयम् ॥ वाचि वर्तमानकालविषयत्वमितिदिशति-अतो वागपीति ।  
अपिना-अतीतक्षणीयावस्थाविषयकं चक्षुरादिकं वर्तमानकालविषयकं भवतीति बोध्यम् ॥ त्रिकाल-  
माभ्यन्तरं करणमिति व्याख्याति-तद्यथेत्यादिना । तत्र भूतकालीनाऽनुमानवृत्तिकं दृष्टान्तमाह-  
“नदीपूरभेदाद्भूदृष्टि” इति । ‘भूतकालीना उपरिदेशसम्बन्धिना नदी,—वृष्टिमती,—पूरविशेषात्  
(बहुतरफेनकाष्ठमद्रजस्वलशोषगामिप्रवाहत्वात्) इत्यनुमानाकारः, तत्र चक्षुरादिभिः पूरे समालोचिते  
सति तदुत्तरकालोन्मनः संकल्पयति भूतकालीननदीवृष्टयोः संकल्पं करोति-यत्र पूरविशेषस्तत्र वृष्टि’  
रिति (इदमेवं=इयं नदी पूरविशेषाद्भूदृष्टिमतीति) ततः भूतकालीननदीवृष्टयोः अहंकारेणाऽभिमानवृत्त्या  
त्मकः परामर्शः क्रियते-‘वृष्टिव्याप्यपूरविशेषवतीयमेव नदी’ति । ततः भूतकालीननन्दीवृष्टयोरध्य-  
वसायात्मिकाऽनुमितिः-‘नदी वृष्टिमती’ति ॥ अथ वर्तमानकालीनानुमानवृत्तिकं दृष्टान्तमाह-  
अस्तीति । नगरस्य पर्वतस्य निकुञ्जे वृक्षलताच्छादिते प्रदेशेऽग्निरस्तीत्यर्थः । ‘पर्वतो बहि मान्,—  
धूमादि’त्यनुमानप्रयोगः । तत्र चक्षुषा प्रथमक्षणे धूमे समालोचिते सति ततः द्वितीयक्षणसमान-  
कालोन्मनः ‘यत्र धूमस्तत्र बहिरिति’ संकल्पयति । ततश्चतुर्थीयक्षणसमानकालोनाहंकारः  
‘बहि व्याप्यधूमवानयमेव पर्वत’ इति परामर्शात्मकमभिमानं करोति । ततश्चतुर्थीयक्षणसमानकालीना  
च बुद्धिः ‘पर्वतो बहिमान्’ इत्यध्यवस्यति ॥ प्रतिक्षणपरिणामिनो बह्वेः परिणामभेदेऽपि परिणामिन-  
स्तस्यैकत्वाऽभ्युपगमात् संकल्पाभिमानाध्यवसायानां स्वरवक्षणे बहिना सह समानकालीनत्वं  
भवतीति ॥ अथ भविष्यत्कालीनानुमानवृत्तिकं दृष्टान्तमाह-असत्युपघातके इति । शलाकादिना

वृष्टिरिति, तदनुरूपाश्च सङ्कल्पाभिमानाध्यवसाया भवन्ति । कालश्च वैशेषिकाभिमत एको न अनागतादिव्यवहारभेदं प्रवर्तयितुमर्हति, तस्मादयं वैरूपाधिभेदैरनागतादिभेदं प्रतिपद्यते । सन्तु त एवोपाधयः, येऽनागतादिव्यवहारहेतवः, कृतमत्राऽन्तर्गड्गुना कालेनेति सांख्याचार्याः । तस्मान्न कालरूपतत्त्वान्तराभ्युपगम इति ॥३३॥

उपधाते-उपद्रवे कृते सति यदि पिपीलिकानामण्डः सह संचारः-बिलात् बहिर्गमनं भवेत् तत्र वृष्टिलिङ्गं भवति, अत उक्तं-‘असत्युपधातके’इति, तथा च वर्षामूलकारणे महाभूतसंक्षोभे सति भीमेनोष्मणा कृध्यमानाः पिपीलिकाः भूमिविलस्थान्यण्डान्युपरि गृहीत्वा संचरन्ति यदा तदा वर्षांशपकेन पिपीलिकाण्डसंचरणेन भविष्यद्वृष्टेरनुमानं भवति-‘भविष्यत्कालः-वृष्टिमान्-असत्युपधातके पिपीलिकाण्डसंचरणादिति । अत्र ‘यदाऽसत्युपधाते पिपीलिकाण्डसंचारस्तदुत्तरकाले वृष्टि’ रितिसंकल्पयति । ‘वृष्टिनियतोपधातश्चैव पिपीलिकाण्डसंचरणसमुपलक्षणाय वृष्टिगद्गुभविष्यत्काल-एवेत्यभिमानं करोति । ‘भविष्यत्कालो वृष्टिमान्’इत्यध्यवस्यति चेत्यर्थः । भविष्यत्कालवृष्टयोः संकल्पाभिमानाध्यवसायैः सहाऽसमानकालोन्त्वेऽपि ग्राह्यग्राहकभावो भवतीति भावः ॥ वैशेषिकमतवत् ‘त्रिकालमान्वन्तरं करण’मित्यनेन सांख्याचार्यैः कालः तत्त्वान्तरं स्वीक्रियते इति नाराकनं यं तस्योपाधावन्तर्भावोदिति दर्शयति-कालश्चेति । वैशेषिकदर्शनकारस्य कणादपेरभिमतः-तत्त्वान्तरत्वेन द्रव्यत्वेन स्वीकृतः “अपरस्मिन्नपरं युगपच्छिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि”(अ०२, अ०२, सू०६), स च कालः एकः-अद्वितीयकः, स्वसजातीयकालव्यक्तिभेदशून्यः न अनागतादिव्यवहारभेदं प्रवर्तयितुमर्हतीति । यद्वि स्वरूपतः एकं नित्यं वस्तु तत् कथं स्वस्मिन् द्वौ त्रय इति स्वगतभेदं प्रवर्तयेत् ?, तथा च कालोऽपि स्वस्मिन् अतीतः वर्तमानः अनागतः-इति स्वागतभेदं प्रवर्तयितुं-साधयितुं नार्हतीति । स्वस्य स्वभेदजनकत्वाऽभावात् अतो दिनमाससंवत्सरयुगातीतवर्तमानाऽनागतादिव्यवहारभेदं उपाधिभिरयं-कालः प्रतिपद्यते ताश्चोपाधयः-स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म, पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा, इति चत्वार उपाधयः प्रत्येकं तत्तद्विशिष्टकालः क्षणः, क्षणसमूहश्च दिनादिरूप इति वैशेषिकमतम् ॥ उक्तं च प्रशस्तपादभाष्ये-‘एकत्वेऽपि सर्वकार्याणामारम्भक्रियाभिनिवृत्तिस्थितिनिरोधोपाधिभेदान्मणिवत्पाचकादिवद्वा नानात्वोपचार’इत्युक्तम्, तत्र आरम्भः-उपक्रमः, क्रियाया अभिनिवृत्तिः-परिसमाप्तिः, स्थितिः-स्वरूपावस्थानं, निरोधः-नाशः, एषामुपाधोनां भेदान्नानात्वव्यपदेशः, यथैकोऽपि स्फटिकादिमणिस्तत्तन्नीलाद्युपाधिभेदेनाऽनेकरूपो, यथा चैकोऽपि पुरुषस्तत्तत्क्रियाभेदात्पाचकः पाठक इति तद्वत् इति तदर्थः ॥ तदेतत्कालतत्त्वस्य पदार्थान्तरताखण्डनार्थमाह-सन्तु त इति । ते-ये कर्म, विभागः, प्रागभावः (अनाविर्भावः), कर्मेति चत्वार उपाधयः, अथवा कार्यारम्भकार्यस्थितिकार्यनिरोधादिरूपा उपाधयः । अनागतादिव्यवहारहेतवः-अनागतः-भविष्यत्कालः, वर्तमानः, अतीतश्चेति यः शब्दप्रयोगात्मको व्यवहारः तस्य हेतवो निरुक्ता उपाधयः एव सन्तु-स्वीकृतं इत्यर्थः । तैरूपाधिभिरिव अनागतादिव्यवहारः शब्दः-शब्दतत्त्वं स्वीक्रियते, क्षणादिवोधका उपाधय एवेति भावः ॥ अन्तर्गड्गुना-अन्तः मध्येऽन्तराले गड्गुः-लोलायमानः तेन, निरर्थकमध्याघातकत्रैत्यर्थः अन्यथासिद्धेन इति यावत्, कालेन-कालतत्त्वेन, कृतम्-अलम्, इति सांख्यतन्त्रस्य आचार्याः कपिलादयो वदन्तीति शेषः ॥ उपसंहरति-तस्मादिति । उपाधिभिः शब्दे अतीतादिव्यवहारात्मके निर्वाहके सति तेन कालस्याऽन्यथासिद्धत्वादित्यर्थः । न कालात्मकस्य पञ्चविंशतितत्त्वान्तरित्यस्य तत्त्वस्य स्वीकार इत्यर्थः ॥३३॥



साम्प्रतकालानां बाह्येन्द्रियाणां विषयं विवेचयति-

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।

चाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥ ३४ ॥

“बुद्धीन्द्रियाणि” इति । “बुद्धीन्द्रियाणि तेषां” दशानामिन्द्रियाणां मध्ये “पञ्च,” “विशेषाविशेषविषयाणि” विशेषाः-स्थूलाः शब्दादयः शान्तघोरमूढरूपाः पृथिव्यादिरूपाः, अविशेषास्तन्मात्राणि=सूक्ष्माः शब्दादयः । मात्रग्रहणेन स्थूलभूतमपाकरोति । विशेषाश्च अविशेषाश्च विशेषाविशेषाः,—त एव विषया येषां=बुद्धीन्द्रियाणां तानि तथोक्तानि । तत्रोर्ध्वस्रोतसां योगिनाञ्च श्रोत्रं शब्दतन्मात्रविषयं स्थूलशब्दविषयं च, अस्मदादीनां तु स्थूलशब्दविषयमेव । एवं तेषां त्वक् स्थूल-

‘बुद्धीन्द्रियाणि तेषां’मितिकारिकामवतारयति-साम्प्रतकालानामिति । स्वसमानकालीनवस्तुग्रहणसमर्थानां बाह्यानां श्रोत्रादिदशेन्द्रियाणां विषयं विवेचयति-विभिन्न दर्शयतीत्यर्थः ॥ बुद्धीन्द्रियाणीति-मूलम् । तेषां पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि विशेषाविशेषविषयाणि । वाक्शब्दविषया भवति, शेषाणि तु पञ्चविषयाणि (भवन्ती) त्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः तेषां=दशबाह्येन्द्रियाणां मध्ये पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि अस्माकं श्रोत्रादीनि विशेषविषयाणि भवन्ति, विशेषाः=शान्तघोरमूढा ये स्थूलपृथिव्यात्मकाः शब्दस्पर्शरूपरस-गन्धाः तद्विषयाणि भवन्ति, अथ च देवादीनां श्रोत्रादिपञ्चेन्द्रियाणि अविशेषविषयाणि भवन्ति-अविशेषाः-सूक्ष्मतन्मात्राणि शब्दादीनि तद्विषयाणि भवन्ति, तेषां तत्रापि सामर्थ्यात् । कर्मेन्द्रियेषु मध्ये या वाक् सा तु स्थूलशब्दहेतुत्वात् स्थूलशब्दविषयैव भवति । शेषाणि च पाणिपादपायूपस्थानि पञ्चविषयाणि-स्थूलशब्दादिपञ्चगुणात्मकघटादिग्रहणात् शब्दादिपञ्चविषयाणि भवन्तीति । तत्त्वकौमुद्यां “बुद्धीन्द्रियाणि तेषां” मितिव्याख्याति-दशानामित्यादिना । श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थानां मध्ये पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि-श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणख्यानीत्यर्थः ॥ “विशेषाऽविशेषविषयाणी”ति व्याख्याति-विशेषा इत्यादिना । ‘विशेषा’-इत्येतत्पदस्यार्थमाह-स्थूलाः शब्दादय इति ॥ ननु कथमेते स्थूलशब्दादयो विशेषा उच्यन्ते इत्यत आह-शान्तघोरमूढरूपा इति । अभिव्यक्तः शान्तो घोरो मूढः परिणामो येषान्ते तादृशाः, तथा च अभिव्यक्तशान्तघोरमूढान्यतमवत्त्वं विशेषत्वमित्यर्थः ॥ ते चाऽभिव्यक्ताः स्थूला भवन्ति स्थूलपृथिव्यादिपञ्चभूतात्मका इत्याह-पृथिव्यादय इति ॥ ‘अविशेष’पदार्थमाह-तन्मात्राणि-सूक्ष्माः शब्दादय इति । तन्मात्रेषु अभिव्यक्तशान्तघोरमूढात्मकपरिणामाऽभावात् अविशेषत्वमिति ॥ ‘तन्मात्राणि’-इत्यत्र ‘मात्र’पदार्थकृत्यमाह-मात्रग्रहणेनेति । स्थूलभूतम्=स्थूलभावापन्नशब्दाद्यात्मकपृथिव्यादिपञ्चभूतसमुदायम्, अपाकरोति=व्यावर्तयति । स्थूलभूतानां न तन्मात्रत्वमिति भावः ॥ द्रव्यसमासमाह-विशेषाश्चेत्यादिना । बहुव्रीहिमाह-त एवेति । ते=विशेषाऽविशेषा एव, विषयाः=वृत्तिग्राह्याः ॥ ‘येषामित्यस्यार्थमाह-बुद्धीन्द्रियाणामिति ॥ तदेव समन्वयति-तत्रेति । तत्र=विशेषाऽविशेषविषयेन्द्रियेषु मध्ये । ऊर्ध्वस्रोतसां ऊर्ध्वमेव रेतःस्रोतोऽपेक्षान्ते-श्रीगोपालानन्दमुनिप्रभृतयस्तेषां, योगिनाञ्च=योगाभ्याससम्पादितदिव्यसामर्थ्यवतां श्रोत्रेन्द्रियं सूक्ष्मतन्मात्रात्मकशब्दविषयं स्थूलशब्दविषयं च भवति । अस्मदादीनां-पार्थिवप्रधानशरीरिणां तु स्थूलशब्दमात्रविषयं भवतीति । तद्वत् तेषां=योगिनां देवानां च त्वगिन्द्रियं स्थूलसूक्ष्मोभयविधस्पर्शविषयम्, अस्मदादीनां-स्थूलपार्थिवशरीरवतां तु स्थूलस्पर्शग्राहकमेवेति । एवम्-चक्षुरादयो-

सूक्ष्मस्पर्शविषया, अस्मदादीनां तु स्थूलस्पर्शविषयैव । एवञ्चक्षुरादयोऽपि तेषाम-  
स्मदादीनां च रूपादिषु सूक्ष्मस्थूलेषु द्रष्टव्याः ॥ एवं कर्मेन्द्रियेषु मध्ये “वाग्भवति  
शब्दविषया” स्थूलशब्दविषया, तद्वेतुत्वात् । न तु शब्दतन्मात्रस्य हेतुस्तस्याहङ्का-  
रिकत्वेन वागिन्द्रियेण सहैकारणकत्वात् । शेषाणि तु चत्वारि पायूपस्थपाणिपादा-  
ख्यानि पञ्चविषयाणि पाण्याद्याहार्याणां घटादीनां पञ्चशब्दाद्यात्मकत्वादिति ॥ ३४ ॥

साम्प्रतं त्रयोदशसु करणेषु केषाञ्चिद्गुणभावं केषाञ्चित्प्रधानभावं सहेतुकमाह-  
सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।

तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

“सान्तःकरणा” इति । द्वारि-प्रधानम् । ‘शेषाणि’ करणानि-बाह्येन्द्रियाणि-

ऽपि=चक्षुरसनाघ्राणानि, तेषाम्-ऊर्ध्वस्रोतसां योगिनां च सूक्ष्मस्थूलोभयविधरूपरसगन्धविषयाणि  
भवन्ति । अस्मदादीनां तु चक्षुरसनाघ्राणानि स्थूलरूपरसगन्धमात्रविषयाणि भवन्तीति द्रष्टव्यमि-  
त्यर्थः ॥ कर्मेन्द्रियेषु विशेषतामाह-एवमित्यादिना । कर्मेन्द्रियेषु=वाक्पाणिपादपायूपस्थार्येषु मध्ये,  
वागिन्द्रियं स्थूलशब्दमात्रविषयं भवति ॥ कुतः ? इत्याकांक्षायामाह-तद्वेतुत्वादिति । तस्य=  
स्थूलशब्दस्य, हेतुत्वाद्-उच्चारणद्वारा जनकत्वादित्यर्थः । तथा च ‘वागिन्द्रियं-स्थूलशब्दविषयं,-  
स्थूलशब्दमात्रहेतुत्वादित्यनुमानम् ॥ वागिन्द्रियस्य सूक्ष्मशब्दस्योच्चारणाऽसामर्थ्यात् सूक्ष्मशब्द-  
हेतुत्वं निषेधति-न शब्दतन्मात्रस्य हेतुरिति । तथा चानुमानम्-‘वागिन्द्रियम्-न शब्दतन्मा-  
त्रविषयकम्,-शब्दतन्मात्रहेतुत्वाभाववत्त्वादिति ॥ शब्दतन्मात्रं प्रति वागिन्द्रियस्याऽहेतुत्वे बीज-  
माह-तस्येति । तस्य=वागिन्द्रियस्य, आहंकारिकत्वेन=सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वेन, वागिन्द्रिय-  
स्यापि सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वेन वागिन्द्रियेण सहैकारणकत्वात्=समानकारणकत्वात्=समान-  
कारणेन समानकालोत्पत्तिकत्वादिति यावत्, समानकालोत्पत्तिकयोश्च पौर्वापर्याभावेन कारणका-  
र्यभावो न भवतीति भावः । अथवाऽसमानकालोत्पत्तिकत्वे तु तन्तुकारणकसंयोग-पटयोः कार्य-  
कारणभावदर्शनात् ‘समानकारणकद्रव्ययोर्न कार्यकारणभाव’ इत्यर्थे तात्पर्यं बोध्यमिति भावः ॥  
‘शेषाणि त्वि’ति व्याख्याति चत्वारि पाय्वित्यादिना ॥ पञ्चविषयाणीति । पञ्चस्थूलशब्दा-  
दयो विषया येषान्ति ॥ तदेव व्याख्याति पाण्याद्याहार्याणामिति । पाणिना आहार्यस्य घटदेः  
स्थूलशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमात्मकत्वात्, पादेन आहार्यस्य-विहरणविषयस्य भूतलादेः स्थूलशब्दा-  
दिपञ्चात्मकत्वात् । पायुना उत्सृष्टव्यस्य मलादेः स्थूलशब्दादिपञ्चात्मकत्वात् । उपस्थेन आनन्धस्य  
वोर्वादेः स्थूलशब्दादिपञ्चात्मकत्वादित्यर्थः ॥ ३४ ॥

“सान्तःकरणा बुद्धिः” रितिकारिकामवतारयति-साम्प्रतमिति । इदानीमित्यर्थः । त्रयोदशसु-  
करणेषु केषाञ्चित्=दशबाह्येन्द्रियाणाम्, गुणभावं=उपकारभावं=द्वारत्वमिति यावत् । केषाञ्चित्=  
मनोऽहंकारबुद्धीनाम्, प्रधानभावम्=उपकार्यभावं=द्वारत्वमिति यावत् । सहेतुकमाह=समुत्तिक-  
माहेत्यर्थः ॥ सान्तःकरणेति मूलम् । यस्मात् सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते, तस्मात्  
त्रिविधं करणं द्वारि, शेषाणि द्वाराणि, त्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-यस्माद्वेतोः मनोऽहंकारसहिता-  
बुद्धिः बाह्येन्द्रियापि तं सर्वं विषयमवगाहते=अध्यवस्यति, अतः मनोऽहंकारबुद्ध्यात्मकं त्रिविधं  
करणं द्वारिभवति । शेषाणि=शिष्टं च बाह्यं च दशविधं करणं द्वारं भवतीति ॥ तत्त्वकौमुद्यां ‘द्वारी’-  
ति । द्वारं=उपकारकमस्याऽस्तीति द्वारि । ‘द्वारि’पदस्यार्थमाह-प्रधानमिति । बाह्यकरणानि  
बुद्धिमुपकुर्वन्ति विषयाकारप्रदानेन, बुद्धिश्चात्मने साक्षाद्गोचार्थमर्पयति, अतो राज्ञः प्रधानवत् प्रधानं



द्वाराणि । तैरुपनीतं सर्वं विषयं समनोऽहङ्कारा बुद्धिः यस्मादवगाहतेऽध्यवस्यति, तस्मादबाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि, द्वारवती च सान्तःकरणा बुद्धिरिति ॥ ३५ ॥

न केवलं बाह्येन्द्रियाण्यपेक्ष्य प्रधानं बुद्धिः, अपि तु ये अप्यहङ्कारमनसी द्वारिणी ते अप्यपेक्ष्य बुद्धिः प्रधानमित्याह-

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।

कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाशय बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

“एते” इति । यथा हि ग्रामाध्यक्षः कौटुम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छति, विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च भूपतये, तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य

करणं बुद्धिरिति भावः ॥ ‘शेषाणि’-पदेन ग्राह्याणीन्द्रियाण्याह-करणानि-बाह्येन्द्रियाणीति । दशेन्द्रियाणीत्यर्थः । द्वाराणि-उपकारकाणि-अप्रधानानीत्यर्थः ॥ तदेवोपादयति-तैरिति । तैः= दशबाह्येन्द्रियैः, उपनीतं=वृत्तौ धार्याकारतयाऽवस्थापितं सर्वं क्रमापन्नं विषयं=षट्पादिकं, समनोऽहङ्कारा=मनसा सहिता अहङ्कारेण सहिता च, मनसा संकल्पितमहङ्कारेणऽभिमतं चार्थमिति-भावः । बुद्धिः यस्माद्धेतोः अवगाहते=अध्यवस्यति,=अन्तिमं व्यापारं करोतीति यावत्, तस्माद्धेतोः बाह्यानि दशेन्द्रियाणि द्वाराणि-अप्रधानानि भवन्ति । द्वारवती च=प्रधाना च, सान्तःकरणा=मनोऽहङ्कारसहिता बुद्धिः भवतीति । तथा च बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि, मनः द्वारि । मनः द्वारम् अहङ्कारो द्वारो । अहङ्कारः द्वारम् बुद्धिः द्वारिणी-इतिक्रमो बोध्यः ॥ बाह्येन्द्रियाणां केवलं द्वारत्वं, मनोऽहङ्कारयोः द्वारत्वं द्वारित्वंचेत्युभयम्, बुद्धेस्तु केवलं द्वारित्वमिति केवलद्वारत्वं केवलद्वारित्वं चात्र निरुक्तमिति । भावः ॥ ३५ ॥

“एते प्रदीपकल्पा” इतिकारिकामवतारयति-न केवलमिति । बुद्धिः दश बाह्येन्द्रियाणि अपेक्ष्य केवलं न प्रधानं=द्वारिणी भवति । अपितु बाह्येन्द्रियाऽपेक्षया ये अहङ्कारमनसी द्वारिणी=प्रधाने भवतः, ते=अहङ्कारमनसी, अपेक्षयापि बुद्धिः प्रधानं=द्वारिणी भवतीत्याहेत्यर्थः ॥ ‘अहङ्कारमनसी’ति-मनसोऽल्पाचतरत्वेऽपि अजायदन्तत्वादहङ्कारस्य पूर्वनिपातात् साधु ॥ एते इतिमूलम् । एते परस्परविलक्षणा (अपि) गुणविशेषाः प्रदीपकल्पाः पुरुषस्य कृत्स्नमर्थं प्रकाशय बुद्धौ प्रयच्छन्तीत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-एते=श्रोत्रादिदशेन्द्रियमनोऽहङ्काराः । परस्परं विलक्षणाः=स्वातन्त्र्येण परस्परविरुद्धविषयग्राहकाः, यथा, चक्षुर्देवमूर्तिदर्शनं करोति मनः परकामिनीं संकल्पयतीत्येवमसम्बद्धविषयग्राहका अपीत्यर्थः ॥ गुणविशेषाः=द्वारविशेषाः, त्रिगुणविकारात्मका द्वादशकरणविशेषा वेत्यर्थः । प्रदीपकल्पाः=विरुद्धा अपि वर्तितैवबहुयः मिलिताः सन्तः प्रदीपः प्रकाशं करोति तत्समाना एते, पुरुषस्य=पुरुषाय, प्रकाशय=कृत्स्नमर्थं=यावद्विषयम्, प्रकाशयितुं=प्रदर्शयितुम् । बुद्धौ प्रयच्छन्ति-अर्पयन्तीति ॥ कारिकां स्पष्टयितुं तत्त्वकौमुद्यां-लौकिकदृष्टान्तमाह-यथाहीति । ग्रामस्याऽध्यक्षः-संरक्षको राजकीयकर्मचारी, कौटुम्बिकेभ्यः-कुटुम्बः पोष्यवर्गस्तत्र भवाः कौटुम्बिकास्तेभ्यः ग्रामीणकृषीवलेभ्यः, करम्=राजग्राह्यभागम्, आदाय-गृहीत्वा, विषयाध्यक्षाय=विषयः-जनपदो, ग्रामसमूहात्मकः ‘जिला’ इति प्रसिद्धस्तस्याऽध्यक्षाय-उपरिवर्तिनेऽधिकारिणे, प्रयच्छति=अर्पयति विषयाध्यक्षश्च-ग्रामसमूहाधिकारी च, सर्वाध्यक्षाय-सर्वस्य राज्यमण्डलस्य सर्वेषामध्यक्षाणां सर्वासां प्रजानां उपरिवर्तिनेऽधिकारिणे प्रधानमन्त्रिणे प्रयच्छति । स च=प्रधानमन्त्री च, भूपतये-राज्ञे प्रयच्छति । तथा-तद्वत्, बाह्येन्द्रियाणि दश प्रत्येकं स्वस्वविषयमालोच्य=वृत्तौ गृहीत्वा

मनसे समर्पयन्ति, मनश्च सङ्कल्प्याहङ्काराय, अहङ्कारश्चाभिमित्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभू-  
तायां,—तदिदमुक्तम्—“पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति” इति । बाह्येन्द्रियम-  
नोऽहङ्काराश्च—गुणविशेषाः,—गुणानां सत्त्वरजस्तमसां विकाराः, ते तु परस्परविरोध-  
शीला अपि पुरुषार्थेन भोगापवर्गरूपेणैकवाक्यतां नीताः, यथा वर्तितैलवद्भयः सन्त-  
मसापनयेन रूपप्रकाशाय मिलिताः प्रदीपः, एवमेते गुणविशेषाः इति योजना॥३६॥

कस्मात्पुनर्बुद्धौ प्रयच्छन्ति ? न तु बुद्धिरहङ्काराय द्वारिणे मनसे वेत्यत आह—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।

सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

“सर्वम्” इति । पुरुषार्थस्य प्रयोजकत्वात् तस्य यत्साक्षात्साधनं तत् प्रधानम् ।

इन्द्रियग्रामाध्यक्षाय मनसेऽर्पयन्ति, मनश्च ‘इदमेवं नैव’मिति सम्यक् कल्पयित्वा विषयाध्यक्षस्थाना-  
पन्नायाऽहङ्कारायाऽर्पयति, अहङ्कारश्च तं विषयं ‘मदर्थं एवाऽयमित्यभिमित्य, सर्वाध्यक्षस्थानापन्नायां  
बुद्धौ प्रयच्छन्ति । तदेनमर्थमननुसन्धायोक्तम्—“पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्तीति” ।  
‘पुरुषस्ये’तिसम्बन्धे षष्ठी, अर्थेन=पदार्थेन सह भोगाख्यः सम्बन्धः पुरुषस्य, तथा च पुरुषभोग्यं  
कृत्स्नं समग्रमर्थं—पदार्थजातं प्रकाश्य=आलोच्य संकल्प्याऽभिमित्य च । बुद्धौ प्रयच्छन्ति=बुद्धये  
समर्पयन्तीत्यर्थः ॥ गुणविशेषान् दर्शयति—बाह्येन्द्रियेत्यादिना । दृश्यबाह्येन्द्रियाणि मनोऽहङ्का-  
रश्चेत्यर्थः । ‘गुणविशेष’पदस्यार्थमाह—गुणानामिति । विकाराः,—कार्याणि,—बुद्धयतिरिक्तानि—  
अहङ्कारमनःश्रोत्रादीन्द्रियाण्येत्यर्थः । ते तु=अहङ्कारमनःश्रोत्रादिकरणानि ॥ परस्परं विरुद्धविषया-  
णामपि ग्राहकत्वात् प्रायशो विरोधशीलाः अपि, यथा चक्षुःपुण्यदं देवदर्शनं करोति तदानीमेव मनः  
अपुण्यदं परस्यादिकं संकल्पयतीति । तथापि भोगः—सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः अपवर्गस्तु आत्य-  
न्तिकी दुःखत्रयनिवृत्तिस्तदात्मकेन पुरुषार्थेन प्रयोजकेन, एकवाक्यतां=एककार्यकारितां, नीताः=प्रापि-  
ताः । प्रदीपकल्पाः सन्तः=यथा विरुद्धा अपि वर्ति—तैल-वद्भयः, सन्तमसस्याऽन्वयः अपनयेन=  
निवृत्तिद्वारा, रूपप्रकाशाय=रूपस्य घटादिपदार्थस्वरूपस्य च प्रकाशनार्थं मिलिताः सन्तः दीपो भूत्वा  
प्रकाशं कुर्वन्ति । तथा एते—गुणविशेषाः अहङ्कारादयः सूक्ष्मशरीरभूताः सन्तः पुरुषाय भोगार्थमर्थं  
प्रयच्छन्तीति योजनेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

‘सर्वं प्रत्युपभोगं’मितिकारिकाया अवताराय शङ्कते—कस्मादिति । कस्माद्धेतोः, अहङ्कारादयो वि-  
षयान् गृहीत्वा बुद्धौ प्रयच्छन्ति । बुद्धिश्च विषयान् गृहीत्वा द्वारिणेऽहङ्काराद्वारिणे मनसा वा न प्रय-  
च्छन्ति ?, अत्र किं कारणमिति भावः । अहङ्कारस्य मनसो वा द्वारित्वं तु—यदि बुद्धिरहङ्कारमनोभ्यां  
प्रयच्छेत तर्हि बुद्धिद्वारं तयोश्च द्वारित्वं संभवेदितिसंभावनयोक्तं वेदितव्यम् ॥ सर्वमिति—मूलम्  
यस्मात् बुद्धिः पुरुषस्य सर्वं प्रति उपभोगं साधयति, सैव च पुनः सूक्ष्मं प्रधानपुरुषान्तरं विशि-  
नष्टि इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—यस्माद्धेतोः बुद्धिः, पुरुषस्येति सम्बन्धे षष्ठी, अन्वयश्चोपभोगमित्य-  
नेन । सर्वं प्रतिः—यावच्छब्दादिविषयान् प्रति । उपभोगम् प्रत्येकमुपभोगान् । साधयति=समु-  
पस्थापयति—निर्वर्तयति, सैव च बुद्धिः, पुनः—उपभोगप्रापणोत्तरम् । सूक्ष्मम्=विद्यमानमपि अज्ञा-  
नावृत्तत्वेनाऽविद्यमानमिव, दुरधिगममिति यावत् । प्रधानपुरुषयोरन्तरं भेदः,—विशिनष्टि=बोधयति-  
सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारं जनयतीत्यर्थः, ततश्चाऽपवर्गश्चेति ॥ तत्त्वकौमुद्यां—पुरुषार्थस्येति ।  
पुरुषस्य चेतनस्य अर्थः—प्रयोजनं भोगापवर्गात्मकं, तादृशपुरुषार्थं एव प्रयोजकः=प्रकृतेः संसारप्रव-



बुद्धिश्चाऽस्य साक्षात्साधनम्, तस्मात्सैव प्रधानम् । यथा सर्वाध्यक्षः साक्षाद्राजार्थसाधनतया प्रधानम्, इतरे तु ग्रामाध्यक्षादयस्तम्प्रति गुणभूताः । बुद्धिर्हि पुरुषसन्धिधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वविषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति । सुखदुःखानुभवो हि भोगः, स च बुद्धौ, बुद्धिश्च पुरुषरूपेवेति, सा च पुरुषमुपभोजयति । यथाऽर्थालोचनसङ्कल्पाभिमानाश्च तत्तद्रूपपरिणामेन बुद्धावुपसङ्क्रान्ताः, तथेन्द्रियव्यापारा अपि बुद्धेरेव स्वव्यापारेणाऽध्यवसायेन सहैकव्यापारीभवन्ति, यथा स्वसैन्येन सह ग्रामाध्यक्षादिसैन्यं सर्वाध्यक्षस्य भवति । “सर्वं”—शब्दादिकं “प्रति” यः उपभोगः “पुरुषस्य” तं साधयति । नूनं पुरुषस्य सर्वविषयोपभोगसम्पादिका यदि बुद्धिः, तर्ह्यनिर्भोक्ष इत्यत आह—“सैव चे”ति । पुनः=पश्चात् । “प्रधानपुरुष-

तर्को भवति, संसारप्रवृत्तौ च सत्यां, तस्य=भोगापवर्गात्मकपुरुषार्थस्य, यत् साक्षात् साधनं=करणं तत्=तत्करणं, प्रधानम्=मुख्यं द्वारोति यावत् । अस्य=पुरुषार्थस्य, साक्षात्साधनं तु बुद्धिर्भवति, तस्मात्=साक्षात्साधनत्वाद्धेतोः, सैव=बुद्धिरेव, प्रधानम्=मुख्यं करणं द्वारोति यावत् ॥ तद् दृष्टान्तेनोपपादयति—यथेति । सर्वाध्यक्षः=सर्वोराज्यमण्डलस्याधिकारी प्रधानमन्त्री, साक्षात् राज्ञः कार्यस्य प्रयोजनस्य साधनतया प्रधानम्=प्रधानमन्त्रीत्युच्यते । इतरे तु=प्रधानमन्त्रीतरे तु ग्रामाध्यक्ष-विषयाध्यक्षादयस्तु, तं=प्रधानमन्त्रिणं प्रति । गुणभूताः=गौणाः-सहायकारका भवन्तीत्यर्थः ॥ दृष्टान्ते प्रदर्श्य तत् दार्ष्टान्तिकेऽतिदिशति—बुद्धिर्हीति । हि निश्चये । बुद्धिः पुरुषस्य सन्निधानात्=सामिप्यात् तच्छायापत्त्या=तस्य पुरुषस्य छाया प्रतिबिम्बः तदापत्तिः पतनं तथा । तद्रूपेव=तस्य पुरुषस्य रूपं स्वरूपं चैतन्यं तदात्मिकेव सती, पुरुषपरयः=पुरुषसम्बन्धिनं, सर्वविधविषयाणामुपभोगं साधयति=सम्पादयति ॥ भोगपदार्थमाह—सुखेति । सुखःदुःखान्तरसाक्षात्कारो भोग इत्यर्थः । स च भोगः बुद्धौ=बुद्धिधर्मां बुद्धिरूपे आश्रये भवति, बुद्धिश्च पुरुषप्रतिबिम्बवत्तया पुरुषरूपेव=चेतनेव पुरुषात्मिका इव भवति, तथा च द्वयोर्भेदाऽग्रहात् सा बुद्धिः पुरुषमुपभोजयति=पुरुषायोपभोगं ददातीत्यर्थः ॥ ज्ञानेन्द्रियव्यापाराणां बुद्धिव्यापारेण सहैक्यं दृष्टान्तमुखेन दर्शयति—यथेति । यथा घटस्याऽऽलोचनात्मकश्चक्षुर्व्यापारः संकल्पात्मको मनोव्यापारोऽभिमानात्मकोऽहंकारव्यापारश्च, तत्तद्घटात्मकस्वरूपस्य यो धार्याकारः परिणामस्तद्द्वारा, बुद्धावुपसङ्क्रान्ताः भूत्वाऽऽत्मने भोगदानायैकव्यापारीभवन्तीत्यर्थः ॥ कर्मेन्द्रियव्यापाराणां बुद्धिव्यापारेण सहैक्यं दार्ष्टान्तव्याजेन दर्शयति—तथेन्द्रियेति । तथा कर्मेन्द्रियव्यापारा आदानादयोऽपि संकल्पाऽभिमानाभ्यां सहिताः असहिता वा बुद्धेरध्यवसायात्मकव्यापारेण सहैकव्यापारीभवन्ति=भोगात्मकैकार्यकारिणो भवन्तीत्यर्थः ॥ लौकिकं दृष्टान्तमाह—यथा स्वसैन्येनेति । यथा ग्रामाध्यक्षस्य विषयाध्यक्षस्य च सैन्ये, स्वसैन्येन=स्वस्य-सर्वाध्यक्षस्य सैन्येन सह विजयकार्यात्मकैकव्यापारीभवती सती सर्वाध्यक्षस्य कार्यकरं भवति, तथेन्द्रियव्यापारा बुद्धिव्यापारेण सहैकव्यापारीभवन्तः सन्तः बुद्धेः कार्यकारिणो भवन्तीति भावः ॥ बुद्धेः कर्तव्यमाह—“सर्वं”—मित्यादिना ॥ “सर्वं” पदं ग्राह्यार्थमाह—शब्दादिकमिति । यावच्छब्दस्पर्शादिविषयान्प्रतीत्यर्थः । यः पुरुषस्योपभोगस्तं, बुद्धिः साधयति-सम्पादयतीत्यर्थः ॥ बुद्धेर्नित्यसंयोगात्पुरुषस्य मोक्षाऽभावं शङ्कते-नन्विति । यदि बुद्धिः पुरुषस्य सर्वविषयाणामुपभोगस्य सम्पादिका भवेत् ! तर्हि बुद्धेर्नित्यसंयोगात् नित्योपभोगप्रसक्तया पुरुषस्य अनिमोक्षः=निःशेषेण मोक्षः निर्भोक्षः-अपवर्गः न निर्भोक्ष इत्यनिर्भोक्षः स्यादित्याशङ्कानिरासायाहेत्यर्थः । सैव च=बुद्धिरेव च । या भोगदा सैव पश्चात्=भोगाधिकारसमाप्ती सत्यां मोक्षं करोतीत्यर्थः ।

पयोरन्तरं”=विशेषं “विशिनष्टि” करोति—यथौदनपाकं पचतीति, करणं च प्रतिपादनम् । ननु प्रधानपुरुषयोरन्तरस्य कृतकत्वादित्यत्वं तत्कृतस्य मोक्षस्य स्यादित्यत आह—“विशिनष्टि”—“प्रधानं सविकारमन्यदहमन्यः” इति विद्यमानमेवाऽन्तरमविवेकेनाऽविद्यमानमिव बुद्धिबोधयति, न तु करोति, येनानित्यत्वमित्यर्थः । अनेनापवर्गः पुरुषार्थो दर्शितः, ‘सूक्ष्मम्’—दुर्लक्ष्यम्—तदन्तरमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

तदेवं करणानि विभज्य विशेषाविशेषान् विभजते—

तन्मात्राण्यविशेषाः, तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।

एते स्मृता विशेषाः, शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

प्रधानं बुद्धितत्त्वं पुरुषश्चात्मा तयोरित्यर्थः ॥ ‘अन्तरमि’तिपदस्यार्थमाह—विशेषमिति । वियोगेन शिष्यते इति विशेषः—वियोगेन स्थितिः—मोक्षस्तमित्यर्थः ॥ विशेषस्य पुनर्विशेषकरणाऽसंभवात् ‘विशिनष्टि’—पदस्यार्थमाह—करोतीति । ‘करोती’त्यत्र करणं नाम प्रतिपादनम्, बोधनम्—पूर्वं सिद्धमेवं अज्ञातं मोक्षं ज्ञापयतीत्यर्थः ॥ एतदर्थं दृष्टान्तमाह—यथौदनेति । यथा—‘ओदनपाकं पचती’ति प्रयोगे पाककर्मकस्य पाकस्याऽसंभवात् ‘पचती’त्यस्य ‘करोती’त्यर्थः, तथा प्रकृते ‘विशिनष्टि’इत्यस्य करोतीत्यर्थः ॥ करणं च नोत्पादनं, अन्तरस्य=भेदस्य मोक्षस्य च नित्यत्वात्, किन्तु प्रतिपादनमिति दर्शयति—करणमिति ॥ ननु स्वाधीने शब्दप्रयोगे किमिति करोतीत्युक्त्या विशिनष्टीति प्रयुङ्क्तं ग्रन्थकार इति शंकां परिहर्तुं तत्प्रयोगस्य फलप्रदर्शनौपयिकां शंकामाह—नन्विति । तथा च करोतीत्युक्ते मोक्षस्य कृतकत्वादित्यत्वशंका स्यात् तन्निरुक्त्यै च विशिनष्टीत्यवोचदिति भावार्थः । तदेवाह—प्रधानपुरुषयोरन्तरस्य=भेदस्य, कृतकत्वात्=क्रियमाणतया कार्यत्वात्, तत्कृतस्य=तेन प्रकृतिपुरुषभेदज्ञानेन कृतस्य जन्यस्य मोक्षस्य अनित्यत्वं—जन्यत्वं स्यादित्याशंकार्थः । तद्वारणायह—विशिनष्टीति । प्रधानं सविकारं=सुखदुःखादिपरिणामात्मकविकारसहितं प्रधानम्—अन्यत्=चेतनमिन्नम्, अहं=चेतनश्च, अन्यः=परिणामधर्मकमिन्नः, इति—विद्यमानमपि अन्तरं=भेदं अविवेकेन=अज्ञानेन—प्रकृतिपुरुषयोरस्मिताप्रयोज्यः—‘अहं प्रकृत्यभिन्न’ इति योऽविवेकस्तेन तत्प्रभावात्, अविद्यमानमिव स्थितं बुद्धिबोधयति न तु करोतीत्यर्थः । येन=कृतकत्वेन, अनित्यत्वं स्यात्, न स्यादित्यर्थः ॥ ‘अनेन’=विशिनष्टि—इतिप्रयोगेन बुद्धिबोध्यस्याऽपवर्गस्य पुरुषार्थत्वं=पुरुषप्रयोजनत्वं दर्शितमिति । ‘सूक्ष्मं’ पदस्यार्थमाह—दुर्लक्ष्यमिति । यावदज्ञानं तावद्बोद्धुमशक्यमित्यर्थः ॥ ‘सूक्ष्ममि’ति कस्य विशेषणमित्याकांक्षायामाह—तदन्तरमिति । तयोः प्रधानपुरुषयोरन्तरमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

“तन्मात्राण्यविशेषा”—इतिकारिकामवतारयति—तदेवमिति । ‘करणं त्रयोदशविधं’ (३२) मित्यादिकारिकाभिः करणानि त्रयोदश सामान्यतो विशेषतश्च विभज्य विशेषात् अविशेषान् विभजते इत्यर्थः ॥ तन्मात्राण्यविशेषा इति मूलम् । तन्मात्राणि अविशेषाः, तेभ्यः पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि, एते विशेषाः स्मृताः, शान्ताः घोराश्च मूढाश्चेत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—तन्मात्राणि—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि सूक्ष्माणि ‘अविशेष’ पदेन उच्यन्ते ‘अभिव्यक्तशान्तघोरमूढशून्यत्वम् अविशेषत्वमिति । तेभ्यश्च तन्मात्रेभ्यः अविशेषेभ्यः पञ्चभ्यः पञ्च स्थूलभूतानि जायन्ते, एते—स्थूलभूतपदवाच्याः ‘विशेषा’ इति सांख्याचार्यैः स्मृताः कथिताः । येऽभिव्यक्तशान्ताः अभिव्यक्तघोराः अभिव्यक्तमूढाश्च ते ‘विशेषा’ इत्यर्थः । शान्तत्वं सुखत्वम्, घोरत्वं—दुःखत्वम्, मूढत्वं—मोहत्वमिति ॥



‘तन्मात्राणि’ इति । शब्दादितन्मात्राणि सूक्ष्माणि । न चैषां शान्तत्वादिरस्युप-  
भोगयोग्यो विशेष इति मात्रशब्दार्थः । अविशेषानुक्त्वा विशेषान्वक्तुमुत्पत्तिमेपा-  
माह-‘तेभ्यो भूतानि’ इति । तेभ्यस्तन्मात्रेभ्योयथासंख्यमेकद्वित्रिचतुःपञ्चभ्यो भूता-  
न्याकाशाऽनिलानलसलिलावनिरूपाणि पञ्च ‘पञ्चभ्यः’ तन्मात्रेभ्यः । अस्वेतेपा-  
मुत्पत्तिः, विशेषत्वे किमायातमित्यत्र आह-‘एते स्मृता विशेषाः’ इति । कुतः ? ‘शा-  
न्ता घोराश्च मूढाश्च’ । चकार एको हेतौ, द्वितीयः समुच्चये । यस्मादाकाशादिषु स्थू-  
लेषु सत्त्वप्रधानतया केचिच्छान्ताः, सुखाः, प्रकाशाः, लघवः, केचिद्रजःप्रधानतया  
घोराः, दुःखाः, अनवस्थिताः, केचित्तमःप्रधानतया मूढा विपण्णा गुरवः । तेऽमी पर-

तत्त्वकौमुद्यां शब्दादितन्मात्राणीति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि सूक्ष्माणि तन्मात्राणि,  
अविशेषा उच्यन्ते इत्यर्थः । तानि एव मात्राणीति मयूरव्यंसकादित्वात्रित्यसमासः । तत्र ‘तानि’  
पदेन सामान्यतः सूक्ष्मशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः गृह्यन्ते, ‘मात्र’पदेन शान्तत्वादिर्व्यावर्त्यन्ते-इत्याह-न चै-  
षामिति । एषां-सूक्ष्मशब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम् उपभोगयोग्यो विशेषः शान्तत्वादिः-शान्तत्वबोस्त्व-  
मूढत्वात्मकः, नास्ति । तथा च ‘उपभोगयोग्यशान्तादिमत्त्वं’-विशेषत्वमिति लक्षणं पर्यवसन्नम् ।  
‘मात्र’पदेन शान्तत्वादिर्व्यावर्त्यन्ते इति भावः । यत्र च शान्तत्वादिकं शब्दत्वादिकं च वर्तते स तु  
विशेषोऽविशेषजन्यः-इत्यभिप्रायेणाह-अविशेषान् उक्त्वेति । अविशेषान् प्रदर्श्य, विशेषान्  
वक्तुं=प्रदर्शयितुं, एषां=विशेषाणामुत्पत्तिमाविर्भावमाहेत्यर्थः ॥ ‘तेभ्यः’-इत्यस्याऽर्थमाह-तन्मात्रे-  
भ्य इति ॥ यथासंख्यमिति । एकात् शब्दतन्मात्रात् आकाशम्, द्वाभ्यां शब्दस्पर्शतन्मात्राभ्याम्  
अनिलः=पवनः, त्रिभिः-शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः तैजः, चतुर्भ्यः-शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रैः  
सलिलं जलम्, पञ्चभ्यः-शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यः अवनिः पृथ्वी, जायते इत्यर्थः ॥ ‘पञ्चभ्यः’  
पदग्राह्यमाह-‘तन्मात्रेभ्यः’ इति ॥ उत्पत्तिं स्वीकुर्वन् पञ्चस्थूलभूतानां विशेषत्वं कथमिति पृच्छ-  
ति-अस्वेतेपायामिति । एतेषां स्थूलभूतानाम् उत्पत्तिः=प्राविर्भावोऽस्तु, नैतावता प्रकृताऽभिप्रैतं वि-  
षत्वं सिद्धयति, अतो विशेषत्वे=विशेषत्वस्य विचारे, किं=को निरूप्यः=, आयातम्=उपलब्धः ? इति  
पृच्छार्थः ॥ उत्तरमाह-‘एते स्मृता विशेषा’ इतीति । एते=स्थूलपृथिव्यादयः ‘विशेषाः’-स्मृताः=  
कथिताः=निर्णिताः, सांख्याचार्यैः ॥ तत्र हेतुं पृच्छति-कुतः ? इति ॥ उत्तरयति-‘शान्ता घोराश्च  
मूढाश्च’ इति ॥ ‘चकारः एको हेताविति । ‘घोराश्चेत्यत्र चकारः=यतः इत्यर्थको हेतुत्वबोधकः,  
तथा च ‘यतः=एते शान्ता घोरा मूढाश्च अतो विशेषाः=’पृथिव्यादिस्थूलभूतानि विशेषाः, शान्तघोरमूढ-  
त्ववत्त्वादि’ति प्रयोगः ॥ शान्तत्वघोरत्वमूढत्वं विशेषत्वमिति विशेषाणां लक्षणं बोध्यमिति भावः ॥  
द्वितीयः समुच्चये-इति । ‘मूढाश्चेत्यत्र ‘चकारः शान्तत्वघोरत्वमूढत्वानां त्रयाणां समुच्चयक  
इत्यर्थः= । फलितार्थमाह-यस्मात् हेतोः, आकाशादिषु स्थूलेषु पञ्चसु भूतेषु केचित्=देवचन्द्रप्रभृतयः  
शान्ताः शान्तस्वभावाः शीतलाश्चेत्यर्थः । जडवर्गस्यापि शान्तत्वं दर्शयितुं तदर्थमाह-सुखा इति ।  
सुखकाराः=दुष्पादय इत्यर्थः । तस्यैवोपलक्षितान् धर्मानाह-प्रकाशाः इति । यथा दीपप्रभादयः ।  
लघवः=लघुतावन्तः-तिर्यगमनवत्पवनादय इति ॥ केचित्=क्षत्रियादयः रजःप्रधानतया घोराः ।  
उपलक्षितार्थमाह-दुःखा इति । सपल्यादयः दुःखदाः, वातपित्तश्लेष्माणः, कण्टकादयः पार्थिवादि-  
पदार्थाः दुःखदा इति । अनवस्थिताः=अतीवेष्टा अप्यचिरात् परिणामशीलाः पदार्थाः इत्यर्थः ॥  
केचित्=तिर्यक्पश्यादयः तमःप्रधानतया मूढाः भवन्ति । तस्यैवोपलक्षितार्थमाह-विपण्णा इति ।  
विपादप्रदाः परस्थ्यादयः । गुरवः=गुरुत्ववन्तः पाषाणप्रभृतय इत्यर्थः ॥ पाचभौतिकाः सर्वे पदार्थाः

स्परव्यावृत्त्याऽनुभूयमाना 'विशेषाः' इति च 'स्थूलाः' इति चोच्यन्ते । तन्मात्राणि त्वस्मदादिभिः परस्परव्यावृत्तानि नाऽनुभूयन्ते, इत्यविशेषाः सूक्ष्मा इति चोच्यन्ते ३८

विशेषाणामवान्तरविशेषमाह—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सहप्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।

सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

'सूक्ष्मा' इति । 'त्रिधा विशेषाः स्युः' इति । तान् विशेषप्रकारानाह—'सूक्ष्माः'—सूक्ष्मदेहाः परिकल्पिताः, 'मातापितृजाः'—पाटकौशिकाः । तत्र मातृतो लोमलोहितमांसानि, पितृतस्तु स्नाय्वस्थिमज्जान इति पट्कोशाः । प्रकृष्टानि महान्ति भूतानि

प्रत्येकं गौणप्रधानभावेन शान्तघोरमूढाभवन्तीति । तेऽमी=उत्पन्नाः पृथिव्यादयः । परस्परव्यावृत्त्या=केचित् शान्ततया केचित् घोरतया केचिन्मूढतया—इत्येवं परस्परं भिन्नतया, अनुभूयमानाः 'विशेषाः' इति पदेन 'स्थूलाः'—इति पदेन चोच्यन्ते इत्यर्थः ॥ तन्मात्राणि तु=सूक्ष्मशब्दस्पर्शादीनि पञ्च तु । परस्परव्यावृत्तानि=कानिचित् तन्मात्राणि शान्तानि कानिचित् घोराणि कानिचित् मूढानीत्येवं परस्परभिन्नानि, नानुभूयन्ते, इतिहेतोः तानि तन्मात्राणि 'अविशेषाः' इत्युच्यन्ते 'क्षूच्मा'—इति चोच्यन्ते इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

"सूक्ष्मा"—इतिकारिकामवतारयति—विशेषाणामिति । विशेषाणां—पञ्चभूतानां मध्ये, अवान्तरविशेषम्=अवान्तरभेदं,—त्रिविधत्वम्, आहेत्यर्थः ॥ सूक्ष्मा—इत्यादिमूलम् । सूक्ष्माः, मातापितृजाः, प्रभूतैः सह, त्रिधा विशेषाः स्युः, तेषां सूक्ष्माः नियताः, मातापितृजाः निवर्तन्ते—इत्यन्वयः । संक्षिप्ताथः—एको विशेषः—'सूक्ष्माः' इति सूक्ष्मदेहाः—महदादिसूक्ष्मगन्धान्ताः अष्टादशतत्त्वात्मकाः, तत्र शान्तघोरमूढधर्मकानि दशेन्द्रियाणि—विशेषा भवन्ति, इन्द्रियघटितत्वात् अष्टादशतत्त्वसमुदाय-सूक्ष्मदेहोऽपि विशेषपदेनोच्यते इत्यर्थः ॥ द्वितीयो विशेषः—मातापितृशरीरजन्त्याः पुत्रादिस्थूलशरीरनिष्ठाः पट्कोशाः—मातृतो रोमलोहितमांसानि, पितृतः स्नाय्वस्थिमज्जान इति ॥ तृतीयो विशेषः—बाह्यानि सर्वाणि प्रभूतानि=पञ्चस्थूलभूतानि—इति ॥ अत्र 'सहप्रभूताः'—इति समस्तपाठ उचितः, तदर्थः—पञ्चोक्तानि स्थूलभूतानीति । 'सह प्रभूतैः' रिति मूले सहार्थः साहित्यं—त्रित्वसंख्यापूरकतया प्रयुक्तमिति बोध्यम् । एते त्रिविधा विशेषाः स्युः । येषां त्रिविधानां मध्ये सूक्ष्माः=सूक्ष्मशरीरात्मको विशेषः नियतः—आदिसर्गादारभ्य महाप्रलयपर्यन्तं प्रत्येकं प्रत्येकचेतनेन सह वर्तते, मातापितृजास्तु पट्कोशाः मरणे सति निवर्तन्ते, पञ्चभूतानि तु बाह्यानि निवर्तनशीलानि सन्त्येवेति प्रसिद्धमिति ॥ तत्त्वकौमुद्यां—'त्रिधा विशेषाः स्युः' रिति । त्रिविधा एव विशेषाः, न न्यूना नाऽप्यधिका इति ॥ तान् विशेषाणां प्रकारान्—भेदान् आहेत्यर्थः । 'सूक्ष्माः'—इत्यस्यार्थमाह—'सूक्ष्मदेहाः' इति । शान्तघोरमूढादिधर्मवत्त्वाद्दशेन्द्रियाणि 'विशेषा' इत्युच्यन्ते, दशेन्द्रियघटितश्च सूक्ष्मशरीरसमुदायो भवतीति । इन्द्रिययोगात् सूक्ष्मशरीरस्यापि सुखदुःखदत्त्वात् 'सूक्ष्मदेहा' अपि 'विशेषपदेनोच्यन्ते इत्यभिप्रायेणोक्तं—'परिकल्पिता' इति । सूक्ष्मदेहाः एकविधनिशेष उक्तः ॥ द्वितीयं विशेषमाह—मातापितृजाः इति । तदर्थमाह—पट्कोशाः इति । पट्कोशान्दृष्टवन्ति—मातृतइति । लोमानि=रोमाणि लोहितं—रुधिरम्, मांसं—पल्लवम्, पतानि त्रीणि मातृशरीरांशाः । स्नाय्वः=वस्नसाः, अस्थीति—कुल्यानि, मज्जानः=साराः, त्रीण्येतानि पितृशरीरांशाः । एते पट्कोशाः, पुत्रशरीरे—इतिशेषः ॥ 'प्रभूतैः सहे'—ति व्याख्याति—प्रकृष्टानीति । 'प्रकृष्टानो'त्यस्यार्थमाह—महान्ति-



प्रभूतानि—तैस्सह । सूक्ष्मं शरीरमेको विशेषः, मातापितृजो द्वितीयः, महाभूतानि तृतीयः, महाभूतवर्गे च घटादीनां निवेश इति । सूक्ष्ममातापितृजयोर्देहयोर्विशेषमाह—  
‘सूक्ष्मास्तेषाम्’ विशेषाणां मध्ये ये ते ‘नियताः’ नित्याः ‘मातापितृजा निवर्तन्ते’ इति, रसान्ता वा भस्मान्ता वा विडन्ता वेति ॥ ३९ ॥

सूक्ष्मशरीरं विभजते—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।

संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

‘पूर्वोत्पन्नम्’ इति । ‘पूर्वोत्पन्नम्’, प्रधानेनऽऽदिसर्गे प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितम् ।

इति । सह योगे तृतीयाकरणात्—‘प्रभूतैः सह’ इति ॥ महाभूतात्मकविशेषसाहचर्येणैव विशेषाणां त्रित्वसंख्यापूरणं भवति नान्यथेति ‘प्रभूतैः सह’ेत्युक्तिः ॥ ‘सहप्रभूताः’ इति समस्तपाठो योग्यः ॥ फलितमाह—एको विशेषः सूक्ष्मं शरीरम् ‘पूर्वोत्पन्न’मित्यादि(४०)कारिकया निरूप्यमाणम् । द्वितीयो विशेषः मातापितृजः पट्कोशात्मकः । तृतीयो विशेषः—पञ्चमहाभूतानि । महाभूतपदेन घटादयः सर्वे पञ्चमहाभूतविकारा अपि ग्राह्या इत्याह—महाभूतवर्गे चेति । पञ्चमहाभूतानां यो वर्गः—समुदायः, तत्र । घटादि—होमकरकादि—सुवर्णहोमकादि—प्राणसमोरणादि—घटाकाशादीनां निवेशः—संग्रहो बोध्य इति ॥ त्रिविधविशेषाणां मध्ये शरीरत्वेनैव नियतस्य सूक्ष्मदेहस्य मातापितृजस्थूलदेहस्य च विशेषं—त्रैलोक्यम् आह—सूक्ष्मास्तेषामिति । तेषां—त्रिविधविशेषाणां मध्ये ये सूक्ष्मा विशेषा उक्तास्ते इत्यर्थः ॥ ‘नियत’ पदार्थमाह—‘नित्या’ इति । आदिसर्गादारभ्य आ महाप्रलयमात्मना सह वर्तमाना इत्यर्थः, सांख्यमते चेतनस्य यावन्न मुक्तिस्तावत्पर्यन्तमेकैकस्य सूक्ष्मशरीरस्य योगो नियत इति नित्यत्वं तथाविधमुपपद्यते इति भावः ॥ मातापितृजाः स्थूलदेहाः मरणे प्राप्ते सति निवर्तन्ते—नश्यन्ति । मृतशरीरस्य त्रिधा व्यवस्था भवतीत्याह—रसान्ता इति रसा—पृथिवी मृदु, सैव अन्तः तिरोभावः परिणामो येषान्ते, पृथिवीभावापन्ना इत्यर्थः ॥ दाहे कृते सति भस्म अन्तो येषान्ते भस्मान्ताः । विट्—विष्ठा अन्तः—परिणामो येषान्ते, सिंहाऽसुरगृष्ठादिमांसादिभिर्मुक्ते सति विडन्ता इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

पूर्वोत्पन्न’मितिकारिकानवतारयति—सूक्ष्मशरीरमिति । विभजते—सूक्ष्मशरीरत्वसामान्यधर्मनिष्ठव्यापकतानि रूपाव्यव्यवस्थानामहत्तत्त्वादिधर्मप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारवान् ग्रन्थकार इत्यर्थः । ‘पूर्वोत्पन्नमित्यादिमूलम् । पूर्वोत्पन्नम् असक्तम् नियतम् महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् भावैरधिवासितं निरुपभोगं लिङ्गं संसरति—इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—पूर्वमादिसर्गे प्रधानादुत्पन्नम् । असक्तम्—अव्याहतं परमाण्वादौ शिलादौ च प्रवेशसमर्थम् । नियतम्—आदिसर्गमहाप्रलयपर्यन्तं प्रत्येकेनात्मना सह नियमेन स्थितिशीलम् मुक्त्यवधिकं च । महत्तत्त्वमारभ्य सूक्ष्मतन्मात्रापर्यन्तं—महदहंकारमनः—श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनावृणवाक्पाणिपादपायूपस्थ—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकतन्मात्रैतत्समुदायात्मकमिति यावत् । भावैः—धर्माऽधर्मज्ञानाऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्चर्वाऽनैश्चर्यात्मकाष्टधर्मैः अन्विता बुद्धिस्तदन्वितत्वात् भावैरन्वितम्—युक्तम् । निरुपभोगं—यतः स्थूलशरीरं विना उपभोगप्रदानाऽनर्हम् । अतः लिङ्गम्—सूक्ष्मशरीरं । संसरति—संसारं स्थूलशरीरयोगं करोतीति ॥ तत्त्वकौमुद्यां—‘पूर्वोत्पन्न’—मितिपदस्यार्थमाह—प्रधानेनेति । पूर्व—आदिसर्गे—, बहूनां सर्गाणां या आदिः सर्गस्तस्याऽऽदिसमये । प्रधानेन—मूलप्रकृत्या, पुरुषं पुरुषं प्रति, एकम् एकम् उत्पादितम्—प्रकटयितुम् । महाप्रलये प्रकृतौ

‘असक्तम्’, अव्याहृतं, शिलामप्यनुविशति । ‘नियतम्’ आ चाऽऽदिसर्गात्, आ च महाप्रलयादवतिष्ठते । ‘महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्’, महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्र-पर्यन्तम् । एषां समुदायः सूक्ष्मं शरीरम्, शान्तघोरमूढैरिन्द्रियैरन्वितत्वाद्विशेषः । नन्वस्त्वेतदेव शरीरं भोगायतनं पुरुषस्य, कृतं दृश्यमानेन पाटकौशिकेन शरीरेणेत्यत आह—‘संसरति’ इति । उपात्तमुपात्तं पाटकौशिकं शरीरं जहाति, हायं हायं चोपा-दत्ते । कस्मात् ? ‘निरुपभोगं’ यतः पाटकौशिकं शरीरं विना सूक्ष्मं शरीरं निरुप-भोगं, तस्मात् संसरति ॥ ननु धर्माधर्मनिमित्तः संसारः, न च सूक्ष्मशरीरस्याऽस्ति

लीनानां चेतनानां पुनः संसरणाय महासर्गप्रारम्भे प्रत्येकनियतं प्रकटीकृतमिति भावः ॥ “असक्त” मिति व्याख्याति—“अव्याहृतमि”ति । न विशेषतः आसमन्तात् सर्वत्र हतं—कुण्ठितं भवति, अच्छि-द्रेऽपि प्रवेशशीलमिति भावः ॥ तदेवाह—शिलामप्यनुप्रविशतीति । “नियतमिति”—पदस्यार्थ-स्पष्टयति—आ चेति । आदिसर्गात्=‘दशसु महासर्गेषु विपरिवर्तमानेन मये’ति—आवश्यजैगोपव्य-संवादात् धायते यत् बहवो महासर्गाः तेषु च सूक्ष्मशरीरं त्वेकमेवेति, अन्यथा तद्व्याख्यानं न पठेत, तस्मात् बहूनां महासर्गाणां यः आदिर्महासर्गः तस्मात्, आ=आरभ्य । महाप्रलयात् आ=अभिव्या-प्य,—पर्यन्तम्, अवतिष्ठते=सहचरतीति । “महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्”ति पदग्राह्यतत्त्वसमुदायकस्वरू-पमाह—सहदहङ्कारै—इति । महत्तत्त्वमहङ्कारः, एकादशेन्द्रियाणि—मनःश्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणा-क्पाणिपादपायूपस्थानि, पञ्चतन्मात्राणि—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । एषामष्टादशानां समुदायः समूहः ‘सूक्ष्मं—लिङ्गशरीरं’मित्युच्यते । श्रीस्वामिनारायणीयास्तु—सूक्ष्मं शरीरमेकोनविंशतितत्त्वा-त्मकं—शार्ङ्गपुरस्य चतुर्दशैव चनामृते उक्तं—‘पञ्चशानेन्द्रिय—पञ्चकर्मेन्द्रिय—पञ्चप्राण—चतुरन्तःकरणत्मक’ मिति । कारणशरीरं त्वनादिवासनारूपमिति स्वीकुर्वन्ति ॥ सूक्ष्मशरीरस्य विशेषत्वं दर्शयति—शान्तेति । शान्तत्वघोरत्वमूढत्वधर्मवद्भिरिन्द्रियैर्विशेषैर्युक्तत्वात् सूक्ष्मशरीर—समुदायेऽपि ‘विशेष’—श्रुत्युपचर्यते—इति भावः ॥ स्थूलशरीरस्याऽनावश्यकतां शङ्कते—नन्वस्त्विति । पुरुषस्य=चेतनस्य, भोगस्य=सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारस्य, आयतनं=स्थानमवच्छेदकम्, एतदेव=सूक्ष्ममेव, शरीरम-स्तु । दृश्यमानेन=बहिरनुभूयमानेन, पाटकौशिकेन=रोमलोहितमांस-स्नाय्वस्थिमज्जात्मकपट्को-शात्मकेन, स्थूलशरीरेण कृतम्=अलग्, भोगायाऽन्यथासिद्धत्वमिति भावः । तादृशशंका-निरासार्थमाह—संसरतीति । संसरणमत्र पाटकौशिकशरीरयोगवियोगाऽन्यतरवत्त्वमित्याशयेन संसरणपदार्थमाह—संसरतीति । संसरणमत्र—पाटकौशिकशरीरयोगवियोगाऽन्यतरवत्त्वमित्याश-येन संसरणपदार्थमाह—उपात्तमित्यादिना । आश्रयतया गृहीतं गृहीतं पाटकौशिकं स्थूल-शरीरं जहाति—परित्यजति, हायं हायं=हिला हिला चान्यं नूतनशरीरम् उपादत्ते=गृह्णाति ॥ गृहणे त्यागे च हेतुं पृच्छति—कस्मादिति । कस्मात् हेतोः स्थूलशरीरं गृह्णाति त्यजति चेत्यर्थः ॥ हेतुं—प्रयोजनमाह—निरुपभोगमिति । तत्स्पष्टयति—यत् इति । यस्माद्धेतोः पाटकौशिकं स्थूलशरीरं विना सूक्ष्ममष्टादशतत्त्वात्मकं शरीरं निरुपभोगम्=निर्गतं उप-भोगो यस्मात् तत्, आत्मने उपभोगदानायाऽसमर्थं भवति—तस्माद्धेतोः संसरति=स्थूलशरीर-ग्रहणवियोजने करोतीति ॥ धर्माधर्मौ चेतनगुणावितिन्यायमतेन शङ्कते—ननु धर्माऽधर्मेति । धर्मः पुण्यं अधर्मः=पापं ताबुभौ निमित्तकारणं यस्य सः, एतादृशः संसारः, तथा च कार्यकारणयो-रेकाधिकरणकत्वनियमात् चेतनस्य धर्माऽधर्माविति चेतनस्यैव संसरणात्मकं फलं योग्यं । तद्योगः=धर्माऽधर्मयोगः—सम्बन्धः—अधिकरणत्वमिति यावत्, सूक्ष्मशरीरस्य न्तु=न चाऽस्ति । तत्=



तद्योगः, तत्कथं संसरतीत्यत आह—“भावैरधिवासितम्” इति । धर्माधर्मज्ञानाज्ञान-  
वैराग्यवैराग्यैश्वर्यानिश्वर्याणि भावाः, तदन्विता बुद्धिः, तदन्वितञ्च सूक्ष्मं शरीर-  
मिति तदपि भावैरधिवासितम् । यथा सुरभिचम्पककुसुमसम्पर्काद्वृक्षं तदामोदवा-  
सितम्भवति । तस्माद्भावैरेवाऽधिवासितत्वात्संसरति ॥ कस्मात् पुनः प्रधानमिव  
महाप्रलयेऽपि तच्छरीरं न तिष्ठतीत्यत आह—“लिङ्गम्” इति । लयं गच्छतीति लिङ्गम्-  
हेतुमत्त्वेन चाऽस्य लिङ्गत्वमिति भावः ॥ ४० ॥

स्यादेतत्-बुद्धिरेव साहङ्कारेन्द्रिया कस्मान्न संसरति ? कृतं सूक्ष्मशरीरेणाऽप्रा-  
माणिकेनेत्यत आह—

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा च्छाया ।  
तद्वद्विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

तस्मात्-अयोगादेव हेतोः, कथं=केन-प्रकारेण, केन हेतुना वा, संसरति=सूक्ष्मशरीरं संसारं लभते=  
इत्याशंकार्थः । उत्तरयति—“भावैरधिवासितम्”तीति । भवति संसार एभ्य इति भावाः—  
संसारप्रयोजकाः-धर्माः, अथवा भवन्तीति भावाः-धर्माधर्मादयः परिणामाः, तैरित्यर्थः । तानाह-  
धर्मेति । धार्यते-अभ्युदयः क्रियतेऽनेनेति धर्मः पुण्यविशेषः । तद्विरुद्धः अधर्मः । ज्ञायते अनेन  
प्रकृतिपुरुषभेद इति ज्ञानम्-तत्त्वज्ञानम्,=तद्विपरीतमज्ञानम् । विगतो रागो विरागस्तस्य भावो  
वैराग्यम्-तृष्णात्ययः, अवैराग्यम्=सतृष्णात्वम् । ऐश्वर्यम्-ईश्वर इत्यैश्वर्यम्=अणिमादिसामर्थ्यम् ।  
तद्विपरीतमनैश्वर्यम्-असामर्थ्यमिति । एतेऽष्टौ ‘भाव’शब्देन सारूप्यैरुच्यन्ते इति । तदन्विता=भा-  
वान्विता=भावाधि करणम् बुद्धिः सांख्यनये । तदन्वितं च=बुद्धिघटितं च सूक्ष्मं शरीरमिति हेतोः  
तदपि=सूक्ष्मशरीरमपि भावैः धर्माधर्माच्चैरधिवासितं, -अधिः-अतियोगार्थः, अत्यन्तसम्बन्धात् साहि-  
त्यात्मकात्-वासितम्-अधिकरणीकृतं भवतीति भावः ॥ तत् दृष्टान्तेनोपपादयति-यथेति । सुरभिः-  
सुगन्धं यत् चम्पकस्य पुष्पं तस्य सम्पर्कात्=संयोगात् वस्त्रमपि तस्य कुङ्कुमस्याऽऽमोदेन सुगन्धिना  
वासितं=अधिकरणीकृतं-सुगन्धीकृतं भवतीति, तथा च यथा पुष्पगन्धेनापि वस्त्रं सुगन्धमित्युपच-  
र्यते तथा बुद्धिधर्मभावैः समग्रसूक्ष्मशरीरसमुदायोऽपि भावान्वित इत्युपचर्यते इति भावः ॥ तदेवोपसं-  
हरति-तस्मादिति । ‘तस्माद्’पदस्यैवार्थमाह-भावैरधिवासितत्वादिति । सूक्ष्मशरीरस्य नित्य-  
त्वं शङ्कते-कस्मादिति । कस्माद्धेतोः ‘पुन’श्चकारार्थः शङ्कान्तरसूचकः । प्रधानमिव=मूलप्रकृतिर्ये-  
था महाप्रलयेऽपि तिष्ठति तद्वत् तत्=सूक्ष्मं शरीरं महाप्रलये न तिष्ठति-यथावत् आत्मना सह न  
चरति-इति शङ्कार्थः ॥ समापत्ते-‘लिङ्ग’मित्यनेन । तदर्थमाह-लयमिति । लयं-स्वकारणे तिरो-  
भावं गच्छतीति लिङ्गशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ननु कारणाऽभावात् कुत्र लय इत्याशंका निरासायाह-  
हेतुमत्त्वेनेति । प्रकृतिरूपं यत् हेतुः कारणं तद्वत्तयाऽस्य लिङ्गशरीरस्य तत्र प्रकृतौ लिङ्गत्वम्=  
लयइत्यर्थः ॥ ४० ॥

‘चित्र’मितिकारिकाशंकाव्याजेनाऽवतारयति-स्यादेतदित्यादिना । बुद्धिरेवेत्यादिनाऽऽ-  
शङ्क्यमानं युक्तं भवेदित्यर्थः । साहंकारेन्द्रिया=एकादशेन्द्रियाहंकारसहिता बुद्धिरेव मुख्या पञ्चत-  
न्मात्राणि विहाय कस्माद्धेतोः न संसरति=स्थूलशरीरयोगवियोगौ न करोति ? अप्रामाण्यिकेन=  
प्रत्यक्षप्रमाणाऽविषयेणाऽष्टादशतत्त्वात्मकसूक्ष्मशरीरेण कृतम् अलम् । इन्द्रियमनोऽहंकारोपकरणिकाया  
बुद्धरेकस्या एव संसरणं मन्तव्यम्, न त्वप्रामाणिकसूक्ष्मशरीरस्य संसरणमावश्यकम्, अनावश्यक-

‘चित्रम्’ इति । लिङ्गनात् ज्ञापनात् बुद्ध्यादयो ‘लिङ्गम्’, तत् अनाश्रयं न तिष्ठति जन्मप्रायणान्तराले बुद्ध्यादयः प्रत्युत्पन्नशरीराश्रिताः,—प्रत्युत्पन्नपञ्चतन्मात्रवत्त्वे सति बुद्ध्यादित्वात्—दृश्यमानशरीरवृत्तिबुद्ध्यादिवत् । ‘विना विशेषैः’ इति, सूक्ष्मैः शरीरैरित्यर्थः । आगमश्चाऽत्र भवति ‘ततः सत्यवतः कायात् पाशवद्वं वशज्ञतम् ।

कत्वाच्च ‘सूक्ष्मशरीरमिति संशेव निरर्थिकेति शंकाऽर्थः ॥ चित्रम् यथेति मूलम् । यथा चित्रम् आश्रयम् ऋते (न तिष्ठति), यथा च्छाया स्थाण्वादिभ्यो विना (न, तिष्ठति), तद्वत् लिङ्गम् विशेषैः विना निराश्रयं न तिष्ठतीत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—यथा चित्रं=मूर्त्यादिलेखनम्, आश्रयं पटादिकं ऋते विना न स्थितिपदं लभते, एवं स्थाणुः वृक्षस्तम्बः आदिना शाखादयः तैभ्यो विना यथा च्छाया स्थितिपदं न लभते, तद्वत् लिङ्गशरीरं विशेषैः—सूक्ष्म-मातापितृज सहभूतान्यतमं विना निराश्रयं=अनाधारं सत् भोगदानाय स्थितिपदं न लभते, आत्मना सहयोगमेव विहन्यादित्यर्थः । तत्र चित्रस्य पटादिकमाधारमिव स्थाण्वादयश्च छायाया इयत्तादेरवच्छेदका इव बुद्ध्यादीनां स्थूलसूक्ष्मान्यतमशरीर-माधारमवच्छेदकमिति भावः ॥ तत्त्वकौमुद्यां—लिङ्गनादिति । लिङ्गयतीति लिङ्गनम्, ज्ञापनम् । लिङ्गनात्=आत्मनोऽनुमापकत्वात् तन्मात्राणि विहाय त्रयोदशकराणि बुद्ध्यादीनि लिङ्गपदवाच्या-नीति । प्रयोगस्तु—‘परशरीरम्—आत्मवत्,—इन्द्रियादिमत्वात्—इति ॥ तत्=लिङ्गं त्रयोदशकरण-समुदायः, अनाश्रितं=आश्रयं सूक्ष्म मातापितृज—सहप्रभूतान्यतमविशेषमन्तरेण न तिष्ठतं=न स्थितिपदं लभते । तथाचानुमानमाह—जन्मप्रायणान्तराले इत्यादिना । ‘जन्मप्रायणान्तराले बुद्ध्यादयः’—इति पक्षः । प्रायणं मृत्युश्च, जन्म च जन्मप्रायणे, तयोरन्तराले । अल्पाच्चात् जन्मशब्दस्य पूर्वे निपातः । बुद्ध्यादयः अष्टादशान्त्वानि महदादिगन्धान्तानि । जन्मप्राय-णान्तरालवृत्तित्वस्य पक्षतावच्छेदकतया प्रवेशेन—‘मरणानन्तरं पुनः स्थूलशरीरपरिग्रहपर्यन्तं बुद्ध्यादीनामाश्रयभूतं वर्तमानं किञ्चिच्छरीरं वक्तव्यम्, यत्र यत्र ‘वर्तमानपञ्चतन्मात्रवत्त्वे सति बुद्ध्यादित्वं तत्र तत्र वर्तमानशरीराश्रितत्वमस्ति, यथा स्थूलशरीरवृत्तिबुद्ध्यादयः, एवं च दृश्यमान-शरीरवाधे सति यच्छरीरमवशिष्येत तदेव सूक्ष्मशरीरमिति’ सूक्ष्मशरीरसिद्धिलाभः ॥ ‘प्रत्युत्पन्न-शरीराश्रिता’ इति साध्यम्, प्रत्युत्पन्नं=प्रति—तदानोमेव क्षणे, उत्पन्नम्—वर्तमानमिति यावत् । जन्मप्रा-यणान्तराले वर्तमानशरीरं=सूक्ष्मशरीरमिति बोध्यमिति भावः ॥ ‘प्रत्युत्पन्नपञ्चतन्मात्रवत्त्वे सति बुद्ध्यादित्वादि’ इति हेतुः । प्रत्युत्पन्नानि वर्तमानानि यानि शब्दादिपञ्चतन्मात्राणि तद्वत्त्वे सति—बुद्ध्यादित्वादित्यर्थः ॥ शब्दादिपञ्चतन्मात्रकार्यमेव षट्कोशा भवन्ति षट्कोशानां शरीरत्वात् तत्कारणानि तन्मात्राण्यपि तदभिन्नानि शरीराणीति भवन्ति, शरीरसूक्ष्मावस्थात्मकस्य तन्मात्रसमु-दायस्य हेतौ निवेद्यात् पञ्चतन्मात्रविशिष्टेन्द्रियाहंकारसहितबुद्धेः अष्टादशसमुदायात्मकस्य सूक्ष्मश-रीरत्वं सिद्धमिति भावः ॥ ‘दृश्यमानशरीरवृत्तिबुद्ध्यादिवदि’ति दृष्टान्तम् । दृश्यमानं—वार्तमानिकं-स्थूलशरीरं तत्र वर्तमाना बुद्ध्यादयो यथा तन्मात्रवत्त्वात् बुद्ध्यादित्वाच्च वर्तमानस्थूलशरीराश्रिताः तथा जन्मप्रायणान्तराले सूक्ष्मशरीराश्रिता इति भावः । ‘विना विशेषैः’—रित्यनेन प्रकृतैऽभिप्रेतमर्थ-माह—सूक्ष्मैः शरीरैरिति । सूक्ष्मशरीरात्मकविशेषं विना जन्मप्रायणान्तराले न तिष्ठति बुद्ध्यादय इति भावार्थः । श्वेयवमनुमानेन साधितं सूक्ष्मं शरीरं शब्दप्रमाणेन दृढयति—आगमश्चात्रेति । अत्र—सूक्ष्मशरीरे, आगमप्रमाणं—भारतं विद्यते—तत् इति । ततः—यमागमनाऽनन्तरम् । यमः—यम-दूतः, सत्यवतः=‘सत्यवानि’तिनाम्नः राज्ञः, कायात्=स्थूलशरीरात्, पाशवद्वं=पाशेन बद्धं—गृही-तम्, अतएव वशगतम्=स्वस्य (यमस्य) अधीनं जातम्, अङ्गुष्ठमात्रं=अङ्गुष्ठे गोलकेषु तिष्ठतीति



अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्षं बलाद्यमः । (भार. व. २६) इत्यङ्गुष्ठमात्रत्वेन सूक्ष्मशरीरत्वमुपलक्षयति । आत्मनो निष्कर्षासम्भवात् सूक्ष्ममेव शरीरं 'पुरुषः', तदपि पुरि स्थूलशरीरे शेते इति ॥ ४१ ॥

एवं सूक्ष्मशरीरास्तित्वमुपपाद्य यथा संसरति, येन हेतुना च-तदुभयमाह—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।

प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद्भव्यव तिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

'पुरुषार्थहेतुकम्' इति पुरुषार्थेन हेतुना प्रयुक्तम् । 'निमित्तम्' । धर्माधर्मादि,

अङ्गुष्ठम्-इन्द्रियादिकरणसमुदायः, अङ्गानि-पट्कोशात्मकानि उत्-स्थापयति-प्राविर्भावयतीति-अङ्गुष्ठं तन्मात्रसमुदायः, अङ्गुष्ठमेवेति अङ्गुष्ठमात्रम्=अष्टादशतत्त्वात्मकसूक्ष्मशरीरविशिष्टमित्यर्थः । पुरुषम्=पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः आत्मातं, सूक्ष्मशरीरसहितमात्मानमिति भावः । बलात्-प्रसङ्ग निश्चकर्षं=निष्कासितवानित्यर्थः ॥ अङ्गुष्ठसमाज्ञपरिमाणस्य विभोः पुरुषस्यासंभवात्-किञ्चित्सादृश्यात् अल्पत्वमात्राभिप्रायेण सूक्ष्मशरीरोपलक्षणं कर्तव्यमित्याह-अङ्गुष्ठमात्रत्वेनेति । 'अङ्गुष्ठमात्रपदेनेत्यर्थः । सूक्ष्मशरीरमुपलक्षयतीति । लक्षणाया 'अङ्गुष्ठमात्र'पदस्य 'सूक्ष्मशरीर'मित्यर्थ इति वाचस्पत्यभिप्रायः ॥ ननु कथं सूक्ष्मशरीरे एव लक्षणा ? इत्याशङ्कायां, 'पुरुष'पदप्रयोगाद् पुरुषस्य व्यापकस्यात्मनो निष्कर्षाऽसंभवात् अन्यथाऽनुपपत्त्या 'पुरुषपदस्य योगशक्त्या पुरि स्थूले शरीरे शेते-इति-न्युत्पत्त्या 'स्थूलशरीरशयानः' इति पुरुषपदार्थः, अङ्गुष्ठमात्रस्य च तात्पर्यानुपपत्त्या 'सूक्ष्मशरीरे' लक्षणा भवतीत्यभिप्रायेणाह-आत्मन इति । आत्मनः-चेतनस्य विभोः, निष्कर्षस्य=श्रृत्वाऽपकर्षणस्य-असंभवात्, 'अङ्गुष्ठमात्र'पदलक्ष्यं यत् सूक्ष्ममेव शरीरं तदनुकूल एव । 'पुरुषः'-पुरुषपदस्याऽर्थः । ननु कः स अर्थः ? इत्याकांक्षायांमाह-तदपीति । तदपि=सूक्ष्मशरीरमपि पुरि=स्थूले शरीरे शेते, अतः 'स्थूलशरीरशयानः'-इत्यर्थः 'पुरुष'पदस्यार्थः । तथा च स्थूलशरीरशयानं सूक्ष्मं शरीरं यमो बलान्निश्चकर्ष इति फलितार्थः । 'तदपि'-इत्यत्राऽपिना यथा पुरि शरीरे शेते आत्माऽतः स आत्मा पुरुषः तथा सूक्ष्मं शरीरमपि शेते-इति सूक्ष्मशरीरस्यापि विशेषणं 'पुरुष'-इति संभवेदिति भावः ॥ ४१ ॥

"पुरुषार्थहेतुक"मितिकारिकामवतारयति-एवं सूक्ष्मेत्यादिना । अष्टादशतत्त्वात्मकसूक्ष्मशरीरस्याऽस्तिताम् उपपाद्य=अनुमाय, यथा=येन धर्मादिनिमित्तयोगेन स्थूलशरीरयोगेन च संसरति=व्यवतिष्ठते, येन च पुरुषार्थात्मकेन हेतुना संसरति, तदुभयमाहेत्यर्थः ॥ पुरुषार्थेतिमूलम् । पुरुषार्थहेतुकम् इदं लिङ्गम् निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन प्रकृतेर्विभुत्वयोगात् नटवत् व्यवतिष्ठते-इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-भोगापवर्गात्मकः पुरुषार्थो हेतुः-प्रयोजको-यस्य तदिति । सूक्ष्मशरीरस्य संसरणे पुरुषार्थः एव उद्देश्यमिति भावः । इदं=महदादिसूक्ष्मपर्यन्तमित्यनेन दक्षितं, लिङ्गम्=सूक्ष्मशरीरम्, निमित्ताः-धर्माऽधर्मादयोऽष्टभावाः, धर्मादयोनिमित्तकारणमितिभावः । नैमित्तिकाः-धर्मादिनिमित्तलभ्यपाट्कौशिकदेहाः स्थूलशरीरग्रह एव धर्मादिकृतं फलमितिभावः । तेषां प्रसङ्गः-सहयोगस्तेन, धर्मादिसहयोगात् स्थूलशरीरसहयोगान्चेत्यर्थः । मूलकारणस्य प्रकृतेः-प्रधानस्य, विभुत्वं-व्यापकत्वं-सर्वत्र सर्वदा सत्त्वं तस्य योगात्-स्वाश्रयवत्तित्वसम्बन्धात्, विभुकारणे तादात्म्यसम्बन्धान्चेत्यर्थः व्यवतिष्ठते=मोक्षावधिकं संसरणं करोतीति । यथा स्थायी नटः पटलप्रेरणे प्रविश्य देवो भूत्वा पुनर्मानुषः पुनर्विदूषक इति ॥ व्यवतिष्ठते तद्वदिति ॥ तत्त्वकौमुद्यां-'पुरुषार्थेनेति ।

‘नौमित्तिकम्’ तेषु तेषु निकायेषु यथायथं पाटकौशिकशरीरग्रहः, स हि धर्मादिनिमित्तप्रभवः । निमित्तञ्च नैमित्तिकञ्च-तत्र यः प्रसङ्गः प्रसक्तिस्तथा ‘नटवद्यवतिष्ठते लिङ्गम्’ सूक्ष्मशरीरम् । यथा हि नटस्तांतां भूमिकां विधाय परशुरामो वाऽजातशत्रुर्वा वत्सराजो वा भवति, एवं तत्स्थूलशरीरपरिग्रहणाद्येव वा मनुष्यो वा पशुर्वा वनस्पतिर्वा भवति सूक्ष्मं शरीरमित्यर्थः । कुतस्त्यः पुनरस्येदं महिमेत्यत आह-‘प्रकृतेर्विशुत्वयोगात्’ इति । तथाच पुराणम्-‘वैश्वरूप्यात् प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः’ इति ॥ ४२ ॥

पुरुषस्य-चेतनस्य अर्थः-प्रयोजनं-भोगाऽपवर्गात्मकं तेन हेतुना-प्रयोजकेन-प्रवर्तकेनेत्यर्थः । प्रयुक्तम्-प्रवर्तितमित्यर्थः निमित्तपदार्थमाह-धर्माऽधर्मादीति । धर्मः अधर्मः ज्ञानम् अज्ञानम् वैराग्यम् अवैराग्यम् ऐश्वर्यम् अनैश्वर्यमित्यष्टौ । कुत्र केषां भावानां निमित्ततेति तु ‘धर्मेण गमनमूर्ध्व’ (४४) मित्तिकारिकया दर्शयिष्यते ॥ ‘नैमित्तिकपदार्थमाह- तेषु तेष्विति । तेषु तेषु निकायेषु-तासु तासु बोधिन्यु ये मनुष्यपश्यादिसमूहास्तेषु, यथायथं-अदृष्टकमाऽनुरूपम्, पाटकौशिकशरीरग्रहः-ग्रहः प्राप्तिः-प्राप्तिविषयपाटकौशिकशरीरमेव ‘नैमित्तिकपदार्थः’ । स हि-पाटकौशिकशरीरपरिग्रहो हि, धर्माऽधर्मादिनिमित्तकारणात् प्रभवः जन्यः । तथा च धर्मादिना स्थूलशरीरपरिग्रहः, स्थूलशरीरेण च पुनः धर्माद्युपार्जनमिति-भवति मोक्षावधिकः संसरणम् । शरीरकारणं धर्मादिः धर्मादिकारणं च शरीरमिति पूर्वं पूर्वमनवरथा तु संसृतेरनादित्वात् क्रमिकाऽनवरथा न दोषाव, ‘पारमर्थ्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवदिति’ सांख्यसूत्रात् ॥ द्वन्द्वमाह-निमित्तं च नैमित्तिकं चेति,=निमित्तनैमित्तिके, तत्र=निमित्तनैमित्तिकयोः यः प्रसङ्गः=प्रसक्तिः=सहयोगः-सहचारभावः तेनेत्यर्थः । यदि धर्मादिना सह स्थूलशरीरेण सह वाऽयोगः स्यात् तर्हि न व्यवतिष्ठेत् किन्तु विलीयेदेवेति भावः ॥ ‘लिङ्ग’मित्यस्याऽर्थमाह-सूक्ष्मशरीरमिति । परशुरारे आत्मनः लिङ्गनात् अनुमापकत्वात् लिङ्गमिति, अत्र सूक्ष्मत्वं-च मध्यमाणुपरिमाणवच्चमित्येतत् दृश्यमानस्थूलशरीराऽपेक्षया-उपचर्यते । शरीरम्-शायते-कारणे लीयते-इत्येवं शालम् ॥ ‘नटवद् यवतिष्ठते’-इति दृष्टान्तं, स्पष्टयति-यथेति । नटः=भरतः मायावो पुरुषः, तां तां-यथादेशकालानुकूलं बुद्धिप्रतिभाऽऽगताम् भूमिकाम्=पात्रविशेषीयवैशरचनां, विधाय=कृत्वा, क्वचित् परशुरामो वीरचरितादौ भवति । क्वचित् अजातशत्रुः=न जाताः शत्रवो यस्येति व्युत्पत्तिः-युधिष्ठिरोवेणीसंहारादौ भवतीत्यर्थः । क्वचित् वत्सराजो रत्नावल्यादौ भवतीत्यर्थः ॥ दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिके तदतिदिशति-एवमिति । तत्तज्जातीयस्थूलशरीरस्य परिग्रहणात् सूक्ष्मं शरीरं क्वचित् देवो भवति=देवसंज्ञां लभते क्वचित् मनुष्यसंज्ञां लभते क्वचित् पशुसंज्ञां लभते क्वचित् वनस्पतिसंज्ञां लभते इत्यर्थः ॥ ननु सूक्ष्मशरीरस्य कुतस्तादागतमेतादृशं बहुरूपभवनसामर्थ्यमिति पृच्छति-कुतस्त्यः इति । अस्य=सूक्ष्मशरीरस्य । ईदृशः-बहुयोनिगतशरीरग्रहणानुकूलः, महिमा-समर्थभावः, कुतस्त्यः=कुतस्तादागतः ? इत्यर्थः ॥ उत्तरयति-‘प्रकृतेर्विशुत्वयोगादि’तीति । प्रकृतेः=सूक्ष्मशरीरस्य कारणं यत् प्रधानं मूलप्रकृतिः तस्याः, विशुत्वं=व्यपकत्वम् अत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्वम् सर्वत्र सत्त्वमिति भावः, स्वकारणगतस्य तादृशविशुत्वस्य योगः-स्वाश्रयजन्यत्वसम्बन्धः तस्मात्, विशुत्वात् तदात्म्यसम्बन्धादिति यावत्, यत्र कारणे तादात्म्येन सूक्ष्मं शरीरं वर्तते तस्य कारणस्य विशुत्वात्-सर्वत्र सर्वदा सत्त्वात् तद्वत्त्वात् सूक्ष्मशरीरं सर्वत्र सर्वदा संसरतीति भावः ॥ पतदर्थे पुराणं प्रमाणयति-तथा च पुराणमिति । पुराणं=देवीभागवतम् । प्रधानस्य=मूलप्रकृतेः, वैश्वरूप्यात्-विश्वरूपस्य भावो



‘निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन’ इत्युक्तम्-तत्र निमित्तनैमित्तिके विभजते-

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिकाः, वैकृताश्च धर्माद्याः ।

दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

‘सांसिद्धिकाश्च’ इति । ‘वैकृताः’=नैमित्तिकाः, पुरुषस्य जातस्योत्तरकालदेवता-  
राधनादिनोत्पन्नाः । ‘प्राकृतिकाः’=स्वाभाविका भावाः=सांसिद्धिकाः । तथा हि--  
सर्गादावादिविद्वानन्नभवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभू-  
वेति स्मरन्ति । वैकृताश्च भावा असांसिद्धिकाः, ये उपायानुष्ठानेनोत्पन्नाः, यथा

वैश्वरूप्यं तस्मात्-जगदात्मकानावस्थानरूपत्वात्-विभुत्वाच्च, अर्धं=देहादेहान्तरप्राप्त्यात्मात्मकः,  
परिणामः=संसारः, अद्भुतः=अनन्तापारतयाऽऽश्चर्यजनक इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

“सांसिद्धिकाश्चे”ति कारिकाभवतारयति-“निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन” इत्युक्तमिति । अव्य-  
वहितपूर्वकारिकायामुक्तमित्यर्थः । तत्र=निमित्तनैमित्तिकयोर्मध्ये, निमित्तं नैमित्तिकं च विभज्य  
दर्शयतीत्यर्थः ॥ सांसिद्धिकाश्चेति मूलम् । भावाः, सांसिद्धिकाः प्राकृतिकाः, वैकृताश्च (भव-  
न्ति), (तत्र) धर्माद्याः करणाश्रयिणः दृष्टाः, कललाद्याश्च कार्याश्रयिणो दृष्टाः-इत्यन्वयः । संक्षि-  
प्ताथः-भावाः द्विविधाः, केचन सांसिद्धिकाः इत्युच्यन्ते, यतस्ते ‘प्राकृतिकाः’-प्रकृतिः स्वभावः,-  
स्वभावसिद्धाः भवन्ति यथा कपिलस्याऽऽदिविदुषः धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि चत्वारः जन्मजन्मान्तरपर-  
म्पराप्राप्ताः, सङ्गोत्पन्ना इत्यतस्ते सांसिद्धिका इत्युच्यन्ते । केचन वैकृताः=अस्वाभाविकाः, ये धर्मादयः  
उपायानुष्ठानेन देवताराधनादिना उत्पन्नाः विकाराः एव वैकृता इति उच्यन्ते । एते धर्माधर्मादयो  
भावाः करणं बुद्धितत्त्वं तदाश्रयिणः-तत्र वर्तन्ते ॥ अथात्राधिकमपि बोध्यं-यत् भावानां कार्यमपि  
भावशब्देनोच्यते-इति-यथा-भावानां काय यत् स्थूलशरीरं तदाश्रयिणः-तदाश्रितः कललादयोऽ-  
वस्थाविशेषाः अपि भावजन्यत्वात् भावशब्देन उच्यन्ते इति, तदेते कललादयो भावास्तु सांसिद्धिक-  
प्राकृतिकभावभिन्ना अपि भावोपचार्या इति भावः ॥ तत्त्वकौमुद्याम्-“वैकृता” इति । विकृता  
एव वैकृताः-वैकृतिका इत्यर्थः । तदर्थमाह-नैमित्तिका इति । निमित्तजन्याः । वेते-इत्याकांक्षा-  
यामाह-पुरुषस्येति । जातस्य-उत्पन्नस्य साधारणजनस्य उत्तरकाले देवताया आराधना भक्तिस्त-  
योत्पन्नाः,-देवताप्रसादादिलब्धाः पुण्यसंचयात्मका भावाः-‘नैमित्तिका’ इति ‘वैकृता’-इत्युच्यन्ते  
इति ॥ ‘प्राकृतिकाः’-प्रकृतिः-स्वभावः, स्वभावसिद्धा इत्यर्थः । एनमेवार्थमाह-‘स्वाभाविका  
भावाः’ इति । ननु कथं ‘प्राकृतिक’पदस्य ‘स्वाभाविक’इत्यर्थः, इत्याकांक्षायान्तर्यं मूले एव  
‘सांसिद्धिका’-इति पदं तादृशार्थबोधनायोक्तं “सांसिद्धिका” इति । तद्दृष्टान्तेन दर्शयति-तथा  
हीति । सर्गादौ-सर्गस्य प्रारम्भे आदिविद्वान्=सर्वेभ्य महर्षिभ्यः प्राचीनः प्राक्सर्गायोविद्वान्-  
यावज्ज्ञानवान् सर्वज्ञ इति यावत्, अन्नभवान्=पूज्यः महामुनिः कपिलः धर्मः ज्ञानं वैराग्यम्  
ऐश्वर्यं च तैः पूर्वसर्गायैः सम्पन्नः-सहितः एव प्रादुर्बभूवेति, स्मरन्ति=श्रूयते इत्यर्थः, श्रुतिश्च-  
“ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विगर्ति जायमानं च पश्येदिति ॥ पूर्वं वैकृता भावाः देवतारा-  
धनादिलब्धा उत्तमा भावा व्याख्याताः, इदानीं तपश्चर्यादिना प्राप्तान् अनुत्तमान् भावान् दर्शयितुं  
पुनः ‘वैकृता’-इति व्याख्याति-वैकृताश्च भावा असांसिद्धिका इति । सांसिद्धिकप्रमोदि-  
भिन्ना इमे, ये उपायस्य तपश्चर्यादेरनुष्ठानेन-करणेन उत्पन्नाः-लब्धाः, यथा प्राचतेसः प्रचेतसोऽ-  
पत्यं पुमान्=त्राल्मीकिः तत्प्रभृतिमहर्षयः तपः कृत्वा धर्मादीन् उपलब्धवन्त इति प्रसिद्धम् ॥ धर्मा-  
दीनां यथा सांसिद्धिकत्वं वैकृतिकत्वं चेति विभागस्तथा अधर्मादीनां चतुर्णामपि राक्षसादौ वि-

प्राचेतसप्रभृतीनां महर्षीणाम् । एवमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याण्यपि । एते कुत्र दृष्टाः ? इत्यत आह—करणाश्रयिणः, इति ॥ करणं=बुद्धितत्त्वमिति । कार्यं=शरीरं, तदाश्रयिणः, तस्याऽवस्थाः, कललबुद्बुदमांसपेशीकरणङ्गप्रत्यङ्गव्यूहाः गर्भस्थस्य, ततो निर्गतस्य बालस्य बाल्यकौमारयौवनवार्धकानीति ॥ ४३ ॥

अवगतानि निमित्तनैमित्तिकानि । कतमस्य तु निमित्तस्य कतमन्नैमित्तिकमित्यत आह—

‘धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।

ज्ञानेन चाऽपवर्गो, विपर्ययादिभ्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

“धर्मेण गमनमूर्ध्वम्”, युप्रभृतिषु लोकेषु । “गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण”, भूतलादिषु लोकेषु । “ज्ञानेन चाऽपवर्गः” । तावदेव प्रकृतिर्भोगमारभते न यावद्विवेक-

भागो बोध्य इति दर्शयति—एवमधर्माज्ञानाऽवैराग्याऽनैश्वर्याण्यपीति ॥ भूतप्रेतादीनामधर्मादयो बोध्याः ॥ धर्माऽधर्मादिभावानामधिकरणं पृच्छति—एते कुत्र दृष्टा इति । एते=धर्माऽधर्मादयः, कुत्र—कस्मिन् अधिकरणे दृष्टाः=निश्चिताः ? ॥ उत्तरमाह—करणाश्रयिण इति । करणस्येन्द्रियादेस्तदधिकरणत्वाऽयोगात् करणपदस्यार्थमाह—बुद्धितत्त्वमिति । तदाश्रयिणः इत्यनेनाऽन्वयः । बुद्धितत्त्वे वर्तन्ते इत्यर्थः ॥ अथ धर्माऽधर्मादिभावजन्याः स्थूलदेहाः कललाद्यवस्थात्मकाः अपि भावाः=इत्युपचर्यन्ते—इत्यभिप्रायेण तानपि दर्शयितुं मूले ‘कार्याश्रयिणश्च कललाद्या’ इत्युक्तम्, तद्व्याख्याति—कार्यमिति । ‘कार्य’मित्यस्यार्थमाह—शरीरमिति । स्थूलशरीरमित्यर्थः । तदाश्रयिणः=स्थूलशरीराश्रयिणः ॥ ननु किमात्मकं तत् स्थूलशरीरं यत्र ‘भाव’पदप्रयोग उपपद्यते ? इत्याकांक्षायाम्—भवन्तीति भावाः विकाराः—अवस्थाविशेषा इति प्रदर्शितुमाह—तस्याऽवस्था इति । तस्य=स्थूलशरीरस्य, अवस्थाः क्रमिकपरिणामाः, ते च कललं=वीर्यरजसोमिश्रीभावः, बुद्बुदः=तवोर्वर्तुलीभावः, मांसं=वनीभावः, पेशी=मांसस्य कोशीभावः, करणङ्गः=ततोऽप्यधिककठिनतरो भागः, अङ्गानि=इस्तादयः, प्रत्यङ्गानि=अङ्गुल्यादयः, व्यूहः—निष्पन्नः कायः, एतेऽवस्थाविशेषाः गर्भस्थस्य शरीरस्य भवन्ति तेऽपि भावाः । ततः=गर्भतः, निर्गतस्य=बहिर्गगतस्य, बालस्य=बालशरीरस्य, बाल्यावस्था, कौमारावस्था, यौवनावस्था वृद्धावस्था इति तेऽपि भावाः इत्युपचर्यन्ते इति भावः ॥ ४३ ॥

“धर्मेण गमनमूर्ध्वं”मिति कारिकामवतारयति—अवगतानीति । निमित्तानि—बुद्धिधर्मादयः, नैमित्तिकानि च कललाद्यवस्थाश्रयशरीराणीति अवगतानि—ज्ञातानि । कतमस्य=कस्य तु निमित्तस्य कतमतः—किमात्मकं नैमित्तिकं भवतीत्याकांक्षायामाहेत्यर्थः ॥ धर्मेणेति मूलम् । धर्मेण ऊर्ध्वं गमनं भवति, अधर्मेण अधस्तात् गमनं भवति, ज्ञानेन चाऽपवर्गो भवति, विपर्ययाद् बन्धः इत्यत—इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—अभ्युदयहेतुना धर्मेण ऊर्ध्वं स्वर्गलोकादौ गमनं भवति, अधर्मेण तु अधस्ताद्—पातालादौ पद्मादिजातिषु वा गतिर्भवति । पञ्चविंशतिपदार्थं—तत्त्वज्ञानेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिद्वारा मोक्षो भवति । विपर्ययात्=विपर्ययविकल्पायाम्भावात्=अज्ञानात् बन्धः=बहुविधं बन्धनमिष्यते, सांख्याचार्यैरित्यर्थः । तत्त्वकौमुद्यां ‘धर्मेण गमनमूर्ध्वं’मिति । ‘ऊर्ध्वं’मितिपदप्राहमाह—युप्रभृतिषु लोकेष्विति । धौः स्वर्गलोकः । महर्जनतपःसत्यादयः ‘प्रभृति’पदेन प्राह्याः । गमनं—गतिः । संसरणमित्यावत् ॥ ‘अधस्तात्’इतिपदप्राहमाह—भूतलादिष्विति । भूतलम्=मर्त्यलोकः, आदिना । अतलवितलब्रुतलतलमहातलरसा-



ख्यातिं करोति । अथ विवेकख्यातौ सत्यां कृतकृत्यतया विवेकख्यातिमन्तं पुरुषं प्रति निवर्तते, यथाऽहुः-“विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयं प्रकृतिचेष्टितम्” इति ॥ “विपर्ययात्” अतत्त्वज्ञानात् “इष्यते बन्धः” ॥ स च त्रिविधः-प्राकृतिको वैकृतिको दाक्षिणिकश्चेति । तत्र प्रकृतावात्मज्ञानाद्ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, यः पुराणे प्रकृतिलयान् प्रत्युच्यते । “पूर्ण शतसहस्रं हि तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः” इति ॥ वैकारिको बन्धस्तेषां ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषधियोपासते, तान्

तलपातालख्या लोका ग्राह्याः ॥ ज्ञानेन-तत्त्वज्ञानेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिद्वारा अपवर्गः-आत्यन्तिकदुःखध्वंसात्मको भोक्षो भवतीति । तदेव व्याख्याति-तावदेवेति । प्रकृतिः तावत्कालपर्यन्तं सुखदुःखाऽन्यतरसाक्षात्कारात्मकं भोगम् आरभते-जनयति, यावत्कालपर्यन्तं तत्त्वज्ञानद्वारा विवेकख्याति-प्रकृतिपुरुषयोर्भेदज्ञानम्, न करोति, अथ-तत्त्वज्ञानात् विवेकख्यातौ जनितायां सत्यां तु कृतकृत्यतया-कृतं=निष्पादितं कृत्यं=प्रयोजनं भोगदानात्मकं यया सा कृतकृत्या तस्या भावस्तया-सम्पादितभोगात्मकप्रयोजनतथेत्यर्थः । विवेकख्यातिमन्तं=तत्त्वज्ञानलभ्य विवेकख्यातियुक्तं, पुरुषं प्रति निवर्तते-भोगं न ददातीत्यर्थः ॥ अत्रार्थे प्राचीनानां सम्प्रतिमाह-यथा-हुरिति । प्रकृतेः चेष्टितं=भोगदानानुकूलं चरित्रम्, विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयम्=विवेकः-प्रकृतिपुरुषयोर्भेदः तस्य ख्यातिः=ज्ञानं, तत्पर्यन्तम्, भवतीति ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ “विपर्ययात्”-इति पदस्यार्थमाह-अतत्त्वज्ञानात्-इति । तत्त्वज्ञानम्-प्रत्यक्षात्मकप्रमा, अनुमितिप्रमा, शाब्दप्रमा चेति, तज्जुयं च ‘प्रकृतिः-आत्मभिन्ने’तिसत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरपि तत्त्वज्ञानपदेन संग्राह्या, तद्विन्नं यद् यज ज्ञानं-अप्रमात्मकं-विपर्ययात्मकं विकल्पात्मकं स्मरणात्मकं केत्येवंविधं यत्सर्वमत-त्त्वज्ञानं तस्मात्, बन्धः=मोक्षविरोधी पाशः, इष्यते । स च बन्धः त्रिविधो भवति, एकः प्राकृतिकः-प्रकृतिः मूलमाया तत्र भवः प्रकृतौ चेतनस्य लयात्मकः । द्वितीयः वैकृतिकः-विकाराः महत्तत्त्वादयः तत्र भवः महत्तत्त्वादपि चेतनस्य लयात्मकः । तृतीयः दाक्षिणिकः-यथादौ बहुविधगोसुवर्णादिदक्षिणादानेन लभ्यः, तत्पुण्यभोगार्थं प्रसङ्गापि स्वर्गायशरीरादौ अवस्थानात्मकं बन्धनमिति ॥ प्राकृतिकं बन्धं दर्शयति-सत्रेति । त्रिविधबन्धेषु मध्ये इत्यर्थः । ये=जनाः प्रकृतावात्मज्ञानात्=‘आत्मा प्रकृत्यभिन्न’-इत्याकारकज्ञानात्, प्रकृतिमुपासते=प्रकृतेरुपासनां=मननं कुर्वन्ति, तेषां=प्रकृतेरुपासकानाम्, प्राकृतिको बन्धः मरणान्ते मूलप्रकृतौ लयो भवतीति लयात्मकं बन्धनं भवति ॥ अत्र लयो न तिरोभावः, चेतनस्य तदसंभवात्, किन्तु दीर्घकालं केवलसूक्ष्मशरीरेण सह तत्राऽवस्थानं-मूर्च्छनम् इत्यत्रार्थे पुराणप्रमाणमाह-यः पुराणे इति । यः प्राकृतिको बन्धः, पुराणे प्रकृतिलयान् प्रति उच्यते=प्रकृतौ लयं गतानां कृतेऽभिहित इत्यर्थः । पुराणवाक्यमुल्लिखति-पूर्णमिति । अव्यक्तं मूलप्रकृतिः तच्चिन्तकाः ‘आत्मा-प्रकृत्यभिन्न’ इति मननकर्तारः-तदुपासका इति यावत्, पूर्णं शतसहस्रमन्वन्तराणि=चतुर्युगानामेकसप्ततिः (७१) मन्वन्तरं भवति-एक-मन्वन्तरस्य वर्षाणि-विंशतिसहस्राधिक-सप्तषष्टिलक्षोत्तर-त्रिंशत्कोटयः (३०६७२००००) भवन्ति । तादृशशतसहस्र(लक्ष)मन्वन्तरकालपर्यन्तं प्रकृतावेव लयं प्राप्ता इव तिष्ठन्तीति, तावत्पर्यन्तं न मोक्षाऽऽश इति भावः ॥ अथ वैकृतिकबन्धाधिकारिणो दर्शयति-वैकारिको बन्धस्तेषामिति । ये जनाः प्रकृतिविकारान् पञ्चभूतानि आत्मत्वेन उपासते तान् चार्वाकान् प्रति ये श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यात्मत्वेन उपासते तान्नास्तिकान् प्रति, ये च मनः अहंकारं बुद्धिं वा पुरुषधिया=आत्मबुद्ध्या

प्रतीदमुच्यते—“दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकास्तु शतं पूर्णं, सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥ बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।” -ते खल्वमी विदेहा येषां वैकृतिको बन्धः” इति । इष्टापूर्तेन दाक्षिणिकः । पुरुषतत्त्वान-  
भिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यते इति ॥ ४४ ॥

वैराग्यात् प्रकृतिलयः, संसारो भवति राजसाद्रागात् ।

पेश्वर्यादविघातो, विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

“वैराग्यात् प्रकृतिलयः ” इति । पुरुषतत्त्वानभिज्ञस्य वैराग्यमात्रात् प्रकृतिलयः,

उपासते, तान् प्रति च इदं=वक्ष्यमाणं पुराणे उच्यते प्रदर्श्यते-दर्शयति । इन्द्रियचिन्तकाः-इन्द्रि-  
याणामात्मत्वेनोपासकाः ते इह=प्रकृतौ दशमन्वन्तरकालपर्यन्तं लयं गच्छन्ति । ये च भौतिकाः-  
स्थूलभूतानामात्मत्वेनोपासकास्ते प्रकृतौ शतमन्वन्तरकालपर्यन्तं लयं गच्छन्ति । ये चाभिमानिकाः-  
=अभिमानम् अहंकारम् आत्मत्वेनोपासते ते सहस्रमन्वन्तरकालपर्यन्तं प्रकृतौ लयं गच्छन्ति । ये च  
बौद्धाः-बुद्धिमेवमात्मत्वेनोपासते ते दशसहस्रमन्वन्तरकालपर्यन्तं प्रकृतौ लयं गच्छन्ति ॥ ते की-  
दृशाः सन्तस्तिष्ठन्तीत्यत उक्तम्-विगतज्वरा इति । विगतः-नास्ति, ज्वरः=स्थूलशरीरलभ्यसुख-  
दुःखादिभोगो येषामिति, स्थूलभोगरहिताः सूक्ष्मशरीरसहिताश्चाऽत एव भोजनादिरहितो निग-  
दितः कारागारवासीव रुध्यमानास्तिष्ठन्तीति । तेषां संज्ञां दर्शयति-ते खल्वमीति । येषां  
देशितो वैकृतिको बन्धस्तेऽमी ‘विदेहा’-इत्युच्यन्ते, यावत्कालं लयस्तावत् कालं स्थूलदेहशून्य-  
त्वात्, -विगतो देहःस्थूलशरीरं येषान्ते ‘विदेहाः’-स्थूलशरीरशून्या इत्युच्यन्ते । पुनश्च लयकाल-  
समाप्तौ विविधा देहाः-स्थूलशरीराणि धर्माऽधर्मादिक्रमानुसारं प्राप्नुवन्तीति भावः ॥ उक्तं च  
परमात्मना श्रीस्वामिनारायणेन वृत्तालयवचनामृते-अविद्यात्मकस्य द्रोहस्य कर्तुः पर्वतादिरूपस्या-  
तोव जडशरीरस्य प्राप्तिलयं इति यत्र मोक्षाशा न भवतीति । इदमस्मद्विरचितभाष्यादवगन्तव्य-  
मिति । तृतीयं बन्धं दर्शयति-इष्टापूर्तेनेति इष्टस्य=इष्टसाधनस्य-इष्टं स्वर्गादि तत्साधनं वापी-  
तडागादिः यज्ञादिः, तस्य आ=समाप्तौ सत्यां यत् पूर्तं कर्म दक्षिणादानं द्विजभोजनादिकम्,  
तेन पुण्येन लब्धो बन्धः दाक्षिणिकः ॥ कस्याऽयं भवतीत्याकांक्षायामाह-पुरुषेति । पुरुषतत्त्व-  
सुखदुःखकामनादिशून्यम् आत्मस्वरूपम्, तस्याऽनभिज्ञः-ज्ञानशून्यः-अज्ञानीति यावत्, अज्ञा-  
नप्रयुक्तः सः विविधपुण्यभोगविषयकैः कामैः=मनोरथैः उपहतं आवृतं प्रपूरितं मनः-अतः-  
करणं यस्य एतादृशः सन् इष्टापूर्तकर्मकारी भवति, स च पुण्येन शरीरं देवादिरूपं लब्ध्वा बध्यते  
न तु मुच्यते, पुनर्धर्मः पुनः शरीरं पुनर्धर्मः पुनः शरीरमिति बन्धनात्र मुच्यते इति भावः ॥४४॥

“वैराग्यादि” तिमूलम् । वैराग्यात् प्रकृतिलयो भवति, राजसात् रागात् संसारो भवति,  
पेश्वर्यात् अविघातो भवति, विपर्ययात् तद्विपर्यासो भवतीत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-तत्त्वज्ञानरहित-  
स्य केवलात् वशीकारादिसंज्ञकात् वैराग्यात्, प्रकृतौ प्रकृतिकार्येषु महत्तत्त्वादिषु च लयः सूक्ष्म-  
शरीरमात्रेण सह प्रवेशो भवति । अथ राजसात्=रजोगुणांशात्, रागात्=वैराग्यात्, संसारः-  
दुःखदं शरीराच्छरीरान्तरप्राप्त्यात्मकं संसरणं भवति । अथ पेश्वर्यात्=अणिममहिमादिसामर्थ्यात्  
अविघातः=विघातः=प्रतिहननम्, तद् भावः-अपतिहननम्, -इच्छायाः सर्वत्राविघातः, यदेवेच्छति  
तदेव करोतीत्यर्थः । अथ विपर्ययात्=ऐश्वर्यस्य विपर्ययः-अनैश्वर्यं तस्मात्, -असामर्थ्यादित्यर्थः,  
तद्विपर्यासः=तस्य इच्छाया अविघातस्य विपर्यासः-अभावः, -इच्छाऽप्रतिहननाऽभावः, -इच्छावि-  
घात इति यावत्, भवतीति ॥ तत्त्वकौमुद्यां-“वैराग्यात्प्रकृतिलयः”-इति स्पष्टयति-पुरुषेति ।



प्रकृतिग्रहणेन प्रकृतिमहदहङ्कारभूतेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेष्वाम्बुद्वयोपास्यमानेषु लयः । कालान्तरेण च पुनराविर्भवति । “संसारो भवति राजसाद्रागात्” इति । ‘राजसात्’ इत्यनेन रजसो दुःखहेतुत्वात् संसारस्य दुःखहेतुता सूचिता । “ऐश्वर्यादविधातः” इति, इच्छायाः । ईश्वरो हि यदेवेच्छति तदेव करोति । “विपर्ययात्” अनैश्वर्यात्, “तद्विपर्यासः”—सर्वत्रेच्छाविधात इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

बुद्धिधर्मान् धर्मादीनष्टौ भावान् समासव्यासाभ्यां मुमुक्षूणां हेयोपादेयान् दर्शयितुं प्रथमं तावत् समासमाह—

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।

गुणवैषम्यविमर्दात्, तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

पुरुषस्य तत्त्वं स्वरूपस्वभावादिकं तस्याऽनभिज्ञः,—तत्त्वज्ञानरहित इतिभावः, तस्य, वैराग्यमात्रात्=केवलत्वात् यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकार-वैतुष्याख्यवैराग्यात्, प्रकृतौ लयो भवति । ‘पुरुषतत्त्वाऽनभिज्ञस्य’ इत्यनेन ‘पुरुषः—प्रकृत्यादिजडाऽमिन्नइत्येवम् प्रकृत्यादावात्मत्वेनोपासकस्येति बोध्यमिति प्रदर्शनायाऽऽह—प्रकृतिग्रहणेनेति । ‘प्रकृति’-‘देन—प्रकृतिः, महत्तत्त्वम्, अहंकारः, पञ्चतन्मात्राणि—पञ्चभूतानि, मनः, दशेन्द्रियाणि चेतिग्राह्याणि, तदन्यतमेपु आत्मबुद्ध्या=आत्मा महत्तत्त्वाऽमिन्नः’ ‘आत्माऽहंकाराभिन्नः’—‘आत्मा भूतात्मकदेह एव’—‘आत्मा तन्मात्राणि’ ‘आत्मा मनः’ ‘आत्मा—इन्द्रियाण्येव’ त्वेवमुपास्यमानेषु—मननविषयोऽकृतेषु सत्सु, तेषु तेषु लयः—सूक्ष्मशरीरमात्रेण सह जडवदवस्थितिः भवति । कालान्तरे=लयकालसमाप्ती सत्याम्, पुनः आविर्भवति=सूक्ष्मशरीरेण सह बन्धनात् निर्मुक्तः सन् प्राग्भवीयाऽदृष्टानुरूपं स्थूलशरीरं गृह्णातीति ॥ “संसारो भवति राजसाद्रागादिति” राजसात्=रजोगुणधर्मात्, रागात्=अवैराग्यात्, संसारः जन्मजन्मान्तरप्राप्त्यात्मकं संसरणं भवति ॥ “राजसा”दितिकथनस्य भावार्थमाह—“राजसादि”त्यनेनेति । रजोगुणस्य दुःखहेतुत्वात् रजोगुणात्मकरागस्यापि दुःखहेतुतया भाग्यम् अतः रागलभ्यस्य फलस्य संसारस्य=जन्मजन्मान्तरप्राप्त्यात्मक-संसरणस्य दुःखप्रदत्वमेवेति सूचितम्, अवैराग्यात् दुःखं संसरणं लभ्यते इति भावः ॥ ऐश्वर्यादविधात—इत्यत्र शेषं पूरयति—‘इच्छाया’ इति । ऐश्वर्यात्—अणिम—महिम—लघिम—गरीम—प्राप्ति—प्राकाम्ये—शिल्प—वशित्वाद्यात्मनैश्वर्यात्=सामर्थ्यात्, इच्छाया अविधातो भवतीत्यर्थः ॥ फलितमाह—ईश्वरो हीति । हि=निश्चये । ऐश्वर्यावान्—ईश्वरः, स च यद् यद् इच्छति तत्तत् करोत्येव तथा भवत्येव चेतिभावः ॥ “विपर्ययादि”त्यस्यार्थमाह—अनैश्वर्यादिति । विपर्ययात्=ऐश्वर्यविरुद्धात्,—अनैश्वर्यात्=अनणिमाऽमहिमेत्येवंविधादित्यर्थः ॥ “तद्विपर्यासः”—पदार्थमाह—सर्वत्रेच्छाविधात इति । सर्वत्र=यत्र यत्र पदार्थं स्वानु कूलत्वेन इच्छां करोति तत्र तत्र सर्वत्र इच्छाया विधातः—निष्फल्ता भवति, इयमेष दुःखपराकाष्ठेति भावः ॥ ४५ ॥

“एष प्रत्ययसर्गः”—इति कारिकामवतारयति—बुद्धिधर्मानित्यादिना । बुद्धेः धर्मान्=गुणभूतान्, धर्माऽधर्मज्ञानाऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्याख्यान् अष्टसंख्याकान् ‘भाव’ संज्ञकान् समासेन=संक्षेपेण व्यासेन=विस्तरेण च, मुमुक्षूणां=मोक्षुमिच्छन्तीति मुमुक्षवः—मुक्त्यभिलाषिणः तेषां, हेयान् हातुं—त्यक्तुं योग्यान्, उपादेयान्=उपादातुं—गृहीतुं योग्यान्, दर्शयितुम्, इमे त्याज्याः, अन्ये चोपादेया इति बोधयितुमिति, प्रथमं—आदौ, समासमाह=चतुर्विधत्वेन संक्षेपमाहेत्यर्थः । संक्षेपेणोक्त्वा ततः ‘पञ्चाशद्भेदेन विस्तारमप्याहेत्यपि बोध्यमिति ॥ “एष प्रत्ययसर्गः” इतिमूलम् । एषः प्रत्ययसर्गः, विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ( चतुर्धा भवति ) गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च

“एषः” इति । प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययो बुद्धिः, तस्य सर्गः । तत्र—“विपर्ययः”—अज्ञानमविद्या च बुद्धिधर्मः । “अशक्तिः”—अपि करणवैकल्यहेतुका, बुद्धिधर्म एव । “तुष्टिसिद्धौ” अपि वक्ष्यमाणलक्षणे बुद्धिधर्मावेव । तत्र विपर्ययाशक्तितुष्टिषु यथायोगं सप्तानाञ्च धर्मादीनां ज्ञानवर्जमन्तर्भावः, सिद्धौ च ज्ञानस्येति ॥ व्यासमाह—“तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्” इति । कस्मात् ? “गुणवैषम्यविमर्दात्” इति । गुणानां वैषम्यम्—एकैकस्याऽधिकबलता द्वयोर्द्वयोर्वा, एकैकस्य न्यूनबलता द्वयोर्द्वयोर्वा,

भेदास्तु पञ्चाशद् ( भवन्ति ) इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—एषः=पूर्वमष्टधा धर्माऽधर्मज्ञानाऽज्ञानवैराग्यऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्यामको य उक्तः सः, प्रत्ययसर्गः=प्रतीयन्ते विषयाऽनेनेति प्रत्ययः-ज्ञानं बुद्धिः तस्य सर्गः, संक्षेपात् विपर्ययः अशक्तिः तुष्टिः सिद्धिश्चेति चतुर्धाऽऽख्या नाम यस्य तादृशो भवतीति । तत्र विपर्ययः=अज्ञानम्-मिथ्याज्ञानादिकम् । न शक्तिः अशक्तिः=इन्द्रियादीनाम् असामर्थ्यम् अष्टाविंशतिविधम् अनैश्वर्यमिति यावत् । तुष्टिः=मोक्षविरोधी प्राकृतिकसन्तोषो नवविधः । सिद्धिः=अणिमादिरूपं सामर्थ्यम्-अष्टविधम् ॥ तत्र विपर्ययेऽज्ञानस्याऽधर्मस्य चाऽन्तर्भावः, अशक्तौ अवैराग्यस्याऽनैश्वर्यस्य चाऽन्तर्भावः । तुष्टौ धर्मवैराग्ययोरन्तर्भावः, सिद्धौ तु ज्ञानस्यैश्वर्यस्य च अन्तर्भाव इति बोध्यम् । सत्त्वरजस्तमसां त्रिगुणानां यद् वैषम्यं न्यूनाधिकभावस्तत्कृतात् विमर्दाद् न्यूनाधिकशक्तिरूपपराभवात् ॥ तस्य च=विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यस्य चतुर्विधसंक्षिप्तधर्मस्य, भेदास्तु=प्रकारास्तु, पञ्चाशत्संख्याका भवन्तीति ॥ तत्त्वकौमुद्यां—“प्रतीयते” इति । प्रतीयते ज्ञायते विषयः अनेनेति प्रत्ययः बुद्धिस्तस्य बुद्धितत्त्वस्य, सर्गः=कार्यं, चतुर्विधमित्यर्थः । तत्र=चतुर्विधेषु । यः विपर्ययः, सः विपर्ययो मिथ्याज्ञानमत्तद्रूपप्रतिष्ठमिति योगसूत्रात् मिथ्यात्मात्मकमज्ञानं बोध्यम्, तस्यैव पर्यायः—अविद्येति । स च एकविधो बुद्धिधर्मः ॥ द्वितीयमाह—“अशक्ति” इति । अशक्तिरपि बुद्धिधर्मो द्वितीयः, सा च करणवैकल्यहेतुका=करणानामिन्द्रियादीनां वैकल्यकुण्ठितभावो दोषः तदेव हेतुयन्त्रेति, इन्द्रियदोषैः परम्परया बुद्धिदोषो उत्पद्यते ता एवाऽशक्त्यो बुद्धिधर्मा इति ॥ तुष्टिसिद्धौति । तुष्टयो नव ‘आध्यात्मिक्यश्वतसः’ (५०) कारिकया दर्शिताः, सिद्धयश्चाऽष्टौ ‘ऊहः’ (५१) इत्यादिकारिकया दर्शिताः । ते तुष्टिसिद्धौ बुद्धेर्धर्मौ बोध्याविति ॥ एतेषु चतुर्षु-धर्माऽधर्माद्यष्टानामन्तर्भावमाह—तन्नेति । विपर्ययेऽज्ञानस्याऽधर्मस्य चाऽन्तर्भावः, अशक्तौ-अवैराग्यस्याऽनैश्वर्यस्य चान्तर्भावः, तुष्टौ धर्मवैराग्ययोरन्तर्भावो बोध्यः ॥ ऐश्वर्यस्य तु तुष्टौ विपर्यये च कचित् कचिदन्तर्भावो भवतीति प्रदर्शनार्थमुक्तं—यथायोगं सप्तानां च धर्मादीनामिति ॥ ननु के के धर्मादयः सप्त ? इत्याकांक्षायामाह—ज्ञानवर्जमिति । तर्हि ज्ञानस्य कुत्राऽन्तर्भाव इत्याकांक्षायाम् आह सिद्धौ चेति । ‘ऊहः शब्दोऽध्ययन’ (५१) इति कारिकोक्तयामूहादिसिद्धौ ज्ञानस्याऽन्तर्भाव इत्यर्थः ॥ अथ चतुर्णां विपर्ययादीनां व्यासं=विस्तारमाह—“तस्य च भेदास्तु पञ्चानां” इति । तस्य=विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यसंक्षिप्तसर्गस्य, पञ्चाशत्संख्याकाः भेदाः=प्रकारा भवन्तीति ॥ तत्र हेतुं पृच्छति—कस्मादिति ? ॥ उत्तरयति—गुणवैषम्यविमर्दादिति । तत्स्पष्टयति—गुणानामिति । सत्त्वरजस्तमसां यद् वैषम्यं=न्यूनाधिकभावः, तत्कृतो यो विमर्दः—स्वस्वकार्यजननसामर्थ्यपराभवः, तस्मात् बहुविधात् पञ्चाशद् भेदा भवन्ति ॥ ‘वैषम्य’पदार्थं—स्पष्टयति—एकैकस्येति । एकस्य एकस्याऽधिकबलता=अधिकपरिमाणता, द्वयोः द्वयोर्वा अधिकपरिमाणता ॥ ‘एकस्य एकस्य’, ‘द्वयोर्द्वयो’—रिति विप्ता तु बहूनां कार्यात्मकसत्त्वादीनां सर्वत्र व्याप्ति-सूचनार्थं बोध्या ॥ एकस्य एकस्य न्यूनबलता द्वयोः द्वयोर्वा न्यूनबलता=न्यूनपरिमाणतेत्यर्थः ॥ तथा च



ते च न्यूनाधिक्ये मन्दमध्याधिमात्रतया यथाकार्यमुज्जीयेतोतदिदं गुणानां वैषम्यम्, तेनोपमर्दः, एकैकस्य न्यूनबलस्य द्वयोर्द्वयोर्वाऽभिभवः, तस्मात्तस्य भेदाः पञ्चाशदिति ॥ ४६ ॥

तानेव पञ्चाशद्भेदान्गणयति—

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।

अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥

“पञ्च”इति । अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा यथासङ्ख्यं तमोमोहमहामोह-

‘सत्त्वस्य न्यूनबलम् रजस्तमसोरधिकबलम् १ । रजसो न्यूनबलं सत्त्वतमसोरधिकबलम्—२ । तमसो न्यूनबलम् सत्त्वरजसोरधिकबलम्—३ । एवम् सत्त्वस्याधिकबलम्—रजस्तमसो न्यूनबलम्—४ । रज-सोऽधिकबलम्—सत्त्वतमसो न्यूनबलम्—५ । तमसोऽधिकबलम्—सत्त्वरजसोन्यूनबलमिति ६, न्यून-बलता षड्विधा अधिकबलता च षड्विधा भवति, मिलित्वा द्वादशभेदाः, तत्र काचित् न्यूनबलता मन्दा काचिमध्या काचित् अधिमात्रा=तीव्रा भवति—इत्येवं न्यूनतानामष्टादशभेदाः एवमधिकबल-तानामप्यष्टादशभेदाः मिलित्वा षड्विंशत् भेदा न्यूनाधिकबलतया भवन्ति तदाह-ते च न्यूनाधिक्ये मन्दमध्याधिमात्रतयेति । यथाकार्यं=कार्यस्य यथा दर्शनं भवति तथा तत्कारणे न्यूनाधिक्ये उज्जीयेते कल्प्येते, षड्विंशद्विधारवपि उत्तममध्यमकनिष्ठादिभेदेनाऽनगता भेदा कल्प्यन्ते इति भावः ॥ उपसंहरति—तदिदं गुणानां वैषम्यमिति । तत्=अनेकभेदैर्दृष्टितं यत् इदं त्रिगुणानां वैषम्यं=न्यूनाधिकभावत्वं, तेन=न्यूनाधिकभावेन, यः उपमर्द इत्यर्थः ॥ उपमर्दपदार्थमाह-एकैकयेति । एकस्य एकस्य न्यूनबलरयाऽभिभवः, अथवा द्वयोर्द्वयोन्यूनबलयोर्गुणयोरभिभवः,—तस्मात्=यावद्विधं वैषम्यं तावद्विधात् अभिभवात्, पञ्चाशत्संख्याका भेदाः—परिणामविशेषाः सांख्याचार्यैः निर्णताः सन्तीति भावः ॥ ४६ ॥

‘पञ्च विपर्ययभेदा’—इति कारिकामवतारयति—तानेवेति । पञ्चाशत्संख्याकान् भेदान् अवा-न्तरविभागेन परिगणयतीत्यर्थः । ‘पञ्चेतिमूलम् । विपर्ययभेदाः पञ्च भवन्ति, करणवैकल्यात् अशक्तिश्च अष्टाविंशतिभेदा ( भवति ), तुष्टिः नवधा ( भवति ), सिद्धिः अष्टधा ( भवति ) इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—विपर्ययस्याऽविषयाः भेदाः पञ्चसंख्याका भवन्ति, ते च अविद्या अस्मिता रागः द्वेषः अभिनिवेशश्चेति । तत्र ‘अनित्याऽश्वाचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-ख्यातिरविद्या, पुरुषबुद्धशोरेकस्वरूपाऽऽपत्तिः—अस्मिता, सुखतृष्णा रागः, दुःखविर्घासा द्वेषः, सर्वस्य प्राणिनः स्वाभाविको मरणत्रासः—अभिनिवेशः ॥ अथ करणानामेकादशेन्द्रियाणां वैकल्या-त्-कुण्ठितभावात्=स्वस्वविषयग्रहणाऽसामर्थ्यात्, एकादशसंख्याकाः बुद्धिगतानां ‘नवतुष्टीनां विपर्यया नव, अष्टसिद्धानां च विपर्यया नव,—मिलित्वाऽष्टाविंशतिभेदाऽशक्तिर्भवति ॥ सा च ‘एका-दशेन्द्रियवधा’ (४९) इतिकारिकया वक्ष्यते ॥ अथ तुष्टिः=प्रकृतिः, उपादानं, कालः, भाग्यम्, पथ-शब्दादिविषयोपरमाः पञ्च, मिलित्वा नवधा भवति ॥ सा च ‘आध्यात्मिक्यश्चे’ति (५०) कारिकया वक्ष्यते । अथ सिद्धिः=अणिमादयोऽष्टाविति, सा च ‘ऊहः शब्दोऽध्ययन’ (५१) मित्यत्र विभिन्नम-तेन निरूपयिष्यते, ततोऽवगन्तव्या ॥ तत्त्वकौमुद्याम्—अविद्येति । अविद्या अनित्ये कार्ये नित्यबु-द्धिः, अशुचौ शरीरे शुचिबुद्धिः, दुःखेषु विषयेषु सुखबुद्धिः, अनात्मसु देशेन्द्रियादिषु आत्मत्वबुद्धि-रिति । एषाऽविद्या ‘तमः’ शब्देनोच्यते अन्धकारवत् आत्मज्ञानाऽऽवरकत्वात् ॥ अस्मिता—बुद्धि-

तामिस्रान्धतामिस्रसञ्ज्ञकाः पञ्च विपर्ययविशेषाः । विपर्ययप्रभवानामप्यस्मितादीनां विपर्ययस्वभावत्वात् । यद्वा-यदविद्यया-विपर्ययेणाऽवधार्यते वस्तु, अस्मितादयस्तत्स्वभावाः सन्तः तद् अभिनिविशन्ते । अत एव 'पञ्चपर्वोऽविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः ॥ ४७ ॥

सम्प्रति पञ्चानां विपर्ययभेदानामवान्तरभेदमाह-

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च, दशविधो महामोहः ।

तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥

'भेदः' इति । भेदस्तमसोऽविद्याया अष्टविधः । अष्टस्वन्यक्तमहदहङ्कारपञ्चत-

पुरुषयोर्भिन्नयोरपि अभेदेन 'अहं चेतनाऽस्मि अहं कर्ताऽस्मी'ति द्वयोरभेदेन अस्मेभावः-अज्ञानं क्लेशः । एषः-'मोह' शब्देनोच्यते, बुद्धिपुरुषयोर्मोहनमात्रत्वात् ॥ रागः=अनात्मधर्मस्यापि सुखस्य तुष्ट्या । एवः 'महामोह'शब्देनोच्यते, सर्ववस्तुषु मोहपराकाष्टायाः साधनत्वात् रागो महामोह इति ॥ द्वेषः=अनात्मधर्मस्यापि दुःखस्य हातुमिच्छा । एषः 'तामिस्र' शब्देनोच्यते, क्रूरतामसधर्मत्वात् ॥ अभिनिवेशः अनात्मधर्मस्यापि मरणस्यात्मनि त्रासः । अयं 'अन्धतामिस्र' शब्देनोच्यते, विदुषामविदुषां पदवादीनां यावताम् अन्धवत् अज्ञानकारकक्रूरतामसधर्मत्वात् ॥ तदेवाह-यथासंख्यमिति ॥ एते पथ विपर्ययविशेषाः=पञ्चविधा विपर्ययाः ॥ ननु अविद्यैव विपर्ययः, अस्मितादीनां कथं विपर्यय-संश्लेषाकांक्षायामाह-विपर्ययप्रभवानामपीति । विपर्ययः-अविद्या तज्जन्यानामपि अस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशानां विपर्ययस्वभावत्वात्=विपर्ययस्य स्वभावः धर्मः-अज्ञानत्वं तद्वत्त्वात्, अथवा अविद्यायाः स्वभावः कार्यं तत्त्वात् कार्यकारणयोश्चाऽभेदात् विपर्ययत्वोपचारात् विपर्ययव्यवहार इति भावः ॥ ननु उपादानोपादेययोरेवाऽभेदात् विपर्ययस्य चाऽस्मितादिषु निमित्तकारणत्वेनोपादानत्वविरहेणाऽस्मितादिभिः सहाऽविद्याया अभेदाऽसंभवात् अस्मितादिषु विपर्ययव्यवहारो न भवेदित्याशंकायामाह-यद्वेति । अविद्यया=विपर्ययेण यद्वस्तु अवधार्यते-विषयोक्रियते, तत्स्वभावाः=तस्या अविद्यायाः स्वभावः विषयीकरणत्वं तदेव विषयीकरणत्वं स्वभावो येषान्ते एतादृशा अस्मितादयः, तद्=तदेव वस्तु, अभिनिविशन्ते=यथायोग्यं स्वस्वानुरूपेण विषयीक्रियन्ते, अतस्ते विपर्ययपदेनोच्यन्ते इत्यर्थः ॥ अविद्याऽस्मितादयः पथ 'अविद्या'पदवाच्या इत्यत्र प्राचीनसांख्याचार्यस्य वचनं प्रमाणयति-अत एवेति । 'पञ्चपर्वो'=पञ्च पर्वणि शाखाः यस्या एतादृशीम् अविद्यामाह भगवान्=महर्षिः 'वार्षगण्यः'-एतन्नामा सांख्याचार्यः इति ॥ 'अशक्तिश्चेत्यादिकारिकारोपस्तु सरलत्वात् वाचस्पतिना न व्याख्यातः, अग्रे व्याख्यास्यमानत्वाच्चेति बोध्यम् ॥ ४७ ॥

'भेदस्तमसोऽष्टविध' इति कारिकामवतारयति-सम्प्रतीति । विपर्ययस्याऽविद्यायाः पञ्चानां तमोमोहमहामोहतामिस्राऽन्धतामिस्राख्यानां अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाऽपराभिधानानां भेदानाम् अवान्तरं प्रत्येकस्य ये भेदा द्वापष्टिसंख्याकास्तानाहेत्यर्थः ॥ भेदस्तमस-इत्यादिमूलम् । तमसः अष्टविधो भेदः, मोहस्य च (अष्टविधो भेदः), महामोहः दशविधः, तामिस्रः अष्टादशधा, अन्धतामिस्रः तथा (अष्टादशधा) भवती-त्यन्वयः ॥ संक्षिप्तार्थः-तमसः-अविद्यायाः अष्टभेदाः-यथा 'आत्मा प्रकृत्यभिन्न' इत्येकः । आत्मा महत्तत्त्वाऽभिन्न'-इति द्वितीयः । 'आत्मा अहंकाराऽभिन्न' इति तृतीयः । 'आत्मा शब्दतन्मात्राऽभिन्न' इति चतुर्थः । 'आत्मा स्पर्शतन्मात्राऽभिन्न' इति पञ्चमः । 'आत्मा रूपतन्मात्राऽभिन्न' इति षष्ठः । 'आत्मा रसतन्मात्राऽभिन्न' इति सप्तमः । 'आत्मा गन्धतन्मात्राऽ-



तन्मात्रेणनात्मस्वात्मबुद्धिरविद्या तमः, अष्टविधविषयत्वात्तस्याऽष्टविधत्वम् ॥ “मो-  
स्य चे”ति, अत्राऽप्यष्टविधो भेदश्चकारेणाऽनुषज्यते । देवा द्वाष्टविधमैश्वर्यमासाद्या-  
ऽमृतत्वाभिमानिनोऽणिमादिकमात्मीयं शाश्वतिकमभिमन्यन्ते, सेयमस्मिता मोहोऽ-  
ष्टविधैश्वर्यविषयत्वादष्टविधः । “दशविधो महामोहः” इति । शब्दादिषु पञ्चसु  
दिव्यादिव्यतया दशविधेषु विषयेषु रजनीयेषु रागभासक्तिर्महोमाहः, स च दशवि-

भिन्न-इत्यष्टमः । एतदष्टविधम् अज्ञानं तमः अष्टविधविषयत्वादष्टविधमिति भावः ॥ मोहस्य=  
अस्मितायाः अष्टौ भेदाः देवादीनामष्टविधैश्वर्यविषयत्वाद्भवन्ति यथा—यत् तपसा लब्धं शाश्वतिकमणि-  
मात्मकमैश्वर्यं तद्वानहमस्मि-१ । तादृशमहिमवानस्मि-२ । तादृशलक्षिमवानस्मि-३ । तादृ-  
श-गरिमवानस्मि-४ । तादृश-प्राप्तिमानस्मि-५ । तादृश-प्राकाम्यवानस्मि-६ । तादृशव-  
शित्ववानस्मि-७ । तादृशेशित्ववानस्मि-८ । इति ॥ महामोहस्य=रागस्य दश भेदाः  
दिव्याऽदिव्यभेदेन शब्दादिविषयत्वाद्भवन्ति, तत्र अस्माकं पञ्चविधो रागः—देवानां च  
पञ्चविधो रागः मिलित्वा दश इति, यथा—‘मे शब्दसुखं जायताम्-१ । मे स्पर्शसुखं जायताम्-२ ।  
मे रूपसुखं जायताम्-३ । मे रससुखं जायताम्-४ । मे गन्धसुखं जायताम्-५ । इति । देवानां तु  
द्व्यादिव्योभयविधविषयकरागः यथा—‘मे दिव्यादिव्यशब्दसुखं जायताम्-६ । मे दिव्यादिरस्पर्श-  
सुखं जायताम्-७ । मे दिव्यादिरूपसुखं जायताम्-८ । मे दिव्यादिरससुखं जायताम्-९ । मे दि-  
व्यादिगन्धसुखं जायताम्-१० इति ॥ तामिस्रस्य द्वेषस्य अष्टादशभेदा भवन्ति, तत्र दिव्या-  
दिव्यशब्दादिविषयको दशविधः अणिमाद्यष्टैश्वर्यविषयकोऽष्टविधः मिलित्वाऽष्टादशविधो देवानाम-  
स्माकं च यथायोगमूढः—सामान्यतस्तु यथा—‘मद्भोग्योऽदिव्यशब्दः स्वरूपेण मा नक्षीदिति स्वरूप-  
नाशे द्वेषः-१ । तथा अदिव्यस्पर्शो मा नक्षीत् २ । अदिव्यरूपं मा नक्षीत् ३ । अदिव्यरसो मा  
नक्षीत् ४ । अदिव्यगन्धो मा नक्षीत् ५ । एवम् दिव्यशब्दो मा नक्षीत्-६ । दिव्यस्पर्शो  
मानक्षीत्-७ । दिव्यरूपं मा नक्षीत्-८ । दिव्यरसो मा नक्षीत्-९ । दिव्यगन्धो मा नक्षीत्-  
१० । एवम्-शब्दादिसाधनम् अणिमा मा नक्षीत्-११ । महिमा मा नक्षीत्-१२ । लघिमा  
मा नक्षीत्-१३ । गरिमा मा नक्षीत्-१४ । प्राप्तिः मा नक्षीत्-१५ । प्राकाम्यं मा नक्षीत्-  
१६ । वशित्वं मा नक्षीत्-१७ । ईशित्वं मा नक्षीत्-१८ । इतिस्वरूपनाशे द्वेषः ॥ अन्धता-  
मिच्छोऽपि=अग्निनिवेशोऽपिनाशः तथा=अष्टादशभा भवति—सोऽपि दिव्याऽदिव्यशब्दादिदशविषयकः  
अणिमाद्यष्टविषयकः मिलित्वाऽष्टादशभेदे भवति—‘शब्दादयो भोग्यास्तदुपायाश्चाणिमादयोऽस्माक-  
मसुरादिभिर्मा उपधानिपत्-इति विन्यति—यथा—‘अदिव्यः शब्दो मा उपधानिपत्-१ । अदिव्यः  
स्पर्शो मा उपधानिपत्-२ । अदिव्यं रूपं मा उपधानिपत्-३ । अदिव्यो रसो मा उपधानिपत्-४ ।  
अदिव्यो गन्धो मा उपधानिपत्-५ । तथा दिव्यः शब्दो मा उपधानिपत्-६ । दिव्यस्पर्शो मा उपधानिपत्-  
-७ । दिव्यरूपं मा उपधानिपत्-८ । दिव्यरसो मा उपधानिपत्-९ । दिव्यगन्धो मा उपधानिपत्-१० ।  
तथा अणिमा मा उपधानिपत्-११ । महिमा मा उपधानिपत्-१२ । लघिमा मा उपधानिपत्-१३ ।  
गरिमा मा उपधानिपत्-१४ । प्राप्तिः मा उपधानिपत्-१५ । प्राकाम्यं मा उपधानिपत्-१६ । वशित्वं  
मा उपधानिपत्-१७ । ईशित्वं मा उपधानिपत्-१८ । इत्यष्टादशभा असुरादिनिमित्तकः शब्दा-  
दिस्वरूपविषयकस्त्रासः ॥ मिलित्वा सर्वे द्वाष्टिभेदा भवन्तीति । एवमनन्ता-भेदा भवन्तीति  
बोध्यम् ॥ तत्त्वकौमुद्यां—‘भेदस्तमसोऽविद्याया इति अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽग्निनिवेशाऽ-

धविषयत्वाद्दशविधः “तामिस्त्रः-” द्वेषः “अष्टादशधा”, शब्दादयो दश विषया रञ्जनीयाः स्वरूपतः, ऐक्यव्यन्तविनिमादिकं च स्वरूपतो रञ्जनीयम्-किं तु रञ्जनीयशब्दाद्युपायाः, ते च शब्दादय उपस्थिताः परस्पररेणोपहन्यमानास्तदुपायाश्चाऽणिमादयः स्वरूपेणैव कोपनीया भवन्तीति शब्दादिभिर्दशभिः सहाऽणिमाद्यष्टकमष्टादश-

पराऽभिधाना ये तमोमोहमहामोहतामिस्राऽन्धतामिस्रास्तेषां प्रथमपर्वस्य अविद्याया अष्टविधो भेदः-इत्यर्थः । तं स्पष्टयति-अष्टस्वव्यक्तेति । अष्टसंख्याकेषु-अव्यक्तं=मूलप्रकृतिः, महत्=महत्तत्त्वम्, अहंकारः, पञ्चतन्मात्राणि=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यानि, तेषु अनात्मसु=आत्मभिन्नेषु जडेषु, आत्मबुद्धिः=आत्माऽभेदबुद्धिः=आत्मनि अनात्माऽभेदप्रकारकं ज्ञानमिति यावत्, सा अविद्या-विद्या मोक्षदा भवति तत्त्वज्ञानं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिश्च, तद्विरुद्धा अविद्या, सैव तमः-पदवाच्येत्यर्थः ॥ सा अष्टविधा-अष्टसंख्याका ये प्रकृतिमहत्तत्त्वाहंकार-शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्याः तद्विषयकत्वात्, तस्य=तमसः, अष्टविधत्वमिति ॥ मोहस्य चेतीति । अत्रापि=मोहस्येतिपदोत्तरम् ‘च’कारेण ‘अष्टविधो भेद’-इत्यनुपज्यते=अन्वीयते ॥ मोहस्याऽष्टविधत्वं दर्शयति-देवा ह्यष्टेति । देवाः-स्वर्गादिवासिनः अष्टसंख्याकमैश्वर्यं=सिद्धिविशेषम्, आसाद्य=प्राप्य, अमृतत्वाऽभिमानिनः=मृतस्य भावः मृतत्वं=मरणम्-शरीरेण प्राणवियोगः, न मृतत्वममृतत्वम्-अमरणं तदभिमान्यन्ते ‘वयं अमरणधर्मा’ इत्यभिमानवन्तः सन्तः, आगन्तुकमपि अणिमादिकमैश्वर्यम्, शाश्वतिकमात्ममीयम्=सर्वदिकम् उत्तरकाले बाधरहितं स्वकीयमेव नान्यदीयम्, इति अभिमान्यन्ते ‘अहं शाश्वतिकैश्वर्यवानरमीति’मन्यन्ते, -अस्मेर्भावोऽस्मिता, तदाख्यो मोहः=मोहकत्वात् मोहः, अष्टसंख्याकैश्वर्यविषयकत्वात् अष्टसंख्याको भवतीत्यर्थः ॥ “दशविधो महामोह” इति व्याख्याति-शब्दादिष्विति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यपञ्चविषयाः, ते एव पञ्च दिव्याः=स्वर्गायाः स्थूलाः शब्दतन्मात्रात्मकसुक्ष्माश्चेति, -अधिकसुखदत्वादस्मदादिशब्दाद्यपेक्षया दिव्यत्वमिति । अदिव्याः-सौमाः शब्दादयः स्थूलाः, देवादिशब्दाद्यपेक्षया न्यूनसुखदत्वाददिव्यत्वमिति व्यपदेशः, तदेवं दिव्यतया अदिव्यतया च दशधात्वमापन्नेषु, विषयेषु, रञ्जनीयेषु=रागाहेषु आसक्तिविषयेषु, यो रागः आसक्तिः गाढतृष्णा स महामोह इत्युच्यते । स च महामोहः दशसंख्याकदिव्याऽदिव्य-शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयकत्वात् दशसंख्याको भवतीति ॥ “तामिस्त्र” इति पदस्यार्थमाह-द्वेष इति । प्रतिषो मनुजिघांसा क्रोधः द्वेषः, -‘द्वेष्टो’त्यनुभवसिद्धः ॥ तस्य ‘अष्टादशधा’त्वं-दर्शयति-शब्दादय इति दश=पञ्च दिव्याः शब्दादयः पञ्च अदिव्याः शब्दादयः मिलित्वा दश विषयाः स्वरूपतः=स्वरूपेणैव, रञ्जनीयाः=रागजनका भवन्तीति, अथ अणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यं तु स्वरूपेण न रागविषयं भवति किन्तु शब्दादिभोगार्थमणिमादिकं सेव्यतेऽतस्तेऽणिमादयः रञ्जनीया रागविषया ये शब्दादयस्तदुपायत्वात् परम्परया रञ्जनीया भवन्ति, फले रागादुपायेऽपि राग इतिवत् फले द्वेषात् उपायेऽपि द्वेष इति भावः । तथा च शब्दादीनां स्वरूपनाशे द्वेषात् शब्दादिस्वरूपनाशप्रयोजके अणिमात्रैश्वर्यस्वरूपनाशेऽपि द्वेषो भवतीति दर्शयति- ते चेति । ते च उपस्थिताः=स्वभोग्यतया समासादिताः शब्दादयः, परस्पररेण-द्वैत्रैरन्योन्येन, उपहन्यमानाः=नाश्यमानाः स्वरूपेण ते शब्दाः शत्रुवत् कोपनीयाः भवन्ति, एवमणिमादयोऽपि देवैः परस्परम् अधिकाऽधिक-सामर्थ्यैरभिभूयमानाः सन्तः स्वरूपेणापि कोपनीयाः=द्वेषविषयाः भवन्तीति दिव्यादिव्यशब्दादिदशभिः सह अणिमाद्यष्टसंख्याकं, मिलितं सत् अष्टादशसंख्याको गणो भवति, तद्विषयः=तादृशाऽष्टादशविषयविषयकोद्वेपोऽपि तामिस्रापराभिधानोऽष्टादशविधो भवतीति ॥ ‘तथा



धेति । तद्विषयो द्वेषस्तामिस्रोऽष्टादशविषयत्वादष्टादशधेति । “तथा भवत्यन्धता-  
मिच्छः” । अभिनिवेशोऽन्धतामिच्छः । ‘तथे’त्यनेन अष्टादशधेत्यनुपज्यते । देवाः  
खल्वणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यमासाद्य दश शब्दादीन् भुञ्जानाः—‘शब्दादयो  
भोग्यास्तदुपायाऽणिमादयोऽस्माकमसुरादिभिर्मोपघानिषत’ इति बिभ्यति ।  
तदिदं भयमभिनिवेशोऽन्धतामिस्रोऽष्टादशविषयत्वादष्टादशधेति । सोऽयं पञ्च-  
विधविकल्पो विषयथोऽवान्तरभेदाद्वापष्टिरिति ॥ ४८ ॥

तदेवं पञ्चविषययभेदानुक्त्वाऽष्टाविंशतिभेदामशक्तिमाह—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।

सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥

भवत्यन्धतामिच्छ’इति—व्याख्याति—अभिनिवेश इति । अभिनिवेशस्य पर्यायः—अन्धतामिच्छ  
इति । भय इत्यर्थः । स च मरणभय इति योगशास्त्रीयमतेनाऽर्थः । अत्र प्रकरणे तु शब्दाद्युपहनन-  
स्मरणजन्यो भय इति बोध्यम् । ‘तथा’—पदग्राह्यमाह—अष्टादशधेत्यनुपज्यते इति । अभिनिवे-  
शोऽप्यष्टादशविधो भवतीति तस्य अष्टादशविधत्वं दर्शयति—देवाः खल्विति । देवाः अणिममहमा-  
आत्मकमष्टसंख्याकमैश्वर्यं स्वपुण्यप्रभावादुपलभ्य तादृशैश्वर्यप्रतापेन प्राप्तान् दिव्याऽदिव्यतया  
दशविधत्वमापन्नान् शब्दादिपञ्चविषयान् भुञ्जानाः—तद्भोगं कुर्वाणाः सन्तोऽपि बिभ्यति—सर्वदा भय-  
युक्ताः वर्तन्ते ॥ कीदृशमययुक्ता वर्तन्ते—इत्याकांक्षानिवृत्त्यर्थमुक्तम्—‘शब्दादय इत्यादिना—  
उपघानिषते’त्यन्तम् । “अस्माकं—देवानां भोग्याः—भोगविषयाः शब्दादिपञ्च दिव्याऽदिव्यतया  
दशविषयाः असुरादिभिः मा उपघानिषत=न विहति प्रापन्, तथा तदुपायाः—शब्दाद्युपायाः  
अणिमादयोऽष्टावैश्वर्यविशेषा अपि मा उपघानिषत” इत्येवं सभया वर्तन्ते । तदिदं भयम् अभि-  
निवेशसंज्ञकम् अन्धतामिच्छसंज्ञकं—दिव्यादिव्यशब्दादिदशाणिमाद्यैश्वर्यात्मकाऽष्टादशसमुदाय-  
विषयविषयकत्वात् अष्टादशसंख्याकं बोध्यमिति । उपसंहरति—सोऽयमिति । दर्शितोऽयं विष-  
यर्थः—अविद्या पञ्चप्रकारा, विकल्पाः—विकल्पवृत्त्यात्मकाः, अवान्तरभेदात्—प्रत्येकस्य भेद-  
बहुत्वात् मिलित्वा पञ्चानां भेदा द्वापष्टिसंख्याका भवन्तीति—अविद्या—द्वापष्टिप्रकारा वर्णिता तत्राऽ-  
पि उत्तममध्यमकिण्ठादिभेदेन भवन्त्यनेके विकल्पा इति बोध्यम् ॥ ४८ ॥

‘एकादशेन्द्रियवधा’—इति कारिकामवतारयति—तदेवमिति । तमोमोहमहामोहतामिस्राऽन्ध-  
तामिस्राख्यानं विपर्ययस्य पञ्चभेदान् अवान्तरभेदेन व्याख्याय, अष्टाविंशतिप्रकाराम् अशक्तिम् आहे-  
त्यर्थः । ‘एकादशेन्द्रियवधाः’इतिमूलम् । एकादश इन्द्रियवधाः, (सप्तदशसंख्याकैः) बुद्धि-  
वधैः सह (मिलित्वा) अशक्तिः (अष्टाविंशतिविधा) उद्दिष्टा, तुष्टिसिद्धीनां विपर्ययात् बुद्धेर्वधा सप्त-  
दश (भवन्ति) इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः । एकादशसंख्याकाःस्वरूपतः इन्द्रियाणां मनःश्रोत्रत्वक्-  
चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थानां वधाः—कुण्ठितमात्राः भवन्ति ते यथा—‘श्रोत्रस्य वाधिर्धम्,  
त्वक्ःकुण्ठिता, चक्षुषोऽन्धत्वम्, रसनाया जडता, घ्राणस्य अजिघृता, वाचः मूकता, पाणेः कौण्ड्यम्,  
पादस्य पङ्क्तुत्वम्, पायोः उदावर्त्तः, उपस्थस्य क्लीबता, मनसो मन्दतेति । अथ सप्तदशसंख्याका  
बुद्धेर्वधा भवन्ति ते च मिलित्वा अष्टाविंशतिसंख्याका अशक्तिर्भवति । नवतुष्टीनां विपर्ययात्—अभा-  
वात् नव वधा अष्टसिद्धीनां चाऽष्टौ वधा मिलित्वा सप्तदश बोध्याः । तत्र प्रकृत्युपादानकालभाग्य-  
शब्दोपरमस्पर्शोपरमरूपोपरमरतोपरमगन्धोपरमसंज्ञकानां नवतुष्टीनां वधा नाम्ना यथा—अप्रकृतिः,  
अनुपादाना, अकाला, अभाग्या, शब्दानुपरमा, स्पर्शानुपरमा, रूपाऽनुपरमा, रसानुपरमा, गन्धानु-

“एकादश”—इति । इन्द्रियवधस्य ग्रहो बुद्धिवधहेतुत्वेन, न त्वशक्तिभेदपूर्णत्वेन । एकादशेन्द्रियवधाः—‘बाधिर्यं कुष्ठिताऽन्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा । मूकता कौण्ड्यपङ्गुत्वे क्लैब्योदावर्तमन्दताः’ ॥ यथासंख्यं श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां वधाः । एतावत्येव तु तद्वेतुका बुद्धेरशक्तिः स्वव्यापारे भवति । तथा चैकादशहेतुकत्वादेकादशधा बुद्धेरशक्तिरुच्यते । हेतुहेतुमतोरभेदविवक्षया च सामानाधिकरण्यम् । तदेवमिन्द्रियवधद्वारेण बुद्धेरशक्तिमुक्त्वा स्वरूपतोऽशक्तीराह—“सह बुद्धिवधैः” इति । कति बुद्धेः स्वरूपतो वधा इत्यत आह “सप्तदश वधा बुद्धेः” । कुतः ? “विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम्” । तुष्टयो नवधेति तद्विपर्ययास्तन्निरूपणान्नवधा भवन्ति, एवं

परमा । अथ ऊहशब्दाध्ययनाध्यात्मिकदुःखाभावाधिभौतिकदुःखाभावाऽऽपिदैविकदुःखाभावबुद्धि-  
त्पासिदानाख्यानाम् अष्टसिद्धीनां वधाः—अनूहाऽऽशब्दाऽनध्ययनाध्यात्मिकदुःखाऽऽपिभौतिकदुःखा-  
धिदैविकदुःखाऽनुहत्पाप्यदानाख्या अष्टौ सिद्धिवधाश्च । ते चैकादश नव अष्टौ मिलिता अष्टाविं-  
शतिप्रकारा अशक्तिर्भवतीति ॥ तत्त्वकौमुद्याम्—‘इन्द्रियवधस्येति । यद्यपि इन्द्रियाणां वधा न  
अशक्त्यो भवितुमर्हन्ति, इन्द्रियवधानामिन्द्रियधर्मत्वात्, अशक्तेस्तु बुद्धिधर्मत्वात्, तथापि इन्द्रिय-  
वधजन्यः एकादशविधो बुद्धेरध्यवसायवध एव बुद्धिवधो ग्राह्य इत्याशयेनाह—इन्द्रियवधस्य ग्रह  
इति इन्द्रियवधस्य ग्रहणं तु बुद्धिवधजनकतया कृतं, तेन बुद्धिवधा एकैकादशग्राह्याः । इन्द्रियवधस्य  
ग्रहो बुद्धिवधस्याऽऽशक्तेष्टाविंशतिभेदप्रकत्वेन न कृत इत्यर्थः ॥ एकादशेन्द्रियवधानाह—बाधिर्य-  
मिति । बाधिर्यं=वधिरस्य भावः, कर्णशक्तिनाशः । कुष्ठोऽस्याऽस्तीति कुष्ठो तस्य भावः कुष्ठिता,—  
त्वच्छक्त्यभावः । अन्धत्वं=नेत्रशक्त्यभावः । जडता=रसनाशक्त्यभावः । अजिघ्रता=प्राणशक्त्यभावः ।  
मूकता=वाक्-शक्त्यभावः । कौण्ड्यम्=कुणोऽस्यास्तीति कुणो तस्य भावः कौण्ड्यम्=करशक्त्यभावः ।  
पङ्गुत्वम्=पादशक्त्यभावः । क्लैब्यम्=स्त्रीवता=रतिशक्त्यभावः । उदावर्तः=पायुशक्त्यभावः ।  
मन्दता=मनसः कुण्ठितभावः—संकल्पशक्त्यभावः । एते यथासंख्यं श्रोत्रादीनाम्—श्रोत्रत्वक्चक्षु-  
रसनाप्राणवाक्पाणिपादोरप्यपायुमनसां एकादशेन्द्रियाणां वधाः—अशक्त्यो बोध्याः । तद्वेतुका=  
एकादशेन्द्रियवधहेतुका, एतावती=एकादशसंख्याकाएव बुद्धेरशक्तिः स्वव्यापारे=स्वस्या बुद्धेः अध्य-  
वसायात्मके व्यापारे भवतीत्यर्थः ॥ उपसंहरति—तथा चेति । एकादशेन्द्रियवधहेतुकत्वात् बुद्धेरश-  
क्तिरेकादशसंख्याका उच्यते । तत्र हेतवः एकादशेन्द्रियवधाः, हेतुमन्तः=कार्याणि बुद्धिवधा अशक्तयः  
तयोरभेदविवक्षया ‘एकादशेन्द्रियवधा’ ‘अशक्ति’रिति द्वयोः शब्दयोः सामानाधिकरण्यम्=समानम्  
एकम्, अधिकरणं=वृत्त्या अर्थो ययोस्तौ समानाधिकरणी—इत्या एकार्थवृत्ती शब्दौ, तद्भावः सामाना-  
धिकरण्यमिति युक्तं भवतीति । तदेवम् हेतुभूतेन एकादशेन्द्रियवधद्वारिकां बुद्धेः स्वरूपभूताम्—  
इन्द्रियस्वरूपाऽशक्त्यधीनामिति यावत् एकादशविधामशक्तिमुक्त्वा बुद्धेः स्वरूपात्मका ये धर्माः तुष्टि-  
सिद्ध्याख्याः तदशक्त्योः आह—“सह बुद्धिवधैः”रिति । बुद्धिवधैः सह मिलित्वेन्द्रियवधा-  
अष्टाविंशतिभेदानां ग्रहजनका भवन्तीति भावः ॥ पृच्छति—कति बुद्धेरिति । बुद्धेः स्वरूपतः  
कतिसंख्याका वधा भवन्तीति ? ॥ उत्तरयति—“सप्तदशवधा बुद्धेः”रिति । ननु बुद्धित्वेनैवेति  
कथं सप्तदशवधा संभवेयुरिति मनस्याशङ्कमानः पृच्छति—कुतः ? इति । कस्माद्धेतोः ? इत्यर्थः ॥  
उत्तरयति—विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनामिति । तुष्टयो नवसंख्याका भवन्ति, तासां तुष्टीनां निरूप-  
णात् तुष्टिप्रतियोगिकां विपर्ययां अभावा अतुष्टयोऽपि नव भवन्तीत्यर्थः । तद्यथा—‘प्रकृतिमोक्षदे’ति-  
तुष्टेर्विपर्ययः ‘प्रकृतिर्न मोक्षदे’त्यतुष्टिः अप्रकृतिः १ । ‘बुद्धिमोक्षदे’तितुष्टेर्विपर्ययः ‘बुद्धिर्न मोक्षदे’त्यतुष्टिः



सिद्धयोऽष्टाविति तद्विपर्ययास्तन्निरूपणादष्टौ भवन्तीति ॥ ४१ ॥

तुष्टिर्नवधेत्युक्तं, ताः परिगणयति—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।

बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमतः ॥ ५० ॥

“आध्यात्मिक्यः”इति । आध्यात्मिक्यः—‘प्रकृतिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति’इति

असिद्धिः—२ । ‘मनोऽल्यकाले बुद्धिमोक्षदे’तितुष्टेर्विपर्ययः ‘मनोऽल्यकालेऽपि बुद्धिर्न मोक्षदेत्युष्टिः अकाला ३ । ‘भाग्यमेवमोक्षद’मितितुष्टेर्विपर्ययः ‘भाग्यं न मोक्षद’मित्युष्टिः—अभाग्या—४ । एताश्च-  
तस्र आध्यात्मिक्यः । अथ बाह्याः पञ्च, शब्दविषयात् शान्ता वृत्तिः शब्दोपरमा—५ । स्पष्टात् शान्ता  
वृत्तिः स्पष्टोपरमा, ६ । रूपाच्छान्ता वृत्तिः रूपोपरमा—७ । रसाच्छान्ता वृत्तिः रसोपरमा—८ । गन्धा-  
च्छान्ता वृत्तिः—गन्धोपरमा—९ । तासामन्यानि नामानि—अनम्भाऽसलिलाऽमेघाऽऽवृष्टयपराऽसुपारा-  
ऽपारापारासूचमाम्भाऽनुचमाम्भा इति । अथवा—असुवर्णाऽनीलाऽमनोशाऽदृष्टयपराऽसुपराऽसुनेत्राऽ-  
वसुनाडिकाऽनुचमाम्भसिका नवेति ॥ अथ असिद्धोर्ना भेदानतिदिशति—एवं सिद्धयोऽष्टाविति  
तद्विपर्यया इति । अष्टसिद्धिनिरूपणात् तत्प्रतियोगिका अभावा अपि शायन्ते—तेचासिद्धयश्चति ।—  
अध्ययनात् तत्त्वज्ञानं अध्ययनं सिद्धिः—अनध्ययनेऽतत्त्वज्ञानम्—अनध्ययनम् असिद्धिः १ । शब्दाऽ-  
श्रवणे सति अतत्त्वज्ञानम् अशब्दः—असिद्धिः २ । ऊहाऽभावात् अतत्त्वज्ञानं—अनुदः—३ । सङ्घपाठिनं  
विना अतत्त्वज्ञानं—असुदृष्टाप्तिः—४ । प्राक्तनसंस्कारं विनाऽतत्त्वज्ञानम्—अदानम्—५ । आध्यात्मि-  
कदुःखम्—६ । आधिभौतिकदुःखम्—७ । आधिदैविकदुःखम्—८ । इत्यसिद्धयः—अशक्तयः अष्टौ  
भवन्तीति । तासामपरऽभिधानानि—अताराऽअसुताराऽताराताराऽरम्यकाऽसदामुदिताऽप्रमोदाऽमु-  
दिताऽमोदमाना अष्टवसिद्धयश्चति । अथवा—अनणिमाऽमहिमाऽगरिमाऽलविमाऽप्राप्त्यप्राकाम्याऽव-  
शित्वानीशित्वाख्या अष्टवसिद्धयोऽशक्तयो बोध्या इति ॥ ४९ ॥

“आध्यात्मिक्यश्चतस्रः”—इति कारिकाभवतारयति—‘तुष्टिर्नवधे’त्युक्तमिति । ‘पञ्चविपर्ययभेदा’  
(४७) इत्यादिकारिकायामभिहितं, ताः—नवविधास्तुष्टौः परिगणयति—अवान्तरविभागपूर्वकं गण-  
यतीत्यर्थः ॥ आध्यात्मिक्यश्चतस्रः’इति मूलम् । आध्यात्मिक्यः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः  
चतस्रः तुष्टयः, विषयोपरमात् पञ्च बाह्याः तुष्टयः, ( मिलित्वा ) नव तुष्टयोऽभिमतः ( सांख्याचा-  
र्यै ) रिरिच्छन्वयः ॥ संक्षिप्तार्थः—प्रकृतिभिन्नम् आत्मानम् अधिकृत्य भवन्ति सन्तोपाख्या अध्य-  
वसायात्मिक्यो वृत्तयस्ता आध्यात्मिक्य इति । ताश्च-प्रकृतिः, उपादानम्, कालः, भाग्यम्—इति  
आख्या नाम यासान्ताः, चतुःसंख्याका भवन्ति । तत्र १ प्रकृतिः—प्रधानमेव मोक्षदमिति सन्तोषः ।  
२ उपादानं—प्रव्रज्यादिकमेव मोक्षदमिति सन्तोषः । ३ कालः—समये प्राप्ते सत्येव मोक्षदमिति—सन्तो-  
षः । ४ भाग्यं—भाग्यादेव मोक्षदमिति सन्तोषः । पञ्चविषयाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम् उपरमात्—  
दुःखदोषदर्शनेन निवृत्तिभावात् बाह्यं प्रकृतिप्रात्मानमधिकृत्य भवन्तीति किन्वा—बाह्याः—बाह्यविष-  
यिण्यस्तुष्टयः सन्तोषा पञ्च—भवन्ति, ताश्च चतस्रः पञ्च मिलिता नवसंख्याका तुष्टयः सांख्याचार्यैः  
स्वीकृता इत्यर्थः ॥ तत्त्वकौमुद्याम्—‘आध्यात्मिक्य’—इतिपदार्थं स्पष्टयति—प्रकृतिव्यतिरिक्तइति ।  
आत्मा प्रकृत्यादिजडवर्गभिन्नोऽस्तीति, प्रतिपद्य—यथाकथंचित् लोकतो ज्ञात्वा—तत्त्वज्ञानं प्राप्येति  
यावत्, ततः—तादृशज्ञानोत्तरम्, अस्य आत्मनः शास्त्रश्रवणद्वारा शास्त्रीयमननद्वारा निदि-  
ध्यासनद्वारा च विवेकसाक्षात्कारः—सत्त्वगुरुष्वान्यताख्यातिद्वारकः यः साक्षात्कारस्तदर्थं तु, यः—जनः,

प्रतिपद्य, ततोऽस्य श्रवणमननादिना विवेकसाक्षात्काराय त्वसदुपदेशतुष्टो यो न प्रयतते, तस्याऽऽध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयो भवन्ति, प्रकृतिव्यतिरिक्तमात्मानमधिकृत्य यस्मात्तास्तुष्टयस्तस्मादाध्यात्मिक्यः। कास्ता इत्यत आह—“प्रकृत्युपादानकाल-भाग्याख्याः”, प्रकृत्यादिखाया यासां तास्तथोक्ताः। तत्र प्रकृत्याख्या तुष्टिर्वथा-कस्यचिदुपदेशे—“विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृतिपरिणामभेदस्तच्च प्रकृतिरेव करोतीति कृतं तद्व्यानाभ्यासेन, तस्मादेवमेवाऽऽस्व वत्स”, इति सेयमुपदेष्टव्यस्य शिष्यस्य या तुष्टिः प्रकृतौ, सा तुष्टिः प्रकृत्याख्या ‘अम्भः’ उच्यते ॥ या तु,—‘प्राकृत्यपि विवेकख्यातिर्न सा प्रकृतिमात्राद्भवति, मा भूत्सर्वस्य सर्वदा, तन्मात्रस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात्, प्रव्रज्यायास्तु सा भवति, तस्मात् प्रव्रज्यामुपाददीथाः, कृतं ते

असतः अनाप्तस्य, उपदेशः=शिक्षावाक्यं तेन तुष्टः सन् न प्रयत्नं करोति, तस्य जनस्य आध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः सन्तोषा भवन्ति, ‘आत्मा प्रकृतिव्यतिरिक्त’ इत्येवं प्रकृत्यादिभिन्नमात्मानम् अधिकृत्य—उद्दिश्य, यस्माद्धेतोस्ताः तुष्टयो भवन्ति, तस्माद्धेतोः ‘आध्यात्मिक्य’ इत्युच्यते ॥ पृच्छति—कास्ता इति। किमभिधानास्ता इत्यर्थः ॥ ‘उत्तरयति’—‘प्रकृत्युपादानकाल-भाग्याख्याः’ इति। प्रकृतिः, उपादानं, कालः, भाग्यं, चेत्याख्या नाम यासान्ता इत्यर्थः। तथोक्तः=तत्तन्मात्रा उक्ताः ॥ तत्र=चतुर्विधतुष्टिमध्ये, प्रकृतिनाम्नो तुष्टिर्वथा—‘कस्यचित्=अनाप्तस्य, उपदेशे=वाक्यप्रयोगे सति। उपदेशमाह—‘विवेकेत्यादिना वत्स’ इत्यन्तेन। विवेकसाक्षात्कारः=विवेकेन—प्रकृतिप्रभृतिभेदेन यः साक्षात्कारः—स्वात्मज्ञानं—सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरित्यर्थः। स च प्रकृते बुद्धितत्त्वस्य परिणामविशेषः—तं च बुद्ध्यात्मिका प्रकृतिरेव जनियति इति तस्यात्मनः ध्यानं=श्रवणमनननिदिध्यासनं तस्य अभ्यासेन—पुनःपुनःकरणप्रयत्नेन, कृतम्=अलम्, तस्मात्=विवेकसाक्षात्कारस्य प्रकृत्यधीनत्वात्, एवमेव—श्रवणादावप्रयतन्नेव, आस्व=तिष्ठ, वत्स=वात्सल्या-श्रयप्रियशिष्य’ ! इत्येवमुपदेशे सति उपदेष्टव्यस्य शिष्यस्य या इयं तुष्टिः—प्रकृतौ विवेकसाक्षात्कारदा-तृत्वसन्तोषः सा तुष्टिः ‘प्रकृति’रिति नाम्नो उच्यते। तस्याः संसारमजनदेतुस्त्वसादृश्यात् नामान्तरं ‘अम्भ इति बोध्यम् ॥ द्वितीयां तुष्टिमाह—यानु प्राकृत्यपीति। प्राकृतौ अपि=प्रकृतिधर्मरूपाऽपि, विवेकख्यातिः=सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः, सा न प्रकृतिमात्राद् भवति=जन्यते ॥ ननु कथं न भवतीति चेत् ! तन्मात्रस्य=प्रकृतिमात्रस्य, सर्वान्=यावन्तश्चेतनान् प्रति, अविशेषात्=समानयोगवत्त्वात्, सर्वदा=यदा यदा विवेकख्यातिः स्यात् तदा तदा, सर्वस्य=यावत्तश्चेतनजातस्य, युगपत् आपचेतेति शेषः, सा च आपत्तिः—मा भूत् न स्यात्=न भवेत्, इत्येतदर्थं कारणान्तरं कल्पनीयं, तच्च प्रव्रज्या-रूपं=सत्यासद्ग्रहात्मकम्, अतः—प्रव्रज्यायाः=सत्यासधर्मस्य, चतुर्थांशमिण एव, सा=विवेकख्या-तिः, भवति, तस्माद्धेतोः त्वं प्रव्रज्यां=सत्यासधर्मं, उपाददीथाः=गृहीथाः, आयुष्मन्=चिरंजीविन् । ते=तव, ध्यानाभ्यासेन=श्रवणमनननिदिध्यासनाभ्यासेन, अलम्=कृतमिति। इत्येवमुपदेशे लब्धे सति या प्रव्रज्यायां तुष्टिः—विवेकसाक्षात्कारप्रदत्वसन्तोषः सा ‘उपादानाख्या’—उप—बृद्धावस्थायाः समीपे आदीयते गृह्यते यः धर्मः प्रव्रज्या, तदाख्या तुष्टिरिति। अस्याः संसरणनिमित्तत्वात् ‘सलि-ल’मित्यप्याख्या। ‘सलिल’हि सृधातोरिन्द्रप्रत्यये सरिस् इतिजाते रलयोरेवाद्भवति ॥ तृतीयां तुष्टिमाह ‘यानु प्रव्रज्याऽपीति। सत्यासधर्मोपि न सद्यः निर्वाणदा=निर्वाणो मोक्षस्तं न सद्यो ददाति, किन्तु सैव=प्रव्रज्यैव, कालपरिपाकम्=कालस्य परिपाकः—भोगाणि समाप्त्यात्मकाऽवधि-स्तम्, अपेक्ष्य=कालं सहकारीकृत्य, ते=तव, सिद्धिं=सत्त्वपुरुषान्यताख्यात्यात्मिकमिष्टां सिद्धिं,=साध्य



ध्यानाभ्यासेनाऽऽयुष्मन्-’ इति उपदेशे या तुष्टिः सोपादानाख्या ‘सलिलम्’ उच्यते ॥ या तु,—‘प्रव्रज्याऽपि न सद्यो निर्वाणदेति सैव कालपरिपाकमपेक्ष्य सिद्धिन्ते विधास्यति, अलमुत्ततया तव’—इति उपदेशे या तुष्टिः सा कालाख्या ‘ओषः’ उच्यते ॥ या तु,—न प्रकृतेर्न कालान्नाऽप्युपादानाद्विवेकख्यातिः. अपि तु भाग्यादेव । अत एव मदालसापत्यान्यतिवालानि मातुरुपदेशादेव विवेकख्यातिमन्ति मुक्तानि बभ्रुः. तस्माद्भाग्यमेव हेतुर्नाऽन्यत्’—इति उपदेशे या तुष्टिः सा भाग्याख्या ‘वृष्टिः’ उच्यते । बाह्या दर्शयति—‘बाह्याः’ तुष्टयः ‘विषयोपरमात् पञ्च’ । याः खल्वनात्मनः प्रकृतिमहदहङ्कारादीनात्मेत्यभिमन्यमानस्य वैराग्ये सति तुष्टयस्ता बाह्याः. आत्मज्ञानाभावे सत्यनात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तेरिति । ताश्च वैराग्ये सति तुष्टय इति वैराग्यहेतुपञ्चत्वाद्वैराग्याण्यपि पञ्च. तत्पञ्चत्वात् तुष्टयः पञ्चेति ।

विषयाम्, विधास्यति=करिष्यति, तव उत्ततया=उत्कटत्वरया, अलम्,=कृतम्, त्वया त्वरितेन न भाग्यम्-इत्येवमुपदेशे सति या तुष्टिः=कालनिरीक्षणे सन्तोषः सा ‘काला’ऽभिधाना तुष्टिः। सा ‘ओषः’ इत्युच्यते, ‘उद्दिग्’ अर्द्धे, कालप्रतीक्षाया उत्तापकत्वात् अर्द्धकत्वात् ‘ओषः’ इति ॥ चतुर्थीं तुष्टिमाह—या तु—‘न प्रकृतेरिति । प्रकृतेरपि न विवेकख्यातिः स्यात् उपादानात्=प्रव्रज्यातोऽपि न स्यात् काकादपि न स्यात्, किन्तु भाग्यादेव=यदि-भाग्यं-दैवं-तदनुकूलमदृष्टं भवेत् । तर्हि विवेकख्यातिर्भवेत् । अत एव=भाग्यस्य विवेकख्यातिप्रदत्वादेव । ‘मदालसाऽऽख्यायाः तत्त्वज्ञानवत्याः राश्याः अपत्यानि=पुत्राः, अतिवालानि=वर्षाभ्यन्तराऽऽयुष्मानि, मातुः=मदालसायाः, उपदेशादेव=‘त्वं-शुद्धोऽसि, शुद्धोऽसि मा रुदिहि, दुःखं नात्मधर्मः’, इत्याद्युपदेशविशिष्टमातृभाषाबोधनादेव “शुद्धोऽसि शुद्धोऽसि निरञ्जोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि । संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्राम् मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्” ॥ प्राग्भवोयभाग्यात् तत्त्वज्ञमातृलामस्तदुपदेशाच्च विवेकख्यातिमन्ति जातानि, तेन च मुक्तानि=बभ्रुरिति । तस्मात् भाग्यमेव मुख्यं विवेकख्यातेर्हेतुः नान्यत्=’न कालादिकमिति’ उपदेशे सति या शिष्यस्य भाग्ये विवेकख्यातिप्रदत्वसन्तोषः सा ‘भाग्या’ख्या तुष्टिः । वर्षति अकस्मात् विवेकख्यातिं यत् तत् ‘वृष्टिः’ भाग्यमिति उच्यते । ता एताश्चतस्रो बोध्याः । अथ बाह्याः पञ्च तुष्टीराह—“बाह्याः” तुष्टयः “विषयोपरमात् पञ्च” इति । बाह्यं प्रकृत्यादिकमात्मानं मत्वा ततो जाता-बाह्यशब्दविषयकाः सन्तोषाः—बाह्या तुष्टयः । विषयाणाम् उपरमः—वैराग्यः—सन्तोषस्तस्मात् ॥ आत्मनः प्रकृतिभेदज्ञानेसति प्रागुक्तचतुःसंख्याका तुष्टयः उक्ताः ताभ्यः तुष्टिभ्यः प्रकृतिपुरुषयोर्भेदज्ञानेवर्तमाने एव जायमानानां पथानां भेदं दर्शयति—याः खल्वनात्मनः इति । अनात्मनः=जडस्य प्रकृतिमहत्तत्त्वाहंकारमनोदशेन्द्रियतन्मात्रभूतानाम्, ‘आत्मे’ तिमन्यमानस्य—‘आत्मा-प्रकृत्याद्यभिन्न’—इति-अध्यवस्यतः जनस्य पञ्चविषयेषु केनचिन्निमित्तेन वैराग्ये प्राप्तेसति ताः तुष्टयः पञ्च भवन्ति ‘बाह्या’ इति । बाह्यात्वे हेतुमाह ‘आत्मज्ञानाऽभावे इति । आत्मनः विवेकज्ञानाऽभावे सति, अनात्मानं=बाह्यं जडवर्गमधिकृत्य=जडवर्गे आत्मत्वं मत्वा सन्तोषे प्रवृत्तिर्भवति तस्य जनस्यातः ‘बाह्या’ इत्युच्यन्ते । तथा च बाह्यप्रकृत्याद्यात्मविषयत्वात् बाह्यपञ्चविषयविषयकत्वाद्वा बाह्या इति तत्त्वम् ॥ तासां पञ्चत्वमुपपादयति—ताश्च वैराग्ये सतीति । ताः पञ्च बाह्याः, तुष्टयः—सन्तोषाः, वैराग्योत्तरं भवन्ति, वैराग्यहेतवश्च पञ्चविषयाः, तस्मात् वैराग्याण्यपि पञ्च, तेषां वैराग्याणां पञ्चत्वात् तुष्टयः—सन्तोषा अपि पञ्च । वैराग्यपदार्थमाह—उपरम्यते—इति । उपरम्यते=सरागा वृत्तयः प्रत्याडियन्ते-ऽनेन नीरागवृत्त्यात्मकबुद्धिधर्मेणेति—उपरमः—विरागः तस्य भावो वैराग्यम्, विषयात्—शब्दादिपञ्चतः,

उपरम्यतेऽर्जनेत्युपरमो वैराग्यम्, विषयादुपरमो विषयोपरमः । विषयाः भोग्याः शब्दादयः पञ्च. उपरमा अपि पञ्च । तथा हि—अर्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्चोपरमा भवन्ति । तथा हि—सेवादयो धनार्जनोपायाः, ते च सेवकादीन् दुःखाकुर्वन्ति । “दृष्यद्दुरीश्वरद्वारस्थदण्डिचण्डार्धचन्द्रजाम् । वेदनां भावयन् प्राज्ञः कः सेवास्वनुपज्जते ?” । एवमन्येऽप्यर्जनोपायाः दुःखाः—इति विषयोपरमे यां तुष्टिः सैषा ‘पारम्’ उच्यते । तथा अर्जितन्धनं राजैकागारिकाग्निजलौघादिभ्यो विनङ्क्ष्यतीति तद्रक्षणे महद्दुःखमिति—भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा द्वितीया ‘सुपारम्’ उच्यते । तथा—महताऽऽयासेनार्जितं धनं भुज्यमानं क्षीयते इति—तत्प्रक्षयम्भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा तृतीया ‘पारापारम्’ उच्यते । एवं—‘शब्दादिभोग्यासात् प्रवर्धन्ते कामाः. ते च विषयाप्राप्तौ कामिनं दुःखा-

उपरमः—विषयोपरमः,—पञ्चविषयेषु रागाऽभावइत्यर्थः ॥ शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, भोग्याः विषयाः पञ्च, तेषामुपरमा अपि पञ्च—‘शब्दोपरमः, स्पर्शोपरमः, रूपोपरमः, रसोपरमः, गन्धोपरम इति ॥ पञ्चोपरमान् स्पष्टयति—तथाह्वीति । अर्जनं=द्रव्यस्य उपार्जनम्, रक्षणम्=चौरादिभ्यः रक्षा, क्षयः=भुज्यमानस्य व्ययः, भोगः=द्रव्येण मांसादिभोजनद्वारा रज्यादिभोगः, हिंसा=मांसार्थं हिंसा, इत्येते दोषा द्रव्यनिमित्ता दृश्यन्ते, तद्दर्शनमेव हेतुः—कारणं—तज्जन्मानः=तज्जन्माः पञ्चविषयेषु पञ्च उपरमा भवन्ति ॥ अर्जनादिदोषान् दर्शयन् पञ्चोपरमान्दरायति—तथाहि सेवादय इति । सेवायात्मका पराधीनवृत्तिका धनस्य अर्जनोपायाः भवन्ति, ते चोपायाः सेवकादीन् पराधीनवृत्तिकां दुःखाकुर्वन्ति, यथा—दृष्यति—इति दृष्यन्—गर्वं कुर्वन् एतादृशो यो दुः=दुष्टः ईश्वरः स्वामी धनपतिः तस्य द्वारि तिष्ठतीति दास्यः द्वारपालको यो दण्डी दण्डवान् भृत्यः तस्य चण्डः=कठोरः सुदुष्टः यः—अर्धचन्द्रः—चन्द्रस्याधर्मिव अकृतिर्वस्य हस्तस्य स “अर्धचन्द्र” इति उच्यते—अर्धचन्द्राकार इस्तात् जायते—इति ताम्, वेदनाम्=दुःखं, भावयन्=संस्मरन्, प्राज्ञः=बुद्धिमान् कः जनः सेवासु दुःखदासु अनुपज्जते—नियुक्तो भवति, कथं सेवां कुर्यादित्यर्थः । एवमन्येऽपि=माणिज्यादयोऽपि धनार्जनस्योपाया दुःखाः दुःखकरा भवन्ति, इत्येवं पञ्चविषयेभ्यः उपरमे=वैराग्ये सति या ‘तुष्टिः’ सा एषा ‘पारम्’—इति संक्षका उच्यते, यतो धनार्जनदुःखस्य पारं प्रापयित्री सा अतः ‘पारा’ख्येति ॥ बाष्पां द्वितीयां तुष्टिमाह—तथाऽर्जितधनमिति । अर्जितं यत्धनं तत्, राक्षः, एकागारिकात्—चौरात्, अग्निना, जलौघः—जलसमूहः—जलप्रलयस्तस्मात् विनङ्क्ष्यति, इति तद्रक्षणे—तस्यार्जितधनस्य रक्षणकरणेऽपि महद् दुःखम्=सर्वदिकीं चिन्ता भवतीति दुःखं—भावयतः=चिन्तयतः पुरुषस्य शब्दादिविषयेभ्यो यः उपरमः तस्मिन् सति या तुष्टिः—विषया न भोक्तव्या इतिसन्तोषः सा द्वितीया बाष्पा ‘सुपारम्’—इतिनाम्नी उच्यते । अर्जनदोषदर्शनेऽपि कदाचिद्भोगाऽभिलाषया विषयेषु प्रवृत्तिः स्यात्, रक्षणभयार्त्तस्य तु प्रवृत्तेरतिरामसंभवइत्यभिप्रायात्—‘अतितरं’ दुःखपारंप्रापयितुंलात् ‘सुपारा’ उच्यते इति ॥ तृतीयां बाष्पां तुष्टिमाह—तथा महतेति । महता=अतितरेण आयासेन=शरीरादिप्रायासेन, अर्जितं=प्राप्तं यत् धनं तत् भुज्यमानं सत् क्षीयते=व्ययंगच्छति—इत्येवं धनस्य क्षयं भावयतः चिन्तयतः पुरुषस्य विषयेभ्यः शब्दादिभ्यो य उपरमः=‘विषया न भोक्तव्या’ इति सन्तोषः सा तुष्टिः तृतीया ‘पारापारम्’—इतिनाम्नी । क्षयं भावयतः विषयेषु कदाचिद्वृत्तिः कदाचिद् अप्रवृत्तिः यदाऽप्रवृत्तिस्तदा दुःखस्य पारः अन्यथाऽपार इति ‘पारापार’नाम्नुक्ता ॥ चतुर्थी बाष्पां तुष्टिमाह—एवं—‘शब्दादीति । शब्दस्पर्शादिविषयाणां भोगस्य अभ्यासः—पुनःपुनरादरः



कुर्वन्तीति'-भोगदोषं भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा चतुर्थी अनुत्तमात्मः' उच्यते । एवं-नाऽनुपहृत्य भूतानि विषयोपभोगः सम्भवतीति हिंसादोषदर्शनाद्धि-  
षयोपरमे या तुष्टिः सा पञ्चमी 'उत्तमात्मः' उच्यते । एवमाध्यात्मिकीभिश्च तत्सुभिः,  
बाह्याभिश्च पञ्चभिः 'नव तुष्टयोऽभिमताः' ॥ ५० ॥

गौणमुख्यभेदैः सिद्धीराह—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघाताख्यैः सुहृत्प्राप्तिः ।

दानं च सिद्धयोऽष्टौ, सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

“ऊहः” इति । विहन्यमानस्य दुःखस्य त्रित्वात्तद्विघाताख्य इतीमा मुख्यास्ति-  
न्नः सिद्धयः, तदुपायतया त्वितरा गौण्यः पञ्च सिद्धयः, ता अपि हेतुहेतुमत्तया

तस्मात् कामाः=विषयवृत्त्याः प्रवर्धन्ते, ते च कामाः=विषयाऽप्राप्तौ=विषयाणामलभे सति, कामि-  
नम्=सत्त्वं जनम्, दुःखाकुर्वन्तोत्येवम्=विषयाणां भोगे दोषं चिन्तयतः जनस्य विषयेभ्य उपरमे  
सति या 'तुष्टिर्भवति सा चतुर्थी ' अनुत्तमात्मः'-नान्नी उच्यते । विषयेभ्यः पुष्टं जलवद्द्रवन्त्यपि  
उत्तमतया न द्रवन्ती इति 'न उत्तमा द्राविका'-इति 'अनुत्तमाऽत्मः'-इत्युच्यते ॥ पथमी' बाह्यां  
तुष्टिमाह-एवं-‘नाऽनुपहृत्येति । भूतानि=प्राणिनः, अनुपहृत्य=हिंसामन्तरेण, मांसं नोपलभ्येत  
मांसप्राशनं विना च सबलशरीराऽसंभवात् विषयस्य कामादेरुपभोगो न स्यात्-‘हिंसा च अनर्थ-  
प्रदा-इत्येवं हिंसायां दोषस्य पातकस्य दर्शनात् विषयेभ्य उपरमे सति या तुष्टिः- सा बाह्या  
पथमी 'उत्तमात्मः' इति नान्नी उच्यते । हिंसादोषस्य कारुण्योत्पादकत्वात् उत्तमस्य आर्द्राभावस्य  
लाभात् 'उत्तमात्मः' इत्युच्यते ॥ उपसंहरति-एवमाध्यात्मिकीभिरिति । प्रकृत्युपादानकाल-  
भाग्याख्याभिः सह बाह्या पञ्च, मिलित्वा नवसंख्याकतुष्टयोऽभिमताः सांख्याचार्याणामिति ॥ ५० ॥

‘ऊहः शब्दोऽध्ययनमिति कारिकामवतारयति-‘गौणमुख्येति । गौणभेदमुख्यभेदप्रदर्शन-  
पूर्वकं अष्टसंख्याकसिद्धीराहेत्यर्थः ॥ ‘ऊहः’-इतिमूलम् । अध्ययनं शब्दः ऊहः सुहृत्प्राप्तिः दानं,  
त्रयो दुःखविघाताश्चेति अष्टौ सिद्धयः, सिद्धेः पूर्वस्त्रिविधः अङ्कुशो भवतीत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-  
अध्ययनात् आत्मज्ञानं-‘अध्ययनंसिद्धिः १ । पदजनितमात्मज्ञानं-‘शब्दः’ सिद्धिः २ । तर्कादात्म-  
ज्ञानं ‘ऊहः’सिद्धिः-३ । सहपाठितः-शास्त्रार्थे विचारिते सति आत्मनिर्णयः-‘सुहृत्प्राप्तिः’सिद्धिः-४ ।  
विवेकख्यातिलाभः-‘दानम्’-सिद्धिः-५ । एकः-आध्यात्मिकदुःखाऽभावः ६ । आधिभौतिकदुःखा-  
भावः-७ । आधिदैविकदुःखाभावश्च-८ । इत्यष्टौ सिद्धयः ॥ पूर्वः=प्रथमप्राप्तः-विपर्ययः अशक्तिः  
तुष्टिः, अयं त्रिविधः सिद्धेः अङ्कुशः=विरोधी भवतीति, तस्मात् ज्ञानोपकरणिका सिद्धिर्प्राप्ता, विपर्य-  
याऽशक्तितुष्टयस्तु हेया इत्यर्थः ॥ तत्त्वकौमुद्यां-विहन्यमानस्येति । विहतिविषयस्य दुःखस्य  
त्रित्वात्=आध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकभेदेन त्रिविधत्वात् तद्विघाताः=तन्निवृत्तयोऽपि,  
तिस्रो भवन्ति, इतीमाः=दुःखविघाताख्यः, मुख्याः=मुख्योद्देश्याः उपादेयाः तिस्रः सिद्धयश्चेति-  
उच्यन्ते ॥ तदुपायतया=दुःखविघातानाम् साधनतया इतराः तत्त्वज्ञानात्मिकाः पञ्च अध्ययनादय-  
स्तु सिद्धयः गौण्यः=अमुख्योद्देश्या उच्यन्ते इति । ताः अपि=अध्ययन-शब्दोहसुहृत्प्राप्तिदानाख्याः  
पञ्चापि । हेतु-हेतुमत्तया=हेतवः=कारणानि, हेतुमत्यः=कारणवत्यः=कार्याणि, इति व्यवस्थिताः सन्ति ।  
तत्र=तासु पञ्चसु आद्याः=प्रथमा या ‘अध्ययन’लक्षणा=अध्ययनस्वरूपा सिद्धिः सा सप्तानां शब्दा-  
दीनां हेतुरेव । मुख्यास्तु=आध्यात्मिकदुःखाभावाख्या आधिभौतिकदुःखाभावाख्या आधिदैविक-  
दुःखाभावाख्या-इतितिस्रः सिद्धयः, हेतुमत्यः=कार्याण्येव । मध्यमास्तु=शब्दोहसुहृत्प्राप्तिदानाख्या-

व्यस्थिताः । तत्राऽऽद्याध्ययनलक्षणा सिद्धिर्हेतुरेव । मुख्यस्तु सिद्धयो हेतुमत्य एव । मध्यमास्तु हेतुहेतुमत्यः । विधिवत् गुरुमुखादध्यात्मविद्यानामक्षरस्वरूपग्रहणमध्ययनं प्रथमा सिद्धिस्तारमुच्यते । तत्कार्यम्-शब्दः, 'शब्दः' इति-पदं शब्दजनितमर्थज्ञानमुपलक्षयति, कार्यं कारणोपचारात् । सा द्वितीया सिद्धिः 'सुतारम्' उच्यते । पाठार्थाभ्यां तदिदं द्विधा श्रवणम् । 'ऊहः'-तर्कः-आगमाविरोधिन्यायेनाऽऽगमाथ-परीक्षणम् । परीक्षणञ्च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनम् । तदिदं मननमाचक्षते आगमिनः, सा तृतीया सिद्धिः 'तारतारम्' उच्यते । 'सुहृद्भासिः', न्यायेन स्वयं परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्धते, न यावद् गुरुशिष्यसब्रह्मचारिभिः सह संवाद्य-

श्वतलः, हेतवः=दुःखविधाताख्यव्रयस्य हेतवः । हेतुमत्यः=अध्ययनाख्यप्रथमसिद्धेः कार्याणि ॥ प्रथमां सिद्धिं निरूपयति-विधिवदिति । 'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रोयं ब्रह्मनिष्ठ'मित्यादिविधिमनतिक्रम्य, गुरोः=अध्यापकस्य, मुखाद् अध्यात्मविद्यानाम्=आत्मसम्बन्धिज्ञानानाम् प्रतिपादका ये शब्दास्तदात्मकाऽक्षराणां स्वरूपं यत् ह्रस्वदीर्घादिस्वरविशेषाः तस्य ग्रहणम्, गुरुच्चारणाऽनुच्चारणालमकशीक्षणमितियावत्, तदेवाध्ययनम् प्रथमा सिद्धिः, यद्यप्यध्ययनजन्यं ज्ञानमेव सिद्धिर्न त्वध्ययनं तथापि कार्यकारणयोरभेदादध्ययने सिद्धित्वव्यवहार इति बोध्यम् । संसारतरणस्य प्रथमसोपानत्वात् 'तार'मित्याख्या ॥ द्वितीयां सिद्धिमाह-तत्कार्यमिति । अध्ययनस्य कार्यं-'शब्दः' भवति ॥ अत्र 'शब्द'पदस्य शब्द'जन्ये-अर्थज्ञाने लक्षणा कार्या, तेन शब्दजन्या 'अर्थज्ञाना'त्मिका सिद्धिर्बोध्येत्याह-'शब्द'-इतिपदमिति । शब्देन शक्तिलक्षणाभ्यन्तरवृत्तिद्वारा जनितं यद् अर्थस्य ज्ञानम्, तत् उपलक्षयति=उप-समीपवर्तिनम् अर्थज्ञानम् लक्षणया ग्राहयतीत्यर्थः ॥ कुतः ग्राहयति ? इत्यत आह-कार्ये इति । कार्ये=अर्थज्ञाने, कारणस्य=शब्दस्य उपचारात्, उप-समिपवर्तिनः-अतिसम्बन्धिनः, चारः-प्रयोगस्तस्मात् । सा द्वितीया 'अर्थज्ञाना'त्मिका 'शब्दा'-भिधाना सिद्धिः । अर्थज्ञानस्य सुखेन संसारतारकत्वात् 'सुतार'मिति संज्ञा । यद्यपि तार-सुतारयो-रुभयोरपि गुरुसकाशादध्ययनरूपत्वादेका 'श्रवणा'ख्या भवति तथापि 'तार'सिद्धिः पाठविषया 'सुतार'-सिद्धिस्तु 'अर्थ'विषया भवतीति पाठार्थाभ्यां द्विधाभेदः कृतः-इत्याह-पाठार्थाभ्यामिति । पाठेन-अध्ययनम्, अर्थेन तु 'शब्दः' इति, तदिदमुभयं 'श्रवण'मेवेति भावः ॥ तृतीयां सिद्धिमाह-'ऊह'इति । तस्यार्थः-तर्कः-तर्कयते-इति तर्कः ॥ तर्कार्थमाह-आगमेति । आगमः-अर्थात् प्रकृतज्ञानं वैदिकं यत्किमपि, तेन सह अविरोधिना न्यायेन=पथावयववाक्यादिना-प्रतिज्ञाहेतुद्वाराणोपनयनिगमनादिना, आगमस्य=अधीतशास्त्रस्य ये प्रतिपाद्याऽर्थोक्तेषां परीक्षणम् ॥ परीक्षणपदार्थमाह-संशयेति । यथा 'सतः सज्जायेत' 'सतः असज्जायेत'-इति विषयवाक्यान्वबलमभ्य प्रथमं 'कार्यं सत् असत्'-इत्यादि संशयः । ततः-प्रथममनुपलम्भात् पश्चादिनाशाच 'कार्यम्-असत्'-इति पूर्वपक्षः, तस्य 'असदकरणानुपपन्नग्रहणादित्यादिन्यायद्वारा निराकरणेन उत्तरपक्षस्य=स्वसिद्धान्तस्य व्यवस्थापनम्=स्थिरीकरणम् । तदिदं परीक्षणं-'मननम्'-इति आगमिनः=शास्त्रज्ञाः आचक्षते=कथयन्ति, सा-ऊहाख्या=तर्काख्या=परीक्षणाख्या=मननाख्या तृतीया सिद्धिः । मननस्य अध्ययनशब्दापेक्षयाऽधिकतारकत्वात् 'तारतार'मित्युच्यते-इति ॥ चतुर्थी सिद्धिमाह-'सुहृद्भासि'रिति । न्यायेन-प्रतिज्ञादिपथावयववाक्यैः स्वयं=त्वेन परीक्षितम्=व्यवस्थापितमपि, अर्थं प्रति तावत्पर्यन्तं न श्रद्धते=अयं मया निर्णितोऽर्थः तथैवेति न विश्वासं करोति, यावत्=यावत्कालपर्यन्तं, स्वगुरोः शिष्या अतएव सह ब्रह्मचारिणः=सतीर्थ्याः ये सहाध्यायिनस्तैः सह, न संवाक्ते=संवादं न करोति,-



ते । अतः सुहृदां=गुरुशिष्यसमूहचारिणां संवादकानां प्राप्तिः सुहृत्प्राप्तिः सा सिद्धि-  
श्रुतुर्यो 'रम्यकं' उच्यते । 'दानं च' शुद्धिविवेकज्ञानस्य, 'दैप शोधने' इत्यस्माद्वा-  
तोदानपदव्युत्पत्तेः । यथाह भगवान् पतञ्जलिः- 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः'  
इति (योगसूत्रम् २ । २६) । 'अविप्लवः' शुद्धिः, सा च सवासनसंशयविपर्ययासानां  
परिहारेण विवेकसाक्षात्कारस्य स्वच्छप्रवाहेऽवस्थापनम् । सा च न विनाऽऽद्वैतैरन्त-  
र्यदीर्घकालज्ञेयविताभ्यासपरिपाकाद्भवति 'इति दानेन'=विवेकख्यात्या कार्येण, -सो-  
पि सङ्गृहीतः । सेयम्पञ्चमी सिद्धिः 'सदामुदितम्' उच्यते ॥ तिस्रश्चमुख्याः

यावत् कथायां पटुपक्षी' न करोति तावत् श्रद्धते-इति भावः ॥ अतः सुहृदो ये गुरोः शिष्याः सवक्ष-  
चारिणः=सतीर्थ्यां स्तेषां संवादकर्तृणां प्राप्तिः=कथायाम् संवादकर्तृत्वेन उपस्थितिः=सा सुहृत्प्रा-  
प्ति' नाम्नो चतुर्यां सिद्धिः । सुहृद्भिः सह शास्त्रार्थसंवादस्याऽतिरमणीयनिर्णयजनकत्वेन तत्रनिर्णये  
श्रद्धाकरणस्य रमणीयत्वात् 'रम्यक'मित्यप्यभिधीयते ॥ पञ्चमी' सिद्धिमाह-दानमिति । 'दान'-  
स्यार्थः-शुद्धिविवेकज्ञानस्येति । विवेकज्ञानस्य शुद्धिः=विपर्ययमिध्याशानाथंशमात्रस्याऽप्यसंसर्गः ॥  
ननु 'दान'पदस्य 'विवेकज्ञानशुद्धि'रित्यर्थः इत्यतस्तत्र व्याकरणं करोति-'दैप'शोधने-इति धातोः  
'दान' पदस्य व्युत्पत्तेः=सिद्धेरिति ॥ एतादृशार्थे पतञ्जलिमुनिं प्रमाणयति-यथाहेति । भगवान्=  
योगैश्वर्यवान्, पतञ्जलिमुनिः सूत्रेण उक्तवानित्यर्थः ॥ सूत्रं--"विवेकेत्यादि । सूत्रार्थः-  
हानं=दुःखोपरमः मोक्षस्तस्य उपायः=विवेकख्यातिः, सा च अविप्लवा=अनिवृत्ता मिध्याशानं  
विप्लवः, यदा तु मिध्याशानं दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा सा अविप्लवा=शुद्धा इति ।  
'अविप्लव'पदस्यार्थमाह- शुद्धिरिति । शुद्धिं व्याचष्टे-सा चेति । शुद्धिः, सवासनाः=वासनाः-  
विपर्ययसंस्काराः तैः सहिताः संसंस्कारा ये संशयाः विपर्ययाश्च वृत्तयः तेषाम्, परिहारेण=  
दग्धबीजभावात्ताऽऽपादनेन, संशयविपर्ययाऽभावे सतीति भावः ॥

विवेकसाक्षात्कारस्य=स्वप्नपुरुषान्यताज्ञानस्य स्वच्छप्रवाहे=मिध्याशानाथंशसंसर्गरहिते प्रवाहे-  
ऽवस्थानम्=प्रतिष्ठा,=शुद्धिरित्यर्थः । श्रुतमयेन ज्ञानेन विवेकं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्य  
दीर्घकालनैरन्तर्यसंस्काराऽऽसेविताया भावनाया प्रकर्षपर्यन्तं समधिगता साक्षात्कारवतो विवेकख्या-  
तिर्निवर्तितसवासनमिध्याशाना निर्विप्लवा हानोपाय इति भावः ॥ इयं शुद्धिविवेकख्यातिः पञ्चमी  
सिद्धिर्बोध्या ॥ कार्यस्य शुद्धिविवेकख्यातेः कारणम् अभ्यासोऽपि सिद्धिः पञ्चमीति दर्शयितुमाह-  
सा च न विनेति । सा च=शुद्धिविवेकख्यातिश्च, आदरेण सेवितः नैरन्तर्येण सेवितः दीर्घकालेन  
च सेवितो योऽभ्यासः=स्वच्छप्रवाहात्मकस्थितौ यत्नः, तस्य परिपाकः=दृढभूमिता=पराकाष्ठा-  
तस्मात् विना,=अभ्यासं विना विवेकख्यातिर्न भवतीत्यतः, 'दानेन'=कार्यात्मकविवेकख्यात्यपराऽ-  
भिधानया 'दाना'ख्यसिद्ध्या, सोऽपि=कारणं योऽभ्यासः सोऽपि, पञ्चम्यां सिद्धौ संगृहीतो भव-  
तीति । तथा च कार्यकारणयोरभेदोपचारात् 'दान' पदेन अभ्यासो विवेकख्यातिश्चेत्युभयं पञ्चमी  
सिद्धिरिति भावः । इयं सदामुदितहेतुत्वात् 'सदामुदित'ख्याइत्युच्यते ॥ अथ अवशिष्टाः तिस्रः सिद्धो-  
राह-तिस्र इचेति । मुख्याः=मोक्षात्मकतया परमप्रयोजनात्मिकाः सिद्धय उच्यन्ते । तत्र षष्ठ्याः  
आध्यात्मिकदुःखाभावात्मकसिद्धेः 'प्रकर्षेणाऽऽनन्दप्रदत्वात् 'प्रमोदः'-इति-संज्ञा, आधिभौतिकदुः-  
खात्मिकायाः सप्तम्याः अपि क्वचित् मोदकत्वात् 'मुदित'इतिसंज्ञा, आधिदैविकदुःखाभावात्मिकाया  
अष्टम्याः अपि क्वचित् मोदकत्वात्-'मोदमान'इतिसंज्ञा । इत्येवमष्टौ सिद्धयो व्याख्याताः ॥ अन्येस्तु

सिद्धयः-‘प्रमोदमुदितमोदमानाः’-इत्यष्टौ सिद्धयः । अन्ये व्याचक्षते-‘विनोपदेशादिना प्राग्भवीयाभ्यासवशात्तत्त्वस्य स्वयमूहनं यत् सा सिद्धिरूहः । यस्य साङ्ख्यशास्त्रपाठमन्यदीयमाकर्ण्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते सा सिद्धिः शब्दः, शब्दपाठादनन्तरम्भावात् । यस्य शिष्याचार्यसम्बन्धेन साङ्ख्यशास्त्रं ग्रन्थतोऽर्थतश्चाधीत्य ज्ञानमुत्पद्यते साऽध्ययनहेतुका सिद्धिरध्ययनम् । सुहृत्प्राप्तिरिति-यस्याधिगततत्त्वं सुहृदं प्राप्य ज्ञानमुत्पद्यते सा ज्ञानलक्षणा सिद्धिस्तस्य सुहृत्प्राप्तिः । दानञ्च सिद्धिहेतुः, धनादिदानेनाऽऽराधितो ज्ञानी ज्ञानमप्रयच्छति । अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति कृतम्परदोषोद्भावनेन नः सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानामिति ॥ सिद्धितुष्टिविपर्ययेणाऽशक्तिर्बुद्धिवधस्सदृशश्चा द्रष्टव्यः । अत्र प्रत्ययसर्गे सिद्धिरूपा-

कृतोऽर्थो न सन्नतोऽपि प्रेक्षावतां परीक्षणाय तं प्रदर्शयति-“विनोपदेशादिनेत्यादिना । उपदेशादिकं विनाऽपि, प्राग्भवीयाऽभ्यासः-पूर्वजन्मसु कृतो यो ज्ञानाऽभ्यासस्तद्वशात्-तद्वशात् तत्त्वस्य=जडचेतनतत्त्वानां, स्वयमूहनम्=तर्कनम् यत् सा ‘ऊहा’ख्या सिद्धिर्बोधा ॥ द्वितीयां व्याख्याति-“यस्येति । यस्य जनस्य अन्यदीयं=अन्यकर्तृकं सांख्यशास्त्रस्य पठनम् आकर्ण्य=श्रुत्वा यत् तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते सा पाठश्रवणलभ्य-‘तत्त्वज्ञाना’त्मिका ‘शब्द’नाम्नी सिद्धिरुच्यते । ननु शब्दश्रवणजन्यतत्त्वज्ञानस्य ‘शब्द’संज्ञा कथमत आह-शब्दपाठादनन्तरम्भावादिति । ‘शब्द’पाठ-श्रवणोत्तरभावात् कार्ये कारणोपचारेण शब्दलभ्या सिद्धिः शब्दाख्यैवोच्यते इति भावः ॥ तृतीयां व्याख्याति-यस्य शिष्येति । यस्य जनस्य, शिष्याचार्यसम्बन्धेन=शिष्यगुरुभावाख्यसम्बन्धे कृते सति, सांख्यशास्त्रं=पदार्थानां पथर्विशतिसंख्यां प्रकरोति यत् तत् सांख्यं, तत्त्वज्ञानं शास्ति दुःखाच्च त्रायते इति शास्त्रं, सांख्यशास्त्रायपदार्थानिति यावत् । ग्रन्थतः=ग्रन्थितवाक्यबोधकरेणाऽङ्कितपुस्तकद्वारा अर्थतः=तदर्थानुकूलश्च गुरुमुखोच्चरिताः शब्दास्तद्वद्वारा च अधीत्य=पठित्वा, यत् तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते सा ‘अध्ययन’हेतुका तत्त्वज्ञानात्मिका सिद्धिः ‘अध्ययन’शब्देन उच्यते ॥ चतुर्थी व्याख्याति-सुहृत्प्राप्तिरिति । यस्य जनस्य अधिगतानि तत्त्वानि येन सः तं=पदार्थतत्त्वज्ञानिनं, सुहृदं मित्रं प्राप्य तेन सह प्रदोत्तरैः यत् तत्त्वज्ञानमुपलभ्यते तस्य=जनस्य सा ज्ञानलक्षणा=तत्त्वज्ञानात्मिका सिद्धिः सुहृत्प्राप्तिहेतुकत्वात् ‘सुहृत्प्राप्ति’नाम्नी उच्यते । पञ्चमी सिद्धिं व्याचष्टे-दानञ्चेति । धनदानं सिद्धेस्तत्त्वज्ञानस्य हेतुर्भवति, धनादिदानेन आराधितः=प्रसन्नोऽकृतः=प्राथितश्च ज्ञानी=विद्वान्, विद्यात्मकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं प्रयच्छति धनदात्रे इति-दानहेतुकत्वात् ‘दाता’ख्यसिद्धिः ॥ इत्येवमन्ये व्याचक्षते । अस्य=अन्यकृतव्याख्यानस्य युक्तत्वं=कारिकाकाराभिप्रायाऽनुगुणत्वं, अयुक्तत्वम्=कारिकाकाराभिप्रायविरुद्धत्वम्, इति तु सूरिभिः=परीक्षकैरेव अवगन्तव्यमिति यतः मिद्वान्तमात्रस्य=सांख्यकारिकाकाराभिप्रायविषये निर्णितार्थमात्रस्य व्याख्यानकर्मणि प्रवृत्तानां, नः=अस्माकं वाचरपतिमिश्राणाम्, परस्य=व्याख्याकारस्य अन्यव्यक्तेः, दोषस्य=बुद्धेर्मान्यादिदोषस्य, उद्भावनेन=प्रकाशकरणेन, कृतम्=अलमित्यर्थः ॥ तुष्टिमिद्धिस्वरूपे ज्ञाते सति ‘सप्तदशवधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धिर्ना’मितपूर्वोक्तं दृढाकरणाय स्मारयति-सिद्धितुष्टीति । अष्टसिद्धानां नवतुष्टानां च विपर्ययेण=त्रयेण, अशक्याऽथो बुद्धिवधः सप्तदशधा पृष्टव्यो भवतीति । विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्धिर्ना मध्ये उपदेयत्वं हेयत्वं च दर्शयति-अत्रेति । अस्मिन् चतुर्था विभक्तेः प्रत्ययस्य=बुद्धेः सर्गे, सिद्धिः=ज्ञानाख्याऽपराधाना मोक्षाभिधाना च अष्टसिद्धयः उपदेया इति सर्वशास्त्रलोकाहृदयप्रसिद्धमेव । तासां ज्ञानात्मकसिद्धिर्ना निवारणस्य=अलभस्य हेतवः कारणानि



देयेति प्रसिद्धमेव । तन्निवारणहेतवस्तु विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इत्याह 'सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः' इति । 'पूर्वः' इति विपर्ययाशक्तितुष्टीः परामृशति । ताः सिद्धिकरिणी-  
नामङ्कुशः-निवारकत्वात्, अतः सिद्धिपरिपन्थित्वात् विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया  
इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

स्यादेतत्-पुरुषार्थप्रयुक्ता सृष्टिः, स च पुरुषार्थः प्रत्ययसर्गाद्वा तन्मात्रसर्गाद्वा  
सिध्यतीति कृतमुभयसर्गेणेत्यत आह-

न विना भावैर्लिङ्गं, न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।

लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

ये-विपर्ययः द्वापष्टिप्रकारः अशक्तयोऽष्टाविंशतिप्रकाराः तुष्टयश्च नवविधाः, ते सर्वे हेयाः=हातुं योग्याः-  
अनुपादेया इत्याहेत्यर्थः ॥ 'सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः'-इति व्याचष्टे-'पूर्वः' इति । 'पूर्वः'-इतिपदम्-  
त्रिविधं-विपर्ययाऽशक्तितुष्टयाख्यं परामृशति, ताः=विपर्ययाऽशक्तितुष्टयः, सिद्धयः करिण्यो हस्तिन्य  
श्च तासाम्, अङ्कुशः=अङ्कुशवन्निरोधिकाः भवन्ति ॥ अङ्कुशत्वे हेतुमाह-निवारकत्वादिति ।  
विरोधित्वादित्यर्थः ॥ 'निवारकत्व'पदार्थमाह-अतः सिद्धिपरिपन्थित्वादिति । सिद्धिविधात-  
कत्वादित्यर्थः ॥ अङ्कुश इवेति । तथा मत्तामपि करिणीमङ्कुशो निरुणादि तथा सिद्धीनामपि शुद्धि-  
विधातको विपर्ययाऽशक्तितुष्टयाख्यो वर्गः, अतो मुमुक्षुभिस्ते त्रयः हेयाः-अनुपादेया-इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

'न विना भावैरितिकारकावताराय शङ्कते-स्यादेतदिति । अनागतावस्थ-भोगापवर्गात्मकपु-  
रुषार्थेन प्रयुक्ता=प्रवर्तितगुणत्रयकृता, सृष्टिः-महदादिस्थूलान्तोल्लिङ्गभावाद्यात्मकसर्गः, स च=अ-  
नागतावस्थभोगापवर्गात्मकः पुरुषार्थः, प्रत्ययसर्गात्=प्रतीयन्तेविषया अनेनेति प्रत्ययो बुद्धिः-तस्य-  
सर्गः=धर्माऽधर्मज्ञानाऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्यात्मको भावसर्गः-विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसि-  
द्धिभेदेन संक्षिप्तः तस्मात् सिद्धयति=निर्वर्त्यति, अथवा तन्मात्रसर्गात्=सूक्ष्मशब्दस्पर्शरूपरसग-  
न्धात्मकतन्मात्राणां यः सर्गः-लिङ्गशरीराख्यः, षाट्कौशिकस्थूलशरीराख्यश्च । सेन्द्रियमनोऽहंकार-  
बुद्धीनां तन्मात्रघटिततयैव सूक्ष्मशरीरत्वमिति 'चित्रं यथे'ति(४१)कारिकया दर्शितत्वात् षाट्कौशि-  
कशरीरस्य तु तन्मात्रकार्यत्वात् स्थूलशब्दादिविषयान्वितपञ्चभूतविकारं स्थूलशरीरं सूक्ष्मशरीरं  
चेत्युभयविधं शरीरं तन्मात्रसर्गो बोध्य इति भावः । एतादृशतन्मात्रसर्गादेवं वा पुरुषार्थः निर्व-  
र्त्यति । तथा च-उभयसर्गेण=धर्माद्यष्टभावाख्यसर्गेण तन्मात्रजन्यशब्दाद्यन्वितस्थूलसूक्ष्मशरीरा-  
त्मकलिङ्गसर्गेण च, कृतम्=अलम्, एक एव सर्गः पुरुषार्थनिर्वर्तकतया स्त्रीकायां न तृतीयां सर्गो-  
इति भावः ॥ न विनेति मूलम् । भावैः विना लिङ्गं न ( भवति ), लिङ्गेन विना भावनिर्वृत्तिः  
न ( भवति ), तस्मात् भावाख्यो लिङ्गाख्यो द्विविधः सर्गः प्रवर्तते-इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-भो-  
गात्मकपुरुषार्थाय, भोग्यं भोगाधिकरणं भोगसाधनं चेति त्रयमपेक्षितं, तत्र भोग्यं स्थूलशब्दादिकं  
तन्मात्रजन्यं, भोगाधिकरणं शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं चेति द्विविधं तन्मात्रसर्गात्मकं, भोगसाधनानि च  
करणानि वाह्यान्तरभेदेन द्विविधानि, तत्र भोग्यभोगाधिकरणात्मकः तन्मात्रसर्गो लिङ्गाख्यः, भोग्य-  
भोगसाधनयोरद्वयं (धर्मादि) लभ्यत्वात् भोगस्य मुख्यं साधनं भावसर्गात्मकस्वधर्मान्विता बुद्धि-  
रान्तरं करणम्, तथा च कारिकार्थः-"भावैः=धर्माद्यष्टभावैः विना, धर्माद्यन्वितबुद्धिं विनेति यावत् ।  
लिङ्गम्=भोग्याः=शब्दादयः भोगसाधनानि=शरीराणि चेति तन्मात्रजन्यो लिङ्गसर्गो न संभवति-न  
उत्पद्यते । एवं लिङ्गेन विना=भोग्यशब्दादि-भोगसाधनशरीराणि विना । न भावनिर्वृत्तिः=भावानां

‘न विना’ इति । ‘लिङ्गम्’ इति—तन्मात्रसर्गमुपलक्षयति, ‘भावैः’ इति च प्रत्ययसर्गम् । एतदुक्तमभवति—तन्मात्रसर्गस्य पुरुषार्थसाधनत्वं स्वरूपञ्च न प्रत्ययसर्गाद्विना भवति । एवं प्रत्ययसर्गस्य स्वरूपं पुरुषार्थसाधनत्वञ्च न तन्मात्रसर्गाद्वेत्ते इत्युभयथा सर्गप्रवृत्तिः । भोगः पुरुषार्थो न भोग्यान् शब्दादीन् भोगायतनं शरीरद्वयञ्चाऽन्तरेण सम्भवतीत्युपपन्नस्तन्मात्रसर्गः । एवं स एव भोगो भोगसाधनानीन्द्रियाण्यन्तःकरणानि चाऽन्तरेण न सम्भवति । न च तानि धर्मादीन् भावान् विना

धर्मादीनां निवृत्तिः—उत्पत्तिः, भावविशिष्टबुद्धेरपि भोगसाधनत्वं च न संभवति । तस्मात्—प्रत्येकेन विना द्वयोः स्वरूपादेरसंभवात् हेतोः । भावाख्यः—धर्मादिबुद्धिसर्गः, लिङ्गाख्यः—शब्दादिशरीरादि-तन्मात्रसर्गः, इति द्विविधः सर्गः—एतत्सर्गद्वयान्विता सृष्टिः । प्रवर्तते—अन्योन्यमाश्रित्य निर्वहति ॥ तत्त्वकौमुद्यां—‘लिङ्ग’भित्यस्य लक्षणिकमर्थमाह—तन्मात्रसर्गमिति । ‘चत्रं यथे (४१) तिकारिकया बुद्ध्यादीनां तन्मात्रघटिततयैव लिङ्गशरीरत्वव्यवस्थापनात् तादृशशक्यसम्बन्धितया ‘लिङ्ग’पदेन तन्मात्रसर्गो लक्षणया बोध्य इति भावः । लक्षयति=लक्षणया बोधयति ॥ अथ भावपदस्य घटादिष्वपि भावपदार्थेषु प्रवृत्तेः ‘भावैरितिपदं प्रत्ययसर्गम्=बुद्धिसर्गं धर्मादिकं, उपलक्षयति=लक्षणया बोधयतीत्यन्वयायोर्बोध्यः ॥ द्वयोः सर्गयोः परस्परऽऽश्रयभावऽऽवश्यकतां स्पष्टयति—एतदुक्तं भवतीति । एतत्—द्वयोः सर्गयोरावश्यकता, उक्तं भवति=उच्यते=स्पष्टीक्रियते इति यावत् ॥ तन्मात्रसर्गस्य—शब्दादेः स्थूलसूक्ष्मशरीरयोश्च, पुरुषार्थसाधनत्वं=भोग्यत्वं भोगाधिकरणत्वं च, स्वरूपं च=स्वरूपस्य सद्भावः, स्वरूपस्योत्पत्तिरिति यावत् । न प्रत्ययसर्गाद्विना भवति=प्रत्ययस्य बुद्धेः सर्गः धर्मादिकं कारणीभूतं बुद्धिश्च करणभूता तस्माद्विना न संभवति ॥ बुद्ध्यात्मककरणं विना शब्दादीनां भोग्यत्वं न स्यात् धर्मायात्मककरणं विना च शब्दादीनां शरीरादीनां च स्वरूपस्य उत्पत्तिरेव न स्यादिति फलितार्थः ॥ एवम्—तद्वत्, प्रत्ययसर्गस्य=धर्मादीनां बुद्धेश्च, क्रमशः स्वरूपं पुरुषार्थसाधनत्वं च=स्वरूपस्योत्पत्तिः भोगात्मकपुरुषार्थस्य मुख्यसाधनता च । न तन्मात्रसर्गाद्वृत्ते=शब्दादिकं विना स्थूलसूक्ष्मेतिशरीरं विना च न संभवति । शब्दादिविषयं विना शरीरं विना च धर्माधर्मादयो नोत्पद्यन्ते, बुद्धेः भोगकरणताऽपि न संभवेदिति भावः । इति=इत्येवमन्योन्यं विनाऽन्योन्यस्वरूपासिद्धिरूपहेतोः सत्त्वात् । उभयथा=लिङ्गीयत्वेन(तन्मात्रीयत्वेन)भावीयत्वेन—च । सर्गस्य प्रवृत्तिः=सद्भावो भवतीति । भोग एवोभयसर्गं विनाऽसंभवन् सन् उभौ सर्गौ परस्परश्रितौ प्रवर्तयतीति दर्शयति—भोग इति । सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारात्मको यो भोगस्तदात्मकः पुरुषार्थो हि, भोग्यान्=भोगविषयान्=शब्दादीन् विना भोगस्यायतनम् अधिकरणं च स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयं च, अन्तरेण=विना, न संभवति=नैव सम्पद्यते । इति=भोगस्य संभवात् हेतोः । तन्मात्रसर्गः शब्दाद्यात्मकः शरीरात्मकश्च, उपपन्नः=सिद्धः । तथाच प्रयोगः—‘भोगः—विषयायतनादिसापेक्षः—तद्विनाऽनुपपद्यमानधर्मात्वादिति । एवं=तद्वत्, सः=यःशब्दशरीरादिसापेक्षः स एव भोगः, भोगसाधनानि यानि चक्षुरादीनीन्द्रियाणि बुद्ध्यादीन्यन्तःकरणानि च विना, न संभवति, अतः भोगेन करणानि सिद्ध्यन्तीति भावः । एवं तानि=करणानि, धर्माऽधर्मादिभावान् विना न संभवन्ति, सर्वत्र कार्ये धर्माऽधर्मात्मकाऽदृष्टस्य कारणत्वात् सर्गादौ करणानां प्राप्तिरप्यदृष्टापीनैव, अतः करणानां स्वरूपलाभो धर्मादिकं विना न संभवतीति भावः, अथवा कार्याणां सत्त्वात् कार्यकारणयोरभेदाच्च करणात्मके बुद्धितत्त्वे स्थूलसूक्ष्मान्यतररूपेण सन्त्येवेति—करणानि भावविधुराणि न भवन्तीत्यर्थः, अथवा करणानि भावं धर्मादिकमनपेक्ष्य विषयेषु न प्रवर्तन्ते इत्यर्थः, तथा च करणेः धर्मादयो भावाः



सम्भवन्ति । न चाऽपवर्गहेतुर्विवेकख्यातिरुभयसर्गं विना, इत्युपपन्न उभयविधः सर्गः । अनादित्वाच्च बीजाङ्कुरवन्नान्योन्याश्रयदोषमावहति । कल्पादावपि प्राचीनकल्पो-  
त्पन्नभावलिङ्गसंस्कारवशान्नावलिङ्गयोरुत्पत्तिर्नानुपपन्नेति सर्वमवदातम् ॥ ५२ ॥

विभक्तः प्रत्ययसर्गः । भूतादिसर्गं विभजते-

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।

मानुषकश्चैकविधः, समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

‘अष्टविकल्प’ इति । ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पैत्रः, गान्धर्वः याक्षः, राक्षसः,

सिद्धकृतौत्यर्थः ॥ इत्येवं भोगात्मकेन पुरुषार्थेन भोग्यान् भोगायतनानि भोगसाधनानि च संसा-  
ध्येदानाम् अपवर्गात्मकेन पुरुषार्थेन उभयसर्गं साधयति-न चापवर्गहेतुरिति । अपवर्गः-आत्य-  
न्तिकी दुःखनिवृत्तिः तद्धेतुः साक्षान्निमित्तकारणं या विवेकख्यातिः सत्त्वगुणान्यताज्ञानम्-‘आत्मा  
प्रकृत्यादिभिन’ इत्याकारकम्, सापि पदार्थतत्त्वज्ञानं विना न भवति, पदार्थतत्त्वज्ञानस्य विषयतास-  
म्बन्धेन विषयसापेक्षत्वात् अवच्छेदकतासम्बन्धेन शरीरसापेक्षत्वात् अधिकरणतया बुद्धिसापेक्षत्वात्  
निमित्तकारणतया च अट्टादिसापेक्षत्वात् उभयसर्गं=भावसर्गं तन्मात्रसर्गं च विना न सम्भवति ।  
इत्यस्माद्धेतोः मोक्षजनकविवेकख्यात्या तत्त्वज्ञानद्वारा उभयविधः भावाद्यो लिङ्गाख्यश्च सर्गः,  
उपपन्नः=साधितो भवतीति भावः ॥ ननु धर्मादयो भावाः शरीराऽपेक्षाः, शरीरं च धर्मापेक्षमिति  
परस्परश्रयेणोभयमपि न संभवेदित्याशङ्क्याह-अनादित्वाच्च बीजाङ्कुरवदिति । अनादित्वात्=  
सर्गप्रवाहस्याऽनादित्वात्=अविच्छिन्नत्वादित्यर्थः । बुद्धेरनादितया तत्संयोगस्याऽप्यनादित्वेन संसा-  
रप्रवाहस्याऽनादितया उभयविधोऽप्यर्थः सर्गः बीजाङ्कुरवत्=यथा बीजं प्रथमम् अङ्कुरो वेत्यनिर्णयेऽपि  
नेतरैतराश्रयदोषोऽभ्युपगम्यते तथा अन्योन्याश्रयदोषं न आवहति, दोषोऽयं भूषणमेवेत्यर्थः । संयो-  
गपरम्पराया अनादित्वं स्वभिहितं ‘पुरुषस्य दर्शनार्थमि’ (२१) ति कारिकाव्याख्यानावसरे  
ततोऽवगन्तव्यम् । ननु कल्पादौ भावानां शरीरादीनां चाऽभावात् कथं स्यात् द्वयोः परस्परसापेक्ष-  
सर्गं इत्याशङ्कायामाह-कल्पादावपि-कल्पः-ब्रह्मणो दिवसः, तस्य प्रारम्भे, सृष्टिप्रारम्भे  
इत्यर्थः, प्राचीनकल्पे=तत्पूर्वकालीने कल्पे उत्पन्ना ये भावा धर्मादयः लिङ्गानि शरीराणि च तेषां  
परस्परसम्बन्धारः ये बुद्धिस्थाः संस्काराः चिरस्थायिनो वासनात्मकाः तद्व्याप्त्यस्तत्सर्गादौ भावानां  
लिङ्गस्य चोत्पत्तिः उपपन्ना=सिद्धा भवति । इत्येवं प्राचीनकल्पस्य प्रारम्भेऽपि प्राचीनतरकल्पीय-  
भावलिङ्गवासनावशात् सर्गः, पञ्च पूर्वपूर्वमिति अनादित्वात् परस्परसापेक्षसर्गद्वयोत्पत्तिरव्याहतेति  
सर्वम् अवदातं=स्फुटमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

‘अष्टविकल्प’ इति कारिकावतारयति-विभक्त इति । प्रत्ययस्य=बुद्धेः सर्गः धर्मादयोऽष्टावुक्ताः  
परिणामाः-विपर्ययाऽऽशक्तिरुष्टिसिद्धिपरिणताः भावसर्गाख्याः अवान्तरभेदेनाऽपि विभक्ताः । अथ  
तन्मात्रजन्यानां स्थूलानां भूतानां य आदिः=आदितः प्रसिद्धः चेतनविशिष्टः सर्गस्तं विभजते-इत्यर्थः  
‘अष्टविकल्प’ इति मूलम् । दैवः अष्टविकल्पो भवति, तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति, मानुषकश्चैकविधो  
भवति, (इति) समासतो भौतिकः सर्गः इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-देवानामयं दैवः देवानां सर्गः,  
अष्टौ विकल्पाः विभिन्नमास्तृत्वप्राजापत्यत्वादित्यादिकल्पनाः यस्मिन् स तथोक्तः, अष्टजातोऽयं दैववि-  
भेदा इत्यर्थः । तिर्यग्योनेः अयंसर्गः तैर्यग्योनः, स च पञ्चधा=पञ्चजातीयो भवति । मनुष्याणामयं  
सर्गो मानुषकः, स चैकविधः मनुष्यत्वेन रूपेणैकविधो भवति । इति समासतः=संक्षेपतः । भौतिकः=  
पञ्चभूतविकारशरीरसम्बन्धेन परिगण्यमानः सर्गः उक्तः ॥ तत्त्वकौमुद्यां-ब्राह्म इति । ब्रह्मणो

पैशाचः इत्यष्टविधो 'दैवः' सर्गः । 'तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति,' पञ्चमृगपक्षिसरी-  
सृपस्थावराः इति । 'मानुषकश्चैकविधः' इति ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरजातिभेदाविवक्षया,  
संस्थानस्य चतुर्विधं वर्णेष्वविशेषात्, इति । 'समासतः'—सङ्क्षेपतः 'भौतिकः सर्गः'  
घटादयस्त्वशरीरत्वेऽपि स्थावरा एवेति ॥ ५३ ॥

भौतिकस्याऽस्य सर्गस्य चैतन्योत्कर्षनिकर्षतारतम्याभ्यामूर्ध्वधोमध्यभावेन  
त्रैविध्यमाह—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।

मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

वेधसो लोकेषु सत्यतपोजनाल्येषु सर्गः—'ब्राह्मः' इत्युच्यते । दक्षादिप्रजापतेल्लोके महर्ल्लोके सर्गः  
'प्राजापत्यः'—इत्युच्यते । ऐन्द्रः सर्गस्तु इन्द्रस्य स्वर्गलोके । पैत्रः सर्गस्तु पितृणामयंसादीनां लोके ।  
मेरोः पृष्ठे दिवि च गन्धर्वा वसन्तीति गान्धर्वसर्गः । अतलादिपाताल्येषु 'राक्षसः' पैशाचश्च सर्गः ।  
वरुणलोके 'यक्षःसम्बन्धिसर्गः' । एतेषां देवयोनित्वेन दैवसर्ग उच्यते ॥ तिर्यग्योनिगतं पञ्चविधं  
सर्गं दर्शयति—पदिब्रूति । पञ्चवः=सखुराक्षतुष्यदा गवाऽश्वादयः । मृगाः=अखुरा विविधपदा मूष-  
ककिलहरीप्रभृतयः । पक्षिणः=यक्षवन्तो गृध्रादयः । हृदयादिना सरन्तः सन्तः सर्पन्ति गच्छन्ति ये  
ते सरीसृपाः,—सर्गादयः । स्थावराः=तिष्ठन्ति ये वृक्षादयस्ते ॥ ब्राह्मणेति । मानुषकसर्गस्य ब्राह्मण-  
क्षत्रियादिभेदेन भिन्नत्वेऽपि ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादिजातिभेदानाम् अविवक्षया मनुष्यत्वमात्रस्य विव-  
क्षया एकविधत्वमुक्तम्, एवं संस्थानस्य=मुखहस्तपादाद्याकृतीनां, चतुर्षु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रेषु  
वर्णेषु अपिना वर्णसंकरेषु च, अविशेषात्=समानस्वरूपत्वात् अपि मानुषक एकविध इत्युक्तम् ॥  
'समासतः'—इत्यस्यार्थमाह—'संक्षेपतः'—इति, विस्तरतस्तु जरायुजाऽण्डजस्वेदजोद्भिज्जयोन्येषु चतुर-  
श्रोतिलक्षजातीयः सर्गां बोध्यइति । सर्वोऽप्ययं 'भौतिकः=स्थूलपञ्चभूतविकारात्मकः सर्गः कथ्यते  
इति ॥ शरीराऽतिरिक्ता घटादयोऽपि 'स्थावर'—पदेन संगृह्यन्ते—इत्याह—घटादयः इति । वयदीनां  
भोगायतनशरीरत्वाऽभावेऽपि स्थावरसर्गान्तर्भावो बोध्यः—'स्थावर'पदस्य 'तिष्ठन्ती'ति व्युत्पत्तेः  
वृक्षघटादयश्च संगृह्यन्तेइति भावः ॥ ५३ ॥

'ऊर्ध्वं सत्त्वविशाल'—इति कारिकाभवतारयति—भौतिकस्यास्येति । अस्य भूतविकारात्मक-  
स्य चेतनसम्बन्धिसर्गस्य, चेतन एव चैतन्यमात्मा तस्य उत्कर्षः=सत्त्वाधिक्यसम्बन्धः अपकर्षः=  
रजस्तमोऽन्यतराऽऽधिक्यसम्बन्धः तदात्मकाभ्यां तारतम्याभ्यां=भेदाभ्याम् ऊर्ध्वं=स्वर्गादौ अधः=  
पातालादौ मध्ये=भूतलादौ यः भावः=ब्रह्मसत्ता तेन त्रिविधवम् आहृत्यर्थः ॥ ऊर्ध्वमिति  
मूलम् । ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः सर्गः, मूलतः तमोविशालः सर्गः, मध्ये रजोविशालः सर्गः, (सोऽयं)  
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तो ( भवति ) इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—ऊर्ध्वं=भुवःस्वर्गं हर्जनतपःसत्यलोकेषु  
सत्त्वगुणो विशालो यत्रेति सत्त्वविशालः सत्त्वगुणप्रधानः सर्गांभवति । देवादयः सत्त्वप्रधाना इति  
भावः । मूलतः=अपकृष्टतायः अन्तिमस्थितितः,—मनुष्येभ्योऽपकृष्टाः पञ्चवस्ततः पक्षिणस्ततोवृक्षा-  
स्ततः लतास्तत्तत्तृणादय इत्येवं तृणादित आरभ्य पञ्चवधिकः पश्चादित्थावरान्तः तैर्यग्योनःसर्गः  
तमोगुण-प्रधानो भवति ॥ एवंमूलतः—पाताललोकतः आरभ्य—रसातलमहातलजलतलानुतलवितला-  
ऽतललोकपर्यन्तो नागदैत्यराक्षसादिसर्गोऽपि तमःप्रधानो बोध्यः । मध्ये=मध्यलोके भूतले तु मनु-  
ष्याणां सर्गः रजोगुणप्रधानो बोध्यः । सोऽयं ब्रह्मादितः—ब्रह्मादेर्विभृमनुष्याश्चन्द्रैवपशुपक्षिस्थ-



‘ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः’ इति । द्युप्रभृतिसत्यान्तो लोकः सत्त्वबहुलः । ‘तमोविशालश्च मूलतः सर्गः’ पदवादिस्थावरान्तः, सोऽयं मोहमयत्वात्तमोबहुलः । भूलोकस्तु सप्तद्वीपसमुद्रसन्निवेशो ‘मध्ये रजोविशालः’, धर्माधर्मानुष्ठानपरत्वाद् दुःखबहुलत्वाच्च । तामिमां लोकसंस्थितिं सङ्क्षिपति ‘ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः,’ स्तम्बग्रहणेन वृक्षादयः सङ्गृहीताः ॥ ५४ ॥

तदेवं सर्गं दर्शयित्वा तस्याऽपवर्गसाधनवैराग्योपयोगिनीं दुःखहेतुतामाह-

तत्र जरामरणकृतं दुःखम्प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।

लिङ्गस्याऽविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

लचरजलचरवृक्षर्तुणादिपर्यन्तः, स्तम्बः=गुच्छः तत्पर्यन्तः सर्गः संक्षिप्त इति ॥ तत्त्वकौमुद्यां ‘ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः’ इत्यस्यार्थमाह-द्युप्रभृतीति धौः-अन्तरिक्षं भूःसमिपे भुवर्लोकः तदारभ्य भुवःस्वर्गहस्तपःसत्यलोकपर्यन्तः सर्गः सत्त्वगुणप्रधान इत्यर्थः ॥ ‘तमोविशालश्च मूलतः सर्गः’ इत्यस्यार्थमाह-‘पदवादिस्थावरान्तः’ इति । पशुपक्षिमृगसरीसृपवृक्षलतादिस्थावरान्तः इत्यर्थः । सोऽयं=पदवादिस्थावरान्तोऽयं सर्गः, तमोगुणप्रधानो भवति, कुतः मोहमयत्वात्=मोहप्रधानत्वात्, मोहप्रधानेन तमोगुणप्राधान्यम् अनुमीयते इत्यर्थः ॥ पातालादितः अतलान्तो नागराक्षसादिसर्गोऽपि तामसोऽनुमातव्यः तामसमांसादिप्रियदर्शनात् ॥ ‘मध्ये’ इत्यनेन ग्राह्यमर्थमाह-भूलोकस्तु-इति स चाऽयं भूलोकः सप्त ये द्वीपाः जम्बू शक कुश क्रौञ्च शालमल प्लक्ष पुष्कराख्याः तथा सप्तसमुद्राः लवणे-क्षुरस-सुरा-सर्पि-र्दधि-मण्ड-क्षारस्वादूदकाः तेषां सम्यक् निवेशः=समावेशः स्थितिर्यत्र, एतादृशो मध्यलोकः रजोगुणविशालो भवति, यतः भूलोके मनुष्याणां धर्मः पुण्यं कर्म यज्ञदानादिः, अधर्मः=अपुण्यं कर्म हिंसामदिरादिः, तदनुष्ठानं=इति कर्तव्यता तत्परायणत्वात्, तत्र तत्र च दुःखस्याऽधिकांशदर्शनाच्च दुःखदोऽयं राजसः सर्ग इत्यनुमीयते इति भावः ॥ तामिमान्=दर्शितां चतुर्दशलोकेषु विभक्तान् संस्थितिम्=समीचीनां स्थितिं=स्थानानि, संक्षिपति=एकेनैव शब्देन दर्शयति-‘ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः’ इत्यर्थः । ब्रह्मदेवमनुष्यदैत्यपशुनागवृक्षलतादय इत्यर्थः । ‘स्तम्ब’-पदस्य ‘गुच्छ’-बोधकत्वात् वृक्षादिकमपि संगृह्णाति-वृक्षादयः संगृहीताः इति । चतुर्दशभुवनात्मकं ब्रह्माण्डमिदं विशिष्टसत्त्वरजस्तमः-सर्गात्मकं भवतीति फलितार्थः ॥ ५४ ॥

‘तत्र जरामरणकृतं’ इति कारिकामवतारयति-तदेवं सर्गमिति । भिन्नजातीयं भौतिकं सर्गं धर्माधर्माद्यात्मकं च भावसर्गं स्पष्टं दर्शयित्वा, तस्य=सर्गस्य, अपवर्गस्य मोक्षस्य साधनं=परम्परया प्रयोजकः यो वैराग्यः रागाभावस्तदुपयोगिनीं=तत्प्रयोजिकां दुःखहेतुताम्=दुःखजनकतामाहेत्यर्थः ‘सर्गो दुःखहेतु’ रिति ज्ञानेन ‘सर्गं रागाभावो’ जायते, रागाभावश्च रागं क्लेशं विरोधयन् तत्त्वज्ञानसहकारी भवति तेन मोक्षो भवतीत्यतः सर्गस्य दुःखजनकत्वं दर्शयतीति भावः ॥ ‘तत्र जरामरणकृतमिति मूलम् । तत्र लिङ्गस्याऽविनिवृत्तेः चेतनः पुरुषः जरामरणकृतं दुःखम् प्राप्नोति, तस्मात् स्वभावेन दुःखं (भवती) त्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-तत्र=विभिन्नजातीयसर्गां यशरिपु, लिङ्गस्य=सूक्ष्मशरीरस्य, अविनिवृत्तेः=निवृत्तेरभावात्, सूक्ष्मशरीरसम्बन्धस्य सर्वत्र सत्त्वादित्यर्थः, चेतनः=बुद्ध्यादिजडभिन्नोऽपि, पुरुषः, जरा=जर्जरीतावस्था अशक्तावस्था तथेति यावत्, मरणं=शरीरत्यागस्तेन च, कृतं=तन्निमित्तजं दुःखम्=आध्यात्मिकादिकम्, प्राप्नोति=मुंक्ते । तस्मात्=लिङ्गशरीरस्य सम्बन्धात् हेतोः, स्वभावेन=स्वस्य आत्मनः भावः-औपाधिकधर्मस्तेन, स्वाभाविकतया

‘तत्र’ इति । ‘तत्र’ शरीरादौ । यद्यपि विविधविचित्रानन्दभोगभागिनः प्राणभृ-  
ज्ज्ञेदाः, तथाऽपि सर्वेषां जरामरणकृतं दुःखमविशिष्टम् । सर्वस्य खलु क्रमेरपि मर-  
णत्रासो-‘मा न भूवम्’ ‘भूयासम्’ इत्येवमात्मकोऽस्ति । दुःखं च भयहेतुरिति दुःखं  
मरणम् । स्यादेतत्-दुःखादयः प्राकृता बुद्धिगुणाः, तत्कथमेते चेतनसम्बन्धिनो भव-  
न्तीत्यत आह-‘पुरुषः’ इति । पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः । लिङ्गं च तत्सम्बन्धीति  
चेतनोऽपि तत्सम्बन्धी भवतीत्यर्थः । कुतः पुनर्लिङ्गसम्बन्धि दुःखं पुरुषस्य=चेतनस्ये-  
त्यत आह-‘लिङ्गस्याऽविनिवृत्तेः’ पुरुषाज्ज्ञेदाग्रहालिङ्गधर्मानात्मन्यध्यवस्यति पुरुषः ।  
अथवा दुःखप्राप्तवधिराडा कथ्यते, लिङ्गं यावन्न निवर्तते तावदिति ॥ ५५ ॥

उक्तस्य सर्गस्य कारणविप्रतिपत्तीर्निराकरोति-

बुद्धधर्मः दुःखमात्मनि बुद्धियोगेन भवतिइत्यर्थः ॥ तत्त्वकौमुद्यां-‘तत्र’-पदस्यार्थमाह-‘शरीरादा-  
विति । विभिन्नशरीरेषु विभिन्नविषयेषु चेत्यर्थः ॥ सुखमपि भवतीति आद्यं सर्वसाधारणं जराम-  
रणदुःखं दर्शयति-यद्यपीत्यादिना । प्राणभृद्भेदाः=प्राणभृतां शरीरधारिणां चेतनानां भेदाः,  
विविधजातीया विचित्राः श्रेष्ठमध्यमादयश्च ये आनन्दाः स्यादिसुखविरोधास्तद्भोगः=तत्साक्षात्कारः,  
तं भजन्ते ये प्रतादृशाः सन्ति । तथापि सर्वेषां प्राणभृतां जरया कृतं मरणेन च कृतं दुःखं, अवि-  
शिष्टम्=समानम्, सुखानामसमानत्वेऽपि मरणदुःखानु समानमेवेति भावः ॥ मरणत्रासं दर्शयति  
सर्वस्येति । सर्वप्राणधारिणः अत्यन्ताऽज्ञस्य क्रमेरपि मरणस्य त्रासः=‘मा न भूवम्’=न अभूवम् इति  
मा=मम नाशो मा भवत्वित्यर्थः । ‘भूयासम्’-सर्वदा जीवानि-‘इत्येव’रूपया प्रतीत्याऽसिद्धयति ।  
भयस्य हेतुं दुःखं भयेनाऽनुमोयते-‘सर्वे, मरणदुःखवन्तः,-मरणत्रासवत्त्वादिति । तस्मात्  
मरणं दुःखमिति भावः ॥ दुःखस्य न आत्मधर्मत्वमिति शङ्कते-स्यादेतदिति । दुःखसुखमोहाः  
प्राकृताः=प्रकृतिः स्वभावः तन्न्याः स्वाभाविकाः बुद्धेर्धर्माः, तत्=तस्मात्-शुद्धेः स्वाभाविकत्वादिति  
हेतोः, एते=दुःखादयः, चेतनसम्बन्धवन्तः कथं=केन प्रकारेण भवन्तीत्यर्थः ॥ उत्तरयति-‘पुरुष’ इति  
चेतनस्य पुरुषत्वात्, पुरि=लिङ्गे शरीरे शेते, लिङ्गशरीरप्रधानभूतायां बुद्धौ प्रतिबिम्बरूपेण निवा-  
सकरणात्, लिङ्गं=लिङ्गशरीरं च तत्सम्बन्धि=दुःखादितादात्म्यं भवति अतः चेतनोऽपि स्वाश्रय-  
प्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन तत्सम्बन्धी तेषां दुःखादीनां परम्परया सम्बन्धी भवतीति भावः ॥ पृच्छति  
कुतःपुन-रिति । कुतः=कस्माद्भूतोः सर्वेषु सर्गेषु सर्वदा पुरुषस्य=चेतनस्य लिङ्गशरीरसम्बन्धि दुःखं  
भवतीत्यर्थः ॥ उत्तरयति-लिङ्गस्याऽविनिवृत्तेरिति । सर्वेषु सर्गेषु, लिङ्गशरीरस्य निवृत्तेरभावात्=  
अनुगमनसंभवात्, सर्वदा सर्वत्र सर्गेषु दुःखं सम्बध्यते इति भावः ॥ लिङ्गेन हाह वर्तमानस्य पुरु-  
षस्य भेदाऽग्रहात्मकं यदज्ञानं तेन दुःखं मन्यते इत्याह-पुरुषादिति । पुरुषप्रतियोगिकभेदस्य  
बुद्धौ अग्रहात् किन्तु ‘बुद्धिः आत्माऽभिन्ना’-इत्यभेदग्रहादिति भावः, लिङ्गस्य बुद्धेः धर्मान् दुःखा-  
दीन् पुरुषः आत्मनि=स्वस्मिन् अध्यवस्यति=निश्चिनोतीत्यर्थः । तथा च ‘अविनिवृत्ते’रित्यस्य अभेदाऽ-  
ग्रहादित्यर्थः-इति फलितमित्तिवाचस्पत्यभिप्रायः ॥ ‘लिङ्गस्याऽऽविनिवृत्ते’रित्यत्र-लिङ्गस्य आ-  
विनिवृत्तेरिति पदच्छेदं कृत्वा व्याचष्टे-अथवेति । आडा=‘आड’इत्यनेन ‘अविनिवृत्ते’रित्यर्थो बोध्यः,  
‘विनिवृत्ते’रित्यस्य ‘निवृत्ति’रित्यर्थः, तथा च लिङ्गशरीरस्य निवृत्तिपर्यन्तं दुःखस्य प्राप्तिर्वर्तते-  
इत्याह-लिङ्गं यावन्न निवर्तते इति । यावदवधि लिङ्गशरीरं न लीयते तावत्कालपर्यन्तं दुःखं  
विन्दते चेतनः-इत्यर्थः ॥५५॥

‘इत्येषः प्रकृतिभूत’-इति कारिकाभवतारयति-उक्तस्येति । दक्षितस्य सर्गस्य भावाख्यस्य



इत्येषः प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव पराथ आरम्भः ॥ ५६ ॥

‘इत्येष’ इति । आरभ्यते इति ‘आरम्भः’ सर्गः महदादिभूतान्तः प्रकृत्यैव कृतो, नेद्वरेण, न ब्रह्मोपादानः, नाप्यकारणः । अकारणत्वे ह्यत्यन्तभावोऽत्यन्ताभावो वा स्यात् । न ब्रह्मोपादानः, चित्तिशक्तेरपरिणामात्, नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतः, निर्व्यापारस्याऽधिष्ठातृत्वासम्भवात् । न हि निर्व्यापारस्तक्षा वास्याद्यधितिष्ठति । ननु

लिङ्गाख्यस्य च, मूलकारणस्य विप्रतिपत्तिः—ईद्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतो नवा’ ब्रह्मकारणं न वा, अकारणो नवेत्यादि विरुद्धवादमितानि, निराकरोति—प्रकृति कारणवादप्रतिपादनेन निराकृतानि बोध्यानीति दर्शयतीत्यर्थः ॥ ‘इत्येष’—इति मूलम् । इत्येषः, प्रकृतिकृतः महदादिविशेषभूतपर्यन्तः स्वार्थं इव प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं परार्थं आरम्भो (भवती) त्यन्वयः संक्षिप्तार्थः—इत्येवं एष—दर्शितो मूलप्रकृत्या तादात्म्येन स्वस्मादाविष्कृतः महत्तत्त्वमारभ्य विशेषभूतानि स्थूलभूतानि तत्पर्यन्तः—महत्तत्त्वाहंकारमनः श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्ध—पृथिवीजलवायुतेजोगगनात्मकः, स्वार्थं इव—स्वस्याऽर्थं प्रयोजने इव, पुरुषं पुरुषं प्रति इति प्रतिपुरुषं प्रति-पुरुषस्य यो विमोक्षः तदर्थं पुरुषस्य मोक्षदानाय । परार्थं—परस्य पुरुषस्यार्थं प्रयोजने ‘आरम्भः’ सृष्टिः—सर्गः, प्रकृत्या एव क्रियते इत्यर्थः ॥ तत्त्वकौमुद्यां—‘आरम्भ’पदव्युत्पादयति—आरभ्यते इति । आरभ्यते—आविर्भाव्यते यः सः ‘आरम्भः’ । ‘आरम्भ’पदस्यार्थः ‘सर्ग’ इति । स च महत्तत्त्वमारभ्य स्थूलभूतपर्यन्तः मूलप्रकृत्यैव कृत इति प्रतिज्ञातार्थः ॥ अन्योपादानकमतेषु माध्यादिमतं निरस्यति—नेद्वरेणेत्यादिना । न ईद्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतः इत्यर्थः ॥ शांकरमतं निरस्यति न ब्रह्मोपादान इति । ब्रह्म एवोपादानं यस्य तथोक्तेन भवतीत्यर्थः ॥ असत्कारणवादिवैद्वमंतं स्वभाववादिचार्वाकमतं निरस्यति—नाऽप्यकारण इति । नास्ति किञ्चिदपि भावात्मकं कारणं यस्य तथोक्तः—असत्कारणकः—स्वाभाविको वा इत्यपि न इत्यर्थः ॥ भावाऽकारणकत्वपक्षे दोषमाह—अकारणत्वे हीति । सर्गस्य अकारणकत्वे—असत्कारणकत्वे स्वाभाविकत्वे वा अत्यन्तं भावः—सर्वदा सत्त्वं—नित्यत्वमिति यावत्, स्यादित्यनेन अन्वयः, अथवा अत्यन्तं अभावः—सर्वदाऽसत्त्वं स्यादित्यर्थः ॥ ‘सर्गः’—न अकारणकः—व्यवस्थितकार्यत्वादिति फलितानुमानम् । न चेदमप्रयोजकं सर्गो यदि अकारणकः स्यात् तदा नित्यत्वं असत्त्वं वा स्यादित्यनुकूलतर्कसत्त्वात् ननु ब्रह्मोपादानकत्वे—सर्गस्यनोक्तो दोषो स्यातामतः ‘न ब्रह्मोपादान’इत्यनेन निषिद्धमपि ब्रह्मोपादानकत्वं पुनर्निषिध्य दोषं दर्शयति—न ब्रह्मोपादानः चित्तिशक्तेरपरिणामादिति । चित्तिशक्तेः चेतनस्य ब्रह्मणोऽपरिणामिनः परिणामस्यैवाऽसंभवात् सर्गस्योपादानकारणत्वं तत्र न संभवतीत्यर्थः, संभवे वा ब्रह्मत्वं व्याहन्येतेति भावः ॥ तथा च प्रयोगः ‘ब्रह्म, न जगत्कारणम्,—अपरिणामित्वादिति ॥ ननु प्रकृतिरेवेद्वराधिष्ठिता सती सर्गं करिष्यतीत्यस्मिन्मते न पूर्वोक्ता दोषाः स्थिरतः ईद्वराधिष्ठितप्रकृतिकारणकत्वमपि पुनर्निषिध्य दूषयति—नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतः निर्व्यापारस्याऽधिष्ठातृत्वाऽसंभवादिति । व्यापारः क्रिया, आत्मनो निर्धर्मकस्य व्यापारशून्यस्य अधिष्ठातृत्वस्यैवाऽसंभवात् ईद्वरस्य सुतरामधिष्ठातृत्वाऽसंभवश्च नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिजन्यो भवितुमर्हति सर्गः ॥ तथा च—प्रयोगः—‘ईश्वरः—प्रकृत्यधिष्ठाता भवितुं नार्हति, निर्व्यापारत्वादिति ॥ निर्व्यापारस्याऽधिष्ठातृत्वाऽसंभवं दृष्टान्तेन दर्शयति—न हीति । निर्व्यापारः क्रियारहितः तक्षा—वर्धकिः, वास्यादि—वाशुकोठा-

प्रकृतिकृतश्चेत्, तस्या नित्यायाः प्रवृत्तिशीलाया अनुपरमात् सदैव सर्गः स्यादिति न कश्चिन्मुच्येतेत्यत आह—‘प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः’ इति । यथौदनकाम ओदनाय पाके प्रवृत्तः ओदनसिद्धौ निवर्तते,—एवं प्रत्येकपुरुषान् मोचयितुमप्रवृत्ता प्रकृतिर्यं पुरुषं मोचयति तमप्रति पुनर्न प्रवर्तते, तदिदमाह—‘स्वार्थं इव’, स्वार्थं यथा तथा परार्थं आरम्भ इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

स्यादेतत्—‘स्वार्थं परार्थं वा चेतनः प्रवर्तते । न च प्रकृतिरचेतनैवं भवितुमर्हति, तस्मादस्ति प्रकृतेरधिष्ठाता चेतनः । न च क्षेत्रज्ञाश्चेतना अपि प्रकृतिमधिष्ठातुमर्हन्ति, तेषां प्रकृतिस्वरूपानभिज्ञत्वात् । तस्मादस्ति सर्वार्थदर्शो प्रकृतेरधिष्ठाता, स चेश्वरः’ इत्यत आह—

रादिकम् न अधितिष्ठतीति, किन्तु सक्रिय एवाऽधितिष्ठति न त्वक्रियब्रह्मेश्वरादिः इति भावः ॥ प्रकृति-कारणवादेऽपि शङ्कते—ननु प्रकृतिकृतश्चेदिति । यदि प्रकृतिकृतः सर्गस्तदा तस्याः प्रकृतेः नित्यायाः प्रवृत्तिस्त्वभाववत्याः, सर्वदा अनुपरमात्=उपरमशून्यत्वात्=प्रवृत्तिमत्त्वात्, सदैव=नित्यपव सर्गः स्यात्, इति तथा च सति, न कश्चिदप्यात्मा, मुच्येत=विमुक्तो भवेदित्यापत्तिः स्यादित्याशङ्कार्थः ॥ उत्तरयति—प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भ इति । स्वार्थं इव, न तु स्वार्थं, प्रकृतेः स्वार्थाऽभावात्, ‘स्वार्थं श्वेतं दृष्टान्तं दर्शितम्’, तथा च यथा,—‘कान्ता चेतना ‘अहं पुरुषेण भोग्या भवान्तीति’ स्वकर्मकमोगारूपे स्वार्थं प्रवर्तते, तथा पुरुषं पुरुषं प्रतीतिं प्रतिपुरुषं प्रतिपुरुषस्य विमोक्ष-स्तदर्थम्, पुरुषायाऽपवर्गो दातव्यः इति परार्थः तस्मिन् प्रकृतिः प्रवर्तते, तथा च प्रथमं भोगं प्रदाय पश्चात् परार्थं मोक्षमपि दास्यतीति—भोगार्थमपवर्गार्थं च आरम्भः=सर्गः क्रियते इत्यर्थः, अतो न अमोक्षापत्तिरिति भावः ॥ तदेतत् दृष्टान्तेन उपपादयति—यथौदनेति । यथा ओदनकामः पुरुषः ओदनकरणार्थं पाके प्रवृत्तः सन् ओदनस्य सिद्धौ=विविलितिभावे सिद्धे सति निवर्तते तथा प्रकृतिः पुरुषान्=प्रत्येकं प्रत्येकं पुरुषं, मोचयितुम्=मुक्तिं दातुं प्रवृत्ता सती यं पुरुषं मोचयति=भोगदत्त्वा मुक्तिं ददाति—निवर्तते इति यावत्, तं पुरुषं प्रति पुनर्भोगदानाय न प्रवर्तते इत्यर्थः ॥ एनमर्थं दृष्टान्तेन दर्शयितुमुक्तं ‘स्वार्थं इवेति । यथा चेतना कान्ता स्वार्थं भोग्यतासम्पादनेऽनुकूला भवति, तथा प्रकृतेः स्वार्थाऽभावेऽपि स्वार्थं इव=स्वकार्यं इव=अपवर्गात्मके परार्थं सदैवाऽनुकूला भवति न तु परार्थं विहन्ति, तथा च केवलप्रकृतिकारणवादे पुरुषस्य न अमोक्षाऽपत्तिरिति भावः ॥ ५६ ॥

‘वत्सविद्वद्विनिमित्त’मितिकारिका शङ्कान्याजेनाऽवतारयति—स्यादेतदिति । इयं माध्व-शैवाशाश्रयतादिमतेनाऽऽशङ्का, यश्चेतनः स एव स्वार्थं=स्वप्रयोजनाय परार्थं=परप्रयोजनाय वा प्रवर्तते, तथाचानुमानम्—‘प्रवृत्तिः,—चेतनप्रयुक्ता, प्रवृत्तित्वात्, देवदत्तप्रवृत्तिवदिति ॥ प्रकृतिस्तु अचेतना जडाऽस्ति, सा एव भवितुम्=स्वप्रयोजनाय परप्रयोजनाय वा प्रवर्तितुं, नाऽहति, तस्मात्=प्रवर्तना-ऽनर्हत्वादेव हेतोः, जडायाः प्रकृतेः प्रवर्तकः कश्चित् स्वप्रयोजनकः परप्रयोजनकश्च चेतनः अधिष्ठाता-ऽस्ति तथाचानुमानम्—‘प्रकृतिप्रवृत्तिः,—चेतनप्रयुक्ता,—प्रवृत्तित्वात्,—रथप्रवृत्तिवदिति ॥ ननु क्षेत्रं=शरीरं जानन्ति ये ते क्षेत्रज्ञाः जीवात्मकाश्चेतना एव प्रकृतेरधिष्ठातारो भविष्यन्ति,—इत्यतस्तन्निषेध-ति—न चेति । क्षेत्रज्ञाश्चेतनाः=क्षेत्रेण शरीरेण स्थूलेन सूक्ष्मेण चापितं विषयं जानन्ति साक्षात्कुर्वन्ति ये ते क्षेत्रज्ञाः जीवाः अपि प्रकृतिम् अधिष्ठातुं नाऽहन्ति ॥ तत्र हेतुमाह—तेषामिति । जीवा-नाम् अल्पज्ञानां प्रतिक्षेत्रभिन्नानां सर्वक्षेत्रसामानं विभु यत् प्रकृतेः स्वरूपं बहुरूपापन्नं तस्याऽन-



वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरहस्य ।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

‘वत्सविवृद्धिनिमित्तम्’ इति । दृष्टमचेतनमपि प्रयोजनमप्रति प्रवर्तमानम्, यथा वत्सविवृद्धयर्थं क्षीरमचेतनं प्रवर्तते । एवमप्रकृतिरचेतनाऽपि पुरुषविमोक्षणाय प्रवर्तिष्यते । न च-‘क्षीरप्रवृत्तेरपीश्वराधिष्ठाननिबन्धनत्वेन साध्यत्वान्न साध्येन व्यभिचारः’-इति साम्प्रतम् । प्रेक्षावतः प्रवृत्तेः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्यासत्वात् । ते च जग-

भिज्ञत्वात्=ज्ञानशून्यत्वात् तथा चानुमानम्—‘क्षेत्रज्ञः,—न प्रकृतिप्रवर्तकः,—तत्स्वरूपाऽनभिज्ञत्वादिति । तस्मात्=प्रकृतिस्वरूपाऽनभिज्ञतया जीवानां तदधिष्ठातृत्वाऽसंभवाद्देतोः प्रकृतेरधिष्ठाता सर्वेषु सर्वसर्गान्तरशरीरेषु ये येषां प्रयोजनानि तेषां दशां प्रत्यक्षद्रष्टा कश्चिदस्तीति अनुमातव्यः तथाचानुमानम्—प्रकृतिप्रवृत्तिः,—कारणाऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतमदधिष्ठातृप्रयुक्ता,—कार्यानुकूलप्रवृत्तित्वात्,—चक्रप्रवृत्तिवत् ॥ स च=सः सर्वार्थद्रष्टा ईश्वरः=परमात्मैव कल्पनीयः, तथा च प्रकृतिः परमात्माऽधिष्ठिता सती प्रवृत्तिं करिष्यतीति—आशंकाऽर्थः ॥ तत्त्वण्डनायाह—‘वत्सविवृद्धिनिमित्तमिति मूलम् । यथा वत्सविवृद्धिनिमित्तम् अश्वस्य क्षीरस्य प्रवृत्तिः, तथा पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्य प्रवृत्तिः ( भवती ) त्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—अचेतनस्यापि परप्रयोजनाय प्रवृत्तिर्भवति यथा वत्सस्य विवृद्धेः निमित्तं, अश्वस्य=वत्सस्वरूपाऽनभिज्ञस्य जडस्यापि क्षीरस्य=गोदुग्धस्य प्रवृत्तिर्भवति, तथैव पुरुषस्य=शरीरस्थस्य चेतनस्य विमोक्षस्य निमित्तं अचेतनस्य=जडयाः प्रकृतेरपि प्रवृत्तिर्भवतीति । अयं भावः,—क्षीरप्रवृत्तौ=प्रवृत्तित्वं वर्तते तत्र चेतनप्रयुक्तत्वं नास्तीति व्यभिचारात्, प्रवृत्तित्वं प्रकृतिप्रवृत्तावपि चेतनप्रयुक्तत्वं साधयितुं नर्हतीति चेतनाऽनधिष्ठितैव क्षीरवत्प्रवर्तते पुरुषमोक्षार्थं प्रकृतिरिति भावः ॥ तत्त्वकौमुद्यां ‘वत्सविवृद्धिनिमित्तमिति’ मिति व्याख्याति—दृष्टमिति । यथा चेतनः प्रयोजनाय प्रवर्तते तथा अचेतनं=जडमपि वस्तु, प्रयोजनं प्रति=स्वार्थं परार्थं वा प्रति, प्रवर्तमानं दृष्टं भवति लोके, यथा वत्सस्य स्तनं धयस्य विवृद्धयर्थं=जीवनार्थम्, अचेतनं=जडमपि वत्सस्वरूपाऽनभिज्ञमपि, क्षीरं=दुग्धं, प्रवर्तते=स्तनाद्वह्निनिःसरणात्मिकां प्रवृत्तिं करोति । एवम्=तद्वत्, अचेतनाऽपि=जडाऽपि प्रकृतिः, पुरुषस्य=शरीरस्थस्य जीवात्मनः, विमोक्षणार्थं=मुक्त्यर्थम्, प्रवर्तिष्यते=भोगाऽपवर्गानुक्लां प्रवृत्तिं करिष्यतीत्यर्थः ॥ तथा च ‘क्षीरप्रवृत्तौ प्रवृत्तितात्मको हेतुर्वर्तते तत्र चेतनप्रयुक्तत्वात्मकं साध्यं नास्ति’-इति ‘प्रकृतिः—चेतनप्रयुक्ता,—प्रवृत्तित्वात्,—देवदत्तप्रवृत्तिवदित्यनुमाने व्यभिचारात् प्रवृत्तित्वं प्रकृतिप्रवृत्तावपि चेतनप्रयुक्तत्वं साधयितुं नाऽलं भवतीति भावः ॥ ईश्वराऽधिष्ठितप्रकृतिकारणवादी व्यभिचारं वारयति—न च—‘क्षीरेत्यादिना । क्षीरस्य=दुग्धस्य, प्रवृत्तेः=वह्निनिःसरणक्रियायाः, अपि, सर्वत्र व्यापको य ईश्वरस्तस्य दुग्धमप्यधिष्ठानं भवत्येवेति—ईश्वराधिष्ठितप्रयुक्तत्वेन साध्यत्वात्=क्षीरप्रवृत्तावपि ईश्वराधिष्ठितप्रयुक्तत्वस्य साध्यत्वात्, साध्यस्य च सन्दिग्धतया सन्दिग्धं यत् चेतनप्रयुक्तत्वं (चेतनाधिष्ठानप्रयुक्तत्वं) साध्यं तद्वत्तया क्षीरस्यापि पक्षान्तर्गतत्वेन, साध्येन=साध्येतेऽस्मिन्निति साध्यं पक्षस्तेन पक्षेण क्षीरेण, व्यभिचारः=साध्याऽभाववद्दृष्टिहेतुः—इति साधारणव्यभिचारो दोषः, न उद्भावयितुं शक्यः, नहि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारो दोषत्वेनाऽभिधीयते—इति नियमात्, यदि तत्राऽप्यभिधीयते दोषः, तर्हि तु पक्षे सर्वत्र सर्वदैव साध्यस्य सन्दिग्धत्वेनाऽनुमानमात्रोच्छेदप्रसंगः स्यादिति, ‘न च’—‘तदेतद्व्यभिचारवारणं’—‘साम्प्रतमित्यन्वयः ॥ ननु कुतो न’—‘साम्प्रतम् ? इत्यतस्तत्र हेतुभाह—प्रेक्षावतः इति । प्रेक्षावतः=कारणाऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतमप्रयुक्तायाः,

सर्गाद्व्यावर्तमाने प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वमपि व्यावर्तयतः । न ह्यवाससकलेप्सितस्य भगवतो जगत् सृजतः किमप्यभिलषितम्भवति । नाऽपि कारुण्यादस्य सर्गे प्रवृत्तिः, प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम् ? सर्गात्तरकालं दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वं दूषणम्,—कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति । अपि च करुणया प्रेरित ईश्वरः सुखिन एव जन्तून् सृजेन्न विचित्रान् । 'कर्मवैचित्र्याद्वैचित्र्यम्' इति चेत् कृतमस्य

प्रवृत्तेः=कार्यानुकूलक्रियायाः, स्वार्थः=स्वप्रयोजनं कारुण्यं च=दयालुता-ताभ्यां व्याप्तत्वात्=व्याप्यत्वात्, तथा चानुमानं-‘पाकाययिका देवदत्तप्रवृत्तिः,—क्षुभिवृत्तिरूपस्वार्थप्रयुक्ता,—प्रवृत्ति-त्वात्, मदीयपाकायप्रवृत्तिवदिति’ । एवं च सति कारणाऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिसांभवेतनः ईश्वरो भवितुं नाऽर्हति,—स्वार्थकारुण्यशून्यत्वात्, क्षेत्रज्ञानां जीवात्मनाम् प्रवर्तकत्वस्य तु त्वयैव तत्स्वरूपाऽनभिज्ञत्वेन हेतुना खण्डितत्वात्, अतः ईश्वराद्यनधिष्ठिता प्रकृतिरेव प्रवर्तते इति भावः॥ जगत्सर्गे व्याप्यस्वार्थकारुण्याऽभावात् प्रेक्षावदधिष्ठितप्रवृत्तिमत्त्वात्मकन्यापकस्याऽप्यभाव एवेति रफुटं दर्शयति—ते चेति । ते च=व्याप्ये स्वार्थकारुण्ये च, जगतः सर्गात् व्यावर्तमाने=जगत्सर्गेऽवर्तमाने सती, व्यापकं यत् प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वं=प्रेक्षा=कारणाऽपरोक्षज्ञानं तद्विश्वेतनो माध्या-यभिमत ईश्वरः—तस्य प्रवृत्तिः=प्रयत्नः तदूर्वकत्वं=तत्प्रयुक्तत्वं=तद्वृत्त्यन्वयमिति यावत्, तदपि व्यावर्तयतः=तस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वस्यापि व्यावृत्तिं कुरुतः, तथा च ईश्वरस्य स्वार्थकारुण्यरहित-त्वात् प्रवृत्तिमत्प्रकृत्यधिष्ठानत्वाऽसंभव इति भावः ॥ ईश्वरस्य स्वार्थोऽसंभवीति दर्शयति—न ह्यवा-प्तेति । स्वार्थः प्रयोजनं अप्राप्तं फलं सुखादिकमभिलष्य प्रवर्तते जनः, भगवतः=ईश्वरस्य तु, अवा-प्तानि सदा प्राप्तानि सकलानि दम्पितानि येन सः तथोक्तस्य जगत् सृजतः=जगत्सर्गे प्रवृत्तस्य, किमपि अभिलषितं=प्रयोजनं स्वार्थं इति यावत्, नहि अस्ति, पूर्णकामस्य अत एव प्रयोजनशून्यस्य—निःस्वा-र्थेश्वरस्य जगत्सर्जने न कोऽपि स्वार्थोऽस्तीति भावः ॥ कारुण्यमपि निषेधति—नाऽपीति । अस्य ईश्वरस्य कारुण्यादपि=दयालुतामात्रतः सर्गे प्रवृत्तिरपि न संभवतीत्यर्थः ॥ तत्र अन्योन्याश्रयदूषणा-पत्तिरूपं हेतुमाह—प्राक् सर्गादिति । सर्गात् प्राक्=सर्गाग्रागभावसमये, जीवचेतनानाम् यानि श्रोत्रादीन्येकादशेन्द्रियाणि स्थूलसूक्ष्मशरीरे शब्दादिविषयाश्च भोग्यास्तेषाम् अनुत्पत्तौ तत्प्रयुक्तस्य दुःखस्याऽप्यभावेन हातुं योग्यस्य दुःखस्याऽप्यभावादेव तदानो कस्य ( दुःखस्य ) प्रहाणेच्छा-हननेच्छात्मकं कारुण्यं ईश्वरस्य संभवेत् ? न सम्भवेदिति भावः । यद्युच्येत—सर्गस्योत्पत्तेरुत्तर-स्मिन् काले जीवान् दुःखिनोऽवलोक्य ईश्वरस्य कारुण्यं भवति तेन च प्रकृतिं प्रवर्तयति इति, तदा तु श्रुतेतराश्रयत्वम्=अन्योन्याश्रयाख्यो दोषः आपद्येत, तद्यथा—सृष्ट्या कारुण्यं जातं कारु-ण्येन च सर्गप्रवर्तयतीति ॥ ईश्वरस्य कारुण्यवत्त्वे दूषणान्तरमप्याह—अपि चेत्यादिना । यदि च करुणया प्रेरितः=उत्तेजितः, ईश्वरः सृष्टिं प्रकृतिद्वारिकां कुर्यात् तर्हि जन्तून्=प्राणिनः, सुखिन एव सृजेत्, न तु विचित्रान्=विभिन्नसुखदुःखमोहादिमतः सृजेदिति । तथा च सर्वजगतः सुखैक-गुणकत्वापत्तिः त्रिगुणकत्वव्याहतिश्चेति दोषो भवतः इति भावः ॥ अथ उच्येत—‘प्राणिनां शुक्ल-कृष्ण-शुक्लकृष्ण-त्मककर्मणः वैचित्र्यात्=विविधप्रकारत्वात् तत्सहायः ईश्वरः प्राणिनां वैचित्र्यं =‘सुखिनः कांश्चित् कांश्चित् दुःखिनो मोहिनस्तथा’—इति सृजेत्’—इति चेत् ! तर्हि धर्माधर्माद्य-दृष्टप्रयुक्ताया एव सर्गप्रवृत्त्युपपत्तेः प्रेक्षावतः=कारणाऽपरोक्षज्ञानादिमतः अस्य=ईश्वरस्य, कर्मा-धिष्ठानेन=कर्म क्रिया-कार्यानुकूला प्रवृत्तिः तद्वत्प्रकृत्यधिष्ठानेन कृतम्=अलम्,—पुण्यापुण्यादिकर्म-



प्रेक्षावतः कर्माधिष्ठानेन, तदनधिष्ठानमात्रादेवाऽचेतनस्याऽपि कर्मणः प्रवृत्त्यनुपपत्तो-  
स्तत्कार्यशरीरेन्द्रियविषयानुत्पत्तौ दुःखानुत्पत्तेरपि सुकरत्वात् । प्रकृतेस्त्वचेत-  
नायाः प्रवृत्तेर्न स्वार्थानुग्रहो न वा कारुण्यप्रयोजकमिति नोक्तदोषप्रसङ्गावसरः ।  
पारार्थ्यमात्रं तु प्रयोजकमुपपद्यते । तस्मात् सुष्टूक्तम्-‘वत्सविवृद्धिनिमित्तम्’ इति ५७  
‘स्वार्थ इव’-इति (का ५६) दृष्टान्तितम्, तद्विभजते-

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।

पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

णैव प्रकृतेः प्रवृत्त्युपपत्तौ अधिष्ठातृत्वेन प्रवर्तकोऽभिमत ईश्वरोऽन्यथासिद्ध इति दूषणान्तरमिति  
भावः ॥ यद्युच्येत प्राणिनां कर्माप्यचेतनत्वात्तदपीश्वराधिष्ठितमेव प्रकृतिं प्रवर्तयति अतो नाऽ-  
न्यथासिद्धत्वमिति, तर्हि “कारुण्यं दुःखेन जायते, दुःखं शरीरविषयादिना, शरीरादिकं च सक-  
रुणेश्वराधिष्ठितकर्मवैचित्र्यात्, तत्र च कारुण्यं दुःखेनेति चक्रकाऽऽपत्तिर्दुवारैव ॥ किञ्च तव ( मा-  
ध्वादेः ) मते कारुण्यस्यैवाऽनुपपत्तेः तत्प्रयुक्तस्येश्वरस्याऽधिष्ठातृत्वस्यैवाऽसंभवात् सृष्टिरेवानु-  
पपद्येतेत्याह-तदनधिष्ठानेत्यादिना सुकरत्वादित्यन्तेन । सर्गप्राक्क्षणे कर्मजन्यशरीराद्यभा-  
वात् दुःखाभावेन कारुण्याऽनुपपत्तेः तत्प्रवर्तितेश्वरस्य तदानां क्षणे कर्माऽधिष्ठातृत्वाऽसंभवात्,  
तदानां क्षणे ‘तदनधिष्ठानमात्रादेव’-तस्य ईश्वरस्य यदनधिष्ठानम्, कर्मणि अनधिष्ठितस्त-  
न्मात्रात् एव, तत्र ईश्वराऽधिष्ठितकर्मप्रवर्तकतावादिनः मते अचेतनस्य=जडस्य, कर्मणः=  
ईश्वराऽनधिष्ठितस्य शुक्लाऽशुक्लादिकर्मणः, प्रवृत्त्यनुपपत्तेः=सृष्टयनुकूलक्रियात्मिकायाः प्रवृत्तेः  
अनुपपत्तेः=अनुपपन्नत्वात्, तत्कार्यशरीरेन्द्रियविषयाऽनुत्पत्तौ=तस्य=विचित्रकर्मणः कार्यं  
यत् शरीरमिन्द्रियाणि विषयाश्च तेषामपि अनुत्पत्तौ=अनुत्पन्नत्वात्, दुःखानुत्पत्तेः=दुःखस्याऽपि  
अनुत्पत्तेरपि, सुकरत्वात्=सुतराम् उपपद्यमानत्वात्, कारुण्यमेव नोत्पद्येत, कारुण्याऽभावाच्चे-  
श्वरो न कर्माणि प्रवर्तयेदिति कदापि सृष्टिरेव नोत्पद्येतेति भावः ॥ क्षीरस्येव जडस्य चेतनाऽन-  
धिष्ठितस्य प्रवृत्तिवादीनामस्माकं सांख्यमते तु अचेतनायाः=जडायाः, प्रकृतेः=मूलकारणस्य  
प्रधानस्य, सृष्टयनुकूलायाः प्रवृत्तेः प्रयोजको न-स्वार्थानुग्रहः=स्वस्याः प्रकृतेर्योऽर्थः प्रयोजनं  
तस्य अनुग्रहः=सिद्धिः, प्रकृतेः प्रवृत्तौ स्वार्थसिद्धिरपि न प्रयोजिका, तस्याः स्वार्थाऽभावात्,  
न वा कारुण्यं=दुःखग्रहाणेच्छा वा न प्रयोजिका, अनावश्यकत्वात्, तथा च अचेतनानां  
क्षीरजलवाद्यादीनां सर्वत्र स्वार्थकारुण्याभ्यां विनैव प्रवृत्तिर्दृष्टा तद्वत् अचेतनाया अपि स्वार्थकारु-  
ण्याभ्यामन्तरेणैव प्रवृत्तिकल्पनाया युक्तत्वात् नोक्तदोषप्रसङ्गाऽवसरः=ईश्वरवादिमते उक्ताः=  
प्रयुक्ता ये अन्योन्याश्रय-चक्रकाऽन्यथासिद्धि-सृष्ट्युच्छेदादिदोषास्तेषां प्रसङ्गस्य=संभवनानाया अपि  
अवतारः=प्राप्तिः, न भवति सांख्यमते इति भावः ॥ ननु तर्हि किं प्रवर्तकमित्याकाक्षायामाह-  
पारार्थ्यमात्रं तु प्रयोजकमिति । परस्य पुरुषस्य अर्थः प्रयोजनं मोक्षः स एव प्रयोजकः सर्ग-  
प्रवृत्तावित्यर्थः । उपसंहरति-तस्मादिति । ईश्वराधिष्ठितप्रकृतिकारणत्वादिवादिमते अन्योन्या-  
श्रयादिदोषवत्त्वात् सांख्यमते च दोषगन्धाऽनवकाशात् हेतोरित्यर्थः । ‘वत्सविवृद्धिनिमित्तम्’ इति  
सुष्टूक्तं सांख्याचार्यैः, वत्सविवृद्ध्यात्मकपरार्थं दुग्धं यथा प्रवर्तते तथा प्रकृतिरपि चेतनाऽनधि-  
ष्ठितैव प्रवर्तयति इति सयुक्तिकं निर्दुष्टमभिहितमिति भावः ॥ ५७ ॥

“औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं” इति कारिकाप्रवर्तयति-‘स्वार्थ इव, इति यत् दृष्टान्तितमिति ।

तदु=दृष्टान्तं, विभजते=पृथक्कारिकया स्पष्टयतीत्यर्थः ॥ औत्सुक्येति मूलम् । यथा लोकः

‘औत्सुक्य’ इति । औत्सुक्यमिच्छा, सा खल्विष्यमाणप्राप्तौ निवर्तते । इष्यमाणश्च स्वार्थः, इष्टलक्षणत्वात् फलस्य । दार्ष्टान्तिके योजयति-पुरुषस्य ‘विमोक्षार्थम्प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्’ इति ॥ ५८ ॥

ननु भवतु पुरुषार्थः प्रकृतेः प्रवर्तकः, निवृत्तिस्तु कुतस्त्या प्रकृतेः ? इत्यत आह-  
रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।

पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाशय विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

‘रङ्गस्य’ इति, स्थानेन स्थानिनः पारिषदानुपलक्षयति । ‘आत्मानम्’ शब्दा-

औत्सुक्यमिच्छत्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते, तद्वत् अव्यक्तं पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते-इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-यथा लोकः=जनः, स्वस्य औत्सुक्यम् इच्छा तस्या निवृत्त्यर्थं=शान्त्यर्थम्, क्रियासु-  
=इष्यमाणेषु कर्तव्येषु, प्रवर्तते=प्रवृत्तिं करोति । तद्वत्=तथा, अव्यक्तं=मूलप्रकृतिः, पुरुषस्य जेत-  
नस्य, विमोक्षार्थं=भोगं दत्त्वा मुक्तिदानार्थं, प्रवर्तते=सर्गं करोतीति । तत्त्वकौमुद्याम्-‘औत्सुक्य’पदस्यार्थमाह-इच्छेति । ‘इदं मे भवत्वित्याकारा ज्ञानविततिः बुद्धिधर्म इच्छा । सा=इच्छा, इष्यमाणस्य प्राप्तौ=इष्यमाणस्य=स्ववृत्तितया इष्यमाणस्य प्रयोजनस्य, प्राप्तौ=सिद्धौ सत्याम्, निवर्तते=शान्ता भवति । तथा च यदिपयकं ज्ञानं तद्विषयिणो इच्छा जायते, यदिपयिणीच्छा तद्वि-  
षयिणी प्रवृत्तिर्जायते, इच्छायाः शमने सति प्रवृत्तिरपि शान्त्यतीति भावः ॥ इष्यमाणपदार्थमाह-  
इष्यमाणश्च स्वार्थ इति । स्वस्य अर्थः प्रयोजनम्-स्वार्थ इत्यर्थः ॥ अथ पदार्थोऽपि इष्यमाणो भवतीत्यतः ‘स्वार्थ’पदस्य स्वार्थपरार्थोभयसाधारणमर्थमाह-इष्टलक्षणत्वात्फलस्येति । तथा च ‘स्वार्थ’इत्यस्य ‘इष्टलक्षणं फल’मित्यर्थः । इष्टत्वम्-इच्छाविषयत्वं तदेव लक्षणं यस्य फलस्य तत् फलम् इष्टलक्षणमित्युच्यते इत्यर्थः । पञ्चमीषष्ठोविभक्त्योः प्रथमाविभक्तौ व्यत्यासात् जनः स्वार्थे पदार्थे वा यत्र प्रवर्तते स स्वार्थः परार्थश्च तस्य इष्टलक्षणं फलं भवति, अतस्तत्र लोकः प्रवर्तते-इत्यर्थः ॥ लोकप्रवृत्त्यात्मकं दृष्टान्तं व्याख्याय प्रकृतिप्रवृत्त्यात्मके दार्ष्टान्तिके योजनं दर्शयति-  
‘पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तमिति ॥ तथा च दृष्टान्तं लोकप्रवृत्तिर्यथा इष्यमाणे फले भवति तद्वत्=तथैव, अव्यक्तस्य मूलकारणस्य प्रधानस्यापि, प्रवृत्तिः पुरुषमोक्षार्थं सर्गे भवतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

‘रङ्गस्य दर्शयित्वे’तिकाविकामवतारयति-ननु भवत्विति । प्रकृतेः=प्रधानस्य, प्रवर्तकः=सर्गविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकः, पुरुषार्थः=मोक्षात्मकोऽर्थ एव, भवतु=अस्तु=स्वीक्रियते-इति यावत् । परन्तु सर्गात् प्रकृतेर्निवृत्तिः कुतस्त्या=कस्मात् भवति ! किमप्युक्ता भवतीति यावत् ॥ इत्यत आह-इत्याकांक्षायामाहेत्यर्थः ॥ रङ्गस्येति मूलम् यथा नर्तकी रङ्गस्य (नृत्यात्मानं) दर्शयित्वा नृत्यात् निवर्तते, तथा प्रकृतिः पुरुषस्य आत्मानं प्रकाशय विनिवर्तते-इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-‘रङ्गस्य’ ‘पुरुषस्ये’त्युभयत्र कर्मणि षष्ठी, ‘रङ्गाय’ ‘पुरुषाय’नेत्यर्थः । यथा नर्तकी=नृत्यकारिणी, रङ्गस्य=रङ्गाय=रङ्गस्थदर्शकेभ्यः नृत्यं कुर्वन्ती स्वां, दर्शयित्वा=प्रदर्श्य, नृत्यात्=नृत्यात्मकाकार्यात्, निवर्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषस्य=पुरुषाय, आत्मानं=सर्गद्वारा भोगदां स्वाम्, प्रकाशय=प्रदर्श्य, विनिवर्तते=विशेषेण अत्यन्तं निवर्तते, मोक्षं ददातीति भावः ॥ तत्त्वकौमुद्यां ‘रङ्ग’पदस्य मुख्यार्थस्य स्थानस्य दर्शनेन सहाऽन्वयाऽसंभवात् लाक्षणिकमर्थमाह-स्थानेनेति । रङ्गः=परिषत्स्थानम्, तेन स्थानेन, स्थानिनः=स्थाने स्थिता ये दर्शकास्तान्, पारिषदान्=परि-



आत्मना पुरुषाद्भेदेन च प्रकाश्येत्यर्थः ॥ ५९ ॥

स्यादेतत्-‘प्रवर्ततामप्रकृतिः पुरुषार्थम् । पुरुषादुपकृतामप्रकृतिर्लप्स्यते कञ्चिदुप-  
कारम्, आज्ञासम्पादनाराधितादिवाज्ञापयितुर्भुजिष्या । तथा च न परार्थाऽस्या  
आरम्भः’ इत्यत आह—

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।

गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्याऽर्थमपार्थकञ्चरति ॥ ६० ॥

“नाना-”इति । यथा गुणवानप्युपकार्यपि भृत्यो निर्गुणोऽत एवाऽनुपकारिणः

पत्स्यान्, उपलक्षयति=उप समीपस्थम् शक्यार्थसम्बद्धमर्थं-परिपत्त्यदर्शकात्मकम्, लक्षणया  
बोधयतीत्यर्थः ॥ दृष्टान्तार्थस्तु उपरि दर्शितो बोध्यः ॥ ननु अव्यक्तरूपायाः प्रकृतेः कथम् अभि-  
व्यक्ततात्मकः प्रकाश इत्याकांक्षायाम्-‘आत्मानम्’-इतिप्रतीकमुपादाय कार्यात्मकतया प्रकाशनम्  
प्रदर्शयति-‘आत्मानम्’ शब्दाद्यात्मना पुरुषाद्भेदेन चेति । ‘शब्दस्पर्शादिविषयात्मकसर्गात्मना  
‘आत्मानम्’-स्वाम्, पुरुषाय प्रकाश्य=भोगं दत्त्वा, पुरुषाद्भेदेन च प्रकाश्य=आत्मा प्रकृति-  
भिन्न-’इति तत्त्वज्ञानात्मकं प्रकाशं च कृत्वा,=विवेकख्यातिं कृत्वेति यावत्, निवर्तते इत्यन्वयः ॥ ५९ ॥

‘नानाविधैरुपायैरितिकारिकां शंकाभ्याजेनाऽवतारयति-स्यादेतदित्यादिना । प्रकृतिः  
पुरुषार्थं=भोगापवर्गात्मकं परार्थम्, प्रवर्तताम्=निवर्तयतु, यथा पुरुषः प्रकृतितः स्वार्थं लभते  
इति भावः । तथा प्रकृतिरपि भोगापवर्गदानेन उपकृतात् पुरुषादपि कश्चित् उपकारं लप्स्यते=  
प्राप्स्यते, इव=यथा भुजिष्या=दासी, आज्ञायाः सम्पादनेन=पालनेन आराधितात्=प्रसन्नोपकृतात्  
आज्ञापयितुः=आज्ञाकर्तुः स्वामिनः सकाशात् पारितोषिकादिकं प्राप्नोति तथेत्यर्थः । तथा च=  
पुरुषप्रकृतोपकारे प्राप्स्ये मति तु, अस्याः=प्रकृतेः, आरम्भः=सर्गप्रवृत्तिः, परार्था न=पुरुषमात्रप्रयो-  
जनार्थमेवेति न भवति, पुरुषप्रकृतोपकारात्मकस्य स्वार्थस्यापि पारितोषिकवत् सत्त्वात्, इत्यारंका-  
निवृत्त्यर्थमाहेत्यर्थः ॥ नानाविधैरिति मूलम् । ( प्रकृतिः ) अनुपकारिणः पुंसः नानाविधैः  
उपायैः उपकारिणी ( भवति ), गुणवती अगुणस्य सतस्तस्य अर्थम् अपार्थकम् चरति-इत्यन्वयः ।  
संक्षिप्तार्थः-प्रकृतिः अनुपकारिणः=प्रत्युपकारशून्यस्य, पुंसः=चेतनस्य, नानाविधैः=भोग्य-भोग-  
साधन-भोगायतनात्मकैः, उपायैः=परिणामैः, उपकारिणी=परार्थमात्रतया कार्यकारिणी भवति ।  
सा च स्वयं गुणवती=त्रिगुणमयी वर्ततेऽतः, अगुणस्य=निर्गुणस्य-गुणशून्यस्य, सतः स्वरूपमा-  
त्रेण विद्यमानस्य, तस्य=चेतनस्य, अर्थम्=भोगापवर्गात्मकं प्रयोजनम्, अपार्थकम्=अपगतं अर्थः  
प्रत्युपकारो यस्मात् तत् तथोक्तम्-प्रत्युपकारशून्यं,=निस्स्वार्थमिति यावत् । चरति=करोति  
सम्पादयतीत्यर्थः ॥ यः धनवान् स अन्यस्मै धनं दास्यति, निर्धनस्तु किं दास्यति, तथा भोगापवर्ग-  
वती प्रकृतिः आत्मने भोगापवर्गो दास्यति, आत्मा तु निर्गुणो किं दास्यतीति भावः ॥ तत्त्वकौ-  
मुद्यां-यथेति । गुणवानपि=सेवानुकूलसत्यसन्तोषादिकार्यपटुतादिगुणवानपि, उपकारी अपि=  
उपकारं-स्वामिनः कर्तव्यं करोतीत्येतादृशोऽपि, भृत्यः=सेवकः, निर्गुणः=कृतज्ञत्वादिगुणविधुरे,  
अत एव=गुणविधुरत्वादेव, अनुपकारिणि=प्रत्युपकारशून्ये, स्वामिनि=सेवे नृपादी, निष्फला-  
ऽऽराधनः=निष्फलम्=प्रत्युपकारशून्यम् आराधनं-सेवया सन्तोषणं यस्य सः एतादृशो भवति ॥  
एवम्=तद्वत्, इयं प्रकृतिः तपस्विनी=भोगापवर्गात्मकपरफललाभार्थं तप्यते-परिणामतापसंस्का-  
रदुःखैः सन्तप्यते यत् तत् तपः-सर्गः तद्वती, दीना,=स्वार्थशून्यं सर्गं जनयन्तीति भावः, गुण-

स्वामिनि निष्कलाराधनः, एवमियमप्रकृतिस्तपस्विनी गुणवत्युपकारिण्यनुपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति पुरुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति सिद्धम् ॥ ६० ॥

स्यादेतत्-‘नर्तकी नृत्यम्परिपङ्क्तयो दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनस्तद्द्रष्टृकौतूहलात् प्रवर्तते यथा, तथा प्रकृतिरपि पुरुषायाऽऽन्मानं दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनः प्रवर्त्यति’-इत्यत आह-

**प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।**

**या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥**

“प्रकृतेः”इति । सुकुमारतरताऽतिपेशलता, परपुरुषदर्शनासहिष्णुतेति यावत्, असूर्यम्पश्यति हि कुलवधूरतिमन्दाक्षमन्थरा प्रमादाद्विगलितशिरोऽञ्जला चेदालोक्यते

वती=सुखदुःखमोहात्मकगुणवती, अत एव च उपकारिणी=भोगापवर्गात्मकोपकारकर्त्री, अनुपकारिणि=उपकारशून्ये, पुरुषे=चेतने, व्यर्थपरिश्रमा=व्यर्थः=प्रत्युपकारशून्यः परिश्रमः=भोगापवर्गात्मक उपकारो यस्याः सा तथोक्ता भवति, इत्यस्माद्धेतोः, पुरुषार्थमेव=पुरुषस्य चेतनस्य अर्थम्=प्रयोजनयैव, यतते=सर्गं प्रवर्तयति, न तु स्वार्थम्=न स्वप्रयोजनार्थमिति सिद्धं भवतीति भावः ॥ ६० ॥

‘प्रकृतेः सुकुमारतरं’मिति कारिकां पुनःप्रवृत्त्याक्षेपेणाऽवतारयति-स्यादेतदित्यादिना । यथा नर्तकी परिपङ्क्तयः=परिपश्येभ्यः पुरुषेभ्यः, नृत्यं दर्शयित्वा नृत्यात् निवृत्तं सती अपि, तस्य=नृत्यस्य द्रष्टृणां कौतूहलात्=साश्चर्यं-पुनर्नृत्यतामधिकं नृत्यतामित्यादिवदतो जनसमूहस्य तृष्णावशात्, पुनर्नृत्ये प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषाय=चेतनाय, आत्मानं=ससर्गां स्वाम्, दर्शयित्वा सर्गाविवृत्ता सती अपि=पुनः विवेकख्यात्यनन्तरं, सर्गे स्वयं प्रवर्त्यति=प्रवृत्तिं करिष्यति, तथा च पुनः संसारापत्तौ ‘न स पुनरावर्तते’-इत्यादिवेदवाक्यमनुपपन्नं स्यादित्याशंकायामाहेत्यर्थः । प्रकृतेरित्यादि मूलम् प्रकृतेः सुकुमारतरं किञ्चिदपि नास्तीति मे मतिर्भवति, या दृष्टाऽस्मीति पुनः पुरुषस्य दर्शनं न उपैतीत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः प्रकृतेः=प्रकृत्यपेक्षया, सुकुमारतरम्=अतिपेशलं परपुरुषदर्शनाऽसहिष्णु, किञ्चिदपि वस्तु नास्ति-इति, मे=ईश्वरकृष्णाचार्यस्य, मतिर्भवति=निश्चयो वर्तते । यतः या प्रकृतिः यदा ‘पुरुषेण अहं दृष्टाऽस्मीति’ जानाति, तत्पश्चात् पुनः पुरुषस्य दर्शनं=पुरुषकृतां दृश्यतां,-भोग्यताम् । न उपैति=न करोति । विवेकिनः पुरुषस्य भोगपथं न गच्छतीति भावः ॥ तत्त्वकौमुद्यां-‘सुकुमारतरते’ति पदस्यार्थमाह-अतिपेशलतेति । ‘अतिपेशलता’पदस्यार्थमाह-परपुरुषदर्शनाऽसहिष्णुतेति । परः=तत्त्वज्ञानेन अज्ञानं निर्धूय विवेकितां गतः,-यः पुरुषस्तस्य दर्शनं=भोगविषयता तदसहिष्णुतेत्यर्थः ॥ तदेतद् दृष्टान्तेन स्पष्टयति-असूर्यम्पश्येति । सूर्यं न पश्यतीति असूर्यम्पश्यति, अतीव पतिव्रता या सूर्यं न पश्यति तर्हि परपुरुषं तु कथं पश्येत् इति भावः । अतिमन्दाक्षमन्थरा=अति मन्देऽक्षिणी यत्र कर्मणोति मन्दाक्षं=त्रपा लज्जा, तेन मन्थरा=मन्दगामिनी, एतादृशी कुलवधूः-उत्तमकुले प्राविर्भूय उत्तमकुलान्तरे बधूत्वमापन्ना पतिव्रता, प्रमादात्=अनवधानात्, विगलितशिरोऽञ्जला=विगलितं च्युतं शिरसः अञ्जलं वस्त्रं श्याटिकात्मकं यस्याः तथोक्ता यदि परपुरुषेण=पतिभिन्नपुरुषेण आलोक्यते चेत् ! तदा असौ=कुलवधूः, पुनस्तथा प्रयतते=तेन प्रकारेण सावधाना वर्तते । यथा=येन प्रकारेण, पुरुषान्तराणि=स्वपतिभिन्नाः पुरुषाः, अप्रमत्तां=औदत्यशून्यां,-सुशीलामिति



परपुरुषेण, तदाऽसौ तथा प्रयतते, अप्रमत्तां यथैनां पुरुषान्तराणि न पुनः पश्यन्ति, इति । एवमप्रकृतिरपि कुलवधूतोऽप्यधिका, दृष्टा विवेकेन, न पुनर्द्रक्ष्यत इत्यर्थः ॥६१॥

स्यादेतत्-“पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी, कथमस्य मोक्षः ? मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात्, सवासनक्लेशकर्माशयानाञ्च बन्धनसमाख्यानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसम्भवात् । अत एवाऽस्य न संसारः प्रेत्यभावापरनामाऽस्ति, निष्क्रियत्वात् । तस्मात् ‘पुरुषस्य विमोक्षार्थम्’ इति रिक्तं वचः”-इतीमां शङ्कामुपसंहारव्याजेनाभ्युपगच्छन्नापाकरोति-

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित् ।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

यावत् । एनाम्=कुलवधूम्, पुनर्न पश्यन्ति=पुनर्नपश्येयुरिति ॥ दार्ष्टान्तिके योजयति-एवमिति । प्रकृतिरपि सर्वपुरुषसाधारणी अपि तत्तद्बुद्धितत्त्वात्मककार्यरूपेण तु पतिव्रतातोऽप्यधिका धर्मशीला वर्तते, सा च विवेकेन=इयं जडाऽशुद्धा शुद्धचेतनभिन्ने-त्येवमादिरूपेण विवेकज्ञानेन, दृष्टा सती । पुनर्न द्रश्यते=विवेकिपुरुषस्य पुनर्दृष्टिगोचरतां=भोग्यतां नाऽहं प्राप्नोमीति सर्वदा यतते । बुद्धिर्विवेकिं प्रति न संसरति, लयमेव गच्छतीति भावः ॥ ६१ ॥

‘तस्मान्न बध्यतेऽद्धे’तिकारिकां ‘संसारबन्धमोक्षाः प्रकृतिधर्मा एव नतु पुरुषधर्मा’ इत्याशङ्कान्याजेनाऽवतारयति-स्यादेतदित्यादिना । पुरुषो यदि अगुणः=निर्गुणः, अपरिणामी=धर्मलक्षणाऽवस्थात्मकत्रिविधपरिणामशून्यश्च । तदा अस्य पुरुषस्य कथं=केन प्रकारेण मोक्षः सम्भवेत् ? ॥ मोक्षाऽसंभवे हेतुमाह-मुचेरित्यादि । ‘मुचि’-धातोः ‘बन्धनस्य विश्लेष’ इत्यर्थकत्वात् । बन्धनस्य विश्लेषः=तिरोभावः, बन्धनं नाम-सवासनक्लेशकर्माशयः, तत्र वासनाः=जन्मजन्मान्तरीयसंस्काराः, तैः सहिता ये आशयाः, तथा ‘अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः’ तत्सहिता ये आशयाः, तथा कर्माणि-शुक्ल-कृष्ण-शुक्लकृष्णोक्तित्रिविधानि तैः सहिताः ये आशयाः=आशरेते वासनादयो यत्रेति-आशयाः, धर्माऽधर्माः, त एव बन्धनम् इति समाख्यातास्तेषाम्, अपरिणामिनि पुरुषेऽसंभवात् । तथा च यो धर्मो यत्र वर्तते स तत्रैव तिरोभवतांतिनियमात् बन्धनात्मकधर्माधर्मात्मकस्य धर्मस्य पुरुषेऽभावात् तद्विश्लेषात्मकतिरोभावस्याऽपि पुरुषेऽसंभवात् बन्धविश्लेषात्मकमुक्तेः पुरुषधर्मत्वाऽसंभव इति भावः ॥ अत एव=निर्धर्मकत्वाच्च, क्रियात्मकधर्मशून्यत्वात् अस्य=पुरुषस्य ‘संसारोऽपि प्रेत्यभावाऽपराभिधानः-प्रेत्य=मृत्वा पुनः भावः=जन्म, सोऽपि नास्ति, जननमरणस्य पुरुषधर्मत्वाऽभावादिति भावः । तस्मात्=संसारमुक्तिधर्मकत्वाऽभावाद्धेतोः । ‘पुरुषस्य विमोक्षार्थम्’ (५८) इति यदुक्तं वचः, तत् रिक्तम्=संगतिशून्यम्-अफलमिति यावत् । एनामाशङ्कां सांख्यशास्त्रस्य उपसंहारमिषेण ‘तस्मान्न बध्यते’-इतिकारिकया अभ्युपगच्छन्=स्वीकुर्वन् सन्, अपाकरोति=निवर्तयतीत्यर्थः ॥ तस्मान्नेति मूलम् । तस्मात्, अद्धा कश्चित् न संसरति न बध्यते नाऽपि मुच्यते । प्रकृतिरेव नानाश्रया (सती) संसरति बध्यते मुच्यते- इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः तस्मात्=पुरुषस्य निर्धर्मकत्वात्-हेतोः । अद्धा=तत्त्वतः वस्तुतस्तु । कश्चिदपि पुरुषो न संसरति=न जन्ममरणवान् भवति । न बध्यते=न सवासनक्लेशकर्माशयवान् भवति । नापि मुच्यते=नापि सवासनक्लेशकर्माशयतिरोभाववान् भवति ॥ किन्तु प्रकृतिरेव नानाऽश्रया=बहुविधा भोग्यभोगसाधन-भोगायतनाद्यात्मका आशयाः-संसारबन्धनाद्यालम्बनविशेषा यस्याः सा, एतादृशी सती,

“तस्मात्” इति । अद्धा न कश्चित् पुरुषो बध्यते, न कश्चित् संसरति, न कश्चिन्मुच्यते । प्रकृतिरेव तु नानाश्रया सती बध्यते संसरति मुच्यते चेति बन्धमोक्ष-संसाराः पुरुषेषुपचर्यन्ते । यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्यन्ते, तदाश्रयेण भृत्यानां तद्भागित्वात्, तत्फलस्य च शोकलोभादेः स्वामिनि सम्भवात् । भोगापवर्गयोश्च प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषसम्बन्ध उपपादित इति सर्वस्यु-  
ष्कलम् ॥ ६२ ॥

नन्ववगतम् ‘प्रकृतिगता बन्धसंसारापवर्गाः पुरुषेषु उपचर्यन्ते’ इति । किंसाधनाः पुनरेते प्रकृतेरित्यत आह—

**रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।**

**सैव च पुरुषार्थमप्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥**

संसरति=अभिव्यक्तजननमरणधर्मवती भवति । बध्यते=अभिव्यक्तसवासनक्लेशकर्माशयवती भवति । मुच्यते=सवासनक्लेशकर्माशयतिरोभाववत्यपि भवति । भोगापवर्गौ प्रकृतिधर्मौ प्रतिविम्बित्वाख्य-सम्बन्धात् पुरुषे तूपचर्यन्ते=इति भावः ॥ तत्त्वकौमुद्याम्-अद्धेति । तत्त्वतः=इत्यर्थः । कश्चिदपि पुरुषो न बध्यते=न सवासनक्लेशकर्माशयधर्मी भवति । न कश्चित् पुरुषः संसरति=न जन्ममरणधर्मी भवति । न च कश्चित् मुच्यते=न मोक्षधर्मा अपि भवति । किन्तु प्रकृतिरेव नानाश्रया=बुद्धयहं-कारादिभूतान्तात्मकबहुधा सती बध्यते=सवासनक्लेशकर्माशयधर्मिणी भवति । संसरति=जन्ममरणधर्मिणी भवति । मुच्यते=अपवर्गधर्मिण्यपि भवति ॥ अथ बुद्ध्यात्मकप्रकृतौ प्रतिविम्बित्वाख्यसम्बन्धात् बन्धमोक्षसंसाराः=कर्माशय-तदुध्वंस-जन्मादयः, पुरुषेषु=प्रतिविम्बित्वाख्यरूपकेषु, उपचर्यन्ते=आरोप्यन्ते व्यवह्रियन्ते एव ॥ तद् दृष्टान्तेनोपपादयति-यथेति । जयः=परकर्मकनिग्रह-प्रयोज्याऽभिमानोत्कर्षः, पराजयः=स्वकर्मकनिग्रहप्रयोज्याऽभिमानाऽपकर्षः, तौ भृत्यगताः=भृत्या ये योद्धारस्तद्धर्मावपि, स्वामिनि=नृपत्यादौ, उपचर्यन्ते=स्वामिसेवकभावसम्बन्धात् आरोप्यन्ते=व्यव-ह्रियन्ते एव ॥ भृत्यानां=योद्धाणां सेवकानाम्, तदाश्रयेण=तयोः जयपराजययोः साक्षादाश्रयतया, तद्भागित्वात्=जयपराजयभागित्वात् । तत्फलस्य=जयस्य फलं=धनादिलाभः आदिना तत्सुखं च, पराजयस्य फलं शोकः,=तेषां स्वामिनि=नृपत्यादौ सम्भवात्=अज्ञानात् संभवतः, न तु वस्तुतो भवतः इति भावः । तद्वत् प्रकृतिगतयोरपि वास्तविकयोः भोगापवर्गयोः पुरुषेणाऽसम्बद्धयोरपि, विवेकाऽग्रहात्=प्रकृतिपुरुषयोर्भेदज्ञानाऽभावात्, अज्ञानकृतः पुरुषेण सह सम्बन्धः=स्वाश्रयप्रतिविम्बितत्वाख्यः, उपपादितः=कल्पितो भवति, तेन पुरुषे भोगाऽपवर्गादुपचर्यन्ते=अज्ञानात्संभवतः, न तु वस्तुतो भवत इति भावः ॥ इति=अनया कारिकया, सर्वैः=सर्वं गूढं सांख्यदर्शनतत्त्वम्, पुष्कलम्=पूर्णं यथा स्यात् तथा कलं=कलितं प्रकृटीकृतमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

‘रूपैः सप्तभिरितिकारिकां बन्धमोक्षयोर्निमित्तजिज्ञासामुखेनाऽवतारयति-नन्ववगतमिति । ‘बन्धः संसारो मोक्षश्चेति त्रयोऽपि वास्तविका बुद्धिगताः, कल्पितसम्बन्धात्-स्वाश्रयप्रतिविम्बितत्वाख्यात् पुरुषेषु उपचर्यन्ते-’ इत्येतदवगतम्=तत्त्वतो ज्ञातम् ॥ अथ प्रकृतेरेते=बन्धमोक्षसंसारात्मका धर्माः, किंसाधनाः=किं साधनं=निमित्तं येषान्ते तथोक्ता भवन्तीति जिज्ञासा भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाहेत्यर्थः ॥ “रूपैः-रिति मूलम् । प्रकृतिः पुरुषार्थं प्रति आत्मना सप्तभिरेव रूपैः आत्मानम् बध्नाति, सैव च एकरूपेण आत्मानम् विमोचयति-इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-प्रकृतिः, पुरुषार्थः=



“रूपैः” इति । तत्त्वज्ञानवर्जं “बध्नाति-”धर्मादिभिः, “सप्तमी रूपैः”—भावैरिति । “पुरुषार्थप्रति” भोगापवर्गौ प्रति । “आत्मानाऽऽत्मानम्” एकरूपेण-तत्त्वज्ञानेन विवेकख्यात्या विमोचयति, पुनर्भोगापवर्गौ न करोतीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

अवगतमीदृशं तत्त्वम्, ततः किमित्यत आह-

एवं तत्त्वाभ्यासाच्चाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।

अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

“एवम्” इति । तत्त्वेन=विषयेण तत्त्वज्ञानमुपलक्षयति । उक्तप्रकारतत्त्वविषय-

भोगापवर्गात्मकं प्रति, तत्र भोगं प्रति । आत्मना=स्वयैव कर्त्रा, सप्तसंख्याकैः-धर्माऽधर्माऽज्ञान-वैराग्याऽवैराग्यैश्चर्याऽनैश्चर्यात्मकैः रूपैः=भावैर्यमैः-आत्मानम्=स्वाम्, बध्नाति=कर्माशयात्मकं बन्धनं करोति सैव च प्रकृतिः पुरुषार्थं प्रति-अपवर्गं प्रति । एकरूपेण=तत्त्वज्ञानात्मकेन एकेन भावाख्येन धर्मेण-विवेकख्यात्येति यावत् । आत्मानं=स्वाम्, विमोचयति=बन्धनविश्लेषं करोतीत्यर्थः । धर्मादिसप्तनिमित्तैः भोगं प्रति बध्यते, ज्ञानेन निमित्तेन च अपवर्गं प्रति मुच्यते, भोगार्थं बध्यते अपवर्गार्थं च मुच्यते इति फलितार्थः ॥ तत्त्वकौमुद्यां—सप्तसंख्येभ्यो वर्ज्यं रूपमाह=तत्त्वज्ञानवर्जमिति । तत्त्वज्ञानं वर्जयित्वाऽवशिष्टैः धर्माधर्माऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्चर्याऽनैश्चर्यैः सप्तसंख्यैरित्यर्थः । “रूपैरित्यस्यार्थमाह-भावैरिति । “पुरुषार्थं प्रतीत्यस्यार्थमाह-भोगापवर्गौ प्रतीति । भोगं प्रति बध्नाति अपवर्गं प्रति च मोचयति इत्यर्थः ॥ केन कं बध्नाति मोचयति चेत्याकांक्षायामाह-‘आत्मनाऽऽत्मानमिति । आत्मना=स्वयैव, आत्मानम्=स्वामेव बध्नाति मोचयति चेत्यर्थः । ‘एकरूपेणेत्यस्यार्थमाह-तत्त्वज्ञानेनेति ॥ तत्त्वज्ञानं तु विवेकख्यातिद्वारा मुक्तिकारणं भवति ननु साक्षादेतदुदयितुमाह-विवेकख्यात्येति । तथा च तत्त्वज्ञानेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरेव ग्राह्या, तथा च मोचयतीत्यर्थः ॥ विमोचयति=विशेषेण मोचयति, अत्यन्तं मुक्तिं ददातीत्याह पुनर्भोगापवर्गौ न करोतीति । भोगाऽकरणत्वात् छुतरां मोक्षाऽकरणमुपपद्यते इति भावः ॥ ६३ ॥

‘एवं तत्त्वाभ्यासाच्चित्तकारिकामाकांक्षान्याजेनाऽवतारयति-अवगतमिति । तत्त्वम्=पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वसमुदायः, ईदृशम्=समस्तो व्यस्तश्च, अवगतम्=सकृत् ज्ञातः । ततः=सकृत् तत्त्वाऽवगमात्, किं फलं भवतीत्याकांक्षायामाहेत्यर्थः ॥ ‘एवमिति मूलम् । एवं तत्त्वाभ्यासात् ‘नाऽस्मि, न मे, नाऽह’मित्यपरिशेषम्, अविपर्ययात् विशुद्धम्, केवलं ज्ञानमुत्पद्यते-इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-‘एवम्’-दर्शितसमस्तव्यस्तोभयरीत्या, तत्त्वस्य=तत्त्वज्ञानस्य, पञ्चविंशतिपदार्थानां ज्ञानस्य, अभ्यासात्,—सार्वदिक्या स्थितौ पुनःपुनःकृतयत्नात् । ‘नाऽस्मि’-आत्मानक्रियावान्-इतिज्ञानमुत्पद्यते । अनेन अध्यवसायाभिमानसंख्याऽऽलोचनव्यापारा आत्मनि प्रतिषिद्धा त्रेदितव्याः । तथा—‘न मे’-आत्मानं स्वामीतिज्ञानमुत्पद्यते । अनेनात्मनि स्वामिता निषिद्धा । तथा ‘नाऽहम्’-आत्मानं कर्ता-इति ज्ञानमुत्पद्यते । अनेनात्मनि कर्तृता निषिद्धा । इत्येतादृशं-‘आत्मा क्रिया-स्वामिता-कर्तृतावद्विज्ञे’-इत्याकारकम् । अपरिशेषम्=नास्ति किञ्चित्परिशिष्टं ज्ञातव्यं यत्रैतादृशम् । अविपर्ययात्-संशयविपर्ययविकल्पभिन्नत्वात् । विशुद्धम्=संशयादिना ‘मनागप्यवाहितम् । केवलम्=प्रमात्मकमेकमेव कैवल्यप्रयोजकम् । ज्ञानम्=तत्त्वज्ञानम् उत्पद्यते=आविर्भवति ॥ इति ॥ तत्त्वकौमुद्यां ‘तत्त्व’पदस्य लाक्षणिकपथमाह-तत्त्वज्ञानं=विषयेण-तत्त्वज्ञानमिति । प्रकृत्यादिपञ्चविंशतितत्त्वानि पदार्थाः विषयाः, तैः विषयि ज्ञानं लक्षणया बोध्यते इत्यर्थः, तथा च

ज्ञानाभ्यासादादरनैरन्तर्यदीर्घकालसेवितात् तत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारि ज्ञानमुत्प-  
द्यते, यद्विषयश्चाऽभ्यासस्तद्विषयकमेव साक्षात्कारमुपजनयति, तत्त्वविषयश्चा-  
ऽभ्यास इति तत्त्वसाक्षात्कारं जनयति, अत उक्तम्—“विशुद्धम्” इति । कुतो  
विशुद्धमित्यत आह—“अविपर्ययात्” इति । संशयविपर्ययौ हि ज्ञानस्याऽविशुद्धी  
तद्रहितं विशुद्धम्, तदिदमुक्तम्—“अविपर्ययात्” इति । नियतमनियततया गृह्यन्  
संशयोऽपि विपर्ययः, तेन ‘अविपर्ययात्’ इति संशयविपर्ययाभावो दर्शितः । तत्त्व-  
विषयत्वाच्च संशयविपर्ययाभावः । स्यादेतत्—उत्पद्यतामीदृशाभ्यासात् तत्त्वज्ञानम्

‘तत्त्वाभ्यासादि’त्यस्य—तत्त्वज्ञानाभ्यासादित्यर्थः ॥ ‘एवं तत्त्वाभ्यासादि’त्यस्य समुदितस्यार्थमाह—  
उक्तप्रकारतत्त्वविषयकज्ञानाऽभ्यासादिति । उक्तः प्रकारः—समस्तव्यस्तरूपो येषान्तानि पता-  
दृशानि यानि तत्त्वानि पञ्चविंशतिपदार्थाः, ते विषया यस्य तत् पतादृशं यत् ज्ञानं—सकृद्बोधः तस्य  
अभ्यासात्—सार्वादिकस्थितौ यत्नात् ॥ कीदृशात् यत्नात्? अत आह—आदरेति । आदरेण—तत्त्वज्ञानं  
मे बहुमान्य’मित्यादरेण, नैरन्तर्येण—अन्तरं मध्ये मध्ये व्यवच्छेदः तच्छून्येन—ज्ञानमपि विच्छेदश-  
ून्येन, दीर्घकालेन चोरेण च, सेवितात्—अनुष्ठितात् पतादृशाऽभ्यासात् । सत्त्वं बुद्धितत्त्वं पुरुषश्चेतन-  
स्तयोरन्यता—भेदस्तं साक्षात्करोति—विषयीकरोति यत् तत् ‘आत्मा प्रकृत्यादिभिन्न’—इत्याकारकम्,  
ज्ञानम्—विवेकज्ञानमुत्पद्यते ॥ प्रयोज्यप्रयोजकभावेन तदेतदुपपादयति—यद्विषयकश्चेति । यस्मिन्  
विषये यत्नः क्रियते स अभ्यासः तस्मिन् विषये साक्षात्कारं—ज्ञानं जनयति । तत्त्वविषयश्च—पञ्चविं-  
शतितत्त्वानि पदार्था विषया यस्य पतादृशोऽत्र अभ्यासः कृतः सन् पञ्चविंशतितत्त्वानां साक्षात्कारं  
—अविपरीतं प्रमाज्ञानं जनयति । अतः—तत्त्वविषयकाऽभ्यासवत्त्वादेव, ज्ञानस्य विशेषणमुक्तम्—  
‘विशुद्ध’मिति । विपर्ययाद्यात्मकाऽशुद्धिरहितमित्यर्थः ॥ हेतुजिज्ञासामुत्पेन विशुद्धत्वं पृच्छति—  
कुतो विशुद्धमिति । कुतः—कस्माद्धेतोः, विशुद्धं भवति इत्यर्थः ॥ हेतुमवतायोत्तर-ति—‘अविप-  
र्ययादिति । विपर्ययपदेनात्र संशयविपर्ययौ बोध्याविति दर्शयति—संशयविपर्ययौ हीति ।  
संशयोऽपि ज्ञानस्याऽशुद्धिः विपर्ययोऽपि ज्ञानस्याऽशुद्धिरित्यर्थः, विकल्पोऽपि ज्ञानस्याऽशुद्धिरित्य-  
धिकं बोध्यम् । तद्रहितम्—संशयविपर्ययविकल्परहितं विशुद्धमित्युच्यते इत्यर्थः । तत्—तस्मै प्रयो-  
जनाय—विशुद्धिप्रदर्शनार्थमित्यर्थः । इदं—‘अविपर्ययादि’ति हेतुवाक्यम्, उक्तम्—उपन्यस्तमि-  
त्यर्थः । ‘अविपर्ययादि’त्यस्य न विपर्ययः अविपर्ययस्तस्मादिति विग्रहः, तत्र विपर्ययो नाम—‘तद्-  
पाऽप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानम् । तत्र तद्वाऽप्रतिष्ठा द्विविधा एका ज्ञानस्वरूपेऽप्रतिष्ठितता, यथा शुक्तौ ‘इदं  
रजत’मिति ज्ञानम् स्वरूपतोऽप्रतिष्ठमिति, द्वितीया च विषयस्वरूपेऽप्रतिष्ठितता यथा ‘स्थानुर्वा पुरुषो  
वे’ त्यत्र न स्थानौ प्रतिष्ठा न वा पुरुषे प्रतिष्ठा, तत्र नियतम्—एकभावकोटौ नियतं प्रतिष्ठमपि  
स्थानुम् अनियततया—अभावकोटौ ग्राह्यत्वेनाऽप्रतिष्ठिततया, एवम्—भावकोटौ नियतं प्रतिष्ठमपि  
पुरुषम् अभावकोटौ ग्राह्यत्वेनाऽनियततया, गृह्यन्विषयीकुर्वन्, संशयोऽपि विपर्यय एव—शुक्ता-  
विदंरजत’मिति मिथ्याज्ञानं यथा विपर्ययस्तथा संशयोऽपि मिथ्याज्ञानत्वाऽविशेषात् विपर्यय एवेत्य-  
र्थः । एवं ‘पुरुषस्य चैतन्य’मित्यत्राऽभेदे भेदमारोपयन् विकल्पोऽपि ज्ञानविरोधितया विपर्ययेण  
संग्राह्यो वेदितव्यः ॥ तेन—संशयस्यापि विपर्ययत्वेन, ‘अविपर्यया’दिति हेतुवाक्येन संशयस्य विपर्य-  
यस्य चाऽभावो दर्शितस्तत्त्वज्ञाने—इत्यर्थः ॥ ननु कथं संशयविपर्ययाऽभाव इत्याकांक्षायामाह—  
तत्त्वविषयत्वाच्चेति । तेषां पञ्चविंशतिपदार्थानां भावो धर्मास्तत्त्वानि, तादृशप्रकृतेरिवमहत्तत्त्व-  
पुरुषत्वेत्यादितत्त्वमप्रकारेण तत्त्वमविषयकत्वात् तद्वर्तते तद्वर्तमानं तद्वर्तमानं तद्वर्तमानं तद्वर्तमानं



तथाऽप्यनादिना मिथ्याज्ञानसंस्कारेण मिथ्याज्ञानं जनयितव्यम् । तथा च तन्निबन्धनस्य संसारस्याऽनुच्छेदप्रसङ्ग इत्यत उक्तं—“केवलम्” इति । विपर्ययेणाऽसम्भिन्नम् । यद्यप्यनादिविपर्ययवासना, तथाऽपि तत्त्वज्ञानवासनया तत्त्वविषयकसाक्षात्कारमादधत्याऽऽदिमत्याऽपि शक्या समुच्छेत्तुम् । तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः, यदाहुर्बाह्या अपि—“निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः । न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्त्वपक्षपाततः—” इति ॥ ज्ञानस्वरूपमुक्तम्—“नास्मि, न मे, नाऽहम्”

याऽभावः—तद्धर्माऽभाववति तद्धर्मप्रकारकज्ञानाऽभाव इत्यर्थः ॥ ननु तत्त्वज्ञानमिव अज्ञानमपि जन्यतेत्याशङ्काव्याजेन प्रदर्श्य समाधत्ते—स्वादेतदित्यादिना ‘केवल’मित्यन्तेन । ईदृशात्=आदर-नैरन्तर्यसंस्कारसेवित्वात् अभ्यासात्=यत्नात्, तत्त्वज्ञानम्=प्रमाज्ञानम्, उत्पद्यताम्=आविर्भूयताम् तथापि अनादिना=सर्गसर्गान्तरप्रवाहागतेनाऽविच्छिन्नेन, मिथ्याज्ञानसंस्कारेण=पूर्वपूर्वमिथ्याज्ञानजनितेन उत्तरोत्तरमिथ्याज्ञानस्य स्मरणात्मकस्योत्पादकेन अतत्त्वविषयकेन संस्कारेण, मिथ्याज्ञानम्=अज्ञानमपि, जनयितव्यम्=उत्पादयितव्यम्, तथा च सति, तन्निबन्धनस्य=तैर्न मिथ्याज्ञानेन निबध्यते नियमेन जन्यते यस्तथोक्तस्य, संसारस्य=जात्यायुर्भोगात्मकस्य, अनुच्छेदप्रसङ्गः=अनिवृत्तिरूपाऽऽपत्तिः स्यादित्याशङ्कावारणार्थमुक्तं ‘केवल’मिति । ‘विवेकज्ञान’शब्दवाच्यमात्रं वस्तुस्वरूपमित्यर्थः ॥ एनमर्थं स्पष्टयति—विपर्ययेणाऽसम्भिन्नमिति । संशयविपर्ययविकल्पलेशेनापि अनवच्छिन्नमित्यर्थः ॥ मिथ्याज्ञानाऽनुत्पत्तिमुपपादयति—यद्यप्यनादिरित्यादिना । विपर्ययवासना=मिथ्याज्ञानाऽऽहितसंस्कारात्मकवासनानां प्रवाहः, अनादिः=अविच्छिन्नो वर्तते यद्यपि । तथापि तत्त्वज्ञानवासनया=तत्त्वज्ञानाऽऽहितसंस्कारात्मकवासनया, पदार्थतत्त्वविषयकं साक्षात्कारं तत्त्वज्ञानात्मकम्, आ-समन्तात् दधत्या=पुनः पुनः आवर्तयन्त्या दृढीभूतया अत एव, आदिमत्याऽपि=अमुकसमयादाविर्भूतयाऽपि प्रबलया तथा, अनादिविपर्ययवासना समुच्छेत्तुं सुशक्या भवतीत्यन्वयः । अल्पकालीनोऽपि बलवान् तत्त्वज्ञानसंस्कारप्रवाहोऽनादिकालीनमपि मिथ्याज्ञानसंस्कारप्रवाहं विच्छिनत्तीति भावः ॥ नन्वल्पकालीने तत्त्वज्ञानसंस्कारे कथमेतादृशं बलं वर्तते इत्याकांक्षायामाह—तत्त्वपक्षपात इति । हि-निश्चयात् । धियां=ज्ञानानाम्, तत्त्वपक्षपातः=तेषां पदार्थानां भावो धर्मस्तत्त्वं, तत्त्वेन=पदार्थानां धर्मेण प्रकारभूतेन पक्षे=पक्षीभूते पदार्थे धर्मिणि पातः=पतनं जायमानत्वम्, पदार्थतावच्छेदकप्रकारक-पदार्थविशेष्यकत्वेन आविर्भवनं इत्यर्थः । स्वभावः—मुख्यः प्रबलो धर्मः ॥ उक्तार्थे वेदवाह्यानां बौद्धानामपि सम्प्रतिमाह—यदाहुर्बाह्या अपीति । निरुपद्रवः=संशयविपर्ययाद्युपद्रवरहितस्य भूतार्थस्वभावस्य=भूतो धर्मधर्मिभावाऽऽपन्नो यथाभूतोऽर्थो विषयस्तदनु रूपः स्वभावः=आविर्भवनरीतिर्यस्य तथोक्तस्य, संशयविपर्ययविकल्पशून्यस्य तद्धर्मवन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततद्धर्मनिष्ठप्रकारताशालिज्ञानस्य, विपर्ययैः=संशयविपर्ययविकल्पैः, बाधः=अभिभवो न भवति ॥ ननु बुद्धेः विपर्यये इव तत्त्वज्ञानेऽपि समानो यत्नो दृश्यते न तु तत्त्वज्ञानेऽधिको यत्नो दृश्यते येन तत्त्वज्ञानस्य बलवत्त्वं स्यात् विपर्ययेण च तद्बाधो न स्यात् ? अतो द्वयोः समबलतया विपर्ययेण तत्त्वज्ञानं बाध्येतैवेत्याशङ्कायामाह—अयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्त्वपक्षपाततः” इति । बुद्धेः तत्त्वज्ञाने विपर्ययाऽपेक्षया ‘अयत्नवत्त्वेऽपि=अधिकप्रयत्नाऽनपेक्षत्वेऽपि, तत्त्वपक्षपाततः=परमार्थभावनानुबुद्धेः तद्धर्मवति धर्मिणि द्रागुदयात् निरतिशयोक्तः पक्षः सिद्धिरूपं प्राबल्यं वर्तते इत्यर्थः ॥ तस्मात् तत्त्वज्ञानसंस्कारेण मिथ्याज्ञानसंस्कारा विच्छिद्यन्ते इति भावः ॥ तत्त्वज्ञानस्य स्वरूपमाह—नाऽस्मि, न मे, नाऽहम्”मिति । तत्र ‘नाऽस्मि’-

इति । 'नास्मि' इत्यात्मनि क्रियामात्रं निषेधति । यथाऽऽहुः 'कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचनाः' इति । तथा चाऽध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनानि चान्तराणि बाह्याश्च सर्वे व्यापारा आत्मनि प्रतिषिद्धानि बोद्धव्यानि । यतश्चात्मनि व्यापारावेशो नास्त्यतो 'नाहम्' । 'अहमिति कर्तृपदम्, 'अहं जानामि, अहं जुहोमि, अहं ददे' इति सर्वत्र कर्तुः परामर्शात् । निष्क्रियत्वे च सर्वकर्तृत्वाभावः । ततः सुष्ठुक्तम्- "नाहम्" इति । अत एव "न मे" । कर्ताहि स्वामितां लभेत, तस्मात् कुतः स्वाभाविकी स्वामितेत्यर्थः । अथवा "नाऽस्मि" इति, "पुरुषोऽस्मि, न प्रसवधर्मा" । अप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्तृत्वमाह-"नाहम्" इति । अकर्तृत्वाच्च न स्वामितेत्याह-"नमे" इति ॥ ननु 'एतावत्सु ज्ञातेष्वपि कश्चित् कदाचिदज्ञातो विषयोऽस्ति, तदज्ञानं

इत्यत्र 'अस्मि'-इतिधातुरूपप्रयोगेण 'सत्ता क्रिया'चेत्युभयं दर्शितम्, तथा च 'सन्-चेतनः क्रियावान्न'इति क्रिया चेतने निषिद्धेति भावः ॥ अथवा-'अस्'धातोरेवार्थः क्रिया इति दर्शयति-यथाऽऽहुः भाष्यकाराः 'कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचना'इति । 'डुकृञ्' करणे, 'भू' सत्तायाम्, 'अस्' भुवि, -इत्येते त्रयो धातवः सामान्यतः क्रियाया वाचका इत्यर्थः ॥ ताश्च क्रियाः काः इत्याकांक्षायामाह-तथा चाध्यवसायेति । महत्तत्त्वस्य क्रिया अध्यवसायः, अहंकारस्य अभिमानः, मनसः संकल्पः, श्रोत्रादियुद्धान्द्रियाणाम् आलोचनानि, वागादिकर्मेन्द्रियाणां वचनारहरणादीनि चेति, घटादीनां च उत्क्षेपणादयः, त एते सर्वे आभ्यन्तरकरणजन्या बाह्यकरणजन्या अन्ये च सर्वे व्यापारा आत्मनि प्रतिषिद्धा बोद्धव्याः-आत्मा नाऽध्यवसायवान्, आत्मा नाऽभिमानवान्-इत्येवं विशेषतोऽपि निषिद्धा बोद्धव्या इत्यर्थः ॥ यतश्च=यस्माद्धेतोः, आत्मनि=चेतने, व्यापारस्य=क्रियासामान्यस्य, आवेशः=प्रवेशः, नास्ति, अतः=क्रियाऽभावादेव, कर्तृत्वाऽभावोऽपि भवति-"नाऽह"मिति । 'अह'मित्यनेन 'कर्तृत्वं' बोद्धव्यं न तु-व्यक्तिविशेषः अहंकारो वा, -इत्याह-'अहमि'ति कर्तृपदमिति । कर्तृत्वबोधकं पदमित्यर्थः ॥ 'अह'मित्यस्य 'कर्तृत्वा'धर्मपरत्वे प्रमाणमाह-अहंजानामीत्यादिना । अहंजानामि=ज्ञानक्रियाकर्ता, अहं जुहोमि=होमक्रियाकर्ता, अहं ददे=दानक्रियाकर्ता, इत्येतेषु प्रयोगेषु सर्वत्र 'अहम्'-इत्यनेन कर्तुः=कर्तृत्वस्य एव परामर्शात्=बोधनात् । आत्मनश्च निष्क्रियत्वे = क्रियाशून्यत्वात्, सर्वविधकर्तृत्वाऽभावो भवति ततः = कर्तृत्वाऽभाववत्त्वाद्धेतोः, सुष्ठु = समीचीनम्, -कर्तृत्वाऽभावबोधकमुक्तम् 'नाहमि'ति ॥ अत एव = कर्तृत्वाऽभावादेव च हेतोः । 'न मे' = न मम 'मे'-इत्यनेन स्वामिता बोध्यते, तथा च 'आत्मा न स्वामितावानि'त्यर्थः ॥ तदेव स्पष्टयति-कर्ता हीति । यो यस्य कर्ता स तत्र स्वामितां = आधिपत्यं स्वत्वं लभेत, आत्मातु सर्वथैव अकर्ता अतो न स्वामिताऽपि तत्रास्ति । स्वाभाविकी क्रिया कर्तृता स्वामिता च प्रकृतेरेव, आत्मनस्तु प्रतिविम्बताख्यसम्बन्धात् औपाधिकी अज्ञानेन कृता तत्त्वज्ञाने निषिद्धा भवतीति भावः ॥ अथवाऽर्थान्तरमाह-"ना अस्मि" इतिपदच्छेदेन 'ना'-इत्यस्य पुरुष इत्यर्थः, तथा 'पुरुषोऽस्मि, न तु प्रसवधर्मा' = प्रसवः-महत्तत्त्वादिजननात्मकपरिणामो धर्मो यस्याः तथोक्ता प्रकृतिर्न अस्मि'-इति ज्ञानमुत्पद्यते-इत्यर्थः । आत्मनः-अप्रसवधर्मित्वात् प्रसवं प्रति कर्तृत्वमपि न भवतीत्याह 'नाऽह'मिति, -कर्तृत्वाऽभाववानित्यर्थः । आत्मनोऽकर्तृत्वाच्च प्रसवनिर्हृषितस्वामिताऽपि न भवतीत्याह-'न-मे' इति, -स्वामित्वाऽभाववानित्यर्थः ॥ असार्वश्यात् केनचित् अज्ञानेन बन्धः शङ्कते-ननु-इति । एतावत्सु-पञ्चविंशतिपदार्थेषु त्रिषष्टिकारिकाभिर्निर्हृषितेषु ज्ञातेष्वपि तत्राऽनिर्हृषितोऽपि कदाचित्=कालान्तरीयः कश्चित्=देशान्तरीयो वा परार्थः अनिरूपिततया अज्ञातोऽवशिष्येत, तस्य यत् अज्ञानं



जन्तून् बन्धयिष्यति' इत्यत आह—“अपरिशेषम्” इति । नास्ति कञ्चिदस्मिन् परिशिष्टं ज्ञातव्यं, यदज्ञानं जन्तून् बन्धयिष्यतीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

किं पुनरीदृशेन तत्त्वसाक्षात्कारेण सिद्धयतीत्यत आह—

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।

प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥ ६५ ॥

“तेन” इति । भोगविवेकसाक्षात्कारौ हि प्रकृतेः प्रसोतव्यौ । तौ च प्रसूताविति नास्याः प्रसोतव्यमवशिष्यत इति निवृत्तप्रसवा प्रकृतिः । विवेकज्ञानरूपो योऽर्थस्तस्य वशः=सामर्थ्यम्, तस्मात्, अतस्त्वज्ञानपूर्वकाणि खलु धर्माधर्माज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानि श्वर्याणि । वैराग्यमपि केवलतौष्टिकानामतत्त्वज्ञानपूर्वकमेव । तत्र

तत् अज्ञानिन जन्तून् बन्धनं = दुःखभोगयोगात्मकं करिष्यतीत्याशांकायाः समाधानार्थमुक्तम् ‘अपरिशेषमिति’ ॥ तस्यार्थमाह—नास्तीति । अस्मिन् = ‘नास्मि न मे नाऽह’मित्याकारके तत्त्वज्ञाने किञ्चिदपि वस्तु ज्ञातव्यतया परिशिष्टं न वर्तते यस्य वस्तुनः अज्ञानं जन्तून् बन्धनं कुर्यादित्यर्थः । सामान्यतस्तत्त्वज्ञानेन क्षपितकर्मपस्य द्रगेव ऋतं भ्रं प्रातिभं सर्वं सामान्यविशेषोभयप्रकारकं ज्ञानमुत्पद्यते, एतादृशसर्वश्रेष्ठे प्राप्ते नाऽस्य विवेकिनो विशेषतोऽप्यज्ञातं वत्स्ववशिष्यतेऽतो न स्याद्बन्धनमिति भावः ॥ ६४ ॥

‘तेन निवृत्तप्रसवा’मितिकारिकामवतारयति—किं पुनरिति । ईदृशेन—‘नाऽस्मि नाऽहं न मे—इत्याकारकेन तत्त्वसाक्षात्कारेण = विवेकख्यात्या, पुनः=अन्यत् किं सिद्ध्यति ? विवेकख्यातौ प्राप्तया सत्यां पुरुषः किं करोति— इति भावः । इत्याकांक्षायामाहेत्यर्थः ॥

तेनेति मूलम् । तेन स्वच्छः प्रेक्षकवदवस्थितः पुरुषः, अर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तां निवृत्तप्रसवां प्रकृतिं पश्यति—इत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः—तेन=विवेकख्यात्या दारेण, स्वच्छः=रजस्तमोबुद्ध्याऽसम्भिन्नः, प्रेक्षकवत्=प्रेक्षकेण तुल्यम्, अवस्थितः=निष्क्रियः सन्, पुरुषः=चेतनः, अर्थवशात्=अर्थः प्रयोजनं विवेकख्यात्यात्मकं तस्य वशः सामर्थ्यं तस्मात्, सप्त यानि धर्माधर्माऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्यात्मकरूपाणि तेभ्यो विनिवृत्तां रक्षितानि, निवृत्तौ प्रसवौ भोगापवगात्मकौ प्रसोतव्यौ यस्याः सा ताम्, एतादृशां प्रकृतिं पश्यतीति ॥ तत्त्वकौमुद्यां—‘निवृत्तप्रसवामिति’ पदस्यार्थं स्पष्टयति—भोगेति । प्रकृतेः प्रसोतव्यौ=प्रादुर्भाव्यौ, भोगः = सुखदुःखान्तरसाक्षात्कारः विवेकसाक्षात्कारः = विवेकख्यातिश्चेत्युभौ स्तः । तौ च = भोगविवेकसाक्षात्कारौ, प्रसूतौ = जनितौ = प्राविर्भावितौ, इति = अतः, अस्याः = प्रकृतेः, प्रसोतव्यम् = प्राविर्भाव्यम्, न किञ्चिदवशिष्यते, इति = अतः, प्रकृतिः निवृत्तः=कृतः प्रसवः=भोगापवगाँ यया सा तथोक्ता वर्तते—इत्यर्थः ॥ ‘अर्थवशादित्यस्यार्थं स्पष्टयति—विवेकज्ञानेति । विवेकज्ञानरूपः=विवेकख्यात्यात्मको योऽर्थः=प्रयोजनं, तस्य=विवेकख्यातेः ॥ ‘अर्थ’पदस्यार्थमाह—सामर्थ्यमिति । विरोधिभावस्तरमादित्यर्थः ॥ ‘सप्तरूपविनिवृत्ता’मितिस्पष्टयति—अतस्त्वेति । खलु=निश्चये, धर्माधर्माऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्याणि सप्तरूपाणि, अतस्त्वज्ञानं=अज्ञानं तत्पूर्वकाणि=तत्कारणकानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ननु वैराग्यं तु विषयेभ्यस्तत्त्वज्ञानपूर्वकम् एव भवेदित्यत आह—वैराग्यमपि केवलतौष्टिकानामिति । ‘प्रकृतिमहत्कालभाग्यादयो विवेक-ख्यातिप्रदा’—इति केवलतौष्टिकानां वैराग्यमपि अज्ञानजमेवेत्यर्थः । अतौष्टिकानां मुमुक्षूणां तु गुणवैतुष्णाल्यं वैराग्यं तत्त्वज्ञानलभ्यं भवतीति भावः ॥ तत्र=अतस्त्वज्ञाने, तत्त्वज्ञानं विरोधित्वेन अतस्त्वज्ञानं=अज्ञानम्,

तत्त्वज्ञानं विरोधित्वेनाऽतत्त्वज्ञानमुच्छिनत्ति । कारणनिवृत्त्या च सप्तरूपाणि निवर्तन्त इति सप्तरूपविनिवृत्ता प्रकृतिः । 'अवस्थितः' इति निष्क्रियः, 'स्वच्छः' इति रजस्तमोवृत्तिकलुषया बुद्ध्याऽसम्भिन्नः । सात्त्विक्या तु बुद्ध्या तदाऽप्यस्य मनाक्-सम्भेदोऽस्त्येव, अन्यथैवम्भूतप्रकृतिदर्शनानुपपत्तेरिति ॥ ६५ ॥

स्यादेतत्—'निवृत्तप्रसवामिति न मृष्यामहे, संयोगकृतो हि सर्गः इत्युक्तम्, योग्यता च संयोगः, भोक्तृत्वयोग्यता च पुरुषस्य चैतन्यम्, भोग्यत्वयोग्यता च प्रकृतेर्जडत्वम् । न चैतयोरस्ति निवृत्तिः । न च करणीयाभावाच्चिद्वृत्तिः, तज्जातीयस्याऽन्यस्य करणीयत्वात्, पुनः पुनः शब्दाद्युपभोगवत्'—इत्यत आह—

उच्छिनत्ति=ससंस्कारं दहति, दग्धबीजभावं करोतीति यावत् । कारणस्य अतत्त्वज्ञानस्य निवृत्त्या = नाशेन च, सप्त यानि धर्माऽधर्माऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्यात्मकानि रूपाणि तानि निवर्तन्ते= लीयन्ते, नश्यन्तीति यावत् । इति=अतः, सप्तरूपाणि विनिवृत्तानि यस्या एतादृशी प्रकृतिर्भवतीत्यर्थः ॥ 'अवस्थित'पदार्थमाह 'निष्क्रिय' इति । 'पश्यति'क्रियातिरिक्त्यावत्क्रियाशून्यः, औपाधिका 'पश्यति'—क्रियया च मनाक् उपचरितः इति भावः । 'स्वच्छ'पदस्यार्थमाह—रजसो या दुःखाद्यात्मिका वृत्तयस्तमसश्च या मोहाद्यात्मिका वृत्तयस्ताभिः कलुषया मलिनया = व्यासया बुद्ध्या असम्भिन्नः = सम्पर्करहितः, अत एव भोगानुकूलप्रतिबिम्बशून्यः, तदा=विवेकख्यातिस्थितिकाले । अपि तु= किन्तु, सात्त्विक्या=विवेकख्यात्यात्मकसात्त्विकप्रकाशयुक्तया तु बुद्ध्या'सह, अस्य=विवेकिचेतनस्य, मनाक्='पश्यति' मात्रक्रियाप्रयोजकः किञ्चिदिव, संभेदः=सम्पर्को योगः अस्ति=वर्तते, अन्यथा=मनाक्योगाऽभावे सति तु, एवम्भूतायाः=सप्तरूपविनिवृत्तप्रसवायाः प्रकृतेः दर्शनस्याऽनुपपत्तिः स्यादित्यर्थः ॥ ६५ ॥

'दृष्टा भवे'तिकारिकां 'यावत्कालं मनागपि संयोगस्तावत्कालं सर्गः स्यादेवेत्याशंकाव्याजेनाऽक्ता-रयति—स्यादेतदिति । 'निवृत्तप्रसवा'मितियदुक्तं तत्र मृष्यामहे = न सहामहे ॥ असहने बीजं स्मारयति—'संयोगकृतो हि सर्गः'—इति । 'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः' ( २१ ) इति कारिकायाऽभिहितम् । 'संयोगो' नाम द्विधा प्रकृतिपुरुषयोर्मोग्यत्वभोक्तृत्वयोग्यता, तत्र भोक्तृत्वयोग्यताऽऽख्यो धर्मः पुरुषे चैतन्यरूपः भोग्यत्वयोग्यताख्यो धर्मश्च प्रकृतौ जडत्वरूपः, तावेतौ धर्मौ कल्पिततादात्म्येनैव व्यवहार्यौ भवतः, वस्तुतस्तु तौ धर्मिस्वरूपावेव, तथा च धर्मिस्वरूपयोः चैतन्य-जडत्वयोः नित्यतया कदाचिदपि निवृत्तिः=नाशो न स्यात्, तथा च संयोगस्तत्वात् संसारः सर्वदैव स्यात्, अतः 'निवृत्तप्रसवा'—इति न सहनीयं भवतीत्यर्थः ॥ अथ 'कृतभोगापवर्गात्मककार्यतया कस्याऽप्यवशिष्टस्य करणीयस्य अभावादेव निवृत्तिः=निवृत्तप्रसवा प्रकृतिर्भविष्यती'त्येतदपि निषेधति—न च करणीयाऽभावात् निवृत्तिरिति । 'करणीयाऽभावस्यैव असत्त्वेन सर्गनिवृत्तिः कदापि न स्यादिति—दर्शनाय करणीयान्तरं दर्शयति—तज्जातीयस्याऽन्यस्य करणीयत्वादिति । तयोः=भोगस्य अपवर्गस्य च जातीयं यद् भोगान्तरं अपवर्गान्तरं च तस्य करणीयत्वात्=कार्यतया-ऽवशिष्टत्वात्, यथा प्रतिपुरुषं भोगाऽपवर्गयोर्भिन्नत्वात् अनन्ता भोगापवर्गाः तथा एकस्याऽपि पुरुषस्य कालभेदात् अनन्ता भोगाऽपवर्गाः स्युरिति भावः ॥ एतदेव दृष्टान्तेन दर्शयति—पुनः पुनरिति । शब्दस्पर्शादीनामुपभोगः पुनः पुनर्भवति तदुपभोगनिवृत्तिरपि पुनः पुनर्भवति तद्वत् अन्यस्याऽन्यस्य भोगापवर्गद्वन्द्वस्य प्रवाहः क्रमशः सर्वदैव प्रसज्येतेति भावः ॥ तामेतां शंकां निर्वर्तितामाह—



दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या ।

सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

“दृष्टा” इति । करोतु नाम पौनःपुन्येन शब्दाद्युपभोगप्रकृतिर्यथा विवेकख्यातिर्न कृताः कृतविवेकख्यातिस्तु शब्दाद्युपभोगं न जनयति । अविवेकख्यातिनिबन्धनो हि तदुपभोगः, निबन्धनाभावे न भवितुमर्हति, अकुर इव बीजाभावे । प्राकृतान् हि सुखदुःखमोहात्मनः शब्दादींस्तदविवेकात् ‘ममैते’ इत्यभिमन्यमान आत्मा भुञ्जीत । एवं विवेकख्यातिमपि प्राकृतीमविवेकादेवाऽऽत्मा ‘मदर्थेयम्’ इति मन्यते । उत्पन्न-विवेकख्यातिस्तु तदसंसर्गाच्छब्दादीन् उपभोक्तुमर्हति, नापि विवेकख्यातिप्राकृती

‘दृष्टा मयेत्युपेक्षक इति मूलमिति । एकः—मया दृष्टा—इति उपेक्षकः, अन्या—अहं दृष्टा—इति उपरमति, तयोः संयोगे सत्यपि, सर्गस्य प्रयोजनं नास्ति त्वन्वयः । संक्षिप्तार्थः—एकः=विवेकिचेतनः, मया=चेतनेन विवेकद्वारा, दृष्टा=स्वरूपस्वभावधर्मधर्मिभावापन्ना प्रकृतिर्वहु अनुभूता,—इति विचारयन् सन्, उपेक्षकः=उपेक्षां करोति, अन्या=प्रकृतिश्च, ‘अहं=प्रकृतिः, पुरुषेण दृष्टा=स्वरूपस्वभावादिसंचरिता बहु भुक्ता’ अतः उपरमामि—इति विचारयन्तो सती—उपरम-ति=प्रवृत्तिशून्या भवति । एवं च सति तयोः=प्रकृतिपुरुषयोः अनादितः आगतस्य संयोगस्य सत्त्वेऽपि, सर्गस्य=सृष्टेः, पुनर्भोगापवर्गधोरिति यावत्, प्रयोजनं=आवश्यकता, नास्ति, पुनर्भोगापवर्गप्रदसर्गप्रयोजनः स संयोगो न भवतीति भावः । विवेकख्यात्यसहकृतसंयोगस्यैव सर्गं प्रति कारणात्वात्, विवेकख्यातिसहकृतसंयोगस्य तु सर्गकारणत्वाभावात् न सर्गादिः स्यात् तस्मात् ‘निवृत्तप्रसवा’मिति मर्षणीयमेवेति भावः ॥

तत्त्वकौमुद्यां—करोतु नामेति । यथा बुद्ध्यात्मकप्रकृत्या यमात्मानं प्रति विवेकख्यातिर्न कृता सा प्रकृतिः पौनःपुन्येन वारं वारं शब्दस्पर्शाद्युपभोगं करोतु=क्वचिदुपभोगं कचिन्निवृत्तिं पुनः कचिदुपभोगं कचिन्निवृत्तिं चेत्येवं चक्रं प्रवर्तयतु । तु=परन्तु यमात्मानं प्रति कृता विवेकख्यातिर्यथा सा पतादृशो प्रकृतिस्तु शब्दस्पर्शाद्युपभोगात्मकं सर्गं न जनयत्येवेत्यर्थः । कारणसत्तया कार्यं प्रदर्श्य कारणाऽभावेन कार्योऽभावं दर्शयति—अविवेकेति । अविवेकख्यातिनिबन्धनः=विवेकख्यात्यभाव-विशिष्टसंयोगात्मककारणेन जन्यः, तदुपभोगः=शब्दस्पर्शाद्युपभोगात्मकसंसारः, निबन्धनाऽभावे=विवेकख्यात्यभावविशिष्टसंयोगात्मककारणस्य अभावे च सति, संसारो भवितुं नाऽर्हति, यथा बीजात्मककारणस्याऽभावे सति कार्यम् अकुरो न जायते इति ॥ यावत् अज्ञानं तावदेव भोग इति दर्शयति—प्राकृतानिति । आत्मा हि—प्राकृतान्=प्रकृतिजन्यान्, सुखदुःखमोहात्मकान् शब्दस्पर्शादिविषयान्, तदविवेकात्=तस्याः प्रकृत्या अविवेकप्रहात्, प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकग्रहाऽभावात्, अज्ञानादिति यावत् । ‘मम पते’=एतेषां शब्दादीनां स्वामितावानह—मित्यभिमानं कुर्वन् सन्, भुञ्जीत, अज्ञानेन शब्दादीन् भुनक्त्येति भावः । एवम् आत्मा प्राकृतीम्—प्रकृतिधर्मास्मिकाम् उत्पत्त्यमानां विवेकख्यातिं=सत्त्व-पुरुषान्यताज्ञानास्मिकामपि, अविवेकात्=अज्ञानादेव, ‘मदर्थेयम्’—इयं—उत्पत्त्यमाना विवेकख्यातिः मदर्थः=मत्प्रयोजनं योऽपवर्गस्तदर्थः=विवेकख्यातिनिरूपितस्वामितावानह’मिति मन्यते=अभिमानं करोति ॥ अप्यत्र विवेकख्यातिर्यस्यैतादृश आत्मा तु, तदसंसर्गात्=तस्य=अज्ञानस्य विनाशेन स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वाख्यसंसर्गाऽभावात् शब्दादिविषयान् उपभोक्तुं न अर्हति, एवं ततः=प्रकृतितः, विविक्तः=विवेकख्यातिमत्तया ‘चेतनः—प्रकृतिभिन्न’ इति विवेको आत्मा, प्राकृतो प्रकृतिजन्यां

ततो विविक्त आत्मा स्वार्थमभिमन्तुमर्हति । पुरुषार्थौ च भोगविवेकौ प्रकृत्यारम्भ-  
प्रयोजकावित्यपुरुषार्थौ सन्तौ न प्रकृतिं प्रयोजयतः । तदिदमुक्तम्—‘प्रयोजनं ना-  
स्ति सर्गस्य’ इति । अत्र ‘प्रयुज्यते सर्गे प्रकृतिरनेनेति प्रयोजनम्, तदपुरुषार्थं ना-  
स्तीत्यर्थः ॥ ६६ ॥

स्यादेतत्—‘उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारान्मुक्तश्चेदनन्तरमेव मुक्तस्य तस्य देहपातः  
स्यादिति कथमदेहः प्रकृतिम्पश्येत् । अथ तत्त्वज्ञानेऽपि न मुच्यते, कर्मणामक्षीण-  
त्वात् ? तेषां कुतः प्रक्षयः ? ‘भोगात्’ इति चेत्, हन्त भोः, न तत्त्वज्ञानं मोक्षसा-  
धनम्—इति ‘व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानजन्मना तत्त्वज्ञानेनापवर्गः’ इति रिक्तं वचः । ‘भो-  
गेन चापरिसङ्ख्येयः कर्माशयप्रचयः’ इति नियतविपाककालः क्षेतव्यः, ततश्चापवर्गप्राप्तिः  
इत्यपि मनोरथमात्रम्’ इत्यत आह—

विवेकख्यातिम्, स्वार्थम्—स्वस्य चेतनस्य अर्थः प्रयोजनं तदर्थिकां, स्वीयामिति यावत्, अभिमन्तुं  
नाऽर्हति, स्वीयां नाऽभिमन्वते—इत्यर्थः ॥ पुरुषार्थौ च भोगविवेकौ=भोगो विवेकख्यातिश्चेत्युभौ  
पुरुषार्थौ यावत्समयम् अनागतावस्थौ तिष्ठतस्तावत्समयमेव प्रकृतेः सर्गे य आरम्भः तत्प्रयोजकौ  
भवतः, यदा च वर्तमानाऽवस्थौ भवतस्तदा तु पुरुषेणाऽर्थितया स्वीकृतौ तौ चरितार्थौ जातौ, तत-  
स्तत्रार्थितया पुरुषो न सम्बद्ध्यतेऽत एव अपुरुषार्थतां गतौ एतादृशौ सन्तौ तौ प्रकृतिं सर्गे न  
प्रयोजयतः—प्रेरयतः, तत्=प्रेरकत्वाऽभावादेव हेतोः, इदं=प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य’ इति उक्तम् ।  
सर्गस्य प्रयोजकं किमपि नास्तीत्यर्थः ॥ ‘प्रयोजनं’ शब्दस्य ‘प्रयोजकत्वा’ र्थमाह—अत्रेति—सर्गे प्रकृतिः  
प्रयुज्यते—प्रेर्यतेऽनेन अनागतावस्थभोगापवर्गात्मकेन सः—‘प्रयोजनम्’ प्रयोजक इत्यर्थः । तत्=प्रयो-  
जकत्वम्, अपुरुषार्थे=अनागतावस्थभिन्ने पुरुषार्थे नाऽस्ति, येन वर्तमानौ तौ प्रकृतिं प्रवर्तये-  
यातामिति ॥ ६६ ॥

‘सम्यग्ज्ञानाऽधिगमादि’ तिकांरिकां ‘तत्त्वज्ञानस्य न मोक्षकारणत्वं भवेदित्याक्षेपपूर्वकमवतार-  
यति—स्यादेतदित्यादिना । यदि उत्पन्नो यो विवेकसाक्षात्कारः=विवेकख्यातिस्तस्मात् यदि मुक्तः=  
मुक्तिमान् भवेत् पुरुषस्तदा, तदनन्तरमेव=विवेकसाक्षात्काराऽनन्तरमेव, तस्य=विवेकिनः, शरीर-  
स्य=स्थूलसूक्ष्मोभयविधस्य—पातः=वियोगः स्यात्, इति=शरीरवियोगाच्च हेतोः, अदेहः=स्थूलसूक्ष्मो-  
भयदेहवियुक्तः चेतनः अतएव प्रतिबिम्बशून्यः, कथम्=केन साधनेन, प्रकृतिम्=मायां बुद्धिरूपम्,  
पश्येत्=दर्शनवृत्त्या विषयीकुर्वीत ? तथा च ‘प्रकृतिं पश्यति पुरुषः’—(६५) इति यदुक्तं तदनुपपन्नमिति ॥  
अथ=यदि उच्येत, तत्त्वज्ञानेऽपि=विवेकख्यातौ सत्यामपि पुरुषो न मुच्यते=देहवियुक्तो न भवति,  
कुतः ?, कर्मणाम्=प्रारब्धानाम् अक्षीणत्वात्=अविनाशात्, सच्चिदानामेव तत्त्वज्ञानेन नाशत्वात् ।  
तर्हि तेषां=प्रारब्धकर्मणां कुतः=कस्माद्धेतोः, प्रक्षयः=नाशः स्यात् ?, उत्तरं यदि=भोगादेव नाशः—  
स्यादिति चेत् । हन्त ! खेदे । भोः—सम्बोधने । तर्हि तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वं न उपपन्नं, इति=  
मोक्षसाधनत्वाऽनुपपन्नत्वादेव हेतोः, “व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानजन्मना तत्त्वज्ञानेनाऽपवर्गः” इति ।  
व्यक्तं=बुद्ध्यादिपृथिव्यन्तम्, अव्यक्तं=मूलप्रकृतिः, ज्ञः आत्मा, तेषां विज्ञानेन जन्म यस्य तथोक्तेन  
तत्त्वज्ञानेन=पञ्चविंशतिपदार्थज्ञानेन, विवेकख्यात्येति यावत् ॥ अथ प्रारब्धकर्मणां भोगेन नाशो-  
भवतीति यदुक्तं तदपि अविश्वसनीयमित्याह—भोगेन चेति । कर्माशयप्रचयः=प्रारब्धकर्मणाम्  
आशयः=धर्माऽधर्मौ तयोः प्रचयः=सर्गसर्गान्तरीयोपाजितसमुदायकोटयः, अपरिसंख्येयः=पराधा-



सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।

तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

‘सम्यक्’ इति । तत्त्वसाक्षात्कारोदयादेवानादिरप्यनियतविपाककालोऽपि कर्मा-  
शयप्रवयो दग्धबीजभावतया न जात्यायुर्भोगलक्षणाय फलाय कल्पते । क्लेशसलि-  
लावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यङ्कुरं प्रसुवते । तत्त्वज्ञाननिदावनिपीतसक-  
लक्लेशसलिलायामूपायां कुतः कर्मबीजानामङ्कुरप्रसवः ? तदिदमुक्तम्-‘धर्मादीना-

न्तसंख्याभिरपि गणितुमशक्यः, अत एव अनियतविपाकसमयः=नास्ति नियतो=निर्धारितो विपा-  
कस्य=भोगेन क्षयस्य समयो यस्य एतादृशो वर्तते, स च भोगेन=तदीयसुखदुःखसाक्षात्कारेण,  
क्षेतव्यः=नाशनीयः, ततश्च=क्षयानन्तरं च अपवर्गस्य प्राप्तिः स्यात् एतदपि कालनिर्णयाऽभावात्  
तत्त्वज्ञानेनैव प्रारब्धकर्मचयेनाऽपि अपवर्गप्राप्तिस्तु मनोरथमात्रं भवति न तु कदापि भवेदित्या-  
शंकायामाहेत्यर्थः ॥ ‘सम्यगिति’-मूलम् । सम्यग्ज्ञानाऽधिगमात्, धर्मादीनाम् अका-  
रणप्राप्तौ, संस्कारवशात्, चक्रभ्रमिवत्, धृतशरीरः सन् तिष्ठतीत्यन्वयः । संक्षिप्तार्थः-सम्य-  
ग्ज्ञानस्य=तत्त्वज्ञानस्य विवेकख्यातेरिति यावत्, अधिगमात्=प्राविर्भावात्, तद्वलेन अविद्याया बीज-  
भावस्य दग्धतया सञ्चितानां धर्मादीनाम्=धर्माऽधर्माऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्याणां दग्धत्वात्  
तेषां धर्मादीनाम् अकारणत्वप्राप्तौ सत्याम्, भोगार्थं प्रारब्धानां च धर्मादिकर्मणाम् अस्मिन्नेव  
शरीरे समाप्तेनियतत्वात्, तेषां आरब्धानां धर्मादीनां यः संस्कारः संस्क्रियन्ते भोगा आरभ्यन्ते-  
नेनेति संस्कारः=अविद्या प्रारब्धः कर्मभोगो यथा सा एतादृशी बुद्धिसत्त्वात्मना स्थिता विलोभोन्मुखी,  
तस्याः वशात्=किञ्चित्सा मर्थात्, चक्रभ्रमिवत्=दण्डेन आरब्धं चक्रस्य भ्रमणं दण्डाऽभावेऽपि  
वेगाख्यसंस्कारात् किञ्चित्कालमात्रं तिष्ठति, तद्वत्, आरम्भितकर्मविपाकसमयपर्यन्तं धृतशरीरः=धृतं=  
अविशुक्तं शरीरं येन सः एतादृशः सन् चेतनस्तिष्ठति=वर्तते-इत्यर्थः ॥ तत्त्वकौमुद्यौ तत्त्वसाक्षा-  
त्कार इति । तत्त्वसाक्षात्कारः-विवेकख्यातिः तस्य उदयादेव, आनादिरपि=यद्यप्यनादिः=पूर्वपूर्व-  
सर्गसर्गान्तरीयाऽविच्छिन्नपरम्परालब्धः, अथ च अनियतः विपाकस्य=फलभोगस्य कालो भविष्य-  
त्समयो यस्य एतादृशोऽपि कर्माशयप्रचयः=कर्मणां-सञ्चितकर्मणां धर्माधर्मात्मकानां प्रचयः=संच-  
यः-समुदायकोटयः, स दग्धः=नष्टः=तिरोभूतः, बीजभावः=कारणता यस्य एतादृशतया कारण-  
त्वविधुरतया, जात्यायुपभोगलक्षणाय=जातिः-मनुष्यत्वपशुत्ववृक्षत्वादिरूपा आदिना आयुः-शतव-  
र्षादिसमयस्थितिः, तेषाम् उपभोगः-साक्षात्कारो दुःखसुखादेः, स एव लक्षणं=स्वरूपं यस्येतादृशाय  
फलाय=प्रयोजनाय, न कल्पते=सञ्चिताः धर्मादयः विवेकख्यात्या नष्टाः सन्तः फलं न जनयन्तीति  
भावः ॥ तदेतद्दृष्टान्तेन स्पष्टयति-क्लेशेति । अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशास्त  
एव सलिलं जलं तेन अवसिक्तायां सिञ्चितायां बुद्ध्यास्मिकायां=भूमौ=क्षेत्रे, कर्मबीजानि=शुक्ल-  
कृष्ण-शुक्लकृष्णेति त्रिविधानि कर्मात्मकानि बीजानि=धर्माधर्मादयः सप्त, ते अङ्कुरं=सर्गं-सृष्टिम्,  
प्रसुवते=जनयन्ति, येन फलं सुखदुःखभोगात्मकं भवेत् । अथ तत्त्वज्ञानं=तत्त्वज्ञानजन्या या विवे-  
कख्यातिस्तद्गो यो निदावः=उष्णोपगमस्तेन निपीतं=शोषितं सकलं यदविद्याऽस्मितारागद्वेषाभि-  
निवेशात्मकं सलिलं यस्यास्तस्याम्, ऊषरायां च क्षारमृत्तिकायां, कुतः=कस्माद्धेतोः, कर्मबीजानां=  
शुक्ल-कृष्ण-शुक्लकृष्णेति त्रिविधानां कर्मात्मकबीजानां धर्माधर्मादीनाम्, अङ्कुरस्य=सर्गस्य, प्रसवः=  
प्राविर्भावः ? न स्यादित्यर्थः । तत्=तस्मात् कारणऽभावाद्धेतोः, इदम्-‘धर्मादीनामकारणप्राप्तौ’-

मकारणप्राप्तौ' इति, अकारणत्वप्राप्तावित्यर्थः । उत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि च संस्कारव-  
शात् तिष्ठति; यथोपरतेऽपि कुलालव्यापारे चक्रं वेगाख्यसंस्कारवशात् भ्रमत् तिष्ठति ।  
कालपरिपाकवशात्तपरते संस्कारे निष्क्रियं भवति । शरीरस्थितौ च प्रारब्धकर्मपरि-  
पाकौ धर्माधर्मौ संस्कारौ, तौ च भोगेन क्षेतव्यौ । तथा चाऽनुभूयते-तस्य ताव-  
देव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इति ( छा ६।१।३।२ ) । प्रक्षीयमाणविद्यासं-  
स्कारावशेषश्च संस्कारस्तद्वशात् तत्सामर्थ्यात् धृतशरीरस्तिष्ठति ॥ ६७ ॥

स्यादेतत् 'यदि संस्कारशेषादपि धृतशरीरस्तथाऽपि कदाऽस्य मोक्षो भविष्यति ?'  
इत्यत आह-

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।

प्रेकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

इति उक्तम् । तस्यार्थमाह-अकारणत्वप्राप्ताविति । कारणताया नष्टत्वादित्यर्थः । तथा च उत्पन्ने  
तत्त्वज्ञानेऽपि=विवेकख्यातावपि, 'संस्कारवशात्=आरब्धधर्मादीनामारम्भकतया बुद्ध्यात्मकतया  
स्थितायाः अविद्यायाः वशात्=किञ्चित्सामर्थ्यात् । संस्क्रियन्ते=आरम्भ्यन्ते भोगाननयेतिव्युत्पत्त्या  
संस्कारोऽविद्या । तिष्ठति=स्थूलसूक्ष्मशरीरे वर्तते॥ तद् दृष्टान्तेन स्पष्टयति-यथोपरतेऽपीति ।  
यथा कुलालस्य व्यापारे=इस्तेन दण्डनालनात्मिकायां क्रियायाम्, उपरतेऽपि=नष्टायां सत्यामपि,  
चक्रं वेगाख्यो यो गुणविशेषः संस्कारस्तत्सामर्थ्यात्, भ्रमत् सत् तिष्ठति । संस्कारध्वंसस्य च यः  
कालपरिपाकः=समयप्राप्तिः तद्वशात् वेगाख्ये संस्कारे उपरते=नष्टे सति चक्रं निष्क्रियं=भ्रमणशून्यं  
भवति तद्वत् इत्यर्थः॥ दार्ष्टान्तिके योजयति- शरीरस्थिताविति । शरीरस्य स्थूलसूक्ष्मोभयविधस्य  
स्थितौ सत्यामेव सूक्ष्मशरीरे स्थितौ=विद्यमानौ प्रकरणेण आरब्धः कर्मणो परिपाको=फलं भोगात्मकं  
याभ्यां तौ पतद्दृष्टौ यौ धर्माऽधर्मौ=अदृष्टपदवाच्यौ, संस्कारौ=बीजात्मकत्वात् शरीरस्थितिपूर्वकत्वा-  
च्च संस्कारौ भवतः, तौ च=धर्माऽधर्मौ, भोगेन=सुखदुःखसाक्षात्कारेण फलेन, क्षेतव्यौ=विनाशि-  
तव्यौ भवतः ॥ अत्रार्थं श्रुतिं प्रमाणयति-तस्येति । छान्दोग्यश्रुतिरियम् । तस्य=विवेकिनः, ताव-  
देव=तावदानेव, चिरम्=समयविलम्बोऽस्ति, यावत्=यावत्कालं, न विमोक्ष्ये=शरीरात् विमुक्तो न  
भवति, अथ=शरीरवियोगे सति तु, सम्पत्स्ये=मोक्षमधिगच्छतीति ॥ वेदान्तसूत्रेणाऽप्येतदुक्तम्-  
'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते' इति । इतरे=आरब्धपुण्यपापा विवेकिनस्तु, भोगेन=  
तत्सुखदुःखसाक्षात्कारेण, क्षपयित्वा=धर्माधर्मनाशं कृत्वा, अथ=पश्चात्, सम्पद्यते=मुक्तिस्थितिं गच्छ-  
न्तीत्यर्थः ॥ संस्कारपदार्थमाह-प्रक्षीयमाणेति । विवेकख्यात्या प्रक्षीयमाणाः=नाशं गम्यमाना ये  
अविद्यायाः संस्काराः धर्माधर्मात्मकाः, तत्र ये नष्टास्ते संधिताः, ये च अवशेषतया तिष्ठन्ति न  
नश्यन्ति ते धर्माद्यात्मकाः प्रारब्धाख्यसंस्कारा उच्यन्ते, तद्वशात्=तत्सामर्थ्यात्, धृतशरीरः=शरीरे  
कृतस्थितिकः सन् तिष्ठति=वर्तते-इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

'प्राप्ते शरीरभेदे'-इति कारिका-मोक्षसमयजिज्ञासायाऽवतारयति-स्यादेतदिति । यदि  
संस्कारशेषात्=अवशिष्टप्रारब्धधर्मादिसंस्कारवशात् अपि, धृतशरीरः=शरीरे स्थितिः, तदा अस्य=  
विवेकिचेतनस्य, कदा मोक्षः=प्रेकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः, कस्मिन् काले भविष्यतीति'  
जिज्ञासायाम् आहृत्यर्थः । 'प्राप्ते शरीरभेदे' इति मूलम् । शरीरभेदे प्राप्ते ( सति ), चरितार्थ-  
त्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ( सत्याम् ), प्रेकान्तिकम् आत्यन्तिकम् उभयं कैवल्यम् आप्नोतीत्यन्व-



“प्राप्त” इति । अनारब्धविपाकानां तावत् कर्माशयानां तत्त्वज्ञानाग्निना बीज-  
भावो दग्धः । प्रारब्धविपाकानां तूपभोगेन क्षये सति, “प्राप्ते शरीरभेदे” इति-  
विनाशे । “चक्षितार्थत्वात्” इति-कृतप्रयोजनत्वात् प्रधानस्य तत्पुरुषमप्रति विनि-  
वृत्तौ । “ऐकान्तिकम्”-अवश्यम्भावि “आत्यन्तिकम्”-अविनाशि-इत्युभयं “कैव-  
ल्यम्”-दुःखत्रयविगममप्राप्नोति पुरुषः ॥ ६८ ॥

प्रमाणेनोपपादितेऽप्यत्यन्तश्रद्धोत्पादनाय परमर्षिपूर्वकत्वमाह-

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।

स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

यः । संक्षिप्तार्थः-प्रारब्धकर्मभोगसमाप्तौ सत्यां उभयशरीरस्य भेदे=वियोगे प्राप्ते=सति,  
मरणे सतीति यावत्, चरितार्थत्वात्=चरितौ=आचरितौ भोगापवर्गात्मकौ अर्थौ यथा सा तत्त्वात्  
कृतकृत्यत्वादिति यावत्, प्रधानस्य=प्रकृतेः, विनिवृत्तौ=अत्यन्तं वियोगे सति, ऐकान्तिकम्=एक  
एव अन्तः=जन्यजनकभावाख्यो व्याप्तिनियमो यस्येति एकान्तः=अवश्यंजायमानो दुःखध्वंसः,  
एकान्त एवेति-ऐकान्तिकः । आत्यन्तिकम्=अत्यन्तं-स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसमानका-  
लीनो यो दुःखध्वंसः स एव आत्यन्तिकः । इत्युभयविधं कैवल्यं=कैवल्यस्य=आत्मस्वरूपस्य भाव-  
स्तम्=मुक्तिं दुःखत्रयध्वंसात्मिकमिति यावत् । चेतनः आप्नोति, मुक्तिं तु प्रकृतिरप्राप्नोति तेन  
चेतनः स्वरूपप्रतिष्ठो भवतीति भावः ॥ तत्त्वकौमुद्याम्-अनारब्धेति । तावत्=प्रथ-  
मम्, अनारब्धविपाकानां=न आरब्धाः विपाकाः=भोगो येषान्तेषां सन्धितानामित्यर्थः । कर्माशया-  
नां=शुद्ध-कृष्ण शुक्लकृष्णानां कर्मणां ये आशयाः धर्माधर्माख्यास्तेषां बीजभावः=कारणता, तत्त्व-  
ज्ञानाग्निना=विवेकख्यातिरूपवह्निना, दग्धः=नष्टो, प्रकर्षेण आरब्धः विपाको=भोगात्मकफलं येषान्ते-  
षां धर्माधर्मादीनां तु उपभोगेन=बुद्धदुःखसाक्षात्कारेण, क्षये=नाशे सति, ततः-शरीरस्य भेदे=वि-  
नाशे=वियोगे प्राप्ते सति, चरितार्थत्वात्=कृतप्रयोजनत्वात्=भोगाऽपवर्गात्मकप्रयोजनस्य साधि-  
तत्वात् निरर्थकस्य प्रधानस्य=मूलप्रकृतेः तं=शरीरवियुक्तिं पुरुषं प्रति विनिवृत्तौ=अत्यन्तवि-  
योगे सति, ‘ऐकान्तिकम्=अवश्यम्भावि=विवेकख्यात्या सह अन्यव्यभिचाराऽभाववत्=विवेक-  
ख्यातिसमानाधिकरणाऽभावप्रतियोगित्वाऽभाववत् । ‘आत्यन्तिकम्=अविनाशि, -ध्वंसाऽप्रतियोगि,  
यस्य कदापि ध्वंसो न भवेत् तादृशम्, ध्वंसस्य ध्वंसाऽभावात्-आत्यन्तिकमित्यस्य-स्वाधिकरणे  
दुःखान्तरप्रागभावाऽसमानाधिकरणमित्यर्थो बोध्यः । ‘कैवल्यम्=दुःखत्रयस्य=आध्यात्मिकाऽऽधि-  
भौतिकाऽऽधिदैविकात्मकस्य विगमम्=निवृत्तिम्, पुरुषः=शरीरस्थितिपर्यन्तं पुरुषः पुरि शरारे  
शयनात्, शरीरवियोगे सति तु चेतनः, प्राप्नोति=विन्दते, -प्रकृतिरेव मुच्यते पुरुषस्तु सदैव-  
मुक्त इति त्वनुसन्धेयम् ॥ मुक्तिः=दुःखध्वंसविशिष्टाऽन्यदुःखध्वंसः । वैशिष्ट्यं च स्वतादात्म्य-  
स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावकालोन्तवोभयसम्बन्धेन । स्वं=अस्मदादिदुःखध्वंस, निरुक्तोभय-  
सम्बन्धेन तद्विशिष्टः स एव, तदन्यः-आत्यन्तिकदुःखध्वंस इति ॥ ६८ ॥

तदेवं प्रथितस्याऽस्य शास्त्रस्य श्रद्धोत्पादनाय परमर्षिपूर्वकत्वं दर्शयन्तो ‘पुरुषार्थज्ञानमिदं’-  
मिति कारिकाभवतारयति-प्रमाणेनेति । प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमैः उपपादिते=सिद्धीकृते=निर्णा-  
तेऽपि शास्त्रार्थेऽत्यन्तं मुमुक्षूणां श्रद्धाया उत्पादनाय परमर्षिपूर्वकत्वमाह-पुरुषार्थेति-मूलम् ।  
इदं गुह्यं पुरुषार्थज्ञानं परमर्षिणा समाख्यातम्, यत्र भूतानाम् स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः चिन्त्यन्ते-इत्यन्व-

“पुरुष” इति । “गुह्यम्”—गुह्यनिवासि, स्थूलधियां दुर्बोधमिति यावत् । परमर्षिणा—” कपिलेन । तामेव श्रद्धाभागमिकत्वेन दृढयति—“स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्” इति । “यत्र” ज्ञाने—यदर्थम्,—यथा “चर्मणि द्वीपिनं हन्ति” इति । “भूतानाम्”—प्राणिनां “स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः” आगमैः “चिन्त्यन्ते” ॥ ६९ ॥

स्यादेतत्—“यत् परमर्षिणा साक्षात्कथितं तच्छ्रद्धाधीमहि, यत्पुनरीश्वरकृष्णेन कथितं, तत्र कुतः श्रद्धा ?”—इत्यत आह—

एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।

आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

यः । शब्दार्थः—इदम्=अनेन शालेण प्रतिपादितम्, गुह्यम्=तत्त्वविषयकभोक्तव्यानां दुर्बोधम्, पुरुषार्थज्ञानम्=पुरुषस्य चेतनस्य अर्थः—भोगापवर्गात्मकस्तस्मै—तदर्थं—तत्प्रयोजनकं ज्ञानम्, परमर्षिणा=परमश्लासी ऋषेः कपिलमुनिः तेन, कपिलस्य परमर्षित्वं श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—“ऋषिं प्रमूर्तं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभक्तिं जायमानं च पश्येदिति । समाख्यातं=कथितम् ॥ आसोक्तत्वं प्रदर्श्य आगमसम्मतत्वमप्याह उत्तरार्धकारिकया—“यत्र=यस्मिन् ज्ञाने, निमित्तार्थे सप्तमी,—तथा च मुमुक्षुजीवानां यज्ज्ञानात्मकप्राप्तिफलनिमित्तमित्यर्थः । आगमैः=त्वभिन्नवैदिकशास्त्रैरपि, भूतानाम्=पृथिव्यादिस्थूलभूतानां प्राणिनां च, स्थितिः उत्पत्तिः प्रलयाश्च चिन्त्यन्ते=निरूप्यन्ते, वैदिकशास्त्रेणपि जीवानां यत्तत्त्वज्ञानमिमित्तं सर्गस्य जन्मस्थितिभङ्गात् वर्णयन्ति—तदेवेदं तत्त्वज्ञानमस्ति नाऽन्यदिति भावः ॥ तत्त्वकौमुद्यां—“गुह्य”मित्यस्यार्थमाह—गुह्यनिवासीति । गुह्यं=गुम्अन्धकारम् अज्ञानं हन्ति इति गुह्यं=सप्रकाशहृदयम्—परमर्षिहृदयं क्षपितकल्मषहृदयं च तत्र निवसतीत्यर्थः । तात्पर्यार्थमाह—स्थूलधियां दुर्बोधमिति । बुद्धौ स्थूलत्वं नाम—अनभ्यस्तसांख्यतत्त्वत्वम्, सांख्यशास्त्रोपतत्त्वाऽभ्यासशून्यानामिति यावत्, दुर्बोधम्=उपलब्ध्यविषयम्—अजायमानमिति यावत् । ‘परमर्षिणा’—इत्यनेन परिचयं कारयति नाम्ना ‘कपिलेने’ति । सांख्यज्ञानस्य कपिलर्षिमूलकत्वेन या श्रद्धा उत्पद्यते तामेव श्रद्धाम् अस्य ज्ञानस्य आगमिकत्वेन=वैदिकत्वप्रदर्शनेनाऽपि दृढयतीत्यर्थः । ‘यत्र’—पदस्यार्थमाह—ज्ञाने—इति । ‘निमित्तात्मकमयोगं’—इति वार्तिकेन निमित्तार्थे सप्तमी, निमित्तमिह फलम्, तथा च ‘यज्ज्ञाननिमित्तमित्यर्थः । तत्र पातअलभाष्यप्रमाणमाह—‘चर्मणि द्वीपिनं हन्ति’—दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चर्मो’ हन्ति सीम्नि पुष्कलो क इतः’—इति । तत्र ‘चर्मणी’त्यस्य चर्मनिमित्तमित्यर्थः । द्वीपो वनप्रदेशः अस्याऽस्तौति द्वीपो शार्दूलस्तं हन्ति । दन्तनिमित्तं हस्तिनं हन्ति, केशनिमित्तं चर्मो’ गां हन्ति राज्यसीमार्थं पुष्कलकनामकं राजानं हन्तीत्यर्थः । ‘भूतानामित्यस्यार्थमाह—प्राणिनामिति । स्थूलसूक्ष्मशरीरवतां,—स्थूलपृथिव्यादिभूतानां चेत्यपि बोध्यम् । उत्पत्तिः=प्राविर्भावः जन्म, स्थितिः=भोग्यावस्था—स्थिरता, प्रलयः—तिरोभावः—मरणम् । एते—आगमैः वैदिकशास्त्रैः चिन्त्यन्ते निरूप्यन्ते—वर्णयन्ते इति ॥ ६९ ॥

अश्रद्धाशङ्काव्याजेन कपिलमुनितः सम्प्रदायपरम्परया तत्त्वज्ञानस्याऽऽगमनप्रदर्शनार्थम् ‘एतत्पवित्र’मिति कारिकाभवतारयति—स्यादेतदिति । यत् ज्ञानं परमर्षिणा कपिलेन यस्मै साक्षात् कथितं भवेत् तेन चोक्तं स्यात् यदि, तदा तज्ज्ञानं श्रद्धाधीमहि, यत् ज्ञानं तु ईश्वरकृष्णेन केनचित् कपिलस्य साक्षात् अशिष्येण कथितं तत्र ज्ञाने कुतः=कस्माद्धेतोः श्रद्धा=उपादेयबुद्धिः स्यात्—इत्याशङ्कायामाह—‘एतत्पवित्रमग्र्य’मिति मूलम् । मुनिः अनुकम्पया अग्र्यं पवित्रम्



“एतत्” इति । “एतत् पवित्रम्”—पावनम्—दुःखत्रयहेतोः पाप्मनः पुनातीति, “अग्र्यम्”—सर्वेभ्यः पवित्रेभ्यो मुख्यम्, “मुनिः”—कपिलः “आसुरयेऽनुकम्पया प्रददौ, आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतद्धार्याभिः ।

सङ्क्षिप्तमार्थमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥

“शिष्य” इति । आरात् याता तत्त्वेभ्य इत्यार्या, आर्या मतिर्यस्य सोऽग्र्यम्—“आर्यमतिः” इति ॥ ७१ ॥

एतच्च शास्त्रम्, सकलशास्त्रार्थसूचकत्वात्, न तु प्रकरणमित्याह—

एतत् आसुरये प्रददौ, असुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन च तन्त्रं बहुधा कृतम्—इत्यन्वयः । शब्दार्थः—मुनिः=कपिलचार्यः, अनुकम्पया=आसुरेर्मोक्षो भवेदिति दयया, अग्र्यं=अग्रे भवं—अनादिसर्गसर्गान्तरतः आगम्यमानं श्रेष्ठम्, पवित्राणां पवित्रं च, एतत्=सांख्यज्ञानम्, ‘आसुरि’-नाम्ने शिष्याय प्रददौ, आसुरिमुनिरपि स्वशिष्याय ‘पञ्चशिख’नाम्ने मुनये प्रददौ, तेन च पञ्चशिखेन ऋषिणा, तन्त्रं=सांख्यशास्त्ररूपमिदं ज्ञानम्, बहुधा कृतम्=ग्रथितैर्बहुभिः शास्त्रैः बहुषु शिष्येषु विस्तारितमिति । तानि शास्त्राणोदानां नोपलभ्यन्ते इति बोध्यम् ॥ तत्त्वकौमुद्यां—‘पावन’पदार्थमाह—दुःखेति । आध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकदुःखत्रयस्य हेतोः पाप्मनः=अविद्यातः, पुनाति=अविद्यां निर्भूय चेतनं विवेकख्यातिरूपं मोक्षं पुण्यं ददातीति भावः । ‘अग्र्य’मित्यस्यार्थमाह—सर्वेभ्य इति । अशेषेभ्यः पवित्रेभ्यः=मोक्षप्रदेभ्यो ज्ञानेभ्य अष्टादशविधाभ्यः, मुख्यम्=मूर्धन्यम् । ‘मुनि’ पदग्राह्यं व्यक्तिमाह—कपिल इति । स च ‘आसुरि’नाम्ने शिष्यायाऽनुकम्पया=मोक्षदयया प्रददौ, आसुरिरपि स्वशिष्याय पञ्चशिखाय प्रददौ, तेन च पञ्चशिखेन, बहुधा=बहुप्रकारं, तन्त्रं सांख्यशास्त्रं कृतं=विरचय्य विभक्तमिति ॥ ७० ॥

‘शिष्येति’शूलम्—शिष्यपरम्परया आगतम् एतत् आर्यमतिना ईश्वरकृष्णेन सिद्धान्तं सम्यग् विज्ञाय आर्याभिः संक्षिप्तमित्यन्वयः । शब्दार्थः—पञ्चशिखस्य तन्त्रेषु बहुधा निरूपितं कपिलज्ञानं तदेवं कपिलस्य शिष्याणां परम्परया ईश्वरकृष्णाख्ये शिष्ये मथि आगतम् एतत्सांख्यज्ञानम्, आर्यमतिना=आरात्—समिपे, याता=जाता, तत्त्वेभ्यः, पञ्चविंशतितत्त्वानां साक्षात्सम्बन्धवती प्रादुर्भूता—इति आर्या=तत्त्वविपयिणी मतिर्यस्य तेनेत्यर्थः, तत्त्वज्ञानिनेति यावत्, ‘ईश्वरकृष्ण’संज्ञकेन सांख्यसिद्धान्तं सम्यक्=संशयविपर्ययविकल्परहितं यथा स्यात् तथा, विज्ञाय=निश्चित्य, आर्याभिः=आर्याछन्दसि ग्रथिताभिः द्वाप्तसप्तसंख्याकारिकाभिः, संक्षिप्तम्=अर्थेषु विस्तृतमपि ज्ञानं शब्दसंक्षेपेण संगृहीतमिति ॥ तत्त्वकौमुद्यां—‘आर्यमतिना’—इत्यस्यार्थमाह—आरादिति । तत्त्वेभ्यः=पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वेभ्यः, पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वानामिति यावत्, आरात्=समिपे साक्षात् । याता=गन्त्री=तत्त्वानां साक्षाद्विपयिणीत्यर्थः, एतादृशी बुद्धिर्व्यस्य तेन,—तत्त्वज्ञानिनेत्यर्थः ॥ ७१ ॥

द्वाप्तसप्तकारिकात्मकसांख्यनिबन्धस्यास्य शास्त्रत्वं दर्शयति—एतच्चेति—एतत् सांख्यतत्त्वप्रतिपादकं द्वाप्तसप्तकारिकात्मकं शास्त्रं बोध्यम्, पण्णां शास्त्राणां न्यायवैशेषिक-वेदान्तमोमांसा-सांख्ययोगाख्यानां मध्ये एकं शास्त्रं बोध्यम् । तत्र हेतुमाह—सकलेति । सकलानां—कलाः सगासव्यासाः तैः सहितास्तेषां यावतां समस्तानां व्यस्तानां च शास्त्रस्यार्थानां—पदार्थानां—प्रमा-

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।

आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

“सप्तत्याम्” इति । तथा च राजवार्तिकम्--“प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथा-  
ऽन्यता । पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥ शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिका-  
र्थाः स्मृता दश । विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥ करणानामसामर्थ्यमष्टा-  
विंशतिधा स्मृतम् । इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः” इति ॥ सेयं षष्टिप-  
दार्थां कथितेति सकलशास्त्रार्थकथनान्नेदं प्रकरणमपि तु शास्त्रमेवेदमिति सिद्धम् ।

णानां लक्षणाणां परीक्षाणां प्रयोजनानां मोक्षाणां चैवमादीनां सूचकत्वात्=बोधकत्वात् । न तु  
प्रकरणम्=प्रकाशं यत्किञ्चिद्विषयं वर्णयति यत् तत् प्रकरणम्, नेदं प्रकरणमित्यर्थः । इत्येतदाह-  
सप्तत्यामिति मूलम् । सप्तत्याम् आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि येऽर्थाः (सन्ति),  
ते कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्याऽर्थाः सन्ति किल-इत्यन्वयः । शब्दार्थः-सप्तत्यां-द्वयधिकाभिः सप्त-  
तिसंख्याकारिकाभिः प्रतिपादितेऽस्मिन् सांख्यशाने निबन्धे, आख्यायिकाः=कथ्यादिवंशचरतानि  
तैर्विरहिताः, अपि=तथा, परेषां=परमतानां वादः=प्रतिवादः खण्डनं, अथवा परान् अर्थान्  
वदन्ति न तु स्वार्थान् इति परवादः=अर्थवादः तेन विवर्जिताश्च, ये अर्थाः=पञ्चविंशतिपदार्थाः  
निष्पिताः सन्ति, ते पञ्चविंशतिपदार्थाः समस्ता स्थिताश्च, कृत्स्नस्य समग्रस्य, षष्टितन्त्रस्य=  
‘षष्टितन्त्र’नामकग्रन्थस्य, अर्थाः=पदार्थाः, सन्ति । किल=निश्चये । तत्त्वकौमुद्यां-तथा च राज-  
वार्तिकमिति । ‘राजवार्तिकाख्ये’ सांख्यग्रन्थेऽभिहितमाह-‘प्रधानेति । एतैर्वास्तिकश्लोकैः  
षष्टिसंख्याकाः पदार्थाः परिगणिताः, तत्र दश अर्था मौलिकाः=मूलं=मुख्यं यत् जडचेतनभेदेन पदा-  
र्थद्वयं तत्र भवाः=तदुभयमवलम्ब्य निष्पिताः दश पदार्थाः स्मृताः, ते च यथा-प्रधानास्तित्वम्=  
प्रधानस्य-मूलप्रकृतेः पुरुषस्य च अस्तित्वं १ । एकत्वम्=प्रधानस्य एकत्वम् २ । अर्थवत्त्वम्=प्रधा-  
नस्य भोगाऽपवर्गात्मकप्रयोजनवत्ता ३ । पारार्थ्यं=संघातात्मकप्रकृतेः परः पुरुषस्तादर्थ्यं ४ । ‘शेष-  
वृत्तिः’-शेषःकार्यं तेन रूपेण वर्तते इति । शेषवृत्तिः-व्यक्ताऽव्यक्तत्वरूपत्वमिति ५ । अन्यता=पुरु-  
षस्य जडभित्तत्वम् ६ । अकर्तृत्वम्=पुरुषस्य कर्तृत्वशून्यत्वम् ७ । अनैक्यम्=पुरुषस्य बहुत्वम्  
८ । वियोगः=मोक्षः ९ । योगः=भोगात्यन्तयोगः १० । एते दश धर्मा बोध्याः ॥ अथ पञ्चाशत्  
पदार्था अवान्तरभेदेन भवन्तीति दर्शयति-विपर्ययइत्यादिना । पञ्चविधः-तमोमोहमहामोहता-  
मिह्नाऽन्धतामिह्नाख्यः ॥ तथा तुष्टयः-नव अम्भःसलिलौषवृष्टिगारनुपारपारापाऽनुत्तमाम्भउत्त-  
माम्भसंघका उक्ताः ॥ करणानाम्=एकादशेन्द्रियाणाम् असामर्थ्यम्=कुण्ठितभावः-अशक्तिः एका-  
दशविधा, तथा नवतुष्टीनामष्टसिद्धीनां च विपर्ययाः सप्तदश, मिलित्वा अष्टाविंशतिधा-अशक्तिः,  
स्मृता ॥ तथा अष्टाभिः सिद्धिभिः ऊहादिभिः सह मिलित्वा, पञ्चाशन् भवन्ति । ते एतेऽवान्तरार्था  
उच्यन्ते ॥ ते च मौलिकार्था अवान्तरार्थाश्च मिलित्वा, षष्टिसंख्याका भवन्तीति । तदेव दर्शयति-  
सेयमिति । इयम्=सप्ततां,=द्वयधिकानां सप्ततिसंख्याकानां कारिकाणां समुदायो यत्र तादृशो  
‘सप्ततां’-सांख्यकारिका, सा, षष्टिपदार्थां=षष्टिसंख्याकाः पदार्थाः सन्ति वर्या इति षष्टिपदार्थां,  
कथिता=निबद्धा । इत्यतः सकलानां शास्त्रप्रतिपाद्यानाम् अर्थानां पदार्थानां प्रकृतिपुरुषादीनां कथ-  
नात्=वर्णनात्, न इदं प्रकरणम् अपि तु शास्त्रमेवेति सिद्धम्-अनुमितम्-‘सांख्यकारिकाग्रन्थः  
शास्त्रम्-सकलशास्त्रार्थप्रतिपादकत्वादिति ॥ राजवार्तिकोक्तान् धर्मान् विभज्य दर्शयति-एकत्व-



एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यञ्च प्रधानमधिकृत्योक्तम् । अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वञ्चेति पुरुष-  
मधिकृत्य । अस्तित्वं वियोग योगश्चेत्युभयमधिकृत्य । वृत्तिः स्थितिरिति स्थूलसूक्ष्म-  
मधिकृत्य ॥ ७२ ॥

मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ती सतां सदा ।

श्रीवाचस्पतिमिश्राणां कृतिः स्तात् तत्त्वकौमुदी ॥

ॐ इति षट्दर्शनटीकाकृच्छ्रीमद्वाचस्पतिमिश्रविरचिता साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी समाप्ता ॐ

मिति । एकत्वम्=स्वसजातिभेदशून्यत्वम्, अर्थवत्त्वम्=भोगापवर्गात्मकप्रयोजनवत्त्वम्, पारार्थ्यम्=  
पुरुषप्रयोजनसम्पादकत्वम् एते त्रयो धर्माः प्रधानं=मूलप्रकृतिं अधिकृत्य=उद्दिश्य उक्ताः ॥ अन्यत्वम्=  
प्रकृतिप्रतियोगिकभेदवत्त्वम्, अकर्तृत्वम्=कार्यानुकूलकृतिशून्यत्वम्, बहुत्वम्=शानुयोगिवृत्तित्व-  
स्वप्रतियोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टाऽसाधारणधर्मावच्छिन्नत्वम्, एते त्रयो धर्माः पुरुषमु-  
द्दिश्योक्ताः । अस्तित्वम्=स्वरूपसत्त्वम्, वियोगः=आत्यन्तिकदुःखध्वंसात्मको मोक्षः, योगः=संयोगः=  
भोगः, एते त्रयो धर्माः उभयं प्रकृतिपुरुषं चाऽधिकृत्योक्ता इति ॥ शेषवृत्तिपदार्थमाह-स्थितिरिति ।  
प्रकृतेः अन्वयित्वमित्यर्थः ॥ कस्याऽवस्थितिरित्याकांक्षायामाह-स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्येति । स्थूलं=  
व्यक्तावस्था, सूक्ष्मम् अन्यक्तावस्था, तदुभयमुद्दिश्येत्यर्थः । व्यक्ताऽव्यक्तात्मकत्वं प्रकृतेरिति दर्शित-  
मिति भावः ॥ केचित्तु-व्यक्ताऽव्यक्तस्वरूपमेव दशविधं ते एव च मौलिकार्था दश न तु राजवार्ति-  
कोक्तरीत्येति वर्णयन्ति—यथा 'पुरुषः, प्रकृतिर्बुद्धिरहंकारो गुणस्त्रयः । तन्मात्रमिन्द्रियं भूतं मौलि-  
कार्थाः स्मृता दश' इति ॥ शास्त्रान्ते आद्योर्मगलमाचरति-मनांसीति । श्रीवाचस्पतिमिश्राणां  
कृतिः=रचना, या, 'तत्त्वकौमुदी' नाम्नी टीका, सांख्यतत्त्वानां कौमुदी=कान्तिकरी प्रकाशिका ।  
यथा चन्द्रस्य कौमुदी कुमुदानि बोधयन्ती भवति तद्वत् सदा सतां=विदुषां मनांसि बोधयन्ती=  
बोधयति ज्ञानात्मकं प्रकाशं जनयति—इति बोधयन्ती, एतादृशी स्तात्=अस्तु—इति ॥ ७२ ॥

भारते पश्चिमे प्रान्ते पुण्ये सागरसंगते ।

रैवताऽद्रिःसमाधारे 'कङ्कसौराष्ट्र'विश्रुते ॥ १ ॥

वीरविद्वद्गणाऽऽपूर्ण-जीर्णदुर्ग-निवासिभिः ।

श्रीकृष्णवल्लभाचार्यैः स्वामिनारायणाऽऽश्रितैः ॥ २ ॥

सांख्यशास्त्रविक्षूणां बालानां हितकारिणी ।

व्याख्येयं तत्त्वकौमुद्याः-विस्तृता किरणावली ॥ ३ ॥

काश्यां मार्गे वैक्रमेऽब्दे नेत्राऽङ्काऽङ्केन्दुसम्मिते ।

विरचय्याऽर्पिता यत्र भगवान् स प्रसीदतु ॥ ४ ॥

ॐ इति श्रीमद्दार्शनिकपञ्चानन, षट्दर्शनाऽऽचार्य, नव्यन्यायाऽऽचार्य, सांख्ययोग-  
वेदान्त-मीमांसातीर्थ-पण्डित 'श्रीकृष्णवल्लभाऽऽचार्य' स्वामिनारायणविर-  
चिता सांख्यकारिका-तत्त्वकौमुदी-किरणावली समाप्ता ॥

## सांख्यतत्त्वकौमुद्यां प्रश्नाः ?

१-“अजामेका”मिति मङ्गलस्य सांख्यमतानुसारेण प्रत्येकपदानां व्याख्या संग-  
तिपुरःसरं क्रियताम् ? । किरणावल्यां-पृष्ठं १८९ ॥ २-“नैकान्तात्यन्ततोऽभावा-  
दिति”कारिकायामेकान्तत्वमत्यन्तत्वं च कस्य विशेषणे ? कीदृशश्च तत्परिष्कारार्थः ?  
। कि० १९३ ॥ ३-“एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येते”ति पञ्चविकल्पान्व्याख्याय  
तन्निषेधवाक्यानि प्रदर्श्य व्याख्यायताम् ? कि० १९३ ॥ ४-दुःखत्रयं निरूप्य तदुपाये  
शास्त्रविषये दृष्टोपायेनाऽन्यथासिद्धिशंका निराक्रियताम् ? । सां० कौ० १९३,  
१९५, १९७ ॥ ५-‘यन्न दुःखेन सम्भिन्नमि’त्यस्य को वाक्यार्थः ! १९८ ॥ ६-  
आनुश्रविकोपायस्याऽविशुद्धिक्षयातिशययुक्तत्वं सानुमानमुपपादनीयम् ? । सां०  
कौ० २०१ ॥ ७-‘मा हिंसात्सर्वा भूतानि’ ‘अग्नीषोमीयं पशुमालभेते’ ति श्रुत्योर्विरोधः  
सम्यगुपपाद्य परिहरणीयः ? किं नाम हिंसात्वम् ? । सां० कौ० २०२ ॥ ८-कार्यत्वेन  
मोक्षस्याऽनित्यत्वापत्तिः कथं वारणीया ? उभयपक्षेऽनुमाने दर्शनीये ? । सां० कौ०  
२०५ ॥ ९-सांख्यनये संक्षेपतः कतिपदार्थाः ? किं नाम प्रकृतित्वम् ? किं नाम प्रकृ-  
तिविकृतित्वम् ? , पृथिव्यादौ प्रकृतित्वलक्षणस्याऽतिव्याप्तिः कथं वारणीया ? ।  
मूलं-२०८, सां० कौ० कि० २१० ॥ १०-प्रमाणस्य लक्षणं कीदृशम् ? , असन्दिग्धाऽ-  
विपरीताऽनधिगतेति पदत्रयस्य व्यावृत्तिः स्पष्टं प्रदर्शनीया ? , चित्तवृत्तेः कदा प्रमा-  
त्वं कदा च प्रमाणत्वमित्युपपादनीयम् ? । कि० २१२, २१३ ॥ ११-दृष्टस्य किं लक्ष-  
णम् ? , तत्र ‘प्रति’पदस्य ‘विषय’ पदस्य ‘अध्यवसाय’पदस्य च व्यावृत्तिर्दर्शनीया ? ,  
सां० कौ० २१५, कि० २१८ ॥ १२-अनुमानस्य लक्षणं दर्शनीयम् ? , “शक्तिसमा-  
रोपितोपाधिनिराकरणेन वस्तुस्वभावप्रतिबद्धं व्याप्यं, येन प्रतिबद्धं तद् व्यापक”  
मिति ग्रन्थः स्फुटं व्याख्येयः ? । सां० कौ० २२०, कि० २२१, २२२ ॥ १३-त्रिविधमनु-  
मानं सदृष्टान्तं व्याख्येयम् , “प्रसक्त-प्रतिषेधेऽन्यत्राऽप्रसंगात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः  
परिशेषः” इति ग्रन्थः सदृष्टान्तमुपपादनीयः ? सां० कौ० २२४, २२५, कि०-२२४ ॥  
१५-पूर्ववत्सामान्यतो दृष्टयोः को भेदः ? कि० २२६ ॥ १६-“प्रयोजकबुद्धशब्दश्र-  
वणसमनन्तरं प्रयोज्यबुद्धेऽप्रवृत्तिहेतुज्ञानानुमानपूर्वकत्वाच्छब्दार्थसम्बन्धग्रहणस्य,  
स्वार्थसम्बन्धसहकारिणश्च शब्दस्थार्थप्रत्याख्यकत्वादनुमानपूर्वकत्व”मिति ग्रन्थः  
स्फुटं सप्रयोगं व्याख्यायताम् ? कि० २२७ ॥ १७-“आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु” इति मूले  
किं लक्ष्यं किं च लक्षणम् ? ‘आप्त’पदस्य का व्यावृत्तिः ? सां० कौ० २२८, २२९ ॥  
१८-“वाक्यार्थो हि प्रमेयः, न तु तद्धर्मो वाक्यं, येन तत्र लिङ्गं भवेदिति” ग्रन्थस्या-  
शयः प्रकटीकर्तव्यः ? कि० २३० ॥ १८-उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वं निरसनीयम् ?  
सां० कौ० २३२ ॥ १९-‘अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वं निरसनीयम् ? सां० कौ० २३३ ॥  
२०-“न च चैत्रस्य कचित्सत्त्वेन गृहाऽभावः शक्योऽपह्नोतुम्, येनाऽसिद्धो गृहाऽ-  
भावो बहिर्भावे न हेतुः स्यात्” इति ग्रन्थेन किमाशङ्क्यं किं समाहितम् ? सां० कौ०  
२३४, कि० २३४ २१-“देशसामान्येन गृहविशेषाऽक्षेपोऽपि पाक्षिक इति समानवि-  
षयतया विरोध इति चेत् ? , प्रमाणविनिश्चितस्य गृहेऽसत्त्वस्य पाक्षिकतया सांश-  
यिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपाऽयोगादि”त्यनेन ग्रन्थेन किमाशङ्क्यं किं समाहितं तद्वि-



शदीकरणीयम् ? सां०कौ० २३५, कि० २३५ ॥ २२-अभावस्य संभवस्य ऐतिह्यस्य च प्रमाणान्तरता निरसनीया ? सां०कौ० २३६, २३७, २३८ ॥ २३-केन केन प्रमाणेन केषां केषां पदार्थानां सिद्धिर्भवति ? सां०कौ० २३९ ॥ २४-अनुपलब्धौ प्रयोजकानाम् अतिदूरत्वादिदोषाणां कुत्र कुत्र स्थितिः ? कीदृशं च तत्तद्दोषत्वम् ? कि० २४१, २४२ ॥ २५-प्रधानादीनामनुपलब्धौ किं प्रयोजकम् ? “कार्यतस्तदुपलब्धे” रित्यनेन कीदृशान्यनुमानानि ज्ञातव्यानि ? मूलं-२४२, कि० २४३ ॥ २६-“योग्य-प्रत्यक्षनिवृत्तेरयमभावं विनिश्चिनोती”त्यत्र योग्यता कीदृशी बोध्या ? कि० २४२ ॥ २७-“पूर्वस्मिन् कल्पत्रये प्रधानं न सिद्धयती”ति के त्रयः कल्पाः ? कथं च तन्मतेन प्रधानं न सिद्धयतीति स्पष्टमुपपाद्यताम् ? सां०कौ० २४४, २४५ कि० २४५ ॥ २८-‘सत्कार्यसाधकान्यनुमानानि दर्शनीयानि ? मूलं, कि० २४६ ॥ २९-‘कार्य-सत्, -असदकरणादि’त्यत्र न्यायमतेन सिद्धसाधनं प्रदर्श्य वारणीयम् ? सां० कौ० कि० २४७, ॥ ३०-सांख्यनये शक्तिपदार्थः स्वीक्रियते न वा, स्वीकारे तु तथा कोऽर्थः साध्यते सांख्यैः ? सां०कौ० २५१, कि० २५१ ॥ ३१-“असम्बद्धत्वे सेवाऽव्यवस्था” इति कीदृशी अव्यवस्था कस्मिन् प्रसंगेऽभिहिता ? २५१ ॥ ३२-कार्यस्य कारणाऽभेदसाधनान्यनुमानानि प्रदर्शनीयानि ? सां०कौ० २५२ ॥ ३३-“स्वात्मनि क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ती”तिग्रन्थेन नैयायिकोक्तसत्प्रतिपक्षाः खण्डनीयाः ? ग्रन्थश्च स्फुटं व्याख्येयः ? कि० २५३ ॥ ३४-“स्यादेतत्-आविर्भावः पटस्य कारणव्यापारात्प्राक् सन् असन् वा ?”-इत्यादिना नैयायिकोक्तदूषणानि प्रदर्श्य-“मेवं-अथाऽसदुत्पद्यते”-इत्यादिना सांख्यसिद्धान्तिनः परिहारः समानन्यायेन दर्शनीयः ? सां०कौ० कि० २५६ ॥ ३५-“अथ उत्पत्तिः पटाच्चा-र्थान्तर”मित्यनेन नैयायिकेन अनवस्था कथं परिहृता ?, का नाम उत्पत्तिः ? सांख्य-वादिनाऽपि स्वमतेऽनवस्था कथं परिहृता ? पृ० २५६ ॥ ३६-“तस्मादीयं पटोत्पत्तिः स्वकारणसमवायो वा, स्वसत्तासमवायो वेति”-ग्रन्थः संगतिपुरःसरं व्याख्येयः ? पृ० २५७ ॥ ३७-व्यक्तानां साधर्म्यम् अव्यक्तस्य च वैधर्म्यं सविस्तरं निरूपणीम् ? मूलं-२५८ ॥ ३८-व्यक्ताऽव्यक्तयोः साधर्म्यं पुरुषस्य च वैधर्म्यम् व्याख्येयम् ? मूलं २६३ ॥ ३९-“अथवा व्यक्ताऽव्यक्ते पक्षीकृत्ये”तिग्रन्थस्य कोऽभिप्रायः ? सां०कौ० कि० २७६ ॥ ४०-व्यक्ताद्व्यक्तमुत्पद्यते”इति न्यायमते परमाणूनां व्यक्तत्वं सांख्यमतवत् तदन्यद्वेति स्फुटं प्रदर्श्यताम् ? न्यायसांख्योभयमतेन परमाणुबुद्ध्यादिसाधारणं कीदृशं व्यक्तत्वम् ? कि० २७६ ॥ ४१-प्रधानस्य सिद्धिः क्रियताम् ? मूलं-२७७ ॥ ४२-पुरुषः साधनीयः ? मूलं २८४ ॥ ४३-पुरुषस्य प्रतिक्षेत्रभिन्नत्वे का युक्तिः ? ॥ मूलं-२८९ ॥ ४४-“निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभि”रित्यादिनोक्तजन्मपदार्थं निकायेत्यादि-विशेषणद्वयं कथमुपात्तम् ? सां०कौ० २९० ॥ ४५-“अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया” इत्यत्र कीदृशमनादित्वंबोध्यम् ? सां०कौ० कि० २९८ ॥ ४६-बुद्धेः किं लक्षणं, कति तस्या धर्माः, वैराग्यं कतिविधम् ? पृ० ३०० ॥ ४७-मनसः किं लक्षणं, तस्य कथमिन्द्रियत्वं, “न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्”-इत्यत्र किं नाम प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्, मनसि च किं तदिति ? सां० कौ० कि० ३०९ ॥ ४८-चतुर्विधकरणस्य युगपत्कमशश्च वृत्तयो सदृष्टान्तं वर्णनीयाः ? सां०कौ० ३१३ ॥ ४९-त्रयोदशकरणानां कार्यम् आहार्यं

धायं प्रकाश्यं चेति स्फुटं विविच्यताम् ? सां०कौ० किं० ३१७, ३१८ ॥ ५०-“वर्तमान-  
समीपमनागतमतीतमपि वर्तमानमित्यत्र अतोतस्य वर्तमानत्वेन ग्राह्यत्वे किमुदा-  
हरणम् ? किं० ३२० ॥ ५१-“तस्मादयं यैरुपाधिभिः” इत्यत्र के उपाधयः ?, कालस्य  
कथं न तत्त्वान्तरत्वम् ? किं० ३२१ ॥ ५२-“विशेषा अविशेषाश्च सलक्षणोदाहरणं  
निरूपणीयाः ? सां०कौ० किं० ३२८ ॥ ५३-लिङ्गशरीरस्य काऽपेक्षा ? किं० ३३३ ॥  
५४-निमित्तानि नैमित्तिकानि च विवेचनीयानि ? किं० ३३६ ॥ ५५-प्रत्ययसर्गस्य  
पञ्चाशद्भेदाः प्रदर्शनीयाः ? मूलं-३४२ ॥ ५६-तमसः मोहस्य च अष्टविधत्वम् महा-  
मोहस्य दशविधत्वं तामिस्रस्याऽन्धतामिस्रस्यचाऽष्टादशधात्वं चेति स्वरूपतः  
प्रदर्शनीयम् ? किं० ३४३, ३४४ ॥ ५७-अशक्तीनामष्टाविंशतिभेदा दर्शनीयाः ?  
किं० ३४६, ३४७ ॥ ५८-नव तुष्टयो निरूपणीयाः ? सां०कौ० किं० ३४९, ३५० ॥ ५९-  
अष्टसिद्धयः उभयमतेन व्याख्येयाः, “सिद्धेः पूर्वोऽकुशस्त्रिविधः” इत्यस्य कोऽर्थः ?  
सां०कौ०, किं० ३५२, ३५३, ३५४ ॥ ६०-लिङ्गाख्य-भावाख्य-द्विविधसर्गस्य का  
आवश्यकता ?, सर्गद्वयस्य किं स्वरूपं ? अन्योन्याश्रयदूषणे किं समाधानम् ?  
सां०कौ० ३५७ ॥ ६१-पुरुषे दुःखं केन सम्बन्धेनोपचर्यते ? पुरुषस्य दुःखादिमत्त्वे किं प्रयो-  
जकम् ? सां०कौ० ३६१ ॥ ६२-सर्गस्येद्वराधिष्ठितप्रकृतिकारणकत्वे, ब्रह्मोपादानक-  
त्वे, अकारणकत्वे, वा कानि दूषणानि ?, प्रकृतिकारणकत्वे नित्यसर्गापत्तिर्नित्यमो-  
क्षापत्तिश्च कथं वारणीयाः ? सां०कौ० किं० ३६३ ॥ ६३-जडप्रकृतिप्रवृत्तेश्चेतनप्रयु-  
क्तत्वं युक्तमिति अज्ञानिजीवानां प्रकृतेः प्रवर्तकत्वाऽसंभवात् ईश्वराधिष्ठितप्रकृतिप्र-  
युक्तत्वं सर्गस्य कथं नाङ्गीकर्तव्यम् ?, ‘प्रकृतिप्रवृत्तिः-चेतनप्रयुक्ता, प्रवृत्तित्वात्-  
देवदत्तप्रवृत्तिवदि’-इत्यत्र किं दूषणम् ?, दुग्धादिप्रवृत्तेरपीद्वराऽधिष्ठितप्रयुक्तत्वात्  
पक्षे व्यभिचार-सन्देहस्या-दूषणत्वात् ईश्वराऽधिष्ठितप्रकृतिकारणकत्वमतं कथं साधु  
न मन्तव्यम् ?, व्याप्ये स्वार्थकारुण्ये व्यापकं प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वं कस्माद्ब्याव-  
तयतः ?, ईश्वरस्य कारुण्यात् सर्गं प्रवृत्तौ किं दूषणम् ?, सर्गोत्तरकाले कारुण्योत्पत्तौ  
वा किं दूषणम् ?, प्राणिकर्मसहायकस्येश्वरस्य सर्गप्रवर्तकत्वे कानि दूषणानि ? सां०  
कौ० ३६४ किं०-३६४, ३६५ ॥ ६४-पुरुषस्य बन्धनाऽभावादेव मोक्षाऽप्रा-  
प्तिरुपपद्यते, तथा च ‘पुरुषस्य विमोक्षार्थ’मितिवचनविरोधे कः परिहारः ? सां०कौ०  
३७० ॥ ६५-‘एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि’-इति कारिका व्याख्येया ? तत्त्वज्ञानस्य किं  
स्वरूपम् ?, ‘नास्मि न मे नाह’ इत्यनेन किं किं निषिद्धम् ?, ‘अविपर्ययादि’ इत्यत्र  
को विपर्ययः ?, संशयस्य कथं विपर्ययत्वम् ?, ‘विशुद्धं केवल’ इति पदयोः कोऽर्थः ?  
किं० ३७२, ३७३, ३७५ ॥ ६६-तत्त्वज्ञानस्य मुक्तिकारणत्वे तत्त्वज्ञानिनामपि शरीर-  
स्थितिदर्शनात् व्यभिचारः कथं वारणीयः ?, सां०कौ० ३८० ॥ ६७-सांख्यनये पष्टि-  
पदार्थाः अपि मौलिकार्थाश्च दश, नाम्ना दर्शनीयाः ? किं० ३८६ ॥ अथोपरितः  
प्रश्नाः- ६८-सांख्यमते मोक्षस्य किं स्वरूपम्, किं मोक्षकारणम् ?, बन्धस्य किं स्व-  
रूपम्, बन्धः स्वाभाविको वा औपाधिकः ?, उपाधित्वं तत्र कीदृशम् ? सांख्यमते  
का ळ्यातिः ?, शक्तिपदार्थः स्वीक्रियते न वा ?, घटकपालयोः कः सम्बन्धः ?, घट-  
गतरूपप्रत्यक्षे रूपत्वादिप्रत्यक्षे कस्य कस्य सन्निकर्षस्य प्रयोजकता ?, पुरुषो  
विभुर्न वा ?, पुरुषस्याऽपरिणामिनः प्रतिबिम्बरूपः परिणामः कथमुपपद्यते ?, पुरुषे



बुद्धेः प्रतिबिम्बः स्वीक्रियते न वा ?, आत्मनः प्रतिबिम्बः आत्मनो भिन्नोऽभिन्नो वा जडोऽजडो वा ?, भवदनभिमतपक्षे किं दूषणं ?, भवदभिमते च पक्षे को गुण इति ? ॥ सांख्यार्चाचार्यकपिलः कस्यावतारः ?, सांख्यमते ईश्वरः स्वीकृतो न वा ? भवदभिमतेपक्षे का युक्तिः ?, योगादिशास्त्रेषु मोक्षदेसु सत्सु सांख्ये किं वैशिष्ट्यम् ?, सांख्यशब्दस्य कोऽर्थः ?, सांख्यस्य कथं शास्त्रत्वम् ?, ईश्वराऽनभ्युपगन्तृसांख्यस्य कथं नाऽवैदिकत्वम् ?, असमानप्रकारकतत्त्वज्ञानाऽविद्ययोः कथं प्रतिबन्धकप्रतिबन्धभावः ?, विवेकख्यातेः किं स्वरूपम् ?, जीवन्मुक्तिः कीदृशी ?, सांख्यनये सर्वे पदार्थाः बौद्धमतवत् क्षणिकाः ? अन्यादृशाः ?, न वा ?, सत्कार्यस्य अणिकत्वं कथं युक्तं भवति ? ॥ ❀ इति प्रश्नाः, उत्तरपृष्ठादिचिन्हसहिताः ❀













